॥ ॐ श्री परमात्मने नमः ॥
योगेश्वर
योगीश्वर
हिरण्यगर्भ
कल्याण
योगतत्त्वाङ्क
प्रेमयोग
राजयोग
भक्तियोग
कुंडलिनीयोग
सांख्ययोग
मंत्रयोग
कर्म्मयोग
हठयोग
वर्ष ६५
संख्या १

'योगतत्त्वाङ्क'की विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी योगचर्या	१
मङ्गल-स्तवन—	
२-मङ्गल-कामना	२
३-शुभाशंसा और योग-साधना	३
४-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णका संस्तवन	६
५-योगीश्वर शिवमें अनन्य भक्ति-भाव	७
६-महर्षि वसिष्ठजीको नमस्कार	८
७-महायोगी पतञ्जलिको प्रणाम	८
८-भगवती महायोगमायाकी स्तुति	९
प्रसाद-आशीर्वाद—	
९-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके योगविषयक उपदेश	१०
१०-पातञ्जलयोगदर्शन	१७
११-योगीश्वर भगवान् शिवके योगोपदेश	२७
१२-महर्षि वसिष्ठकी योग-धारणा	२८
१३-भगवत्पाद आदिशंकराचार्यकी योग-मीमांसा (श्रीसुब्रह्मण्य शर्मा)	२९
१४-अव्यभिचार भक्तियोग (ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)	३१
१५-कर्मयोग और ज्ञानयोग (अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजका सदुपदेश)	३५
१६-योग और धर्माचरण (अनन्तश्रीविभूषित पूर्वाम्नाय गोवर्धन-पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीनिरंजनदेवतीर्थजी महाराज)	३७
१७-सिद्ध पुरुषकी स्थिति	३८
१८-पूज्य देवराहा बाबाके कल्याणकारी उपदेश	३९
१९-योगसाधनाकी उपादेयता (अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ शृङ्गेरी शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज)	४२
२०-ऋजु-योगकी साधन-प्रक्रिया (ब्रह्मलीन श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)	४४
२१-योग-तत्त्व-रहस्य-मीमांसा (स्वामी श्रीनिश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज)	४७
२२-अध्यात्मपथका उत्तम साधन—योग (अनन्तश्रीविभूषित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशी (सुमेरु) पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीशंकरानन्द सरस्वतीजी महाराज)	५०
२३-दर्शनोंके परिप्रेक्ष्यमें योगका स्वरूप और महत्त्व (दण्डी स्वामी श्री १०८ श्रीविपिनचन्द्रानन्द सरस्वतीजी महाराज, 'जज स्वामी')	५२
२४-श्रीशंकराचार्यजीका अद्वैत सम्प्रदाय और उनकी साधनामें योगकी प्रधानता (अनन्तश्रीविभूषित तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीजयेन्द्रसरस्वतीजी महाराज)	५५
२५-अष्टाङ्ग-योग (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	५७
२६-भक्तियोगका वैशिष्ट्य (अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्विष्णुस्वामिमतानुयायि श्रीगोपाल वैष्णव-पीठाधीश्वर श्री १०८ श्रीविट्ठलेशजी महाराज)	६२
२७-भगवन्नामसे प्रेम करो [कविता] (दूलनदास)	६४
२८-मनको वश करनेके कुछ यौगिक साधन (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)	६५
२९-योग-तत्त्व-मीमांसा (श्रीसम्प्रदायाचार्य श्रीभाष्यभगवद्विषय उभयसिंहासनाधिपति विश्वाचार्य श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज 'तर्कशिरोमणि')	७१
३०-अनासक्तियोग [कविता] (स्व० पं० श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय, शास्त्री)	७२
३१-योगः कर्मसु कौशलम् (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	७३
३२-परो हि योगो मनसः समाधिः (जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य गोस्वामी श्रीललितकृष्णजी महाराज)	७७
३३-नाथसम्प्रदायमें योगसाधना (गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज)	७८

विषय	पृष्ठ-संख्या
३४-केशिध्वज जनकको योगसमीक्षा (पद्मभूषण आचार्य पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय)	८०
३५-जागो [कविता] (धरनीदास)	८३
योग-तत्त्व-विमर्श—	
३६-योगका वास्तविक स्वरूप	८४
३७-योगविद्या (स्वामी श्रीविज्ञानानन्दजी सरस्वती)	८७
३८-योगकी कुछ आवश्यक बातें	९१
३९-योग क्या है? (श्रीभूपेन्द्रनाथजी सान्याल)	९२
४०-योग और उसके विभिन्न दृष्टिकोण (स्वामी श्रीज्योतिर्मयानन्दजी महाराज) [अनु०—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	९६
४१-योगकी उपादेयता (स्वामी श्रीओंकारानन्दजी सरस्वती महाराज)	१०१
४२-भारतीय संस्कृतिकी एक समृद्ध सम्पत्ति—योग (डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज)	१०३
४३-संसारमें कैसे रहना चाहिये [कविता] (चरनदास)	१०४
४४-योगमाया	१०५
४५-योगज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ (श्रीहरिलाल भोगीलाल त्रिवेदी, वैद्य)	१०६
४६-योग-साधनाके विघ्न और उन्हें दूर करनेके उपाय (पं० श्रीकमलाकान्तजी त्रिवेदी)	११०
४७-योगसे प्राप्त होनेवाली अपरा एवं परा सिद्धियाँ (वेदान्तभूषण पं० श्रीबदरीदासजी पुरोहित)	११२
४८-भोगमें योग (काव्यतीर्थ पं० श्रीकृष्णदत्तजी शास्त्री)	११८
४९-योगका महत्त्व (प्रो० डॉ० श्रीसीतारामजी झा 'श्याम' एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्)	१२०
५०-योगसाधनामें प्रणवोपासना (श्रीगंगारामजी शास्त्री)	१२२
५१-गुरु-तत्त्व-साधना (पं० श्रीरामनारायणजी झा, ज्योतिषाचार्य, ज्योतिष-तीर्थ, साहित्यकेसरी, साहित्यशास्त्री)	१२५
५२-शुद्धस्वरूप [कविता] (भीखा साहब)	१२७
५३-गुरु-तत्त्व-विचार	१२८
५४-ब्रह्मचारीजीकी दो बातें (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)	१२९

विषय	पृष्ठ-संख्या
योगके विविध रूप—	
५५-योगके मुख्य सिद्धान्त	१३१
५६-विरक्त [कविता] (श्रीपंन्यासजी महाराज विजयमाणिक्यरुचिजी यति 'मानिक')	१३२
५७-अष्टाङ्ग-योग (अनन्तश्री स्वामी श्रीमाधवाश्रमजी महाराज, 'शुकदेव स्वामीजी')	१३३
५८-योगचतुष्टय—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग एवं राजयोग (श्रीएकान्तवासी महात्मा)	१३५
५९-संसार-योग (पं० श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे)	१४०
६०-शरणागतियोगमें समस्त योगोंका समन्वय (स्वामी श्रीपरमहंसजी महाराज)	१४२
६१-ध्यान [कविता] (श्रीनारायण स्वामी)	१४४
६२-प्रेमयोग	१४५
६३-चित्तकी दशाएँ	१४९
६४-जपयोग (बालयोगी श्रीबालस्वामीजी महाराज (श्री न० रा० निगुडकर) के अनुभवयुक्त विचार)	१५०
६५-मन्त्रयोग-साधना (कविराज पं० श्रीसीतारामजी शास्त्री 'श्रीविद्याभास्कर')	१५४
६६-मत्युञ्जय-योग	१६०
६७-समाधियोग (श्रीश्रीधर मजूमदार, एम्० ए०)	१६१
६८-नादानुसंधान और लययोग (महामण्डलेश्वर योगिराज १००८ श्रीबर्फानीबाबाजी महाराज) [प्रेषक—श्रीगंगारामजी शास्त्री]	१६५
६९-तारकयोगका रहस्य (आचार्य श्रीधनीदासजी महाराज)	१६८
७०-विश्व-कल्याण-योग (श्रीअनन्तशंकरजी कोल्हटकर बी० ए०)	१६९
७१-क्रियायोगका स्वरूप	१७०
७२-शिक्षाकी दृष्टिसे अष्टाङ्गयोगका महत्त्व (डॉ० श्रीभीष्मदत्तजी शर्मा)	१७२
७३-संत-मतमें सुरत-शब्दयोगकी महत्ता (स्वामी श्रीअच्युतानन्दजी महाराज)	१७५
७४-नामसंकीर्तन-योग (श्रीश्रीधरविनायकजी माण्डवगणे)	१७७

विषय	पृष्ठ-संख्या
७५-व्यक्तियोग	१७८
७६-प्रेमयोग और भावतत्त्व (डॉ० श्रीभवदेवजी झा, एम्० ए० (द्वय), पी-एच्० डी०)	१८०
७७-व्रजगोपियोंकी योगधारणा (श्रीप्रेमनारायणजी त्रिपाठी 'प्रेम')	१८१
७८-जडयोग (श्री 'माधव')	१८२
७९-पातिव्रतयोग (पं० श्रीप्रेमवल्लभजी त्रिपाठी)	१८६
८०-सबसे उत्तम और अन्तिम साधन—बुद्धियोग (श्रीतपोवनस्वामीजी महाराज)	१८९
८१-पूर्ण योग (स्वामी श्रीमित्रसेनजी)	१९३
८२-समत्वं योग उच्यते (सरस्वतीपुत्र श्रीगोपालजी)	१९४
८३-निष्काम-कर्मयोग (श्रीरामकृष्णजी मिश्र, पी०सी०एस्०,अपर आयुक्त 'प्रशासन')	१९७
८४-तिब्बती योग 'लुङ्गगोम' एवं आकाश-सञ्चरण-विद्या (श्रीब्रह्मानन्दजी द्विवेदी 'आनन्द')	२०१
८५-बिरले योगी [कविता] (स्व० योगिवर्य महात्मा श्रीचिदानन्दजी यति)	२०२
भारतीय वाङ्मयमें योग—	
८६-वेदमें योगविद्या (श्रीजगन्नाथजी वेदालंकार)	२०३
८७-योगोपनिषदोंमें योग-निरूपण (पं० श्रीबटुकनाथजी शर्मा, एम्० ए०, साहित्याचार्य)	२०५
८८-सिद्ध योगी [कविता] (श्रीजगदीशजी झा 'विमल')	२१०
८९-ईशावास्य और इसका कर्मयोग (पं० श्रीलाल-बिहारीजी मिश्र)	२११
९०-तन्त्रमें योग (श्रीअटलबिहारीजी घोष)	२१६
९१-शांकरवेदान्तमें योगका महत्त्व (श्रीवेदान्ती स्वामीजी)	२२०
९२-सच्चे गुरुदेव [कविता] (श्रीसुन्दरदासजी)	२२१
९३-योगवासिष्ठमें योग (प्रो० डॉ० श्रीभीखनलालजी आत्रेय, एम्० ए०, डी० लिट्०)	२२२
९४-प्राणब्रह्म (योगी श्रीनारायणस्वामीजी महाराज)	२२६
९५-अमर भये [कविता] (स्व० योगिवर्य श्रीआनन्दघनजी 'यति') [प्रेषक—श्रीपंन्यासजी महाराज रीविरैंड]	२२९
९६-श्रीमद्भागवतके योगका वैलक्षण्य (श्रीचतुर्भुजजी तोषनीवाल)	२३०
९७-श्रीमद्भगवद्गीतामें योगका स्वरूप (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	२३३
९८-याद रखो	२३६
९९-चरकसंहितामें योगदर्शन	२३७
१००-स्मृति-वाङ्मयमें योग-निरूपण (डॉ० श्रीबसन्तबल्लभजी भट्ट, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	२४२
१०१-सूर्यविज्ञान (महामहोपाध्याय आचार्य (पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०)	२४७
१०२-मेस्मेरिज्म, हिपनॉटिज्म और योग-विद्या (डॉ० श्रीदुर्गाशंकरजी नागर)	२५४
१०३-ज्योतिष-शास्त्र और योग	२५८
१०४-महाभारतमें योगकी महिमा और स्वरूप (मानसमर्मज्ञ पं० श्रीसच्चिदानन्ददासजी रामायणी)	२६०
१०५-समर्थ रामदास स्वामीके दासबोधके अन्तर्गत योगदर्शन (श्री ग० नी० पुरंदरे, बी० ए०, बी०एस्-सी०, एल्-एल्० बी०)	२६२
१०६-मानसका भक्तियोग (डॉ० श्रीमिथिलाप्रसादजी त्रिपाठी, वैष्णवभूषण, डी० लिट्०)	२६५
१०७-भारतके योग-सम्प्रदाय (डॉ० श्रीशिवशङ्करजी अवस्थी)	२६८
१०८-भगवन्नाम और जपयोग (डॉ० श्रीराकेश-मणिजी त्रिपाठी, एम्० ए०, पी-एच्०डी०)	२७१
१०९-व्याकरणमें योग (आचार्य पं० श्रीआद्याचरणजी झा)	२७४
११०-'योग' जीवनका एक नया अर्थ (डॉ० श्रीराजेन्द्ररंजनजी चतुर्वेदी, डी० लिट्०)	२७५
१११-भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम् (म० म० डॉ० श्रीभागीरथप्रसादजी त्रिपाठी, 'वागीश शास्त्री')	२७६
११२-वियोग (आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी)	२७८

विषय	पृष्ठ-संख्या

विभिन्न धर्म एवं सम्प्रदायोंमें योग-साधना—

११३-श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें योग-विद्याका स्थान (शास्त्री श्रीमाधवप्रियदासजी वेदान्ताचार्य) २७९
११४-बौद्धधर्ममें योगकी महत्ता (प्रो॰ श्रीलालमोहरजी उपाध्याय, एम्॰ ए॰) २८१
११५-जैनधर्ममें योगविद्या (मुनि श्रीहिमांशुविजयजी न्यायसाहित्यतीर्थ) २८३
११६-श्रीरामकृष्णकी साधना-पद्धति (डॉ॰ श्रीसुरेशचन्द्रजी शर्मा) २८५
११७-सूफी-सम्प्रदायमें हठयोग (डॉ॰ श्रीरामस्वरूपजी आर्य, एम्॰ ए॰, पी-एच्॰ डी॰) २८७
११८-दिव्य जीवनका योग [श्रीअरविन्दके पूर्णयोगका विहङ्गम परिचय] (श्रीदेवदत्तजी) २८९
११९-ईसाई-धर्ममें योगका स्थान (रेवेरेंड एड्विन ग्रीब्ज) २९२
१२०-जरथोस्ती धर्ममें तीन मार्ग (श्रीएरच जहाँगीर तारापोरवाला) २९४
१२१-शाक्तागमोंमें योग (श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी 'व्रजेश') २९६

योगसे स्वास्थ्य-लाभ—

१२२-मुख्य आसन और उनसे लाभ (स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी) २९७
१२३-यौगिक व्यायाम एवं कुछ सामान्य नियम ३०१
१२४-उदर-सम्बन्धी यौगिक व्यायाम (राजरत्न प्रो॰ श्रीमाणिकरावजी) ३१०
१२५-उदर-सम्बन्धी आसन और उनसे लाभ ३१५
१२६-कुछ उपयोगी बन्ध एवं मुद्राएँ ३२५
१२७-प्राणायाम और उससे लाभ (कविराज श्रीदाऊदयालजी गुप्त) ३२९
१२८-प्राणायामकी महत्ता और उसका प्रभाव (स्वामी श्रीकुवलयानन्दजी कैवल्यधाम) ३३३
१२९-योगासन और व्यायाममें अन्तर (डॉ॰ श्री आर॰ सी॰ वर्मा) ३३७
१३०-रोगोंका यौगिक निदान एवं चिकित्सा (श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव) ३३८
१३१-योगसाधनाका प्राण ब्रह्मचर्य ३४२
१३२-स्वर-विज्ञान और बिना औषध रोगनाशके उपाय (परिव्राजकाचार्य परमहंस श्रीमत्स्वामी श्रीनिगमानन्दजी सरस्वती) ३४४
१३३-हठयोगके षट्कर्म (श्रीकमलाप्रसाद सिंह) ३४८
१३४-कर्मयोग [कविता] (कविसम्राट् पं॰ श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध') ३५४

योगाचार्य और उनकी योगचर्या—

१३५-योगमूर्ति योगीश्वर भगवान् शिव ३५५
१३६-महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ३५६
१३७-योगके आदिप्रवर्तक भगवान् हिरण्यगर्भ ३५७
१३८-सनकादि योगीश्वर ३६०
१३९-महायोगी महर्षि मार्कण्डेय ३६०
१४०-योग-वेदान्तके उपदेष्टा महर्षि वसिष्ठ ३६२
१४१-योगशास्त्रके प्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि ३६३
१४२-योगके परम आचार्य ऋषिवर घेरण्ड ३६४
१४३-योगशक्ति-स्वरूपा सती माता ३६५
१४४-परमयोगी जगद्गुरु श्रीआदिशंकराचार्यजी ३६७
१४५-योगिराज श्रीगोरखनाथ ३६८
१४६-बिश्नोई-मतके मूल आचार्य सिद्धेश्वर जाम्भोजी (श्रीमाँगीलाल बिश्नोई 'अज्ञात') ३६९
१४७-दक्षिणके महायोगी संत तिरुमूलर (डॉ॰ श्रीमती राधाकृष्णमूर्ति) ३७०
१४८-महात्मा जरथुस्त्र ३७१
१४९-सौराष्ट्रकी योग-विभूति—महात्मा मस्तरामजी (डॉ॰ श्रीकमलपुंजाणी, एम्॰ ए॰, पी-एच्॰ डी॰) ३७२
१५०-मिथिलाके सिद्ध योगी परमहंस श्रीलक्ष्मीनाथ गोस्वामी (आचार्य डॉ॰ श्रीजयमन्तजी मिश्र) ३७३
१५१-श्रीअच्युतमुनिजी ३७४
१५२-कर्म, ज्ञान और भक्तिकी त्रिवेणी—स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज ३७५

विषय	पृष्ठ-संख्या
१५३-ज्ञानयोगी स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज	३७७
१५४-योगी गुरु परमहंस श्रीमत्स्वामी निगमानन्दजी सरस्वतीदेव (श्रीदुर्योधन प्रधानजी)	३७९
१५५-स्वामी श्रीमहेश्वरानन्दजी सरस्वती महाराज	३८०
१५६-वाराणसीके हरिहरबाबा [प्रेषक—आचार्य	३८०
श्रीबलरामजी शास्त्री, एम्० ए०)	३८१
१५७-योगिराज श्रीदेवराहाबाबाजी [प्रेषक—श्रीमदनजी शर्मा 'शास्त्री')	३८२
१५८-महात्मा ईसा	३८३
१५९-ब्रह्मलीन श्रद्धेय महर्षि मेँही परमहंसजी महाराज (श्रीघनश्यामलालदासजी)	३८४
१६०-बाबा किनाराम अघोरी	३८५
१६१-योगी चमत्कारिक शक्ति रखते हैं (डॉ० श्रीराम-चरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	३८६
योगसे भगवत्प्राप्ति—	
१६२-भगवत्प्राप्तिमें ध्यानयोगकी महिमा	३८८
१६३-मनपर विश्वास न करो !	३९४
१६४-योगसे भगवत्साक्षात्कार (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	३९५
१६५-योगिराजके प्रति [कविता] (श्रीसरयूप्रसादजी शास्त्री 'द्विजेन्द्र')	३९८
१६६-योगसे भगवत्प्राप्ति (पं० श्रीमाधव बालशास्त्री दातार)	३९९
१६७-योग और भगवान्	४००
१६८-गो-सेवासे तत्क्षण योगसिद्धि	४०२
१६९-योग-साधनाका मुख्य लक्ष्य—धर्म-संस्थापन एवं विश्वकल्याण	४०३
१७०-नम्र निवेदन और क्षमा-प्रार्थना	४०६

गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित पुस्तकोंकी सूची (विशेषाङ्क-पृष्ठ ४०८के बाद)

विषय	पृष्ठ
१-नियमावली	१
२-श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत एवं महाभारत	३
३-श्रीतुलसीसाहित्य	४
४-बालोपयोगी पुस्तकें	५
५-श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी पुस्तकें	६
६-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी पुस्तकें	७
७-स्वामी श्रीरामसुखदासजीकी पुस्तकें	७
8- English Publications	8

(बहुरंगे चित्र)

विषय	पृष्ठ
१-योग और योग-साधना	आवरण-पृष्ठ
२-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके विविध रूप	१
३-अष्टाङ्ग योग	५७
४-सप्त ज्ञानभूमिका	१०६
५-जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति	१४९
६-जडयोग	१८४
७-समदर्शी योगी	१९६
८-अस कहि जोग अगिनि तनु जारा	३६५
९-भक्तियोगी-ज्ञानयोगी	३८८

(सादे चित्र)

विषय	पृष्ठ
१-स्वामी श्रीविशुद्धानन्द परमहंसजी	२४९
२-यौगिक व्यायाम एवं कुछ सामान्य नियम—	
क-(१) स्वस्तिकासन, (२) समासन, (३) पद्मासन, (४) सिद्धासन, (५) खड़े होकर उड्डीयान, (६) बैठकर उड्डीयान, (७) नौलि (मध्यम), (८) दक्षिणनौलि	३०३
ख-(९) वामनौलि, (१०) सिंहासन, (११) वज्रासन, (१२) शीर्षासन, (१३) सर्वाङ्गासन, (१४) अर्ध-मत्स्येन्द्रासन, (१५) अर्धमत्स्येन्द्रासन	३०५
ग-(१६) विपरीतकरणी, (१७) हलासन (प्रथमावस्था), (१८) हलासन (चतुर्थावस्था), (१९) पश्चिमतानासन, (२०) भुजङ्गासन, (२१) अर्धशलभासन, (२२) शलभासन	३०६
घ-(२३) सुप्तवज्रासन, (२४) धनुरासन,	

विषय	पृष्ठ-संख्या
(२५) योगमुद्रा, (२६) मयूरासन, (२७) मत्स्यासन, (२८) शवासन ·····	३०७
३-उदर-सम्बन्धी यौगिक व्यायाम—कुल १८ चित्र ····························	३११-३१३
४-उदर-सम्बन्धी आसन और उनसे लाभ—	
क-(१) सोड्डीयान पद्मासन, (२) बद्ध-पद्मासन, (३) बद्धासन, (४) वक्र-बद्धासन, (५) अर्धगर्भासन, (६) गर्भासन, (७) एकपादकंधरासन, (८) लोलासन, (९) भूनमनपद्मासन, (१०) कर्णस्पृष्टजानुपद्मासन, (११) पार्श्व-भूनमनासन, (१२) एकपादपश्चिमतानासन	३१६
ख-(१३) ऊर्ध्वहस्तपश्चिमतानासन, (१४) विस्तृतपाद भूनमनासन, (१५) विस्तृतपाद पार्श्वभूनमनासन, (१६) विस्तृतपाद हस्तपार्श्वचालनासन, (१७) पृष्ठासन, (१८) उत्थित पृष्ठासन, (१९) मत्स्यासन, (२०) द्विपादचक्रासन, (२१) उत्थितद्विपादासन, (२२) उत्थित एकैकपादासन ······················	३१८
ग-(२३) उत्थितहस्त मेरुदण्डासन, (२४) शीर्षबद्धहस्त मेरुदण्डासन, (२५) जानुस्पृष्टभाल मेरुदण्डासन, (२६) उत्थितहस्तपाद मेरुदण्डासन, (२७) उत्थितपाद मेरुदण्डासन, (२८) भालस्पृष्टद्विजानु मेरुदण्डासन, (२९) पादपार्श्वचालनासन, (३०) भूस्पृष्टपाद सर्वाङ्गासन, (३१) विपरीत दण्डासन, (३२) उत्थित समकोणासन ···········	३१९
घ-(३३) उत्थितैकपाद भुजंगासन, (३४) भुजंगासन, (३५) सरलहस्त भुजंगासन, (३६) नौकासन, (३७) दोलासन, (३८) शलभासन, (३९) पार्श्वासन, (४०) नासिकास्पृष्टजानु पार्श्वासन, (४१) धनुरासन, (४२) पार्श्वचलित धनुरासन ·························	३२१
ङ-(४३) आकर्णधनुरासन, (४४) चतुष्पादासन, (४५) मयूरासन, (४६) शीर्षबद्धहस्त हलासन, (४७) शीर्षस्पृष्टपद्म हलासन, (४८) प्रसृत-हस्त वृश्चिकासन, (४९) वलितपाद सर्वांगासन, (५०) विवृत्तत्रिकासन, (५१) प्रसृतहस्त विवृत्तत्रिकासन, (५२) शीर्षबद्धहस्त विवृत्तत्रिकासन, (५३) ऊर्ध्वहस्त जानुभालासन, (५४) भूस्पृष्टहस्त जानुभालासन ·······	३२२
च-(५५) पृष्ठबद्धहस्त जानुभालासन, (५६) ऊर्ध्वस्थित पृष्ठवक्रासन, (५७) शुण्डासन, (५८) अर्धचक्रासन, (५९) चक्रासन, (६०) भूस्पृष्टहस्त वृक्षासन, (६१) पृष्ठवलित वृक्षासन, (६२) पार्श्ववलित वृक्षासन, (६३) पार्श्वपृष्ठवलित वृक्षासन, (६४) मध्यम नौलि, (६५) दक्षिण नौलि, (६६) वाम नौलि ··················	३२४
५-श्रीअच्युतमुनिजी ······················	३७४
६-कर्म, ज्ञान और भक्तिकी त्रिवेणी—स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज ·············	३७५
७-ज्ञानयोगी स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज ····························	३७७
८-योगी गुरु परमहंस श्रीमत्स्वामी निगमानन्दजी सरस्वतीदेव ·························	३७९
९-स्वामी श्रीमहेश्वरानन्दजी सरस्वती महाराज	३८०
१०-योगिराज श्रीदेवराहाबाबाजी ··············	३८२

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीशस्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः॥

वर्ष ६५ } गोरखपुर, सौर चैत्र, वि॰सं॰ २०४८, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१६, अप्रैल १९९१ ई॰ { संख्या १ / पूर्ण संख्या ७७०

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी योगचर्या

यानीह विश्वविलयोद्भववृत्तिहेतुः
कर्माण्यनन्यविषयाणि हरिश्चकार।
यस्त्वङ्ग गायति शृणोत्यनुमोदते वा
भक्तिर्भवेद् भगवति ह्यपवर्गमार्गे॥

(श्रीमद्भा० १०। ६९। ४५)

(श्रीशुकदेवजी कहते हैं—) भगवान् श्रीकृष्णने जो लीलाएँ की हैं, उन्हें दूसरा कोई नहीं कर सकता। परीक्षित्! वे विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके परम कारण हैं। जो उनकी लीलाओंका गान, श्रवण और गान-श्रवण करनेवालोंका अनुमोदन करता है, उसे मोक्षके मार्गस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें परम प्रेममयी भक्ति प्राप्त हो जाती है।

मङ्गल-कामना

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म पुरुषोत्तम सब प्रकारसे सदा-सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत् भी उस परब्रह्मसे पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तमसे ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्मकी पूर्णतासे जगत् पूर्ण होनेपर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्णमेंसे पूर्णको निकाल लेनेपर भी वह पूर्ण ही बच रहता है।

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।।

हे परमात्मन् ! आप हम गुरु-शिष्य दोनोंकी साथ-साथ सब प्रकारसे रक्षा करें, हम दोनोंका आप साथ-साथ समुचितरूपसे पालन-पोषण करें, हम दोनों साथ-ही-साथ सब प्रकारसे बल प्राप्त करें, हम दोनोंकी अध्ययन की हुई विद्या तेजपूर्ण हो—कहीं किसीसे हम विद्यामें परास्त न हों और हम दोनों जीवनभर परस्पर स्नेह-सूत्रसे बँधे रहें, हमारे अंदर परस्पर कभी द्वेष न हो।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ।।

हे परमात्मन् ! मेरे सारे अङ्ग—वाणी, नेत्र-श्रोत्र आदि सभी कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राणसमूह, शारीरिक और मानसिक शक्ति तथा ओज—सब पुष्टि एवं वृद्धिको प्राप्त हों। उपनिषदोंमें सर्वरूप ब्रह्मका जो स्वरूप वर्णित है, उसे मैं कभी अस्वीकार न करूँ और वह ब्रह्म भी मेरा कभी प्रत्याख्यान न करे। मुझे सदा अपनाये रखे। मेरे साथ ब्रह्मका और ब्रह्मके साथ मेरा नित्य सम्बन्ध बना रहे। उपनिषदोंमें जिन धर्मोंका प्रतिपादन किया गया है, वे सारे धर्म, उपनिषदोंके एकमात्र लक्ष्य परब्रह्म परमात्मामें निरन्तर लगे हुए मुझ साधकमें सदा प्रकाशित रहें, मुझमें नित्य-निरन्तर बने रहें।

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ।। ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

(इस शान्तिपाठमें सब प्रकारके विघ्नोंकी शान्तिके लिये परमात्मासे प्रार्थना की गयी है।) प्रार्थनाका भाव यह है कि 'हे सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन् ! मेरी वाणी मनमें स्थित हो जाय और मन वाणीमें स्थित हो जाय, अर्थात् मेरे मन-वाणी दोनों एक हो जायँ। ऐसा न हो कि मैं वाणीसे एक पाठ पढ़ता रहूँ और मन दूसरा ही चिन्तन करता रहे, या मनमें दूसरा ही भाव रहे और वाणीद्वारा दूसरा प्रकट करूँ। मेरे संकल्प और वचन दोनों विशुद्ध होकर एक हो जायँ। हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! आप मेरे लिये प्रकट हो जाइये—अपनी योगमायाका पर्दा मेरे सामनेसे हटा लीजिये। (इस प्रकार परमात्मासे प्रार्थना करके अब उपासक अपने मन और वाणीसे कहता है कि) हे मन और वाणी ! तुम दोनों मेरे लिये वेदविषयक ज्ञानकी प्राप्ति करानेवाले बनो, तुम्हारी सहायतासे मैं वेदविषयक ज्ञान प्राप्त कर सकूँ। मेरा गुरुमुखसे सुना हुआ और अनुभवमें आया हुआ ज्ञान मेरा त्याग न करे अर्थात् वह सर्वदा मुझे स्मरण रहे—मैं उसे कभी न भूलूँ। मेरी इच्छा है कि अपने अध्ययनद्वारा मैं दिन और रात एक कर दूँ। अर्थात् रात-दिन निरन्तर ब्रह्मविद्याका पठन और चिन्तन ही करता रहूँ। मेरे समयका एक क्षण भी व्यर्थ न बीते। मैं अपनी वाणीसे सदा ऐसे ही शब्दोंका उच्चारण करूँगा, जो सर्वथा उत्तम हों, जिनमें किसी प्रकारका दोष न हो, तथा जो कुछ बोलूँगा, सर्वथा सत्य बोलूँगा—जैसा देखा, सुना और समझा हुआ भाव है, ठीक वही भाव वाणीद्वारा प्रकट करूँगा। उसमें किसी प्रकारका छल नहीं करूँगा। (इस प्रकार अपने मन और वाणीको दृढ़ बनाकर अब पुनः परमात्मासे प्रार्थना करता है—) वे परब्रह्म परमात्मा मेरी रक्षा करें। वे परमेश्वर मुझे ब्रह्मविद्या सिखानेवाले आचार्यकी रक्षा करें। वे रक्षा करें मेरी और मेरे आचार्यकी, जिससे मेरे अध्ययनमें किसी प्रकारका विघ्न उपस्थित न हो। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—सभी प्रकारके तापोंकी शान्ति हो।

शुभाशंसा और योग-साधना

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत॥

सबको उत्पन्न करनेवाले परमात्मा पहले हमारे मन और बुद्धिकी वृत्तियोंको तत्त्वकी प्राप्तिके लिये अपने दिव्य स्वरूपमें लगायें और अग्नि आदि इन्द्रियाभिमानी देवताओंकी जो विषयोंको प्रकाशित करनेकी सामर्थ्य है, उसे दृष्टिमें रखते हुए बाह्य विषयोंसे लौटाकर हमारी इन्द्रियोंमें स्थिरतापूर्वक स्थापित कर दें, जिससे हमारी इन्द्रियोंका प्रकाश बाहर न जाकर बुद्धि और मनकी स्थिरतामें सहायक हो।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। सुवर्गेयाय शक्त्या॥

हम लोग सबको उत्पन्न करनेवाले परमदेव परमेश्वरकी आराधनारूप यज्ञमें लगे हुए मनके द्वारा परमानन्दकी प्राप्तिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्न करें। अर्थात् हमारा मन निरन्तर भगवान्‌की आराधनामें लगा रहे और हम भगवत्प्राप्तिजनित परमानन्दकी अनुभूतिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्नशील रहें।

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥

वे सबको उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर मन और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंको, जो स्वर्ग आदि लोकोंमें और आकाशमें विचरनेवाले तथा बृहत् प्रकाश फैलानेवाले हैं, हमारे मन और बुद्धिसे संयुक्त करके हमें प्रकाश प्रदान करनेके लिये प्रेरणा करें, ताकि हम उन परमेश्वरका साक्षात् करनेके लिये ध्यान करनेमें समर्थ हो सकें। हमारे मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रकाश फैला रहे। निद्रा, आलस्य और अकर्मण्यता आदि दोष हमारे ध्यानमें विघ्न न कर सकें।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥

जिन परब्रह्म परमात्मामें श्रेष्ठ बुद्धिवाले ब्राह्मणादि अधिकारी मनुष्य अपने मनको लगाते हैं तथा अपनी सब प्रकारकी बुद्धि-वृत्तियोंको भी नियुक्त करते हैं, जिन्होंने अग्निहोत्र आदि समस्त शुभ कर्मोंका विधान किया है, जो समस्त जगत्‌के विचारोंको जाननेवाले और एक अद्वितीय हैं, उन सबसे महान्, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सबके उत्पादक परमदेव परमेश्वरकी अवश्य ही हमें भूरि-भूरि स्तुति करनी चाहिये।

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥

हे मन और बुद्धि! मैं तुम दोनोंके स्वामी और समस्त जगत्‌के आदि कारण परब्रह्म परमात्माको बार-बार नमस्कार करके विनयपूर्वक उनकी शरणमें जाकर उनमें संलग्न होता हूँ। मेरे द्वारा जो उन परमेश्वरकी महिमाका वर्णन किया गया है, वह विद्वान् पुरुषकी कीर्तिके समान समस्त जगत्‌में व्याप्त हो जाय। उसे अविनाशी परमात्माके वे सभी लाड़िले, जो दिव्य लोकमें निवास करते हैं, भलीभाँति सुनें।

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः॥

जिस स्थितिमें अग्नि प्रकट करनेके लिये अरणियोंद्वारा मन्थन करनेकी भाँति, अग्निस्थानीय परमात्माको प्राप्त करनेके लिये शरीरको नीचेकी अरणि और ॐकारको ऊपरकी अरणि बनाकर उसका जप और उसके अर्थरूप परमात्माका निरन्तर चिन्तनरूप मन्थन किया जाता है, जहाँ प्राणवायुका विधिपूर्वक भलीभाँति निरोध किया जाता है, जहाँ आनन्दरूप सोमरस अधिकतासे प्रकट होता है, उस ध्यानावस्थामें मनुष्यका मन सर्वथा विशुद्ध हो जाता है।

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्।
तत्र योनिं कृणवसे न हि ते पूर्वमक्षिपत्॥

हे साधक! सम्पूर्ण जगत्के उत्पादक सर्वान्तर्यामी परमेश्वरकी प्रेरणासे अर्थात् पहले बताये हुए प्रकारसे परमात्माकी स्तुति करके उनसे अनुमति प्राप्तकर तुम्हें उन सबके आदि परब्रह्म परमात्माकी ही सेवा (समाराधना) करनी चाहिये। उन परमेश्वरमें ही आश्रय प्राप्त करना चाहिये—उन्हींकी शरण ग्रहण करके उन्हींमें अपने-आपको विलीन कर देना चाहिये। यों करनेसे तुम्हारे पहले किये हुए समस्त सञ्चित कर्म विघ्नकारक नहीं होंगे—बन्धनरूप नहीं होंगे।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥

जो ध्यानयोगका साधन करे, उस बुद्धिमान् साधकको चाहिये कि ध्यानके समय जब आसन जमाकर सुखपूर्वक बैठे, उस समय अपने सिर, गले और छातीको ऊँचा उठाये रखे, इधर-उधर न झुकने दे तथा शरीरको सीधा और स्थिर रखे। क्योंकि शरीरको सीधा और स्थिर रखे बिना तथा सिर, गला और वक्षःस्थल ऊँचा किये बिना आलस्य, निद्रा और विक्षेपरूप विघ्न आ जाते हैं। अतः इन विघ्नोंसे बचनेके लिये उपर्युक्त प्रकारसे ही बैठना चाहिये। इसके बाद समस्त इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर उनका मनके द्वारा हृदयमें निरोध कर लेना चाहिये। फिर ॐकाररूप नौकाका आश्रय लेकर अर्थात् ॐकारका जप और उसके वाच्य परब्रह्म परमात्माका ध्यान करके समस्त भयानक प्रवाहोंको पार कर लेना चाहिये। भाव यह है कि नाना योनियोंमें ले जानेवाली जितनी वासनाएँ हैं, वे सब जन्म-मृत्युरूप भय देनेवाले स्रोत (प्रवाह) हैं। इन सबका त्याग करके सदाके लिये अमरपदको प्राप्त कर लेना चाहिये।

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः॥

बुद्धिमान् साधकको चाहिये कि वह इस योग-साधनाके लिये आहार-विहार आदि समस्त चेष्टाओंको यथायोग्य करता रहे, उन्हें ध्यानयोगके लिये उपयोगी बना ले तथा योगशास्त्रकी विधिके अनुसार प्राणायाम करते-करते जब प्राण अत्यन्त सूक्ष्म हो जाय, तब नासिकाद्वारा उसे बाहर निकाल दे। इसके बाद जैसे दुष्ट घोड़ोंसे जुते हुए रथको सुचतुर सारथि बड़ी सावधानीसे चलाकर अपने गन्तव्य स्थानपर ले जाता है, उसी प्रकार साधकको चाहिये कि बड़ी सावधानीके साथ अपने मनको वशमें रखे, जिससे योगसाधनामें किसी प्रकारका विघ्न न आये और वह परमात्माकी प्राप्तिरूप लक्ष्यपर पहुँच जाय।

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥

(इस मन्त्रमें ध्यानयोगके उपयुक्त स्थानका वर्णन है।) भाव यह है कि ध्यानयोगका साधन करनेवाले साधकको ऐसे स्थानमें अपना आसन लगाना चाहिये,जहाँकी भूमि समतल हो—ऊँची-नीची, टेढ़ी-मेढ़ी न हो, जो सब प्रकारसे शुद्ध हो, जहाँपर कूड़ा-करकट,मैला आदि न हो, झाड़-बुहारकर साफ किया हो और स्वभावसे भी पवित्र हो—जैसे कोई देवालय, तीर्थस्थान आदि; जहाँ कंकड़, बालू न हों और अग्नि या धूपकी गर्मी भी न हो, जहाँ कोई मनमें विक्षेप करनेवाला शब्द न होता हो—कोलाहलका सर्वथा अभाव हो, यथावश्यक जल प्राप्त हो सके, किंतु ऐसा जलाशय न हो, जहाँ बहुत लोग आते-जाते हों एवं जहाँ शरीर-रक्षाके लिये उपयुक्त आश्रय हो परंतु ऐसा न हो, जहाँ धर्मशाला आदिकी भाँति बहुत लोग ठहरते हों, तात्पर्य यह कि इन सब विचारोंके अनुसार जो सर्वथा अनुकूल हो और जहाँका दृश्य नेत्रोंको पीड़ा पहुँचानेवाला—भयानक न हो, ऐसे गुफा आदि वायुशून्य एकान्त स्थानमें पहले बताये हुए प्रकारसे आसन लगाकर अपने मनको परमात्मामें लगानेका अभ्यास करना चाहिये।

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥

जब साधक परमब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये ध्यानयोगका साधन आरम्भ करता है, तब उसको अपने सामने कभी कुहरेके सदृश रूप दीखता है, कभी धूआँ-सा दिखायी देता है, कभी सूर्यके समान प्रकाश सर्वत्र परिपूर्ण दीखता है, कभी निःशब्द वायुकी भाँति निराकार रूप अनुभवमें आता है, कभी अग्निके सदृश तेज दीख पड़ता है, कभी जुगनूके सदृश टिमटिमाहट-सी प्रतीत होती है, कभी बिजलीकी-सी चकाचौंध पैदा करनेवाली दीप्ति दृष्टिगोचर होती है, कभी स्फटिकमणिके सदृश उज्ज्वल रूप देखनेमें आता है और कभी चन्द्रमाकी भाँति शीतल प्रकाश सर्वत्र फैला हुआ दिखायी देता है। ये सब तथा और भी अनेक दृश्य योग-साधनकी उन्नतिके द्योतक हैं। इनसे यह बात समझमें आती है कि साधकका ध्यान ठीक हो रहा है।

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥

ध्यानयोगका साधन करते-करते जब पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश— इन पाँच महाभूतोंका उत्थान हो जाता है, अर्थात् जब साधकका इन पाँचों महाभूतोंपर अधिकार हो जाता है और इन पाँचों महाभूतोंसे सम्बन्ध रखनेवाली योगविषयक पाँचों सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं, उस समय योगाग्निमय शरीरको प्राप्त कर लेनेवाले उस योगीके शरीरमें न तो रोग होता है, न बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु ही होती है। अभिप्राय यह कि उसकी इच्छाके बिना उसके शरीरका नाश नहीं हो सकता।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥

भूतोंपर विजय प्राप्त कर लेनेवाले ध्यानयोगीमें पूर्वोक्त शक्तियोंके सिवा और भी शक्तियाँ आ जाती हैं। उदाहरणतः उसका शरीर हल्का हो जाता है, शरीरमें भारीपन या आलस्यका भाव नहीं रहता। वह सदा ही नीरोग रहता है। उसे कभी कोई रोग नहीं होता। भौतिक पदार्थोंमें उसकी आसक्ति नष्ट हो जाती है। कोई भी भौतिक पदार्थ सामने आनेपर उसके मन और इन्द्रियोंका उसकी ओर आकर्षण नहीं होता। उसके शरीरका वर्ण उज्ज्वल हो जाता है। स्वर अत्यन्त मधुर और स्पष्ट हो जाता है। शरीरमेंसे बहुत अच्छी गन्ध निकलकर सब ओर फैल जाती है। मल और मूत्र बहुत ही स्वल्प मात्रामें होने लगते हैं। ये सब योगमार्गकी प्रारम्भिक सिद्धियाँ हैं—ऐसा योगी लोग कहते हैं।

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥

जिस प्रकार कोई तेजोमय रत्न मिट्टीसे लिप्त रहनेके कारण छिपा रहता है, अपने वास्तविक रूपमें प्रकट नहीं होता, परंतु वही जब मिट्टी आदिको हटाकर धो-पोंछकर साफ कर लिया जाता है तब अपने यथार्थ रूपमें चमकने लगता है, उसी प्रकार इस जीवात्माका वास्तविक स्वरूप अत्यन्त स्वच्छ होनेपर भी अनन्त जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके संस्कारोंसे मलिन हो जानेके कारण प्रत्यक्ष प्रकट नहीं होता, परंतु जब मनुष्य ध्यानयोगके साधनद्वारा समस्त मलोंको धोकर आत्माके यथार्थ स्वरूपको भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेता है, तब वह असङ्ग हो जाता है। अर्थात् उसका जो जड-पदार्थोंके साथ संयोग हो रहा था, उसका नाश होकर वह कैवल्य-अवस्थाको प्राप्त हो जाता है तथा उसके सब प्रकारके दुःखोंका अन्त होकर वह सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है। उसका मनुष्य-जन्म सार्थक हो जाता है।

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

फिर जब वह योगी इसी स्थितिमें दीपकके सदृश निर्मल प्रकाशमय पूर्वोक्त आत्मतत्त्वके द्वारा ब्रह्मतत्त्वको भलीभाँति देख लेता है—अर्थात् उन परब्रह्म परमात्माको प्रत्यक्ष कर लेता है, तब उन जन्मादि समस्त विकारोंसे रहित, अचल और निश्चित तथा समस्त तत्त्वोंसे असङ्ग—सर्वथा विशुद्ध परमदेव परमात्माको तत्त्वसे जानकर सब प्रकारके बन्धनोंसे सदाके लिये छूट जाता है।

एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एवं जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥

निश्चय ही ये पूर्वोक्त परमदेव ब्रह्म समस्त दिशा और अवान्तर दिशाओंमें व्याप्त हैं अर्थात् सर्वत्र परिपूर्ण हैं। जगत्में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ वे न हों। वे ही प्रसिद्ध परब्रह्म परमात्मा सबसे पहले हिरण्यगर्भरूपमें प्रकट हुए थे। वे ही इस ब्रह्माण्डरूप गर्भमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं। वे ही इस समय जगत्के रूपमें प्रकट हैं और भविष्यमें अर्थात् प्रलयके बाद सृष्टिकालमें पुनः प्रकट होनेवाले हैं। वे समस्त जीवोंके भीतर अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं तथा सब ओर मुखवाले अर्थात् सबको सब ओरसे देखनेवाले हैं।

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥

जो सर्वशक्तिमान् पूर्ण ब्रह्म परमदेव अग्निमें हैं, जो जलमें हैं, जो समस्त लोकोंमें अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हो रहे हैं, जो ओषधियोंमें हैं और जो वनस्पतियोंमें हैं, अर्थात् जो सर्वत्र परिपूर्ण हैं, उन परमदेव परमात्माको नमस्कार है! नमस्कार है!!

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णका संस्तवन

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥

प्रभो! आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं। आप इस जगत्के परम आश्रय और जाननेवाले तथा जानने योग्य और परमधाम हैं। हे अनन्तरूप! आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥

(हे हरे!) आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा तथा प्रजाके स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता हैं। आपके लिये हजारों बार नमस्कार, नमस्कार होवे, आपके लिये फिर भी बारंबार नमस्कार, नमस्कार होवे।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥

हे अनन्त सामर्थ्यवाले प्रभो! आपके लिये आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार होवे। हे सर्वात्मन्! आपके लिये सब ओरसे ही नमस्कार होवे, क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सब संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥

हे विश्वेश्वर! आप इस चराचर जगत्के पिता और गुरुसे भी बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं। हे अतिशय प्रभाववाले! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है फिर अधिक कैसे होवे?

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥

इससे हे प्रभो! मैं शरीरको अच्छी प्रकार आपके चरणोंमें निवेदित कर और प्रणाम करके स्तुति करने योग्य आप ईश्वरको प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ। हे देव! पिता जैसे पुत्रके और सखा जैसे सखाके तथा पति जैसे प्रियतमा पत्नीके अपराधको सहन कर लेते हैं, वैसे ही आप भी मेरे अपराधको सहन करने योग्य हैं।

योगीश्वर शिवमें अनन्य भक्ति-भाव

पशुपतिवचनाद् भवामि सद्यः कृमिरथवा तरुरप्यनेकशाखः ।
अपशुपतिवरप्रसादजा मे त्रिभुवनराज्यविभूतिरप्यनिष्टा ॥

(उपमन्यु कहते हैं—)मैं भगवान् पशुपतिके कहनेसे तत्काल प्रसन्नतापूर्वक कीट अथवा अनेक शाखाओंसे युक्त वृक्ष भी हो सकता हूँ, परंतु भगवान् शिवसे भिन्न दूसरे किसीके वर-प्रसादसे मुझे त्रिभुवनका राज्यवैभव प्राप्त हो रहा हो तो वह भी अभीष्ट नहीं है।

जन्म श्वपाकमध्येऽपि मेऽस्तु हरचरणवन्दनरतस्य ।
मा वानीश्वरभक्तो भवानि भवनेऽपि शक्रस्य ॥

यदि मुझे भगवान् शङ्करके चरणारविन्दोंकी वन्दनामें तत्पर रहनेका अवसर मिले तो मेरा जन्म चाण्डालोंमें भी हो जाय तो यह मुझे सहर्ष स्वीकार है, परंतु भगवान् शिवकी अनन्यभक्तिसे रहित होकर मैं इन्द्रके भवनमें भी स्थान पाना नहीं चाहता।

वाय्वम्बुभुजोऽपि सतो नरस्य दुःखक्षयः कुतस्तस्य ।
भवति हि सुरासुरगुरौ यस्य न विश्वेश्वरे भक्तिः ॥

कोई जल या हवा पीकर ही रहनेवाला क्यों न हो, जिसकी सुरासुर-गुरु भगवान् विश्वनाथमें भक्ति न हो, उसके दुःखोंका नाश कैसे हो सकता है ?

अलमन्याभिस्तेषां कथाभिरप्यन्यधर्मयुक्ताभिः ।
येषां न क्षणमपि रुचितो हरचरणस्मरणविच्छेदः ॥

जिन्हें क्षणभरके लिये भी भगवान् शिवके चरणारविन्दोंके स्मरणका वियोग अच्छा नहीं लगता, उन पुरुषोंके लिये अन्यान्य धर्मोंसे युक्त दूसरी-दूसरी सारी कथाएँ व्यर्थ हैं।

हरचरणनिरतमतिना भवितव्यमनार्जवं युगं प्राप्य ।
संसारभयं न भवति हरभक्तिरसायनं पीत्वा ॥

कुटिल कलिकालको पाकर सभी पुरुषोंको अपना मन भगवान् शङ्करके चरणारविन्दोंके चिन्तनमें लगा देना चाहिये। शिव-भक्तिरूपी रसायनके पी लेनेपर संसाररूपी रोगका भय नहीं रह जाता है।

दिवसं दिवसार्धं वा मुहूर्तं वा क्षणं लवम् ।
न ह्यलब्धप्रसादस्य भक्तिर्भवति शङ्करे ॥

जिसपर भगवान् शिवकी कृपा नहीं है, उस मनुष्यकी एक दिन, आधे दिन, एक मुहूर्त, एक क्षण या एक लवके लिये भी भगवान् शङ्करमें भक्ति नहीं होती है।

न नाकपृष्ठं न च देवराज्यं न ब्रह्मलोकं न च निष्कलत्वम् ।
न सर्वकामानखिलान् वृणोमि हरस्य दासत्वमहं वृणोमि ॥

न तो मैं स्वर्गलोक चाहता हूँ, न देवताओंका राज्य पानेकी अभिलाषा रखता हूँ। न ब्रह्मलोककी इच्छा करता हूँ और न निर्गुण ब्रह्मका सायुज्य ही प्राप्त करना चाहता हूँ। भूमण्डलकी समस्त कामनाओंको भी पानेकी मेरी इच्छा नहीं है। मैं तो केवल भगवान् शिवकी दासताका ही वरण करता हूँ।

यावच्छशाङ्कधवलामलबद्धमौलिर्न प्रीयते पशुपतिर्भगवान् ममेशः ।
तावज्जरामरणजन्मशताभिघातैर्दुःखानि देहविहितानि समुद्वहामि ॥

जिनके मस्तकपर अर्द्धचन्द्रमय उज्ज्वल एवं निर्मल मुकुट बँधा हुआ है, वे मेरे स्वामी भगवान् पशुपति जबतक प्रसन्न नहीं होते हैं, तबतक मैं जरा-मृत्यु और जन्मके सैकड़ों आघातोंसे प्राप्त होनेवाले दैहिक दुःखोंका भार ढोता रहूँगा।

दिवसकरशशाङ्कवह्निदीप्तं त्रिभुवनसारमसारमाद्यमेकम्।
अजरममरमप्रसाद्य रुद्रं जगति पुमानिह को लभते शान्तिम्॥

जो अपने नेत्रभूत सूर्य, चन्द्रमा और अग्निकी प्रभासे उद्भासित होते हैं, त्रिभुवनके साररूप हैं, जिनसे बढ़कर सारतत्त्व दूसरा नहीं है, जो जगत्‌के आदिकारण, अद्वितीय तथा अजर-अमर हैं, उन भगवान् रुद्रको भक्तिभावसे प्रसन्न किये बिना कौन पुरुष इस संसारमें शान्ति पा सकता है।

यदि नाम जन्म भूयो भवति मदीयैः पुनर्दोषैः।
तस्मिंस्तस्मिञ्जन्मनि भवे भवेन्मेऽक्षया भक्तिः॥

यदि मेरे दोषोंसे मुझे बारंबार इस जगत्‌में जन्म लेना पड़े तो मेरी यही इच्छा है कि उस-उस प्रत्येक जन्ममें भगवान् शिवमें अक्षय भक्ति हो।

महर्षि वसिष्ठजीको नमस्कार

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं श्रीवसिष्ठं नताः स्म॥

'जो ब्रह्मानन्दस्वरूप अथवा ज्ञानोपदेशद्वारा ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति करानेवाले, परम सुखद, अद्वितीय ज्ञानमूर्ति, द्वन्द्वोंसे रहित, आकाश-सदृश निर्मल, 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त-महावाक्योंके लक्ष्यार्थरूप, एक, नित्य, निर्मल, निश्चल, सम्पूर्ण बुद्धि-वृत्तियोंके साक्षी, समस्त भावोंसे परे तथा तीनों गुणोंसे रहित हैं, उन परब्रह्मस्वरूप श्रीवसिष्ठजीको हम नमस्कार करते हैं।'

महायोगी पतञ्जलिको प्रणाम

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन। योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

'मैं उन मुनियोंमें श्रेष्ठ पतञ्जलिको हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने योगसे अन्तःकरणके, पद (व्याकरण-महाभाष्य) से वाणीके और वैद्यक (चरकग्रन्थके द्वारा) से शरीरके मलको दूर किया (धोया) है।

जयन्ति वाचः फणिभर्तुरान्तरस्फुरत्तमस्तोमनिशाकरत्विषः। विभाव्यमानाः सततं मनांसि याः सतां सदानन्दमयानि कुर्वते॥

'जो अन्तःकरणके अज्ञानमय अन्धकारका निवारण करनेके लिये चन्द्रमाकी किरणोंके समान प्रकाशित हो रही हैं तथा निरन्तर अनुशीलन करनेपर जो साधु पुरुषोंके मनको सदा आनन्दमय करती रहती हैं, शेषावतार महर्षि पतञ्जलिकी वे वाणियाँ सर्वोपरि विराजमान हैं।'

पतञ्जलिमुनेरुक्तिः काप्यपूर्वा जयत्यसौ। पुंप्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यथा॥

'महर्षि पतञ्जलिकी योगदर्शनरूप ऐसी अपूर्व वाणीकी जय हो, जिसके द्वारा पुरुष और प्रकृतिके वियोगको भी योग कहा गया है।'

रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि॥
जासु पतित पावन बड़ बाना। गावहिं कबि श्रुति संत पुराना॥
ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजे गति केहिं नहिं पाई॥

भगवती महायोगमायाकी स्तुति

ब्रह्मोवाच

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारः स्वरात्मिका ॥
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता। अर्धमात्रास्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः ॥
त्वमेव संध्या सावित्री त्वं देवि जननी परा। त्वयैतद्धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत् ॥
त्वयैतत्पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा। विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने ॥
तथा संहृतिरूपान्ते जगतोऽस्य जगन्मये। महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः ॥
महामोहा च भवती महादेवी महासुरी। प्रकृतिस्त्वं च सर्वस्य गुणत्रयविभाविनी ॥
कालरात्रिर्महारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारुणा। त्वं श्रीस्त्वमीश्वरी त्वं ह्रीस्त्वं बुद्धिर्बोधलक्षणा ॥
लज्जा पुष्टिस्तथा तुष्टिस्त्वं शान्तिः क्षान्तिरेव च। खड्गिनी शूलिनी घोरा गदिनी चक्रिणी तथा ॥
शङ्खिनी चापिनी बाणभुशुण्डीपरिघायुधा। सौम्या सौम्यतराशेषसौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरी ॥
परापराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी। यच्च किंचित्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके ॥
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा। यया त्वया जगत्स्रष्टा जगत्पात्यत्ति यो जगत् ॥
सोऽपि निद्रावशं नीतः कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वरः। विष्णुः शरीरग्रहणमहमीशान एव च ॥
कारितास्ते यतोऽतस्त्वां कः स्तोतुं शक्तिमान् भवेत्। सा त्वमित्थं प्रभावैः स्वैरुदारैर्देवि संस्तुता ॥

ब्रह्माजीने भगवती योगमायाका स्तवन करते हुए कहा—'देवि ! तुम्हीं स्वाहा, तुम्हीं स्वधा और तुम्हीं वषट्कार हो। स्वर भी तुम्हारे ही स्वरूप हैं। तुम्हीं जीवनदायिनी सुधा हो। नित्य अक्षर प्रणवमें अकार, उकार, मकार— इन तीन मात्राओंके रूपमें तुम्हीं स्थित हो तथा इन तीन मात्राओंके अतिरिक्त जो विन्दुरूपा नित्य अर्धमात्रा है, जिसका विशेष रूपसे उच्चारण नहीं किया जा सकता, वह भी तुम्हीं हो। देवि ! तुम्हीं संध्या, सावित्री तथा परम जननी हो। देवि ! तुम्हीं इस विश्व-ब्रह्माण्डको धारण करती हो। तुमसे ही इस जगत्की सृष्टि होती है। तुम्हींसे इसका पालन होता है और सदा तुम्हीं कल्पके अन्तमें सबको अपना ग्रास बना लेती हो। जगन्मयी देवि ! इस जगत्की उत्पत्तिके समय तुम सृष्टिरूपा हो, पालन-कालमें स्थितिरूपा हो तथा कल्पान्तके समय संहाररूप धारण करनेवाली हो। तुम्हीं महाविद्या, महामाया, महामेधा, महास्मृति, महामोहरूपा, महादेवी और महासुरी हो। तुम्हीं तीनों गुणोंको उत्पन्न करनेवाली सबकी प्रकृति हो। भयंकर कालरात्रि, महारात्रि और मोहरात्रि भी तुम्हीं हो। तुम्हीं श्री, तुम्हीं ईश्वरी, तुम्हीं ह्री और तुम्हीं बोधस्वरूपा बुद्धि हो। लज्जा, पुष्टि, तुष्टि, शान्ति और क्षमा भी तुम्हीं हो। तुम खड्गधारिणी, शूलधारिणी, घोररूपा तथा गदा, चक्र, शङ्ख और धनुष धारण करनेवाली हो। बाण, भुशुण्डी और परिघ—ये भी तुम्हारे अस्त्र हैं। तुम सौम्य और सौम्यतर हो—इतना ही नहीं, जितने भी सौम्य एवं सुन्दर पदार्थ हैं, उन सबकी अपेक्षा तुम अत्यधिक सुन्दरी हो। पर और अपर—सबसे परे रहनेवाली परमेश्वरी तुम्हीं हो। सर्वस्वरूपे देवि ! कहीं भी सत्-असत्रूप जो कुछ वस्तुएँ हैं और उन सबकी जो शक्ति है, वह तुम्हीं हो। ऐसी अवस्थामें तुम्हारी स्तुति क्या हो सकती है ? जो इस जगत्की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं, उन भगवान्को भी जब तुमने निद्राके अधीन कर दिया है, तब तुम्हारी स्तुति करनेमें यहाँ कौन समर्थ हो सकता है ? मुझको, भगवान् शङ्करको तथा भगवान् विष्णुको भी तुमने ही शरीर धारण कराया है, अतः तुम्हारी स्तुति करनेकी शक्ति किसमें है ? देवि ! तुम तो अपने इन उदार प्रभावोंसे ही प्रशंसित हो।'

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

इस सम्पूर्ण विश्वके चराचर प्राणी सुखी तथा नीरोग हों, सभी कल्याणको प्राप्त करें और कोई दुःखी न रहे।

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके योगविषयक उपदेश

स्थितप्रज्ञ योगीके लक्षण

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

(२।५५)

(भगवान् श्रीकृष्णने कहा—)हे अर्जुन ! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

(२।५६-५७)

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है। जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

(२।५८—६१)

और कछुआ जैसे सब ओरसे अपने अङ्गोंको समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर है (ऐसा समझना चाहिये)। इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परंतु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है। हे अर्जुन ! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं। इसलिये साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यानमें बैठे, क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

(२।६२-६३)

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़भावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

(२।६४)

परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

(२।६५-६६)

अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न-चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है। न जीते हुए मन और इन्द्रियोंवाले पुरुषमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्यके अन्तःकरणमें भावना भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(२।६७-६८)

क्योंकि जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है। इसलिये हे महाबाहो! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

(२।६९-७०)

सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जो रात्रिके समान है, उस नित्य ज्ञानस्वरूप परमानन्दकी प्राप्तिमें स्थितप्रज्ञ योगी जागता है और जिस नाशवान् सांसारिक सुखकी प्राप्तिमें सब प्राणी जागते हैं, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रिके समान है। जैसे नाना नदियोंके जल जब सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं।

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

(२।७१-७२)

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहङ्काररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्तिको प्राप्त है। हे अर्जुन! यह ब्रह्मको प्राप्त पुरुषकी स्थिति है, इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता और अन्तकालमें भी इस ब्राह्मी स्थितिमें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

(५।७)

जिसका मन अपने वशमें है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरणवाला है और सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥

(५।१०-११)

जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता। कर्मयोगी ममत्वबुद्धि-रहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको

त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥

(५।१२-१३)

कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकामपुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है। अन्तःकरण जिसके वशमें है, ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नवद्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

(५।१७)

जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(५।२०-२१)

जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है। बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरण-वाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है, तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

(५।२२-२३)

जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता। जो साधक इस मनुष्यशरीरमें, शरीरका नाश होनेसे पहले-पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वही पुरुष योगी है और वही सुखी है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(५।२४)

जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(५।२७—२९)

बाहरके विषय-भोगोंको न चिन्तन करता हुआ बाहर ही निकालकर और नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थित करके तथा नासिकामें विचरनेवाले प्राण और अपानवायुको सम करके, जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जीती हुई हैं—ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि इच्छा, भय और क्रोधसे रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है। मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।

योगीकी योग-साधनाका स्वरूप

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥

सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं, अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है। सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है। (६।७—९)

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥

मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें रखनेवाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित होकर आत्माको निरन्तर परमात्मामें लगावे। शुद्ध भूमिमें, जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है और न बहुत नीचा, ऐसे अपने आसनको स्थिर स्थापन करके उस आसनपर बैठकर चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥

काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर, अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे। (६।१३-१४)

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

वशमें किये हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्माको निरन्तर मुझ परमेश्वरके स्वरूपमें लगाता हुआ मुझमें रहनेवाली परमानन्दकी पराकाष्ठारूप शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! यह योग न तो बहुत खानेवालेका न बिलकुल न खानेवालेका, न बहुत शयन करनेके स्वभाववालेका और न सदा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है। (६।१५-१६)

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥

दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है। अत्यन्त वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, उस कालमें सम्पूर्ण भोगोंसे स्पृहारहित पुरुष योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है। (६।१७-१८)

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥

(६।१९-२०)

जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा परमात्माके ध्यानमें लगे हुए योगीके

जीते हुए चित्तकी कही गयी है। योगके अभ्याससे निरुद्ध चित्त जिस अवस्थामें उपराम हो जाता है और जिस अवस्थामें परमात्माके ध्यानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा परमात्माको साक्षात् करता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही संतुष्ट रहता है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(६।२१-२२)

इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है; उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं। परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मप्राप्ति-रूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥

(६।२३-२४)

जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये। वह योग न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है। संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्याग कर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(६।२५-२६)

क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे। यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

(६।२७-२८)

क्योंकि जिसका मन भलीप्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकीभाव हुए योगीको उत्तम आनन्द प्राप्त होता है। वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(६।२९-३०)

सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है। जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६।३१-३२)

जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है।

हे अर्जुन ! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(६।४६-४७)

योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है और सकामकर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है; इससे हे अर्जुन ! तू योगी हो। सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(१८।५१—५३)

विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहङ्कार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला, ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्द ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(१८।५४—५६)

फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी परा भक्तिको प्राप्त हो जाता है। उस परा भक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है; तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है। मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।

अनन्य चित्तवाले योगीको भगवान् तत्काल प्राप्त हो जाते हैं

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(९।२२)

जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(१०।९—११)

निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप

योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(११। ५५)

हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है—वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(१२। २)

मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(१२। ६-७)

परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८। १४)

हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्य-चित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(९। २६-२७)

जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ। हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(९। २८-२९)

इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा। मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(९। ३२—३४)

हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरी शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं। फिर इसमें तो कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन मेरी शरण होकर परम गतिको प्राप्त होते हैं। इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन

कर। मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८। ६४—६६)

सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा। हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

पातञ्जलयोगदर्शन

(१) समाधिपाद

अथ योगानुशासनम्॥ १॥

अब परम्पराप्राप्त योगविषयक शास्त्र प्रारम्भ किया जाता है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥ २॥

चित्तकी वृत्तियोंको रोकना योग है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥ ३॥

जब चित्तकी वृत्तियोंका निरोध हो जाता है, तब द्रष्टाकी (शुद्ध परमात्म-) स्वरूपमें अवस्थिति होती है।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र॥ ४॥

दूसरी अर्थात् निरोधसे भिन्न व्युत्थान-अवस्थामें द्रष्टाकी वृत्तियोंके समानरूपता होती है अर्थात् द्रष्टा वृत्तियोंके समान रूपवाला प्रतीत होता है।

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः॥ ५॥

वृत्तियाँ पाँच प्रकारकी होती हैं—क्लिष्ट अर्थात् राग-द्वेषादि क्लेशोंकी हेतु और अक्लिष्ट अर्थात् राग-द्वेषादि क्लेशोंकी नाश करनेवाली।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः॥ ६॥

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति—ये पाँच प्रकारकी वृत्तियाँ हैं।

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि॥ ७॥

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम-भेदसे तीन प्रकारकी प्रमाण-वृत्ति है।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्॥ ८॥

विपर्यय मिथ्या-ज्ञान है, जो उस पदार्थके रूपमें प्रतिष्ठित नहीं है।

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः॥ ९॥

शब्दसे उत्पन्न जो ज्ञान, उसके पीछे चलनेका जिसका स्वभाव हो और जो वस्तुकी सत्ताकी अपेक्षा न रखता हो इस प्रकारका ज्ञान विकल्प कहलाता है।

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा॥ १०॥

(जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थाकी वृत्तियोंके) अभावकी प्रतीतिको आश्रय करनेवाली वृत्ति निद्रा है।

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः॥ ११॥

अनुभव किये हुए विषयका फिर चित्तमें आरोहपूर्वक उससे अधिक नहीं, किंतु तन्मात्रविषयक ज्ञान होना स्मृति है।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥ १२॥

अभ्यास और वैराग्यसे उन वृत्तियोंका निरोध होता है।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः॥ १३॥

उनमेंसे चित्तकी स्थितिके विषयमें यत्न करना अभ्यास है।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः॥ १४॥

किंतु वह पूर्वोक्त अभ्यास दीर्घकालपर्यन्त निरन्तर व्यवधानरहित ठीक-ठीक श्रद्धा, वीर्य, भक्तिपूर्वक अनुष्ठान किया हुआ दृढ़ अवस्थावाला हो जाता है।

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥ १५॥

दृष्ट और आनुश्रविक विषयोंमें जिसको तृष्णा नहीं रही है, उसका वैराग्य वशीकार नामवाला अर्थात् अपर-वैराग्य है।

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

विवेकख्यातिद्वारा गुणोंसे तृष्णारहित हो जाना पर-वैराग्य है।

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता नामक स्वरूपोंके सम्बन्धसे जो चित्तकी वृत्तियोंका निरोध है, वह सम्प्रज्ञात-समाधि कहलाता है अर्थात् वितर्कके सम्बन्धसे जो समाधि होती है, उसका नाम वितर्कानुगत, विचारके सम्बन्धसे विचारानुगत, आनन्दके सम्बन्धसे आनन्दानुगत और अस्मिताके सम्बन्धसे होनेवाली समाधिका नाम अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि है।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

सर्ववृत्तियोंके निरोधका कारण जो पर-वैराग्य है, उसके पुनः-पुनः अनुष्ठानरूप अभ्याससे जो उसके संस्कार शेष रह जाते हैं, वह असम्प्रज्ञात-समाधि है।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

विदेह और प्रकृतिलयोंको जन्मसे ही असम्प्रज्ञात-समाधिकी प्रतीति होती है।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

दूसरे योगी जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं हैं, उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक असम्प्रज्ञात-समाधि सिद्ध होती है।

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

तीव्र संवेग और अधिमात्र उपायवाले योगियोंको समाधि-लाभ शीघ्रतम होता है।

मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

मृदु, मध्य, अधिमात्र—ये तीन भेद होनेसे मृदु तीव्र संवेगवालों और मध्य तीव्र संवेगवालोंके समाधि-लाभसे भी अधिमात्र तीव्र संवेगवालोंको समाधिलाभमें विशेषता है।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

अथवा ईश्वर-प्रणिधानसे शीघ्रतम समाधि-लाभ होता है।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

क्लेश, कर्म, कर्मोंके फल और वासनाओंसे असम्बद्ध, अन्य पुरुषोंसे विशेष (विभिन्न उत्कृष्ट) चेतन ईश्वर है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

उस पूर्वोक्त ईश्वरमें सर्वज्ञताका बीज अतिशय (बढ़ती) रहित है।

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

वह ईश्वर पूर्व उत्पन्न हुए ब्रह्मादिकोंका भी गुरु है, क्योंकि वह कालसे परिच्छिन्न (परिमित) नहीं है।

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

उस ईश्वरका बोधक शब्द ओ३म् है।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

उस ओ३म् शब्दका जप और उसके अर्थभूत ईश्वरका ध्यान करना (पुनः-पुनः चिन्तन करना) ईश्वर-प्रणिधान है।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

उस ईश्वर-प्रणिधानसे प्रत्यक्चेतनाका ज्ञान भी होता है और अन्तरायों (विघ्नों) का अभाव होता है।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व—ये चित्तके नौ विक्षेप (योगके) विघ्न हैं।

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास-प्रश्वास—ये विक्षेपोंके साथ होनेवाले हैं अर्थात् उनके होनेसे ये पाँच प्रतिबन्धक भी हो जाते हैं।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

उन पूर्वोक्त विक्षेप तथा उपविक्षेपोंको दूर करनेके लिये एकतत्त्वका अभ्यास करना चाहिये अर्थात् किसी अभिमत एक-तत्त्वद्वारा चित्तकी स्थितिके लिये यत्न करना चाहिये।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

सुखी-दुःखी, पुण्यात्मा और पापियोंके विषयमें यथाक्रम मित्रता, दया, हर्ष और उपेक्षाकी भावनाके अनुष्ठानसे चित्त प्रसन्न और निर्मल होता है।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

अथवा कोष्ठस्थित (कोठामें रहनेवाली) वायुको नासिकापुटद्वारा (प्रयत्नविशेषसे) बाहर फेंकने और बाहर रोकने—दोनोंसे मनकी स्थितिको सम्पादन करे।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ॥ ३५ ॥

अथवा (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द) विषयोंवाली प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मनकी स्थितिको बाँधनेवाली होती है।

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

अथवा शोकरहित प्रकाशवाली प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मनकी स्थितिको बाँधनेवाली होती है।

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

अथवा रागरहित योगी-गणके चित्तविषयक संयम करनेवाला (आलम्बनवाला) चित्त मनकी स्थितिको बाँधनेवाला होता है।

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

अथवा स्वप्नज्ञान और निद्राज्ञानको आश्रय करनेवाला चित्त मनकी स्थितिको बाँधनेवाला होता है।

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

अथवा जो जिसको अभिमत (इष्ट) हो, उसके ध्यानसे मनकी स्थिति बँध जाती है।

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

पूर्वोक्त उपायोंसे स्थित हुए चित्तका सूक्ष्म पदार्थोंमें परमाणुपर्यन्त और महान् पदार्थोंमें परम-महान् (आकाश) पर्यन्त वशीकार हो जाता है।

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

राजस, तामस-वृत्तिरहित स्वच्छ चित्तकी उत्तम जातीय (अति निर्मल) मणिके समान ग्रहीता (अस्मिता), ग्रहण (इन्द्रियाँ), ग्राह्य (स्थूल तथा सूक्ष्म विषयों) में स्थित होकर उनके तन्मय हो जाना (उनके स्वरूपको प्राप्त हो जाना) समापत्ति (तद्रूप होना) है।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

उन समापत्तियोंमेंसे शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पों (भेदों) से मिली हुई (अर्थात् इन तीनों भिन्न-भिन्न पदार्थोंका अभेदरूपसे जिसमें भान होता है) सवितर्क समापत्ति होती है।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

स्मृतिके शुद्ध हो जानेपर (अर्थात् आगम-अनुमानके कारणीभूत शब्द-संकेत स्मरणके निवृत्त होनेसे) अर्थमात्र-सी भासनेवाली अपने (ग्रहण आकार ज्ञानात्मक) रूपसे रहित (चित्तवृत्ति) निर्वितर्क समापत्ति है।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

इस सवितर्क और निर्वितर्क समापत्तिके निरूपणसे ही सविचार और निर्विचार समापत्तियाँ सूक्ष्म विषयमें व्याख्यान की हुई समझनी चाहिये।

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

सूक्ष्मविषयता अलिङ्ग-प्रकृतिपर्यन्त है।

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

ये पूर्वोक्त चारों समापत्तियाँ ही सबीज समाधि कहलाती हैं।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

निर्विचार समाधिको वैशारद्य (प्रवीणता) होनेपर अध्यात्म (प्रज्ञा) की निर्मलता होती है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

अध्यात्म-प्रसादके लाभ होनेपर जो प्रज्ञा (समाधिजन्य बुद्धि) उत्पन्न होती है, उसका नाम ऋतम्भरा प्रज्ञा (सचाईको धारण करनेवाली अविद्यादिसे रहित बुद्धि) है।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

आगम और अनुमानकी प्रज्ञासे ऋतम्भरा प्रज्ञाका विषय अलग है, विशेषरूपसे अर्थका साक्षात्कार करनेसे।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

उस ऋतम्भरा प्रज्ञासे उत्पन्न होनेवाला संस्कार अन्य सब व्युत्थानके संस्कारोंका बाधक (रोकनेवाला) होता है।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

पर-वैराग्यद्वारा उस ऋतम्भरा-प्रज्ञा-जन्य संस्कारके भी निरोध हो जानेपर पुरातन-नूतन सब संस्कारोंके निरोध हो जानेसे निर्बीज-समाधि होती है।

(२) साधनपाद

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग है।

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

समाधिकी भावनाके लिये और क्लेशोंके तनूकरणके लिये (क्षीण करनेके लिये) क्रियायोग है।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ ३ ॥

अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश क्लेश हैं। ये पाँचों बाधनारूप पीड़ाको उत्पन्न करते हैं और चित्तमें वर्तमान रहते हुए संस्काररूप गुणोंके परिणामको दृढ़ करते हैं, इसलिये क्लेश नामसे कहे गये हैं। ये पाँचों विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान ही हैं, क्योंकि उन सबका कारण अविद्या ही है।

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार-अवस्थावाले अस्मिता आदि क्लेशोंका अविद्या क्षेत्र है।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

अनित्यमें नित्य, अपवित्रमें पवित्र, दुःखमें सुख और अनात्मामें आत्माका ज्ञान अविद्या है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

दृक्शक्ति और दर्शनशक्तिका एक स्वरूप-जैसा भान होना अस्मिता (क्लेश) है।

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

सुख-भोगके पीछे जो चित्तमें उसके भोगकी इच्छा रहती है, वह राग है।

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

दुःखके अनुभवके पीछे जो घृणाकी वासना चित्तमें रहती है, उसको द्वेष कहते हैं।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

(जो मरनेका भय हर एक प्राणीमें) स्वभावतः बह रहा है और विद्वानोंके लिये भी ऐसा ही प्रसिद्ध है (जैसा कि मूर्खोंके लिये) वह अभिनिवेश क्लेश है।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

वे पूर्वोक्त पाँच क्लेश, जो क्रियायोगसे सूक्ष्म और प्रसंख्यान अग्निसे दग्धबीजरूप हो गये हैं, असम्प्रज्ञात-समाधिद्वारा चित्तके अपने कारणमें लीन होनेसे निवृत्त करने योग्य हैं।

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

क्लेशोंकी स्थूल वृत्तियाँ, जो क्रियायोगसे तनु (क्षीण) कर दी गयी हैं, प्रसंख्यान (विवेक-ख्याति)-संज्ञक ध्यानसे त्यागने योग्य हैं। (जबतक कि वे सूक्ष्म होकर दग्ध बीजके सदृश न हो जायँ।)

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

क्लेश जिसकी जड़ है, ऐसी कर्मोंकी वासना वर्तमान और अगले जन्मोंमें भोगने योग्य है।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

अविद्या आदि क्लेशोंकी जड़के होते हुए उस (कर्माशय) का फल जाति, आयु और भोग होते हैं।

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

वे (जाति, आयु और भोग) सुख-दुःखरूपी फलके देनेवाले होते हैं, क्योंकि उनके कारण पुण्य और पाप हैं।

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

क्योंकि (विषय-सुखके भोगकालमें भी) परिणाम-दुःख, ताप-दुःख और संस्कार-दुःख बना रहता है और गुणोंके स्वभावमें भी विरोध है, इसलिये विवेकी पुरुषके लिये सब कुछ (सुख भी जो विषय-जन्य है) दुःख ही है।

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

आनेवाले दुःख हेय (त्यागने योग्य) हैं।

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

द्रष्टा और दृश्यका संयोग 'हेयहेतु' (दुःखका कारण) है।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है, भूत और इन्द्रिय जिसका स्वरूप है, भोग और अपवर्ग जिसका प्रयोजन है, वह दृश्य है।

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रा लिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

गुणोंकी चार अवस्थाएँ (परिणाम) हैं। विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

द्रष्टा जो देखनेकी शक्तिमात्र है, निर्विकार होता हुआ भी चित्तकी वृत्तियोंके अनुसार देखनेवाला है।

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

उस पुरुषके लिये ही (यह सारा) दृश्यका स्वरूप है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके लिये यह दृश्य नष्ट हुआ भी नष्ट नहीं होता है, क्योंकि वह दूसरे पुरुषोंके साथ साझेकी वस्तु है।

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

स्व-शक्ति और स्वामी-शक्ति-संज्ञक स्वरूपकी उपलब्धिका जो कारण है वह (दृश्य-द्रष्टाका स्व-स्वामिभाव) संयोग है। अर्थात् स्व-शक्ति और स्वामी-शक्तिके स्वरूपकी उपलब्धि (दृश्य-द्रष्टाके स्व-स्वामिभाव) संयोगके वियोगका कारण है।

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

इस अदर्शनरूपी संयोगका कारण अविद्या है।

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

उसके (अविद्याके) अभावसे (अदर्शनरूपी) संयोगका अभाव 'हान' है। वह चिति-शक्तिका कैवल्य है।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

शुद्ध विवेकख्याति हानका उपाय है।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

उस निर्मल विवेकख्यातिवाले योगीकी सात प्रकारकी सबसे ऊँची अवस्थावाली प्रज्ञा होती है।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

योगके अङ्गोंके अनुष्ठानसे अशुद्धिके नाश होनेपर ज्ञानका प्रकाश विवेकख्यातिपर्यन्त हो जाता है।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—(ये) आठ योगके अङ्ग हैं।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यम हैं।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

जाति देश, काल और समयकी हदसे रहित सर्वभूमियोंमें पालन करने योग्य यम महाव्रत कहलाते हैं।

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय (और) ईश्वर-प्रणिधान नियम हैं।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

वितर्कोंद्वारा यम और नियमोंका बाध होनेपर प्रतिपक्षका चिन्तन करना चाहिये।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

यम-नियमोंके विरोधी हिंसा आदि वितर्क कहलाते हैं। (वे तीन प्रकारके होते हैं) स्वयं किये हुए, दूसरोंसे कराये हुए और अनुमोदन किये हुए। उनके कारण लोभ, मोह और क्रोध होते हैं। वे मृदु, मध्य और अधिमात्रावाले होते हैं। ये सब दुःख और अज्ञानरूपी अपरिमित फलोंको देनेवाले हैं। इस प्रकार प्रतिपक्षकी भावना करे।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

अहिंसाकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर उस (अहिंसक योगी) के निकट सब प्राणियोंका वैर छूट जाता है।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

सत्यमें दृढ़ स्थिति हो जानेपर क्रिया फलका आश्रय बनती है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

अस्तेयकी दृढ़ स्थिति होनेपर सब रत्नोंकी प्राप्ति होती है।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

ब्रह्मचर्यकी दृढ़ स्थिति होनेपर वीर्यका लाभ होता है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३९ ॥

अपरिग्रहकी स्थिरतामें जन्मके कैसेपनका (पूर्वजन्म कैसे हुए थे) इस बातका साक्षात् होता है।

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

शौचसे अपने अङ्गोंसे घृणा और दूसरोंसे संसर्गका

अभाव होता है।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

चित्तकी शुद्धि, मनकी स्वच्छता, एकाग्रता, इन्द्रियोंका जीतना और आत्मदर्शनकी योग्यता आभ्यन्तर शौचकी सिद्धिसे प्राप्त होती है।

संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

संतोषसे अनुत्तम सुख प्राप्त होता है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

तपसे अशुद्धिके क्षयके होनेसे शरीर और इन्द्रियोंकी शुद्धि होती है।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥

स्वाध्यायसे इष्टदेवताका साक्षात् होता है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

समाधिकी सिद्धि ईश्वर-प्रणिधानसे होती है।

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

जो स्थिर और सुखदायी हो वह आसन है।

प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

(आसन) प्रयत्नकी शिथिलता और आनन्त्यमें समापत्तिद्वारा सिद्ध होता है।

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

आसनकी सिद्धिसे द्वन्द्वोंकी चोट नहीं लगती।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

आसनके स्थिर होनेपर श्वास-प्रश्वासकी गतिका रोकना प्राणायाम है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

(यह प्राणायाम) बाह्य-वृत्ति, आभ्यन्तर-वृत्ति और स्तम्भ-वृत्ति (तीन प्रकारका होता है) देश, काल और संख्यासे देखा हुआ (नापा हुआ) लम्बा और हलका होता है।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

बाहर-अंदरके विषयको फेंकनेवाला अर्थात् आलोचना करनेवाला चौथा प्राणायाम है।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

उससे प्रकाशका आवरण (विवेक-ज्ञानका पर्दा) क्षीण हो जाता है।

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

और धारणाओंमें मनकी योग्यता होती है।

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

इन्द्रियोंका अपने विषयोंके साथ सम्बन्ध न होनेपर चित्तके स्वरूपका अनुकरण (नकल)-जैसा करना प्रत्याहार है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

उस प्रत्याहारसे इन्द्रियोंका उत्कृष्ट वशीकार होता है।

(३) विभूतिपाद

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

चित्तका वृत्तिमात्रसे किसी स्थानविशेषमें बाँधना 'धारणा' कहलाता है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

उसमें वृत्तिका एक-सा (घटोऽयं घटोऽयम् आदि) बना रहना ध्यान है।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

वह ध्यान ही समाधि कहलाता है, जब उसमें केवल ध्येय अर्थमात्रसे भासता है और उसका (ध्यानका) स्वरूप शून्य-जैसा हो जाता है।

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) का एक विषयमें होना संयम कहलाता है।

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

उस (संयम) के जयसे समाधि-प्रज्ञाका प्रकाश होता है।

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

उस संयमका भूमियोंमें विनियोग करना चाहिये।

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

पहलोंकी अपेक्षासे तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) अन्तरङ्ग हैं।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

वह धारणा, ध्यान तथा समाधि भी असम्प्रज्ञात-समाधिका बाहरका अङ्ग है।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षण-चित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

व्युत्थानके संस्कारका दबना, निरोधके संस्कारका प्रकट होना, यह जो निरोधकालमें होनेवाले चित्तका दोनों संस्कारोंमें अनुगत होना है, यह निरोध-परिणाम कहा जाता है।

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

निरोध-संस्कारसे चित्तकी शान्त-प्रवाहवाली गति होती है।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि-परिणामः ॥ ११ ॥

चित्त (धर्मी) के सर्वार्थता और एकाग्रतारूप धर्मोंका (क्रमसे) नाश होना और प्रकट होना चित्तका समाधि-अवस्थामें परिणाम है।

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता-परिणामः ॥ १२ ॥

तब फिर समान वृत्तियोंका शान्त और उदय होना चित्तका एकाग्रता-परिणाम है।

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

चित्तके परिणामसे ही भूतों और इन्द्रियोंमें धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणाम व्याख्या किये गये जानने चाहिये।

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

(उन परिणामोंके) अतीत, वर्तमान और भविष्यत् धर्मोंमें अनुगत धर्मी है।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

क्रमोंका भेद परिणामके भेदमें हेतु है।

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

तीनों परिणामोंमें संयम करनेसे भूत और भविष्यत्का ज्ञान होता है।

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभाग-संयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

शब्द, अर्थ और ज्ञानके परस्परके अध्याससे अभेद भासना होता है। उनके विभागमें संयम करनेसे सब प्राणियोंके शब्दका ज्ञान होता है।

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

संस्कारके साक्षात् करनेसे पूर्वजन्मका ज्ञान होता है।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

दूसरेके चित्तकी वृत्तिके साक्षात् करनेसे दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है।

न च तत् सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥

पर वह (दूसरेका चित्त) अपने विषयसहित साक्षात् नहीं होता, क्योंकि वह (विषयसहित चित्त) उसका (संयमका) विषय नहीं है।

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशा-सम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ २१ ॥

अपने शरीरके रूपमें संयम करनेसे रूपकी ग्राह्य-शक्ति रुक जाती है। इससे दूसरेकी आँखोंके प्रकाशसे योगीके शरीरका संनिकर्ष न होनेके कारण योगीके शरीरका अन्तर्धान (छिप जाना) हो जाता है।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञान-मरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

कर्म सोपक्रम और निरुपक्रम दो प्रकारके होते हैं। उनमें संयम करनेसे मृत्युका ज्ञान होता है अथवा अरिष्टोंसे मृत्युका ज्ञान होता है।

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

मैत्री आदिमें संयम करनेसे मैत्री आदि बल प्राप्त होता है।

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

हाथी आदिके बलोंमें संयम करनेसे हाथी आदिके बल प्राप्त होते हैं।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्ट-ज्ञानम् ॥ २५ ॥

प्रवृत्तिके प्रकाश डालनेसे सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुका ज्ञान होता है।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

सूर्यमें संयम करनेसे भुवनका ज्ञान होता है।

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

चन्द्रमामें संयम करनेसे ताराओंके व्यूहका ज्ञान होता है।

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

ध्रुवमें संयम करनेसे ताराओंकी गतिका ज्ञान होता है।

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

नाभि-चक्रमें संयम करनेसे शरीरके व्यूहका ज्ञान होता है।

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

कण्ठ-कूपमें संयम करनेसे क्षुधा और पिपासा (भूख-प्यास) -की निवृत्ति होती है।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

कूर्म-नाडीमें संयम करनेसे स्थिरता होती है।

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

मूर्धाकी ज्योतिमें संयम करनेसे सिद्धोंका दर्शन होता है।

प्रातिभाद् वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

अथवा प्रातिभ-ज्ञानसे योगी सब कुछ जान लेता है।

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

हृदयमें संयम करनेसे चित्तका ज्ञान होता है।

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थान्यस्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

चित्त और पुरुष जो परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, इन दोनोंकी प्रतीतियोंका अभेद भोग है। उनमेंसे परार्थ-प्रतीतिसे भिन्न जो स्वार्थ-प्रतीति है, उसमें संयम करनेसे पुरुषका ज्ञान होता है अर्थात् पुरुष-विषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है।

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

उस स्वार्थ-संयमके अभ्याससे प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता-ज्ञान उत्पन्न होता है।

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

वे उपर्युक्त छः सिद्धियाँ समाधि (पुरुष-दर्शन) में विघ्न हैं, व्युत्थानमें सिद्धियाँ हैं।

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

बन्धके कारणके शिथिल करनेसे और घूमनेके मार्गके जाननेसे चित्त (सूक्ष्म शरीर) का दूसरेके शरीरमें आवेश होता है।

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

(संयमद्वारा) उदानके जीतनेसे जल, कीचड़, काँटों आदिमें असङ्ग रहना और ऊर्ध्व गति होती है।

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

(संयमद्वारा) समानके जीतनेसे योगीका दीप्तिमान् होना होता है।

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

श्रोत्र और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे दिव्य श्रोत्र होता है।

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

शरीर और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे और हलके रूई आदिमें समापत्ति करनेसे आकाश-गमन-सिद्धि प्राप्त होती है।

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

शरीरसे बाहर कल्पना न की हुई वृत्ति महाविदेहा है, उससे प्रकाशके आवरणका नाश होता है।

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥ ४४ ॥

पाँचों भूतोंके स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे भूतोंका जय होता है।

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

उस भूतजयसे अणिमा आदि आठ सिद्धियोंका प्रादुर्भाव और कायसम्पत् होती है तथा उन पाँचों भूतोंके धर्मोंसे रुकावट नहीं होती।

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥ ४६ ॥

रूप, लावण्य, बल, वज्रकी-सी बनावट कायसम्पत् (शरीरकी सम्पदा) कहलाती है।

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे इन्द्रिय-जय होता है।

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

इन्द्रियजयसे मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानका जय होता है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

चित्त और पुरुषके भेद जाननेवालेको सारे भावोंका मालिक होना और सर्वज्ञ होना प्राप्त होता है।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

विवेक-ख्यातिसे भी वैराग्य होनेपर दोषोंके बीज-क्षय होनेपर कैवल्य होता है।

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्ट-प्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

स्थानवालोंके आदर-भाव करनेपर लगाव एवं घमंड नहीं करना चाहिये, क्योंकि (इसमें) फिर अनिष्टके प्रसङ्गका भय है।

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥

क्षण और उसके क्रमोंमें संयम करनेसे विवेकज-ज्ञान उत्पन्न होता है।

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

एक दूसरेसे जाति, लक्षण और देशसे भेदका निश्चय न होनेसे दो तुल्य वस्तुओंका निश्चय विवेकज-ज्ञानसे होता है।

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

बिना निमित्तके अपनी प्रभासे स्वयं उत्पन्न होनेवाला, सबको विषय करनेवाला, सब प्रकारसे विषय करनेवाला, बिना क्रमके एक साथ ज्ञानको विवेकज-ज्ञान कहते हैं।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ ५५ ॥

चित्त और पुरुषकी समान शुद्धि होनेपर कैवल्य होता है।

(४) कैवल्यपाद

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधिसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धियाँ हैं।

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

एक जातिसे दूसरी जातिमें बदल जाना प्रकृतियोंके भरनेसे होता है।

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

धर्मादि निमित्त प्रकृतियोंका प्रेरक नहीं होता है, किंतु उससे किसानके सदृश रुकावट दूर होती है।

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

अस्मितामात्रसे निर्माण-चित्त होते हैं।

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

प्रवृत्तिके भेदोंमें एक चित्त अनेकोंका प्रेरनेवाला होता है।

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

उन पाँच प्रकारके जन्म, ओषधि आदिसे उत्पन्न हुए पाँचों निर्माण-सिद्ध-चित्तोंमेंसे समाधिसे उत्पन्न होनेवाला चित्त वासनाओंसे रहित होता है।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

योगीका कर्म अशुक्लाकृष्ण (न शुक्ल न कृष्ण अर्थात् निष्काम) होता है, दूसरोंका तीन प्रकारका (पाप, पुण्य और पाप-पुण्य-मिश्रित) होता है।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

उन तीन प्रकारके कर्मोंसे उनके फलके अनुकूल ही वासनाओंकी अभिव्यक्ति (प्रादुर्भाव) होती है।

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कार-योरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

जाति, देश और कालकृत व्यवधानवाली वासनाओंका भी व्यवधान नहीं होता, क्योंकि स्मृति और संस्कार एकरूप (समानविषयक) होते हैं।

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

उन वासनाओंको आशिष् (अपने कल्याणकी इच्छा) के नित्य होनेसे अनादित्व भी है।

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनसे वासनाओंके संगृहीत होनेसे इनके (हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनके) अभावसे उन (वासनाओं) का अभाव होता है।

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

अतीत और अनागत स्वरूपसे रहते हैं, क्योंकि धर्मोंका कालसे भेद होता है।

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

वे धर्म प्रकट और सूक्ष्म गुणस्वरूप हैं।

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

परिणामके एक होनेसे वस्तुकी एकता होती है।

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

वस्तुके एक होनेपर भी चित्तके भेदसे उन दोनों (चित्त और वस्तु) का अलग-अलग मार्ग है।

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

ग्राह्य-वस्तु एक चित्तके अधीन नहीं है, क्योंकि वह (वस्तु) बिना प्रमाण (चित्त) के उस समय क्या होगी ?

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

चित्तको वस्तुके जाननेमें उसके उपराग (विषयका चित्तमें प्रतिबिम्ब पड़ना) की अपेक्षा होती है, इसलिये उसको (चित्तको) वस्तु ज्ञात और अज्ञात होती है।

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

चित्तका स्वामी पुरुष परिणामी नहीं है, इसलिये चित्तकी वृत्तियाँ उसे सदा ज्ञात रहती हैं।

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

चित्त स्वप्रकाश नहीं है, क्योंकि वह दृश्य है।

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

और एक समयमें दोनों विषय और चित्तका ज्ञान नहीं हो सकता।

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥ २१ ॥

यदि पहले चित्तको दूसरे चित्तका दृश्य माना जाय तो चित्त (ज्ञान) के चित्त (ज्ञान) का अनवस्था दोष होगा और स्मृतियोंका संकर भी हो जायगा।

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

पुरुषको, जो क्रिया अथवा परिणामरहित है, स्वप्रतिबिम्बित चित्तके आकारकी प्राप्ति होनेपर अपने विषयभूत चित्तका ज्ञान होता है।

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

द्रष्टा और दृश्यसे रँगा हुआ चित्त सारे अर्थोंवाला होता है।

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

चित्त अनगिनत वासनाओंसे चित्रित हुआ भी परार्थ है, क्योंकि वह संहत्यकारी है।

विशेषदर्शिनः आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

विवेकख्यातिद्वारा पुरुष और चित्तमें भेदके देखनेवालेकी आत्मभावकी भावना निवृत्त हो जाती है।

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

विशेषदर्शनके उदय होनेपर विशेषदर्शीका चित्त विवेक-मार्ग-संचारी होकर कैवल्यके अभिमुख होता है।

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

उस विवेक-ज्ञानके बीच-बीचमें अन्य व्युत्थानकी वृत्तियाँ (भी) पूर्वके (व्युत्थानके) संस्कारोंसे उदय होती रहती हैं।

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

उन (व्युत्थानके संस्कारों) की निवृत्ति क्लेशोंकी निवृत्तिके तुल्य कही गयी जानना चाहिये।

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

जो योगी प्रसंख्यान-ज्ञानसे भी विरक्त है उसको निरन्तर विवेकख्यातिके उदय होनेसे धर्ममेघ समाधि होती है।

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

उस धर्ममेघ समाधिसे क्लेश और कर्मोंकी निवृत्ति होती है।

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

तब सब क्लेशकर्मोंके क्षय-कालमें सर्व आवरणरूप मलोंसे रहित होकर चित्तरूप प्रकाशके अनन्त होनेसे ज्ञेय पदार्थ अल्प हो जाता है।

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

तब कृतार्थ हुए गुणोंके परिणामके क्रमकी समाप्ति हो जाती है।

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

प्रतिक्षण होनेवाली परिणामकी समाप्तिपर जानी जानेवाली (गुणोंकी अवस्थाविशेषका नाम) क्रम है।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ॥ ३४ ॥

पुरुषार्थसे शून्य हुए गुणोंका अपने कारणमें लीन हो जाना कैवल्य है अथवा चिति-शक्तिका अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाना कैवल्य है।
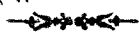
योगीश्वर भगवान् शिवके योगोपदेश

श्रीशिवगीतामें भगवान् शङ्करने सीता-विरहमें कर्षित श्रीरामको योगज्ञानका दिव्य उपदेश प्रदान किया है। श्रीराम जब सर्वथा निराश हो गये, तब महर्षि अगस्त्यके आदेशानुसार उन्होंने योगीश्वर भगवान् शङ्करकी तीव्र आराधना की। आशुतोष भगवान् शिव शीघ्र ही उनके सामने आविर्भूत हो गये और उनका श्रीरामके साथ वार्तालाप प्रारम्भ हुआ। उसी वार्तालापके मध्य श्रीरामने उनसे पूछा—

कथं भगवतो ज्ञानं शुद्धं मर्त्यस्य जायते।
तत्रोपायं हर ब्रूहि मयि तेऽनुग्रहो यदि॥

'हे भगवन्! मनुष्यको सर्वक्लेशापहारी दिव्य ज्ञान किस योगादि साधनसे प्राप्त होता है? यदि आपकी मुझपर थोड़ी भी कृपा हो तो इसे बतलानेका कष्ट करें।' इसपर भगवान् शङ्करने कहा—

विरज्य सर्वभूतेभ्य आविरिञ्चिपदादपि।
घृणां वितत्य सर्वत्र पुत्रमित्रादिकेष्वपि॥
श्रद्धालुर्मुक्तिमार्गेषु वेदान्तज्ञानलिप्सया।
उपायनकरो भूत्वा गुरुं ब्रह्मविदं व्रजेत्॥

(श्रीराम!) सामान्य स्त्री-पुत्रादिकोंकी तो बात ही क्या, दिव्य स्वर्गसे लेकर ब्रह्मलोकतकके अलौकिक भोगोंसे भी अत्यन्त घृणाका भाव रखकर विरक्त हो साधकको योग-वेदान्तका आश्रय लेकर सर्वोपरि कैवल्य-मार्गकी ओर श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त होना चाहिये तथा उसके लिये ब्रह्मज्ञानमें निपुण ब्रह्मनिष्ठ महायोगेश्वर गुरुका आश्रय ग्रहण करना चाहिये। (और उनके पास ठहरकर सेवा-शुश्रूषासे उन्हें प्रसन्न करना चाहिये तथा समस्त वेदान्त-साहित्यका श्रवण-मनन करते हुए आत्मस्वरूपका ध्यान-चिन्तन एवं निदिध्यासन करना चाहिये।)

निर्मोहो निरहङ्कारः समः सङ्गविवर्जितः।
सदा शान्त्यादियुक्तः सन्नात्मन्यात्मानमीक्षते।
यत्सदा ध्यानयोगेन तन्निदिध्यासनं स्मृतम्॥

योगयुक्त साधक मोह-ममता, अहङ्कार एवं समान बुद्धिवाला होकर, सभी आसक्तियोंसे दूर रहते हुए एकाकी होकर साधना प्रारम्भ करे। फिर साधक शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा एवं समाधान—इन षट् सम्पत्तियोंसे युक्त होकर निरन्तर एकमात्र आत्मा-परमात्माके अवलोकनका ही प्रयत्न करता रहे—अपनी आत्माके द्वारा परमात्माके अवलोकनका अभ्यास करता रहे। अनवरत परमात्माके ध्यानमें लीन होना ही योगादि शास्त्र-ग्रन्थोंमें निदिध्यासन कहा गया है।

निर्मोहो निरहङ्कारो निर्लेपः सङ्गवर्जितः।
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
यः पश्यन्संचरत्येष जीवन्मुक्तोऽभिधीयते॥

योगाभ्यास एवं ज्ञान-बलके द्वारा मोह (अज्ञान), अहङ्कार, आसक्ति एवं जनसमूहका परित्यागकर एकान्तमें ध्यानके द्वारा समस्त प्राणियोंमें अपनेको और समस्त प्राणियोंको अपनेमें देखनेवाला, जो सभी कार्योंको करता है, वह शीघ्र ही जीवन्मुक्ति तत्पश्चात् विदेह-मुक्ति और मोक्षका भी लाभ कर लेता है।

अहिर्निर्मोचनी यद्वद्रज्जुः पूर्वं भयप्रदा।
ततोऽस्य न भयं किञ्चित्तद्वद्द्रष्टुरयं जनः॥

जैसे रज्जु या साँपकी केंचुलको सर्प मानकर अज्ञानीजन भयभीत होते हैं और पुनः ध्यानसे देखनेपर उन्हें रज्जु या केंचुल समझकर निर्भय हो जाते हैं, उसी प्रकार अतत्त्वदर्शीके लिये यह संसार भयानक है। किंतु परमात्माको जान लेनेपर यह संसार तिरोहित हो जाता है और भगवान्‌का ही स्वरूप सामने दीखता है, जिससे योगी सर्वथा निर्भय हो जाता है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य वशं गताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्॥

योग-साधनाके द्वारा जब साधकके हृदयमें स्थित भगवान्‌का साक्षात्कार हो जाता है, तब भ्रान्तिसे उत्पन्न असत्संसारके किसी भी पदार्थके प्रति उसकी कामना नहीं रह जाती और उसकी मन, बुद्धि आदि सभी इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं। तत्पश्चात् मरणशील मनुष्य योगसिद्ध होकर जरा-मृत्यु आदि दोषोंसे मुक्त हो जाता है और सर्वथा अजर-अमर हो जाता है। इतना ही सभी योगादि शास्त्रों एवं साधनाओंका परम एवं चरम फल है।

महर्षि वसिष्ठकी योग-धारणा

[दीर्घकालीन योगाभ्यासकी आवश्यकता]

महर्षि वसिष्ठने भगवान् श्रीरामको जो योगका उपदेश किया था, वह सभी योगशास्त्रोंमें अद्वितीय है। उसका संग्रह महर्षि वाल्मीकिने 'महारामायण' नामसे किया और वही 'योगवासिष्ठ'के नामसे प्रसिद्ध हुआ। वैसे इस ग्रन्थमें आद्योपान्त योग-ज्ञानके सभी अङ्गोंपर विस्तारसे प्रकाश डाला गया है और अत्यन्त सूक्ष्म विचार भी हुआ है, किंतु उपशम-प्रकरणमें योगकी विशेष बातोंका वर्णन किया गया है। योग-ज्ञानके सम्बन्धमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा साधकोंके लिये विशेष उपादेय होनेसे आचार्य मधुसूदन सरस्वतीने श्रीमद्भगवद्गीताकी गूढार्थदीपिका टीकामें तथा अन्य टीकाकारोंने भी अत्यन्त श्रद्धासे इन स्थलोंका उल्लेख किया है। योगसारसर्वस्वभूत होनेसे कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण श्लोकोंको यहाँपर दिया जा रहा है—

यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः।
न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति॥
यावन्न तत्त्वविज्ञानं तावच्चित्तशमः कुतः।
यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम्॥
यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः।
यावन्न तत्त्वसम्प्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः॥
तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च।
मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः॥
तस्माद्राघव यत्नेन पौरुषेण विवेकिना।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेतत्समाश्रयेत्॥

(श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन!) जबतक मन विलीन नहीं होता, तबतक वासनाका सर्वथा विनाश नहीं होता और जबतक वासना विनष्ट नहीं होती, तबतक चित्त शान्त नहीं होता। जबतक परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तबतक चित्तको शान्ति कहाँ और जबतक चित्तकी शान्ति नहीं होती, तबतक परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जबतक वासनाका सर्वथा नाश नहीं होगा, तबतक तत्त्वज्ञान कहाँसे होगा और जबतक तत्त्व-ज्ञान नहीं होता, तबतक वासनाका सर्वथा विनाश नहीं होगा। इसलिये (१) परमात्माका यथार्थ ज्ञान, (२) मनोनाश और (३) वासनाक्षय—ये तीनों ही एक दूसरेके कारण हैं। ये दुःसाध्य हैं, किंतु असाध्य नहीं। विशेष प्रयत्न करनेसे ये तीनों कार्य सिद्ध हो सकते हैं। श्रीराम! विवेकसे युक्त पौरुष-प्रयत्नसे भोगेच्छाका दूरसे ही परित्याग करके इन तीनोंका अवलम्बन करना चाहिये।

सर्वथा ते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः।
तावन्न पदसम्प्राप्तिर्भवत्यपि समाशतैः॥
वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते।
समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदा मुने॥

यदि उपर्युक्त तीनों उपायोंका एक साथ प्रयत्नपूर्वक भलीप्रकार अभ्यास न किया जाय तो सैकड़ों वर्षोंतक भी परमपदकी प्राप्ति सम्भव नहीं। किंतु महाबुद्धिमान् श्रीराम! वासनाक्षय, परमात्माका यथार्थ ज्ञान और मनोनाश—इन तीनोंका एक साथ दीर्घकालतक प्रयत्नपूर्वक अभ्यास किया जाय तो ये परम-पदरूप फल देते हैं।

जन्मान्तरशताभ्यस्ता राम संसारसंस्थितिः।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित्॥
गच्छञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रंस्तिष्ठञ्जाग्रत्स्वपंस्तथा।
श्रेयसे परमायास्य त्रयस्याभ्यासवान् भव॥

श्रीराम! यह संसारकी स्थिति सैकड़ों जन्म-जन्मान्तरोंसे मनुष्योंके द्वारा अभ्यस्त है, अतः चिरकालतक योगाभ्यास किये बिना वह किसी तरह नष्ट नहीं हो सकती। इसलिये चलते-फिरते, श्रवण करते, स्पर्श करते, सूँघते, खड़े रहते, जागते, सोते—सभी अवस्थाओंमें परम कल्याणके लिये इन तीनोंके अभ्यासमें लग जाना चाहिये।

वासनासम्परित्यागसमं प्राणनिरोधनम्।
विदुस्तत्त्वविदस्तस्मात्तदाप्येवं समाहरेत्॥
प्राणायामचिराभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते॥

तत्त्वज्ञोंका मत है कि वासनाओंके परित्यागके समान ही प्राणायाम भी एक उपाय है, इसलिये वासना-परित्यागके साथ-साथ प्राण-निरोधका भी अभ्यास करना आवश्यक है। चिरकालतक प्राणायामके अभ्याससे, योगाभ्यासमें कुशल

गुरुद्वारा बतायी हुई युक्तिसे, स्वस्तिक आदि आसनोंकी सिद्धिसे और उचित भोजनसे प्राण-स्पन्दनका निरोध हो जाता है।

न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम्॥
अङ्कुशेन विना मत्तं यथा दुष्टं मतङ्गजम्।
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च॥
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल॥

जिस प्रकार मदमत्त हाथी अङ्कुशके बिना दूसरे उपायसे वशमें नहीं होता, उसी प्रकार पवित्र युक्तिके बिना मन वशमें नहीं होता। अध्यात्म-विद्याकी प्राप्ति, साधु-संगति, वासनाका सर्वथा परित्याग और प्राणस्पन्दनका निरोध—ये ही युक्तियाँ चित्तपर विजय पानेके लिये निश्चितरूपसे दृढ़ उपाय हैं। (इनसे तत्काल ही चित्तपर विजय प्राप्त हो जाती है और साधकको परमतत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है।)

भगवत्पाद आदिशंकराचार्यकी योग-मीमांसा

(श्रीसुब्रह्मण्य शर्मा)

भगवत्पाद आदिशंकराचार्यके वेदान्त-सिद्धान्तमें योगका कहाँ क्या उपयोग है, इस विषयमें विद्वानोंमें गहरा मतभेद है। कुछ लोगोंका यह ध्यान है कि योग तो श्रीशंकरकी वेदान्त-प्रणालीका प्राण ही है, और कुछ इसके सर्वथा विपरीत यह समझते हैं कि योग या योगकी गुप्त बातोंसे आचार्यका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। इस लेखमें इसी विषयपर विचार किया जायगा।

श्रीशांकर-अद्वैतमें योग देखनेवाले बार-बार यह कहा करते हैं कि अद्वैतकी सिद्धि बिना निर्विकल्प समाधिके हो ही नहीं सकती। आचार्यकृत विवेकचूडामणि-जैसे प्रकरण-ग्रन्थोंसे वे अपने मतकी पुष्टि करते हैं। प्रस्थानत्रयके भाष्योंसे यह बात पूर्णरूपसे प्रमाणित होती है कि आचार्य अपने इस तर्कसिद्ध और अखण्डनीय सिद्धान्तको कहीं भी छोड़नेको तैयार नहीं हैं कि आत्मा और अनात्माके 'इतरेतराध्यास' से उत्पन्न हुआ बन्ध ज्ञानसे ही छूटता है और किसी भी उपायसे नहीं। इसके लिये बृहदारण्यकभाष्यसे एक अवतरण दिया जाता है। प्रसङ्ग है—**'आत्मन्येवोपासीत'** आदि वाक्य 'अपूर्वविधि' बतलाते हैं या क्या हैं, इसकी चर्चाका। यहाँ श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

न च 'आत्मन्येवोपासीत' इत्यपूर्वविधिः। कस्मात्? आत्मस्वरूपकथनानात्मप्रतिषेधवाक्यजनितविज्ञान-व्यतिरेकेणार्थान्तरस्य कर्तव्यस्य मानसस्य बाह्यस्य वाभावात्।

अर्थात् 'यह अपूर्वविधि नहीं है, क्योंकि वाक्यसे आत्मविज्ञान होने और अनात्माका निरास होनेपर कुछ भी मानस या बाह्य कर्म नहीं रह जाता।' इस सिद्धान्तके विरोध-पक्षकी सब बातोंको काटकर आचार्य योगपक्षसे आनेवाली शंकाका निरास करते हुए उसका इस प्रकार समाधान करते हैं—

'निरोधस्तर्ह्यर्थान्तरमिति चेत्। चित्तवृत्तिनिरोधस्य वेद-वाक्यजनितात्मविज्ञानादर्थान्तरत्वात्। तन्त्रान्तरेषु च कर्तव्यतयावगतत्वाद्विधेयत्वमिति चेत्, न, मोक्षसाधन-त्वेनानवगमात्। न हि वेदान्तेषु ब्रह्मात्मविज्ञानादन्यत्परम-पुरुषार्थसाधनत्वेनावगम्यते। 'आत्मानमेवावेत्तस्मात्तत्सर्व-मभवत्', 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति', 'आचार्यवान् पुरुषो वेद', 'तस्य तावदेव चिरम्', 'अभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद' इत्येवमादिश्रुतिशतेभ्यः।'

अर्थात् 'यह कहा जा सकता है कि निरोध तो इस ज्ञानसे भिन्न उपाय है। पर चित्तवृत्तिनिरोध वह आत्मज्ञान नहीं है जो वेदवाक्यसे होता है। यह चित्तवृत्तिनिरोध अन्य तन्त्रोंमें भी बताया है (जैसे सांख्य और योगमें)। इसलिये यहाँ भी उसका विधान हो सकता है, ऐसी आशंका हो तो यही उत्तर है कि ऐसा नहीं हो सकता। वेदान्तश्रुतिमें ब्रह्मात्मज्ञानसे अन्य और कोई परम पुरुषार्थ-साधन नहीं बताया है। 'वह अपने आपको जानता था इसलिये उससे सब कुछ हुआ', 'ब्रह्मविद् ही परम पदको पाता है', 'जो परब्रह्मको निश्चयसे जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है,' 'जो आचार्यवान् होता है वह उसे जानता है', 'तभीतक उसे प्रतीक्षा करनी होती है,' 'जो यह जानता है वह निर्भय ब्रह्म होता है' इत्यादि शत-शत श्रुतिवाक्योंसे यह सिद्ध है।' (बृहदारण्यक० १।४।७)

यह अवतरण स्फटिक-सा स्वच्छ है। इससे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य आत्मज्ञान और मुक्तिके बीचमें और कोई तीसरी चीज न आने देंगे।

तथापि योग या ध्यानका महत्त्व भी आचार्यके शिक्षा-सम्प्रदायमें कम नहीं है। जो लोग शुष्क बौद्धिक खेलको ही मुक्तिका एकमात्र द्वार समझे बैठे हैं, उन्हें आचार्यपादसे उतनी ही निराशा होगी जितनी कि उन लोगोंको जो योगके स्तुति-स्तोत्र गाते फिरते हैं। आत्मज्ञान ही मुक्तिका प्रत्यक्ष साधन है, चित्तवृत्तिनिरोधरूप योगको आचार्य आत्मज्ञानका-सा महत्त्व नहीं प्रदान करते, इतनी ही बात है, अन्यथा मनः-संयमरूप प्रारम्भिक साधनके तौरपर उसको भी आचार्य उपयोगी बतलाते हैं। इस विषयमें आचार्य इस प्रकार कथन करते हैं—

(१) योगोऽप्यणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलः स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम्। श्रुतिश्च योगमाहात्म्यं प्रख्यापयति।

अर्थात् योग भी जैसा कि स्मृतिने कहा है, अणिमादि ऐश्वर्यका देनेवाला है, इसलिये यह कहकर कि यह कुछ नहीं है, इसका तिरस्कार नहीं किया जा सकता। श्रुतिने भी योगकी महिमा गायी है। (ब्रह्मसूत्र-भाष्य १।३।३३)

(२) येन त्वंशेन न विरुद्ध्यते तेनेष्टमेव सांख्य-योगस्मृत्योः सावकाशत्वम्।

अर्थात् जितने अंशमें सांख्ययोग स्मृतियोंका वेदान्तसे विरोध नहीं है, उतने अंशमें उनका ग्रहण इष्ट है। (ब्रह्मसूत्र-भाष्य २।१।३)

(३) सम्यग्दर्शननिष्ठानां संन्यासिनां सद्योमुक्तिरुक्ता। ....अथेदानीं ध्यानयोगं सम्यग्दर्शनस्यान्तरङ्गं वक्ष्यामीति तस्य सूत्रस्थानीयान् श्लोकानुपदिशति स्म।

अर्थात् सम्यग्दर्शननिष्ठ जो संन्यासी हैं उनके लिये सद्यो (तत्काल)-मुक्ति कही गयी है। अब सम्यग्दर्शनके साधनरूप ध्यानयोगका विवरण करते हुए सूत्रस्थानीय श्लोक उपदेशसे कहते हैं। (भगवद्गीताभाष्य ५।२७)

अब माण्डूक्य-कारिकाके भाष्यसे एक अवतरण और देते हैं जिससे आचार्यका मत इस विषयमें और भी स्पष्ट हो जायगा—

'येषां पुनर्ब्रह्मस्वरूपव्यतिरेकेण रज्जुसर्पवत्कल्पितमेव मन इन्द्रियादि च न परमार्थतो विद्यते तेषां ब्रह्म-स्वरूपाणामभयं मोक्षाख्या चाक्षया शान्तिः स्वभावत एव सिद्धा नान्यायत्ता नोपचारः कथञ्चनेत्यवोचाम। ये त्वतोऽन्ये योगिनो मार्गगा हीनमध्यमदृष्टयो मनोऽन्यदात्मव्यतिरिक्त-मात्मसम्बन्धि पश्यन्ति तेषामात्मसत्यानुबोधरहितानां मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वेषां योगिनाम्। किं च दुःखक्षयोऽपि। न ह्यात्मसम्बन्धिनि मनसि प्रचलिते दुःखक्षयोऽस्त्यविवेकिनाम्। किं चात्मप्रबोधोऽपि मनोनिग्रहायत्त एव तथाक्षयापि मोक्षाख्या शान्तिस्तेषां मनोनिग्रहायत्तैव।'

'जिनके मन, इन्द्रियादि रज्जु-सर्पवत् केवल कल्पित हैं, परमार्थतः ब्रह्मस्वरूपके अतिरिक्त हैं ही नहीं, जो ब्रह्मस्वरूप हो गये हैं उनके लिये अभय और मोक्ष नामकी अक्षय शान्ति एक ऐसी स्थिति है जो उनका स्वभाव ही है, उसके लिये उन्हें अन्य किसी सहारेकी आवश्यकता नहीं और इसलिये हमने कहा कि उन्हें बन्धनसे मुक्त होनेके लिये कुछ भी नहीं करना है। परंतु जो इनसे भिन्न योगी हैं और आत्मानुसंधानके मार्गपर चल रहे हैं, जो हीन मध्यम दृष्टिसे मनको आत्मासे अलग आत्माका सम्बन्धी जानते हैं, ऐसे आत्मसत्यके अनुबोधसे रहित सब योगियोंका अभय मनोनिग्रहके ही अधीन है। उनका दुःखक्षय भी मनोनिरोधपर ही अवलम्बित है। आत्माका सम्बन्धी (और आत्मासे अलग) ऐसा जो मन है उसके क्षुब्ध होनेसे जो दुःख होता है अविवेकियोंके उस दुःखका (मनोनिग्रहके बिना) क्षय नहीं हो सकता। इसी प्रकार इनकी अक्षया शान्ति भी जिसे मुक्ति कहते हैं, मनोनिग्रहपर ही अवलम्बित है।'

अब यह बात स्पष्ट हो गयी होगी कि आचार्यने मुमुक्षुओंकी तीन कक्षाएँ की हैं। पहली कक्षा उन लोगोंकी है जिन्हें योग या अन्य किसी भी साधनाके सहारेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि उनका अन्तःकरण शुद्ध निर्मल सत्त्व है और उन्हें गुरुद्वारा उपदिष्ट होते ही अद्वितीय ब्रह्मका बोध हो जाता है। मध्यम और हीन दृष्टिवाले जो साधक हैं और जिनकी संख्या ही अधिक होती है उनके लिये योग और कर्मयोग भी नितान्त आवश्यक हैं और योगमें जो मनोनिग्रहका अभ्यासक्रम है वह उनके लिये अनिवार्य है। आचार्यके भिन्न-भिन्न भाष्योंमें, विशेषकर श्रीमद्भगवद्गीताके भाष्यमें इतस्ततः योगकी जो बातें

मिलती हैं उन्हें तो हमारे ही जैसे सामान्य मुमुक्षुओंके लिये श्रीआचार्यचरणने दया करके कहा है, क्योंकि हमलोग परम ज्ञानके उस उच्चतम शिखरतक दुर्लभ परमहंसोंके समान उड़कर जा नहीं सकते और इसलिये हमें तो कर्मयोग और भक्तियोगके मार्गसे ही क्रमशः ऊपर उठना होगा, तब किसी दीर्घकालके बाद ब्रह्मनिष्ठके उस महाप्रासादका प्रवेशद्वार भी कभी मिलेगा।

अव्यभिचार भक्तियोग

(ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

प्रत्यक्चैतन्याभिन्न भगवान्‌को अव्यभिचार भक्तियोगसे सेवन करनेवाले सात्त्विक, राजस, तामसगुणोंका उल्लङ्घन करके ब्रह्म-भावको प्राप्त होते हैं। गुणमय संसारसे छूटनेका एकमात्र यही सुन्दर उपाय है। वेदान्तोंका श्रवण, मनन करनेपर जिस प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मतत्त्वका निश्चय होता है, उसीका निरन्तर निदिध्यासन करनेसे उसीका साक्षात्कार होता है। रज्जु आदि अधिष्ठानके साक्षात्कारसे उसमें कल्पित सर्प, धारा, माला आदिका जैसे अभाव हो जाता है, वैसे ही निर्विकार सर्वाधिष्ठान चिदात्मतत्त्वका साक्षात्कार होनेसे उसमें कल्पित गुणमय प्रपञ्चका आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। इसी कारण '**मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।**' यहाँपर अव्यभिचार भक्तियोगसे शुद्ध परब्रह्मका निदिध्यासन या ज्ञानाभ्यास ही लिया जाता है। यद्यपि भक्तिका ज्ञान या निदिध्यासन अर्थ पक्षपातयुक्त-सा प्रतीत होता है तथापि 'स्व-स्वरूपानुसंधान' को भक्ति कहा है। विचार करनेसे यह ठीक भी मालूम पड़ता है। विषयाकारको भजन करनेवाला ज्ञान, भक्ति शब्दसे कहा जा सकता है। '**विषयाकारं भजतीति भक्तिः।**' इसके अतिरिक्त '**भज सेवायाम्**' धातुसे भक्ति शब्दकी सिद्धि होती है—'**भजनं भक्तिः।**' भजन अर्थात् सेवनको ही भक्ति कहा जाता है। सेवा यद्यपि शरीर, इन्द्रिय, बुद्धिसे की गयी कायिकी, ऐन्द्रियिकी, मानसी-भेदसे अनेक हैं तथापि मुख्य सेवा मानसी ही है। मानसी सेवा ही सर्वश्रेष्ठ है। महानुभावोंने भी कहा है—

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।
चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा॥

अर्थात् प्राणीको सदा श्रीकृष्ण-सेवा करनी चाहिये। सेवामें भी मानसी सेवा ही सर्वोत्कृष्ट सेवा है। चित्तकी कृष्णोन्मुखता या कृष्णमें तन्मयता ही सेवा है। मानसी सेवाकी सिद्धिके लिये ही तनुजा और वित्तजा सेवा करनी चाहिये। अर्थात् कायिकी, वाचिकी आदि सेवा करते-करते अन्तमें मानसी सेवाकी योग्यता प्राप्त होती है। 'विजातीय प्रत्यय-निरासपूर्वक सेव्याकाराकारित मानसीवृत्तिप्रवाह' ही मानसी सेवा है। जिस प्रकार समुद्रोन्मुखी गङ्गाका अखण्ड प्रवाह चलता है, उसी प्रकार भगवदुन्मुखी मानसी वृत्तियोंका प्रवाह चलना ही भगवान्‌की मानसी सेवा है। जैसे सगुण, साकार सच्चिदानन्द भगवान्‌के आकारसे आकारित वृत्तिका प्रवाह होता है, वैसा ही वेदान्तवेद्य निर्गुण, निराकार, निर्विकार, अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य भगवान्‌की स्वरूपविषयिणी वृत्तियोंका भी प्रवाह होता है। निर्विकार परब्रह्माकार मानस-प्रवाह ही भक्ति, भजन या सेवा है और वही भगवान्‌का प्रापक होनेसे या एकाग्रता होनेसे योग भी है। जब वह बीच-बीचमें भगवान्‌से हटकर बाह्य प्रपञ्चोंसे जुड़ जाता है, तब व्यभिचारी कहा जाता है। अतः अन्य सम्बन्ध-विवर्जित, निर्विशेष भगवान्‌के आकारसे आकारित अविच्छिन्न मानस वृत्ति-प्रवाह ही अव्यभिचार भक्तियोग है, वही ज्ञानाभ्यास और वही निदिध्यासन है।

इस अव्यभिचार भक्तियोगसे भगवान्‌का सेवन करनेसे साक्षात्कारद्वारा अति शीघ्र ही गुणमय प्रपञ्चका बोध हो जाता है। ज्ञान चतुर्थी भक्ति है। अतः भगवान्‌के आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार भक्त होते हैं—'**चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।**' ज्ञानी ज्ञानसे ही भगवान्‌का भजन या सेवन करता है। ज्ञानी भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय भक्त है। यद्यपि भगवान्‌के भजन करनेवाले सभी भगवान्‌के प्रिय एवं उदार हैं तथापि ज्ञानी तो एकमात्र भगवान्‌में ही भक्ति करता है, क्योंकि उसकी दृष्टिमें भगवान्‌से भिन्न दूसरी दृष्टि रहती ही नहीं। अतएव ज्ञानीको भगवान् एक क्षणके लिये भी

अदृश्य नहीं होते और भगवान्‌को ज्ञानी नहीं अदृश्य होता। ज्ञानी भगवान्‌का साक्षात् अन्तरात्मा होता है—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।**' प्रथम सूक्ष्मतत्त्वमें मनकी स्थिति असम्भव है, अतः विराट् हिरण्यगर्भादि तत्त्वोंमें मनको स्थित करके फिर क्रमेण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सगुणमें स्थिति-सम्पादन करते हुए निर्गुण-निराकार, निर्विशेष ब्रह्ममें स्थिति सम्पन्न होती है। स्थूल आलम्बनोंका अपोहन करते हुए सूक्ष्म आलम्बनोंमें चित्तकी एकाग्रता करते हुए अन्तमें चित्त अत्यन्त निरालम्बन बनाया जा सकता है। श्रीकपिलदेवजीने भी निर्गुण, निर्विकार ब्रह्ममें स्थितिके लिये भगवान्‌की मधुर, मनोहर, मङ्गलमयी, सगुण, साकार सच्चिदानन्दमयी मूर्तिका ध्यान बतलाया है। प्रथम अस्त्र-शस्त्र, भूषण, वसनादिसे सुसज्जित मूर्तिका ध्यान कहा है, फिर अस्त्र-शस्त्ररहित केवल श्रीअङ्गका ध्यान करना बतलाया है। एक-एक अङ्गका ध्यान और उसके सौन्दर्य, माधुर्य एवं महिमाओंका प्रेमपूर्वक चिन्तन बतलाया है। फिर श्रीचरणारविन्दकी नखमणिचन्द्रिका या अमृतमय मुखचन्द्रके सौन्दर्य-माधुर्यमें मनकी तल्लीनता कही गयी है। परम पवित्रता, अद्भुत महिमा, लोकोत्तर सौन्दर्य-माधुर्यके चिन्तनसे भावुकका मन प्रेमोन्मादमें विभोर हो जाता है। प्रेममें जैसे अङ्ग एवं वागादि इन्द्रियोंमें शैथिल्य होता है, वैसे ही मनमें भी शैथिल्य आता है, जिससे कि वह ध्येय-स्वरूपको भी ग्रहण करनेमें असमर्थ हो जाता है। जब मन सब दृश्योंसे रहित हो जाता है, यहाँतक कि ध्येय-स्वरूपसे भी शून्य हो जाता है, तब ध्येयके अभावमें ध्येयाकार वृत्तिरूप ध्यान और ध्यानका आश्रयरूप ध्याता भी नहीं उपलब्ध होता। उस समय ध्याता-ध्यान-ध्येयके बाधके अवधि एवं साक्षिरूपसे भगवान्‌का प्राकट्य होता है। अर्थात् भावुकोंका मन आकर्षण करनेके लिये ही भगवान् ध्येयरूपसे प्रकट होते हैं। उसे आकर्षित करके फिर वही भगवान् ध्येयातीत अग्राह्य-रूपमें प्रकट होते हैं। यों भी भगवान्‌में ही चित्त लगाकर भगवत्परायण होकर सर्वभावसे जो भगवान्‌को भजते हैं, भगवान् उनके ऊपर कृपा करके उन्हें बुद्धियोग प्रदान करते हैं। उनके हृदयमें तेजोमय ज्ञानदीपका प्रकाश करके अज्ञानान्धकार दूर कर देते हैं—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

यद्यपि वेदान्तवेद्य परमतत्त्व अत्यन्त अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य है तथापि भगवान्‌के भक्त निश्चिन्त रहते हैं। वे जानते हैं कि हमें निरन्तर प्रभुके पाद-पङ्कजमें आत्मसमर्पण करके प्रभुका भजन ही करना चाहिये। यदि प्रभु अपने निर्गुण, निराकार, निर्विकार स्वरूपका साक्षात् कराना आवश्यक समझेंगे तो जिस किसी तरह साक्षात्कार करा देंगे। अत्यन्त बधिरके लिये शब्द एवं जन्मान्धको रूप वैसे ही दुर्ग्राह्य हैं, जैसे अज्ञानीको ब्रह्म दुर्ग्राह्य है। परंतु भगवान् श्रोत्र और नेत्रका निर्माण करके दुर्ग्राह्य शब्द और रूपको सुग्राह्य एवं सुज्ञेय बना देते हैं। उन भगवान्‌को अत्यन्त अचिन्त्य एवं दुर्ज्ञेय अपने निराकार रूपका साक्षात्कार करा देनेमें कोई भी कठिनाई नहीं पड़ती। अतः पूर्ण विश्वास, आशा किये भगवान्‌के पाद-पङ्कजका अव्यभिचार भक्तियोगसे सेवन करनेवालेको दुर्गमसे दुर्गम सभी तत्त्व प्राप्त हो जाते हैं। फिर गुणोंका उल्लङ्घन भी उनके लिये सुगम हो जाता है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

श्रीमुखकी भी उक्ति है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

अर्थात् अमृत, अव्यय, शाश्वतधर्म एवं ऐकान्तिक सुखस्वरूप ब्रह्मकी मैं ही प्रतिष्ठा हूँ। मुझे भजनेसे गुणोंका अतिक्रमण बड़ी सरलतासे हो सकता है। '**अहं**' पदका अर्थ प्रत्यगात्मा है। भावार्थ यह हुआ कि जैसे महाकाश ही घटाकाशके रूपमें प्रतिष्ठित होता है, वैसे ही मैं प्रत्यगात्मा ही परब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ। अर्थात् परमात्मा ही प्रत्यगात्मा-रूपमें प्रतिष्ठित होता है। अतः जैसे घटाकाश महाकाशसे अभिन्न ही है, उसी तरह प्रत्यगात्मा परमात्म-स्वरूप ही है। परमात्मा प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा) रूपसे प्रतिष्ठित होते हैं। प्रत्यगात्मा परमात्माकी प्रतिष्ठा है। अथवा '**अहं**' पदका अर्थ प्रत्यक्चैतन्याभिन्न, मायातीत, अदृश्य, अग्राह्य, अलक्षण, निर्विकल्प, निर्विशेष शुद्ध परमात्मा है जैसा कि '**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**', '**ये त्वक्षरमनिर्देश्यं**', '**ते प्राप्नुवन्ति मामेव**' इत्यादि स्थलोंमें विवक्षित है। ब्रह्मपदका अर्थ

मायाविशिष्ट सविशेष सविकल्प ब्रह्म है। इस तरह भावार्थ यह हुआ कि सविकल्प ब्रह्मकी मैं निर्विकल्प ब्रह्म प्रतिष्ठा हूँ। निर्विकल्प ब्रह्ममें सविकल्प ब्रह्म प्रतिष्ठित कल्पित है। मुझे सेवन करनेसे सविकल्प प्रपञ्चका लङ्घन बड़ी सरलतासे हो सकता है। अथवा 'ब्रह्म' पदका निर्गुण निराकार, निर्विकार ब्रह्म अर्थ है और **'अहं'** पदका सगुण, साकार, ब्रह्म (श्रीकृष्ण) है। अभिप्राय यह है कि मैं सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ। यहाँ **'राहोः शिरः'** के समान सम्बन्धार्था षष्ठी अभेदमें ही है। अर्थात् जैसे व्यापक, अव्यक्त अग्नि दहन, प्रकाशन, पाचनादि कार्य करनेके लिये घृत-वर्तिकादिके सम्बन्धसे व्यक्त साकार अग्निके रूपमें प्रतिष्ठित—प्रवृत्त होता है वैसे ही निर्गुण, निराकार, निर्विकार, अव्यक्त ब्रह्म भक्तानुग्रहादि कार्य करनेके लिये अपनी अचिन्त्य दिव्यलीलाशक्तिसे सगुण, साकार व्यक्तरूपमें प्रतिष्ठित होता है। इसीलिये सगुण ब्रह्म ही निर्गुण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा है। अतः मेरा आराधन करनेसे ही गुणोल्लङ्घन आदि भक्तानुग्रह सिद्ध होता है। कुछ लोगोंका कहना है कि सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा अर्थात् आधार है। जैसे आतप (घाम) की प्रतिष्ठा, उद्गम-स्थान या आधार सूर्य है, सूर्यसे ही निकलकर सूर्यके सहारे ही आतप रहता है, वैसे ही सगुण, साकार श्रीकृष्णचन्द्रकी मधुर मूर्ति ही निर्गुण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा या आधार है। सूर्यस्थानीय श्रीकृष्ण हैं, आतप-स्थानीय निर्गुण ब्रह्म है। **'अनादि मत्परं ब्रह्म'** इस वचनमें भी ब्रह्मको **'अनादि'** और **'मत्परं'** कहा गया है। यहाँ **'मत्परं'** का अर्थ यह है कि **'अहं श्रीकृष्णः पर उत्कृष्टो यस्मात्तन्मत्परम्।'** मैं श्रीकृष्ण ही हूँ पर—उत्कृष्ट जिससे, निर्गुण ब्रह्मसे उत्कृष्ट मैं सगुण ब्रह्म हूँ। इसीलिये उन लोगोंका मत है कि औपनिषद ब्रह्मात्मदर्शियोंका ब्रह्म आतपके समान है और भक्तोंका भगवान् सूर्यस्थानीय है। परंतु उनका यह कथन श्रुति-सूत्रोंके विरुद्ध है। वेद, वेदान्त, ब्रह्मसूत्र आदि सभी शास्त्रोंका परम तात्पर्य ब्रह्ममें ही है। **'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'**, **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**, **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** इत्यादि वाक्योंमें सर्वत्र ब्रह्मका ही विचार चलता है। श्रीकृष्ण वैदिक औपनिषद परब्रह्मसे भिन्न होते तब तो उनमें वेदवेद्यता नहीं सिद्ध होती जो कि **'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** इत्यादि वचनोंसे भगवान्ने स्वीकार की है। अतएव **'अनादि मत्परं ब्रह्म'** यहाँ भी **'मत्परं'** ऐसा पदच्छेद न करके **'अनादिमत्परं ब्रह्म'** ऐसा पदच्छेद करना युक्त है, जिसका सारांश यह है कि ब्रह्म अनादिमान् एवं पर अर्थात् सर्वोत्कृष्ट है। ब्रह्म-पर्यवसायी प्रकरणको विच्छिन्न करके अन्य वर्णनका प्रसङ्ग लाना अप्राकृत-प्रक्रिया है एवं ब्रह्मज्ञानकी प्रशंसाके प्रसङ्गमें उसे किसीसे भी अपकृष्ट कहना सर्वथा विचारशून्यता है।

श्रीमद्भागवतमें भी सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदरहित, स्वप्रकाश, नित्य विज्ञानको ही तत्त्व कहा है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

'अद्वय-ज्ञानको ही तत्त्वविद् लोग तत्त्व कहते हैं, उसीको ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् कहा जाता है।' कुछ लोगोंका कहना है कि यहाँ ब्रह्मसे परमात्मामें और उससे भगवान्में उत्कर्ष विवक्षित है। यदुकुलभूषण श्रीकृष्णकी सभामें बैठे हुए यादवोंने आकाश-मार्गसे आते हुए देवर्षि श्रीनारदजीको प्रथम केवल तेजःपुञ्ज ही समझा। कुछ समीप आनेपर कोई देहधारी समझा और अधिक समीप होनेपर पुरुष एवं सर्वथा सांनिध्यमें श्रीनारद समझा—

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा
ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति
क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥

ठीक उसी तरह तत्त्वसे अति दूर स्थित अधिकारीको प्रथम केवल चिन्मात्र ब्रह्मका बोध होता है, कुछ सामीप्य होनेपर योगियोंको कतिपय गुण-विशिष्ट परमात्मा, सर्वथा सांनिध्य होनेपर अनन्त कल्याण-गुणगण-विशिष्ट भगवान्के रूपमें तत्त्वका उपलम्भ होता है। इन्हीं लोगोंमें ही मनमानी कल्पना करनेवाले कुछ लोग श्रीकृष्णको आदित्यस्थानीय और ब्रह्मको प्रकाशस्थानीय मानते हैं। कुछ श्रीवृषभानुकिशोरीके नख-मणि-प्रकाश या नूपुर-प्रकाशको ही औपनिषद परब्रह्म कहते हैं। परंतु वैदिकोंकी दृष्टिमें तो वेदोंका महान् तात्पर्य ब्रह्ममें ही है और वही सब तरहसे सर्वोत्कृष्ट है।

संकोचका कारण न होनेसे वृद्ध्यर्थक **'बृहि'** धातुसे निष्पन्न 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ निरतिशय बृहत्तम तत्त्व होता है।

जो देश-काल-वस्तु-परिच्छेदवाला हो वह तो परिच्छिन्न होनेके कारण क्षुद्र ही है, निरतिशय बृहत् नहीं। यदि जड हो तो भी दृश्य होनेसे अल्प और मर्त्य होगा। अतः अनन्त स्वप्रकाश, सदानन्द तत्त्व ही **'ब्रह्म'** पदका अर्थ होता है और वही भूमा अमृत है। उससे भिन्न सभीको अल्प और मर्त्य ही समझना चाहिये। फिर अनन्त पदके साथ पठित **'ब्रह्म'** शब्दका सुतरां यही अर्थ है। उसमें अतिशयताकी कल्पना निर्मूल है। किसी राजाने ऐसी कहानी सुननी चाही कि जिसका अन्त ही न हो। एक चतुरने सुनाना आरम्भ किया—'राजन्! एक वृक्ष था, उसकी अनन्त शाखाएँ थीं, उन शाखाओंमें अनन्त उपशाखाएँ थीं, उपशाखाओंमें भी अनन्त पल्लव थे और उनपर अनन्त पक्षी बैठे थे। कुछ कालमें एक पक्षी उड़ा 'फुर्र'। राजाने कहा आगे कहिये, इसपर उसने कहा—दूसरा उड़ा 'फुर्र'। तब राजाने कहा और आगे कहिये, तब उस चतुरने कहा कि पहले पक्षियोंका उड़ना पूरा हो तब आगे बढ़ूँ।' यहाँ एक-एक पक्षीका उड़ना समाप्त ही नहीं हो सकता। इसी तरह कल्पनाओंका अन्त ही नहीं है। अतः एक शब्दमें यही कहा जाता है कि अतिशयताकी कल्पना करते-करते वाचस्पति तथा प्रजापतिकी भी मति जब विरत हो जाय और जिससे आगे कभी भी कोई कल्पना कर ही न सके तब उसी अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश, परमानन्दघन भगवान्‌को वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं। उसीका **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** इत्यादि व्याससूत्रोंसे विचार किया गया है।

प्रकाशकी अपेक्षा आदित्यमें जिस अतिशयताकी कल्पना की जाती है उससे भी अनन्तकोटि-गुणित अतिशयताकी कल्पनाके पश्चात् जिस अन्तिम निरतिशय, सर्व-बृहत् पदार्थकी सिद्धि हो, उसमें भी देश, काल, वस्तुके परिच्छेदोंको मिटाकर परिच्छिन्न या एकदेशिता आदि दूषणोंका अत्यन्ताभाव-सम्पादन करे, तब उसे ब्रह्म शब्दका अर्थ जानना चाहिये। इसीको **'तत्त्व'** कहा जाता है। इसका ही लक्षण है—**'तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।'** इसीका नाम ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् है। लक्षणके भेदसे लक्ष्य-भेद हो सकता है, नाम-भेदसे नहीं। जैसे कम्बुग्रीवादिमत्त्व घटका एक लक्षण है अतएव घट, कुम्भ, कलशादि नामसे उसका भेद नहीं है। हाँ, ब्रह्म अनेक हैं—कार्यब्रह्म, कारणब्रह्म, कार्यकारणातीत ब्रह्म। ऐसी स्थितिमें यह हो सकता है कि कार्यकारणातीत वेदान्तवेद्य शुद्ध ब्रह्मरूप भगवान्‌के प्रकाश-स्थानमें कार्यब्रह्म या कारणब्रह्म हो। प्रायः यह भी कहा जाता है कि निर्गुणब्रह्म भगवान्‌का धाम है। यद्यपि धाम शब्द ऐसे स्थलोंमें स्वरूपभूत आत्मज्योतिका ही बोधक होता है—**'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।'** 'हे नाथ! आप परमात्मा हैं, परम प्रकाश (परम ज्योति) और परम पवित्र हैं।' तथापि कुछ अविवेकियोंकी यही अटल धारणा है कि धामका अर्थ निवासस्थान ही होता है। अस्तु, वे लोग अव्यक्तरूप कारण-ब्रह्मको ही वेदान्तवेद्य ब्रह्म मान बैठते हैं। कार्यकारणातीत तत्त्वतक उनकी दृष्टि जाती ही नहीं। इस कारण यदि ब्रह्मको धाम भी मान लें तो भी सिद्धान्तमें कोई बाधा नहीं पड़ती। यह भेद वेदान्तियोंको इष्ट ही है कि स्थूल कार्य-ब्रह्मके ऊपर सूक्ष्म कार्यरूप ब्रह्म, उसके ऊपर कारणब्रह्म और इस अव्यक्त कारणब्रह्मके ऊपर कार्यकारणातीत शुद्ध ब्रह्म स्थित है। यह अन्तिम तत्त्व ही अद्वितीय अनन्त शुद्ध बोधरूप है। इसका ही विवर्त समस्त चराचर प्रपञ्च है। यदि सर्वाधिष्ठान होनेके कारण इसे सर्वनिवासस्थान भी कहें तो भी कोई हानि नहीं। इसी अंशका स्पष्टीकरण भागवतके इन पद्योंमें किया गया है—

ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा॥

एक अद्वितीय नित्य बोध ही भ्रान्तजनोंको अविद्या-प्रत्युपस्थापित बहिर्मुख इन्द्रियाँ तथा मन-बुद्धि आदिद्वारा शब्दादि-धर्मक प्रपञ्चरूपसे भासित होता है। श्रीमद्भागवतने भी श्रीकृष्णको परब्रह्म ही कहा है—

अहो भाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

अतः पूर्वोक्त अर्थ ही श्रेष्ठ है और वही अव्यभिचार भक्तियोग है।

जिसके चित्तसे राग-द्वेषका नाश हो गया है, वही ज्ञानी, गुणी, दानी और ध्यानी है।—गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

कर्मयोग और ज्ञानयोग

(अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजका सदुपदेश)

[वर्तमान समयमें गीताके 'कर्मयोग तथा ज्ञानयोग' की बड़ी चर्चा रहती है। इन शब्दोंका अनधिकारियोंद्वारा प्रचुर मात्रामें दुरुपयोग एवं मिथ्या अर्थ भी किया गया है। श्रीजगद्गुरुजीने 'कर्म-ज्ञानके सम्बन्ध'में सार-रूपसे विवेचन करते हुए बतलाया है कि इनमें परस्पर साध्य-साधन-भाव- लक्ष्य-सम्बन्ध है। जब शास्त्रप्रेरित पुरुषद्वारा परमेश्वरार्पित निष्काम कर्मानुष्ठान-द्वारा ज्ञान-प्रतिबन्धक महापापके होते हुए भी श्रवणादिमें रुचि होती है तभी आत्मज्ञानेच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा और रुचिका भेद वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि क्षीर-प्रिय पुरुषको दुग्धपानेच्छा होते हुए भी पित्तरोग-दूषित होनेसे मुखमें रुचि नहीं होती। इसी प्रकार ज्ञानद्वारा अज्ञान-निवृत्ति होते हुए भी ज्ञान-साधनमें रुचिजनक होनेसे परस्पर कर्म भी ज्ञान-साधन-भावको प्राप्त होता है। इस प्रकार अज्ञान-निवृत्ति ज्ञानसे, ज्ञानप्राप्ति शुद्ध-बुद्धिसे, बुद्धि-शुद्ध्यर्थ परमेश्वरार्पित नित्य-नैमित्तिक कर्मकी अपेक्षा होती है, अन्यकी नहीं। प्रस्तुत लेखमें यही विषय वर्णित है।]

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवत्प्रोक्त दो निष्ठाएँ हैं—एक कर्मनिष्ठा और दूसरी ज्ञाननिष्ठा। इनमें सांख्योंके लिये ज्ञानयोग और योगियोंके लिये कर्मयोग बतलाया गया है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

परंतु आगे चलकर श्रीभगवान् यह भी कहते हैं कि पण्डितलोग सांख्य और योग पृथक् नहीं मानते—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

यहाँपर संशय होता है कि क्या दोनों निष्ठाएँ परस्परानपेक्ष स्वतन्त्ररूपसे परमपदकी प्राप्तिके हेतु हैं अथवा सम्बन्धित होकर। इस विषयको समझनेके लिये पहले बन्ध और मोक्षका स्वरूप जानना आवश्यक है। तत्त्वदर्शियोंके विचारका क्रम यह है कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तापत्रयसे संतप्त विश्वको निरीक्षण कर यह विचार होता है कि आत्माको यह दुःख स्वाभाविक है अथवा नैमित्तिक? यदि स्वाभाविक है तो **'स्वभावस्यानपायित्वात्'**—इस न्यायसे दुःखसे मोक्ष होना असम्भव है तब फिर उसके लिये साधनानुष्ठान ही व्यर्थ हो जायगा, जो कि सभी मोक्षवादियोंको अनिष्ट है और यदि दुःख नैमित्तिक है तो **'निमित्तापाये नैमित्तिकापायः'**—इस न्यायसे निमित्त दूर होनेसे तन्निमित्तक दुःख भी दूर हो सकता है। इस विचारसे निश्चय होता है कि आत्माको दुःख होना देहपरिग्रहपूर्वक है, अर्थात् दुःखका रूप देहमें 'अहं-मम-' भाव है। जैसा कि छान्दोग्य-श्रुतिमें कहा गया है—

न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।

सुषुप्तिमें शरीराभिमान न रहनेसे दुःख नहीं रहता, जाग्रत्स्वप्नमें शरीराध्यास होते ही दुःखका अनुभव होता है। यदि कहा जाय कि मृत्युसे शरीरकी निवृत्ति होनेपर दुःख निवृत्त हो जायगा, तो इसका उत्तर यह है कि अध्यासकालमें अनुष्ठित पुण्य और पापरूप कर्मसे अदृष्टद्वारा पुनः शरीरपरिग्रह जो कि दुःखका निमित्त है, पुण्य-पापरूप क्रिया **'क्रियावेशात् कर्ता स्यात्'** कर्तृभावपूर्वक होनेसे जबतक मैं कर्ता हूँ यह भाव रहेगा, तबतक पुण्य-पापरूप क्रिया अनिवार्य होकर अदृष्टद्वारा शरीरपरिग्रहका निमित्त बनती ही रहेगी। कर्तृभावमें हेतु राग-द्वेष हैं, राग-द्वेषका हेतु शोभनाशोभनाध्यास सर्वलोक-साक्षिक है। शोभनाशोभनाध्यासमें हेतु प्रकृतिसे आविर्भूत द्वैत वस्तु है।

लोकमें यह बात प्रसिद्ध है कि सम्राट् स्वप्नमें निद्रादोषसे स्वरूपविस्मृतिद्वारा भिक्षुक होकर दीन तथा दुःखी होता है। अतएव तत्त्वविस्सिद्धान्त है कि—

'अविद्याऽस्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः।'

जब पूर्वोक्त विचारसे बन्ध अविद्याकृत सिद्ध हुआ, तब सुगमतासे ही यह समझा जा सकता है कि तमः-प्रकाशवत् अविद्याकी निवृत्ति तद्विरुद्ध ज्ञानसे ही हो सकती है—

ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते।

इस प्रकार ज्ञाननिष्ठा साक्षात् मोक्षप्रद है।

तब फिर यह प्रश्न होता है कि कर्मनिष्ठाका श्रेयोमार्गमें क्या उपयोग है? इसका उत्तर वेदान्तशास्त्रमें इस प्रकार है—ज्ञानकाण्डका कर्मकाण्डके साथ साध्य-साधनभाव-लक्षण-

सम्बन्ध है, अर्थात् ज्ञान साध्य है और कर्म साधन है। इसमें शास्त्रसम्मत दो पक्ष हैं—एक तो यह कि पुरुषके सांसारिक कर्म ज्ञानके साधन होते हैं—**यस्यैते चत्वारिंशत्संस्काराः स ब्राह्मणः सायुज्यं सलोकता····।**' चालीस संस्कारोंके संक्षेपसे नाम ये हैं—

(१) गर्भाधान, (२) पुंसवन, (३) सीमन्त, (४) जातकर्म, (५) नामकरण, (६) अन्नप्राशन, (७) मुण्डन, (८) उपनयन, (९-१२) चार वेदव्रत, (१३) स्नान, (१४) सहधर्मचारिणसंग, (१५-१९) पञ्च महायज्ञ, (२०-२६) सप्त पाकयज्ञ, (२७-३३) सप्त हविर्यज्ञ, (३४-४०) सप्त सोमयज्ञ। इन चालीस संस्कारोंसे संस्कृत पुरुष प्रमाण-योग्यताको प्राप्त हो जाता है। द्वितीय पक्ष यह है कि शास्त्रीय कर्मानुष्ठानसे अधिकारी पुरुषको विविदिषा—ज्ञानेच्छा उत्पन्न होती है—'**तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।**'इन दोनों पक्षोंमें कुछ अवान्तर भेद इस प्रकार है, जैसे बुभुक्षा (भोजनेच्छा) अन्नादि-साधन-सम्पादित कराकर तृप्तिपर्यन्त सफल होती है, ठीक वैसे ही विविदिषा (आत्मज्ञानेच्छा) आत्मदर्शनके साधन गुरूपसत्ति, श्रवण-मननादि सम्पादित कराकर पर्यवसायिनी होती है। चित्तसंस्कृति ज्ञानमें प्रतिबन्धक पापका नाश कर समाप्त हो जाती है। बोधके साधन अग्रिम प्रयत्नद्वारा सम्पादित किये जाते हैं। वर्णाश्रमधर्म-प्रतिपादक शास्त्रसे प्रेरित अधिकारी शास्त्रकी आज्ञाके उल्लङ्घनमें नरक-पातादिका भय देख जिन शास्त्रीय कर्मोंका अनुष्ठान करता है वे कर्म संस्कारक कहे जाते हैं। '**तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति**' इत्यादि शास्त्रसे प्रेरित पुरुष बोधकी इच्छासे ऐहिकामुष्मिक भोगेच्छा- त्यागपूर्वक जिन कर्मोंको अन्तर्यामीके पाद-पङ्कजमें समर्पण करता है, वे कर्म विविदिषाजनक होते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि ईश्वरार्पित कर्म वेदनेच्छाके जनक होते हैं। इसी अभिप्रायके ये भगवद्वाक्य हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

विविदिषा-पक्षमें यह संशय होता है कि इच्छा विषय-सौन्दर्य-ज्ञानजन्य होती है, यही शुद्ध बुद्धिवालेको '**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**', '**रसो वै सः**'—इस श्रुतिप्रमाणसे जब ब्रह्मका सौन्दर्य अवगत होता है, तभी वेदनेच्छा हो सकती है। इसमें शास्त्रीय कर्मको साधन मानना अयुक्त है। इसका समाधान इस प्रकार है—यद्यपि श्रुतिवाक्यद्वारा ब्रह्मवेदनकी सौन्दर्यावगति होते ही इच्छा तो उत्पन्न हो ही जाती है, तथापि ब्रह्मवेदनमें रुचि बिना निष्काम कर्मानुष्ठानके नहीं हो सकती। इच्छा और रुचिका भेद इस प्रकार है—जैसे क्षीरप्रिय पुरुषको दुग्धपानेच्छा होते हुए भी पित्तरोग-दूषित होनेसे मुखमें रुचि नहीं होती, क्योंकि इच्छासे प्रेरित दुग्धको मुखमें जाते ही पित्तजन्य अरुचिके कारण थूककर त्याग देता है। तब निपुण वैद्यके पित्तशामक औषधोपचारसे रुचि उत्पन्न हो जाती है। ठीक इसी प्रकार निःशेष दुःखाभावोपलक्षित निरतिशयानन्द-स्वरूप ब्रह्मावगतिकी इच्छा श्रुतिवाक्यद्वारा होनेपर भी महापापके प्रतिबन्धसे वेदन-साधन-श्रवणादिमें रुचिका अभाव रहता है। जैसा कि पुराण-वचन है—'**महापापवतां नृणां ज्ञानयज्ञो न रोचते। प्रत्युत ज्ञानयज्ञस्तु प्रद्वेष्यो भासते स्वतः॥**' तब दृष्टान्तोक्त-प्रकारवत् परमेश्वरार्पित कर्मद्वारा ज्ञानप्रतिबन्धक महापापके नाश होते ही श्रवणादिमें रुचि हो जाती है। इस प्रकार ज्ञानद्वारा अज्ञाननिवृत्ति होते हुए भी ज्ञानसाधनमें रुचिजनक होनेसे परम्परागत कर्म भी ज्ञान साधन-भावको प्राप्त होते हैं, इस तरह सर्वानर्थमूल अज्ञानकी निवृत्तिमें ज्ञानसे अन्य कुछ भी अपेक्षित नहीं है। ज्ञानोत्पत्तिमें विवेक, वैराग्य, शमादि षट् सम्पत्ति, मुमुक्षुता, श्रवण, मनन, ध्यानसे अन्य कुछ अपेक्षित नहीं है। विवेक, शमादिकी उत्पत्तिके लिये बुद्धिशुद्धि अत्यपेक्षित है। बुद्धिशुद्ध्यर्थ परमेश्वरार्पित नित्य-नैमित्तिकादि कर्मसे अन्य कुछ अपेक्षित नहीं है। इस प्रकार कर्म और ज्ञानका सम्बन्ध शास्त्रसम्मत है। अतएव भगवत्स्मरण भी यही है—

'**योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये**', '**आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते**', '**यज्ञो दानं**०।'

योग और धर्माचरण

(अनन्तश्रीविभूषित पूर्वाम्नाय गोवर्धन-पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीनिरंजनदेवतीर्थजी महाराज)

वेदोंसे लेकर सभी पुराण, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, योगशास्त्र, इतिहास, काव्य, नाटक, कोष, नीतिग्रन्थ यहाँतक कि सूर, तुलसी आदि संतोंके काव्योंमें किंबहुना समस्त भारतीय वाङ्मयमें धर्मको ही विश्वका धारक, पालक एवं संचालक माना गया है और यह धर्म ही भारतीय साहित्य एवं भारतकी जनताका प्राण रहा है, जैसा कि भगवान् मनुने कहा है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात् 'इस भारत देशमें ही उत्पन्न हुए शुद्ध धर्मवक्ता अग्रजन्मा ब्राह्मणके द्वारा पृथ्वीके सम्पूर्ण मानव अपने-अपने धर्म, सदाचार एवं कर्तव्यताकी शिक्षा ग्रहण करें।'

योग भी धर्मका एक अङ्ग है—'**अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्°**' (याज्ञ° स्मृति)। महाभारतके विषयमें कहा गया है कि यह धर्मशास्त्र, योगशास्त्र, मोक्षशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र आदि सब कुछ है। सर्वशास्त्रमयी श्रीमद्भगवद्गीतामें जिसके अन्तमें '**योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्**' कहकर योगशास्त्र कहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है, वह महाभारतका ही सार भाग है। उसका पहला शब्द धर्म ही है, '**धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे°**।' और स्वयं भगवान् उसमें अपनेको धर्मरक्षक तथा साक्षात् धर्मके रूपमें स्थित होनेका परिचय देते हैं—'**धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे**।' अर्जुन भी उन्हें शाश्वतधर्मगोप्ता कहकर धर्महीन, कुलच्छेदी व्यक्तियोंको अनियतकालतक नरकमें रहनेकी बात कहते हैं—

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥

(गीता १।४४)

और भगवान् अत्यल्प भी शुद्ध धर्मके आचरणको महान् भयसे त्राण करनेवाला बतलाते हैं—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

गीतावक्ताकी दृष्टिमें सबसे महान् धर्म है वर्णधर्म। इसलिये भगवान् कहते हैं—'**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः**।' यही बात गीतामें शब्दान्तरसे अनेक बार आयी है। स्वयं भगवान् यही कहते हैं कि संसारके संचालनके लिये मैंने ही चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि कर्तव्यता या धर्मोंके विभाजनके साथ ही की है। अतः अपने वर्ण-धर्मको हीन या अशोभन या कुछ कष्टकर देखकर भी अपने वर्णको छोड़कर अपनेसे ऊँचे ब्राह्मणादिके धर्मको नहीं ग्रहण करना चाहिये—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

(१८।४८)

शास्त्रोंके सभी वचन प्रायः पुरुषार्थपरक हैं और उनमें भी विशेषकर धर्म एवं मोक्षके पक्षधर हैं। इसलिये योगकी सार्थकता भी धर्मकी रक्षामें ही है। किंतु आज अनधिकारी, यज्ञोपवीतादिसे रहित व्यक्ति तथा विधर्मी—ईसाई, यहूदी, म्लेच्छादिको तथा रजस्वलादि स्त्रियोंको भी वेद पढ़ाते देखे जाते हैं। आजके महाविद्यालय आदि प्रायः धर्म, सदाचार और चरित्रादिका कोई भी ध्यान न रखकर अविद्या, अधर्म एवं अनाचार आदिके प्रचारक हो रहे हैं। विशेषतः सहशिक्षा अग्निमें आहुतिका कार्य कर रही है। इसीके परिणाम-स्वरूप बड़े-बड़े विद्यालयों आदिमें अनाचारका नग्न ताण्डव और भयंकर उत्पात हो रहा है। वेदादिशास्त्रोंका स्वाध्याय तो अत्यन्त शुद्ध एवं पवित्र भावसे होना चाहिये। ऐसा लगता है कि इन्हीं व्यापक दुश्चरित्रताओं और स्वार्थपूर्ण नीतियोंके कारण तथा धर्म और सदाचारके नियमोंका पालन न करनेके कारण आज विश्वके देशोंमें भयंकर एवं अद्भुत विनाशकारी युद्ध चल रहा है और भीषण विनाशके बादल छाये हुए हैं।

धर्मके बिना राजनीति विधवा, योग कुयोग और ज्ञान कुज्ञान ही कहा गया है। इसलिये ऐसे अध्ययन, अध्यापन, परिवेश, भौतिकता और कुयोगसे बचना ही श्रेयस्कर है। व्यास, वाल्मीकि, पाणिनि, कालिदास, तुलसीदास आदिने किन्हीं ऐसे विद्यालयमें शिक्षा नहीं पायी थी। भगवान्‌की उदारता और धर्म एवं सदाचारकी रक्षाका दरवाजा अब भी खुला है। उन्हींकी कृपासे सच्चा तत्त्वज्ञान और विशुद्ध बोधकी प्राप्ति होती है, वे जिसपर कृपा करते हैं उसके हृदयमें साक्षात् सरस्वती प्रकट हो जाती हैं—***सारद दारुनारि सम स्वामी।***

रामु सूत्रधर अंतरजामी ॥ जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी ॥ और उसीका ज्ञान शुद्ध एवं निर्मल होता है।

जिस ज्ञानमें लेशमात्र भी स्वार्थ एवं छल प्रविष्ट है, उसका अपना कल्याण भी सम्भव नहीं है, दूसरेका श्रेय क्या होगा ? प्रायः अनधिकृत व्यक्ति अच्छे पदपर आसीन होता है तो वह ईश्वरकी बात, शास्त्रकी बात नहीं मानता और मनमाना शास्त्रके वचनोंमें हेर-फेर करता है। यह परम्परा बहुत पहलेसे चली आ रही है, वाल्मीकीय रामायणमें भगवान् रामने जाबालिको ऐसा ही व्यक्ति कहा है और महर्षि मनुने भी कहा है कि सभी शब्दोंके अर्थ प्रायः सीमित और नियमित ही होते हैं तथा प्रसंगके अनुसार प्रायः उनका एक ही अर्थ होता है, किंतु धर्मका अतिक्रमण करनेवाले उसे चुराकर दूसरा नवीन मनोऽनुकूल अर्थ बतलाते हैं, वास्तवमें वे सबसे बड़े चोर हैं, वे लोगोंको भ्रान्तिमें डालना चाहते हैं—

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः॥

(मनु० ४। २५६)

ऐसे लोगोंकी भी कुछ दिन चल जाती है, उन्नति भी हो जाती है, किंतु अन्तमें दुष्परिणाम ही होता है, जैसा कि मनुने कहा है—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥

(मनु० ४। १७४)

क्योंकि अधर्म तत्क्षण अपना रूप या परिणाम नहीं दिखाता, कुछ दिन वह अपनेको आवृत कर देता है। जब पापका घड़ा भर जाता है, तब नाश कर डालता है—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति॥

(मनु० ४। १७२)

इसलिये सामान्य स्वार्थके लिये विश्वरक्षक तथा व्यापक धर्मका नाश नहीं करना चाहिये। अतः योगीको धर्मको मुख्य मानकर योगानुष्ठान करना चाहिये। प्रायः जो योगके यम-नियमादि साधन हैं वे ही मनु, याज्ञवल्क्यादि धर्मशास्त्रकारोंकी दृष्टिमें दश-लक्षणात्मक धर्म हैं। यह धर्म पालन करनेपर उसकी रक्षा करता है तथा वञ्चना एवं विनाश करनेपर विनाश करता है—**'धर्मो रक्षति रक्षितः।'**

अतः योगीको धर्मको नष्टकर योगका अनुष्ठान नहीं करना चाहिये। अपितु भगवान्‌के परम प्रिय धर्मका योगादिके आश्रयसे संवर्धन और संरक्षण करना चाहिये, क्योंकि भगवान् साक्षात् धर्मके लिये ही अवतीर्ण होते हैं—

'धर्मार्थं जन्म यद्धरेः।'

सिद्ध पुरुषकी स्थिति

ना काहू से दुष्टता ना काहू से रोच॥
ना काहू से रोच दोऊ को इक-रस जाना।
बैर भाव सब तजा रूप अपना पहिचाना॥
जो कंचन सो काँच दोऊ की आसा त्यागी।
हारि जीत कछु नाहिं प्रीति इक हरि से लागी॥
दुख सुख संपति बिपति भाव ना यहु से दूजा।
जो बाम्हन सो सुपच दृष्टि सम सब की पूजा॥
ना जियने की खुसी है पलटू मुए न सोच।
ना काहू से दुष्टता ना काहू से रोच॥

—श्रीपलटू

पूज्य श्रीदेवराहा बाबाके कल्याणकारी उपदेश

परमात्मा विशुद्ध सत्त्वरूप है और वह दोष-पापोंसे सर्वथा मुक्त है—'**शुद्धमपापविद्धम्**।' उससे पूर्व-स्थितिको अव्यक्त कहा है—'**तदव्यक्तमाह हि**'। चेतनस्वरूपमें वह ज्योतियोंका ज्योति है—'**तच्छुभ्रज्योतिषां ज्योतिः**।' आनन्द भी उसीका स्वरूप है जो इष्ट पदार्थके प्राप्त होनेपर उद्‌भूत होता है।

श्वेताश्वतर-उपनिषद्‌में आता है—'**नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्**।' अर्थात् नित्य-सत्-स्वरूप, यावत्प्राणियोंका चैतन्य और उनका कामप्रद आनन्दमय परमतत्त्व है।

चित्-स्वरूपमें वह सब प्राणियोंके हृदयमें अवस्थित है—'**ईश्वरः सर्वभूतानां हृदयेष्ववतिष्ठति**।' वह चित् ही मनोमय है, अमृतमय है और हिरण्मय है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें भी वह चेतन-रूपसे अवस्थित रहता है तथा उससे भी परे है। श्रुति कहती है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिँ् विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥

वह परमात्मा विभिन्न वृत्तियोंसे अलग-अलग भासता है। योगवार्तिकमें लिखा है—

प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च।
प्रमार्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम्॥
प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते।

अर्थात् शुद्ध चेतनको प्रमाता, वृत्तिको प्रमाण और चेतनमें अर्थाकार-वृत्तियोंका प्रतिबिम्ब प्रमा कहा जाता है। इन प्रतिबिम्बित वृत्तियोंके विषयको मेय अर्थात् प्रमेय कहते हैं।

भक्ति और वेदान्त-सम्प्रदायमें चित्‌का स्वरूप

भक्ति-समुदायोंमें जो चित्-शक्तिका प्रतिपादन वेदान्त-सम्प्रदायके प्रतिपादनसे आपाततः भिन्न प्रतीत होता है, विचार करनेपर भिन्नताका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। वस्तुतः सभी सम्प्रदायोंके अनुसार साधकको अविच्छिन्न तैलधाराके समान अपनी सम्पूर्ण मनोवृत्तियोंको परमतत्त्वमें लगाना होता है। भक्तिकी दृष्टिसे भगवान्‌की तीन शक्तियाँ हैं—स्वरूप-शक्ति, मायाशक्ति और जीवशक्ति। स्वरूप-शक्ति ही चित्-शक्ति या अन्तरङ्गा-शक्ति कहलाती है, जिसके आश्रयसे परमतत्त्व लीला-विलास करता है। यह शक्ति देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि आदिसे विलक्षण है। वह नित्य अचिन्त्य, अव्यक्त और निर्विकार तथा इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी आश्रयभूता है। पुंस्त्व-दृष्टिसे उसे चित् और स्त्रीत्व-दृष्टिसे चिति कहते हैं। यह सम्पूर्ण लीला इसी शक्तिका विलास है। इसीको संधिनी, संवित् और ह्लादिनी आदि नामोंसे अभिहित किया जाता है। आनन्द ह्लादिनी-शक्तिका ही विलास है, जो देहाध्यासके कारण जीव-संज्ञा धारण कर लेती है। योगवासिष्ठमें चित्‌का अधिष्ठान आकाश कहा गया है और उपाधिसे उसके तीन नाम हैं—चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाश। चित्ताकाशमें योगीकी स्थिति रहती है, चिदाकाशमें ज्ञानीकी और महाकाशमें सारे प्रपञ्चकी। परंतु इन सबके मूलमें एक ही तत्त्व है। वैशेषिककारने तो आत्माको आकाशवत् ही बताया है, '**विभुवान् महानाकाशस्तथा चात्मा**।' गीतामें भी कहा गया है—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥
(१३।३२)

आकाश अनन्त, ज्योतिःस्वरूप और व्यापक है—'**आ समन्तात् काशते इत्याकाशः**।' प्रपञ्चमें व्याप्त आकाशको भूताकाश भी कहते हैं, जब उससे भूतावरण हट जाता है तो वही चित्ताकाश कहलाता है और जब चित्ताकाशसे पूर्णतया आवरण हट जाता है तो वही चिदाकाश हो जाता है। उपासना अथवा योग-साधनासे भूताकाशका अतिक्रमण कर चित्ता-काशमें स्थित हुआ योगी अनेक विभूतियोंका साक्षात्कार करता है और भक्त भगवत्-लीलाओंका। परंतु इस स्थितिमें भी संस्कार बने रहते हैं, जो गुणोंका संघात है। भूताकाशका विशुद्ध भेद-भाव तो समाप्त हो जाता है, परंतु संस्कारवश भेदाभेद-भावकी स्थिति बनी रहती है। गुणोंका आवरण हट जानेसे ज्ञाननिष्ठा या ब्रह्मनिष्ठा होती है—वही चिदाकाश है। जहाँ एकान्ततः अभेद-भाव है। चित्-प्राप्तिके लिये भूताकाशका आवरण-भङ्ग करना होगा। उसके लिये अनेक उपाय बताये गये हैं, जिनमें प्रमुख दो हैं—भक्ति और योग।

भक्तिमें भावकी प्रवणता अपेक्षित है और योगमें इन्द्रियनिग्रह-द्वारा चित्तशुद्धि। भूताकाशमें इन्द्रियोंका ही साम्राज्य है, उसे पार करके दिव्यचक्षुकी प्राप्ति चित्ताकाशमें होती है जो योगीका दर्शन है। उससे आगे शब्दब्रह्मकी प्रतिष्ठा है,जहाँ चिन्मय दर्शन होता है और जिसके लिये दिव्य विज्ञानचक्षु अपेक्षित है। वहाँ कोई आवरण नहीं है।

भक्ति-सम्प्रदाय और अभेद-दर्शन

भक्ति सम्प्रदायकी साधनाद्वारा अव्यय-तत्त्वकी अनुभूतिके सम्बन्धमें विशिष्टाद्वैत-दर्शनकी मान्यताके अनुसार ईश्वरको चित् और अचित्-विशिष्ट माना गया है। स्वरूपसे चित् अनादि, निरञ्जन और असम्पृक्त है, परंतु कर्म-संस्कारोंके आवरणके कारण वह अपने स्वरूपको भूला हुआ है। वह आवरण अविद्या तथा मायाका है। भगवद्भक्तिसे वह आवरण छूट जाता है, क्योंकि चित्त सब ओरसे हटकर भगवान्‌में लग जाता है। यह भी चित्तवृत्तियोंका निरोध ही है। इससे द्रष्टा और दृश्यका अभिमान समाप्त हो जाता है और भगवदाकार-वृत्ति हो जाती है। परंतु भक्तिका मार्ग इतना सरल नहीं है, जितना सामान्यतः समझा जाता है। श्रद्धा एवं विश्वासके साथ इसमें पूर्ण समर्पण करना होता है। देखा जाय तो ज्ञानीको भी भक्तिका अवलम्बन लेना पड़ता है। शरणागतिके कारण भक्तिका मार्ग सरल हो जाता है; क्योंकि वहाँ इष्ट अथवा गुरुका आधार बना रहता है और सारा विश्व ही तद्रूप दिखायी देता है। इसलिये भक्ति भी ज्ञानका साधन ही है, परंतु भक्तके लिये भक्ति साध्य ही है—साधन नहीं, क्योंकि उसका लक्ष्य परमानन्दोपलब्धि है—आत्मानन्द या चिदानन्द नहीं। इस प्रकार योगनिष्ठा एक स्वतन्त्र साधना है।

चित्-तत्त्वके दर्शनमें ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गके समान ही योग-मार्गकी भी स्वतन्त्र महत्ता एवं उपयोगिता है। योगमार्गके बहिरङ्गोंका भक्ति और ज्ञान दोनों मार्गोंमें अवलम्बन करना आवश्यक है, इसलिये योग जहाँ अपने अन्तरङ्ग-स्वरूपसे चित्-तत्त्वके दर्शनका स्वतन्त्र साधन है, वहीं अपने बहिरङ्गद्वारा ज्ञान और भक्तिमार्गका एक प्रकारसे पूरक भी है। यही कारण है कि सभी शास्त्रोंमें बराबर योगकी चर्चा मिलती है। हिरण्यगर्भ योगके प्रवर्तक माने जाते हैं—

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत्।

(श्रीमद्भा० ५। १९। १३)

हिरण्यगर्भ ही समस्त ब्रह्माण्डको धारण करनेवाले हैं।

श्वेताश्वतर-उपनिषद्‌के दूसरे अध्यायमें, कठोपनिषद्‌के द्वितीय अध्यायके तृतीय वल्लीमें तथा गीताके षष्ठ अध्यायमें योगकी महिमाका विशेष वर्णन हुआ है।

मैत्रायणीय उपनिषद्‌में स्पष्ट कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

चञ्चलता मनका स्वभाव है, इसलिये उसकी वृत्तियोंका निरोध करनेके लिये योगी प्रत्याहारद्वारा मनको हृदयमें स्थित करता है, जिससे प्राणोंमें भी स्थैर्य आ जाता है। फिर एक मुख्य नाडीसे उसे ब्रह्मरन्ध्रमें ले जाकर चिदाकाशतक पहुँचाता है। उपनिषदोंमें इस प्रक्रियाका स्पष्ट उल्लेख है—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या
उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति॥

(छान्दोग्य० ८। ६। ६)

योगशिखोपनिषद्‌के छठे अध्यायमें मनके रहस्योंपर बड़े विस्तारसे विचार किया गया है—

चित्ते चलति संसारो निश्चलं मोक्ष उच्यते।
तस्माच्चित्तं स्थिरीकुर्यात् प्रज्ञया परया विधे॥
मनोहं गगनाकारं मनोहं सर्वतोमुखम्।
मनोहं सर्वमात्मा च न मनः केवलः परः॥
मनसा मन आलोक्य वृत्तिशून्यं यदा भवेत्।
ततः परं परब्रह्म दृश्यते च सुदुर्लभम्॥

गीताकारने मनको वशमें करनेके लिये अभ्यास और वैराग्यके आश्रय लेनेका उपदेश दिया है। योग मनको वशमें करनेका उत्तम साधन है। इसलिये संतोंने योगको भक्तिका अभिन्न अङ्ग माना है। मनका निरोध किये बिना ज्ञान-गुहामें प्रवेश एवं भगवदाकार-वृत्ति असम्भव है। आत्मतत्त्व यद्यपि मनसे अतीत है, परंतु मनका चरम साध्य आत्मतत्त्वमें विलय ही है। इसलिये भौतिक सुखोपलब्धिसे कभी भी मनको सच्ची तृप्ति नहीं हो सकती। स्थायी आनन्दकी प्राप्तिके लिये उसे अन्तर्मुख होना चाहिये, क्योंकि हृदय-गुहा आनन्दका स्थान

है। विवेकख्याति चित्तनिरोधका फल है।

योगविद्या पराविद्या है

योगविद्या मुण्डकोपनिषद्‌में वर्णित दो प्रमुखतम विद्याओंमेंसे पराविद्याके रूपमें मान्य है। इसकी प्राप्ति भगवत्कृपा, संतकृपा, शास्त्रालोडन तथा गुरुकी कृपासे ही सम्भव है।

योगविद्या और गुरुतत्त्व—योगविद्याकी महनीयता तथा उपादेयता और इससे प्राप्तव्य लक्ष्यकी प्राप्ति तभी सम्भव है जब अधिकारी गुरुद्वारा इसे आत्मसात् किया जाय। इसीलिये गुरु-तत्त्वका निरूपण सभी शास्त्रोंमें हुआ है।

यह गुरु-तत्त्व बड़ा ही विचित्र और रहस्यमय है। इस तत्त्वकी कृपासे लोक और परलोक दोनों ही प्राप्त हो सकते हैं। योगकी सहजावस्था भी गुरुकृपा-साध्य है—

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्‌गुरोः करुणां विना॥

शास्त्रोंमें गुरुतत्त्वको ईश्वरतत्त्वसे भी बढ़कर बताया गया है। परंतु शिष्यके साधन और अधिकारके अनुसार ही गुरु-कृपाकी उपलब्धि होती है। गुरुतत्त्व और भगवत्तत्त्व एक ही तत्त्वके दो रूप हैं। भगवत्तत्त्वको अविद्या-मायाके अधिष्ठातृरूपमें तथा गुरुतत्त्वको विद्या-मायाके अधिष्ठातृ-रूपमें देखनेकी परम्परा है। भगवत्तत्त्व जगन्नियन्ता है—कर्मोंके अनुसार ही जीवको भोग प्रदान करता है, परंतु गुरुतत्त्व असीम दया और करुणाका सागर है। उसकी कृपा अहैतुकी है। इसीलिये उसकी शक्ति भी अचिन्त्य है। वह कर्तुं-मकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ है।

भगवान्‌ने श्रीमद्भागवतमें स्वयं कहा है कि—

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥

सद्गुरु पुण्यसे ही प्राप्त होते हैं—योग-ज्ञानकी प्राप्तिमें सद्गुरुका अन्वेषण और उनकी शरणागति आवश्यक है, किंतु उनकी प्राप्ति प्रयत्नसाध्य नहीं है। जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंसे ही गुरुकी प्राप्ति होती है। पहले तो सद्गुरुकी प्राप्ति ही कठिन है, फिर यदि प्राप्ति हो भी जाय तो गुरुमें पूर्ण श्रद्धाभाव होना कठिन है और यदि श्रद्धा-भाव भी उत्पन्न हो जाय तो गुरु-कृपा होनी कठिन है। विद्या-गुरु और दीक्षा-गुरु तो बहुत मिल सकते हैं, परंतु सद्गुरु पुण्यकर्मोंसे ही मिल पाते हैं। सद्गुरुका लक्षण विवेकचूडामणिमें इस प्रकार वर्णित है—

श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः।
ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः॥
अहैतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम्।

अर्थात् 'गुरु श्रोत्रिय, निष्पाप, कामनारहित, ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये। जो ईंधनरहित अग्निके समान शान्त हो, अकारण दयासिन्धु हो तथा शरणागतबन्धु हो।'

गुरु-तत्त्वकी सम्पूर्ण शक्ति गुरु-मन्त्रमें निहित है। गुरु-प्रदत्त बीज मन्त्र शिष्यके हृदयमें अनन्त प्रकाश प्रज्वलित कर देता है, यूँ तो सभी मन्त्र प्रणवके स्वरूप हैं, परंतु गुरु-प्रदत्त मन्त्र एक अलौकिक शक्तिसे परिपूर्ण होता है, जिससे विशुद्ध प्रणवरूपा ध्वनि निर्गत होती है, जो अधिकारीको चैतन्य-स्वरूपमें प्रतिष्ठित कर देती है। गुरु-मन्त्रके शब्दोंका स्वरूप शुद्ध और सात्त्विक होता है। उसके उच्चारण-मननमात्रसे ही शरीरस्थ मलिन शब्दविकार स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं। चिन्मय मन्त्र चित्-शक्तिका ही केन्द्र होता है, जिससे विशुद्ध चैतन्य-प्रवाह प्रवाहित होता है। मानव-मनको अन्तर्मुखी कर उसे चिद्रूप शुद्ध शब्दकी उपलब्धि करना ही गुरु-मन्त्रका उद्देश्य है। जिस प्रकार काष्ठमें निहित अग्निका साक्षात्कार संघर्षसे होता है—उसी प्रकार मन्त्रद्वारा हृदयसे ब्रह्माग्निका साक्षात्कार होता है।

सद्गुरु शिष्यको जिस मन्त्रकी दीक्षा देता है, उस मन्त्रका जप योगविद्याकी उपलब्धि तथा परम लक्ष्यकी प्राप्तिमें अत्यन्त सहायक होता है। प्रारम्भमें मन्त्र-जपमें चित्तकी वह एकाग्रता नहीं होती जो वास्तवमें उसके लिये अपेक्षित है, किंतु उससे जपकर्ताको हताश या उद्विग्न नहीं होना चाहिये, क्योंकि एकाग्रता अभ्यासजन्य है। धीरे-धीरे ही एकाग्रता होती है। विचारके साथ अभ्यास करते-करते एकाग्रता होने लगती है।

चित् और चित्तका अन्योन्य-सम्बन्ध—महर्षि पतञ्जलिने चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहकर उसे ही चित्‌के अपने विशुद्ध स्वरूपमें अवस्थितरूपसे होनेको कैवल्यका साधन कहा है। चित् और चित्त ये दोनों शब्दोंके एक ही मूल धातुसे निष्पन्न होनेके कारण यह जिज्ञासा स्वभावतः होती है कि चित् और चित्त ये दोनों शब्द एक अर्थके बोधक हैं या

भिन्न अर्थकि ? सब कुछ चित्का ही व्यापार है अतः चित्तको चित्से सर्वात्मना भिन्नरूपमें नहीं देखा जा सकता। उपनिषदादिमें इस विषयको इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

(श्वेता० ४। ६-७)

विद्यासे युक्त ईश्वर और अविद्या—मायासे युक्त जीव दो साथ रहनेवाले मित्र पक्षी हैं। दोनों ही त्रिगुणात्मक माया अथवा प्रकृति-रूप वृक्षका आलिङ्गन किये हुए हैं। उनमेंसे एक तो अर्थात् जीव-रूपी पक्षी उस वृक्षके फलों (योगरूपी) का उपयोग करता है और दूसरा केवल साक्षीरूपमें रहता है। गुरुकृपासे योगयुक्त होकर जीवरूपी पक्षी अपनी भूलको समझ लेता है और अपने साथी ईश्वरकी महिमासे प्रेरणा ग्रहण करके अपने शोकका निवारण करता है। यही चित्के स्वरूपका रहस्य है।

(दिव्य-दर्शनसे)

योगसाधनाकी उपादेयता

(अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ शृङ्गेरी शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीभारतीकृष्णातीर्थजी महाराज)

भारतके छः आस्तिक दर्शनोंमेंसे योगदर्शन भी एक है। इस दर्शनके प्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि हैं। उनका यह योगदर्शन समाधि, साधन, विभूति तथा कैवल्य नामके चार पादोंमें विभक्त है। वैसे तो उपनिषदोंमें भी योगके अनेक प्रसंग हैं। यथा—'**तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।**' अर्थात् योग वही है जहाँ इन्द्रियाँ स्थिर-रूपसे साधकके वशमें हो जाती हैं, किंतु इस विषयको एक स्वतन्त्र दर्शनके रूपमें उपनिबद्ध करनेका श्रेय महर्षि पतञ्जलिको ही प्राप्त है। इसमें किसीको भी कोई संदेह नहीं है। 'योग' शब्द मुख्य-रूपसे चित्तवृत्तियोंको निरुद्ध करनेके अर्थमें प्रसिद्ध है, जैसा कि महर्षि पतञ्जलिके सूत्र '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' में कहा गया है यद्यपि वायुके समान चित्तका सर्वथा निरोध करना अत्यन्त दुष्कर है, तथापि बार-बार अभ्यास करने एवं वैराग्यके आश्रय लेनेसे वह भी सम्भव हो जाता है। जैसा कि '**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः**' इत्यादि सूत्रोंमें कहा गया है। यही अभिप्राय गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे '**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते**' इत्यादि वचनोंमें अभिव्यक्त किया है।

अभ्यास वह वस्तु है जो चित्तको विषयोंसे बार-बार हटाकर शान्त और स्थिर करता है। इसके अनुष्ठानद्वारा चित्त स्थिर हो जाता है। और वैराग्य वह वस्तु है जिसके द्वारा साधक इहलौकिक स्रक्, चन्दन, वनिता आदि भोगोंमें तथा पारलौकिक स्वर्गीय दिव्य भोगोंके द्वारा तनिक भी आकृष्ट न होकर उन्हें वमन या उपान्तके समान घृणित भावनासे देखता है[1]।

इसे ही आदिशंकराचार्यने इस प्रकार कहा है—वैराग्य वह वस्तु है, जिसके द्वारा विषयोंकी बातें देखने या सुननेपर उनमें उपान्तके समान घृणा हो जाती है, यह घृणा अपने शरीरसे लेकर स्वर्ग तथा ब्रह्मलोकतकके भोग्य पदार्थोंमें समानरूपसे रहती है—

तद्वैराग्यं जुगुप्सा या दर्शनश्रवणादिभिः।
देहादिब्रह्मपर्यन्ते ह्यनित्ये भोगवस्तुनि ॥

जबतक मन थोड़ा भी विषयोंकी ओर प्रवृत्त होता है, तबतक ठीक-ठीक ईश्वरका तथा संत-महात्माओंका ध्यान नहीं होता, उनकी ओर योग-साधनाकी प्रवृत्ति नहीं होती और इससे समाधि प्राप्त करनेमें सफलता नहीं होती। इसलिये विषयोंकी ओरसे पूर्ण विरक्ति अत्यन्त एवं सर्वाधिक आवश्यक है। ऐसे तो योगसाधन अनेक हैं जो फलप्राप्तिमें विलम्बको सहन नहीं कर सकते। इसलिये वे लोग साधनोंका परित्याग भी कर देते

१-महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजीने भी ठीक यही बात लिखी है—

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी ॥

अर्थात् भाग्यशाली रामभक्त वैराग्यके द्वारा सम्पूर्ण लक्ष्मीके विलासका उपान्त या वमन किये पदार्थकी तरह दूरसे ही परित्याग कर देते हैं।

हैं। यह उचित नहीं है। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—

'स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।'

अर्थात् 'योगसाधकको बिना व्याकुल हुए अनिर्विण्ण-भावसे श्रद्धापूर्वक योगका अभ्यास करते रहना चाहिये, उकताकर छोड़ नहीं देना चाहिये।'

इससे यह सूचित होता है कि योगाभ्यासशील व्यक्तिके लिये एक तरफ तो बिना विरक्त हुए श्रद्धापूर्वक सतत रूपसे योगका अभ्यास या अनुष्ठान आवश्यक है और दूसरी ओर विषयोंसे वैराग्य भी। इसके लिये योग-साधनामें अटल विश्वास अर्थात् 'फल प्राप्त होगा'—ऐसा मनमें सदा निश्चय रहना चाहिये[१]। 'अबतक तो मुझे कोई फल नहीं मिला तो क्या मैं इसे छोड़ दूँ'—इस प्रकारकी भावनाका त्यागकर उत्तरोत्तर श्रद्धा-वृद्धिपूर्वक उसमें लगे रहना साधनामें अनिर्वेद कहा जाता है। ऐसा करनेपर साधकको योगानुष्ठानके द्वारा अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त महर्षि पतञ्जलिने अपने योगदर्शनमें साधकके लिये दूसरी बात यह आवश्यक बतायी है कि मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा—इन चार भावनाओंमेंसे क्रमशः अपने सहयोगी साधकोंसे मैत्री, विषयी एवं दुःख-प्राप्त जीवोंपर करुणा, विशेष समृद्धिशाली या योग-प्राप्त व्यक्तियोंमें मुदिता-भाव तथा अपनेसे द्वेष रखनेवालोंमें उपेक्षाकी भावना रखनी चाहिये न कि वैरकी भावना[२]। ऐसी भावनाओंसे योगीका हृदय सर्वथा निर्मल और शान्त हो जाता है। इस प्रकारकी साधना करते हुए साधकको कोई विशेष सिद्धिकी प्राप्ति कर लेनेपर अपनी योग-साधनाका परित्याग नहीं कर देना चाहिये। अर्थात् उसे भोगी नहीं बनना चाहिये। इसीलिये महर्षि पतञ्जलिने यह सूत्र लिखा है—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्।

(योग० ३। ५१)

अर्थात् कोई विशेष सिद्धि मिल जानेपर साधकको आसक्तिमें नहीं पड़ना चाहिये और मनमें किसी प्रकारका अभिमान नहीं आने देना चाहिये। देवता, देवी, अप्सरा, विद्याधर अर्थात् किसी भी देव-सुखोंमें आसक्त नहीं होना चाहिये। ये लोग योगीको स्वर्ग आदि लोकोंमें ले जानेके लिये निमन्त्रित करते हैं। इसलिये वहाँ इसे बहुत महत्त्व देखकर अपने मनमें आश्चर्य, विस्मय या अहंकार उत्पन्न नहीं होने देना चाहिये और न उनमें आसक्त होना चाहिये। ऐसा होनेपर साधक पुनः संसृति-चक्रमें पड़कर नरक-पथगामी बन सकता है। यही पूर्वोक्त सूक्तका अभिप्राय है। तभी साधकको समाधि-प्राप्तिपर्यन्त अनुष्ठानमें प्रवर्तित होकर पूर्ण सिद्धि अर्थात् कैवल्यतककी प्राप्ति हो जाती है। यही योगीका परम लक्ष्य है। इसलिये योगदर्शन सभी दर्शनोंमें श्रेष्ठ है।

यद्यपि वेदान्तदर्शनमें भगवान् वेदव्यासने '**एतेन योगः प्रत्युक्तः**' इस सूत्रके द्वारा योगशास्त्रके मूल सिद्धान्तका खण्डन किया है—ऐसा आपाततः प्रतीत होता है, किंतु उनका वहाँ तात्पर्य केवल विश्व-सृष्टिमें अचेतन प्रकृतिका मूल कारण माना जाना और अनेक पुरुषोंका होना—इतने मात्रका ही खण्डन किया गया है; जो सांख्यका भी मूल सिद्धान्त है। क्योंकि इससे श्रुतिका प्रत्यक्ष विरोध है। भगवान् व्यासका तात्पर्य यम-नियमोंके द्वारा प्राप्त होनेवाली समाधि या विभूतियोंकी प्राप्तिका खण्डन इष्ट नहीं है। यह बात भगवान् शंकराचार्यजीके ब्रह्मसूत्रके भाष्यके अवलोकनसे सर्वथा सुस्पष्ट हो जाती है। यह बात इसलिये भी सिद्ध हो जाती है कि भगवान् व्यासने योगदर्शनपर व्यासभाष्य नामक एक स्वयंका भाष्य लिखा है। साथ ही उन्होंने लिङ्ग-पुराण, शिवपुराण आदिमें सम्पूर्ण योगदर्शनका पद्यबद्ध अनुवाद-सा किया है। इस प्रकार सर्वथा उपादेय इस योगदर्शन-शास्त्रके अवलोकन तथा उसके अभ्यास एवं अनुष्ठानके द्वारा सभी आस्तिकजन कृतार्थ हों, यही हमारी शुभकामना है।

१-गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने इस बातको *'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। बिनु हरि भजन न भव भय नासा'* के द्वारा कहा है। अर्थात् बिना अटल विश्वासके इन्द्रियजयरूपी योगसाधनामें सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

२-भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें इस बातपर बल देते हुए कहा है—

'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।' तथा—

'निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥'

ऋजु-योगकी साधन-प्रक्रिया

(ब्रह्मलीन श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

भक्त्या पुमाञ्जातविराग ऐन्द्रियाद्
दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया ।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः ॥

(श्रीमद्भा० ३।२५।२६)

'भगवत्कथा-श्रवणसे मनुष्यको भक्ति उत्पन्न होती है, भक्ति हो जानेपर देखे हुए और स्वर्गादि सुने हुए जितने इन्द्रियजन्य सुख हैं, उनमें वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। ऐसा योगयुक्त पुरुष आत्मसाधनके उद्योगमें तत्पर होकर ऋजु-योग-मार्गोंसे प्रभु-प्राप्तिके लिये यत्न करता रहता है।'

संसारमें आसक्त हुआ मन जिसके द्वारा परमात्मामें जोड़ा जाय, उसीका नाम योग है। अतः प्रभु-प्राप्तिके जितने साधन हैं सभी योग हैं। राजयोग, हठयोग, सुरतिशब्दयोग, कर्मयोग, क्रियायोग, सांख्ययोग आदि अनेकों योग हैं। जो जिस योगका अधिकारी होता है, उसके लिये वही योग उपयुक्त भी होता है। एक भक्तियोग ही ऐसा है जिसमें सबके लिये अवसर है। भक्तियोग या भक्तिमार्गमें किसीके लिये निषेध नहीं, वह राज-पथ है। अंधा भी आँखें बंद करके सहज ही चला जा सकता है, किंतु उसके लिये भी एक योग्यताकी आवश्यकता है—

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनानन्दाश्रुकलया .... ॥

जिसका हृदय स्वाभाविक ही कोमल न हो, जिसे भगवद्गुण-श्रवण-स्मरणसे रोमाञ्च न होता हो, जिसकी आँखें आनन्दाश्रु न बहाती हों, वह भक्तिका यथार्थ अधिकारी नहीं। इसीलिये भक्तिके दो भेद हैं—स्वाभाविकी और वैधी। जैसे प्यासा बिना पानीके रह ही न सके, जैसे अग्नि लगी देखकर स्वाभाविक ही मनुष्य उससे दूर भागता है, ऐसे ही विषयोंसे स्वाभाविक विराग होकर प्रभु-प्राप्तिकी स्वाभाविक इच्छा होना स्वाभाविकी भक्ति है। और शास्त्रोंमें भक्तिका माहात्म्य सुनकर भक्ति करना यह वैधी भक्ति है। किंतु हमारी इन झूठी आँखोंमें न तो कभी आनन्दाश्रु ही आते हैं, न यह वज्र-जैसा हृदय ही पसीजता है, फिर हम-ऐसे मूढ़मति पुरुषोंके लिये भी कोई मार्ग है क्या? शास्त्रकारोंने हम-जैसे अल्पज्ञ पुरुषोंके लिये भी उपाय बताये हैं। भक्तिमार्ग बड़ा विशद है। उसके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, वन्दन, पादसेवन, सख्य, दास्य, अर्चन और आत्मनिवेदन—ये नौ अङ्ग हैं। दास्य, सख्य, वात्सल्य, शान्त और मधुर—ये पाँच भाव हैं। और भी अनेकों अनुभाव-विभावोंसे भक्तिमार्ग सुविस्तृत है। इसी भक्तिसागरको मथकर इसका अल्पीभाव बनाकर हम सर्वसाधारण लोगोंके लिये मनीषियोंने ऋजु-योग-जैसे मार्ग बताये हैं। ऋजु-योग भक्तियोगके ही अन्तर्गत है। इसमें मृदुता और सरलता ही एक आवश्यक वस्तु है। हमारे जीवनमें पग-पगपर बनावट है। यह बनावट किसी तरहसे मिट जाय तो वह प्यारे प्रभु अपने-आप ही हमें हृदयसे चिपटा लें। छोटा निष्कपट सरल शिशु कभी किसीसे यह नहीं कहता कि तुम मुझसे प्यार करो। किंतु उसकी सरलता, मृदुता और निष्कपट चेष्टाको देखकर चित्त बिना प्यार किये रह ही नहीं सकता। यदि इसी तरह हमारे जीवनमेंसे यह कपट-छल निकल जायँ तो भगवान् प्रेम करनेको विवश हो जायँगे। कपट-छल उन्हें अच्छा नहीं लगता—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥

किंतु कपट-छल जीवनमेंसे जाय कैसे? वह ऋजु-योगके ही द्वारा सुगमता और सरलतासे जा सकता है। ऋजु-योगकी नींव श्रद्धाके ऊपर है। पूरी न हो, स्वाभाविकी न हो, थोड़ी ही सही, सुनकर ही सही, हठपूर्वक ही हो, शास्त्र-वाक्योंमें और गुरुवाक्योंमें श्रद्धा होनी चाहिये। थोड़ी भी श्रद्धा होनेसे इस मार्गमें आनेपर धीरे-धीरे श्रद्धा स्वतः ही बढ़ जाती है। जो वेद, शास्त्र और गुरुवाक्योंकी निन्दा करता है, उन्हें ढोंग समझता है, वह तो इधर प्रवृत्त ही नहीं होगा। यदि अणुमात्र श्रद्धासे या वैसे ही शुरू कर देनेपर जो बढ़ता है, वह तो बढ़ता ही जाता है—'**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥**'

ऋजु-योगके चार अङ्ग हैं—सत्सङ्ग, भगवत्कथा-श्रवण, कीर्तन और जप। इन चारोंके ही द्वारा मनुष्य परमपदतक पहुँच सकता है। इन्हींका नाम ऋजु-योग है, इसमें सभी श्रेणीके स्त्री-पुरुषोंका अधिकार है। सभी इस सरल

सुगम संक्षिप्त मार्गसे अपने गन्तव्य मार्गतक पहुँच सकते हैं। बहुत संक्षेपमें इन चारोंपर यहाँ विचार करनेका प्रयत्न किया गया है—

१-सत्सङ्ग—ऋजु-योगकी सर्वप्रथम सीढ़ी है सत्सङ्ग। भगवान् कपिलने अपनी माता देवहूतिको ऋजु-योगका उपदेश देते हुए आरम्भमें ही कहा है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥

अन्तःकरणको और बाह्य करणोंको आनन्दित करनेवाली कमनीय कथाएँ साधु पुरुषोंके सत्सङ्गमें ही सुननेको मिल सकती हैं। उन कथाओंके श्रवणसे अति शीघ्र ही परमार्थ-स्वरूप प्रभुकी प्राप्तिके विषयमें प्रथम श्रद्धा होती है, श्रद्धा होनेपर रति होती है और रति होनेपर भक्ति प्राप्त होती हैं। सत्सङ्गके बिना इस मार्गमें जाना ही नहीं हो सकता। सत्सङ्गतिकी महिमा तो शास्त्रोंमें भरी पड़ी है, किंतु विचारणीय यह है कि हम मन्दमतियोंको यह निर्णय कैसे हो कि यह साधु है। शास्त्रोंमें तितिक्षु, करुणायुक्त, सर्वप्राणियोंके मित्र, निर्वैर, शान्त, निरन्तर भक्ति करनेवाले वीतरागी, गृहत्यागी, भगवत्कथा सुननेवाले आदि बहुत-से गुण साधुओंके बताये गये हैं, साथ ही जो निरन्तर भगवद्भजन, भगवत्कथा-श्रवण और भगवन्नाम-जपमें लगे रहते हैं, जिनका कोई भी समय व्यर्थकी बातोंमें न जाय, जो अपने शरीरके सुखोंके लिये चिन्ता न करते हों, यदि उन्हें कोई चिन्ता हो भी तो केवल दूसरोंके दुःखोंकी चिन्ता हो। श्रीमद्भागवतमें एक जगह लिखा है—

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ॥

समदर्शी साधु लोगोंके दुःखोंको देखकर दुखी होते हैं। इस अखिल ब्रह्माण्डमें व्याप्त उस अखिलेश्वर जनतारूपी जनार्दनकी सेवा करनेके निमित्त दुःख भोगना ही उनकी परम आराधना है। जिनकी सभी चेष्टाएँ प्रेमपूर्ण हों और जिनके शारीरिक काम यदि हों भी तो वे परोपकारके लिये हों। बस उन्हींको साधु समझकर उनकी सङ्गतिमें रहना चाहिये। साधु दूसरोंकी निन्दा न करेगा, न दूसरोंके दोषोंका वर्णन ही करेगा। उसकी सभी क्रियाएँ प्रेममयी होंगी और वह दूसरोंके गुणोंको ग्रहण करनेमें सर्वदा तत्पर रहेगा। राजर्षि भर्तृहरिने संतकी कैसी सुन्दर सर्वाङ्गीण व्याख्या की है। वे कहते हैं—

मनसि वचसि काये प्रेमपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥

अर्थात् 'जिनका मन प्रेमपीयूषसे परिप्लावित हो, जिनकी वाणी प्रेममयी, मधुमयी हो, जिनके शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी चेष्टाओंसे प्रेम प्रकट होता हो और जो अपने उपकारोंकी बाढ़से त्रिभुवनको बहाते-से रहते हों तथा दूसरोंके अणुमात्र गुणको पर्वतके समान बनाकर अपने हृदयमें विकसित करते रहते हों ऐसे संत इस धराधामपर कितने हैं?' यदि सौभाग्यसे ऐसे संत मिल जायँ और ढूँढ़नेपर मिल ही जाते हैं तो उनका सङ्ग निरन्तर करना चाहिये।

२-भगवत्कथा-श्रवण—ऋजु-योगकी दूसरी सीढ़ी है भगवत्कथा-श्रवण। इच्छापूर्वक, अनिच्छापूर्वक जैसे भी बने वैसे ही कथा सुननी चाहिये। भगवत्कथा-श्रवणका व्यसन लग जाना चाहिये। अफीम-जैसी कड़वी चीजको स्वादसे, स्वेच्छासे पहले-ही-पहले कोई नहीं खाता। खाते-खाते जब आदत पड़ जाती है, तब फिर बिना उसके रहा ही नहीं जाता। वैसे ही भगवत्कथा हमारे शरीरका मुख्य अङ्ग बन जाय। यह कभी मत सोचिये कि बिना मनके कथा सुननेसे क्या लाभ? इसी बातको लक्ष्य करके भगवान् कपिल कह रहे हैं—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि-
न्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥

'जिन्होंने सब कार्य मेरे ही अर्पण कर दिये हैं और जिन्हें मुझे ही पानेकी इच्छा है, वे मुझसे एकात्म होनेकी अर्थात् मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते, क्योंकि वे तो मेरे पाद-पद्मोंकी सेवामें संलग्न हैं। वे परस्परमें बैठकर हठपूर्वक भी मन न लगता हो तो भी एक दूसरेको आपसमें मेरे गुणोंको सुनाते रहते हैं और सुनते रहते हैं।'

भगवत्कथाओंमें सुनते-सुनते रस आने लगता है। छोटा बच्चा पहले बे-मनसे माताके हठपूर्वक खिलानेपर अन्न खाता है, खाते-खाते अभ्यास हो जाता है। फिर रुचि भी बढ़ने लगती है, तदनन्तर वह उसमें ऐसा तल्लीन हो जाता है कि बिना अन्न खाये उसे चैन ही नहीं पड़ता, जी तड़फड़ाने लगता है। इसी प्रकार हठपूर्वक कथा सुनते-सुनते सुननेका अभ्यास होगा फिर रुचि भी बढ़ने लगेगी। अन्तमें तो व्यक्ति उसीमें तल्लीन हो जाता है। कथा सुने बिना कल ही न पड़ेगी।

३-कीर्तन—तीसरी सीढ़ी है भगवन्नाम-कीर्तन। जैसे बने तैसे गाकर, रोकर, जोर-जोरसे, धीरे-धीरे, सबके साथ मिलकर, अकेलेमें, बैठकर, खड़े होकर, तालस्वरसे, बिना तालके गा-गाकर अथवा बाजोंके तालस्वरके सहित भगवन्नामोंका और भगवद्गुणोंका कीर्तन करना चाहिये। वैसे तो कीर्तन सभी युगोंमें सर्वश्रेष्ठ साधन है, किंतु कलियुगमें तो कीर्तनके सिवा कोई गति ही नहीं। भगवान् व्यासदेव कहते हैं—

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्।

अर्थात् 'केवल श्रीकृष्णकीर्तनसे ही मनुष्य इस घोर कलिकालमें परमपदको प्राप्त कर सकता है।' कीर्तनके विषयमें विशेष बतानेकी आवश्यकता नहीं। शास्त्रोंमें इसकी अनन्त महिमा है।

४-जप—ऋजु-योगकी चौथी सीढ़ी है जप। जप वेदमन्त्रोंका तथा पौराणिक मन्त्रोंका भी होता है। उनकी शास्त्रोंमें अनेक विधियाँ हैं। विधिपूर्वक करनेसे उनका प्रत्यक्ष फल मिलता है। इसलिये महादेवजीने जोर देकर पार्वतीजीसे तीन बार कहा है—

जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्वरानने।

'हे वरानने ! मैं तीन बार प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, जपसे सिद्धि होती है, होती है, होती है।'

किंतु वैदिक मन्त्रोंके जपकी विधिको द्विजेतर मनुष्य नहीं कर सकते। द्विजोंमें भी पढ़े-लिखे और संस्कृत पुरुष ही कर सकते हैं, किंतु भगवन्नाम-जपमें किसी प्रकारकी विधि नहीं। यह जप तो सब विधि-निषेधोंसे परे हैं। चाहे जो हो, स्त्री, शूद्र, अन्त्यज, चाण्डाल कोई हो, किसी भी अवस्थामें हो, किसी भी देशमें कहीं हो, हर समय इसका जप कर सकता है। और श्रद्धापूर्वक भगवन्नाम-जपसे वही फल मिल जाता है जो अन्य वैदिक मन्त्रोंसे मिलता है। इससे सरल कोई मार्ग ही नहीं।

इस प्रकार ऋजु-योगके ये चार अङ्ग हैं। यदि आप राजयोग नहीं कर सकते, हठयोगके लायक आपका शरीर नहीं है, यदि आप प्राणोंको दसवें द्वारमें ले जाकर समाधि नहीं लगा सकते, यदि आप भगवद्विग्रहकी षोडशोपचार रीतिसे पूजा करनेमें भी असमर्थ हैं तो आप मनसे, बे-मनसे जैसे भी बने, भगवान्के नामोंका जप कीजिये। श्रीरामायण, भागवत और महाभारतकी कथा सुनिये, साधु पुरुषोंका सङ्ग कीजिये और भगवन्नाम तथा गुणोंका कीर्तन कीजिये। आप सभी योगियोंसे बढ़ जायँगे तथा निर्वाणपदको भी पार कर जायँगे। शास्त्रोंमें इसे ऋजु-योग, संक्षिप्तयोग, सरलयोग या मृदुयोग कहा गया है।

यह बात नहीं कि ये चारों अङ्ग ही हों और बिना चारोंके किये सिद्धिलाभ होती ही न हो। ये चारों स्वतन्त्र भी हैं। केवल कथा ही श्रवण करते रहें और कुछ भी मत करें, निरन्तर भगवल्लीलाओंका श्रवण और उनका मनन करते रहें, आप परम पदको प्राप्त कर लेंगे। और किसी भी साधनकी आवश्यकता नहीं। महाराज परीक्षित् इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। केवल कथा-श्रवणसे ही वे सर्वसङ्गविनिर्मुक्त हो गये।

केवल सत्सङ्ग ही करते रहें, साधु पुरुषोंकी सेवा करें, उनके वचनामृतोंको सुनें, उनकी सब प्रकारसे शुश्रूषा करें, आपको परमयोगियोंकी स्थिति प्राप्त हो जायगी। बहुत-से यातुधान, खग, मृग, स्त्री, शूद्र मात्र सत्सङ्गके आश्रयसे ही इस संसाररूपी घोर सागरको तर गये। केवल सत्सङ्ग ही सभी साधनोंका फल दे देता है।

'सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्।'

केवल कीर्तनको ही अपने जीवनका एकमात्र साधन बना लें। उठते-बैठते सर्वदा हरिकीर्तन करते रहें तो उसीसे प्रभुप्राप्ति होगी, इसमें संदेह करना व्यर्थ है। देवर्षि नारदादि इसके साक्षी हैं।

इसी प्रकार केवल जपसे ही परम समाधि लगती है और सिद्धि प्राप्त होती है। वाल्मीकिजी तो उलटा नाम जपकर ही सिद्ध हो गये। इसलिये ये चारों मिला लिये जायँ तब तो एक हैं, और अलग कर दिये जायँ तो स्वतन्त्र हैं, इसीलिये

सर्वप्रथम जो श्लोक दिया है, उसमें '**ऋजुभिर्योगमार्गैः**' ऐसा बहुवचन है, ये चारों ही ऋजु-योग हैं। चारों ही स्वतन्त्र हैं और एक भी हैं। सर्व-साधारणकी एकमें निष्ठा होनी कठिन है, अतः हमारे लिये सुगमता यही है कि कुछ काल जप करें, कुछ काल कीर्तन करें और कुछ काल सत्सङ्गमें बैठकर भगवत्कथा-श्रवण करें। जो व्यक्ति इस ऋजु-योगका आचरण करेंगे, वे सभी संसारी तापोंसे छूट जायँगे। वे इस संसारसागरको गौके खुरकी भाँति बात-की-बातमें लाँघ जायँगे।

योग-तत्त्व-रहस्य-मीमांसा

(स्वामी श्रीनिश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज)

योग-तत्त्व

ब्रह्मका जगत्को नित्य योग प्राप्त होनेके कारण ब्रह्म 'योगस्वरूप' है। प्रत्येक अंशको अंशीका योग नित्य सुलभ होता है। घटाकाशको महाकाशका, जल-तरङ्गको जलका और जलचन्द्रको नभचन्द्रका योग नित्य सुलभ है। ब्रह्म अंशी और जीव अंश है, इस प्रकार भी ब्रह्म 'योग' है। अंश जीवको अंशी ब्रह्मका नित्य योग प्राप्त है। '**योगः समाधिः**' (योगभाष्य १। १) के अनुसार 'योग'शब्द समाधिके अर्थमें प्रयुक्त होता है। जिसमें चित्तको समाहित किया जाय, वह 'समाधि' है।

स्वतःसिद्ध ब्रह्म जहाँ योग है, वहाँ ब्रह्मोपलब्धिमें साक्षात् अथवा परम्परासे जिसका उपयोग हो, वह योग है। ब्रह्मोपलब्धिमें साक्षात् उपयोगी होनेसे ब्रह्मात्मैक्य-बोध योग है। भगवद्भक्ति, अष्टाङ्गयोग, कर्मयोगादि ब्रह्मोपलब्धिमें परम्परासे उपयोगी होनेसे योग हैं। सम्पूर्ण भगवद्गीता योग-शास्त्र है। शीत, उष्ण, सुख-दुःख, सिद्धि-असिद्धि आदि द्वन्द्वोंमें समत्व या समभाव होना या रखना योग है। द्रष्टा-दृश्यके आविद्यक (आध्यासिक) संयोगकी विवेक-ख्यातिसे निवृत्ति हो जानेपर समत्वकी पूर्णता मानी जाती है। तभी दुःखसंयोग-वियोगरूप योग पूर्णतः चरितार्थ होता है।

'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' (योगदर्शन १। २) के अनुसार चित्तवृत्तिनिरोध इसलिये योग कहने योग्य है, क्योंकि प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति नामक पाँचों प्रकारकी वृत्तियोंके निरुद्ध हो जानेपर (असम्प्रज्ञात समाधि सध जानेपर) द्रष्टा वृत्तिसारूप्य-विनिर्मुक्त होकर स्वरूपस्थिति लाभ करता है। व्युत्थानदशामें वृत्तियोंकी विद्यमानता रहनेपर भी विवेकख्यातिके बलपर गुणमयभावोंके अनुरूप आत्मभावका उदय न होनेसे वृत्तिसारूप्यके अभावमें स्वरूपस्थिति बनी रहती है। इसी अभिप्रायसे विवेकख्यातिको योग मानना उपयुक्त है। वेदान्तमें जीव और शिवकी एकताकी संवित् समाधि है—

समाधिः संविदुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति।

(अन्नपूर्णोपनिषद् ५। ७५)

स्वरूपोपलब्धिमें परम्परासे उपयोगी होनेके कारण योगाङ्गोंको 'योग' कहा गया है।

विवेकख्याति जहाँ योग है, वहाँ योगका फल भी। पातञ्जलयोगसूत्र-भाष्यविवरणकार भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य महाराजके अनुसार दुःख-प्रचुर संसार 'हेय' (त्याज्य) है। अविद्यानिमित्तसे होनेवाला द्रष्टा-दृश्यका संयोग 'हेयहेतु' है। संयोगकी आत्यन्तिक उपरामता 'हान' है। कैवल्यरूप हान ही योगशास्त्रका फल, साध्य अथवा प्रयोजन है। अविप्लव (अविकम्प) विवेकख्याति 'हानोपाय' है। जैसे भैषज्यका आरोग्य ही फल है, आरोग्यका भैषज्य ही साधन है, वैसे ही विवेकख्यातिका हान ही फल है और विवेकख्याति ही हानका साधन है। कैवल्यके प्रति विवेकख्याति उपाय है। विवेकख्यातिके प्रति योग उपाय है। योग (समाधि) के प्रति योगाङ्ग उपाय है। यथार्थबोध ही विवेकख्याति है—

'भूतार्थावगतिश्च विवेकख्यातिः'

(योगसूत्रभाष्यविवरण १। १)

भूतार्थावगतिके लिये चित्तकी एकाग्रता अपेक्षित है—

'यस्त्वेकाग्रे चेतसि स भूतमर्थं प्रद्योतयति'

(योगभाष्य १। १)

'योग' समाधि है। समाधि चित्तका सार्वभौम धर्म है। चित्तके तुल्यप्रत्ययप्रवाहका नाम एकाग्र है। प्रत्ययशून्य चित्तका नाम निरुद्ध है। समाधिमें कैवल्यरूप 'हान'की विद्यमानता है। '**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**' (योगसूत्र

१।३), '**स्वरूपप्रतिष्ठा च चितिशक्तेः कैवल्यम्**' (योगसूत्र ४।३४)। निर्बीज समाधिके द्वारा कैवल्योपलब्धिमें योगसूत्रोंका तात्पर्य संनिहित है।

अविद्यानिवृत्तिके द्वारसे ख्याति ही कैवल्यमें साधन है, क्योंकि अविद्या-निमित्तक ही बन्ध है—'**ख्यातिरेव साधनमविद्यानिवृत्तिद्वारेण। अविद्यानिमित्तो हि बन्धः।' एकमेव दर्शनम्, ख्यातिरेव दर्शनम्,** (विवरण-भाष्य) '**बुद्धिवृत्तिरेव दर्शनम्**' (विवरण० पृ० १४)।

योगसूत्रोंके अनुशीलनसे अविद्यानिवृत्तिका ही पोषण होता है, न कि 'जगन्मिथ्यात्वका', ऐसा मानना उपयुक्त नहीं। अविद्या और प्रकृतिकी एकरूपता है। प्रपञ्च प्रकृतिका परिणाम है। अविद्यानिवृत्तिसे जगत्की निवृत्ति सर्वथा सङ्गत है। द्रष्टा शुद्ध चिन्मात्र है। वह व्यवहारदशामें वृत्तिसारूप्य लाभ करता है। दृश्य परार्थ (पुरुषके लिये) है। कृतार्थके प्रति नष्ट (अदृश्य, निवृत्त) होनेपर भी अकृतार्थोंके प्रति भोग अथवा अपवर्ग देनेके लिये प्रस्तुत प्रकृति अनष्ट रहती है। प्रकृति स्वशक्ति है। पुरुष स्वामिशक्ति है। दोनोंकी उपलब्धिका हेतु संयोग है। संयोगका हेतु अविद्या है। जैसे वेदान्तमें पुरुष और अविद्याका संयोग भी अविद्यानिमित्तक ही है, वैसे ही योगमतमें असङ्ग स्वप्रकाश पुरुषका प्रकृतिके साथ संयोग भी प्रकृति-निमित्तक ही है। इस प्रकार प्रकृति और अविद्याकी एकरूपता है। अविप्लव विवेकख्याति प्रकृतिसहित अविद्याको नष्ट करके पुरुषको कृतार्थ करनेवाली है। विशुद्धसत्त्व विवेकख्याति है। मलिन सत्त्व अविद्या है। त्रिगुण प्रकृति है—

'**कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।**'

(योगसूत्र २।२२)

इस सूत्रमें जगन्मिथ्यात्वका प्रतिपादन है। इस रहस्यका प्रकाश सूत-संहिताके तात्पर्यदीपिकाके यज्ञवैभवखण्ड अष्टमाध्यायविवरणमें माधव नामक विद्वान्ने सिद्ध किया है—'व्यवहारदशामें प्रकृति-प्राकृत-लक्षण, प्रपञ्चका सत्यत्व और आत्मनानात्वका प्रतिपादन योगादिसम्मत है। कैवल्यदशामें स्वरूपस्फूर्ति ही सम्भव है, न कि भेदभाव। आत्माके यथार्थ ज्ञानसे (प्रकृति-पुरुष-विवेकख्यातिसे) कैवल्य सम्भव है। विवेकख्यातिके उत्तरकालमें जगत् सर्वथा अस्फुरित भी रहे और सत्य भी सिद्ध हो ले, ऐसा कथमपि सम्भव नहीं। क्योंकि मेय (ज्ञेय) की सिद्धि मान (ज्ञान) के अधीन होती है, अतः आत्मयाथात्म्यज्ञानसे जगत् निवृत्त (बाधित) हो ही जाता है। जगत् ही नहीं, आत्मनानात्व और जीवेश्वर-भेद भी मुक्तिमें भासित न होनेसे मिथ्या ही मान्य है—'**आत्मनानात्वस्य जीवेश्वरभेदस्य च मुक्तावनवभातत्वेनैव प्रपञ्चवन्मिथ्यात्वम्।**'

योग-रहस्य

अपान और प्राण, रज और रेतस्, सूर्य और चन्द्र तथा जीवात्मा और परमात्मारूप द्वन्द्वसमूहका जो संयोगरूप ऐक्य है, वह योग कहा जाता है—

योऽपानप्राणयोरैक्यं स्वरजोरेतसोस्तथा।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः।
एवं द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते॥

(योगशिखोपनिषद् १।६८)

मुख और नासिकाके द्वारा वायुका बाहर निकलना प्राणकी गति है। वायुका अधोगमन अपानकी गति है। अपानमें प्राणका सङ्गम पूरक है। प्राणमें अपानका सङ्गम रेचक है। प्राणापानकी गतिका स्तम्भन कुम्भक है। वामस्वर इडा है, उसे चन्द्रनाडी कहते हैं। दक्षिणस्वर पिङ्गला है, उसे सूर्यनाडी कहते हैं। उसके मध्यमें सुषुम्ना है। मुद्राबन्ध-विशेषके द्वारा मनसहित प्राणसंयमसे सूर्य-चन्द्रका ऐक्य होता है।

इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना नाभिमण्डले।
मुद्राबन्धविशेषेण वायुमूर्ध्वं च कारयेत्॥

(वराहोपनिषद् ५।६६।६७)

नेत्रका अनुग्राहक सूर्य है। सूर्य आत्मा है। मनका अनुग्राहक चन्द्रमा है। मन चन्द्रमा है। चन्द्ररूप मनको सूर्यरूप नेत्रमें और सूर्यरूप आत्माको चन्द्ररूप मनमें मिलानेपर प्रवृत्तिमार्गकी सिद्धि होती है। सूर्यरूप नेत्रको चन्द्ररूप मनमें और चन्द्ररूप मनको सूर्यरूप आत्मामें रमानेपर निवृत्तिमार्गकी सिद्धि होती है। जाग्रत्में सूर्यमें चन्द्र और चन्द्रमें सूर्यका योग होनेसे प्रवृत्ति है। मनोराज्य और स्वप्न जाग्रत्-सुषुप्तिके मध्यकी स्थिति (अवस्था) है। उसमें सूर्यरूप नेत्रका चन्द्ररूप मनमें और चन्द्ररूप मनका सूर्यरूप आत्मामें

योग होता है। द्वैतकी प्रतीति बनी रहती है। सुषुप्तिमें सावरण या सबीज द्वैत होता है। द्वैतकी प्रतीति नहीं होती। समाधिमें सूर्यरूप नेत्रका मनरूप चन्द्रमें और चन्द्ररूप मनका आदित्यरूप आत्मामें लय होता है। प्रपञ्चकी निरावरण-निवृत्ति होती है। **'आदित्या ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा'** (प्रश्नोपनिषद् १। ५)—'निःसंदेह सूर्य प्राण है और चन्द्रमा रयि है'—इस श्रुतिके अनुसार प्राण और अपानके ऐक्यसे सूर्य और चन्द्रका भी ऐक्य सध जाता है। योगवासिष्ठके अनुसार सूर्यात्मक 'प्राण' परमात्मा है। सोमात्मक 'अपान' जीवात्मा है। पूरक, कुम्भक और रेचकके द्वारा परमात्माकी आत्मासे और आत्माकी परमात्मासे एकता होती है। सूर्य उग्र होनेसे रेतः-प्रधान है। सोम सौम्य होनेसे रजः-प्रधान है। प्राणापानके द्वारा सूर्य-चन्द्रका सङ्गम होनेपर रेत और रजका भी सङ्गम सध जाता है। इस प्रकार प्राणापानके ऐक्यसे सूर्य-चन्द्र, जीव-शिव और रेत-रजका संयोगरूप योग सध जाता है। तत्त्ववेत्ता धारणाके द्वारा इस योगसे लाभान्वित होते हैं।

वायुके निर्गमन और आगमनके साथ **'हंसः'** और **'सोऽहम्'** मन्त्रकी विभागपूर्वक धारणा करनेसे जहाँ मन्त्रयोगकी सिद्धि होती है, वहाँ प्राणापानका ऐक्य भी सध जाता है। इस प्रकार प्राणापानका ऐक्य मन्त्रयोगके अन्तर्गत है। प्रत्येक जन्तुके शरीरमें योनिरूप महाक्षेत्रमें जपाबन्धूक-तुल्य रक्त रजका निवास है, वही देवी-तत्त्व है। शुक्ल शुक्र (रेत) शिवतत्त्व है। रज-रेतका योग 'राजयोग' है। हंस मन्त्रके हकारके द्वारा सूर्यका और सकारके द्वारा चन्द्रका बोध होता है। सूर्य और चन्द्रका योग हठयोग कहा जाता है। जीव (क्षेत्रज्ञ) और शिवका ऐक्य होनेपर चित्त विलयको प्राप्त होता है। पवन (प्राण) स्थिर होता है, इसीको 'लययोग' कहते हैं। मन्त्र, लय, हठ और राजयोग एक महायोगके ही चार प्रकार हैं—

मन्त्रो लयो हठो राजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात्॥
एक एव चतुर्धायं महायोगोऽभिधीयते।

(योगशिखोपनिषद् १। १२९, १३०)

योग-मीमांसा

योगदर्शनमें अष्टाङ्गयोगका वर्णन है। यम, नियम और आसनसे त्वङ्मांसशोणितास्थिस्नायुमज्जामय षाट्कौशिक स्थूल शरीररूप अन्नमयकोशसहित इन्द्रियोंका शोधन होता है। शौच आदि स्थूल शरीरके शोधक हैं, यह तथ्य प्रसिद्ध ही है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच 'नियम' हैं। स्थूल शरीरसहित पञ्चकर्मेन्द्रियोंका शोधन पञ्च यमके पालनसे होता है और पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंका शोधन पञ्च नियमके सेवनसे होता है। आसनके द्वारा मुख्यरूपसे कार्य-करणसंघातात्मक स्थूल शरीरका शोधन होता है। प्राणायामके द्वारा प्राणमय कोशका शोधन होता है। प्रत्याहार और धारणाके द्वारा मनोमयकोशका शोधन होता है। ध्यानके द्वारा विज्ञानमय-कोशका शोधन होता है। समाधिके द्वारा आनन्दमयकोश (कारणभेद) का शोधन होता है। इस प्रकार अष्टाङ्गयोगके द्वारा पञ्चकोशोंका शोधन हो जानेपर अध्यात्मज्ञानके द्वारा इनके अनात्मत्व (मिथ्यात्व) का स्फुट अनुभव होता है।

अयोगियोंका शरीर द्वन्द्वस्पर्शी होता है। योगहीन ज्ञानियोंको द्वन्द्वोंसे असङ्ग रहना पड़ता है। योगियोंका शरीर द्वन्द्वस्पर्शी नहीं होता। सर्वद्वन्द्वोंसे अतीत योगाग्निदग्ध ब्राह्मीतनुमें आत्माकी असङ्गता निरावरण स्फुरित होती है। ब्रह्मलोकमें योगाग्निदग्ध देह सुलभ होनेके कारण छाया और आतपतुल्य देह और आत्माका विमल विवेक सुलभ होता है—

'छायातपयोरिव ब्रह्मलोके' (कठोपनिषद् २। ३। ५)

देहके पाँच दोष होते हैं—१-काम, २-क्रोध, ३-निःश्वास, ४-भय और ५-निद्रा। निःसंकल्पताके द्वारा कामका वारण होता है। क्षमाके द्वारा क्रोधका वारण होता है। लघ्वाहारके द्वारा निःश्वासका वारण होता है। अप्रमत्तताके (देख, सुन, सम्हलकर उठने, बैठने, चलने आदिके) द्वारा भयका वारण होता है। तत्त्वसेवन (तत्त्वचिन्तन, समाधि, सत्त्वसेवन) से निद्राका वारण होता है। कहा भी है—

देहस्य पञ्च दोषा भवन्ति कामक्रोधनिःश्वासभयनिद्राः।
तन्निरासस्तु निःसंकल्पक्षमालघ्वाहाराप्रमादतातत्त्वसेवनम्॥

(मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १। २)

भूशुद्धि, भूतशुद्धि, अङ्गन्यास, करन्यास, महायज्ञ और यज्ञोंके द्वारा सप्तधातुमय शरीरका शोधन होता है। शीतली

आदि प्राणायामके द्वारा शरीरको शीतल और गर्म करनेसे भी शरीरका शोधन होता है। खेचरी आदि मुद्राओंके द्वारा क्षुधा, तृषा, आलस्य, मृत्युकी निवृत्ति और योगनिद्राकी समुपलब्धि होती है। खेचरी आदि मुद्रा और नाडी-शोधनादि आजकल दुरूह हैं। गुरुगम्य यह विद्या लुप्तप्राय है। मनमाना योगाभ्यास करने और करानेसे साधकको लाभके बदले हानि ही होती दीखती है।

ऐसी स्थितिमें ईश्वरप्रणिधान और स्वाधिकारानुसार तत्परतापूर्वक अधिकाधिक नामजप, लय-विक्षेपसे सुदूर रखनेवाला युक्ताहार-विहार और व्यवहारसे देहेन्द्रियादिका शोधन सुगम है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(गीता ६। १७)

उपनिषदोंमें कठोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, योगशिखोपनिषद्, योगकुण्डल्युपनिषद्, योगतत्त्वोपनिषद्, योगचूडामण्युपनिषद्, योगराजोपनिषद्, जाबालदर्शनोपनिषद्, त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, वराहोपनिषद्, मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, अमृतनादोपनिषद्, नादबिन्दूपनिषद्, तेजोबिन्दूपनिषद्, ध्यानबिन्दूपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद्, अन्नपूर्णोपनिषद् और शिवोपनिषद् आदि योगके स्वरूप, प्रभेद, प्रभाव, योगपरम्परा और योगाङ्गोंकी परिभाषादिका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करनेवाली है। योगाङ्गोंमें समाधि मुख्य योग है। उसीके द्वारा कैवल्यसिद्धि सम्भव है। कैवल्यदशामें जीवेश्वरादिभेद और जगद्विभ्रम विगलित हो जाता है। यही औपनिषदयोग और योगदर्शनका हृदय है—

यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति।
एवंभूतः परेणासौ तदा भवति केवलः॥

(श्रीजाबालदर्शनोपनिषद् १०। ११)

इस योग-साधनाके द्वारा समाधिमें प्रविष्ट योगीको जिस परमानन्दकी उपलब्धि होती है, उसका वाणीके द्वारा वर्णन किसी प्रकार सम्भव नहीं है। उसे कोई समाधिस्थ होकर ही जान सकता है—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

(मैत्रायण्युपनिषद् ४। ९)

अध्यात्मपथका उत्तम साधन—योग

(अनन्तश्रीविभूषित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशी (सुमेरु) पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीशंकरानन्द सरस्वतीजी महाराज)

भारतीय अध्यात्मपरम्परा एवं संस्कृत वाङ्मयके आस्तिक दर्शनोंमें योगका स्थान अप्रतिमरूपसे स्वीकार किया गया है। मनुष्य-शरीरका परम प्रयोजन सकल दुःखनिवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति है। केनोपनिषद्में स्पष्टरूपसे स्वीकार किया गया है कि '**इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः**' अर्थात् इस मानव-शरीरमें यदि परमतत्त्वका बोध हो गया तो मानव-शरीर सार्थक हो गया अन्यथा मानो महान् विनाश या सर्वनाश हो गया। ऐसा होनेपर चौरासी लक्षयोनियोंके चक्रमें पुनः जाना पड़ेगा।

परमतत्त्वबोधके लिये योग उत्तम साधन है। भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भागवतमहापुराणके एकादश स्कन्धमें कहते हैं—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

अर्थात् मानवके परम कल्याण (मुक्ति) के लिये मैंने ज्ञान और कर्म एवं भक्ति नामक तीन योगोंका कथन किया है।

कठोपनिषद्में भी योगकी परमोपादेयताका वर्णन इस प्रकार मिलता है—'**अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति**' (१। २। १२)। '**आत्मनि चित्तस्य समाधानमध्यात्मयोगः, तस्य लाभेन धीरो योगी हर्षशोकौ जहाति**'—भाव यह कि समाहित-चित्त धीर पुरुष योगके द्वारा स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूपका साक्षात्कार कर हर्ष-शोकरूप प्रपञ्चका त्याग करता है—मुक्त हो जाता है। इस प्रकार अध्यात्मपथमें योगके बिना प्रवेश परम दुर्लभ है।

योगस्वरूप-विवेचन

मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग एवं राजयोग-भेदसे योगके विविध भेद हैं। मन्त्रयोगसे महाभावसमाधि, हठयोगसे

महाबोधसमाधि, लययोगसे महालयरूपी समाधिका उदय होता है। ये तीनों राजयोगके साधन हैं। पातञ्जलयोगदर्शनमें वर्णित योग राजयोग है।

योगका अर्थ

योजन, योग, समाधि आदि शब्द योगके पर्याय हैं। वसिष्ठजीने योगवासिष्ठमें चित्तवृत्तिनिरोधको योगका स्वरूप बतलाया है—

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव।
योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥

'हे राघव! चित्त-नाशके केवल दो मार्ग हैं—योग और ज्ञान। चित्त-वृत्तिके निरोधको योग और आत्मतत्त्वके सम्यक् अवेक्षणको ज्ञान कहते हैं। भगवान् पतञ्जलिने योगका लक्षण करते हुए कहा है—'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**'

चित्तकी क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध नामक पाँच अवस्थाएँ होती हैं। अन्तिम दो—एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाएँ योगकी हैं।

'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**'— इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए नागोजि भट्ट लिखते हैं—'**चित्तस्यान्तःकरणस्य वक्ष्यमाणा या वृत्तयस्तासां निरोधो निवर्तनं योग इत्यर्थः। वृत्तिनिवर्तनं च जीवनयोनिप्रयत्नवदतीन्द्रियो यत्नविशेषं चित्तनिग्रहरूपो वृत्तिविलयहेतुः। चित्तवृत्तिसंस्कारशेषावस्था वा···· न तु वृत्त्यभाव एव, वक्ष्यमाणसंस्कारजनकत्वानुपपत्तेः।**

अर्थात् अन्तःकरणकी वृत्तियोंका लय योग है और वह सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात-भेदसे दो प्रकारका है। '**सम्यग्ज्ञायते साक्षात्क्रियते ध्येयतत्त्वमस्मिन्निति सम्प्रज्ञातः।**' ध्येयतत्त्वका समीचीनतया साक्षात्कार जिस समाधिमें हो वह सम्प्रज्ञात है। सम्प्रज्ञात समाधि सबीज समाधि तथा सविकल्प समाधि आदि नामोंसे भी व्यवहृत होती है। दूसरे शब्दोंमें ध्येय-साक्षात्काराख्य-फलोपहितचित्तवृत्ति-निरोधरूप चित्तकी अवस्था-विशेषका नाम सम्प्रज्ञात योग है।

चित्तकी पाँच अवस्थाओंमेंसे एकाग्रावस्थामें सम्प्रज्ञात योग होता है। योगदर्शनके सिद्धान्तानुसार चित्त स्वतः सर्वार्थग्रहणक्षम एवं विभु होता है। तथापि तमोगुणसे आवृत होनेसे सदा समस्त वस्तुओंके साक्षात्कारमें समर्थ नहीं होता। एकाग्रावस्थामें तमोरजके क्षीण होनेके कारण सत्त्वमात्रके उद्रेकसे चित्त वस्तु-साक्षात्कार करनेमें समर्थ हो जाता है—योगसारमें विज्ञानभिक्षु लिखते हैं—'**चित्तं हि स्वत एव सर्वार्थग्रहणक्षमं विभु च भवति।**'

असम्प्रज्ञात समाधि, निर्बीज समाधि तथा निर्विकल्प समाधि ये समानार्थक शब्द हैं। चित्तकी निरुद्धावस्थामें समस्त वृत्तियोंके निरोध हो जानेपर, संस्कारमात्र शेष रहनेपर चित्तकी पञ्चमावस्थामें असम्प्रज्ञात समाधिकी स्थिति आती है—इसी बातको भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—'**विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।**'

तात्पर्य यह कि परवैराग्यपूर्वक जब समस्त वृत्तियोंके निरोध हो जानेपर चित्त संस्कारमात्र अवशिष्ट रहता है तो इस अवस्थाको असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

अध्यात्मपथानुयायियोंको यह बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये कि योगसे श्रेष्ठ परमात्मप्राप्तिपूर्वक जीवन्मुक्तिमें सहायक प्रायः अन्य कोई विशिष्ट साधन नहीं है। अध्यात्म-विद्यामें योग शरीर है, भक्ति प्राण है और ज्ञान आत्मा है। शरीरमें ही प्राण एवं आत्माकी अभिव्यक्ति या उपलब्धि होती है। चित्तादिका मल योग-साधनके बिना कथमपि निवृत्त नहीं हो सकता और जबतक मलादि निवृत्त नहीं होंगे, तबतक भक्ति आदिकी उपलब्धि सर्वथा असम्भव है। अतः कल्याण-प्रेप्सुजनोंको किसी वास्तविक योगी गुरुका सांनिध्य-लाभ कर साधनतत्पर होना चाहिये।

दूसरे किसीमें भी ममता न रहकर एक भगवान्‌में जो अनन्य ममता होती है, उसीको प्रेम कहते हैं। इसी प्रेमको भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव और नारद आदिने भक्ति बतलाया है।—नारदपाञ्चरात्र

जो किसी प्रकारके भयमें पड़ा हुआ है, जो मेरा भक्त है, जो कहीं आश्रय न मिलनेसे आर्त हो रहा है, जो हीन दशाको प्राप्त है, जो अपने प्राण बचाना चाहता है, ऐसे किसीको मैं कदापि नहीं त्याग सकता, इसमें मेरे प्राण भले ही चले जायँ। यह मेरा नित्य-व्रत है।—धर्मराज श्रीयुधिष्ठिर

दर्शनोंके परिप्रेक्ष्यमें योगका स्वरूप और महत्त्व

(दण्डी स्वामी श्री१०८ श्रीविपिनचन्द्रानन्द सरस्वतीजी महाराज, 'जज स्वामी')

(१) योग और योगाङ्ग—जीव और शिवका मिलना योग है। शिव और शक्तिका मिलना योग है। भक्त और भगवान्‌का मिलना योग है। वृत्तिका भगवदाकार होना योग है। वृत्तिका आत्माकार होना योग है। ऐसा होनेपर भी वृत्तिका विषयाकार होना भोग है। योगदर्शनके अनुसार योगके आठ अङ्ग हैं—(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान और (८) समाधि। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१-यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं। (योगसूत्र २। ३०, विष्णुपुराण ६। ७। ३६)। देहेन्द्रियोंमें वैराग्यको यम कहा गया है—

'देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः'

(त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २८)।

२-नियम—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच नियम हैं। (योगसूत्र २। ३२, वि०पु० ६। ७। ३७)। परम तत्त्वमें सतत अनुरक्ति नियम है—

'अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः'

(त्रि० ब्रा० २९)।

३-आसन—ध्यानाभ्यासके उपयुक्त स्थिर और सुखदायी सिद्ध, पद्म, सिंह और भद्रादि आसन हैं। द्वन्द्व-सहिष्णुता, प्राणायामकी योग्यता और अनात्मवस्तुओंमें उदासीनता आसन-सिद्धिके फल हैं—**'ततो द्वन्द्वानभिघातः'** (योग०सू० २। ४८), **'सर्ववस्तुन्युदासीनभावमासनमुत्तमम्'** (त्रि०ब्रा०२९)।

४-प्राणायाम—श्वास-प्रश्वासकी गतिका विच्छेद (रोकना) प्राणायाम है। **'तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गति-विच्छेदः प्राणायामः'** (यो०सू०२। ४९)। बाह्यवृत्ति (रेचक), आभ्यन्तरवृत्ति (पूरक) और स्तम्भवृत्ति (कुम्भक)-भेदसे प्राणायाम तीन प्रकारका होता है। (यो०सू०२। ५०)। जैसे वायुयोगसे आग राख आदि आवरणसे रहित होकर प्रज्वलित होती है, वैसे ही प्राणायामके योगसे ज्ञान आच्छादक तमसे रहित (अनभिभूत) होकर अविप्लव-विवेक-ख्यातिके अभिमुख होता है। नाडी-शोधनमें प्राणायामका मुख्य उपयोग है। यम, नियम जिसके जीवनमें प्रतिष्ठित हैं, आसन जिसका सुस्थिर है, नाडी जिसकी शुद्ध है उसका प्राणायाममें प्रशस्त अधिकार है—**'यमनियमाभ्यां संयुक्तः पुरुषः प्राणायामं चरेत् तेन नाड्यः शुद्धा भवन्ति।'** (शाण्डिल्योपनिषद् ३), **'यमैश्च नियमैश्चैव आसनैश्च सुसंयतः। नाडीशुद्धिं च कृत्वादौ प्राणायामं समाचरेत्॥'** (त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् ५३)। यम, नियम, आसनके द्वारा आंशिक नाडीशोधनके अनन्तर प्राणायाम प्रारम्भ करना चाहिये। प्राणायामसे नाडियोंकी विशेष शुद्धि होती है।

५-प्रत्याहार—चित्तका अन्तर्मुख होना प्रत्याहार है। इन्द्रियोंका अपने विषयोंके साथ सम्बन्ध न होनेपर चित्तके रूपका अनुकरण-जैसा करना प्रत्याहार है। **'चित्तस्यान्त-र्मुखीभावः प्रत्याहारस्तु सत्तम।'** (त्रि०ब्रा० ३०), **'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः'** (यो० सू० २। ५४)।

६-धारणा—चित्तको एकदेश (स्थान) पर स्थिर रखना धारणा है—**'चित्तस्य निश्चलीभावो धारणा धारणं विदुः'** (त्रि० ब्रा० ३१), **'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'** (यो० सू० ३। १)।

७-ध्यान—धारणाके विषयमें चित्तवृत्तिकी एकतानता ध्यान है (यो०सू० ३। २)।

८-समाधि—ध्यानकी सम्यक्-विस्मृति समाधि है—**'ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक्समाधिरभिधीयते'** (त्रि०ब्रा०३२)। अभिप्राय यह है कि ध्येयमात्रकी स्फूर्ति और चित्तविस्मृतिका नाम समाधि है—**'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः'** (यो०सू० ३। ३)।

(२) लोकव्यवहारमें योग—व्यवहार हो या परमार्थ मनकी एकाग्रता, तन्मयता, समवधानता सर्वत्र अपेक्षित है। योगिराज दत्तात्रेयजी महाराजने कर्तव्यपालनमें तन्मयताकी शिक्षा बाण बनानेवालेसे ली। अहिंसा, सत्यादि पञ्च यमोंकी जिसके जीवनमें प्रतिष्ठा न हो और शौच, संतोषादि पञ्चनियमोंसे जो सुदूर हो, वह लोकमें निन्दित होता है और उसकी आत्मा भी उसे कोसती है। जिसकी वागादि कर्मेन्द्रियाँ अचञ्चल हों, श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ संयत हों, सिद्ध-पद्म, सुखादि आसनोंका आलम्बन लेकर जो बैठनेमें समर्थ हो, प्राणापानादि जिसके

संयत हों, इन्द्रियाँ जिसकी अन्तर्मुख हों, चित्त जिसका केन्द्रित हो तथा ध्येयप्रवण और ध्येयमात्र होनेमें समर्थ हो, वही लोकमें चरमोत्कर्ष प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।

(३) दर्शन-संदर्भमें योग—चार्वाकमतमें अभीष्ट विषयका अभीष्ट इन्द्रियके साथ अभीष्ट संयोग सुखद होनेसे योग है। बौद्धदर्शनमें सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-सङ्कल्प, सम्यक्-वचन, कर्मान्त (पञ्चशील, दशशील), सम्यक्-आजीव, सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति तथा सम्यक्-समाधि—ये अष्टाङ्ग मार्ग हैं। इनमें पञ्चशील पञ्च 'यम'-तुल्य है। सम्यक्-आजीव 'नियम'-तुल्य है। सम्यक्-व्यायाम 'आसन' और 'प्राणायाम'-तुल्य है। सम्यक्-वचन 'प्रत्याहार'-तुल्य है। सम्यक्-सङ्कल्प 'धारणा'-तुल्य है। सम्यक्-दृष्टि 'ध्यान'-तुल्य है। माध्यमिक (शून्यवाद), योगाचार (क्षणिक विज्ञानवाद), सौत्रान्तिक (बाह्यानुमेयवाद) और वैभाषिक (बाह्य प्रत्यक्षवाद)—इन चारों प्रकारके बौद्धोंके मतमें रागादि ज्ञानकी परम्परारूपी वासनाका उच्छेद अभीष्ट है—

रागादिज्ञानसंतानवासनोच्छेदसम्भवा ।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता ॥

(विवेक-विलास ८। २७४)

रागादिकी निवृत्तिके लिये योगालम्बन परमावश्यक है। वेदान्तियोंका विज्ञान (विज्ञानमय) विज्ञानवादी बौद्धोंका आत्मा है। वही लौकिक-पारलौकिक सभी कर्मोंका निर्वाह करता है। कर्म विज्ञानपूर्वक होता है। विज्ञानवान् कर्ता होता है। विज्ञानमयका आत्मा (हृदय) योग है। **'योग आत्मा'** (तैत्तिरीयोपनिषद् २। ५। १)। युक्ति (समाधान) योग है। युक्त (समाहित) यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।

जैनमतमें सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चरित्र—ये त्रिरत्ननामक मोक्षमार्ग हैं। **'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'** (तत्त्वाधिगम-सूत्र १। १)। इसमें सम्यक्-चरित्रका अर्थ है—पापके सम्बन्धका सर्वथा त्याग। अहिंसादि पञ्च यम सम्यक्-चरित्रके भेद हैं। अहिंसादि प्रत्येक व्रतकी पाँच-पाँच भावनाएँ हैं। इस प्रकार जैनमतमें योगाङ्गोंका विशेष महत्त्व है।

वैशेषिक-दर्शनमें आत्मस्वरूपमें स्थित निष्क्रिय और निर्दुःख-मनःस्थिति योग है। प्रकारान्तरसे चित्तनिरोध योग है। अथवा सुख-दुःखके आरम्भसे रहित आत्मस्वरूपमें ध्यानमग्न मनकी दुःखाभावके उपयुक्त स्थिति योग है। अथवा सुख-दुःखके आरम्भसे रहित आत्मस्वरूपमें स्थित मनके योगसे जिस अवस्थामें देह-विशिष्ट आत्माको दुःख नहीं होता, वह योग है। अथवा योगाभ्यासके अनन्तर क्रियाशून्य प्राणरूप आत्मामें मनःस्थितिके प्रभावसे देहावच्छिन्न आत्माकी दुःखरहित स्थिति योग है—**'तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः स योगः'** (५। २। १६)।

न्यायशास्त्रमें योगदर्शनके अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशरूप पञ्चविध क्लेशोंका राग, द्वेष और मोहके रूपमें वर्णन किया गया है। आत्मसाक्षात्कारसे इनकी निवृत्ति होती है। ध्यानकी परिपक्वता आत्मसाक्षात्कारमें हेतु है—

'ध्यायिनो ध्यानपरिपाकवशात् साक्षात्कृतात्मनः।'

(तर्कभाषा)

पूर्वसञ्चित धर्माधर्मकी योगालम्बनसे जानकारी प्राप्त कर योगबलसे कायव्यूहकी रचनाकर शुभाशुभ कर्मोंका फलोपभोग मोक्षमें अविलम्ब हेतु है—

पूर्वोपात्तं च धर्माधर्मप्रचयं योगर्द्धिप्रभावाद्विदित्वा समाहृत्य युञ्जानस्य पूर्वकर्मनिवृत्तौ····।' (तर्कभाषा)

इस प्रकार न्यायशास्त्रमें योगका अत्यन्त महत्त्व है।

सांख्यसूत्रमें योगियोंके अतीत, अनागत और व्यवहित वस्तुके प्रत्यक्षका वर्णन किया गया है। योगियोंका प्रत्यक्ष बाह्य प्रत्यक्षसे भिन्न होता है। उन्हें अतीत और अनागतरूप लीन और अतीन्द्रिय पदार्थका भी बुद्धिवृत्तिरूप विज्ञानसे संनिकर्ष प्राप्त होता है—

'योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः' (१। ९०)
'लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः'। (१। ९१)

आत्म-श्रवणके बाद मनन, निदिध्यासन (ध्यान), अन्तराय ध्वंसके लिये मान्य है। यद्यपि पुरुष असङ्ग है तथापि अविवेकवश जपा-स्फटिकके तुल्य उसमें बुद्धिधर्मोंका उपराग होता है। उपरागका अर्थ है वृत्तिसारूप्य। वृत्तिरूप विक्षेप और वृत्तिशून्य संस्काररूपमें अवशिष्ट चित्तरूप बिम्बका निरोध होनेपर प्रतिबिम्बात्मक उपरागका भी निरोध होता है। इसके लिये ध्यान, धारणा, प्रत्याहार, प्राणायाम, आसन, अभ्यास,

वैराग्यादि अपेक्षित हैं।

सांख्यकारिका (६४) के अनुसार पुनः-पुनः तत्त्वचिन्तन निदिध्यासन है। निदिध्यासनरूप अभ्याससे अनात्मवस्तुओंमें अहंता-ममताकी निवृत्तिरूप कैवल्यज्ञान उत्पन्न होता है—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्याद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥

योगदर्शनके अनुसार चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग (समाधि) से वृत्ति-सारूप्य भङ्ग होनेपर द्रष्टाकी स्वरूपस्थिति होती है। यद्यपि वृत्तिदशामें भी द्रष्टा वृत्तिके उपरागसे रहित ही होता है, परंतु इस तथ्यकी अनुभूति समाधिजन्य विवेक-ख्यातिसे ही सम्भव है। विवेकख्यातिमें प्रतिबन्धक्षय और वृत्तिसारूप्यकी निवृत्तिके लिये योगालम्बन अपेक्षित है।

पूर्वमीमांसाके अनुसार अनुष्ठानसे (प्रयोगसे) सम्बद्ध (समवेत) द्रव्य, देवतादि-रूप अर्थके स्मारक मन्त्र होते हैं। **'मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्'** इस नियमविधिके अनुसार अर्थस्मरणरूप दृष्टफल प्रकारान्तर (ब्राह्मणवाक्यों) से करना उचित नहीं है। **'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट् करिष्यन्'** (ऐतरेय ब्राह्मण० ११।८।१)। **'सन्ध्यां मनसा ध्यायेत्'** (ऐ० ब्रा० ३।८।१)।

—आदि श्रुतियोंके अनुसार देवताका ध्यान कर्तव्य है। देवताके स्मरणसे द्रव्यशुद्धि कर्तव्य है। शुद्ध द्रव्य अभिमत देवताके प्रति समर्पित होता है। देवतोद्देश्यसे समर्पित द्रव्य अभ्युदय-निःश्रेयसकी सिद्धिमें परम्परासे हेतु है—

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयप्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन॥

(श्लोकवार्तिक)

—के अनुसार वेदान्तविचारसे आत्मप्रबोध होता है।

युक्तस्य ब्रह्मचर्याद्यैरङ्गैः शमदमादिभिः।
कुर्वाणस्यात्ममीमांसां वेदान्तोक्तेन वर्त्मना।
मुक्तिः सम्पद्यते सद्यो नित्यानन्दप्रकाशिनी॥

(मीमांसामानमेयोदय, प्रमेय २७, २८)

—के अनुसार ब्रह्मचर्य, शमादिसम्पन्न साधक वेदान्त-मार्गसे आत्मविचारके द्वारा मोक्षलाभ करता है। इस प्रकार ध्यान, शम, दम, ब्रह्मचर्यादिरूप योगाङ्ग मीमांसकोंके मतमें अभ्युदय और निःश्रेयसमें परमोपयोगी हैं।

उत्तरमीमांसा (वेदान्त-दर्शन) के अनुसार योगदर्शनमें सांख्योक्त पदार्थोंकी गणनाको छोड़कर जो अष्टाङ्गयोगका वर्णन है, वह वेदान्त (उपनिषद्) सम्मत होनेसे ग्राह्य है।

'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृहदा० २।४।५)—इस श्रुतिमें निदिध्यासन विहित है। वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्यके अनुसार—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥

(बृहदा० भाष्यवार्तिक श्लोक १०८३)

—श्रुतिवाक्योंद्वारा आत्मस्वरूपका श्रवण कर अनेक युक्ति, अनुमान और उपपत्तियोंके द्वारा उस स्वरूपका निरन्तर ध्यान करना चाहिये। ब्रह्मात्मतत्त्वका ध्यान विहित है। श्रुतिके अनुसार मैं वह चिन्मात्र ब्रह्म ही हूँ—ऐसा चिन्तन ध्यान है।

'सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते।'

(त्रि० ब्रा० ३१)

'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्' (श्वेता० २।८)

'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्'

(कठ०२।६।१८)

'विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्'

(कठ०२।६।१८)

'अथ तत्त्वदर्शनोपायो योगः'

(योगशास्त्र)

'वक्षःस्थल, ग्रीवा और सिर—ये तीन जिसमें उन्नत रखे जाते हैं, उस त्रिरुन्नत शरीरको समान-भावसे रखकर योगका अभ्यास करे', 'उस स्थिर इन्द्रिय-धारणको ही योग कहते हैं', 'इस ब्रह्मविद्या और सम्पूर्ण योगविधिको पाकर नचिकेता ब्रह्मभावको प्राप्त हो गया', 'तत्त्वदर्शनका साधन योग है' आदि श्रुति-स्मृतियोंके द्वारा समर्थित योग तत्त्वज्ञान और तत्त्वनिष्ठाके लिये परमोपयोगी है। सगुण-निर्गुणोपासना सविकल्प-निर्विकल्प समाधिके क्रमसे मोक्षोपयोगी है।

४-शांकर वेदान्तमें योगका स्वरूप और महत्त्व— शांकर वेदान्तमें सम्यग्दर्शननिष्ठारूप योगका फल मोक्ष है। मोक्षमें प्रतिबन्धक मल-विक्षेपके वारणके लिये निदिध्यासन (ध्यान) रूप योगकी आवश्यकता है। उससे चित्त निर्मल

और शान्त होता है। निर्मल और शान्त चित्तको विशुद्ध कहते हैं। ध्यानयोगके प्रत्याहारादि अन्तरङ्ग और कर्मासक्ति, फलासक्ति, अहङ्कृतिको शिथिल कर धृत्युसाहपूर्वक भगवदर्थ स्वधर्मपालन बहिरङ्ग साधन हैं। इस प्रकार धर्मानुष्ठानसे वैराग्य, वैराग्यसे योगाभ्यास, योगाभ्याससे एकाग्रता, एकाग्रतासे ज्ञाननिष्ठा और ज्ञाननिष्ठासे मोक्ष यह क्रम शांकर-प्रस्थानमें मान्य है। यथा—

'ज्ञाननिष्ठालक्षणः स संन्यासः कर्मयोगोपायो योगः'

(गीता ४। १, शांकरभाष्य)

'न हि अस्य सम्यग्दर्शननिष्ठालक्षणस्य मोक्षाख्यं फलं व्येति'

(गीता ४। १, शांकरभाष्य)

भगवत्पाद शंकराचार्य ऐसा मानते हैं कि अत्यन्त वैराग्यवान् समाधिलाभ करता है। समाहित ही दृढ़ बोध-लाभ करता है। दृढ़ बोधसे ही भवबन्धनकी निवृत्ति होती है। मुक्तात्माको नित्य सुखानुभूति होती है—

अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः समाहितस्यैव दृढप्रबोधः।
प्रबुद्धतत्त्वस्य हि बन्धमुक्तिर्मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूतिः॥

(विवेकचूडामणि ३७६)

साथ ही समाधिद्वारा चित्त निश्चल और ज्ञाननेत्र विकसित होता है। आत्मदर्शन स्फुट सम्भव है। श्रुत पदार्थ नेत्रोंमें अनुभूत होनेपर उसके विषयमें कोई संदेह नहीं रह जाता।

समाधिना साधु विनिश्चलात्मना पश्यात्मतत्त्वं स्फुटबोधचक्षुषा।
निःसंशयं सम्यगवेक्षितश्चेच्छ्रुतः पदार्थो न पुनर्विकल्पते॥

(विवेकचूडामणि ४७४)

श्रीशंकराचार्यजीका अद्वैत सम्प्रदाय और उनकी साधनामें योगकी प्रधानता

(अनन्तश्रीविभूषित तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीजयेन्द्रसरस्वतीजी महाराज)

श्रीशंकराचार्यजीके अद्वैतसिद्धान्तका सारसंग्रह है—**'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।'** आचार्यके कथनका भाव यह है कि भारतवर्षके अनन्तकोटि ग्रन्थोंमें विस्तारसे जिन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन हुआ है, उनका सारांश यह है कि केवल परमात्मा ही त्रिकालाबाधित सत्य है, मायामय विश्व क्षणभङ्गुर एवं मिथ्या है और विविध प्रकारके जीव भी एक तत्त्वघनीभूत परमात्मा या ब्रह्म ही है। इस शांकर सिद्धान्तकी प्रमुख विशेषता है कि यह महान् परमात्माके उच्छ्वास-स्वरूप वेदोंके शिखाभूत ईशावास्य, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ईश, केन और कठ आदि उपनिषदोंसे प्रतिपादित है, उसी प्रकार इसके अधिगमनका मार्ग भी उन्हींसे विशदीकृत है। यही गीतामें भी भगवान्‌के द्वारा स्वयं उपदिष्ट है तथा भगवान् वेदव्यासमुनिके द्वारा ब्रह्मसूत्र या वेदान्त-दर्शनमें सूत्र-रूपसे उपदिष्ट है। वही भगवान् आद्य शंकराचार्यद्वारा स्वकीय भाष्यग्रन्थों तथा अन्य विवरण-स्तोत्र आदि ग्रन्थोंमें सुप्रतिष्ठित, उपबृंहित तथा विस्तारसे प्रतिपादित हुआ है। यही कारण है कि यह अद्वैत सिद्धान्त शांकर-सम्प्रदायके नामसे भी संसारमें प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदायकी मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

ब्रह्म—जो अनादि, अनन्त, नित्य एक ही वस्तु, निस्संग, निर्गुण, निष्क्रिय, अद्वितीय, अपरिच्छिन्न, परिपूर्ण, सत्, चित्, आनन्दात्मक है, वही एकमात्र पारमार्थिक सत्य है तथा 'ब्रह्म' के नामसे व्यवहृत होता है।

माया—इसीसे अनादि-सम्बन्धयुक्ता, त्रिगुणात्मिका, अनिर्वचनीया, कार्यानुमेया, जडात्मिका, महाद्भुता जो शक्ति है, वही माया है। इसके दो रूप होते हैं—एक व्यापक, जिसका नाम माया है तथा दूसरा व्याप्य, जिसका नाम है अविद्या। इसीका अपर नाम है अन्तःकरण। मायाकी दो शक्तियाँ हैं—आवरणशक्ति तथा विक्षेपशक्ति।

ईश्वर—स्वयंप्रकाश शुद्धचैतन्य परंब्रह्म जब शुद्धसत्त्व-प्रधानभूत मायामें प्रतिबिम्बित होता है, तब सर्वशक्त परमेश्वर बन जाता है। तमोगुणात्मक आवरण-शक्तिसे चैतन्यके आवृत हो जानेपर रजोगुणात्मिका विक्षेपशक्ति विजृम्भित हो उठती है। उस आत्मा यानी शुद्ध चैतन्यसे आकाश उत्पन्न होता है तथा उससे वायु आदि क्रमसे आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त, जड-चेतनात्मक असंख्य जीवगणोपेत स्थूल, सूक्ष्म, कारणात्मक त्रिविध

शरीरमय जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्त्यात्मक त्रिविध अवस्थासंयुक्त पञ्चकोशात्मक चतुर्योनिमय अनिर्वचनीय प्रपञ्चके रूपमें मायाका परिणाम होता है। यह परिणाम शुद्ध चैतन्यका विवर्त होता है। यानी यह सब प्रपञ्च एकमात्र शुद्धचैतन्यमें अधिष्ठित यानी कल्पित तथा भ्रमात्मक होता है।

जीव—मलिन सत्त्वप्रधानभूत अविद्यात्मक अन्तःकरणमें शुद्धचैतन्यका जो प्रतिबिम्ब होता है, वही जीवत्व प्राप्त करता है। यह भी अनादि है। आवरण-शक्तिसे आवृत हो जानेसे शुद्ध वस्तुका ज्ञान नहीं होता। सत्तारूपमें भी नहीं समझ पड़ता। अन्तःकरण तथा जीवके अन्योन्याध्यासकी प्रबलतासे (अयो दहतिकी भाँति) एकका धर्म दूसरेके जैसा प्रतीत होता है।

जगत्—ब्रह्मज्ञानात्मक विद्याप्राप्तितक अविद्याकल्पित जगत्का सत्यत्व प्रतीत होता ही रहेगा। ज्ञानके प्राप्त होते-होते जगत् अस्तमित हो जायगा, जगत्की यही स्थिति व्यावहारिक सत्ता कहलाती है। इससे देह-इन्द्रियादिके अध्याससे जीवमें कर्तृत्वबुद्धि सुदृढ़ होती है। तदनुसार इष्ट-अनिष्टात्मक फलभोक्तृत्व भी सुदृढ़ अनुभूत होता है। परंतु सम्पूर्ण निस्संग शुद्ध चेतनात्मकता जीवकी कैसे उचित सिद्ध होगी?

समुचित और सङ्गत बात तो यह है कि अन्तःकरण जड है और जड तत्त्वका कर्तृत्व कभी सम्भव नहीं है। इधर आत्मा असंग है, अतः उसका जड-तत्त्वोंसे सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है।

इसी बातको उपनिषदोंने भी योगका आशय लेकर दूसरे प्रकारसे समझाया है। उनका कथन है कि प्राणीका मन ही बन्धन या मोक्ष दोनोंका कारण बनता है—**'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'** जगत्की व्यक्तताका मूल कारण है मन। अतः जब मनका नाश हो जाता है तब तत्कल्पित बन्ध एवं उसके मूल कारण जगत्की भी निवृत्ति हो जाती है। मनका विनाश कैसे होता है, जैसे सोनेमें मन रहता है, पर मनका भान नहीं होता। परंतु जाग्रत्में मनकी ज्ञान, इच्छा, क्रियात्मक शक्तियोंका कार्यान्वित हो जानेका अनुभव होता ही है। ऐसा होनेपर मन (अन्तःकरण) रहता है—ऐसा समझा जाता है। स्वप्नमें तो स्थूल शरीर-कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियोंका लय हो जाता है, परंतु किस प्रकार इनके सब व्यापार होते रहते हैं? अन्तःकरणमात्रसे जब गहरी नींदमें पड़ जाते हैं, तब अन्तःकरणका भी लय होता है। अतः किसी भी तरह मन आदिके व्यापार नहीं रहते। किंचिदपि ज्ञान नहीं रहता। जाग उठनेपर 'सुखसे सो गया, कुछ भी न समझ पाया'—ऐसा सुखका स्मरण तथा उसके अनुभवका अज्ञान दोनों समझे जाते हैं। स्मरणके उपादान मन एवं बुद्धिके अनुभव हैं। जब मन शुद्ध चैतन्यमें लीन हो जाता है, तब उसकी पुनरुत्पत्ति नहीं हो पाती और वह नित्य-निरन्तर सुखस्वरूप हो जाता है। यही शुद्ध चैतन्यात्मकता है। शुद्ध चैतन्यात्मकता पानेका कौन-सा उपाय है? यही है कि—

अन्तःकरण अविद्याका परिणाम (सत्त्वगुण-प्रधान) है, अतः उसे व्यावहारिक सत्योंसे वियुक्त कर चैतन्य-स्वरूपके ध्यानको प्रवृत्त करना चाहिये। इसकी आधारभूत श्रेणी चारों सोपानोंसे परिष्कृत है। ये हैं विवेक, वैराग्य, शम-दमादि षट्-सम्पत्ति एवं मुमुक्षुता। यदि साधक इन्हें सिद्ध कर सद्गुरुके उपदेशके आधारपर ब्रह्माभिन्नत्वको जानकर श्रवण-मनन-निदिध्यासन—इन तीनोंसे निर्विकल्पक समाधिमें लीन हो जाय और निर्विकल्पक समाधिके चारों विघ्नोंको दूर करके उसीमें स्थिरता पा जाय तो अखण्डाकार-वृत्ति भी ईंधनहीन अग्निके समान स्वयं शान्त हो जायगी। किसी प्रकारकी वृत्तिका भान न होनेसे मनका सर्वथा लय हो जायगा। स्वयं सिद्ध ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति हो जायगी।

योगदर्शनमें भी इन सभी बातोंको **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** अर्थात् इन्हीं साधनोंके द्वारा द्रष्टाके अपने स्वरूपमें अर्थात् ब्रह्मरूपमें स्थित हो जानेकी पद्धति विस्तारसे समझायी गयी है और उन साधनोंसे साक्षात् ब्रह्मके समान ही सर्वज्ञता, परितृप्ति, अनन्तशक्तिमत्ता, शुद्धबुद्धता और परमानन्दता परिपूर्णतः प्राप्त हो जाती है।

दुःखोंकी प्राप्तिसे जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी स्पृहा जिसके मनसे चली गयी है, तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं वही मुनि स्थिरबुद्धि कहलाता है।—श्रीमद्भगवद्गीता

अष्टाङ्ग-योग

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

अनेकों व्यक्ति ध्यान करने और समाधि लगानेकी चेष्टा करते हैं, परंतु उन्हें सफलता नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि समाधिकी सिद्धिके लिये यम-नियमोंके पालनकी विशेष आवश्यकता है। यम-नियमोंके पालन किये बिना ध्यान और समाधिका सिद्ध होना अत्यन्त कठिन है। झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचारकी वृत्तियोंके नष्ट हुए बिना चित्तका एकाग्र होना कठिन है और चित्त एकाग्र हुए बिना ध्यान और समाधि नहीं हो सकते। यों तो समाधिकी इच्छावाले पुरुषोंको योगके आठों ही अङ्गोंका साधन करना चाहिये, किंतु यम और नियमोंका पालन तो अवश्यमेव करना चाहिये। जैसे नींवके बिना मकान नहीं ठहर सकता, ऐसे ही यम-नियमोंके पालन किये बिना ध्यान और समाधिका सिद्ध होना असम्भव-सा है। यम-नियमोंमें भी जो पुरुष यमोंका पालन न करके केवल नियमोंका पालन करना चाहता है, उससे नियमोंका पालन भी अच्छी प्रकार नहीं हो सकता।

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥

(मनुस्मृति ४। २०४)

'बुद्धिमान् पुरुष नित्य-निरन्तर यमोंका पालन करता हुआ ही नियमोंका पालन करे, केवल नियमोंका नहीं। जो यमोंका पालन न करके, केवल नियमोंका करता है वह साधन-पथसे गिर जाता है।' इनका साधन किये बिना ध्यान और समाधिकी सिद्धि होनी कठिन है। अतः योगकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुषको यम-नियमोंका साधन अवश्यमेव करना चाहिये। इनके पालनसे चोरी, जारी, झूठ, कपट आदि दुराचारोंका और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणोंका नाश होकर. अन्तःकरणकी पवित्रता होती है और उसमें उत्तम गुणोंका समावेश होकर इष्टदेवताके दर्शन एवं आत्माका साक्षात्कार भी; साधक जो चाहता है वही हो सकता है। परंतु यम-नियमोंके पालन किये बिना ध्यान और समाधिकी बात तो दूर रही अच्छी प्रकारसे प्राणायामका होना भी कठिन है।

बहुत-से लोग प्राणायामके लिये यत्न करते हैं, किंतु सफलता नहीं पाते। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण एवं झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचार एवं प्राणायाम-विषयक क्रियाके ज्ञानका अभाव ही इस सफलतामें प्रधान बाधक है। यम-नियमोंका पालन करनेसे उपर्युक्त दुराचार और दुर्गुणोंका नाश हो जाता है। अतएव प्राणायामका साधन करनेवालेको भी प्रथम यम-नियमोंका पालन करना चाहिये। उपर्युक्त दुर्गुण और दुराचार सभी साधनोंमें बाधक हैं। इसलिये ध्यान और समाधिकी इच्छा करनेवाले साधकोंको दोषोंका नाश करनेके लिये प्रथम यम-नियमोंका पालन करके ही योगके अन्य अङ्गोंका अनुष्ठान करना चाहिये। जो पुरुष योगके आठों अङ्गोंका अच्छी प्रकारसे साधन कर लेता है, उसका अन्तःकरण पवित्र होनेपर ज्ञानकी अपार दीप्ति हो जाती है, जिससे उसको इच्छानुसार सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं और सिद्धियाँ न चाहनेवाला पुरुष तो क्लेश और कर्मोंसे छूटकर आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर सकता है।

योगके आठ अङ्ग ये हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। (योगदर्शन २। २९)

'यम, नियम, आसन,प्राणायाम,प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं।' इन आठ अङ्गोंकी दो भूमिकाएँ हैं—(१) बहिरङ्ग, (२) अन्तरङ्ग। ऊपर बतलाये हुए आठ अङ्गोंमेंसे पहले पाँचको बहिरङ्ग कहते हैं, क्योंकि उनका विशेषतया बाहरकी क्रियाओंसे ही सम्बन्ध है। शेष तीन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरङ्ग हैं। इसका सम्बन्ध केवल अन्तःकरणसे होनेके कारण इनको अन्तरङ्ग कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने एक साथ इन तीनोंको 'संयम' भी कहा है—'**त्रयमेकत्र संयमः**।' (३। ४)

अब इन आठों अङ्गोंका संक्षिप्त विवेचन किया जाता है।

१-यम

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। (योगदर्शन २। ३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँचोंका नाम यम है।'

(क) किसी भूत-प्राणीको या अपनेको[१] भी मन, वाणी, शरीरद्वारा कभी किसी प्रकार, किञ्चिन्मात्र भी कष्ट न पहुँचानेका नाम अहिंसा है।

(ख) अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जैसा निश्चय किया हो, हितकी भावनासे, कपटरहित प्रिय शब्दोंमें वैसा-का-वैसा ही प्रकट करनेका नाम सत्य है।

(ग) मन, वाणी, शरीरद्वारा किसी प्रकारके भी किसीके स्वत्व (हक) को न चुराना, न लेना और न छीनना अस्तेय है।

(घ) मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले काम-विकारके सर्वथा अभावका नाम ब्रह्मचर्य है।

(ङ) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि किसी भी भोगसामग्रीका संग्रह न करना अपरिग्रह है।

इन पाँचों यमोंका सब जाति, सब देश और सब कालमें पालन होनेसे एवं किसी भी निमित्तसे इनके विपरीत हिंसादि दोषोंके न घटनेसे इनकी संज्ञा 'महाव्रत' हो जाती है।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।

(योगदर्शन २। ३१)

'जाति, देश, काल और निमित्तसे अनवच्छिन्न यमका सार्वभौम पालन महाव्रत होता है।' सार्वभौमके निम्नलिखित प्रकार हैं—

मनुष्य और मनुष्येतर स्थावर-जङ्गम प्राणी, हिन्दू-मुसलमान, सनातनी-असनातनी आदि भेदोंसे किसीके साथ भी यमोंके पालनमें भेद न करना 'जातिगत सार्वभौम' महाव्रत है।

भिन्न-भिन्न खण्डों, देशों, प्रान्तों, ग्रामों, स्थानों एवं तीर्थ-अतीर्थ आदिके भेदसे यमके पालनमें किसी प्रकारका भेद न रखनेसे वह 'देशगत सार्वभौम' महाव्रत होता है।

वर्ष, मास, पक्ष, सप्ताह, दिवस, मुहूर्त, नक्षत्र एवं पर्व-अपर्व आदिके भेदोंसे यमके पालनमें किसी प्रकार भी भेद न रखना 'कालगत सार्वभौम' महाव्रत कहलाता है।

यज्ञ, देव-पूजन, श्राद्ध, दान, विवाह, न्यायालय, क्रय-विक्रय, आजीविका आदिके भेदोंसे यमके पालनमें किसी प्रकारका भेद न रखना 'समय (निमित्त) गत सार्वभौम' महाव्रत है। तात्पर्य यह है कि किसी देश अथवा कालमें, किसी जीवके साथ, किसी भी निमित्तसे, हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदिका आचरण न करना तथा परिग्रह आदि न रखना 'सार्वभौम महाव्रत' है।

२-नियम

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

(योगदर्शन २। ३२)

'पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्राणिधान— ये पाँच नियम हैं।'

(क) पवित्रता दो प्रकारकी होती है— (१) बाहरी और (२) भीतरी। जल-मिट्टीसे शरीरकी, स्वार्थ-त्यागसे व्यवहार और आचरणकी तथा न्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त सात्त्विक पदार्थोंके पवित्रतापूर्वक सेवनसे आहारकी, यह बाहरी पवित्रता है। अहंता, ममता, राग-द्वेष, ईर्ष्या, भय और काम-क्रोधादि भीतरी दुर्गुणोंके त्यागसे भीतरी पवित्रता होती है।

(ख) सुख-दुःख, लाभ-हानि, यश-अपयश, सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदिके प्राप्त होनेपर सदा-सर्वदा संतुष्ट—प्रसन्नचित्त रहनेका नाम संतोष है।

(ग) मन और इन्द्रियोंके संयमरूप धर्म-पालन करनेके लिये कष्ट सहनेका और तितिक्षा एवं व्रतादिका नाम तप है।

(घ) कल्याणप्रद शास्त्रोंका अध्ययन और इष्टदेवके नामका जप तथा स्तोत्रादि पठन-पाठन एवं गुणानुवाद करनेका नाम स्वाध्याय है।

(ङ) ईश्वरकी भक्ति अर्थात् मन-वाणी और शरीरद्वारा ईश्वरके लिये, ईश्वरके अनुकूल ही चेष्टा करनेका नाम ईश्वर-प्रणिधान है।

उपर्युक्त यम और नियमोंके पालनमें बाधक हिंसा आदि विपरीत वृत्तियोंके नाशके लिये महर्षि पतञ्जलि उपाय बतलाते हैं—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।

(योगदर्शन २। ३३)

१-स्वधर्मरक्षा, परोपकार, ईश्वरभक्ति आदि सत्कार्योंमें कष्ट सहन करना तो योगकी सिद्धिमें सहायक है, यहाँ केवल अशास्त्रीय, अनुचित कष्ट पहुँचानेका निषेध है।

हिंसादि वितर्कोंसे बाधा होनेपर प्रतिपक्षका चिन्तन करना चाहिये।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोध-मोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।

(योगदर्शन २।३४)

कृत, कारित और अनुमोदित-भेदसे, लोभ, क्रोध और मोहके हेतुसे मृदु, मध्य और अधिमात्रस्वरूपसे ये हिंसादि वितर्क अनन्त दुःख और अज्ञानरूपी फलके देनेवाले हैं—ऐसी भावनाका नाम 'प्रतिपक्षभावना' है।

अर्थात् हिंसादि दोष, अनन्त दुःख और अनन्त अज्ञानरूप फलके देनेवाले हैं, इस प्रकारकी बारंबार भावना करनेका नाम 'प्रतिपक्षभावना' है।

हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, भोगपदार्थोंका संग्रह, अपवित्रता और असंतोषकी वृत्ति एवं तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधानके विरोधकी वृत्ति इनका नाम वितर्क है।

उपर्युक्त हिंसादिको मन, वाणी, शरीरद्वारा स्वयं करनेका नाम 'कृत', दूसरोंके द्वारा करवानेका नाम 'कारित' और अन्योंद्वारा किये जानेवाले हिंसादि दोषोंके समर्थन, अनुमोदन या उनमें सम्मतिका नाम 'अनुमोदित' है। उपर्युक्त तीनों प्रकारके हिंसादि समस्त दोषोंके होनेमें लोभ, क्रोध और मोह—ये तीन हेतु हैं। तीनों प्रकारके दोष तीन हेतुओंसे बननेवाले होनेके कारण नौ तरहके हो जाते हैं। आसक्ति या कामनासे उत्पन्न होनेवाले हिंसा, असत्यादि दोषोंमें लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, वैरादिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंमें क्रोध और मूढ़ता, विपरीत-बुद्धि आदिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंमें मोह हेतु होता है। ये नौ प्रकारके दोष मृदु, मध्य और अधिमात्रके भेदसे सत्ताईस प्रकारके हो जाते हैं। अत्यन्त अल्पका नाम मृदु, बीचकी मात्राका नाम मध्य और अधिक मात्रामें यानी पूर्णरूपसे होनेवाले हिंसादि दोषका स्वरूप अधिमात्र कहा जाता है।

यम-नियमोंके पालनका महान् फल

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।

(योगदर्शन २।३५)

अहिंसारूपी महाव्रतके पूर्ण पालन होनेपर उस योगीके समीप दूसरे (स्वाभाविक वैर रखनेवाले) प्राणी भी वैरका अर्थात् हिंसावृत्तिका त्याग कर देते हैं।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

(योगदर्शन २।३६)

सत्यके अच्छी प्रकार पालनसे उस सत्यवादीकी वाणी सफल हो जाती है, अर्थात् वह जो कुछ कहता है वही सत्य हो जाता है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।

(योगदर्शन २।३७)

चोरीकी वृत्तिका सर्वथा त्याग हो जानेपर उसे सब रत्नोंकी उपस्थिति हो जाती है, अर्थात् समस्त रत्न उसके दृष्टिगोचर हो जाते हैं और समस्त जनता उसका पूर्णरूपसे विश्वास करने लग जाती है।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।

(योगदर्शन २।३८)

ब्रह्मचर्यका अच्छी प्रकारसे पालन होनेपर शरीर, मन और इन्द्रियोंमें अत्यन्त सामर्थ्यकी प्राप्ति हो जाती है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।

(योगदर्शन २।३९)

अपरिग्रहके स्थिर होनेपर यानी विषय-भोग-पदार्थोंके संग्रहका भलीभाँति त्याग होनेपर, वैराग्य और उपरति होकर मनका संयम होता है और मनःसंयमसे भूत, भविष्यत्, वर्तमान जन्मोंका और उनके कारणोंका ज्ञान हो जाता है।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

(योगदर्शन २।४०)

पूर्णतया बाहरकी पवित्रतासे अपने अङ्गोंमें घृणा और अन्य मनुष्योंके संसर्गका अभाव हो जाता है। क्योंकि दूसरे शरीरोंमें अरुचि हो जानेसे उनका संसर्ग नहीं किया जाता।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।

(योगदर्शन २।४१)

अन्तःकरणकी पवित्रतासे मनकी प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियोंपर विजय और आत्माके साक्षात् दर्शन करनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

संतोषादनुत्तमसुखलाभः। (योगदर्शन २।४२)

संतोषसे सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

(योगदर्शन २।४३)

तपसे मलदोष अर्थात् पापोंका नाश हो जानेपर अणिमादि अष्ट कायाकी सिद्धियाँ और दूरसे देखना-सुनना आदि इन्द्रियोंकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।

(योगदर्शन २।४४)

अपने इष्टदेवके नामका जप एवं स्वरूप, गुण, प्रभाव और महिमा आदिके पठन-पाठन, श्रवण-मननरूप स्वाध्यायसे इष्टदेवका साक्षात् दर्शन हो जाता है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।

(योगदर्शन २।४५)

ईश्वरप्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि होती है।

३-आसन और आसनसिद्धिका फल

आसन अनेकों प्रकारके हैं। उनमेंसे आत्मसंयम चाहनेवाले पुरुषके लिये सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन—ये तीन बहुत उपयोगी माने गये हैं। इनमेंसे कोई-सा भी आसन हो, परंतु मेरुदण्ड, मस्तक और ग्रीवाको सीधा अवश्य रखना चाहिये और दृष्टि नासिकाग्रपर अथवा भृकुटीमें रखनी चाहिये। आलस्य न सतावे तो आँखें मूँदकर भी बैठ सकते हैं। जिस आसनसे जो पुरुष सुखपूर्वक दीर्घकालतक बैठ सके, वही उसके लिये उत्तम आसन है।

स्थिरसुखमासनम्।

(योगदर्शन २।४६)

सुखपूर्वक स्थिरतासे बहुत कालतक बैठनेका नाम आसन है।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।

(योगदर्शन २।४७)

शरीरकी स्वाभाविक चेष्टाके शिथिल करनेपर अर्थात् इनसे उपराम होनेपर अथवा अनन्त परमात्मामें मनके तन्मय होनेपर आसनकी सिद्धि होती है। कम-से-कम एक पहर यानी तीन घंटेतक एक आसनसे सुखपूर्वक स्थिर और अचल-भावसे बैठनेको आसनसिद्धि कहते हैं।

ततो द्वन्द्वानभिघातः।

(योगदर्शन २।४८)

आसनोंकी सिद्धिसे (शरीर पूर्णरूपसे संयत हो जानेके कारण) शीतोष्णादि द्वन्द्व बाधा नहीं करते।

४-प्राणायाम

अब संक्षेपमें प्राणायामकी क्रियाका उल्लेख किया जाता है। असलमें प्राणायामका विषय अनुभवी योगियोंके पास रहकर ही उनसे सीखना चाहिये, नहीं तो इससे शारीरिक हानि भी हो सकती है।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

(योगदर्शन २।४९)

आसनके सिद्ध हो जानेपर श्वास और प्रश्वासकी गतिके अवरोध हो जानेका नाम प्राणायाम है। बाहरी वायुका भीतर प्रवेश करना श्वास है और भीतरकी वायुका बाहर निकलना प्रश्वास है, इन दोनोंके रुकनेका नाम प्राणायाम है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।

(योगदर्शन २।५०)

देश, काल और संख्या (मात्रा) के सम्बन्धसे बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्तिवाले—ये तीनों प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं।

भीतरके श्वासको बाहर निकालकर बाहर ही रोक रखना 'बाह्यकुम्भक' कहलाता है। इसकी विधि यह है कि आठ प्रणव (ॐ) से रेचक करके, सोलहसे बाह्य कुम्भक करना और फिर चारसे पूरक करना—इस प्रकारसे रेचक-पूरकके सहित बाहर कुम्भक करनेका नाम बाह्यवृत्ति-प्राणायाम है।

बाहरके श्वासको भीतर खींचकर भीतर रोकनेको 'आभ्यन्तर कुम्भक' कहते हैं। इसकी विधि यह है कि चार प्रणवसे पूरक करके सोलहसे आभ्यन्तर कुम्भक करे, फिर आठसे रेचक करे। इस प्रकार पूरक-रेचकके सहित भीतर कुम्भक करनेका नाम आभ्यन्तरवृत्ति-प्राणायाम है।

बाहर या भीतर जहाँ कहीं भी सुखपूर्वक प्राणोंके रोकनेका नाम स्तम्भवृत्ति-प्राणायाम है। अथवा चार प्रणवसे पूरक करके आठसे रेचक करे, इस प्रकार पूरक-रेचक करते-करते सुखपूर्वक जहाँ कहीं प्राणोंको रोकनेका नाम स्तम्भवृत्ति-प्राणायाम है।

इनके और भी बहुतसे भेद हैं। जितनी संख्या और

जितना काल पूरकमें लगाया जाय, उतनी संख्या और काल रेचक तथा कुम्भकमें भी लगा सकते हैं।

प्राणवायुका नाभि, हृदय, कण्ठ या नासिकाके भीतरके भागतकका नाम 'आभ्यन्तर' देश है और नासिकापुटसे वायुका बाहर सोलह अङ्गुलतक 'बाह्य देश' है। जो साधक पूरक प्राणायाम करते समय नाभितक श्वासको खींचता है, वह सोलह अङ्गुलतक बाहर फेंके, जो हृदयतक अंदर खींचता है, वह बारह अङ्गुलतक बाहर फेंके, जो कण्ठतक श्वासको खींचता है, वह आठ अङ्गुल बाहर निकाले और जो नासिकाके अंदर ऊपरी अन्तिम भागतक ही श्वास खींचता है, वह चार अङ्गुल बाहरतक श्वास फेंके। इनमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तरवालेको 'सूक्ष्म' और पूर्व-पूर्ववालेको 'दीर्घ' समझना चाहिये।

प्राणायाममें संख्या और कालका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण इनके नियममें व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये।

जैसे चार प्रणवसे पूरक करते समय एक सेकंड समय लगा तो सोलह प्रणवसे कुम्भक करते समय चार सेकंड और आठ प्रणवसे रेचक करते समय दो सेकंड समय लगना चाहिये। मन्त्रकी गणनाका नाम 'संख्या' या 'मात्रा' है, उसमें लगनेवाले समयका नाम 'काल' है। यदि सुखपूर्वक हो सके तो साधक ऊपर बताये काल और मात्राको दूनी, तिगुनी, चौगुनी या जितनी चाहे यथासाध्य बढ़ा सकता है। काल और मात्राकी अधिकता एवं न्यूनतासे भी प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होता है।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।

(योगदर्शन २। ५१)

बाह्य और भीतरके विषयोंके त्यागसे होनेवाला जो 'केवल' कुम्भक होता है, उसका नाम चतुर्थ प्राणायाम है।

शब्द-स्पर्शादि जो इन्द्रियोंके बाहरी विषय हैं और संकल्प-विकल्पादि जो अन्तःकरणके विषय हैं, उनके त्यागसे—उनकी उपेक्षा करनेपर अर्थात् विषयोंका चिन्तन न करनेपर प्राणोंकी गतिका जो स्वतः ही अवरोध होता है, उसका नाम 'चतुर्थ प्राणायाम' है। पूर्वसूत्रमें बतलाये हुए प्राणायामोंमें, प्राणोंके निरोधसे मनका संयम है और यहाँ मन और इन्द्रियोंके संयमसे प्राणोंका संयम है। यहाँ प्राणोंके रुकनेका कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं है—जहाँ कहीं भी रुक सकते हैं तथा काल और संख्याका भी विधान नहीं है।

प्राणायामका फल

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

(योगदर्शन २। ५२)

उस प्राणायामके सिद्ध होनेपर विवेकज्ञानको आवृत करनेवाले पाप और अज्ञानका क्षय हो जाता है।

धारणासु च योग्यता मनसः।

(योगदर्शन २। ५३)

तथा प्राणायामकी सिद्धिसे मन स्थिर होकर, उसकी धारणाओंके योग्य सामर्थ्य हो जाती है।

५-प्रत्याहार और उसका फल

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

(योगदर्शन २। ५४)

अपने-अपने विषयोंके सङ्गसे रहित होनेपर, इन्द्रियोंका चित्तके-से रूपमें अवस्थित हो जाना 'प्रत्याहार' है।

प्रत्याहारके सिद्ध होनेपर प्रत्याहारके समय साधकको बाह्यज्ञान नहीं रहता। व्यवहारके समय बाह्यज्ञान होता है। क्योंकि व्यवहारके समय साधक शरीरयात्राके हेतुसे प्रत्याहारको काममें नहीं लाता।

अन्य किसी साधनसे यदि मनका निरोध हो जाता है, तो इन्द्रियोंका निरोधरूप प्रत्याहार अपने आप ही उसके अन्तर्गत आ जाता है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।

(योगदर्शन २। ५५)

उस प्रत्याहारसे इन्द्रियाँ अत्यन्त वशमें हो जाती हैं, अर्थात् इन्द्रियोंपर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।

६-धारणा

योगके आठ अङ्गोंमें पाँच बहिरङ्ग साधनोंका वर्णन हुआ। अब शेष तीन अन्तरङ्ग साधनोंका वर्णन किया जाता है। इनमें प्रथम धारणाका लक्षण बतलाया जाता है, क्योंकि धारणासे ध्यान और समाधि होती हैं। यह योगका छठा अङ्ग है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

(योगदर्शन ३। १)

चित्तको किसी एक देशविशेषमें स्थिर करनेका नाम धारणा है। अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म या बाह्य-आभ्यन्तर, किसी एक ध्येय स्थानमें चित्तको बाँध देना, स्थिर कर देना अर्थात् लगा देना 'धारणा' कहलाता है।

७-ध्यान

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (योगदर्शन ३। २)

उस पूर्वोक्त ध्येय वस्तुमें चित्तवृत्तिकी एकतानताका नाम ध्यान है। अर्थात् चित्तवृत्तिका गङ्गाके प्रवाहकी भाँति या तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे निरन्तर ध्येयवस्तुमें ही अनवरत लगा रहना 'ध्यान' कहलाता है।

८-समाधि

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

(यो० ३। ३)

वह ध्यान ही 'समाधि' हो जाता है, जिस समय केवल ध्येय स्वरूपका (ही) भान होता है और अपने स्वरूपके भानका अभाव-सा रहता है। ध्यान करते-करते जब योगीका चित्त ध्येयाकारको प्राप्त हो जाता है और वह स्वयं भी ध्येयमें तन्मय-सा बन जाता है, ध्येयसे भिन्न अपने आपका ज्ञान उसे नहीं-सा रह जाता है, उस स्थितिका नाम समाधि है। ध्यानमें ध्याता, ध्यान, ध्येय यह त्रिपुटी रहती है। समाधिमें केवल अर्थमात्र वस्तु यानी ध्येयवस्तु ही रहती है, अर्थात् ध्याता, ध्यान, ध्येय—इन तीनोंकी एकता-सी हो जाती है।

ऐसी समाधि जब स्थूल पदार्थमें होती है, तब उसे 'निर्वितर्क' कहते हैं और सूक्ष्म पदार्थमें होती है तब उसे 'निर्विचार' कहते हैं। यह समाधि सांसारिक पदार्थोंमें होनेसे तो सिद्धिप्रद होती है, जो कि अध्यात्मविषयमें हानिकर है और यही समाधि ईश्वरविषयक होनेसे मुक्ति प्रदान करती है। इसलिये कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको अपने इष्टदेव परमात्माके स्वरूपमें ही समाधि लगानी चाहिये। इसमें परिपक्वता होनेपर अर्थात् उपर्युक्त योगके आठों अङ्गोंके भलीभाँति अनुष्ठानसे मल और आवरणादि दोषोंके क्षय होनेपर, विवेकख्यातिपर्यन्त ज्ञानकी दीप्ति होती है[१] और उस विवेकख्यातिसे अविद्याका नाश होकर कैवल्यपदकी प्राप्ति याने आत्म-साक्षात्कार हो जाता है।

भक्तियोगका वैशिष्ट्य

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्विष्णुस्वामिमतानुयायि श्रीगोपालवैष्णवपीठाधीश्वर श्री १०८ श्रीविट्ठलेशजी महाराज)

जीवात्मा एवं परमात्मा दोनों चैतन्यस्वरूप हैं। उनका परस्पर अंश-अंशीभाव-सम्बन्ध होता है। दोनोंके बीचमें मायारूपी जवनिका (चिक) पड़ जानेके कारण जीव भेददर्शी होकर विचित्र कर्मोंद्वारा विचित्र योनियोंमें जन्म-मरणरूपी संसार-बन्धनसे बँधकर कर्मानुसार सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान आदि परिणामोंको भोगता हुआ जगत्‌में भटकता फिरता है। अतः आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक—इन तीन प्रकारके तापोंसे संतप्त जीवोंके कल्याणार्थ परम दयालु योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णजीने श्रीमद्भगवद्गीतामें जीवात्मा-परमात्माको एक करानेवाले 'योग' का उपदेश दिया है। योगको परिभाषित करते हुए कहा गया है कि योग इस संसार-सागरसे मुक्ति दिलानेवाली एक युक्ति-विशेष है। अर्थात् इस योगशास्त्रमें भव-बन्धनसे मुक्ति दिलानेवाले एवं आत्मतत्त्वका परमात्मतत्त्वसे ऐक्यभाव उत्पन्न करनेवाले साधनोंका वर्णन है। आत्माके परमात्मासे योग होनेसे ही यह शास्त्र योग कहलाता है।

संसारोत्तारणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥

(योगवासिष्ठ)

भगवत्परायणता ही योग है, वह भी कर्मयोगसे शुद्धान्तःकरण होकर ज्ञानयोगकी भूमिकापर आरूढ़ हो भक्तियोगसे भगवान्‌को प्राप्त करनेपर ही सिद्ध होता है। कर्म, ज्ञान, भक्ति—ये तीन ही उपाय मानव-कल्याणके लिये भगवान्‌ने उद्धवजीको बताये थे।

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कर्हिचित्॥

(श्रीमद्भा०)

योग शब्दके मुख्यतया तीन अर्थ होते हैं। प्रथम उपाय,

१-योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः। (योग० २। २८)

दूसरा चित्तवृत्तियोंका निरोध और तीसरा समाधि। साधक यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—इन आठ अङ्गोंके सेवनसे चित्त शुद्ध होकर निश्चल भावको प्राप्त होता है। तभी बिम्ब-प्रतिबिम्बकी तरह जीव-ब्रह्म एक प्रतीत होते हैं।

शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धियाँ अपने-अपने विषयोंको ग्रहण करनेमें लगे रहते हैं, इसी कारण भगवत्साक्षात्कार असम्भव है। अतः विषय-प्रवणा इन्द्रियोंको भगवत्प्रवण बनानेके लिये योगका उपदेश है।

जप-तप-स्वाध्याय, दान, यज्ञ-प्रभृति जितने साधन हैं, वे सभी मनके निग्रह किये बिना इष्ट-प्रदान करनेमें असमर्थ होते हैं। भागवतका कहना है—

सर्वं मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः।

शुद्ध मन स्वतः भगवन्नाम, लीला, गुणोंके श्रवणमात्रसे भगवान्‌की ओर सम्मुख हो जाता है और संसारोन्मुख चित्तकी वृत्तियाँ सिमिट कर भगवान्‌की ओर अग्रसर हो जाती हैं। यही भगवद्भावापत्तिरूपा समाधि कहलाती है।

जबतक आत्मतत्त्वके ज्ञानसे अज्ञानका नाश नहीं होता है, तबतक सांसारिक कामनाओंके बीजोंका समूल नाश नहीं हो पाता। अतः संसारके उच्छेदनके लिये कामका नाश करना अभीष्ट है। उसके नाशका उपाय निष्कामकर्मनिष्ठा है, उपेय ज्ञान-निष्ठा है। विषयासक्ति बन्धनका हेतु है और भगवदासक्ति मोक्षका कारण है। इसलिये विषयोंकी आशा छोड़कर भगवदासक्ति प्राप्त करनेके लिये मनको नियन्त्रित करना अभीष्ट है।

वह मन चञ्चल स्वभावका होता है, उसको एकाग्र करनेके लिये अभ्यास और वैराग्यरूपी दृढ़ हाथोंकी आवश्यकता होती है। साधक उन्हींके द्वारा दुर्दम्य मनरूपी घोड़ेको पकड़ पाता है। उसको पकड़कर भगवन्मार्गकी ओर दौड़ाना ही भक्तियोग है। इस मार्गसे चलनेपर भगवत्प्राप्ति सुगमतासे होती है।

भगवदेकतानता (तन्मयता) रूपी निदिध्यासन ही राजयोग कहलाता है, उसके साधन भी अनेक हैं, जैसे क्रियायोग, कर्मयोग, हठयोग, मन्त्रयोग, ज्ञानयोग, अद्वैतयोग, ब्रह्मयोग, शिवयोग, सिद्धियोग, लययोग, ध्यानयोग और प्रेमभक्तियोग।

उपर्युक्त सभी साधन साधारण-विशेष-भावसे अष्टाङ्गयोगपर निर्भर हैं। यम-नियमके पालन करनेसे आसन सिद्ध होनेपर प्राणायामद्वारा सर्वेन्द्रियोंको वशमें करके अपने चित्तकी शुद्धिके लिये शरीरके भीतर स्थित सप्तपुरियों, गङ्गादि नदियों तथा क्षमा, सत्य, तप आदि आध्यात्मिक तीर्थोंका सेवन करना चाहिये। इससे चित्त शुद्ध होकर लक्ष्यकी ओर अग्रसर होता है।

'मनःपूतं समाचरेत्' इस सिद्धान्तके अनुसार शुद्ध-चित्त होकर जो कुछ किया जाय वह शीघ्र फलदायक होता है। अतः मानसिक शुद्धिके लिये योगका अभ्यास अत्यावश्यक है। उसमें प्राणायाम ही परम बल है। इसके नियमित अभ्याससे प्राणका संचारी मार्ग प्रशस्त होकर जीवात्माको परमात्माके निकट पहुँचानेमें समर्थ होता है। प्राणके अधीन मन, मनके अधीन इन्द्रियाँ हैं और मनरूपी लगामसे दस इन्द्रियरूपी घोड़ोंको वशमें करनेमें बुद्धिरूपी सारथि सक्षम होता है। अतः प्राणायामके बिना उत्तरोत्तर भूमिकापर आरूढ़ होना कठिन होता है। इसलिये मन-रूपी दुर्दम्य घोड़ेको निग्रह करनेके लिये यौगिक क्रियाका उपदेश है। यह योग-क्रिया अव्यक्तोपासना करनेवालोंके लिये उपादेय है। अव्यक्तोपासना कष्ट-साध्य होती है। भक्तियोगमें भी शुद्ध मनकी परमावश्यकता है अन्यथा जप, तप, सेवा-पूजा, ध्यान आदिमें मन नहीं लगेगा।

सभी कर्मोंको निष्काम-भावसे भगवत्समर्पित करनेपर कर्म-संज्ञा नष्ट हो जाती है और वे अर्पित कर्म भगवद्धर्म कहलाते हैं, जो बन्धक न होकर मोचक हो जाते हैं।

भगवद्भक्तियोगसे स्वर्ग-अपवर्ग आदि सकल पुरुषार्थोंकी प्राप्ति हो सकती है। भक्तियोगमें दूसरे साधनोंकी विशेष अपेक्षा नहीं होती है, किंतु अन्य प्रायः सभी साधनोंमें भक्तिकी अपेक्षा रहती है। वह भक्तियोग सर्वतन्त्र, सर्वसुकर होकर भी सर्वदुष्कर है। बिना गुरु-गोविन्दकी कृपाके उसमें अधिकार पाना कठिन है। अतः भगवत्प्रसाद पानेके लिये सद्गुरुका आश्रयण अभीष्ट है, जिसके सदुपदेशसे चित्तकी वृत्तियोंका निरोधकर भगवान्‌में मन-इन्द्रियोंको लवलीन

करनेकी शक्ति प्राप्त होती है।

श्रद्धा-भक्तिसे मन लगाकर भगवत्सेवन, श्रवण, कीर्तनादि करनेवाला भक्तियोगी सर्वश्रेष्ठ भक्त है, इसीलिये भगवान् कहते हैं कि—'**मच्चित्तः सततं भव**', '**मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि**' (गीता १८। ५७,५८)। इससे सिद्ध होता है कि भगवान्‌में चित्तको एकाग्र करना ही योग है। उससे भगवत्प्रसाद सिद्ध होनेपर योगी सभी दुर्गम मार्गोंको पार कर जाता है।

ऐहिक-पारलौकिक वैभवोंकी तृष्णाका परित्याग कर निरन्तर बिना व्यवधानके भगवान् श्रीकृष्णका अम्बरीष नृपकी तरह सर्वेन्द्रियोंसे मनसे सेवन करनेसे घरमें रहकर भी भगवत्प्राप्ति-रूप मोक्ष प्राप्त हो सकता है '**गृहाश्रमः किं न करोत्यवद्यम्**' (श्रीमद्भा० ५। १। १७)। शम-दम-साधन-सम्पत्तिके बिना भक्तियोग दुर्लभ है। '**अव्यावृतभजनाद्वा**' इस सूत्रके अनुसार '**गृहे स्थित्वा भजेत् कृष्णम्**', '**अव्यावृतो भजेत् कृष्णम्**' इन श्रीमदाचार्यके वचनोंसे घरमें गृहस्थोचित क्रियासे निवृत्त होकर भजन करे। श्रवण-कीर्तन-स्मरण करते हुए दिन यापन करे।

योगाभ्यासी ज्योतिःस्वरूप भगवद्धाममें लीन हो जाता है, यही विदेह कैवल्य कहलाता है। किंतु प्रेमी भक्तयोगी तो उस तेजपुञ्जमें भगवत्स्वरूपके सौन्दर्य-माधुर्य-सौकुमार्य आदि गुणगणोंका आनन्द अनुभव करता है।

सारांश यह है कि अष्टाङ्गयोगकी क्रिया भक्तियोगमें विशेष उपादेय नहीं। भक्तियोगमें साधनभक्ति-(नवधा भक्ति-)के द्वारा मन-इन्द्रियोंको निरुद्ध कर फलरूपा प्रेमाभक्तिसे भगवदानन्दका अनुभव करना ही फलादेश है। प्रेमाभक्तिकी सिद्धि होनेपर भक्तियोगी पुरुष दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, स्वरूपासक्ति, नामासक्ति श्रवणासक्ति, ध्यानासक्ति, स्मरणासक्ति आदिमेंसे अपनी रुचिके अनुसार भगवदासक्ति-रूपी समाधि सिद्ध कर भगवान्‌में लवलीन हो जाते हैं। उनको इस लोक-परलोकके सुखोंकी आकाङ्क्षा ही नहीं होती। पुनः मोक्ष भी नहीं चाहते इसमें क्या कहना?

न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥

(श्रीमद्भा० १०। ८७। २१)

कुछ प्रेमी भक्त ऐसे होते हैं जो आपकी लीला-कथाओंको छोड़कर मोक्षकी अभिलाषा नहीं करते, स्वर्ग आदिकी तो बात ही क्या है। वे आपके चरणकमलोंके प्रेमी परमहंसोंके सत्संगमें, जहाँ आपकी कथा होती है, इतना सुख मानते हैं कि उसके लिये इस जीवनमें प्राप्त अपनी घर-गृहस्थीका भी परित्याग कर देते हैं।

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

(श्रीमद्भा० ३। २९। १३)

कुछ भक्त मेरी सेवाको छोड़कर दिये जानेपर भी अन्य मोक्ष आदि नहीं लेते।

नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविद्रुतम्।

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६७)

मेरे अनन्य प्रेमी भक्त सेवासे ही अपनेको परिपूर्ण—कृतकृत्य मानते हैं। मेरी सेवाके फलस्वरूप जब उन्हें सालोक्य-सारूप्य आदि मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं, तब वे उन्हें भी स्वीकार करना नहीं चाहते, फिर समयके फेरसे नष्ट हो जानेवाली वस्तुओंकी तो बात ही क्या है।

भगवन्नामसे प्रेम करो

दूलन चरनन लागि रहु, नामकी करत पुकार।
भक्ति सुधारस पेट भरु, का दहुँ लिखा लिलार ॥
जग रहु जगतें अलग रहु, जोग जुगतिकी रीति।
दूलन हिरदे नाम तें, लाइ रहौ दृढ़ प्रीति ॥

—दूलनदास

मनको वश करनेके कुछ यौगिक साधन

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(गीता ६। ३६)

भगवान् कहते हैं—'जिनका मन वशमें नहीं है, उनके लिये योगका प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, यह मेरा मत है, परंतु मनको वशमें किये हुए प्रयत्नशील पुरुष साधनद्वारा योग प्राप्त कर सकते हैं।'

भगवान् श्रीकृष्ण महाराजके इन वचनोंके अनुसार यह सिद्ध होता है कि मनको वश किये बिना परमात्माकी प्राप्तिरूप योग दुष्प्राप्य है। यदि कोई ऐसा चाहे कि मन तो अपनी इच्छानुसार निरङ्कुश होकर विषयवाटिकामें स्वच्छन्द विचरण किया करे और परमात्माके दर्शन अपने-आप ही हो जायँ, तो यह उसकी भूल है।

दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और आनन्दमय परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवालेको मन वशमें करना ही पड़ेगा, इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है। परंतु मन स्वभावसे ही बड़ा चञ्चल और बलवान् है, इसे वशमें करना कोई साधारण बात नहीं। सारे साधन इसीको वश करनेके लिये किये जाते हैं, इसपर विजय मिलते ही मानो विश्वपर विजय मिल जाती है। भगवान् शंकराचार्यने कहा है—'**जितं जगत् केन मनो हि येन।**' 'जगत्को किसने जीता?—जिसने मनको जीत लिया।' अर्जुनने भी मनको वशमें करना कठिन समझकर कातर शब्दोंमें भगवान्से यही कहा था—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

(गीता ६। ३४)

'हे भगवन्! यह मन बड़ा ही चञ्चल, हठीला, दृढ़ और बलवान् है, इसे रोकना मैं तो वायुके रोकनेके समान अत्यन्त दुष्कर समझता हूँ।'

इससे किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि जो बात अर्जुनके लिये इतनी कठिन थी, वह हमलोगोंके लिये कैसे सम्भव होगी। मनको जीतना कठिन अवश्य है, भगवान्ने इस बातको स्वीकार किया, पर साथ ही उपाय भी बतला दिया—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(गीता ६। ३५)

भगवान्ने कहा—'अर्जुन! इसमें कोई संदेह नहीं कि इस चञ्चल मनका निग्रह करना बड़ा ही कठिन है, परंतु अभ्यास और वैराग्यसे यह वशमें हो सकता है।' इससे यह सिद्ध हो गया कि मनका वशमें करना कठिन भले ही हो, पर असम्भव नहीं, और इसके वश किये बिना दुःखोंकी निवृत्ति नहीं। अतएव इसे वश करना ही चाहिये। इसके लिये सबसे पहले इसका साधारण स्वरूप और स्वभाव जाननेकी आवश्यकता है।

मनका स्वरूप

मन क्या पदार्थ है? यह आत्म और अनात्म-पदार्थके बीचमें रहनेवाली एक विलक्षण वस्तु है। यह स्वयं अनात्म और जड है, किंतु बन्ध और मोक्ष इसीके अधीन हैं—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

बस, मन ही जगत् है, मन नहीं तो जगत् नहीं। मन विकारी है, इसका कार्य संकल्प-विकल्प करना है। यह जिस पदार्थको भलीभाँति ग्रहण करता है, स्वयं भी तदाकार बन जाता है। यह रागके साथ ही चलता है, सारे अनर्थोंकी उत्पत्ति रागसे होती है, राग न हो तो मन प्रपञ्चोंकी ओर न जाय। किसी भी विषयमें गुण और सौन्दर्य देखकर उसमें राग होता है, इसीसे मन उस विषयमें प्रवृत्त होता है। परंतु जिस विषयमें इसे दुःख और दोष दीख पड़ते हैं, उससे इसका द्वेष हो जाता है, फिर यह उसमें प्रवृत्त नहीं होता, यदि कभी भूलकर प्रवृत्त हो भी जाता है तो उसमें अवगुण देखकर द्वेषसे तत्काल लौट आता है। वास्तवमें द्वेषवाले विषयमें भी इसकी प्रवृत्ति रागसे ही होती है; साधारणतया यही मनका स्वरूप और स्वभाव है। अब सोचना यह है कि यह वशमें क्योंकर हो। इसके लिये उपाय भगवान्ने बतला दिया है—अभ्यास और वैराग्य। यही उपाय योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने बतलाया है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।

(समाधिपाद १२)

'अभ्यास और वैराग्यसे ही चित्तका निरोध होता है', अतएव अब इसी अभ्यास और वैराग्यपर विचार करना चाहिये।

मनको वशमें करनेके साधन

(१) भोगोंमें वैराग्य

जबतक संसारकी वस्तुएँ सुन्दर और सुखप्रद मालूम होती हैं, तभीतक मन उनमें जाता है, यदि यही सब पदार्थ दोषयुक्त और दुःखप्रद दीखने लगें (जैसे कि वास्तवमें ये हैं) तो मन कदापि इनमें नहीं लगेगा। यदि कभी इनकी ओर गया भी तो उसी समय वापस लौट आयेगा, इसलिये संसारके सारे पदार्थोंमें (चाहे वे ऐहलौकिक हों या पारलौकिक) दुःख और दोषकी प्रत्यक्ष भावना करनी चाहिये। ऐसा दृढ़ प्रयत्न करना चाहिये कि इन पदार्थोंमें केवल दोष और दुःख ही भरे हुए हैं। रमणीय और सुखरूप दीखनेवाली वस्तुमें ही मन लगता है। यदि यह रमणीयता और सुखरूपता विषयोंसे हटकर परमात्मामें दिखायी देने लगे (जैसा कि वास्तवमें है) तो यही मन तुरंत विषयोंसे हटकर परमात्मामें लग जाय। यही वैराग्यका साधन है और वैराग्य ही मन जीतनेका एक उत्तम उपाय है। सच्चा वैराग्य तो संसारके इस दीखनेवाले स्वरूपका सर्वथा अभाव और उसकी जगह परमात्माका नित्यभाव प्रतीत होनेमें है। परंतु आरम्भमें नये साधकको मन वश करनेके लिये इस लोक और परलोकके समस्त पदार्थोंमें दोष और दुःख देखना चाहिये, जिससे मनका अनुराग उनसे हटे।

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

(गीता १३।८)

'इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें वैराग्य, अहङ्कारका त्याग, (इस शरीरमें) जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग (आदि) दुःख और दोष देखने चाहिये।' इस प्रकार वैराग्यकी भावनासे मन वशमें हो सकता है।

(२) नियमसे रहना

मनको वश करनेमें नियमानुवर्तितासे बड़ी सहायता मिलती है। सारे काम ठीक समयपर नियमानुसार होने चाहिये। प्रातःकाल बिछौनेसे उठकर रातको सोनेतक दिनभरके कार्योंकी एक ऐसी नियमित दिनचर्या बना लेनी चाहिये, जिससे जिस समय जो कार्य करना हो, मन अपने-आप स्वभावसे ही उस समय उसी कार्यमें लग जाय। संसार-साधनमें तो नियमानुवर्तितासे लाभ होता ही है, परमार्थमें भी इससे बड़ा लाभ होता है। अपने जिस इष्ट स्वरूपके ध्यानके लिये प्रतिदिन जिस स्थानपर, जिस आसनपर, जिस आसनसे, जिस समय और जितने समय बैठा जाय उसमें किसी दिन भी व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये। पाँच मिनटका भी नियमित ध्यान अनियमित अधिक समयके ध्यानसे उत्तम है। आज दस मिनट बैठे, कल आध घंटे, परसों बिलकुल लाँघा, इस प्रकारके साधनसे साधकको सिद्धि कठिनतासे मिलती है। जब पाँच मिनटका ध्यान नियमसे होने लगे, तब दस मिनटका करे, परंतु दस मिनटका करनेके बाद किसी दिन भी नौ मिनट न होना चाहिये। इसी प्रकार स्थान, आसन, समय, इष्ट और मन्त्रका बार-बार परिवर्तन नहीं करना चाहिये। इस तरहकी नियमानुवर्तितासे भी मन स्थिर होता है। नियमोंका पालन खाने, पीने, पहनने, सोने और व्यवहार करने—सभीमें होना चाहिये। नियम अपनी अवस्थाके अनुकूल शास्त्रसम्मत बना लेने चाहिये।

(३) मनकी क्रियाओंपर विचार

मनके प्रत्येक कार्यपर विचार करना चाहिये। प्रतिदिन रातको सोनेसे पूर्व दिनभरके मनके कार्योंपर विचार करना उचित है। यद्यपि मनकी सारी उधेड़-बुनका स्मरण होना बड़ा कठिन है, परंतु जितनी याद रहे उतनी ही बातोंपर विचार कर जो-जो संकल्प सात्त्विक मालूम दें, उनके लिये मनकी सराहना करना और जो-जो संकल्प राजसिक और तामसिक मालूम पड़ें, उनके लिये मनको धिक्कारना चाहिये। प्रतिदिन इस प्रकारके अभ्याससे मनपर सत्कार्य करनेके और असत्कार्य छोड़नेके संस्कार जमने लगेंगे, जिससे कुछ ही समयमें मन बुराइयोंसे बचकर भले-भले कार्योंमें लग जायगा। मन जब पहले भले कार्यवाला होगा, तब उसे वश करनेमें सुगमता होगी। कुसंगमें पड़ा हुआ बालक जबतक कुसंग नहीं छोड़ता, तबतक उसे कुसंगियोंसे बुरी सलाह मिलती रहती है, इससे उसका वशमें होना कठिन रहता है। पर जब कुसंग छूट जाता

है, तब उसे बुरी सलाह नहीं मिल सकती, दिन-रात घरमें उसको माता-पिताके सदुपदेश मिलते हैं, वह भली-भली बातें सुनता है। तब फिर उसके सुधरकर माता-पिताके आज्ञाकारी होनेमें विलम्ब नहीं होता। इसी तरह यदि विषय-चिन्तन करनेवाले मनको कोई एक साथ ही सर्वथा विषयरहित करना चाहे तो वह नहीं कर सकता। पहले मनको बुरे चिन्तनसे बचाना चाहिये, जब वह परमात्म-सम्बन्धी शुभ चिन्तन करने लगेगा, तब उसको वश करनेमें कोई कठिनाई नहीं होगी।

(४) मनके कहनेमें न चलना

मनके कहनेमें नहीं चलना चाहिये। जबतक यह मन वशमें नहीं हो जाता, तबतक इसे अपना परम शत्रु मानना चाहिये। यद्यपि यह बड़ा बलवान् है, कई बार इससे हारना होगा, पर साहस नहीं छोड़ना चाहिये। जो हिम्मत नहीं हारता, वह एक दिन मनको अवश्य जीत लेता है। इससे लड़नेमें एक विचित्रता है। यदि दृढ़तासे लड़ा जाय तो लड़नेवालेका बल दिनोंदिन बढ़ता है और इसका क्रमशः घटने लगता है, इसलिये इससे लड़नेवाला एक-न-एक दिन इसपर अवश्य ही विजयी होता है। अतएव इसकी हाँ-में-हाँ न मिलाकर प्रत्येक कार्य खूब सावधानीसे बर्तना चाहिये। यह मन बड़ा ही चतुर है। कभी डरावेगा, कभी फुसलावेगा, कभी लालच देगा, बड़े-बड़े अनोखे रंग दिखलावेगा, परंतु कभी इसके धोखेमें न आना चाहिये। भूलकर भी इसका विश्वास न करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे इसकी हिम्मत टूट जायगी, लड़ने और धोखा देनेकी आदत छूट जायगी। अन्तमें यह आज्ञा देनेवाला न रहकर सीधा-सादा आज्ञा-पालन करनेवाला विश्वासी सेवक बन जायगा।

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल, मन चौर।
मनके मत चलिये नहीं, पलक पलक मन और॥

(५) मनको सत्कार्यमें संलग्न रखना

मन कभी निकम्मा नहीं रह सकता, कुछ-न-कुछ काम इसको मिलना ही चाहिये, अतएव इसे निरन्तर काममें लगाये रखना चाहिये। निकम्मा रहनेसे ही इसे बुरी बातें सूझा करती हैं, अतएव जबतक नींद न आवे, तबतक सुन्दर माङ्गलिक कार्योंमें इसे लगाये रखना चाहिये। जाग्रत्-समयके सत्कार्योंके चित्र ही स्वप्नमें भी दिखायी देंगे।

(६) मनको परमात्मामें लगाना

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(गीता ६।२६)

'यह चञ्चल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ दौड़कर जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर बारंबार इसे परमात्मामें ही लगाना चाहिये।'

मनको वशमें करनेका उपाय प्रारम्भ करनेपर पहले-पहले तो यह इतना जोर दिखलाता है—अपनी चञ्चलता और शक्तिमत्तासे ऐसी पछाड़ लगाता है कि नया साधक घबड़ा उठता है, उसके हृदयमें निराशा-सी छा जाती है, परंतु ऐसी अवस्थामें धैर्य रखना चाहिये। मनका तो ऐसा स्वभाव ही है और हमें इसपर विजय पाना है, तब घबड़ानेसे थोड़े ही काम चलेगा। मुस्तैदीसे सामना करना चाहिये। आज न हुआ तो क्या, कभी-न-कभी तो वशमें होगा ही। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

(गीता ६।२५)

'धीरे-धीरे अभ्यास करता हुआ उपरामताको प्राप्त हो धैर्ययुक्त बुद्धिसे मनको परमात्मामें स्थिर करके और किसी भी विचारको मनमें न आने दे।'

इस प्रकारकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि किसी प्रकारका भी वृथा चिन्तन या मिथ्या संकल्पोंको मनमें नहीं आने दिया जायगा। बड़ी चेष्टा, बड़ी दृढ़ता रखनेपर भी मन साधककी चेष्टाओंको कई बार व्यर्थ कर देता है, साधक तो समझता है कि मैं ध्यान कर रहा हूँ, पर मनदेवता संकल्प-विकल्पोंकी पूजामें लग जाते हैं। जब साधक मनकी ओर देखता है तो उसे आश्चर्य होता है कि यह क्या हुआ। इतने नये-नये संकल्प—जिनकी भावना भी नहीं की गयी थी—कहाँसे आ गये? बात यह होती है कि साधक जब मनको निर्विषय करना चाहता है, तब संसारके नित्य अभ्यस्त विषयोंसे मनको फुरसत मिल जाती है, उधर परमात्मामें लगनेका इस समयतक उसे पूरा अभ्यास नहीं होता। इसलिये फुरसत पाते

ही वह उन पुराने दृश्योंको (जो संस्काररूपसे उसपर अङ्कित हो रहे हैं) सिनेमाके फिल्मकी भाँति क्षण-क्षणमें एकके बाद एक उलटने लग जाता है। इसीसे उस समय ऐसे संकल्प मनमें उठते हुए मालूम होते हैं जो संसारका काम करते समय याद भी नहीं आते थे। मनकी ऐसी प्रबलता देखकर साधक स्तम्भित-सा रह जाता है, पर कोई चिन्ता नहीं। जब अभ्यासका बल बढ़ेगा, तब उसको संसारसे फुरसत मिलते ही तुरंत परमात्मामें लग जायगा। अभ्यास दृढ़ होनेपर तो यह परमात्माके ध्यानसे हटाये जानेपर भी न हटेगा। मन चाहता है सुख। जबतक इसे वहाँ सुख नहीं मिलता—विषयोंमें सुख दीखता है, तबतक यह विषयोंमें रमता है। जब अभ्याससे विषयोंमें दुःख और परमात्मामें परम सुख प्रतीत होने लगेगा, तब यह स्वयं ही विषयोंको छोड़कर परमात्माकी ओर दौड़ेगा, परंतु जबतक ऐसा न हो तबतक निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिये।

(७) एकतत्त्वका अभ्यास करना

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। (समाधिपाद ३२)

चित्तका विक्षेप दूर करनेके लिये शास्त्रनिर्दिष्ट अभिमत एकतत्त्वका अभ्यास करना चाहिये। एकतत्त्वके अभ्यासका अर्थ ऐसा भी हो सकता है कि किसी एक वस्तुकी या किसी मूर्तिविशेषकी तरफ एकदृष्टिसे देखते रहना। जबतक आँखोंकी पलक न पड़े या आँखोंमें जल न आ जाय, तबतक उस एक ही चिह्नकी तरफ देखते रहना चाहिये। चिह्न धीरे-धीरे छोटा करते रहना चाहिये। अन्तमें उस चिह्नको बिलकुल ही हटा देना चाहिये। **'दृष्टिः स्थिरा यत्र विनावलोकनम्'**—अवलोकन न करनेपर भी दृष्टि स्थिर रहे। ऐसा हो जानेपर चित्तविक्षेप नहीं रहता। इस प्रकार प्रतिदिन आध-आध घंटे भी अभ्यास किया जाय तो मनके स्थिर होनेमें अच्छी सफलता मिल सकती है। इसी प्रकार दोनों भ्रुवोंके बीचमें दृष्टि जमाकर जबतक आँखोंमें जल न आ जाय, तबतक देखते रहनेका अभ्यास किया जाता है। इससे भी मन निश्चल होता है, इसीको त्राटक कहते हैं।

(८) नाभि या नासिकाग्रमें दृष्टि स्थापन करना

नित्य नियमपूर्वक पद्मासन या सुखासनसे सीधा बैठकर नाभिमें दृष्टि जमाकर जबतक पलक न पड़े तबतक एक-मनसे देखते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे शीघ्र ही मन स्थिर होता है। इसी प्रकार नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर बैठनेसे भी चित्त निश्चल हो जाता है। इससे ज्योतिके दर्शन भी होते हैं।

(९) शब्द-श्रवण करना

कानोंमें अँगुली देकर शब्द सुननेका अभ्यास किया जाता है। इसमें पहले भँवरोंके गुंजार अथवा प्रातःकालीन पक्षियोंके चुँचुहाने-जैसा शब्द सुनायी देता है, फिर क्रमशः, घुँघुरू, शङ्ख, घण्टा, ताल, मुरली, भेरी, मृदङ्ग, नफीरी और सिंहगर्जनके सदृश शब्द सुनायी देते हैं। इस प्रकार दस प्रकारके शब्द सुनायी देने लगनेके बाद दिव्य 'ॐ' शब्दका श्रवण होता है, जिससे साधक समाधिको प्राप्त हो जाता है। यह भी मनके निश्चल करनेका उत्तम साधन है।

(१०) ध्यान या मानसपूजा

सब जगह भगवान्के किसी नामको लिखा हुआ समझकर बारंबार उस नामके ध्यानमें मन लगाना चाहिये अथवा भगवान्के किसी स्वरूपविशेषकी अन्तरिक्षमें मनसे कल्पना कर उसकी पूजा करनी चाहिये। पहले भगवान्की मूर्तिके एक-एक अवयवका अलग-अलग ध्यान कर फिर दृढ़ताके साथ सम्पूर्ण विग्रहका ध्यान करना चाहिये। उसीमें मनको अच्छी तरह स्थिर कर देना चाहिये। मूर्तिके ध्यानमें इतना तन्मय हो जाना चाहिये कि संसारका भान ही न रहे। फिर कल्पना-प्रसूत सामग्रियोंसे भगवान्की मानसिक पूजा करनी चाहिये। प्रेमपूर्वक की हुई नियमित भगवदुपासनासे मनको निश्चल करनेमें बड़ी सहायता मिल सकती है।

(११) मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षाका व्यवहार

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि मनोनिग्रहका एक उपाय यह भी बतलाते हैं—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

(समाधिपाद ३३)

'सुखी मनुष्योंसे प्रेम, दुखियोंके प्रति दया, पुण्यात्माओंके प्रति प्रसन्नता और पापियोंके प्रति उदासीनताकी भावनासे चित्त प्रसन्न होता है।'

(क) जगत्के सारे सुखी जीवोंके साथ प्रेम करनेसे

चित्तका ईर्ष्यामल दूर होता है, डाहकी आग बुझ जाती है। संसारमें लोग अपनेको और अपने आत्मीय स्वजनोंको सुखी देखकर प्रसन्न होते हैं, क्योंकि वे उन लोगोंको अपने प्राणोंके समान प्रिय समझते हैं। यदि यही प्रिय भाव सारे संसारके सुखियोंके प्रति अर्पित कर दिया जाय तो कितने आनन्दका कारण हो! दूसरेको सुखी देखकर जलन पैदा करनेवाली वृत्तिका नाश हो जाय।

(ख) दुःखी प्राणियोंके प्रति दया करनेसे पर-अपकाररूप चित्त-मल नष्ट होता है। मनुष्य अपने कष्टोंको दूर करनेके लिये किसीसे भी पूछनेकी आवश्यकता नहीं समझता, भविष्यमें कष्ट होनेकी सम्भावना होते ही पहलेसे उसे निवारण करनेकी चेष्टा करने लगता है। यदि ऐसा ही भाव जगत्के सारे दुःखी जीवोंके साथ हो जाय तो अनेक लोगोंके दुःख दूर हो सकते हैं। दुःखपीड़ित लोगोंके दुःख दूर करनेके लिये अपना सर्वस्व न्योछावर कर देनेकी प्रबल भावनासे मन सदा ही प्रफुल्लित रह सकता है।

(ग) धार्मिकोंको देखकर हर्षित होनेसे दोषारोप नामक मनका असूया-मल नष्ट होता है, साथ ही धार्मिक पुरुषकी भाँति चित्तमें धार्मिक वृत्ति जाग्रत् हो उठती है। असूयाके नाशसे चित्त शान्त होता है।

(घ) पापियोंके प्रति उपेक्षा करनेसे चित्तका क्रोधरूप मल नष्ट होता है। पापोंका चिन्तन न होनेसे उनके संस्कार अन्तःकरणपर नहीं पड़ते। किसीसे भी घृणा नहीं होती। इससे चित्त शान्त रहता है।

इस प्रकार इन चारों भावोंके बारंबार अनुशीलनसे चित्तकी राजस, तामस वृत्तियाँ नष्ट होकर सात्त्विक वृत्तिका उदय होता है और उससे चित्त प्रसन्न होकर शीघ्र ही एकाग्रता लाभ कर सकता है।

(१२) सद्ग्रन्थोंका अध्ययन

भगवान्के परम रहस्यसम्बन्धी परमार्थ-ग्रन्थोंके पठन-पाठनसे भी चित्त स्थिर होता है। एकान्तमें बैठकर उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, रामायण आदि ग्रन्थोंका अर्थसहित अनुशीलन करनेसे वृत्तियाँ तदाकार बन जाती हैं। इससे मन स्थिर हो जाता है।

(१३) प्राणायाम

समाधिसे भी मन रुकता है। समाधि अनेक तरहकी होती है। प्राणायाम समाधिके साधनोंका एक मुख्य अङ्ग है। योगदर्शनमें कहा गया है—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।

(समाधिपाद ३४)

नासिकाके छेदोंसे अन्तरकी वायुको बाहर निकालना प्रच्छर्दन कहलाता है और प्राणवायुकी गति रोक देनेको विधारण कहते हैं। इन दोनों उपायोंसे भी चित्त स्थिर होता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने भी कहा है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥

(४।२९)

'कई अपानवायुमें प्राणवायुका हवन करते हैं, कई प्राणवायुमें अपानवायुका हवन करते हैं और कई प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणायाम किया करते हैं।'

इसी तरह योगसम्बन्धी ग्रन्थोंके अतिरिक्त महाभारत, श्रीमद्भागवत और उपनिषदोंमें भी प्राणायामका यथेष्ट वर्णन है। श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोकनेका नाम ही प्राणायाम है। मनु महाराजने कहा है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

'अग्निसे तपाये जानेपर जैसे धातुका मल जल जाता है, उसी प्रकार प्राणवायुके निग्रहसे इन्द्रियोंके सारे दोष दग्ध हो जाते हैं।'

प्राणायाम मनको रोकनेका एक बहुत ही उत्तम साधन है।

(१४) श्वासके द्वारा नाम-जप

मनको रोककर परमात्मामें लगानेका एक अत्यन्त सुलभ और आशङ्कारहित उपाय और है, जिसका अनुष्ठान सभी कर सकते हैं। वह है आने-जानेवाले श्वास-प्रश्वासकी गतिपर ध्यान रखकर श्वासके द्वारा श्रीभगवान्के नामका जप करना। यह अभ्यास बैठते-उठते, चलते-फिरते, सोते-खाते हर समय, प्रत्येक अवस्थामें किया जा सकता है। इसमें श्वास जोर-जोरसे लेनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं। श्वासकी साधारण चालके साथ-ही-साथ नामका जप किया जा सकता है। इसमें लक्ष्य

रखनेसे ही मन रुककर नामका जप हो सकता है। श्वासके द्वारा नामका जप करते समय चित्तमें इतनी प्रसन्नता होनी चाहिये कि मानो मन आनन्दसे उछला पड़ता हो। आनन्दरससे छका हुआ अन्तःकरणरूपी पात्र मानो छलका पड़ता हो। यदि इतने आनन्दका अनुभव न हो तो आनन्दकी भावना ही करनी चाहिये। इसीके साथ भगवान्‌को अपने अत्यन्त समीप जानकर उनके स्वरूपका ध्यान करना चाहिये, मानो उनके समीप होनेका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है। इस भावसे संसारकी सुध भुलाकर मनको परमात्मामें लगाना चाहिये।

(१५) ईश्वर-शरणागति

ईश्वर-प्रणिधानसे भी मन वशमें होता है, अनन्य भक्तिसे परमात्माके शरण होना ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है। 'ईश्वर' शब्दसे यहाँपर परमात्मा और उनके भक्त दोनों ही समझे जा सकते हैं। **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'**, **'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'**, **'तन्मयाः'**—इन श्रुति और भक्तिशास्त्रके सिद्धान्त-वचनोंसे भगवान्, ज्ञानी और भक्तोंकी एकता सिद्ध होती है। श्रीभगवान् और उनके भक्तोंके प्रभाव और चरित्रके चिन्तनमात्रसे चित्त आनन्दसे भर जाता है। संसारका बन्धन मानो अपने-आप टूटने लगता है। अतएव भक्तोंका संग करने, उनके उपदेशोंके अनुसार चलने और भक्तोंकी कृपाको ही भगवत्प्राप्तिका प्रधान उपाय समझनेसे भी मनपर विजय प्राप्त की जा सकती है। भगवान् और सच्चे भक्तोंकी कृपासे सब कुछ हो सकता है।

(१६) मनके कार्योंको देखना

मनको वशमें करनेका एक बड़ा उत्तम साधन है 'मनसे अलग होकर निरन्तर मनके कार्योंको देखते रहना।' जबतक हम मनके साथ मिले हुए हैं, तभीतक मनमें इतनी चञ्चलता है। जिस समय हम मनके द्रष्टा बन जाते हैं, उसी समय मनकी चञ्चलता मिट जाती है। वास्तवमें तो मनसे हम सर्वथा भिन्न ही हैं। किस समय मनमें क्या संकल्प होता है, इसका पूरा पता हमें रहता है। आँखको आँख नहीं देख सकती। इस न्यायसे मनकी बातोंको जो जानता या देखता है वह मनसे सर्वथा भिन्न है, भिन्न होते हुए भी वह अपनेको मनके साथ मिला लेता है, इसीसे उसका जोर पाकर मनकी उद्दण्डता बढ़ जाती है। यदि साधक अपनेको निरन्तर अलग रखकर मनकी क्रियाओंका द्रष्टा बनकर देखनेका अभ्यास करे तो मन बहुत ही शीघ्र संकल्परहित हो सकता है।

(१७) भगवन्नामकीर्तन

मग्न होकर उच्च स्वरसे परमात्माका नाम और गुण-कीर्तन करनेसे भी मन परमात्मामें स्थिर हो सकता है। भगवान् चैतन्यदेवने तो मनको निरुद्धकर परमात्मामें लगानेका यही परम साधन बतलाया है। भक्त जब अपने प्रभुका नामकीर्तन करते-करते गद्‌गद-कण्ठ, रोमाञ्चित और अश्रुपूर्ण-लोचन होकर प्रेमावेशमें अपने-आपको सर्वथा भुलाकर केवल प्रेमी परमात्माके रूपमें तन्मयता प्राप्त कर लेता है, तब भला मनको जीतनेमें और कौन-सी बात बच रहती है। अतएव प्रेमपूर्वक परमात्माका नामकीर्तन करना मनपर विजय पानेका एक अत्युत्तम साधन है।

इस प्रकारसे मनको रोककर परमात्मामें लगानेके अनेक साधन और युक्तियाँ हैं। इनमेंसे या अन्य किसी भी युक्तिसे किसी प्रकारसे भी मनको विषयोंसे हटाकर परमात्मामें लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये। मनके स्थिर किये बिना अन्य कोई भी अवलम्बन नहीं। जैसे चञ्चल जलमें रूप विकृत दीख पड़ता है, उसी प्रकार चञ्चल चित्तमें आत्माका यथार्थ स्वरूप प्रतिबिम्बित नहीं होता। परंतु जैसे स्थिर जलमें प्रतिबिम्ब जैसा होता है वैसा ही दीखता है, इसी प्रकार केवल स्थिर मनसे ही आत्माका यथार्थ स्वरूप स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है। अतएव प्राणपणसे मनको स्थिर करनेका प्रयत्न करना चाहिये। अबतक जो इस मनको स्थिर कर सके हैं, वे ही उस श्यामसुन्दरके नित्यप्रसन्न नवीन-नील-नीरद प्रफुल्ल मुखारविन्दका दर्शन कर अपना जन्म और जीवन सफल कर सके हैं। जिसने एक बार भी उस 'अनूपरूप-शिरोमणि' के दर्शनका संयोग प्राप्त कर लिया, वही धन्य हो गया। उसके लिये उस सुखके सामने और सारे सुख फीके पड़ गये! उस लाभके सामने और सारे लाभ नीचे हो गये!

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

'जिस लाभको पा लेनेपर उससे अधिक और कोई-सा लाभ भी नहीं जँचता।' यही योगसाधनका चरम फल है अथवा यही परम योग है।

योग-तत्त्व-मीमांसा

(श्रीसम्प्रदायाचार्य श्रीभाष्यभगवद्विषय उभयसिंहासनाधिपति विश्वाचार्य श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज 'तर्कशिरोमणि')

'योग' भारतीय सनातन धर्म-दर्शन एवं संस्कृतिका अभिन्न अङ्ग है। इसका मूल रूप वैदिक संहिताओंमें सूत्ररूपमे उपनिबद्ध है। योगके बीजका वर्णन कृष्णयजुर्वेदकी 'काठक' शाखामें इस प्रकार उपलब्ध है—**'पूर्णो वै प्रजापतिः समृद्धिभिः। ऊनो व्यृद्धिभिः। पूर्णः पुरुषः कामैः। ऊनः समृद्धिभिः।'** प्रजापति समृद्धियोंसे पूर्ण है। परंतु वह व्यृद्धियों (असमृद्धियों) से ऊन (हीन) है, इसके विपरीत पुरुष (जीव) कामनाओंसे परिपूर्ण है, परंतु समृद्धियोंसे हीन है। पुरुषकी यह समृद्धियोंसे हीनता एवं परमात्माकी समृद्धियोंसे पूर्णता ही योगका बीज बनी है। कारण कि अभावकी पूर्तिके लिये प्राणीकी स्वभावतः प्रवृत्ति है। जिसके पास धन नहीं है, वह धनार्जन करके धनाभावको नष्ट करना चाहता है। जिसके पास ज्ञान नहीं है, वह ज्ञानार्जन करके ज्ञानाभावको नष्ट करना चाहता है। इसी प्रकार अल्पायु जीव दीर्घायु, शक्तिहीन जीव शक्तिमान्, दुःखी जीव आनन्दवान् होनेकी कामना करता है। जीवमें इन सभी वस्तुओंका अभाव है, परंतु परमात्मामें ये सभी वस्तुएँ पूर्णरूपसे विद्यमान हैं। परमात्माकी आयु अनन्त है। अर्थात् वह अनादि-अनन्त है। उसकी शक्ति अनन्त है। वह विश्वकर्मा है। वह अनन्तानन्त शक्तियोंका घन है। उसका ज्ञान अनन्त है। वह सर्वज्ञ है। उसके बल-ऐश्वर्य आदि सब अनन्त हैं। इस कारण उसके पास पहुँचकर, उनसे मिलकर उन अभिलषित वस्तुओंको प्राप्त करनेकी लालसा मनुष्यके हृदयमें निसर्गसे उठती है। यह जो उनके पास पहुँचनेकी लालसा है, उसके पूर्ण करनेके उपायको 'उपासना' कहते हैं। अर्थात् परमात्माके समीप जाने अथवा उसके सामीप्यलाभको प्राप्त करनेके उपायको उपासना कहते हैं, यही योग है। इसका आरण्यक और उपनिषद्-भागमें 'भक्ति' भी नामान्तर है। महापुरुषोंके मतमें सर्वोच्च जीवन-विज्ञानके अनुसार मानवका अनन्त शाश्वत जीवन वही है कि जिसमें सर्वतोव्यापी पूर्ण सत्ताके साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध बना रहे। यही शाश्वत जीवन परमात्माके अनुभवका जीवन है। परमात्माके अनुभवका यही रहस्य है कि उनके साथ सदैव सम्बन्ध अविच्छिन्न बना रहे। ऐसा सम्बन्ध ही योग कहलाता है। इसका ही अपर नाम उपासना अर्थात् सामीप्य है। यह नवधा भक्तिसे भिन्न है।

इस उपर्युक्त योगतत्त्वका वर्णन महापुरुषोंने प्रकारान्तरसे इस प्रकार किया है—उनका अनुभव इस प्रकार है—मनुष्यमें वह योग्यता है कि सर्वशक्तिमान्‌से वह अपने आत्माका सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। इस तत्त्वके यथार्थ समझने एवं करनेपर नरसे नारायण हो सकता है। अर्थात् नारायण-सम हो जाता है। नारायण-सम होते ही वह यह अनुभव करने लगता है कि वह सभी दिव्य शक्तियोंका केन्द्र बन गया है। वह स्वयं महान् शक्तिमान् है। उस समय प्रकृतिके सभी पदार्थ उसकी आज्ञासे काम करने लगते हैं। केवल प्राकृत सुख एवं केवल प्राकृत विज्ञान मनुष्यका परम मङ्गल नहीं है, परंतु पूर्ण मङ्गलमय परमात्माके साथ सतत सामीप्यका लाभ ही परम मङ्गल है। दूसरे शब्दोंमें जीवनका परम लक्ष्य वही श्रेष्ठतर कर्म है, जिसके द्वारा मानवीय सत्ता व्यापक भगवत्सत्ताके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाय। मनुष्यमें सामर्थ्य है कि वह अपना सम्बन्ध भगवान्‌की अलौकिक शक्तिके साथ कर सकता है। इस प्रकारका सम्बन्ध एक बार भी हो जाय और इसका रहस्य भी समझमें आ जाय तो मनुष्य पुनः मायाका दास नहीं बना रह सकता, वह भगवद्दास हो जाता है। वह स्वयं प्रभु-समान बन जाता है। उस समय मनुष्यके अनुभवमें आ जाता है कि सब शक्तियोंका आकर अपने भीतर ही विद्यमान है, उसमें सर्वशक्तिमान्‌की उपासनासे सभी शक्तियोंका प्राकट्य हो जाता है और वे सभी शक्तियाँ उसकी आज्ञासे काम करने लगती हैं। परंतु परमात्मा अव्यक्त होनेसे इन्द्रियातीत हैं। हमारे दृष्टिगोचर नहीं होते, अर्थात् हमको दीखते नहीं हैं। जीवपर प्रकृतिका आवरण होनेसे वह उससे बहुत दूर स्थित-जैसा है। उसके पास यकायक कैसे जाया जाय। अर्थात् प्रकृतिपरायण मानव-चित्त यकायक अधिकारयुक्त नहीं हो सकता, इसका समाधान योगके द्वारा होता है। चित्तवृत्ति-निरोधद्वारा आत्मसाक्षात्कारके लिये निर्दिष्ट क्रियाओंका नाम योग है। इस योगके चार पर्व हैं। उनके नाम हैं—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग एवं राजयोग। इनमें मन्त्रयोग स्थूल, हठयोग सूक्ष्म, लययोग

सूक्ष्मतर एवं राजयोग सूक्ष्मतम है। अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। इन चारोंका स्वरूप अति संक्षेपमें इस प्रकार है—

शब्द (मन्त्र एवं अर्थ), मूर्ति—इन दोनोंके अवलम्बनसे जो योग साधा जाता है वह मन्त्रयोग है। जिन क्रियाओंसे चित्तवृत्तिका निरोध किया जाता है वह हठयोग है। पुरुषमें प्रकृतिका लय लययोग है। जो अन्तःकरण (बुद्धि)-के द्वारा साधा जाता है वह राजयोग है। योगोंमें श्रेष्ठ होनेके कारण इसको राजयोग कहते हैं। राजयोगमें बुद्धिसे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाओंका अधिक सम्बन्ध है। लययोगमें मानस-क्रियाका आधिक्य है। हठयोगमें वायुजय-क्रियाका आधिक्य है और मन्त्रयोगमें ब्रह्मचर्य-रक्षा और रेतोधारणपर विशेष आग्रह है। इनका विशेष विवरण तो योगकी मूल संहिताओंमें ही देखना आवश्यक है।

अनासक्तियोग

(स्व० पं० श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय, शास्त्री)

(१)

अलकें किसी मंजु सुहागिनकी जिसे नागिन-सी डँस जातीं नहीं।
लड़ चञ्चल आँखें सुदूरहीसे उर-भौनमें आग लगातीं नहीं॥
अधरोंकी कभी वह हाला जिसे मधु-प्याला बनी ललचाती नहीं।
परवाह उसे भवकूपकी क्या जिसे रूपकी ज्वाला जलाती नहीं॥

(२)

कहाँ दौड़ पड़ा दृग मूँद अरे! रसबूँदकी चाहमें प्यासा यहाँ।
दम घूँटता एक ही घूँट पिये चला खेलने प्राणका पाँसा यहाँ॥
भरा कंचनका घड़ा है विषसे खड़ा तू लिये कैसी दुराशा यहाँ।
यह जिंदगी ही मिट जाती, नहीं बुझ पाती किसीकी पिपासा यहाँ॥

(३)

कहीं क्रीडनके लिये नीड बना, कहीं डोल हिंडोल रहे अगमें।
धन, यौवन, रूप, सनेह सुधा—सभी मोहक साज सजा मगमें॥
जरा होश सँभालके आगे बढ़ो, पड़ जाय न बेड़ी कहीं पगमें।
तुम्हें बाँधनेके लिये चित्त-विहंगम! जाल अनेकों बिछे जगमें॥

(४)

अभिमान तुझे जिस आयुका है उसे एक ही झोंकमें वायु उड़ाता।
नवयौवनकी मदिरा भी अरे! बली काल अकालहीमें ढुलकाता॥
फिर वैभव-भोगकी बात ही क्या, क्षणमें जो प्रभात-सा है मिट जाता।
यह सारा प्रपञ्च ही है सपना, अपना कहके किसे नेह लगाता॥

(५)

जलती जो सदा ही सनेहसे है उससे करनेको सनेह चलो नहीं।
गति एकको देख विवेक करो, फँस मोहके फंदमें यों फिसलो नहीं॥
रसपानके लोभमें जान गवाँ अनजान-से हा! अपनेको छलो नहीं।
उस दाहक सुन्दरता पै अरे बन बावले प्रेमी पतंग! जलो नहीं॥

(६)

कभी मर्म न जाना उपासनाका, किये वासनाको तू प्रपंचित ही रहा।
पथ मुक्तिका भूला, बँधा मुकुलोंमें, न चेत अभी तुझे किञ्चित् भी रहा॥
कमलालयमें भी सदा करता कमलोंके परागको संचित ही रहा।
कमलेशमें राग हुआ नहिं हा! रसलोभी मलिन्द! तू वंचित ही रहा॥

(७)

कलगानपै मोहित होकर जो अलियोंसे नहीं तुम नेह लगाते।
मधु सौरभ पुण्य पराग सभी निज हाथसे साथ ही यों न गँवाते॥
लगे दाग नहीं यदि होते, तुम्हें अनुरागसे देव भी माथ चढ़ाते।
निज भूलपै रोकर फूल! नहीं तुम धूलमें यों अपनेको मिलाते॥

योगः कर्मसु कौशलम्

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीता समतामें ही साधनकी पूर्णता मानती है। यदि समता आ जाय तो सिद्ध पुरुषोंके सब लक्षण अपने-आप आ जाते हैं। यदि किसी साधकमें अन्य लक्षण तो हैं, पर समता नहीं है तो उसका साधन पूर्ण नहीं है। इसलिये गीतामें जहाँ-जहाँ सिद्धोंके लक्षण आये हैं, वहाँ-वहाँ समताकी मुख्यता आयी है। तात्पर्य है कि समता ही गीताका ध्येय है।

गीताका उपदेश दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे आरम्भ होता है। उपदेशके आरम्भमें भगवान्‌ने ग्यारहवें श्लोकसे तीसवें श्लोकतक शरीरी-शरीर, सत्-असत्, नित्य-अनित्य विवेकका वर्णन किया। फिर इकतीसवेंसे अड़तीसवें श्लोकतक क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करनेकी आवश्यकताका वर्णन करके उनतालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।

(२। ३९)

'यह (अड़तीसवें श्लोकमें वर्णित[1]) समता पहले सांख्ययोगमें कही गयी, अब तू इसको योगके विषयमें सुन।'

यहाँ पहली बार 'बुद्धि' शब्दका प्रयोग हुआ है। इससे पहले कहीं 'बुद्धि' शब्द नहीं आया। उनतालीसवें श्लोकसे जो प्रकरण आरम्भ हुआ है, उसमें 'समता' को ही कहीं 'बुद्धि' शब्दसे (२। ३९, ४९—५१), कहीं 'योग' शब्दसे (२। ४८, ५०, ५३) और कहीं 'बुद्धियोग' शब्दसे (२। ४९) कहा गया है। अड़तालीसवें श्लोकमें भगवान् 'योग'की परिभाषा बताते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(२। ४८)

'हे धनंजय! तू आसक्तिका त्याग करके सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर; क्योंकि समताको ही योग कहा जाता है।'

इसके बाद पचासवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

'बुद्धि (समता) से युक्त मनुष्य वर्तमानमें ही पुण्य और पाप दोनोंसे रहित (निर्लिप्त) हो जाता है। अतः तू योग (समता) में लग जा; क्योंकि योग ही कर्मोंमें कुशलता है।'

इस श्लोकमें आये '**योगः कर्मसु कौशलम्**' पदोंपर विचार करें तो इनके दो अर्थ लिये जा सकते हैं—

(१) '**कर्मसु कौशलं योगः**' अर्थात् कर्मोंमें कुशलता ही योग है।

(२) '**कर्मसु योगः कौशलम्**' अर्थात् कर्मोंमें योग ही कुशलता है।

अगर पहला अर्थ लिया जाय कि 'कर्मोंमें कुशलता ही योग है' तो जो बड़ी कुशलतासे, सावधानीसे चोरी, ठगी आदि कर्म करता है, उसका कर्म 'योग' हो जायगा! परंतु ऐसा मानना उचित नहीं है और यहाँ निषिद्ध कर्मोंका प्रसंग भी नहीं है। अगर यहाँ शुभ-कर्मोंको ही कुशलतापूर्वक करनेका नाम योग मानें तो मनुष्य कुशलतापूर्वक, साङ्गोपाङ्ग किये हुए शुभ-कर्मोंके फलसे बँध जायगा—'**फले सक्तो निबध्यते**' (गीता ५। १२); अतः उसकी स्थिति समतामें नहीं रहेगी और उसके दुःखोंका नाश नहीं होगा।

शास्त्रमें आया है—'**कर्मणा बध्यते जन्तुः**' 'कर्मोंसे मनुष्य बँध जाता है।' अतः जो कर्म स्वभावसे ही मनुष्यको बाँधनेवाले हैं, वे ही मुक्ति देनेवाले हो जायँ—यही वस्तुतः कर्मोंमें कुशलता है। मुक्ति योग (समता) से होती है, कर्मोंमें कुशलतासे नहीं। कर्म कितने ही बढ़िया हों, उनका आरम्भ तथा अन्त होता है और उनके फलका भी संयोग तथा वियोग होता है। जिसका आरम्भ और अन्त, संयोग और वियोग होता है, उसके द्वारा मुक्तिकी प्राप्ति कैसे होगी? नाशवान्‌के द्वारा अविनाशीकी प्राप्ति कैसे होगी? अतः महत्त्व योगका है, कर्मोंका नहीं।

१-सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ (२। ३८)
'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके फिर युद्धमें लग जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको प्राप्त नहीं होगा।'

अगर उपर्युक्त अर्थ ही ठीक माना जाय तो भी 'कुशलता' के अन्तर्गत समता, निष्कामभावको ही लेना पड़ेगा अर्थात् कर्मोंमें कुशलता ही योग है तो 'कुशलता' क्या है? इसके उत्तरमें यह कहना ही पड़ेगा कि योग (समता) ही कुशलता है। ऐसी स्थितिमें 'कर्मोंमें योग ही कुशलता है' ऐसा सीधा अर्थ क्यों न ले लिया जाय? जब उपर्युक्त पदोंमें 'योग' शब्द आया ही है, तो फिर 'कुशलता'का अर्थ योग लेनेकी जरूरत ही नहीं है।

अगर प्रकरणपर विचार करें तो योग (समता) का ही प्रकरण चल रहा है, कर्मोंकी कुशलताका नहीं। भगवान् **'समत्वं योग उच्यते'** (२।४८) कहकर योगकी परिभाषा भी बता चुके हैं। अतः इस प्रकरणमें योग ही विधेय है, कर्मोंमें कुशलता विधेय नहीं है। योग ही कर्मोंमें कुशलता है अर्थात् कर्मोंको करते हुए हृदयमें समता रहे, राग-द्वेष न रहें—यही कर्मोंमें कुशलता है। इसलिये **'योगः कर्मसु कौशलम्'**—यह योगकी परिभाषा नहीं है; किंतु योगकी महिमा है।

इसी (पचासवें) श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्ने कहा है कि समतासे युक्त मनुष्य पुण्य और पाप दोनोंसे रहित हो जाता है। यदि मनुष्य पुण्य और पाप दोनोंसे रहित हो जाय तो फिर कौन-सा कर्म कुशलतासे किया जायगा?

गीतामें 'कुशल' शब्दका प्रयोग अठारहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भी हुआ है—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥

'जो अकुशल कर्मसे द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता, वह त्यागी, बुद्धिमान्, संदेहरहित और अपने स्वरूपमें स्थित है।'

यहाँ 'अकुशल कर्म' के अन्तर्गत सकामभावसे किये जानेवाले और शास्त्रनिषिद्ध कर्म आते हैं तथा 'कुशल कर्म' के अन्तर्गत निष्कामभावसे किये जानेवाले शास्त्रविहित कर्म आते हैं। अकुशल और कुशल कर्मोंका तो आदि-अन्त होता है, पर योग (समता) का आदि-अन्त नहीं होता। बाँधनेवाले राग-द्वेष ही हैं, कुशल-अकुशल कर्म नहीं। अतः रागपूर्वक किये गये कर्म कितने ही श्रेष्ठ क्यों न हों, वे बाँधनेवाले ही हैं; क्योंकि उन कर्मोंसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति भी हो जाय तो भी वहाँसे लौटकर पीछे आना पड़ता है—**'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।'** (गीता ८।१६)। इसलिये जो मनुष्य अकुशल कर्मका त्याग द्वेषपूर्वक नहीं करता और कुशल कर्मका आचरण रागपूर्वक नहीं करता, वही वास्तवमें त्यागी, बुद्धिमान्, संदेहरहित और अपने स्वरूपमें स्थित है[2]।

उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध हुआ कि **'योगः कर्मसु कौशलम्'** पदोंका अर्थ 'कर्मोंमें कुशलता ही योग है'—ऐसा न मानकर 'कर्मोंमें योग ही कुशलता है'—ऐसा ही मानना चाहिये। अब 'योग' क्या है—इसपर विचार किया जाता है।

गीतामें 'योग' शब्दके तीन अर्थ हैं—(१) समता; जैसे—**'समत्वं योग उच्यते'** (२।४८); (२) सामर्थ्य, ऐश्वर्य, प्रभाव; जैसे—**'पश्य मे योगमैश्वरम्'** (९।५); और (३) समाधि; जैसे—**'यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया'** (६।२०)। यद्यपि गीतामें 'योग' का अर्थ मुख्यतासे 'समता' ही है, तथापि 'योग' शब्दके अन्तर्गत तीनों ही अर्थ लेने चाहिये।

पातञ्जलयोगदर्शनमें चित्तवृत्तियोंके निरोधको 'योग' कहा गया है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** (१।२)। इस योगके परिणामस्वरूप द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थिति हो जाती है—**'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** (१।३)। इस प्रकार पातञ्जल-योगदर्शनमें योगका जो परिणाम बताया गया है, उसीको गीता 'योग' कहती है[3]। तात्पर्य है कि गीता चित्तवृत्तियोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक स्वतःसिद्ध सम-स्वरूपमें स्वाभाविक

२-दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते। गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः॥ (श्रीमद्भा० ११।७।११)

'जो मनुष्य अनुकूलता-प्रतिकूलतारूप द्वन्द्वोंसे ऊँचा उठ जाता है, वह शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका त्याग करता है, पर द्वेषबुद्धिसे नहीं और शास्त्रविहित कर्मोंको करता है, पर गुणबुद्धिसे अर्थात् रागपूर्वक नहीं। जैसे घुटनोंके बलपर चलनेवाले बच्चेकी निवृत्ति और प्रवृत्ति राग-द्वेषपूर्वक नहीं होती, ऐसे ही उभयातीत मनुष्यकी निवृत्ति और प्रवृत्ति भी राग-द्वेषपूर्वक नहीं होती। (बच्चेमें तो अज्ञता रहती है, पर राग-द्वेषसे रहित मनुष्यमें विज्ञता रहती है।)

३-'समत्वं योग उच्यते' (२।४८) 'समताको ही योग कहा जाता है' और 'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्' (६।२३) 'जिसमें दुःखोंके संयोगका वियोग है, उसको योग नामसे जानना चाहिये'—ये दोनों ही भगवान्‌की दृष्टिमें 'योग' की परिभाषाएँ हैं।

स्थितिको 'योग' कहती है। इस समतामें स्थित होनेपर फिर कभी इससे वियोग अर्थात् व्युत्थान नहीं होता, इसलिये इसको 'नित्ययोग' कहते हैं। चित्त-वृत्तियोंका निरोध होनेपर तो 'निर्विकल्प-अवस्था' होती है। पर समतामें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव होनेपर 'निर्विकल्प बोध' होता है। निर्विकल्प बोध अवस्था नहीं है, प्रत्युत सम्पूर्ण अवस्थाओंसे अतीत तथा उनका प्रकाशक एवं सम्पूर्ण योग-साधनोंका फल है। इस प्रकार गीताका योग पातञ्जलयोगदर्शनके योगसे बहुत विलक्षण है।

परमात्मा सम हैं—**'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** (गीता ५। १९)। जीव परमात्माका अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७); अतः समरूप परमात्माके साथ जीवका सम्बन्ध अर्थात् योग नित्य है। इस स्वतःसिद्ध नित्ययोगका ही नाम 'योग' है, यह नित्ययोग सब देशमें है, सब कालमें है, सब क्रियाओंमें है, सब वस्तुओंमें है, सब व्यक्तियोंमें है, सब अवस्थाओंमें है, सब परिस्थितियोंमें है, सब घटनाओंमें है। तात्पर्य है कि इस नित्ययोगका कभी वियोग हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं। परंतु असत् (शरीर)के साथ अपना सम्बन्ध मान लेनेसे इस नित्ययोगका अनुभव नहीं होता। दुःखरूप असत्के साथ माने हुए संयोगका वियोग (सम्बन्ध-विच्छेद) होते ही इस नित्ययोगका अनुभव हो जाता है—**'तं विद्याद्दुःखसंयोग-वियोगं योगसंज्ञितम्'** (गीता ६। २३)। यही गीताका मुख्य योग है और इसी योगका अनुभव करनेके लिये गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग आदि साधनोंका वर्णन किया है। परंतु इन साधनोंको योग तभी कहा जायगा, जब असत्से सम्बन्ध-विच्छेद और परमात्माके साथ नित्य सम्बन्धका अनुभव होगा।

पातञ्जलयोगदर्शनके योगका अधिकारी वह है, जो मूढ़ और क्षिप्त वृत्तिवाला नहीं है, प्रत्युत विक्षिप्त वृत्तिवाला है। परंतु भगवान्‌की प्राप्ति चाहनेवाले सब-के-सब मनुष्य गीताके योगके अधिकारी हैं। इतना ही नहीं, जो मनुष्य भोग और संग्रहको महत्त्व न देकर इस योगको ही महत्त्व देता है और इसको प्राप्त करना चाहता है—ऐसा योगका जिज्ञासु भी वेदोंमें वर्णित सकामकर्मोंका अतिक्रमण कर जाता है—

'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥'

(गीता ६। ४४)।

इस योग (समता) की महिमा भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके उनतालीसवें-चालीसवें श्लोकोंमें चार प्रकारसे कही है—

(१) **'कर्मबन्धं प्रहास्यसि'**—समताके द्वारा मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

(२) **'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'**—इसके आरम्भका भी नाश नहीं होता।

(३) **'प्रत्यवायो न विद्यते'**—इसके अनुष्ठानका उलटा फल भी नहीं होता।

(४) **'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'**—इसका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान जन्म-मरणरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है।

यद्यपि पहली बातके अन्तर्गत ही शेष तीनों बातें आ जाती हैं, तथापि सबमें थोड़ा अन्तर है; जैसे—

(१) भगवान् पहले सामान्य रीतिसे कहते हैं कि समतासे युक्त मनुष्य कर्मबन्धनसे छूट जाता है। बन्धनका कारण गुणोंका संग अर्थात् प्रकृतिसे माना हुआ सम्बन्ध है —**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। समता आनेसे प्रकृतिका सम्बन्ध नहीं रहता; अतः मनुष्य कर्मबन्धनसे छूट जाता है। जैसे संसारमें अनेक शुभाशुभ कर्म होते रहते हैं, पर वे कर्म हमें बाँधते नहीं; क्योंकि उन कर्मोंसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं होता, ऐसे ही समतायुक्त मनुष्यका अपने कर्मोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

(२) समताका केवल आरम्भ हो जाय अर्थात् समताको प्राप्त करनेका उद्देश्य, जिज्ञासा हो जाय तो इस आरम्भका भी कभी नाश नहीं होता। कारण कि अविनाशीका उद्देश्य भी अविनाशी ही होता है, जबकि नाशवान्‌का उद्देश्य भी नाशवान् ही होता है। नाशवान्‌का उद्देश्य तो नाश (पतन) करता है, पर समताका उद्देश्य कल्याण ही करता है—

'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते'

(गीता ६। ४४)

(३) समताके अनुष्ठानका उलटा फल नहीं होता। सकामभावसे किये जानेवाले कर्ममें अगर मन्त्रोच्चारण, अनुष्ठान-विधि आदिकी कोई त्रुटि हो जाय तो उसका उलटा

फल हो जाता है[४]। परंतु जितनी समता अनुष्ठानमें (जीवनमें) आ गयी है, उसमें अगर व्यवहार आदिकी कोई भूल हो जाय, सावधानीमें कोई कमी रह जाय तो उसका उलटा फल (बन्धन) नहीं होता। जैसे कोई हमारे यहाँ नौकरी करता है और अँधेरेमें लालटेन जलाते समय कभी उसके हाथसे लालटेन गिरकर टूट जाय तो हम उसपर नाराज होते हैं; परंतु उस समय जो हमारा मित्र है, हमारेसे कुछ चाहता नहीं, उसके हाथसे लालटेन गिरकर टूट जाय तो हम उसपर नाराज नहीं होते, प्रत्युत कहते हैं कि हमारे हाथसे भी वस्तु टूट जाती है, तुम्हारे हाथसे वस्तु टूट गयी तो चिन्ताकी क्या बात है ? अतः जो सकामभावसे कर्म करता है, उसके कर्मका तो उलटा फल हो सकता है, पर जो किसी प्रकारका फल चाहता ही नहीं, उसके अनुष्ठानका उलटा फल कैसे हो सकता है ?

(४) समताका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान हो जाय, थोड़ा-सा भी समताका भाव बन जाय तो वह जन्म-मरणरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है अर्थात् कल्याण कर देता है। जैसे सकाम कर्म फल देकर नष्ट हो जाता है, ऐसे यह थोड़ी-सी भी समता फल देकर नष्ट नहीं होती, प्रत्युत इसका उपयोग केवल कल्याणमें ही होता है। यज्ञ, दान, तप आदि शुभ-कर्म यदि सकाम-भावसे किये जायँ तो उनका नाशवान् फल (धन-सम्पत्ति एवं स्वर्गादिकी प्राप्ति) होता है और यदि निष्कामभावसे किये जायँ तो उनका अविनाशी फल (मोक्ष) होता है। इस प्रकार यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्मोंके तो दो-दो फल हो सकते हैं, पर समताका एक ही फल—कल्याण होता है। जैसे कोई मुसाफिर चलते-चलते रास्तेमें रुक जाय अथवा सो जाय तो वह जहाँसे चला था, वहाँ पुनः लौटकर चला नहीं जाता, प्रत्युत जहाँतक वह पहुँच गया, वहाँतकका रास्ता तो कट ही गया। ऐसे ही जितनी समता जीवनमें आ गयी, उसका नाश योगभ्रष्ट होनेपर भी नहीं होता अर्थात् स्वर्गादि लोकोंमें बहुत वर्षोंतक सुख भोगनेपर अथवा मृत्युलोकमें श्रीमानोंके घरमें सुख भोगनेपर भी उस समताका नाश नहीं होता (गीता ६। ४१—४४)।

उपसंहार

समताकी प्राप्तिके लिये बुद्धिकी स्थिरता बहुत आवश्यक है। पातञ्जलयोगदर्शनमें तो मनकी स्थिरता (वृत्तिनिरोध) को महत्त्व दिया गया है, पर गीता बुद्धिकी स्थिरता (उद्देश्यकी दृढ़ता)को ही महत्त्व देती है (२। ५५—६८)। कारण कि कल्याणप्राप्तिमें मनकी स्थिरताका उतना महत्त्व नहीं है, जितना बुद्धिकी स्थिरताका महत्त्व है। मनकी स्थिरतासे लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, पर बुद्धिकी स्थिरतासे लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त न होकर पारमार्थिक सिद्धि (कल्याणप्राप्ति) होती है। कर्मयोगमें बुद्धिकी स्थिरता ही मुख्य है[५]। अगर मनकी स्थिरता होगी तो कर्मयोगी कर्तव्य-कर्म कैसे करेगा ? कारण कि मन स्थिर होनेपर बाहरी क्रियाएँ रुक जाती हैं। भगवान् भी योग (समता)में स्थित होकर कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं—**'योगस्थः कुरु कर्माणि'** (२। ४८)। तात्पर्य है कि कर्मोंका महत्त्व नहीं है, प्रत्युत योग (समता) का ही महत्त्व है। अतः कर्मोंमें योग ही कुशलता है।

४-ऐसी कथा आती है कि त्वष्टाने इन्द्रका वध करनेवाले पुत्रकी इच्छासे एक यज्ञ किया। उस यज्ञमें ऋषियोंने 'इन्द्रशत्रु विवर्धस्व' इस मन्त्रके साथ हवन किया। 'इन्द्रशत्रु' शब्दमें यदि षष्ठीतत्पुरुष-समास हो तो इसका अर्थ होगा—'इन्द्रस्य शत्रुः' (इन्द्रका शत्रु); और यदि बहुव्रीहि समास हो तो इसका अर्थ होगा—'इन्द्रः शत्रुर्यस्य' (जिसका शत्रु इन्द्र है)। समासमें भेद होनेसे स्वरमें भी भेद हो जाता है। अतः षष्ठीतत्पुरुष समासवाले 'इन्द्रशत्रु' शब्दका उच्चारण अन्त्योदात्त होगा अर्थात् अन्तिम अक्षर 'त्रु' का उच्चारण उदात्त स्वरसे होगा, और बहुव्रीहिसमासवाले 'इन्द्रशत्रु' शब्दका उच्चारण आद्योदात्त होगा अर्थात् प्रथम अक्षर 'इ' का उच्चारण उदात्त स्वरसे होगा। ऋषियोंका उद्देश्य तो षष्ठीतत्पुरुष-समासवाले 'इन्द्रशत्रु' शब्दका अन्त्योदात्त उच्चारण करना था; परंतु उन्होंने उसका आद्योदात्त उच्चारण कर दिया। इस प्रकार (दोनों समासोंका अर्थ एक होनेपर भी) स्वरभेद हो जानेसे मन्त्रोच्चारणका उलटा फल हो गया, जिससे इन्द्र ही त्वष्टाके पुत्र (वृत्रासुर) का वध करनेवाला हो गया। इसलिये कहा गया है—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ (पाणिनीयशिक्षा)

५-व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ (गीता २। ४१)

'हे कुरुनन्दन ! इस समबुद्धिकी प्राप्तिके विषयमें व्यवसायात्मिका बुद्धि एक ही होती है। अव्यवसायी मनुष्योंकी बुद्धियाँ अनन्त और बहुशाखाओंवाली ही होती हैं।'

परो हि योगो मनसः समाधिः

(जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य गोस्वामी श्रीललितकृष्णजी महाराज)

मनकी समाधि-स्वरूपता ही परम योग है, यही योगका परम लक्ष्य है। 'स्व' का स्वकीयसे जुड़ना ही योग शब्दका रूढ़ अर्थ है। 'मैं' तथा 'मेरा'—यह अभिमान ही मानस रोग है, इनसे मनमें काम, क्रोध, लोभ आदि मल आते हैं, जिससे मन मलिन हो जाता है। मलिन-मन जीवात्मा अपनी वास्तविकता खो बैठता है, उसका स्वरूप विकृत हो जाता है। इस विकृतिको दूर करनेके लिये ही योगकी आवश्यकता होती है। विकृति नष्ट हो जाय, मन अविकृत हो जाय तो जीवात्मा भी अविकृत हो जाय। अविकृतता ही जीवका स्वरूप है, इसे ही भागवतमें परम लक्ष्य—मुक्ति कहा गया है—

'मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ॥'

अर्थात् अन्यथा विकृत-रूपको छोड़कर स्वरूपमें व्यवस्थित हो जाना ही मुक्ति है। सुख-दुःख, मानापमान आदि द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियाँ ही मनको मलिन करती हैं, उनमें समत्वका बोध हो जाना ही समाधिका फल है। समाधि-स्थितिमें समाधान और समाप्ति होती है, समका आधान अर्थात् स्थापन, स्थैर्य, स्वस्थता, एकनिष्ठता, शान्ति, संतोष एवं भगवान्के गुणोंके चिन्तनकी अर्हता प्राप्त होती है। समाधान वस्तुतः समत्वका आधान है, हमारे अन्तःकरणरूपी गर्भमें समत्वका विक्षेप होता है। **'समत्वं योग उच्यते'**—में इसीका उल्लेख है। समत्वकी प्राप्ति समाप्ति है जो निष्पन्नता, पूर्ति, अन्त आदि अर्थोंका द्योतक है। इस अवस्थामें जीवात्माकी आधियोंका अन्त हो जाता है, वह स्वतःमें निष्पन्न और पूर्ण हो जाता है।

पातञ्जलयोगके अन्तिम सूत्रमें समस्त पुरुषार्थोंकी वृत्तियोंका भगवद्गुणोंमें प्रतिप्रसव अर्थात् आधान होना या चितिशक्तिकी स्वरूप-प्रतिष्ठाको कैवल्य कहा गया है[1]। चित्त और पुरुष दोनोंमें समत्व आनेपर ही निर्मलता होती है, तभी कैवल्य-स्थिति होती है, **'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्'** इस योगसूत्रका यही लक्ष्य है।

महामुनि श्रीशुकदेवने राजा परीक्षित्को कैवल्य-प्राप्तिके लिये ध्यानका परामर्श दिया और ज्ञानयोगी एवं भक्तियोगीके लिये पृथक्-पृथक् ध्यानकी विधि भी बतलायी। ज्ञानयोगीको आसन, आहार, श्वास और आसक्तिको संयमित करना चाहिये, तभी वह विराट् पुरुषकी धारणामें निष्ठ होकर ध्यान कर सकेगा। किंतु भक्तियोगमें हृदयावकाशमें भगवान्की सगुण मूर्तिको स्थापित कर एकाग्र होकर उपासनामें संलग्न होनेसे ध्यान बनता है। इसे उपनिषदोंमें दहरोपासना कहा गया है। भागवत (१०। ८७। १८)की वेदस्तुतिके **'हृदयमारुणयो दहरम्'** स्तुति-वाक्यमें दहरोपासनाको आरुणिने श्रीनिम्बार्ककी उपासना-पद्धति बतलाया है। ऐसे ही महानुभावोंका उल्लेख श्रीशुकदेवजी **'केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।'** (श्रीमद्भा० २। २। ८) इत्यादिमें करते हुए भक्तियोगकी ध्यान-पद्धतिको किन्हीं विशिष्ट आचार्यका मत बतलाते हैं।

योगदर्शनमें इसे 'ईश्वरप्रणिधान' अर्थात् भगवद्भक्ति कहा गया है और इससे समाधि-सिद्धि और मुक्ति बतलायी गयी है।

भक्तियोगमें भगवत्स्वरूप और भगवान्के गुणोंका स्मरण करते हुए ध्यानका विधान है, जिससे विशोका ज्योतिष्मती मानस-प्रवृत्ति बनती है, एकमात्र ध्येय भगवान्का ही प्रकाश रहता है, उपासक अपनेपनके आभाससे शून्य आत्मविभोर हो जाता है और निर्विचार-समाधिमें लीन हो जाता है। योगदर्शनके **'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का'** (१। ४३)—इस सूत्रमें यही कहा गया है।

निर्विचार-समाधिमें समस्त दुःखोंकी निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि अन्तःकरण आननन्दमय हो जाता है—**'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः'** (१। ४१) योगसूत्रका ऐसा ही मत है।

'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।'—इस गीतोक्त भगवदीय वचनका भी यही तात्पर्य है।

ऐसी समाहित-चित्त-स्थितिमें ऋतम्भरा प्रज्ञाका उदय होता है, वही समाधान है। **'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'** (योग० सू०

१-पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति। (योग० ४। ३४)

१।४८)। इस स्थितिमें एकमात्र सत्यस्वरूप भगवान्का ध्यान ही अवशिष्ट रहता है। योगसूत्रके व्यासभाष्यकी कारिका कहती है—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥

अर्थात् 'आगम, अनुमान और ध्यानके अभ्याससे ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रकट होती है, यही उत्तम योग है।'

वाचस्पतिमिश्रके विचारानुसार आगमका अर्थ है वेदविहित भगवद्गुण-श्रवण, अनुमानका अर्थ है उन्हींका मनन और तदनुसार स्वरूप-ध्यानसे भगवद्-रस प्रकट होता है। इसे ही निदिध्यासन कहते हैं।

भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यने आह्लादिनी श्रीराधाका स्मरण और आनन्दमय श्रीकृष्णके ध्यानका विधान हृदयावकाशमें बतलाया है। उन्होंने इन्हींकी लीलाओंका श्रवण, मनन और ध्यान करते हुए रसानुभूति करनेका भक्तोंको परामर्श दिया है।

योगदर्शन-भाष्यमें व्यासजी कहते हैं—'**समाधिप्रज्ञा-प्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारो नवो नवो जायते।**' अर्थात् निर्विचार-समाधिसे प्रकट ऋतम्भरा प्रज्ञामें भक्तियोगीको प्रज्ञाकृत संस्कारसे नित्य नया रसानुभाव होता है। यही वैष्णवोंका परमयोग है। गीतोक्त पूर्णप्रज्ञाप्रतिष्ठाका भी यही तात्पर्य है।

रसोपासक श्रीनिम्बार्कानुयायी श्रीभट्ट, हरिव्यास, हरिदास एवं राधाचरणानन्योपासक हितहरिवंश आदि इसी परमयोगमें निमग्न रहते थे।

नाथसम्प्रदायमें योगसाधना

(गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज)

नाथयोगविद्या शिवविद्या अथवा महायोगविद्या है। इस साधनाकी आधारशिला स्वसंवेद्य अलख निरञ्जनतत्त्वका पिण्ड और ब्रह्माण्डके सामरस्यके स्तरपर अन्तर्बाह्य साक्षात्कार है। इसके सम्बन्धमें भगवान् योगिराजराजेश्वर शिवने आदिशक्ति महामाया पार्वतीजीसे कहा है—'**शिवविद्या महाविद्या गुप्ता चाग्रे महेश्वरी।**' (शिवसंहिता ५।२४८)

इस योगमार्गमें अद्वैतसे परे परमेश्वर परमशिव ही नाथदेवताके रूपमें परम उपास्य हैं। निराकार, निर्विकार, निर्मल ज्योति ही इस योगमार्गमें परम प्राप्तव्य है। तत्त्वतः परमशिव ही इस योगमार्गमें परम ध्येय हैं, जिनके सांनिध्यमें योगसाधना करते हुए साधक अपने सच्चिदानन्दस्वरूपमें अभिव्यक्त एवं चिदानन्दायित हो उठता है।

नाथसम्प्रदायमें योगसाधनाके द्वारा अमृतत्व-प्राप्ति और मृत्यु-विजयरूप फलसिद्धिको ही योगपुरुषार्थ कहा गया है। हठयोगप्रदीपिकाके मङ्गलाचरणमें उसके प्रणेताने कहा है—

अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः।
पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम्॥

(हठयोगप्रदीपिका ४।१३)

इस योगसाधनाकी पृष्ठभूमि वेदातीत स्वसंवेद्य अलख निरञ्जनतत्त्वकी अन्तरनुभूति है। 'गोरखबानी' में संगृहीत लघुकाय रचना 'सिष्टपुराण' में गोरखनाथजीने साधनाके स्वरूप-निदर्शनमें कहा है—

अपर उपरांति सिद्धि नाहीं। अभय उपरांति रतन नाहीं॥
ध्यान उपरांति ग्रंथ नाहीं। काया उपरांति रतन नाहीं॥
सच उपरांति सास्त्र नाहीं। अघोर उपरांति मंत्र नाहीं॥
निरंजन उपरांति ध्यान नाहीं॥'

—'इस योगमार्गमें काया ही योगसाधनाका महान् क्षेत्र है। अमरकायत्व ही सर्वश्रेष्ठ योगसिद्धि है। अभयपदकी प्राप्ति ही परम सिद्धि है। इष्टदेवका ध्यान ही ग्रन्थ है। शरीर ही सर्वश्रेष्ठ रत्न है। सत्य ही सर्वश्रेष्ठ शास्त्र है। अघोर (शिव) मन्त्र ही सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है और निरञ्जनका ध्यान ही सर्वश्रेष्ठ ध्यान है।'

इस निरञ्जन परमेश्वरकी उपासना ही नाथयोगसाधनाका फल अथवा स्वारस्य है। महायोगी गोरखनाथजीने निरञ्जन-तत्त्वका निरूपण करते हुए कहा है—

उदै न अस्त रात न दिन सरबे चराचर भाव न भिन्न।
सोई निरंजन डाल न मूल, सर्वव्यापीक सुषमन अस्थूल॥

(गोरखबानी सबदी)

इस योगसाधनाका मूल स्रोत क्षीरसागरके तटपर सप्त (सौम्य) शृंगपर महायोगेश्वर शिवद्वारा भगवती पार्वतीके प्रति

उपदिष्ट महायोगज्ञान है, जिसका श्रवण कर योगेन्द्र मत्स्येन्द्रने उस योगज्ञानके ग्रहण और प्रचारके लिये साक्षात् गोरक्षरूपमें अभिव्यक्त शिव-महायोगी गोरखनाथको उचित सत्पात्र स्वीकार किया था। इस तरह नव नाथसिद्ध—चौरंगीनाथ, भर्तृहरिनाथ, गहिनीनाथ, सत्यनाथ, जालन्धरनाथ, कृष्णपाद, गोपीचन्द आदिके द्वारा इस साधन-प्रक्रियाने पोषण प्राप्त किया। यह साधना, योगदर्शन, शिवविद्या अथवा प्राण-साधनाकी सनातन साधन-प्रक्रिया है। यह अनादि, अखण्ड और त्रिकालव्यापी है। यह मार्ग सर्वसिद्धिप्रद और मायाजालको छिन्न-भिन्न करनेवाला है। इस साधनाके फल-स्वरूप अविद्या-अन्धकारमें दिग्भ्रमित जीवात्मा साधक भवबन्धनसे मुक्त होकर नाथयोग-मार्गमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

सर्वसिद्धिकरो मार्गो मायाजालनिकृन्तनम्।
बद्धा येन विमुच्यन्ते नाथमार्गमतःपरम्॥

(योगबीज ६।७)

महायोगी गोरखनाथजीने अमूल, अम्लान, औत्तर, स्पन्दास्पन्द, परिस्पन्द, महोत्पल, भवभयहर, मुक्तिसोपान-संज्ञक, गुह्यसे गुह्य अद्वयतत्त्व द्वैताद्वैतविलक्षण परमतत्त्वका प्रकाशन कर योगसाधकोंको योगामृतसंजीवनी प्रदान की—

जयत्यमूलमम्लानमौत्तरं तत्त्वमद्वयम्।
स्पन्दास्पन्दपरिस्पन्दमहोत्पलम् ॥
भवभयहरं नृणां मुक्तिसोपानसंज्ञकम्।
गुह्याद् गुह्यतरं गुह्यं गोरक्षेण प्रकाशितम्॥

(महार्थमंजरी ८८, ८२)

इस मार्गका साधक प्रायः सभी सामान्य दशाओंसे भिन्न एवं अत्यन्त शान्त होता है। योगकी दृष्टि प्राप्त हो जानेपर वह स्वयंको विराट् पुरुषके रूपमें अनुभव करता है। वह विभिन्न स्वरूपोंमें अभिव्यक्त परमात्माको और समस्त लोकोंको अपने भीतर प्रत्यक्ष देखता है। इस तरह वह ब्रह्माण्डदर्शनका आनन्दोपभोग करता है। वह अपने व्यष्टिपिण्डमें सभीको एकात्मभूत समझता है। यही नाथयोग-साधनाका एक विशिष्टतत्त्व है।

इस साधनामार्गमें गुरुकृपाका महत्त्व अत्यधिक है। वस्तुतः निरञ्जनपदकी प्राप्ति करानेमें गुरुकृपादृष्टि एक अमोघ साधन है—

नमः शिवाय गुरवे नादबिन्दुकलात्मने।
निरञ्जनपदं याति नित्यं यत्र परायणः॥

(हठयोगप्रदीपिका ४।१)

महायोगी गोरखनाथजीने गुरुको भी स्वानन्दविग्रह कहा है। सद्गुरुकी करुणाके बिना योगसाधक सांसारिक विषय-जंजालसे छुटकारा नहीं पा सकता और न उसे तत्त्वका दर्शन ही हो सकता है। उसे सहजावस्था—स्वरूपस्थितिकी प्राप्ति भी दुर्लभ हो जाती है। गुरुकी कृपासे ही हरिपद—निरञ्जनपदकी प्राप्ति होती है। योगिराज भर्तृहरिका कथन है—

गुरू सूँ ग्यान, ग्यान सु बुधि भई। बुधि सूँ अकल प्रकासी।
भनत भरथरी हरिपद परस्या सहज भया अबिनासी॥

(नाथसिद्धोंकी बानियाँ ६७९)

इस योगसाधनामें शिवशक्तिका अभेद-दर्शन उपलब्ध होता है। जिस तरह चन्द्र और चन्द्रिकामें अभिन्नता होती है, उसी तरह शिव और शक्तिमें भी परस्पर अभेद है। अन्य योगसाधनाओंके समान ही जीवात्मा और परमात्माका तादात्म्य ही इस नाथयोगसाधनागत समाधिका भी परम फल है। इसके द्वारा समस्त द्वन्द्वोंका अन्त होकर साधक एकात्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है। इसीका दूसरा नाम हठयोग भी है।

जबतक योगी अथवा अध्यात्मविज्ञानीकी परमात्म-स्वरूपमें स्थिति और सम्पूर्ण निष्ठा नहीं हो जाती, तबतक जन्म-मरणका दुःख नहीं छूट सकता। यह निर्विवाद है कि इस विश्व-प्रपञ्चकी गत्यात्मकताके मूल कारणके रूपमें कोई स्वयं सत्य, स्वयं प्रकाशित सत्ता है, जो हमारी इन्द्रिय, मन-बुद्धिसे परे, अतीन्द्रिय, अतिमानसिक और अतिबौद्धिक स्तरपर अभिव्यक्त है। अतः जो पद अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन किस तरह किया जाय। जो अचिन्त्य है, उसका चिन्तन किस तरह किया जाय।

जो शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होता है, वही आत्माको आत्मामें देखता है और वही सबका आत्मरूप होता है।—उपनिषद्

केशिध्वज जनककी योगसमीक्षा

(पद्मभूषण आचार्य पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

मिथिलाके शासक राजा अपने आध्यात्मिक वैदुष्य तथा अध्यात्म-तत्त्वके वेत्ताओंको आश्रयदानके कारण प्राचीन भारतमें अत्यन्त विख्यात थे, केवल पिता (निमि) के शरीरके अवशेषसे जन्म लेनेके कारण 'जनक', बिना देहसे उत्पन्न होनेके कारण 'विदेह' तथा मन्थनसे उत्पन्न होनेके कारण 'मिथि' कहलाये। वे उनके व्यक्तिगत अभिधान नहीं थे। अतः यह देश मिथिला तथा सभी राजा मैथिल, जनक और विदेह कहलाने लगे। श्रीमद्भागवतके नवम स्कन्धके त्रयोदश अध्यायमें इस वंशका प्रामाणिक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। भागवत तथा विष्णुपुराणमें केशिध्वज जनकका संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

महारानी सीताके पिता सीरध्वज जनकके पौत्र धर्मध्वज जनकके दो पुत्र थे—अमितध्वज तथा कृतध्वज। कृतध्वजके पुत्र थे केशिध्वज जनक और अमितध्वजके खाण्डिक्य जनक। खाण्डिक्य जनक कर्ममार्गमें अत्यन्त निपुण थे और केशिध्वज अध्यात्मविद्याके विशेषज्ञ थे। ये दोनों परस्पर एक-दूसरेको पराजित करनेमें लगे रहते थे। कालक्रमसे केशिध्वजने खाण्डिक्यको राज्यसे च्युत कर दिया और स्वयं राज्यके शासक बन गये। फलतः पराजित होनेके कारण खाण्डिक्यको जनकपुर छोड़ना पड़ा और उन्होंने अपने परिवार तथा परामर्शदाता पुरोहितके साथ जंगलका आश्रय लिया। पराजयसे उनके हृदयको बड़ी चोट लगी और अपने उस वनवासमें अपना एकाकी जीवन व्यतीत करने लगे।

समयने पलटा खाया। विजेता ही विजित व्यक्तिके सामने दीन-हीन-भावसे जिज्ञासुकी मुद्रामें एक दिन स्वयं पहुँचा। पहले तो खाण्डिक्यको अपने पुरातन शत्रुसे बड़ा भय उत्पन्न हुआ, परंतु थोड़ी ही देरमें वह भाव बदल गया, जब जिज्ञासाका प्रसंग छिड़ा। एक विचित्र घटना घटी थी। राज्यसिंहासन प्राप्तकर केशिध्वजने एक विशाल यज्ञका आयोजन किया, परंतु कुछ ही दिनोंमें उनकी धर्मधेनुको जंगलमें एक सिंहने मार डाला। विशाल यज्ञके भंग होनेका दुर्योग आ गया। इसीके प्रायश्चित्तके लिये केशिध्वज कर्मकाण्डके मर्मज्ञ खाण्डिक्य जनकके पास पहुँचे और जिज्ञासाका विधिवत् समाधान होनेपर वे राजधानी लौटे, यज्ञकी यथाविधि पूर्ति हुई। ब्राह्मण याज्ञिकोंकी अर्चना करनेपर भी अपने गुरु-ऋणसे उऋण न होनेपर उनका चित्त शान्त न हुआ। उन्होंने उपदेशके लिये पहले खाण्डिक्यको बहुत-सा धन देना चाहा, परंतु उसे अस्वीकार कर उन्होंने केशिध्वजसे योग-साधनाके आध्यात्मिक तत्त्वकी शिक्षाके लिये प्रार्थना की और इसी प्रसंगमें यह महनीय योग-चिन्तन उपन्यस्त है। विष्णुपुराणके षष्ठ अंशके छठे अध्यायमें इसका विस्तृत विवरण दिया गया है। उसीके आधारपर महायोगी केशिध्वजद्वारा उपदिष्ट यह आध्यात्मिक उपदेश संक्षेपमें दिया जा रहा है—

परमात्माकी प्राप्तिके निमित्त मनुष्योंको दो नेत्र दिये गये हैं। इनमें एक है स्वाध्याय (शास्त्रोंका विधिवत् अध्ययन एवं मनन) तथा दूसरा है योग। इनमेंसे प्रथम सिद्धान्त-पक्ष है और दूसरा व्यवहार-पक्ष। स्वाध्यायसे योगका और योगसे स्वाध्यायका आश्रय लेकर परमतत्त्वकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार स्वाध्याय और योगरूप सम्पत्तिसे परमात्मा प्रकाशित (ज्ञानके विषय) होते हैं—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमावसेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

(वि० पु० ६।६।२)

जीवको अनेक सहस्रों जन्मोंतक सांसारिक भोगोंमें पड़े रहनेके कारण वासनारूपी धूलिसे आच्छादित होना पड़ता है। जैसे भौतिक धूलिको हटानेके लिये जगत्‌में जलकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार इस वासना-जन्य धूलिके अपाकरणके लिये ज्ञानरूपी जलकी आवश्यकता होती है। तभी यह धूलि हट सकती है। धूलि हट जानेके बाद संसारपथके पथिकका मोहरूपी काम शान्त हो जाता है। फलतः प्रथम स्वाध्यायके द्वारा ज्ञानका सम्पादन करना चाहिये। जीवको शान्तिकी प्राप्तिके लिये मनको वशमें करना चाहिये। क्योंकि मन ही मनुष्योंके बन्ध तथा मोक्षका कारण होता है। विषयोंके साथ आसक्ति रखनेवाला मन बन्धका कारण बनता है और विषयोंसे रहित होनेवाला मन मोक्षका कारण बनता है। फलतः इस

मनको अपने वशमें रखनेकी नितान्त आवश्यकता है और मनको वशमें रखनेके लिये विवेकज्ञानसे सम्पन्न होना साधकका परम कर्तव्य है। जिस प्रकार अयस्कान्तमणि (चुम्बक) अपनी शक्तिसे लोहेको खींचकर अपनेमें संयुक्त कर देती है, उसी प्रकार ब्रह्मचिन्तन करनेवाले मुनिको परमात्मा स्वभावसे ही स्वरूपमें लीन कर देते हैं। ब्रह्मके साथ जीवका संयोग ही योग कहलाता है। विष्णुपुराणमें यही योगका लक्षण दिया गया है—

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ॥

(६।७।३१)

मनकी एक सामान्य गति है लौकिक पदार्थोंमें सर्वदा भ्रमण करते रहना। परंतु मनकी एक विशिष्ट गति होती है जो यम, नियम, प्राणायाम आदिके द्वारा उसे वशमें रखती है और यह स्थिति आत्मज्ञानके प्रयत्नभूत इन पदार्थोंके द्वारा आविर्भूत होती है। ऐसे गतिसम्पन्न मनको ब्रह्मके साथ संयुक्त करनेकी जो विधि है वही योग नामसे व्यवहृत की जाती है। पातञ्जलयोगसे इस योग (ब्रह्मयोग) की भिन्नता स्पष्टतः प्रतीत होती है। जहाँ पातञ्जलयोग चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहता है, वहीं **'युजिर् योगे'** धातुसे सम्पन्न योग शब्दका प्रयोग ब्रह्मके साथ मनको संयुक्त करनेकी क्रियाके लिये करता है। इस प्रकारके विशिष्ट धर्मसे युक्त होनेसे, मुक्तिकी अभिलाषासे सम्पन्न (मुमुक्षु) व्यक्ति योगी कहा जाता है। योगी अवस्था-भेदसे दो प्रकारके होते हैं। योगके आरम्भ करनेपर वह 'युञ्जान' (योगारूढ़) कहा जाता है और परब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर वह 'विनिष्पन्न'-समाधि कहा जाता है।

योगयुक् प्रथमं योगी युञ्जानो ह्यभिधीयते।
विनिष्पन्नसमाधिस्तु परं ब्रह्मोपलब्धिमान् ॥

(वि० पु० ६।७।३३)

चित्तको ब्रह्ममें निश्चित रूपसे लीन करनेके लिये साधकको यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहारका आश्रय करनेका व्यवस्थित विधान किया गया है। यम, नियम तथा आसनके वर्णनमें विशेष नवीनता नहीं है, परंतु प्राणायाम तथा प्रत्याहारका विशिष्ट विवरण दिया गया है। प्राणायाम दो प्रकारका बतलाया गया है— सबीज तथा निर्बीज। सबीज प्राणायाम ध्यान तथा मन्त्र-पाठ आदि आलम्बनोंसे युक्त होता है, परंतु निर्बीज प्राणायाममें इन आलम्बनोंका अभाव रहता है और इसीलिये वह 'निरालम्ब' कहलाता है। जब योगी सबीज प्राणायामका आरम्भ करता है, तब उसका आलम्बन भगवान् अनन्तका हिरण्यगर्भ आदि स्थूल रूप होता है। इसके अनन्तर योगी प्रत्याहारका अभ्यास करता है। रूप, रस आदि विषयोंमें अनुरक्त होनेवाली इन्द्रियोंको चित्तका अनुगामिनी बनाना ही प्रत्याहारकी संज्ञा पाता है। इन्द्रियोंको योगके निमित्त अपने वशमें रखनेकी नितान्त आवश्यकता होती है और यह कार्य प्रत्याहारके द्वारा सिद्ध होता है। प्रत्याहारमें दो पद हैं—'प्रति' तथा 'आहार'। 'आहार' का अर्थ इन्द्रियोंको तत्-तत् विषयोंमें लगाना है। यह कार्य तो सामान्यतः सदा ही होता रहता है। 'प्रति' का अर्थ उलट देना है। फलतः 'प्रत्याहार'-का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ होता है, विषयोंसे इन्द्रियोंका प्रत्यावर्तन करना—हटा लेना। प्राणायामके द्वारा प्राण या श्वास-प्रक्रियाको वशमें किया जाता है तथा प्रत्याहारके द्वारा इन्द्रियोंको वशमें किया जाता है। फलतः इन दोनों व्यापारोंसे चित्त अपने शुभ आश्रय अर्थात् ब्रह्ममें स्थित किया जाता है। तब साधकको योगकी साधनामें सफलताकी प्राप्ति होती है।

प्राणायामेन पवने प्रत्याहारेण चेन्द्रिये।
वशीकृते ततः कुर्यात् स्थितं चेतः शुभाश्रये ॥

(वि० पु० ६।७।४५)

चित्तका आश्रय-तत्त्व

चित्तके आश्रय-तत्त्व अनेक प्रकारके हो सकते हैं। इस प्रसंगमें ब्रह्मके भेद, त्रिविध भावना तथा विष्णुके स्वरूप आदिका विवरण विष्णुपुराणमें विस्तारसे दिया गया है। चित्तका मुख्य आश्रय ब्रह्म है, जो स्वभावसे दो प्रकारका होता है—मूर्त तथा अमूर्त अथवा पर एवं अपर। योगकी भावना तीन प्रकारकी होती है—कर्मभावना, ब्रह्मभावना तथा उभयात्मिका भावना। देवताओंसे लेकर स्थावर तथा जङ्गमपर्यन्त समस्त प्राणी कर्मभावनासे युक्त होते हैं। सनक, सनन्दन आदि मुनिगण ब्रह्मभावनासे युक्त होते हैं। स्वरूपविषयक बोध एवं स्वर्गादिविषयक अधिकारसे युक्त हिरण्यगर्भ आदिमें ब्रह्म-कर्ममयी उभयात्मिका भावना रहती है। जबतक प्राणियोंमें विशेष ज्ञानके कारणभूत कर्म क्षीण नहीं

होते, तबतक अहंकार आदि भेदके कारण मनुष्योंकी भिन्न दृष्टि बनी रहती है और ब्रह्म तथा जगत्‌की भिन्नता उन्हें प्रतीत होती है तथा अभेद-ज्ञान उन्हें नहीं होता। ब्रह्मकी उपलब्धि होनेपर साधकको अभेद-ज्ञानकी प्राप्ति होती है। ब्रह्मज्ञानका स्वरूप बड़ा ही विलक्षण है। जिसमें सम्पूर्ण भेद शान्त हो जाते हैं। जो सत्तामात्र होकर वाणीके अगोचर होता है, जो आत्मसंवेद्य होता है अर्थात् स्वयं ही अनुभव करने योग्य होता है, वही ज्ञान ब्रह्मज्ञानकी संज्ञा प्राप्त करता है—

प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्॥

(वि० पु० ६।७।५३)

वही ब्रह्मज्ञान विष्णुका 'अरूप' नामक परमरूप है, जो उसके विश्वरूपसे विलक्षण होता है—

तच्च विष्णोः परं रूपमरूपाख्यमनुत्तमम्।
विश्वस्वरूपवैरूप्यलक्षणं परमात्मनः॥

(वि० पु० ६।७।५४)

विष्णुका द्विविध रूप

भगवान् विष्णुके दो रूप होते हैं—पर (अमूर्त) रूप तथा अपर (मूर्त) रूप। पररूपका चिन्तन आरम्भमें योगीके द्वारा करना बड़ा दुष्कर होता है, इसीलिये उसे अपर रूप—मूर्तरूपके चिन्तनका उपदेश दिया गया है। मूर्तरूपके भीतर जगत्‌का समस्त प्रपञ्च वर्तमान रहता है। यह भगवान्‌का स्थूल रूप होता है, जिसका ध्यान अधिक क्लेशके बिना भी योगके द्वारा प्राप्त होता है और इसीलिये प्रथमतः इसके ध्यानकी शिक्षा सौकर्यके कारण दी गयी है। इस स्थूल (मूर्त) रूपके भीतर देवतासे लेकर क्षुद्रजीवकी सृष्टितक समग्र जगत् विद्यमान रहता है। हिरण्यगर्भ, भगवान् वासुदेव, प्रजापति, मरुत्, सूर्य, चन्द्र आदि समस्त देवयोनियों, मनुष्य, पशु आदि भूत, प्रधानसे लेकर पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूत आदि समस्त पदार्थ इसी मूर्तरूपके अन्तर्गत होते हैं। इसीका नाम विश्व है—

एतत् सर्वमिदं विश्वं जगदेतच्चराचरम्।
परब्रह्मस्वरूपस्य विष्णोः शक्तिसमन्वितम्॥

(वि० पु० ६।७।६०)

विष्णुकी तीन शक्तियाँ यहाँ निर्दिष्ट की गयी हैं—

१-***पराशक्ति***—विष्णुकी स्वरूप-शक्ति।

२-***अपराशक्ति***—क्षेत्रज्ञरूपिणी।

३-***कर्मशक्ति***—अविद्यारूपिणी।

क्षेत्रज्ञ शक्ति अविद्याशक्तिके द्वारा आवृत होनेके कारण नाना प्रकारके क्लेशोंको प्राप्त करती है तथा इस विशाल विश्वके प्राणियोंमें वह तारतम्यसे दृष्टिगोचर होती है। वह कहीं न्यूनतासे आविर्भूत होती है और कहीं अधिकतासे विद्यमान रहती है। वह शक्ति तारतम्य-भावसे रहती है। जड पदार्थोंमें वह नितान्त न्यून रहती है। जागतिक पदार्थोंमें चैतन्यका जितना अधिक विकास होता जाता है, वह अधिक अंशोंसे उनमें निवास करती है। जड पदार्थोंकी अपेक्षा वृक्ष-पर्वतादि स्थावरोंमें, स्थावरोंसे अधिक सर्पादि जङ्गम पदार्थोंमें और उनसे अधिक पक्षियोंमें वह रहती है।

पशु-पक्षियोंकी अपेक्षा मनुष्य उस शक्तिसे अधिक प्रभावित होता है। उसके आगे वह गन्धर्वादि देवगणोंमें, तत्पश्चात् इन्द्र, प्रजापति एवं हिरण्यगर्भमें वह क्षेत्रज्ञ शक्ति क्रमशः अपने परिमाणके प्रकाशको अधिकतासे उत्पन्न करती है। पराशक्ति भगवान् विष्णुके स्वरूपकी आधायिका शक्ति है। इन समग्र शक्तियोंके आधारभूत स्वयं भगवान् विष्णु हैं। उनमें चित्तको स्थिर करना चाहिये, इसीको शुद्ध धारणा कहा गया है—

तस्मात् समस्तशक्तीनामाधारे तत्र चेतसः।
कुर्वीत संस्थितिं सा तु विज्ञेया शुद्धधारणा॥

(वि० पु० ६।७।७५)

मूर्तरूपके ध्यानके ऊपर चित्तकी स्थिरता प्राप्त होनेपर ही साधकको अमूर्त-रूपके ध्यानमें योग्यता प्राप्त होती है। विष्णुका अवयव-सम्पन्न मूर्तरूप नाना आभूषणों तथा अलंकारोंसे उद्दीप्त तथा देदीप्यमान रहता है। इन आभूषण आदिसे संयुक्त भगवद्रूपका वर्णन विष्णुपुराणमें बड़ी कमनीय भाषामें किया गया है (वि० पु० ६।७।८०—८५)। ध्यातव्य है कि यह पुराण विष्णुके चतुर्भुजरूप तथा अष्टभुजरूप दो प्रकारके रूपोंका संकेत करता है। चतुर्भुजमूर्तिके ध्यानमें चारों हाथोंमें क्रमशः शङ्ख-चक्र-गदा तथा पद्मकी भावना करनेका निर्देश किया गया है। अष्टभुज-रूपके ध्यानमें हाथोंमें शार्ङ्गधनुष, शङ्ख, गदा, खड्ग, चक्र,

अक्षमाला, वरदमुद्रा तथा अभयमुद्रा धारण करनेका विधान है। पुराणका उपदेश है कि भगवान्‌के मूर्तरूपके ध्यानमें साधकको क्रमशः विकास करते रहना चाहिये। प्रथम तो प्रत्येक अङ्गमें आभूषण आदिसे शोभित समग्र मूर्तिका ध्यान निर्दिष्ट है। इस स्वरूपके ध्यानान्तर स्फटिकमाला तथा यज्ञोपवीतधारी रूपका चिन्तन विहित है। इस धारणाके स्थिर होनेपर किरीट, कुण्डल आदि आभूषणोंसे रहित रूपका स्मरण करे। तदनन्तर प्रधान अवयवविशिष्ट भगवान्‌का हृदयसे चिन्तन करे। इसके पीछे अवयवोंसे दृष्टि हटाकर केवल अवयवीका ही ध्यान करना चाहिये। यही विष्णुपुराणका निर्देश है।

धारणाका वर्णन ऊपर किया गया है। योग-साधनाके अवशिष्ट दोनों अङ्गोंका वर्णन क्रमशः यहाँ दिया जा रहा है। ध्यानका स्वरूप इस प्रकार है—

तद्रूपप्रत्यया चैका संततिश्चान्यनिःस्पृहा।
तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप॥

(वि० पु० ६।७।९१)

जिसमें परमेश्वरके रूपकी ही प्रतीति होती है, विषयान्तरकी स्पृहा नहीं रहती, चिन्तनकी एक अनवरत धारा जो प्रवाहित होती रहती है, उसे ही ध्यान कहते हैं। यम-नियमादि छः अङ्गोंके द्वारा यह ध्यान निष्पन्न होता है। इसके अनन्तर समाधिका आविर्भाव होता है—

तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते॥

(वि० पु० ६।७।९२)

परमतत्त्वके रूप-चिन्तनमें तीन प्रकारकी कल्पना रहती है। ध्याता—ध्यान करनेवाला, ध्येय—ध्यानके द्वारा प्राप्तव्य वस्तु तथा ध्यान—ध्याता तथा ध्येय—इन दोनोंको एक सूत्रमें लाकर कार्य सिद्ध करनेवाला साधन। उस ध्येय पदार्थका ही मनके द्वारा ध्यानसे सिद्ध होनेवाले स्वरूप-ग्रहणका साधन जो ऊपर निर्दिष्ट त्रिविध कल्पनासे विरहित होता है, समाधि कहलाता है। फलतः समाधिसे होनेवाला भगवान्‌का साक्षात्कार-रूप-विज्ञान ही परब्रह्मतक पहुँचानेवाला होता है। समग्र भावनाओंसे रहित एकमात्र आत्मा ही प्रापणीय (प्राप्त करने योग्य) तत्त्व है। क्षेत्रज्ञ—कर्ता ज्ञानरूपी करणसे मुक्तिरूपी कार्यको सिद्ध कर लेता है तथा अपने प्रयत्नमें सर्वथा कृतकृत्य होनेपर वह निवृत्त हो जाता है—

क्षेत्रज्ञः करणी ज्ञानं करणं तस्य तेन तत्।
निष्पाद्य मुक्तिकार्यं वै कृतकृत्यो निवर्तते॥

(वि० पु० ६।७।९४)

निष्कर्ष है कि अज्ञान ही जीव तथा परब्रह्ममें भेद करनेवाला है। उसकी सत्ता रहनेपर जीव अपनेको परब्रह्मसे भिन्न समझता है। परंतु इस योग-साधनाके बलपर परतत्त्वका सम्पूर्ण ज्ञान हो जानेपर दोनोंमें अभेद-बुद्धि उत्पन्न होती है और अध्यात्मशास्त्रके द्वारा निर्णीत तथा उपदिष्ट यही परम तत्त्व है।

विष्णुपुराणके अनुसार यह परमतत्त्व विष्णु भगवान् ही हैं। वही श्रवणयोग्य तत्त्व हैं। उनसे अतिरिक्त कोई तत्त्व न ध्यातव्य है और न श्रोतव्य। विष्णुपुराणका तत्त्वपोषण इस अभिराम पद्यमें अङ्कित है—

यज्ञैर्यज्ञविदो यजन्ति सततं यज्ञेश्वरं कर्मिणो
यं वै ब्रह्ममयं परावरमयं ध्यायन्ति च ज्ञानिनः।
यं सञ्चिन्त्य न जायते न म्रियते नो वर्धते हीयते
नैवासन्न च सद् भवत्यति ततः किं वा हरेः श्रूयताम्॥

(वि० पु० ६।८।५७)

जागो!

मौत महा उत्कंठ चढ़ै नहिं सूझत अन्ध अभागहु रे।
चित चेतु गँवार बिकार तजो जब खेत पड़े कित भागहु रे॥
जिन बुंद बिकार सुधार कियो तन ज्ञान दियो पगु ता गहु रे।
'धरनी' अपने अपने पहरे उठि जागहु जागहु जागहु रे॥

—धरनीदास

योगका वास्तविक स्वरूप

सामान्यतया योगका अर्थ है स्थूलतासे सूक्ष्मताकी ओर जाना अर्थात् बाहरसे अन्तर्मुख होना। चित्तकी वृत्तियोंद्वारा हम स्थूलताकी ओर जाते हैं, अर्थात् बहिर्मुख होते हैं। (आत्मतत्त्वसे प्रकाशित चित्त अहंकाररूप वृत्तिद्वारा, अहंकार इन्द्रियों और तन्मात्राओंरूप वृत्तियोंद्वारा, तन्मात्राएँ सूक्ष्म और स्थूलभूत और इन्द्रियाँ विषयोंकी वृत्तियोंद्वारा बहिर्मुख हो रही हैं।) जितनी वृत्तियाँ बहिर्मुख होती जायँगी, उतनी ही उनमें रज और तमकी मात्रा बढ़ती जायगी और उसके विपरीत वृत्तियाँ जितनी अन्तर्मुख होती जायँगी, उतना ही रज और तमके तिरोभावपूर्वक सत्त्वका प्रकाश बढ़ता जायगा। जब कोई भी वृत्ति न रहे तब शुद्ध परमात्मस्वरूप शेष रह जाता है।

योगके तीन अन्तर्विभाग—योगके मुख्य तीन अन्तर्विभाग किये जा सकते हैं—ज्ञानयोग, उपासनायोग और कर्मयोग।

ज्ञानयोग—भौतिक पदार्थोंका जान लेना अर्थात् सांसारिक ज्ञान और विज्ञान ज्ञानयोग नहीं है। बल्कि तीनों गुणों और उनसे बने हुए सारे पदार्थोंसे परे अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म और कारण-शरीर तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण-जगत् अथवा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोष अथवा शरीर, इन्द्रियों, मन, अहंकार और चित्तसे परे गुणातीत शुद्ध परमात्मतत्त्वको जिसके द्वारा इन सबमें ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया हो रही है, संशय, विपर्ययरहित पूर्णरूपसे जान लेना ज्ञानयोग है। यह ज्ञान केवल पुस्तकोंके पढ़ लेनेसे या शब्दोंद्वारा सुन लेनेमात्रसे ही नहीं प्राप्त हो सकता। उसके लिये उपासनायोगकी आवश्यकता होती है।

उपासनायोग—एक प्रत्ययका प्रवाह करना अर्थात् चित्तकी वृत्तियोंको सब ओरसे हटाकर केवल एक लक्ष्यपर ठहरानेका नाम उपासना है। किसी सांसारिक विषयकी प्राप्तिके लिये इस प्रकार एक प्रत्ययका प्रवाह करना उपासना कहा जा सकता है, उपासनायोग नहीं। यह उपासनायोग तभी कहलायेगा, जब इसका मुख्य लक्ष्य केवल शुद्ध परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति हो। इसको स्पष्ट शब्दोंमें यों समझना चाहिये कि जिस प्रकार जलके सर्वत्र भूमिमें व्यापक रहते हुए भी उसकी शुद्ध धाराको किसी स्थानविशेषसे खोदनेपर निकाला जा सकता है, उसी प्रकार परमात्म-तत्त्वके सर्वत्र व्याप्त रहते हुए भी उसके शुद्ध स्वरूपको किसी स्थान-विशेषद्वारा अन्तर्मुख होकर प्राप्त किया जा सकता है। यह जो चित्तको किसी विशेष ध्येय (विषय-लक्ष्य) पर ठहराकर शुद्ध परमात्मस्वरूपको प्राप्त करनेका यत्न किया जाता है, यही उपासनायोग है। इस एकाग्रतारूप उपासनाको सम्प्रज्ञात-समाधि तथा सम्प्रज्ञात-योग कहते हैं। इसके पश्चात् जो सर्ववृत्तियोंके निरोध होनेपर शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति है, वह ज्ञानयोग है। इसीको असम्प्रज्ञात-समाधि तथा असम्प्रज्ञातयोग कहते हैं। इसके लिये किसी एकान्त निर्विघ्न शुद्ध स्थानमें सिर, गर्दन और कमरको सीधा एक रेखामें रखते हुए किसी स्थिर सुख-आसनसे बैठना, प्राणोंकी गतिको धीमा करना और इन्द्रियोंको बाहरके विषयोंसे हटाकर चित्तके साथ अन्तर्मुख करना आवश्यक है। फिर यह देखना होगा कि अन्तर्मुख होनेके लिये किस स्थानको लक्ष्य बनाया जाय। वैसे तो परमात्मा सर्वत्र व्यापक हैं, किंतु उनके शुद्ध स्वरूपतक पहुँचनेके लिये अपने ही शरीरमें किसी स्थानको लक्ष्य बनानेमें सुगमता रहती है। इसमें पाँच विषयवती प्रवृत्तिके स्थान हैं। अर्थात् नासिकाका अग्रभाग गन्धका, जिह्वाका अग्रभाग रसका, तालु रूपका, जिह्वाका मध्यभाग स्पर्शका और जिह्वाका मूलभाग शब्दका स्थान है।

इनसे भी अधिक प्रभावशाली 'विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति'के सुषुम्ना नाडीमें विद्यमान मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रारचक्र हैं। सुषुम्ना, जो गुदाके निकटसे मेरुदण्डके भीतर होती हुई

मस्तिष्कके ऊपरतक चली गयी है, सर्वश्रेष्ठ नाडी है। यह सत्त्वप्रधान, प्रकाशमय और अद्‌भुत शक्तिवाली है। यही सूक्ष्मशरीर, सूक्ष्मप्राणों तथा अन्य सब शक्तियोंका स्थान है। इसमें बहुत-से सूक्ष्म शक्तियोंके केन्द्र हैं जिनमें अन्य सूक्ष्म नाडियाँ मिलती हैं। इन शक्तियोंके केन्द्रोंको पद्‌म, कमल तथा चक्र कहते हैं। उनमें उपर्युक्त सात मुख्य हैं। उनमें भी मणिपूरक, अनाहत, आज्ञा और सहस्रार विशेष महत्त्वके हैं। किसके लिये, ध्यानके वास्ते कौन-सा स्थान अधिक उपयोगी हो सकता है, यह इस मार्गके अनुभवी ही बतला सकते हैं।

जिस प्रकार तली-तोड़ कुएँके खोदते समय कई प्रकारकी मिट्टीकी तहें तथा अन्य अद्‌भुत वस्तुएँ निकलती हैं ऐसा ही ध्यान-अवस्थामें होता है। यहाँ भी स्थूलभूत, सूक्ष्मभूत अहंकार और अस्मिता (आत्मासे प्रकाशित चित्त)—ये चार प्रकारकी तीनों गुणोंकी तहें आती हैं। जब स्थूलभूत अवस्था-उनसे सम्बन्ध रखनेवाले विषय सामने आयें, उसको वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि[1], जब सूक्ष्मभूत अथवा उनसे सम्बन्धित विषय उपस्थित हों उसको विचारानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि, जब इन दोनों विषयोंसे परे केवल 'अहमस्मि वृत्ति' रह जाय उसको आनन्दानुगत और जब उससे भी परे केवल 'अस्मि' वृत्ति रह जाय, उसको अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि कहा जाता है।

जिस प्रकार सारी मिट्टीकी तहोंके समाप्त होनेपर जलको रेतसे अलग किया जाता है, इसी प्रकार गुणोंकी इन चारों तहोंके पश्चात् जब आत्माको चित्तसे अलग साक्षात् किया जाता है, तब उसको विवेक-ख्याति कहते हैं। उसके पश्चात् शुद्ध परमात्मस्वरूप शेष रह जाता है जो समाधि, असम्प्रज्ञात-योग या ज्ञानयोग कहलाता है। अतः उपासनायोगद्वारा ही ज्ञानयोगकी प्राप्ति हो सकती है। परंतु यह उपासनायोग भी बिना कर्मयोगके नहीं साधा जा सकता।

कर्मयोग—कोल्हूके बैलके सदृश कामोंमें लगे रहनेका नाम कर्मयोग नहीं है। शरीर, इन्द्रियों, धन, सम्पत्ति आदि सारे साधनों, उनसे होनेवाले कर्तव्यरूप सारे कर्मोंको तथा उनके फलोंको भी ईश्वरको समर्पण करते हुए अनासक्त निष्काम-भावसे व्यवहार करनेका नाम कर्मयोग है। जिस प्रकार मञ्चपर आया हुआ एक्टर अपने पार्टको भलीभाँति करता हुआ अंदर इसका कोई भी प्रभाव अपने हृदयपर नहीं होने देता है, इसी प्रकार कर्मयोगी ईश्वरकी ओरसे आये हुए सारे कर्तव्योंको भलीभाँति करता हुआ भी अंदरसे अलिप्त रहता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
कायेन मनसा बुद्‌ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

(गीता ५। १०—१२)

अर्थात् कर्मोंको ईश्वरके समर्पण करके और आसक्तिको छोड़कर जो कर्म करता है वह जलमें पद्मपत्रके सदृश पापसे लिप्त नहीं होता। योगी फलकी कामना और कर्तापनके अभिमानको छोड़कर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये केवल शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धिसे काम करते हैं। योगी कर्मके फलको त्यागकर परमात्मप्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त करते हैं। अयोगी कामनाके अधीन होकर फलमें आसक्त हुआ बँधता है। योगदर्शन (४। ७)में कहा गया है—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।

अर्थात् योगीके कर्म न पुण्यरूप होते हैं न पापरूप, क्योंकि वह कर्तव्यरूप कर्मोंको ईश्वर-समर्पण करके फलोंका त्याग कर निष्काम-भावसे करता है। पापकर्म तो वह कभी करता ही नहीं; क्योंकि वे उसके लिये सर्वदा त्याज्य हैं। दूसरे साधारण मनुष्योंका कर्म पाप, पुण्य और पुण्य-पापमिश्रित तीन प्रकारका होता है।

उपासनामें जब चित्तकी वृत्तियोंको एक लक्ष्यविशेषपर ठहरानेका यत्न किया जाता है, तब मन अन्य विषयोंमें राग होनेके कारण उनकी ओर दौड़ता है। विषयोंमें राग सकाम कर्मोंसे होता है। इसलिये विषयोंसे वैराग्य प्राप्त करनेके लिये

१-पहली दो भूमियों—वितर्कानुगत और विचारानुगतमें गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—इन पाँचों विषयोंमें प्रायः रूप और शब्द ही समक्ष आते हैं, क्योंकि रूपको ग्रहण करनेवाली नेत्र-इन्द्रिय और शब्दको ग्रहण करनेवाली श्रोत्र-इन्द्रिय हर समय काम करती रहती है। इसलिये सुगमताके कारण कई आचार्य रूप या शब्दको ही ध्येय बनाकर ध्यान आरम्भ करना बतलाते हैं।

कर्मोंमें निष्कामता होना आवश्यक है। अर्थात् पापरूप अधर्म कर्म तो त्याज्य होते ही हैं, पुण्यरूप धर्म अर्थात् कर्तव्यकर्मोंको भी उनके फलोंकी इच्छाको छोड़कर निष्काम-भावसे करना चाहिये। इसलिये उपासनायोग बिना कर्मयोगकी सहायताके नहीं सिद्ध हो सकता। किंतु ये निष्कामताके भाव भी ध्यानद्वारा ही परिपक्व हो सकते हैं। अर्थात् कर्मयोगकी सिद्धि भी उपासनायोगकी सहायतासे ही हो सकती है। इसलिये जिस प्रकार संसारकी कोई भी वस्तु सत्त्व, रजस् और तमस्के सम्मिश्रणके बिना अपना अस्तित्व नहीं रख सकती, केवल इतना भेद होता है कि कहीं सत्त्वकी प्रधानता होती है, कहीं रजकी और कहीं तमकी, इसी प्रकार इन तीनों योगोंमें भी तमरूप उपासनायोग चित्तको एक लक्ष्यपर ठहरानेवाला, रजरूप निष्काम कर्मयोग और सत्त्वरूप ज्ञानयोग—ये तीनों किसी-न-किसी अंशमें बने ही रहते हैं। यह अवश्य होता है कि कहीं उपासनाकी प्रधानता होती है, कहीं कर्मकी और कहीं ज्ञानकी।

तीनों योगोंके दो मुख्य भेद—सांख्य और योग

इन तीनों योगोंके दो मुख्य भेद सांख्य और योग नामसे किये गये हैं। जहाँ भक्तियोग और कर्मयोगपर अधिक जोर दिया गया हो, वह योगनिष्ठा कहलाती है और जहाँ ज्ञानको प्रधानता दी जाती है वह सांख्यनिष्ठा।

रूपकद्वारा योगका स्वरूप

योगका दार्शनिक महत्त्व बतलाकर अब एक रोचक रूपकद्वारा उसके अष्टाङ्ग-स्वरूपको दिखलानेका यत्न किया जाता है—चित्त और पुरुषका जो अनादि स्वस्वामि-भाव-सम्बन्ध चला आ रहा है, उसके अनुसार 'स्व'-रूप चित्तको अश्व और स्वामीरूप पुरुषको सवार समझना चाहिये। इस अश्वका मुख्य प्रयोजन अपने स्वामीको भोग (इष्ट) रूप मार्गको पूरा कराकर अपवर्गरूप लक्ष्यतक पहुँचा देना है। यह मार्ग एक पक्की सड़कवाला चार भागोंमें विभक्त है—पहला स्थूलभूत, दूसरा सूक्ष्मभूतोंसे तन्मात्राओंतक, तीसरा अहंकार और चौथा अस्मिता। अन्तिम किनारेपर भेदज्ञानरूपी एक अश्वशाला है। यहाँ इस घोड़ेको छोड़ देना पड़ता है और अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग परमात्मस्वरूप एक विशाल सुन्दर राजभवन है, जहाँ इस सवारको पहुँचा देना घोड़ेका मुख्य उद्देश्य है। सकाम कर्मरूप असावधानीसे पुरुष घोड़ेकी पीठपरसे नीचे गिरकर बाग पकड़े हुए घोड़ेके इच्छानुसार असमर्थतासे उसके पीछे घूम रहा है। इस अश्वकी असंख्य चालें हैं, जो वृत्तियाँ कहलाती हैं। ये दो प्रकारकी हैं—एक क्लिष्ट, जो पुरुषके लिये अहितकारी है। दूसरी अक्लिष्ट, जो पुरुषके लिये हितकर है। वह पाँच अवस्थाओंमें रहती है—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमें पहली तीन अवस्थाएँ पुरुषके प्रतिकूल हैं, केवल अन्तिम दो अनुकूल हैं। यह घोड़ा पहली तीन अवस्थाओंमें अपनी अनन्त क्लिष्ट चालोंसे संसाररूपी घोर भयङ्कर वनमें विषय-वासनारूप हरियालीकी ओर भाग रहा है और सवार जन्म, आयु और भोग (अनिष्ट)-रूपी नदी-नालों, खाई-खंदक, काँटों और पत्थरोंमें असमर्थतासे घसिटता हुआ उसके पीछे चला जा रहा है और सुख-दुःखरूपी चोटोंसे पीड़ित हो रहा है। एक अपरिमित समयसे उस अवस्थामें रहते हुए पुरुष अपने वास्तविक स्वरूपको सर्वथा भूल गया है और घोड़ेके साथ एकात्मभाव करके उसके ही विषयोंको अपना मानने लगा है। ईश्वर-अनुग्रहसे जब अध्यात्मविषयक सत्-शास्त्रों और निःस्वार्थ आप्तकाम योगी गुरुओंके उपदेशसे उसको अपने और इस घोड़ेके वास्तविक स्वरूपका तथा अपने अन्तिम लक्ष्यका पता लगता है, तब वह यम-नियमके साधनोंसे घोड़ेकी क्लिष्ट चालोंको अक्लिष्ट बनाता है। आसनका सहारा लेकर घोड़ेकी रकाबपर पैर रखनेका यत्न करता है। प्राणायामकी सहायतासे रकाबपर पैर जमानेमें समर्थ होता है। प्रत्याहारद्वारा वशीकार करके उसकी पीठपर सवार होनेमें सफलता प्राप्त करता है। भोग (इष्ट)-रूपी पक्की सड़ककी ओर घोड़ेका मुख फेरना धारणा है। घोड़ेको उस ओर चलाना आरम्भ कर देना ध्यान है और सड़कके निकट पहुँच जाना समाधि है। वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता अनुगतरूप एकाग्रताकी अवस्थाओंसे क्रमानुसार भोगरूपी मार्गके स्थूल, सूक्ष्म, अहंकार और अस्मितारूपी भागोंको समाप्त करता है, विवेक ख्यातिद्वारा घोड़ेको अश्वशालामें छोड़कर सर्ववृत्तिनिरोध अपवर्ग नामक शुद्ध परमात्मस्वरूपरूपी विशाल राजभवनमें पहुँचता है।

दूसरे मनोरञ्जक उदाहरणद्वारा योगका स्वरूप

सिनेमाके साधारण श्वेत रंगकी चादर (पर्दा) के समान सत्त्वचित्त (जिसमें सत्त्व-ही-सत्त्व है, रज क्रियामात्र और तम उस क्रियाको रोकनेमात्र है।) का स्वरूप समझना चाहिये। यह विद्युत्‌के सदृश आत्मा (चेतन-तत्त्व) के ज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है। भेद केवल इतना है कि विद्युत् जड होनेके कारण स्वयं सिनेमाके पर्देका देखनेवाला नहीं है। उसको दूसरे चेतन-पुरुष देखते हैं। आत्मा ज्ञान-स्वरूप होनेसे अपने ज्ञानके प्रकाशमें जो कुछ चित्तमें हो रहा है, उसका द्रष्टा है।

यहाँ चित्तरूपी पर्दा कुछ रज और तमकी अधिकताका मैल लिये हुए एक दूसरे अहंकाररूप पर्देके स्वरूपमें प्रकट हो रहा है। यह अहंकाररूपी पर्दा रज और तमकी अधिकताका मैल लिये हुए तन्मात्राओंसे लेकर सूक्ष्म भूतोंरूपी पर्देके स्वरूपमें प्रकट हो रहा है। सूक्ष्म भूतोंरूपी पर्दा कुछ रज और तमकी अधिकताको लिये हुए पाँच स्थूलभूतों-रूपी पर्देके स्वरूपमें प्रकट हो रहा है। इस पर्देपर विषय-वासनाओंसे युक्त अनन्त वृत्तियाँ सिनेमाके चित्रोंके सदृश घूम रही हैं। चित्तरूपी पर्देमें आत्माके ज्ञानका प्रकाश पड़ रहा है। इसलिये अपने ज्ञानके प्रकाशमें जो-जो रूप यह पर्दा धारण करता है, उसका स्वयमेव ही आत्माको ज्ञान रहता है और अपने ज्ञानस्वरूपमें सर्वथा अवस्थित रहते हुए भी चित्तरूपी पर्देका द्रष्टा होनेके कारण जैसा आकार यह पर्दा धारण करता है वैसा ही वह प्रतीत होता है।

अष्टाङ्गयोग

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं, इनमेंसे प्रथम पाँच बहिरङ्ग तथा अन्तिम तीन अन्तरङ्ग साधन कहे गये हैं। बहिरङ्ग साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारकी सहायतासे, अन्तरङ्ग साधन धारणा, ध्यान और समाधिद्वारा चित्तकी वृत्तिरूपी चित्रोंका वास्तविक स्वरूप साक्षात्कार होता है। वितर्कानुगत समाधिद्वारा चित्रोंका स्थूलस्वरूप तथा पाँच स्थूल भूतोंवाली चित्तकी अवस्थाका वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। विचारानुगत समाधिद्वारा वृत्तिरूप चित्रोंके सूक्ष्मस्वरूप तथा चित्तरूपी पर्देकी सूक्ष्म भूतोंसे तन्मात्रातककी अवस्थाका ज्ञान प्राप्त होता है। इससे ऊपर आनन्दानुगत समाधिद्वारा चित्तकी अहंकाररूप अवस्था-का साक्षात्कार होता है। अस्मितानुगत समाधिद्वारा अस्मिता (आत्मासे प्रकाशित चित्त) के स्वरूपका ज्ञान प्राप्त होता है। विवेकख्यातिद्वारा आत्मारूपी विद्युत् और चित्तरूपी पर्देमें भेद-ज्ञान प्राप्त होता है। पर वैराग्यद्वारा इससे भी परे होकर आत्मारूपी विद्युत्‌की अपने वास्तविक परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति होती है।

योगविद्या

(स्वामी श्रीविज्ञानानन्दजी सरस्वती)

योगविद्या भारतवर्षकी अमूल्य सम्पत्ति है, जो सुदूर अतीत कालसे अविच्छिन्न रूपमें गुरुपरम्परापूर्वक चली आ रही है। युग-युगसे चला आया यह योग वस्तुतः भारतीय ऋषि-मुनि तथा यति-योगियोंका अध्यवसाय एवं साधनालब्ध अन्तर्जगत्‌का महत्त्वपूर्ण अन्तर्विज्ञान है। इसी योग-समाधिके द्वारा वैदिक कालमें कितने ही ब्रह्मोपासक मन्त्रद्रष्टा ऋषि बन गये। वेदकी ऋचाएँ ही इसका प्रबल साक्ष्य हैं। वेदोंमें ऐसे अनेक मन्त्र आते हैं जो योगका ही प्रतिपादन करते हैं, यथा—ऋ० १० । १७७ । ३, १० । १३ । १, ५ । ८१ । १, अथर्व० १९ । ८ । २ । इसलिये '**ऋषिदर्शनात्**' के आधारपर जो मन्त्रद्रष्टा है वही ऋषि है। मन्त्रोंका दर्शन बिना योग-समाधिके नहीं हो सकता और न अनुभूत ही हो सकता है। अतः अतीन्द्रिय-दर्शन समाधिनिष्ठ योगियोंको होता है, अयोगियोंको नहीं। याज्ञवल्क्यस्मृतिमें कहा गया है—'**अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।**' जिस योगसाधनाके द्वारा आत्म-दर्शन या ब्रह्मसाक्षात्कार हो वही परम धर्म है।

इस योगविद्याका वेद, उपनिषद्, दर्शन, पुराण तथा स्मृति आदि आर्ष ग्रन्थोंमें जहाँ-तहाँ पुष्कल-रूपमें वर्णन मिलता है। ऋषियोंद्वारा अनेक योगपरक उपनिषदोंका भी उद्भावन हुआ है। योगतत्त्वोपनिषद्, योगशिखोपनिषद्, योगचूडामण्युपनिषद्,

योगकुण्डल्युपनिषद्, महोपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद् और ध्यानबिन्दु आदि प्रमुख योग-उपनिषदें हैं।

इसके साथ ही योगाचार्य महर्षि पतञ्जलिने सम्पूर्ण योगके रहस्योंको अपने योगदर्शनमें सूत्रोंके रूपमें उपनिबद्ध किया। पतञ्जलिने योगको दार्शनिक रूप देते समय स्वतन्त्र रूप देते हुए भी कपिल मुनिप्रणीत सांख्यशास्त्रके अनुकूल बनाया है अर्थात् सेश्वर सांख्य ही बना डाला है। इसलिये ब्रह्मसूत्र (२।१।३) में बादरायणने '**एतेन योगः प्रत्युक्तः।**'—इस सूत्रसे जो योगका खण्डन किया है, वह वस्तुतः योगमें आया हुआ द्वैतपरक सृष्टिमूलक सांख्य-सिद्धान्तका ही खण्डन किया है, वेदानुकूल योगके उपयोगी साधनोंका नहीं। योग तो बादरायणको भी अभीष्ट ही था।

योग क्या है ?

'योग' शब्द '**युज समाधौ**' धातुसे बनता है। इसका अर्थ है समाधि। '**युजिर् योगे**' धातुसे भी योग शब्द बनता है, इसका अर्थ है जुड़ना अर्थात् जीवात्माका परमात्माके साथ मिल जाना—एक हो जाना। प्रायः हठयोगी तथा कुछ अन्य योगी भी योगका अर्थ यही लेते हैं। परंतु ऐसा स्थूल अर्थ लेना उचित प्रतीत नहीं होता। कारण यह है कि जीवात्मा और परमात्मा पृथक् वस्तु नहीं है, किंतु चेतनत्वेन एक ही है। भेद तो अविद्याजन्य है अतः औपाधिक है। भेद दर्शानेवाली अविद्याकी योगसमाधिके द्वारा निवृत्ति हो जानेपर चेतनमें भेद नहीं रह जाता। चेतन एक ही रह जाता है, जैसे घटाकाश और मठाकाशकी उपाधिरूप घट और मठ नष्ट हो जानेपर एक महाकाश ही शेष रह जाता है। अतः जीवत्व-भावका विलोप करके ब्रह्मभावमें स्थित हो जाना ही योग है। इसीको जीवात्मा और परमात्मा मिलकर एक हो जाना कहा गया है। योगाङ्गोंका अभ्यास करते हुए चित्तवृत्ति-निरोधपूर्वक असम्प्रज्ञात समाधि-भूमिकामें पहुँचकर अपने चैतन्य-स्वरूप या ब्रह्मस्वरूपमें स्थित हो जाना ही योग है।

योगके अधिकारी और साधना

पतञ्जलिकृत योग-दर्शन तीन योगाधिकारियोंको लक्ष्यमें रखकर प्रवृत्त होता है—कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। तीनोंके लिये भिन्न-भिन्न साधन बताये गये हैं। उनका क्रमपूर्वक वर्णन इस प्रकार है—

१-कनिष्ठ अधिकारी

कनिष्ठ योगाधिकारियोंके लिये अष्टाङ्गयोग बताया गया है। अष्टाङ्गयोग कहनेसे योगशास्त्रमें कथित आठ योगके अङ्गोंको ही समझा जाता है। यथा—'**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥**' (योग० २।२९) यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं। इस अष्टाङ्ग-योगके द्वारा प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—इन पाँच चित्तकी वृत्तियोंको निरोध करके योग-समाधिमें प्रवेश करना होता है और सम्प्रज्ञात-समाधिकी अन्तिम भूमिकामें पहुँचकर आत्मदर्शन या ब्रह्मसाक्षात्कार करना होता है। फिर असम्प्रज्ञात-समाधिके द्वारा स्वरूपावस्थितिको प्राप्त कर लेना चाहिये। वही कैवल्य मोक्ष है।

कनिष्ठ अधिकारीके लिये अष्टाङ्गयोगका विधान इसलिये किया गया है कि वे प्रारम्भिक योगी होते हैं। अर्थात् इसी जन्मसे योगका आरम्भ करनेवाले साधक होते हैं। इसलिये उन्हें प्रारम्भिक योगाङ्गोंका अभ्यास करते हुए समाधिकी ओर अग्रसर होना होता है, परंतु मध्यम और उत्तम योगी जिनकी योग-साधना सम्यक्रूपसे पूर्ण सिद्धितक नहीं पहुँची होती है, उनके लिये यम-नियमादिक साधनाओंको विशेष महत्त्व नहीं दिया है। क्योंकि वे उन प्रारम्भिक योगाङ्गोंका अभ्यास करते आये हैं। अतः उनके लिये भिन्न-भिन्न योगका विधान किया है।

२-मध्यम अधिकारी

मध्यम अधिकारी वे हैं जो पूर्वजन्मोंमें मोक्ष-साधन आदि करते आ रहे हैं। विवेक-ख्याति प्राप्त न होनेके कारण मोक्ष प्राप्त नहीं कर सके हैं। इस जन्ममें पुनः योग-साधनामें प्रवृत्त होनेपर योगके प्रारम्भिक साधनोंका विशेष रूपसे अभ्यासकी आवश्यकता नहीं होती। पूर्वजन्मोंके अनुभूत ज्ञान साथ ले आते हैं, इसलिये वे साधन अनायास होने लगते हैं। अतः इस मध्यम अधिकारी योगीके लिये केवल क्रियायोगके द्वारा ही समाधि-अवस्थाकी प्राप्ति हो सकती है और अन्तमें कैवल्य-मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं। क्रियायोगके विषयमें योगसूत्रकार पतञ्जलिने लिखा है—'**तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।**' (योग० २।१) 'तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये तीनों क्रियायोग हैं।'

सब प्रकारके द्वन्द्वोंको सहन करना ही तप है। उसके पश्चात् स्वाध्यायका अभ्यास भी आवश्यक है। स्वाध्यायका तात्पर्य यह है कि मोक्षशास्त्र अर्थात् ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी ग्रन्थोंका अध्ययन और प्रणव आदि मन्त्रोंका अनुष्ठानपूर्वक जपादि करना। इससे साधनामें रुचि बढ़नेके साथ-साथ मार्ग-दर्शन भी होता जाता है। इसके बाद आता है ईश्वर-प्रणिधान। ईश्वरप्रणिधानका अभिप्राय है ईश्वरकी उपासना-विशेष, जिसमें भक्तिभाव प्रधानरूपमें रहता है। ईश्वर-प्रणिधानसे अविद्याजन्य क्लेशोंकी क्षीणता तथा समाधिसिद्धि होती है। इसलिये योगसूत्रमें कहा भी है—'**समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्**' (योग० २। ४५) ईश्वरप्रणिधान-रूप ईश्वरोपासनासे इष्टदेवका दर्शन तथा परमेश्वरका साक्षात्कार हो जाता है। कारण यह है कि ईश्वरके ध्यान-चिन्तनादिसे योगसाधनामें आनेवाले कषायादि समस्त विघ्न दूर हो जाते हैं और शीघ्र समाधिकी प्राप्ति हो जाती है। प्रतिबन्धक समस्त बाधाओंके दूर हो जानेपर समाधिमें परमेश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन होनेमें कोई विलम्ब नहीं होता और एक बार ईश्वर-दर्शन हो जानेपर मोक्षके लिये फिर कोई प्रतिबन्धक नहीं बन सकता, यदि योगी ऋद्धि-सिद्धियोंके पीछे न पड़े तो। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस क्रियायोगके द्वारा भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

३-उत्तम अधिकारी

उत्तम अधिकारी भी पूर्ण सिद्धिको न प्राप्त किये हुए योगी ही होते हैं। उनके लिये भी यम-नियमादिक बहिरङ्ग साधनोंका विशेष महत्त्व नहीं है। उत्तम अधिकारीके लिये योगसूत्र-कारने साधन बताया है अभ्यास तथा वैराग्य। यथा—'**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः**' (योग० १। १२) चित्तवृत्तियोंका निरोध अभ्यास और वैराग्यसे होता है। वृत्तिनिरोध होनेसे समाधि-प्राप्ति और समाधि-प्राप्ति होनेपर स्वरूपावस्थिति होती है।

पहले हम वैराग्यके विषयमें विचार करते हैं। वैराग्य मुख्यतः दो हैं—अपर वैराग्य और परम वैराग्य। अपर वैराग्यके चार अवान्तर भेद हैं—यतमान वैराग्य, व्यतिरेक वैराग्य, एकेन्द्रिय वैराग्य और वशीकार वैराग्य। इनमेंसे अन्तिम वशीकार वैराग्य ही योगमें उत्कर्ष लानेवाला होता है, शेष उसके पूरक मात्र हैं। अपर वैराग्य दृढ़भूत हो जानेपर परम वैराग्यका उदय होता है। परम वैराग्यका तात्पर्य है विवेक-ख्याति या पुरुषख्याति-अवस्थासे भी उपरत हो जाना। इसीको परम वैराग्य कहते हैं। इस प्रकारसे अपर वैराग्य और परम वैराग्यके साथ-साथ अभ्यास भी जारी रखना चाहिये। अभ्यासका तात्पर्य बताते हुए सूत्रकारने लिखा है—'**तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः**' (योग० १।१३) पूर्वोक्त परम और अपर दोनों वैराग्योंसे चित्तवृत्तियोंका निरोध करते हुए आत्मस्थिति या स्वरूपावस्थितिकी प्राप्तिके लिये पुनः-पुनः प्रयत्नशील होना अभ्यास है। इस अभ्यासकी परिपक्वता—अन्तरङ्ग साधना - धारणा, ध्यान और समाधिसे होती है।

ध्यानका अभ्यास करते समय जब चित्त ध्येयाकारके रूपमें परिणत हो जाता हो, उसके अपने स्वरूपका भी अभाव-सा हो जाय और सिवा ध्येयके अन्य किसी वस्तुकी प्रतीति न हो, तब उसी ध्यानकी अवस्थाको समाधि कहा जाता है। अर्थात् ध्यानकी परिपक्व अवस्थाका नाम ही समाधि है।

धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनोंको संयम भी कहते हैं। यथा—'**त्रयमेकत्र संयमः**' (योग० ३। ४) किसी एक ही ध्येय वस्तुमें धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनोंके ही एक साथ होनेसे उसे संयम कहते हैं। इस संयम-साधनसे अनेकों ऋद्धि-सिद्धि आदिकी प्राप्ति होती है, जो योगदर्शनके विभूतिपादमें बहु चर्चित है।

अब समाधिके विषयमें किञ्चित् विचार किया जाय, समाधि मुख्यतः दो हैं—सम्प्रज्ञात-समाधि और असम्प्रज्ञात-समाधि। सम्प्रज्ञात-समाधिके पुनः चार अवान्तर भेद हैं—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत-समाधि। इनमेंसे वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात-समाधिके भी दो भेद हैं—सवितर्क और निर्वितर्क। विचारानुगत सम्प्रज्ञात-समाधिके भी दो भेद और हैं—सविचार और निर्विचार-समाधि। अग्रिम आनन्दानुगत और अस्मितानुगत-समाधिका कोई भेद नहीं है। इस सम्प्रज्ञात-समाधिको ही सबीज समाधि भी कहते हैं। इसके पश्चात् असम्प्रज्ञात-समाधि प्रारम्भ होती है, जो योगकी चरम अवस्था-विशेष है। इसे निर्बीज समाधि कहते हैं। क्योंकि इस समाधि-भूमिकामें कोई भी कर्मबीज नहीं रह जाता है।

प्रारम्भिक समाधि है वितर्कानुगत समाधि। इस

वितर्कानुगत समाधिके द्वारा स्थूल जगत्के सम्पूर्ण पदार्थोंका साक्षात्कार करना होता है। इसमें शब्द, अर्थ और ज्ञानपूर्वक जो समाधि होती है, वह सवितर्क समाधि है और शब्दार्थ-ज्ञानसे रहित जो समाधि होती है, वह निर्वितर्क समाधि है। स्थूल जगत्के सम्पूर्ण तत्त्वोंको साक्षात्कार कर लेनेपर सूक्ष्म आलम्बनीयविषयक विचारानुगत सम्प्रज्ञात-समाधिकी स्थिति आती है। इस सूक्ष्मविषयक समाधि-भूमिकामें सूक्ष्म जगत्के सारे ही सूक्ष्म और दिव्य तत्त्वोंका साक्षात्कार करना होता है। इसमें भी शब्दार्थ-ज्ञानसहित जो समाधि होती है,वह सविचार समाधि है और बादमें जो शब्दार्थ-ज्ञानसे रहित समाधि होती है, वह निर्विचार समाधिके नामसे कही जाती है। इसमें ऊहापोह, तर्क-वितर्क सब समाप्त हो जाते हैं। इसके पश्चात् आनन्दानुगत समाधि आती है। इस आनन्दानुगत समाधि-भूमिकामें स्थूल-सूक्ष्म तत्त्वोंके साक्षात्कारजन्य तृप्तिसे उत्पन्न हुए आनन्दको आलम्बन किया जाता है। आनन्दको आलम्बन करनेके कारण इसे आनन्दानुगत-समाधि कहते हैं। आनन्द-भूमिकाके पश्चात् अस्मितानुगत-समाधि होने लगती है। अस्मिताका अभिप्राय है—'**दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता**' (योग० २।६) दृक्शक्ति आत्मा और दर्शन-शक्ति चित्त (बुद्धि)—इन दोनोंका एक रूप-सा हो जाना अस्मिता है। उस अस्मिताको आलम्बन करके जो समाधि लगायी जाती है, वह अस्मिता-समाधि है। अस्मिता-समाधिमें प्रौढ़ता आ जानेपर भव्य आत्मदर्शन हो जाता है। आत्मा यद्यपि असंग और निरवयव तत्त्व है फिर भी उसका दर्शन या साक्षात्कार अवश्य हो जाता है। जैसे राहुका कोई रूप न होनेपर भी ग्रहणके कालमें चन्द्रमाके साथ राहुका भी दर्शन हो जाता है, वैसे ही निर्गुण-निराकार चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वका भी चित्त या बुद्धिके साथ योगज प्रत्यक्ष हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। आत्म-दर्शनके कालमें प्रकृति-पुरुष या आत्मा-अनात्माके पृथक् करनेवाले विवेक-ज्ञानको विवेकख्याति या पुरुषख्यातिके नामसे कहते हैं और उस ख्यातिसे भी उपरत हो जाना परम वैराग्य है। परम वैराग्यमें परिपक्वता आनेपर धर्ममेघ नामकी समाधि उत्पन्न होती है, जो मोक्षरूप अमृतको वर्षानेवाली है। यह योगकी नितान्त उच्चतम अवस्था है।

उक्त समाधिकी दीर्घकालिक स्थिरता आनेपर आत्मा अपने स्व-स्वरूपमें रहने लगता है। जैसे योग-भाष्यमें व्यासने कहा है—'**स्वरूपमात्रज्योतिरमलकेवली पुरुषः इति।**' अर्थात् स्वरूपावस्थितिके कालमें पुरुष-आत्मा विशुद्ध निर्मल तथा स्वयंप्रकाश-स्वरूप चैतन्य-ज्योति बनकर केवल रूपमें भासित होता है। उस कालमें सारे क्लेश-कर्मादि दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है। इसलिये योग-सूत्रकारने कहा है—'**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।**' (योग० ४।३४) जिनका पुरुष-आत्माके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा, ऐसे गुणोंका अपने कारणोंमें लीन हो जाना उनका कैवल्य है और द्रष्टा-आत्माका अपने चेतन मात्रस्वरूपमें अर्थात् ब्रह्म-स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाना स्वरूप-स्थिति या मोक्ष है। इस प्रकार आत्मस्थितिको प्राप्त करनेवाले योगी जबतक संसारमें जीवित रहते हैं, जीवन्मुक्त पुरुष कहलाते हैं, शरीर छूटनेके पश्चात् सदाके लिये मुक्त हो जाते हैं। अर्थात् '**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**'—हो जाता है। जैसे सांख्य-दर्शन (५।११६)में कहा है—'**समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता**'—समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष-दशामें पुरुष-आत्मा ब्रह्मस्वरूपमें स्थित हो जाता है। वैसे मुक्त पुरुष पुनः संसारागमन नहीं करते। भाष्यकार व्यासने भी कहा है—'**क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति। कस्मात्? यस्माद्विपर्ययो भवस्य कारणम्। न हि क्षीणविपर्ययः कश्चित् केनचित् क्वचिज्जातो दृश्यते इति।**' अर्थात् क्लेश-कर्मादि निवृत्त हो जानेपर जीता ही योगी मुक्त हो जाता है, क्योंकि मिथ्याज्ञान ही जन्म-मरणका कारण है। नष्ट अज्ञानवाला कोई भी योगी या ज्ञानी पुरुष किसी हेतुसे कहीं भी उत्पन्न हुआ नहीं देखा गया है। अर्थात् उनका पुनः संसारमें जन्म नहीं होता, सदाके लिये वह मुक्त हो जाता है।

गीताका कर्मयोगी फल और आसक्तिको त्यागकर भगवान्‌की आज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्व-बुद्धिसे शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म करता हुआ उन कर्मोंद्वारा भगवान्‌की भक्ति करता है (देखिये गीता २।४७से५१; ३।७, १९, ३०; ४।१४; ५।१०; ६।१; ८।७; ९।२७-२८; १२।६; १०।११; १८।६, ९, ४६, ५६, ५७ आदि)।

योगकी कुछ आवश्यक बातें

त्रियोग—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग।

योगचतुष्टय—हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग और राजयोग।

द्विविधा निष्ठा—सांख्ययोग और कर्मयोग।

द्विविधा प्रकृति—परा और अपरा।

त्रिविध पुरुष—क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम (जगत्, जीव और भगवान्)।

वेदान्तके चार महावाक्य—अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म और अयमात्मा ब्रह्म।

सप्तज्ञानभूमिका—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी और तुर्यगा।

साधनचतुष्टय—नित्यानित्यवस्तुविवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान) और मुमुक्षुत्व।

त्रिविध नरकद्वार—काम, क्रोध और लोभ।

त्रिविध ज्ञानद्वार—श्रद्धा, तत्परता और इन्द्रियसंयम।

भक्तिके चार महावाक्य—कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्, मत्तः परतरं नान्यत्, ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् और मामेकं शरणं व्रज।

द्विविधा भक्ति—अपरा या गौणी, परा या रागानुगा।

नवधा भक्ति—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन।

पञ्चभाव—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर।

अष्ट सात्त्विक भाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय।

प्रेमकी तीन अवस्थाएँ—पूर्वराग, मिलन और वियोग।

त्रिविध विरह—भूत, वर्तमान और भावी।

विरहकी दस दशाएँ—चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु।

चतुर्विध भाव—भावोदय, भावसन्धि, भावशाबल्य और भावशान्ति।

द्विविध महाभाव—रूढ और अधिरूढ।

द्विविध अधिरूढ महाभाव—मोदन और मादन या मोहन।

आसन—चौरासी या एक सौ आठ। प्रधान दो—पद्मासन और स्वस्तिकासन।

मुद्रा और बन्ध—ये अनेक हैं, परंतु पचीस मुख्य हैं। उनके नाम हैं—महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानबन्ध, जालन्धर-बन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालनी, तडागी, माण्डवी, शाम्भवी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी, भुजङ्गिनी और पाँच धारणाएँ (पार्थिव, आम्भसी, वैश्वानरी, वायवी और आकाशी)।

षट्कर्म—धौति, गजकरणी, वस्ति, नौलि, नेति और कपालभाति। कोई-कोई त्राटकसमेत सात मानते हैं।

प्राणायाम—पूरक, कुम्भक और रेचक।

चतुर्विध पातञ्जलोक्त प्राणायाम—आभ्यन्तर, बाह्य और दो प्रकारके केवल प्राणायाम।

अष्टविध प्राणायाम—सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा और प्लाविनी। कुछ लोग अनुलोम-विलोमको जोड़कर नौ प्रकार मानते हैं।

दैनिक श्वास—२१६००।

योगसाधनमें तीन प्रधान नाडियाँ—इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना।

दस वायु—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय।

योगके षट्चक्र—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा।

योगके सप्तचक्र—उपर्युक्त छः और सातवाँ सहस्रार।

योगके नौ चक्र—उपर्युक्त सात और आठवाँ तालुमें ललनाचक्र और नवाँ ब्रह्मरन्ध्रमें गुरुचक्र।

षोडश आधार—१-दाहिने पैरका अँगूठा, २-गुल्फ, ३-गुदा, ४-लिङ्ग, ५-नाभि, ६-हृदय, ७-कण्ठकूप, ८-तालुमूल, ९-जिह्वामूल, १०-दन्तमूल, ११-नासिकाग्र, १२-भ्रूमध्य, १३-नेत्रमण्डल, १४-ललाट, १५-मस्तक और १६-सहस्रार।

तीन ग्रन्थि—ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि।

त्रिमार्ग—पिपीलिका-मार्ग, दार्दुर-मार्ग और

विहङ्गम-मार्ग।

त्रिशक्ति—ऊर्ध्वशक्ति (कण्ठमें), अधःशक्ति (गुदामें) और मध्यशक्ति (नाभिमें)।

पञ्चभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश।

पञ्चाकाश—आकाश, महाकाश, पराकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश।

वर्ण—पचास ('अ' से 'ह' तक)।

त्रिविध मन्त्र—पुँ, स्त्री, क्लीब।

चतुर्विध वाणी—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी।

योगके आठ अङ्ग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

नियम—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान।

संयम—धारणा, ध्यान और समाधि।

क्रियायोग—तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान।

द्विविध ध्यान—भेदभावसे और अभेदभावसे।

द्विविध समाधि—सम्प्रज्ञात या सबीज और असम्प्रज्ञात या निर्बीज।

सम्प्रज्ञात समाधिके चार भेद—वितर्कानुगम, विचारानुगम, आनन्दानुगम और अस्मितानुगम।

असम्प्रज्ञातके दो भेद—भवप्रत्यय, उपायप्रत्यय।

पञ्चवृत्ति—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

पञ्चक्लेश—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

सप्तसाधन—शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तता।

योगके विघ्न—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, विषय-तृष्णा, भ्रान्ति, फलमें संदेह, चित्तकी अस्थिरता, दुःख, मनकी खराबी, देहकी चञ्चलता, अनियमित श्वास-प्रश्वास, अनियमित और उत्तेजक आहार, अनियमित निद्रा, ब्रह्मचर्यका नाश, नकली गुरुका शिष्यत्व, सच्चे गुरुका अपमान, भगवान्में अविश्वास, सिद्धियोंकी चाह, अल्प सिद्धिमें ही पूर्ण सफलता मानना, विषयानन्द, पूजा करवाना, गुरु बनना और दम्भ करना।

अष्ट महासिद्धि—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और यत्रकामावसायित्व। कुछ लोग इनमें 'गरिमा' जोड़कर इनकी संख्या ९ कर देते हैं।

चतुर्विध साधक—मृदु, मध्य, अधिमात्र और अधिमात्रतम।

चार अवस्थाएँ—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया।

योग क्या है ?

(श्रीभूपेन्द्रनाथजी सान्याल)

प्राचीन भारतमें जितने मुमुक्षु-सम्प्रदाय थे, उनमें जो लोग तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान-रूप क्रियायोगके द्वारा आत्मसाक्षात्कार करते थे, उन्हीं लोगोंका सम्प्रदाय योग-सम्प्रदाय कहलाता था। इस योगके पुरातन या आदिम वक्ता हिरण्यगर्भ ब्रह्मा अथवा शङ्कर हैं। समस्त दर्शनशास्त्रोंमें योगदर्शन ही प्राचीनतम दर्शन है। प्राचीन मुनि पतञ्जलि इस योगदर्शनके रचयिता हैं। इस योगके द्वारा समस्त तत्त्वोंका ज्ञान जिस प्रकार सूक्ष्मतम रूपमें परिस्फुटित होता है, उस प्रकार अन्य किसी साधनाके द्वारा सम्भव नहीं। क्योंकि चित्तको संयत करनेपर जो एकाग्रता प्राप्त होती है, उस एकाग्रताका अभाव होनेपर हम जागतिक किसी पदार्थ या विषयका भी ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। और जिस समय चित्त विषयासक्ति प्रभृति अवैराग्यके द्वारा अभिभूत नहीं होता, उस समय वह जिस एकाग्र भूमिपर आरोहण करता है, उसके द्वारा निरोधरूप परमोपशान्ति नित्य प्रतिष्ठित होती है। इसके समान 'श्रेष्ठ बल और कुछ भी नहीं हो सकता। आत्मसाक्षात्कार-प्राप्ति ही साधनाका चरम उद्देश्य है, क्योंकि उसके अतिरिक्त दुःखनिवृत्तिका कोई दूसरा सुगम पथ नहीं है। **'अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्'**—योगके द्वारा आत्मदर्शन प्राप्त करना ही परम धर्म है। हमारे समस्त दुःखभोगका मूल चित्तका स्पन्दन ही है। चित्तके स्पन्दनकी निवृत्ति होनेपर दुःखकी निवृत्ति हो जाती है, अन्यथा लाख विचार करें,

आलोचना करें या श्रवण करें, उससे कुछ भी नहीं हो सकता। हमारे देशकी या अन्य देशोंकी भी समस्त साधनाओंमें जो प्रणालियाँ बतलायी गयी हैं, उनमें चित्तको न्यूनाधिक मात्रामें निरुद्ध करनेका उपदेश सब सम्प्रदायोंमें प्रचलित है, ऐसा देखा जाता है। वास्तवमें चित्तको स्थिर किये बिना कोई दुःखसे मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। इसीलिये चित्तका चरम स्थैर्य जो समाधि है, उसके द्वारा त्रिताप-ज्वालाकी एकदम निवृत्ति हो जाती है। इन्द्रियजनित हमारा जो ज्ञान है, वह शुद्ध ज्ञान नहीं है, क्योंकि विक्षिप्त चित्तमें जो ज्ञान प्राप्त होता है, उस ज्ञानसे आत्मदर्शन नहीं होता। समाधिजनित ज्ञानके बिना कोई आत्मज्ञान अथवा आत्मसाक्षात्कार नहीं प्राप्त कर सकता। कठोपनिषद्में कहा है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

'जो व्यक्ति पापसे निवृत्त नहीं हुआ है, अथवा जो केवल इन्द्रियपरायण है एवं जो असमाहित अर्थात् एकाग्रतारहित, चञ्चलचित्त है—वह कभी आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता, अथवा जो व्यक्ति अशान्त मनवाला है अर्थात् फल-कामनामें आसक्त चित्तवाला है, वह केवल विचारके द्वारा आत्माको नहीं प्राप्त कर सकता।'

उपनिषद्में आत्माकी प्राप्तिके विषयमें कहा है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

'समस्त भूतोंके अंदर आत्म-चैतन्य गुप्तरूपसे निहित है, यह सबके सामने प्रकाशित नहीं होता। किंतु ध्यान-निश्चला सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा सूक्ष्मदर्शियोंको यह आत्मा दिखायी देता है अर्थात् वह उनके सामने प्रकट होता है।'

आत्मदर्शन करनेके लिये बुद्धिको अत्यन्त सूक्ष्म करना होता है। साधारणतः विषयव्यापारसंलग्न चित्त अत्यन्त स्थूल अर्थात् चञ्चल होता है। उस स्थूल चित्तमें सूक्ष्मतम आत्मदर्शन होना असम्भव है। इसीलिये चित्तको स्थिर करते-करते उसे इतना स्थिर कर देना होता है कि उसका सारा स्पन्दन शान्त हो जाय। इस अवस्थाका वर्णन उपनिषद्में इस प्रकार मिलता है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

जिस अवस्थामें पञ्चज्ञानेन्द्रिय मनके साथ स्थित रहते हैं अर्थात् इन्द्रियाँ बहिर्विषयका त्यागकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं और बुद्धि भी चञ्चल नहीं रहती अर्थात् विषय-चिन्तनका दाग उसमें नहीं लगता, योगी उस इन्द्रिय-मनोबुद्धिकी स्थिरताको आत्मज्ञान प्राप्त करनेकी श्रेष्ठ साधना कहते हैं। उसी स्थिर इन्द्रिय धारणाको (अर्थात् इन्द्रियोंकी निश्चलताको) योगी लोग योगके नामसे पुकारते हैं। चूँकि योग हित और अहित दोनोंका कारण होता है, इसलिये इस बातके लिये सावधान रहना चाहिये कि चित्तकी परम स्थिरता प्राप्त होनेके पहले प्रमाद न आ जाय। अर्थात् उस समयमें योगीको अनेक विभूतियाँ प्राप्त होती हैं, अगर वह प्रमादवश उनमें आसक्त हो गया तो समस्त अभ्यासका परिश्रम नष्ट हो जायगा। ध्यान देनेकी बात है कि जिस वस्तुके प्रति चित्तका आकर्षण होता है उसी वस्तुकी ओर चित्तकी स्वाभाविक गति होती है। चित्त जब बार-बार उस वस्तुका भोग करता है, तब उसमें तदनुरूप संस्कार उत्पन्न होते हैं, संस्कारसे वासनाका उदय होता है, वासना बढ़ते-बढ़ते इस विराट् संसारकी रचना कर बैठती है। यदि उन सब वासनाओं और भोगादिके परिणाम—नीरसताका विचार किया जाय तो उन सब वस्तुओंको पानेका आग्रह मनमें फिर नहीं आ सकता। जबतक वस्तुके लिये चित्तमें आग्रह रहता है, तबतक उस चित्तको मलयुक्त कहा जाता है और वह समल चित्त भगवच्चिन्तनका बाधक है, इसीसे सब कालमें साधकोंने भगवद्भावनाके विरोधी विषय-वासनाको हेय कहा है।

हमारे अंदर वैराग्यबुद्धिका उदय क्यों नहीं होता? वैराग्यके प्राप्त होनेपर विषयकी ओर चित्त आकृष्ट नहीं होता और मन सहज ही स्थिर होकर आत्मानुसंधानमें प्रवृत्त हो सकता है। वैराग्य अनायास नहीं आता, यह समझनेपर ही विषयके प्रति प्रतिकूल भावका पोषण किया जा सकता है, ऐसा नहीं है। अन्तःकरणके अंदर जो अंश चित्तके नामसे प्रसिद्ध है, उसमें जीवके जन्म-जन्मान्तरके संस्कार एकत्रित रहते हैं, जबतक यह चित्त क्षीण नहीं होता, तबतक अनादि

संसार-वासना क्षयको प्राप्त नहीं होती। हजारों-लाखों जन्मोंके संस्कारोंसे चित्त भरा हुआ होता है, इसलिये चित्तको जीतना सहज काम नहीं है। चित्तके मूल कारण दो हैं—

'हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः।'

'चित्तके अंदर वृत्तिप्रवाहके केवल दो हेतु हैं। एक तो है वासना अर्थात् भावनामय संस्कार और दूसरा है प्राणप्रवाह।' प्राणके अंदर वासनाका बीज और संस्कार ग्रथित रहते हैं। प्राणके स्पन्दनसे मन स्पन्दित होनेपर वृत्तिप्रवाहरूप उत्ताल तरङ्गमाला उठना आरम्भ करती है। इसीलिये प्राण और मनके स्पन्दनका नाश करनेकी व्यवस्था योगशास्त्रमें बार-बार दी गयी है। निरन्तर नाड़ियोंसे होकर प्राणधारा जीवशरीरमें प्रवाहित हो रही है और वही श्वासके रूपमें स्थूलतः दिखायी देती है। यह श्वास ही जीवका जीवन है। परंतु श्वासकी इस प्रकारकी गतिको योगी लोग संसार-वासनाका मूल कारण समझते हैं। इसीलिये योगियोंके किसी-किसी सम्प्रदायने ऐसी चेष्टा की कि श्वासका ही निरोध किया जाय। क्योंकि—

'पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते।'

'प्राणवायु स्थिर होनेपर मन स्थिर हो जाता है।' अवश्य ही मन स्थिर होनेपर प्राण भी स्थिर होता है। इसीलिये योगियोंमें एक सम्प्रदायने प्राणका और दूसरे सम्प्रदायने मनका निरोध करनेकी ओर विशेष ध्यान दिया है।

इन्द्रियविकारादि दोषसमूह प्राणनिग्रहके द्वारा दूर होते हैं, यह बात महर्षि मनुके उपदेशमें भी देखी जाती है।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

'अग्निके द्वारा उत्तप्त होनेपर धातुके मल जिस प्रकार जल जाते हैं, उसी प्रकार प्राणवायुके निग्रहके द्वारा इन्द्रियोंके भी समस्त दोष दग्ध हो जाते हैं।'

योगदर्शनमें लिखा है—महामोहमय इन्द्रजालके द्वारा जब प्रकाशशील सत्त्व ढक जाता है, तब अन्य गुण कार्यशील होकर जीवको अकार्यमें नियुक्त करते हैं। उस प्रकाशको ढकनेवाले कर्म प्राणायामके द्वारा नष्ट होते हैं—**'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।'** जबतक रज-तमके कार्य चलते रहते हैं, तबतक बुद्धिका विकार नष्ट नहीं होता। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशादि पञ्च क्लेश कार्यकारण-स्रोतको उत्पन्न कर कर्मविपाककी सृष्टि करते हैं। इसी कारण समाधि-साधनद्वारा बुद्धि स्थिर करने और सब 'क्लेश' क्षीण करनेके लिये योगी क्रियायोगका अनुष्ठान करते हैं। क्योंकि जबतक सब 'क्लेश' क्षीण नहीं हो जाते, तबतक वे अप्रसवधर्मा नहीं होते। 'क्लेश' की प्रबल अवस्था रहनेपर अशुद्धि दूर नहीं होती। परंतु क्रियायोग (प्राणायामादि क्रिया) के द्वारा अशुद्धि नष्ट हो जाती है। अशुद्धि दूर होनेपर सब क्लेश भी क्षीण हो जाते हैं। सब क्लेशोंके क्षीण हुए बिना अशुद्ध वृत्तियोंको नष्ट करना सम्भव नहीं होता। अशुद्ध वृत्तियोंकी प्रबल अवस्थामें उनको कोई सँभाल नहीं सकता। पहले ऐसी चेष्टा करनेकी आवश्यकता है जिससे सब 'क्लेश' क्षीण हो जायँ। क्लेश-समूहके क्षीण हो जानेपर 'ऋतम्भरा प्रज्ञा'का उदय होता है और ऐसी 'प्रज्ञा' के द्वारा 'क्लेश'-समूह अप्रसवधर्मा हो जाता है। क्लेशसमूहकी फिर वृत्ति उत्पन्न नहीं होती। इसीलिये वसिष्ठदेवने कहा है—

दुःसहा राम संसारविषवेगविषूचिका।
योगगारुडमन्त्रेण पावनेनोपशाम्यति॥

'हे राम! यह संसाररूपी विषवेगविषूचिका अत्यन्त दुःसह है। केवल परमपावन योगाभ्यासरूप गारुड-मन्त्रके द्वारा ही उसका उपशमन किया जा सकता है।'

साधारणतः हमारा चित्त जब संसारमुखी (जैसा अधिकांश लोगोंका होता है) होता है, तब श्वास भी बाहरकी ओर विचरण करता है। इस श्वासकी गतिकी ओर योगियोंने ध्यान दिया है। जब श्वास हमारी बायीं अथवा दाहिनी नासिकासे चलता है, तब संसार-वासना स्पन्दित होती है। सब जीवोंका श्वासप्रवाह इन्हीं दो नासापुटोंसे प्रवाहित होता है, अतएव संसार-वासना किसी तरह निवृत्त नहीं होती। इसी कारण योगियोंने ऐसी चेष्टा की है कि श्वास बाहरकी ओर गमनागमन न करे। बाहरकी ओर गमनागमन करनेका पथ इडा और पिङ्गला नाडी हैं। साधारणतः अज्ञानीकी ज्ञाननाडी—सुषुम्ना-पथ बंद रहता है। योगी इसीलिये इडा और पिङ्गला नाडीका द्वार बंद करके सुषुम्नामार्गसे प्राणको चलानेकी चेष्टा करते हैं, अन्यथा मनुष्यके अंदर वास्तविक ज्ञानका उदय होना सम्भव नही। हमें समस्त ज्ञान नाडी-पथसे होता है। ब्रह्म-ज्ञान भी नाडी-पथसे होता है, वह ब्रह्मज्ञानप्रवाहिका नाडी

सुषुम्ना है। उसीसे प्राणको चलाना होगा। योग-शास्त्रमें कहा है—

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते।
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः॥
मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते।
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी॥

'विधिवत् प्राणसंयमके द्वारा नाडीचक्रके विशुद्ध होनेपर सुषुम्नाका मुख खुल जाता है और उसके अंदर प्राणवायु सहज ही प्रवेश कर जाता है। मध्यनाडी अर्थात् सुषुम्नाके अंदर प्राणवायु संचालित होनेपर मनको जो स्थिर-भाव प्राप्त होता है, उसी स्थिरावस्थाका नाम 'उन्मनी' अवस्था है।'

इस उन्मनी-अवस्थाको प्राप्त योगी देवताओंके भी पूजनीय होते हैं। इस योगाभ्यासके द्वारा कालको भी ठगा जा सकता है। बोधसारग्रन्थमें लिखा है—

गोरक्षचर्पटिप्राया हठयोगप्रसादतः।
वञ्चयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति हि॥

'गोरक्षनाथ, चर्पटि प्रभृति योगी हठयोगके अनुष्ठानके द्वारा सिद्धि प्राप्तकर, मृत्युको ठगकर ब्रह्माण्डमें विचरण करते हैं।'

बहुतसे लोग हठयोगसे घृणा करते हैं और राजयोगका विशेष आदर करते हैं। परंतु योगशास्त्रमें कहा है—हठयोगके बिना राजयोग और राजयोगके बिना हठयोग किसीको भी वास्तविक सिद्धि नहीं दे सकता।

वास्तवमें सब योगोंके अंदर एक प्रकारकी एकता है और परस्पर सापेक्षता है। जो इस बातको नहीं समझते वे योगी नहीं हैं। बोधसारग्रन्थमें लिखा है—

लये मन्त्रे हठे राज्ञि भक्तौ साङ्ख्ये हरेर्मते।
मतैक्यमस्ति सर्वेषां ये बुधा मोक्षमार्गगाः॥

'लययोग, मन्त्रयोग, हठयोग, राजयोग, सांख्ययोग और भक्तियोग—इन सब योगोंके अंदर मतैक्य है। जो मोक्षमार्गगामी हैं, उन सब बुधोंने देखा है कि सबका उद्देश्य मोक्षप्राप्ति है।'

हठिनामधिकस्त्वेकः प्राणायामपरिश्रमः।
प्राणायामे मनःस्थैर्यं स तु कस्य न सम्मतः॥

'हठयोगियोंका मुख्य साधन है श्रमसाध्य प्राणायाम—यह अन्यान्य योगियोंकी साधनासे अधिक है। परंतु वह प्राणायाम सिद्ध हो जानेपर चित्त स्थिर हो जाता है, यह कौन स्वीकार नहीं करेगा?'

योगदर्शनमें भी लिखा है कि प्राणायामके द्वारा '**धारणासु च योग्यता मनसः**'—मनको धारणाविषयक योग्यता प्राप्त होती है।

प्राणकी क्रिया है निःश्वास और अपानकी क्रिया है प्रश्वास। इस निःश्वास-प्रश्वासकी गति रुद्ध होनेका नाम है कुम्भक। इस प्रकार निगृहीत प्राणवायुमें समस्त इन्द्रियाँ लीन हो जाती हैं। प्राणायाम अन्य प्रकारका भी है, जिसमें जबर्दस्ती वायुको रोकना नहीं पड़ता, बल्कि प्राणापानको दीर्घ करके निरन्तर ग्रहण करने और त्यागनेका जो कौशल है, उस कौशलका अभ्यास करते-करते अपने-आप वायु रुद्ध हो जाता है। इसका नाम 'केवल कुम्भक' है—

'रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद् वायुधारणम्।'

प्राणायाम-साधनका यह एक अत्यन्त आश्चर्यजनक फल है। जो विधिवत् प्राणायामका अभ्यास करते हैं उनके श्वासकी ऊर्ध्व-अधः-गतिका शेष हो जाता है। प्राण उस समय सुषुम्नाके मध्यसे होकर मस्तकमें जाकर स्थिर हो जाता है। प्राणायामके द्वारा जब सुषुम्नामें प्राणकी गति होती है तब 'सहजावस्था' प्राप्त होती है और उसके बाद निर्विकार-स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। इसीलिये योगियोंने चित्तस्थितिके लिये प्राणायामको सर्वश्रेष्ठ उपाय बतलाया है।

योगी गोरक्षनाथजीका कहना है कि जितने दिनोंतक प्राणवायु सुषुम्नामें प्रवेश नहीं करता, उतने दिनोंतक मौखिक ज्ञानकी बात कहना दम्भ और मिथ्या प्रलापमात्र है—

यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे
यावद्बिन्दुर्न भवति दृढः प्राणवातप्रबन्धात्।
यावद्ध्यानं सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः॥

सुषुम्नाके अंदर प्राणवेग संचारित होनेपर मन शून्यके अंदर प्रविष्ट हो जाता है अर्थात् निरालम्ब होकर स्थिर हो जाता है, उस समय योगीके सब कर्म निर्मूल हो जाते हैं। यद्यपि सुषुम्नाके अंदर प्राणकी स्थिति नित्य है, तथापि इडा-पिङ्गलाके अंदर जो प्राणका प्रवाह चल रहा है, वह बंद हुए बिना उसका

अनुभव नहीं होता, इसीलिये इडा-पिङ्गलाके प्रवाहका अवरोध करनेकी आवश्यकता है। योगी गोरखनाथने कहा है—

सुषुम्नायां सदैवायं वहेत् प्राणसमीरणः।
एतद्विज्ञानमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

'यह प्राणवायु सुषुम्ना नाडीमें सर्वदा ही प्रवाहित होता है। परंतु जो योगी इसे जान जाते हैं, वे समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं।'

प्राणकी चञ्चलताके कारण ही जीव संसारचक्रमें परिभ्रमण करता है, अतएव सब प्रकारसे इस प्राणको ही स्थिर करना आवश्यक है। प्राण स्थिर हो जानेपर कामादि रिपुगण फिर नाडियोंको दूषित नहीं कर पाते। पहले कहा गया है कि हमें समस्त ज्ञान नाडीद्वारा ही होता है, अर्थात् मनमें कोई विचार (अच्छा या बुरा) आनेके पहले नाडी-प्रवाहिकाके अंदर कम्पन होता है और वही संकल्प-विकल्प आदिके रूपमें ऊपर उठता है—उस अवस्थाको ही मन कहते हैं। अतएव नाडीका शोधन आवश्यक है। गोरखनाथजी इसीसे कहते हैं—

तेन संसारचक्रेऽस्मिन् भ्रमतीत्येव सर्वदा।
तदर्थं ये प्रवर्तन्ते योगिनः प्राणधारणे॥
तत एवाखिला नाडी निरुद्धा चाष्टवेष्टनम्।
इयं कुण्डलिनी शक्ती रन्ध्रं त्यजति नान्यथा॥

'प्राणवायुके कारण ही जीवसमूह इस संसार-चक्रमें निरन्तर भ्रमण करता है। योगी लोग दीर्घ जीवन प्राप्त करनेके लिये इस वायुको स्थिर करते हैं। इसके अभ्याससे नाडियाँ पुनः कामादि अष्ट दोषसे दूषित नहीं हो पातीं। नाडी विशुद्ध हो जानेपर कुण्डलिनी-शक्ति अपने रन्ध्रको छोड़ देती है, अन्यथा नहीं छोड़ती।' वह रन्ध्र मूलाधारसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रतक विद्यमान है। योगसाधनके बलसे कुण्डलिनी-शक्ति सुषुम्ना-विवरसे होकर ब्रह्मरन्ध्रमें जाकर जब स्थित होती है, तब शिव-शक्तिसंयोगरूप परमयोग प्राप्त होता है।

मूलाधारसे सहस्रारपर्यन्त जानेके पथमें छः पद्म हैं, इनमेंसे प्रत्येकके ध्यानसे अतुल फल प्राप्त हो सकता है। आज्ञाचक्रके ध्यानके द्वारा योगीके समस्त कर्मबन्धन नष्ट हो सकते हैं। केवल यही नहीं, योगशास्त्रमें कहा गया है कि—

यक्षराक्षसगन्धर्वा अप्सरोगणकिन्नराः।
सेवन्ते चरणं तस्य सर्वे तस्य वशानुगाः॥

'जो इस आज्ञाचक्रका ध्यान कर सकता है, उस साधकके चरणयुगलकी यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा और किन्नर अनवरत सेवा करते हैं और वे सब उस साधकके वशमें रहते हैं।'

योग और उसके विभिन्न दृष्टिकोण

(स्वामी श्रीज्योतिर्मयानन्दजी महाराज)

क्या आपने कभी यह सोचा है कि जब आपकी सभी अभिलाषाएँ पूर्ण हो जायँगी तो आप कैसा अनुभव करेंगे? उस समय किस सीमातक आपका मस्तिष्क संकल्पोंसे युक्त, संकल्पमुक्त अथवा मिश्रित स्थितिमें रहेगा?

आप क्षण-क्षण, दिन-दिन यह सोचते जाते हैं कि मेरी कितनी प्रगति हुई और कितनी होनी चाहिये। यद्यपि आपकी ये मान्यताएँ भी प्रतिक्षण बदलती जाती हैं, इतनेपर भी आप यह नहीं समझ पाते हैं कि 'आपका वास्तविक स्वरूप क्या है?' आप अपने मनमें यह सोचते हैं कि 'मेरा जीवन सदा असफल रहा है और मैं किसी भी मार्गमें सफलता नहीं प्राप्त कर सकता।'

थोड़ेसे परिवर्तनके बाद फिर आप यह सोचते हैं कि जैसा पहले सोचते रहे वैसे आप सर्वथा नगण्य नहीं हैं। फिर आप यह देखते हैं कि आपने इतनी शक्ति अर्जित कर ली है कि आप प्राप्त हुए तथा प्राप्त होनेवाले विघ्नोंपर विजय प्राप्त कर सकते हैं। आप असम्भव और सम्भव वस्तुओंको अच्छी तरह समझ सकते हैं। इसपर आप देखेंगे कि आपके हृदयके अन्तर्गत ही असीम दुर्लभ पदार्थों तथा सीमाओंको प्राप्त करनेकी शक्ति संनिहित है।

योगके बारेमें अभीतक बहुत कुछ कहा जा चुका है। कुछ लोग शारीरिक आसनों एवं प्राणायामों तथा कुछ न्यौली आदि शरीरकी सञ्चालन-प्रक्रियाओंको योग समझते हैं और

कुछ लोग महत् आश्चर्यजनक सिद्धियोंकी उपलब्धिको और कुछ लोग शारीरिक बल तथा मनोबल बढ़ानेको भी योग मानते हैं। किंतु योग इसकी अपेक्षा भी कुछ और अधिक है। इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि योगके विविध प्रायोगिक स्वरूपोंको समझा जाय और उसके द्वारा कौन-कौन-सी वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं, यह भी जाना जाय।

वस्तुतः योग एक संस्कृत शब्द है, जिसका भाव यह है कि जो आप अपनेको समझते हैं उससे आप सर्वथा भिन्न हैं। तत्त्वतः जो आप हैं, उससे संयुक्त करनेवाली साधनाका नाम योग है। आप सम्पूर्ण विश्वकी मूल शक्ति हैं न कि इस सीमित शरीरमें रहनेवाले सामान्य व्यक्ति। अपने हृदयके एकान्त मूल भागमें जो स्थित है, वही आप हैं। जैसे एक जीवनीशक्ति (जीवात्मा) शरीरमें रहकर हाथ, पैर, आँख-कान तथा अस्थि, मज्जा, मांस आदिमें व्याप्त होकर उनका सञ्चालन करती है, उसी प्रकार एक महान् शक्ति सम्पूर्ण विश्वके विभक्त स्वर्ग-पृथ्वी आदि लोकोंका तथा समस्त प्राणियोंका विधिवत् सञ्चालन करती है, यह समझनेमें कठिनाई नहीं होनी चाहिये। विश्वके सभी धर्मोंने उस तत्त्वको विभिन्न भाषा एवं शैलियोंमें समझानेका प्रयास किया है। बाइबिलके अनुसार 'परमात्माने मनुष्यको अपने ही आकार-प्रकारके अनुरूप निर्मित किया, स्वर्गका साम्राज्य उसके हृदयमें ही है।' मुसलमानोंके पवित्र ग्रन्थ कुरानकी यह घोषणा है कि 'मनुष्य परमात्माकी ही एक ज्योतिर्मय किरण है', उपनिषदें भी '**तत्त्वमसि**' अर्थात् 'तुम वही परमात्मा हो'—यह कहकर इसी तथ्यको प्रतिपादित करती हैं। यही विश्वके सभी धर्मोंकी आधारभूत मान्यता है।

ईसामसीह, गौतम बुद्ध, राम, कृष्ण, मूसा और मोहम्मद आदि सभीने मस्तिष्ककी संकीर्णतासे ऊपर उठकर उदार एवं गम्भीर चिन्तनका और समस्त विश्वके साथ आत्मभाव करनेका निर्देश दिया है और इस प्रकार सभी प्राणियों तथा परमात्माके साथ तादात्म्य संस्थापित करनेका उपदेश दिया है। यही योगका मुख्य लक्ष्य है, यही अर्थात् आत्मा या परमात्माका साक्षात्कार ही मनुष्यके जीवनका मूल लक्ष्य है। दर्शनशास्त्रोंकी जो योग-पद्धति है, वह एक ऐसे सामान्य मार्गका निर्धारण करती है कि वह व्यक्ति अपने बौद्धिक या आत्मज्ञानके प्रकाशसे सम्बद्ध हुआ है या नहीं। योग ध्यान-समाधिकी ओर बढ़नेके लिये यम-नियमोंका निर्देश करता है। जिनके द्वारा मनुष्य आत्मसाक्षात्कार करनेमें सक्षम होता है। यह योग-दर्शनकी वह प्रणाली है, जो अभ्यास तथा उसके मूल सिद्धान्तोंको भी उन्नत करती है।

जब हम यहाँ योगकी इस प्रकार चर्चा करते हैं तो वहाँ हमारा तात्पर्य आत्म-प्राप्तिके क्रमिक विकासके साधनोंसे रहता है। इससे भिन्न योग सार्वभौम सत्ताकी ओर केन्द्रित करता है। दोनों प्रकारके योगोंका स्पष्ट अन्तर अब हमें मुख्य योग-सरणिके अनुसरणकी ओर प्रवृत्त करता है।

सार्वभौम योग

योगके अनेक पहलू हैं। सार्वभौम योग मूलतः योगको समझनेकी प्रेरणा देता है। जो सब प्रकारसे इसे सम्यक्‌रूपेण परिपूर्ण करता है और जो परमात्मासे सम्यक्-रूपसे सर्वथा एकात्मभावके रूपमें संयुक्त कर देता है। एक साधक या योगी व्यक्तिको परमात्मासे एकात्मभाव अवश्य स्थापित करना चाहिये अथवा व्यक्तित्वको सभी स्तरोंपर बुद्धि, संवेग, इच्छा एवं क्रियाओंसे तारतम्य स्थापित किये रहना चाहिये। जीवनमें सफलता प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको चारों दिशाओंमें एक संतुलित एवं व्यापक दृष्टिकोणसे अग्रसर होना चाहिये। असंतुलित यात्रा-क्रम किसी भी दिशामें सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

इसलिये सार्वभौम योग मनुष्यके जो चार स्वरूप होते हैं उनके कारणभूत चार योगोंका सम्मिलित रूप उपस्थित करता है। इनमेंसे ज्ञानयोग (या बुद्धियोग) अनुमान या बुद्धिके अत्यन्त सूक्ष्म रहस्योंको प्रकट करता है और दूसरा भक्तियोग (या उपासना-पद्धति) मनुष्यके भावोंको उत्तेजित करता है और मनुष्यके व्यक्तित्व एवं साधनामें शक्तिका सञ्चार करता है (और वह ज्ञानयोगकी ओर विशेष प्रेरणा देता है)। तीसरा राजयोग (या ध्यान या समाधिकी पद्धति) मनुष्यकी इच्छा-शक्तिको दृढ़ बनाता है और उसके मन या चित्तवृत्तियोंको नियन्त्रित करनेमें सशक्त बनाता है और चौथा कर्मयोग (अर्थात् क्रिया करनेकी विधि) मनुष्यके अन्तर्हृदयमें निहित गूढ़ शक्तियों और उनके रहस्योंको उद्घाटित करता है और वह उसके मनः-शक्तिको बढ़ाता है तथा दिन-प्रति-दिन कर्तव्य-कर्मके रहस्योंको जानते हुए उसकी कार्यकुशलताको बढ़ाता है

(इस प्रकार यह योग भी ज्ञानयोगकी ओर प्रवृत्त करता है)।

सार्वभौम या सम्पूर्ण योग इन चारों योगों—ज्ञानयोग (बुद्धियोग), भक्तियोग, राजयोग एवं कर्मयोगको एकमें बाँधता है और इसीके साथ-साथ जो शेष अनेक प्रकीर्ण योग हैं, उन्हें भी वह समेट लेता है और इन सबको मिलाकर आत्म-साक्षात्कार या भगवत्प्राप्तिकी ओर उन्मुख या प्रवृत्त होता है। इससे भिन्न कोई अकेला सामान्य योग मनुष्यको किसी एक रास्तेपर अथवा असंतुलित रूपसे आगेकी ओर बढ़ाता है और जो अकेले किसी लक्ष्यको पूर्णरूपसे प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता है। किंतु सम्पूर्ण या सार्वभौम-योग साधकके लक्ष्यको प्राप्त करनेमें एक सुरक्षित और सुनिश्चित दिशाको प्राप्त कराता हुआ उसे महान् लक्ष्यको प्राप्त करानेमें पूर्ण समर्थ होता है।

योगविद्याका आविर्भाव कब हुआ ?

इतिहासकी दृष्टिसे यह निश्चय करना अत्यन्त कठिन है कि विश्वमें योगविद्याका आविर्भाव कब और कहाँसे हुआ। वेदोंमें योगका उल्लेख प्राप्त है, इसलिये योग निश्चय ही बहुत प्राचीन कालसे चला आ रहा है। योगविद्याके प्रारम्भिक कालसे उस समयका तात्पर्य नहीं है कि इसका अध्ययन-अध्यापन कबसे प्रारम्भ हुआ, बल्कि इसका तात्पर्य है चित्तकी वृत्तियोंका निरोध और आत्मसंयमका व्यावहारिक अभ्यास कबसे प्रारम्भ हुआ ? यही देखना है।

आइजक न्यूटनने गुरुत्वाकर्षणके सिद्धान्तका आविष्कार मात्र किया था न कि वह उसका प्रयोक्ता भी था। ठीक इसी प्रकार योगके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये कि उसके आविष्कारक और प्रचारक दूसरे लोग थे, किंतु ठीक-ठीक उसे प्रयोगमें लाकर उसका उपयोग कर सिद्धि प्राप्त करनेवाले योगी-जन दूसरे थे। इसलिये यह प्रश्न कि योगका आविर्भाव कब हुआ और किसने किया, यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि योग-साधना एवं बुद्धिके रहस्योंको उद्घाटित कर आत्माके स्वरूपका साक्षात्कार कब और किसके द्वारा हुआ ? यह प्रश्न महत्त्वका है। बस इतना जान लेना पर्याप्त है कि योग कई हजार वर्षोंसे संसारमें अपना कार्य कर रहा है। इसने विश्वके सभी धर्मोंको अनुप्राणित किया और मनुष्यको आत्मबल प्राप्त कराकर परमोन्नति प्राप्त करनेकी दिशामें अग्रसर किया। इस प्रकारकी यौगिक क्रान्तियाँ समय-समयपर बार-बार होती रही हैं।

यह अत्यन्त युक्तियुक्त एवं तर्कपूर्ण बात है कि अत्यन्त प्राचीन कालमें ईसाने तत्त्वका साक्षात्कारकर अपने विचारोंको धर्मके रूपमें प्रचारित-प्रसारित किया[१]। ईसाके 'पर्वतपरके उपदेश' जो अहिंसा, निश्चलता, सरलता, आत्मानुसंधान या आत्मानुभवसे सम्बन्धित थे, वे योगविद्यासे प्रभावित थे। विश्वके सभी धर्म अपने मूलमें एक ही तत्त्वको सँजोये हुए हैं। संसारके भीषण क्लेशोंसे मुक्त होनेके लिये योगका आश्रयण ही मुख्य है, उसके लिये हिन्दू, ईसाई, मुसलमान आदि विभिन्न धर्मोंकि दीक्षाओंकी आवश्यकता नहीं। योगके सहारे आप अपने अन्तर्हृदयके रहस्योंको जान सकते हैं और आप देखेंगे कि सभी धर्मोंका मूल उसीमें संनिहित है। सभी धर्म अपने मूलमें एक हैं और वे सब-के-सब वही हैं।

योगधर्म या दर्शन ?

अबतक हमलोगोंने योगके धर्मके साथ तथा दर्शनके साथ सम्बन्धोंकी समीक्षा की है। अब यह निश्चय समझ लेना चाहिये कि योग इन दोनोंसे भिन्न है। विश्वास तथा आस्थाकी दृष्टिसे यह धर्म नहीं कहा जा सकता। आप किसी भी धर्मके व्यक्ति हो सकते हैं और ऐसा होते हुए भी योगके अत्यन्त प्रेमी बन सकते हैं। वास्तवमें योग एक सार्वभौम विश्व-धर्म है। योगकी दृष्टिमें धर्म एक विज्ञान है। यह ईसाके हजारों वर्ष पूर्व भारतमें विकसित हो चुका था। यही प्राचीन योग-प्रणाली सम्पूर्ण धार्मिक क्रान्तियोंकी जननी रही है और सभी आध्यात्मिक एवं धार्मिक भावनाओंको प्रेरणा देती रही है। इसलिये यदि आप योगका अध्ययन करते हैं तो आप अपने धर्मका ही अध्ययन करते हैं और अपनी आस्था तथा धार्मिक भावनाओंको दृढ़ करते हैं तथा अपने धर्मग्रन्थोंका तात्त्विक रहस्य उस योगके द्वारा स्पष्टरूपसे समझ सकते हैं।

१-ध्यान रखना चाहिये कि भारतीय मत इससे सर्वथा भिन्न है। भारतीय परम्पराके अनुसार सृष्टि प्रायः दो अरब वर्ष पुरानी है और इसके पूर्व भी विभिन्न कल्पोंकी सृष्टियाँ रही हैं, इसीलिये वेदोंके समान ही योगविद्या भी नित्य एवं अनादि सिद्ध मान्य है।

इसी तरह योग शिक्षाकी दृष्टिमें कोई दर्शन नहीं है। यह मानवीय बुद्धिके करामातोंसे बाँधा नहीं गया है और मानवीय बुद्धिके आधारपर टिका भी नहीं है। यह संत-महात्माओंके अनुसंधानोंकी आधारभित्तिपर स्थित है। जिन ऋषियोंने साक्षात् भगवान्‌को प्राप्त कर लिया था या आत्माका दर्शन कर लिया था, यह उनके द्वारा प्रदिष्ट विधियोंका निदर्शन है और आध्यात्मिक आचार-प्रणालीका क्रमिक दर्शन कराता है तथा साधकको अन्तिम लक्ष्यतक पहुँचा देनेमें समर्थ होता है। इस प्रकार व्यावहारिक रूपमें योग एक दीक्षात्मक दर्शन एवं सार्वभौम धर्मका प्रतीक है।

बुद्धियोगका स्वरूप

ज्ञानयोग या बुद्धियोग धर्मकी स्पष्ट एवं सरल व्याख्या करता है, जो अन्ततोगत्वा बुद्धिको प्रेरणात्मक तीव्र संवेगके रूपमें परिणत कर देता है। ज्ञानयोगका लक्ष्य अपने वास्तविक सत्यस्वरूपको समझनेमें पूर्ण सहयोग प्रदान करता है। वास्तविक स्वरूप क्या है? तथा वास्तविक संसार क्या है? ईश्वर क्या है? और दैवी शक्ति या देव-तत्त्व क्या है? ये सब योगके दार्शनिक पहलू हैं। यह आपको इतना बुद्धिमान्, नम्र और सावधान बनाता है, जिससे आप विपरीत परिस्थितियोंमें घबड़ाते नहीं हैं या दुविधापूर्ण स्थितियोंमें किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं होते।

भक्तियोगका स्वरूप

भक्तियोग भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त करनेका मार्ग है। संसारके अधिकांश धर्म भगवान्‌के प्रति प्रेमको अत्यधिक महत्त्व देते हैं। सभी धर्मोंमें प्रत्येक व्यक्तिको भगवान्‌के प्रति श्रद्धा-भक्ति एवं प्रेम करनेका उपदेश दिया गया है तथा परिपूर्ण आत्मसमर्पणके द्वारा एक अद्भुत आनन्दकी अनुभूति करनेका भी उपदेश दिया गया है। योगमार्गमें भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌की भक्ति और प्रेम-प्राप्तिका मार्ग प्रशस्त किया गया है। आप केवल ईश्वरसे इसलिये प्रेम नहीं करते हैं कि आप अत्यन्त भयभीत हैं या किसी कष्टमें पड़कर उद्विग्न हो गये हैं। भगवान्‌के गूढ़ रहस्योंको युक्ति, तर्क तथा वैज्ञानिक प्रक्रियाके अनुसार अध्ययन करने तथा हृदयङ्गम करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

ध्यानयोग (राजयोग)—मनको एकाग्र करनेकी कला

जब आप विषम समस्याओंसे घिर जाते हैं, तब यह आपके लिये सोचना आवश्यक हो जाता है कि आप अपने मस्तिष्कको किस प्रकार बिलकुल शान्त कर उस समस्यासे मुक्त होनेका उपाय सोच सकते हैं और कैसे मुक्त हो सकते हैं। यदि आप इसमें समर्थ हो जाते हैं तो आप किसी भी समस्याका समाधान करने या हल निकालनेमें सक्षम हो जाते हैं। दूसरी ओर यदि आप मनको एकाग्र नियन्त्रित कर उस समस्याका हल नहीं ढूँढ़ पाते तो विषम परिस्थितियोंसे मुक्त होनेमें भी असमर्थ होते हैं। मनोविज्ञानके वैज्ञानिक तथा मनको ही सब कुछ माननेवाले योगी मस्तिष्कके अन्तर्गत ही एक दूसरी समानान्तर वस्तुका अन्वेषण करते हैं, जिसके आश्रयसे मनुष्य स्वयं अपने मन और हृदयसे ऊपर उठ सकता है। योग-विज्ञान इस परतत्त्वको मनुष्यके शरीरके अंदर ही स्थित मानता है जो राजयोगका मुख्य विषय है।

राजयोग पाश्चात्त्य जगत्‌में मनके गूढ़ तत्त्वोंके अध्ययनके रूपमें बहुत प्रसिद्ध रहा है। इसीके सहारे साधक मनके रहस्योंको विश्लेषित करते हुए आत्म-साक्षात्कारतक पहुँच जाता है। यह मनोविज्ञानके क्षेत्रमें आपको एक गहरी अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है। राजयोगका अभ्यासी अपने मनके रहस्योंको जाननेमें पूर्ण समर्थ हो जाता है। वह साधक मन तथा इन्द्रियोंके नियन्त्रण करनेकी कला या युक्तियाँ जान जाता है। वह निराशाके विचारोंको आशायुक्त या नास्तिक भावनाको आस्तिकतामें परिणत करनेमें समर्थ हो जाता है। नियन्त्रित मन और वासनाओंके दमनपूर्वक वह किसी भी दुर्लभ परतत्त्वको प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकता है।

आप कह सकते हैं कि 'मेरा योगमें कोई आकर्षण नहीं है।' आप यह भी सोच सकते हैं कि 'मेरे पास सभी आनन्द और उपभोगकी वस्तुएँ हैं तो मुझे योगकी आवश्यकता क्या है? और मनोनियन्त्रण तथा इन्द्रिय-निग्रहकी आवश्यकता भी क्या है? और हमारे पास बहुत-सी बुरी आदतें या दुष्प्रवृत्तियाँ भी हैं, जिनका परित्याग सम्भव नहीं तथा मेरे मस्तिष्कमें बहुत-सी धन, सुख-भोग तथा शत्रु-नाश आदिकी विषय-वासनाएँ भी भरी पड़ी हैं।'

सच्ची बात यह है कि आप सब कुछ चाहते हैं—धन, यश, व्यापारमें सफलता आदि। किंतु आध्यात्मिक प्रकाशकी प्राप्तिमें कुछ हदतक मनको नियन्त्रित करना परमावश्यक होता है। यश, धन तथा सफलता-प्राप्तिके लिये भी मनको नियन्त्रित कर उनके उपायोंको प्राप्त करनेमें लगाना पड़ता है। यह सही बात है कि आपको जब अधिक आनन्दकी प्राप्ति होती है तो कुछ अच्छे गुण आते हैं और बुरे दोष अपने-आप दूर हो जाते हैं। आपको इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है और इधर आपके सारे दोष गुणोंमें परिवर्तित होकर योग-साधनाके उपयुक्त बन जाते हैं। योगका थोड़ा अभ्यास करनेपर आपके अन्तर्गत कौन-से उपादेय गुण और हेय दोष हैं उन्हें जाननेमें एवं तत्काल निर्णय करनेमें आप समर्थ हो जाते हैं। योगाभ्यासमें इस बातकी आवश्यकता भी नहीं पड़ती कि इसमें स्त्री, पुत्र, धन आदि सांसारिक परिस्थितियोंका परित्याग ही करना पड़े। मस्तिष्कके सभी दरवाजे या खिड़कियोंको सर्वथा बंद कर देनेकी भी आवश्यकता नहीं होती।

संसारकी जितनी भी ध्वनियाँ या उनका अपना स्वरूप है उसे नष्ट कर या सर्वथा दूर कर देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। वे अपनी जगह पड़ी रहें कोई बात नहीं। आप अत्यन्त व्यस्त जीवनमें भी अपने मनको नियन्त्रित या किसी एक स्थानपर केन्द्रित कर सकते हैं। आप अत्यन्त दुरूह परिस्थितियोंमें भी आन्तरिक शान्ति प्राप्त कर सकते हैं या मनको एकाग्र कर सकते हैं। योग ही एक ऐसी वस्तु है जो आपके मनको नियन्त्रित करनेकी कला बताता या शिक्षा देता है। आप क्या कर रहे हैं और कहाँ हैं,यह कोई बात नहीं है, यह चिन्ताका विषय नहीं है।

कर्मयोगका स्वरूप या स्वस्वरूपके परिवर्तनका प्रयत्न

'कर्मयोग' इस शब्दका प्रयोग बुद्धियोगके लिये किया गया है। यह सोचना बहुत कठिन है कि कोई घटना सहसा घटित हो जायगी। मनके रहस्योंके गम्भीर अध्ययनसे यह पता चलता है कि विश्वके धरातलपर कोई घटना घटित होती है वह अकारण नहीं है, बल्कि एक महती शक्तिके नियन्त्रित ध्यान और संकल्पका ही परिणाम है। जब आप इस योग-साधनामें आगे बढ़ते हैं तो आप देखेंगे कि आपकी वर्तमान मानसिक स्थिति विगत सभी घटनाचक्रोंके परिणामस्वरूप एक निश्चित बिन्दुपर पहुँचती है।

मनुष्यके जीवनकी प्रत्येक घटना-चक्रमें आयी हुई प्रत्येक परिस्थिति किसी विगत कर्मका परिणाम है और वह कर्म-विपाकके विशिष्ट सिद्धान्तको निश्चित करता है। यह कोई एक ऐसी सामान्य घटना नहीं है जिसकी सर्वथा उपेक्षा कर दी जाय। इसलिये आपको अपने कष्टोंके लिये संसारपर या अपने परिवारपर दोषारोपणकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि व्यक्ति अपने कर्मोंका ही फल भोगता है। आप अपने प्रासाद (महल)के निर्माण करनेवाले शिल्पी स्वयमेव ही हैं। आप विश्वास कीजिये कि आप अपने मनको किसी अभिमत वस्तुपर नियन्त्रित कर सकते हैं और पुनः उसे किसी संत या भगवान्‌की ओर प्रवृत्त कर सकते हैं। इस प्रकार आप कर्म, योग या ध्यानके आश्रयसे अपनी सारी विपरीत परिस्थितियोंको अत्यन्त अनुकूल रमणीय स्थितिमें परिवर्तित करनेमें समर्थ हैं। यही योगकी चतुर्थ श्रेणी कर्मयोगका क्षेत्र है।

कर्मयोग किसी विशिष्ट लक्ष्यको लक्षित कर प्रवृत्त होता है। कर्म ही शनैः-शनैः योगका रूप धारण करता है और पुनः यह क्रमशः भक्तियोग और ज्ञानयोगके रूपमें वृद्धिङ्गत होता हुआ निर्विकल्प समाधि—ईश्वरप्राप्ति या स्वरूपावस्थितितक पहुँच जाता है। एकान्त या अत्यन्त संन्यासीका जीवन व्यतीत करनेकी अपेक्षा यह अधिक उत्तम होगा कि आप नियमित रूपसे अपने दैनन्दिन क्रिया-कलापोंका कर्मयोगके रूपमें सम्पादन करें। तब आप देखेंगे कि संसार कष्टका स्थान नहीं है, किंतु आपके लिये आनन्दानुभवका स्थान बन जायगा और आप अपने जीवनमें पर्याप्त ऊपर उठ जायँगे। तब आप यह देखेंगे कि यह विश्व आपकी आध्यात्मिक साधनामें एक परोपकारी वस्तु बन जायगा और पुनः सम्पूर्ण विश्व आनन्दमय परमात्माके रूपमें ही दीखने लग जायगा।

अन्य प्रकीर्ण योग

जपयोग—इसमें श्रद्धा-भक्तिके साथ भगवन्नाम या तान्त्रिक मन्त्रोंके बार-बार जपका विधान है। इसमें कभी वैदिक सूक्तोंके साथ ही तान्त्रिक मन्त्रोंके साथ कोई प्रार्थना या स्तुति भी की जाती है। यह भक्तियोगका ही एक अङ्ग है।

हठयोग—यह मनोविज्ञान तथा शारीरिक व्यायामसे

सम्बन्धित योग है, जिसमें शरीरके विभिन्न अङ्गोंको विशिष्ट नियमोंसे संचालन करना पड़ता है। इसमें अनेक प्रकारके आसन, प्राणायाम तथा नेति, धौति, वस्ति आदि कर्मोंका अभ्यास करना पड़ता है। यह राजयोगमें प्रवेश करनेका प्रारम्भिक आधारभूत योग है।

कुण्डलिनी-योग—यह गुप्त रहस्य या दिव्य ज्ञानको प्रदर्शित करनेवाला योग है, जिसे कुण्डलिनीयोग या शक्तियोग भी कहते हैं। यह कुण्डलिनीशक्ति छः चक्रोंका आश्रय लेकर प्रत्येक प्राणीके हृदयनलिकाके अन्तर्गत निवास करती है। यह बात कोई महत्त्व नहीं रखती कि आप किस प्रकारकी साधना कर रहे हैं, कुण्डलिनी-शक्ति आपको सभी प्रकारके मार्गोंमें सहायता प्रदान करेगी, यह एक तापमापक यन्त्रकी तरह शरीरमें स्थित होकर आपकी साधनाकी प्रगतिको सूचित करती है।

नादयोग—यह एक विशेष प्रकारका योग है, जिसमें साधक रहस्य-पूर्वक ध्वनियोंको ध्यानसे सुनता रहता है। इस साधनाका साधक योगी अपने कानोंके भीतर अत्यन्त ध्यानसे हृदयसे उद्भूत होनेवाली ध्वनियोंको श्रवण करता है। जब साधक इस प्रकारकी विभिन्न ध्वनियोंको सुननेका अभ्यस्त हो जाता है तो उसकी स्थिति ध्यान एवं समाधिमें प्रवेश करनेके योग्य हो जाती है।

क्रियायोग—इस योग-पद्धतिमें शास्त्रोंके अध्ययन और उनके अनुसार श्रद्धापूर्वक कर्म करते हुए प्रगाढ़ भक्ति-भावनाको उन्नत करनेका यत्न किया जाता है। यह हृदयको शुद्ध कर देता है और तत्पश्चात् साधक किसी भी महान् योगमें सिद्धि प्राप्त करनेकी योग्यता प्राप्त कर लेता है। क्रियायोगके विशेष परिचयके लिये पद्मपुराणका क्रियायोग सार-खण्ड विशेष सहायक है।

आप योगी अवश्य बनिये

आप अपने प्रत्येक दिनके जीवनमें थोड़ा-थोड़ा समय देकर ज्ञानार्जन, भक्ति, ध्यान और कुछ कर्मानुष्ठानका भी संतुलित भावसे अभ्यास करें। उपरिनिर्दिष्ट बड़े तथा छोटे सभी योगोंका आप अपने प्रत्येक दिनके जीवनमें सम्मिलित रूपसे थोड़ा-थोड़ा अवश्य अभ्यास करते रहें। इस प्रकार धीरे-धीरे आप सार्वभौम-योग—सम्पूर्ण योग या सम्यक्-योगका अभ्यास करने लग जायँगे। योग आपके शरीरकी शोभाको बढ़ा देगा एवं दैवी गुणोंसे आपके व्यक्तित्वका विकास करेगा और भावी सफलताओं तथा दिव्य ज्ञान-ज्योतिकी प्राप्तिके लिये दृढ़ आधार बन जायगा। भगवान्‌का पूर्ण कृपा-प्रसाद आपको प्राप्त हो।

(अनु०—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

योगकी उपादेयता

(स्वामी श्रीओंकारानन्दजी सरस्वती महाराज)

असंख्य प्राणियोंके भवसागरसे पार करने-हेतु महर्षि पतञ्जलिने योगका निरूपण किया है। कुछ लोगोंका विश्वास है कि हिरण्यगर्भरचित योगसूत्र जो अब लुप्त हो गये हैं, उन्हींके आधारपर योगसूत्रकी रचना हुई। महर्षि पतञ्जलिने अष्टाङ्गयोगका प्रतिपादन किया, जो 'यम-नियम-आसन-प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि' के रूपमें गृहीत है। विवेकमार्तण्ड (१।६) में भी इसीका अनुमोदन किया गया है, जो षडङ्गभूत है।

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्॥

भारतीय वाङ्मयमें योगपर बृहत् चिन्तन प्रस्तुत किया गया है, जिसके आधारपर साधक अपनी साधनाका दिशा-निर्देश प्राप्त करते हैं। सृष्टिका स्वरूप दो पदार्थोंपर आधारित है 'योग और भोग'। इन्हीं दोनोंमें सब कुछ अन्तर्भूत है। दोनोंका फल भी सुनिश्चित है। भोग बन्धन और योग मुक्ति प्रदान करता है। यह भी निर्विवाद है कि बन्धन किसीको स्वीकार्य नहीं, परंतु प्रमाद जीवकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। बिना परिश्रमके वस्तु सहज ग्राह्य समझकर उसमें सुखकी अनुभूति-मात्र मृगमरीचिका बनकर रह जाती है। योगी योगके बिना रोगी ही रहता है, परंतु योगी भोगी होते हुए भी संसारीकी भाँति भले ही दिखायी देता हो, किंतु जितेन्द्रिय और योग-तत्त्वज्ञ होनेसे संसारीकी तरह बन्धनको प्राप्त नहीं होता—जीवन्मुक्त रहता है।

क्षणभङ्गुर संसारमें प्राणी किसी-न-किसी योगका आधार

लेकर विचरण कर रहा है। जबतक वह प्रभुप्रदत्त विवेकको जाग्रत् कर स्वयंको विज्ञ महापुरुषोंके अमृतोपदेशोंसे जोड़ (योग) नहीं लेता, तबतक उसे निःश्रेयसके मार्गका निर्धारण करनेमें कठिनताका अनुभव होता रहेगा।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

(६।४६)

अर्जुन! तू योगी बन जा। क्योंकि तपस्वियों, ज्ञानियों और सकामकर्ममें निरत जनों—इन सभीसे योगी श्रेष्ठ है।

श्रीमद्भागवत महापुराणमें अपने सखा उद्धवको उपदेश देते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं—

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः॥

(११।१५।१)

'प्रिय उद्धव! जब योगी इन्द्रिय-प्राण और मनको वशमें करके अपना चित्त मुझमें लगाकर मेरी धारणा करने लगता है, तब उसके सामने बहुत-सी सिद्धियाँ उपस्थित हो जाती हैं।' इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि योगके द्वारा सभी सिद्धियाँ (अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशिता, वशिता, कामावसायिता नामकी अष्टसिद्धियाँ एवं अतीत-अनागत ज्ञान, पूर्वजातिज्ञान, दूर-श्रवण, पशु-पक्षियों आदिकी बोलीका ज्ञान आदि अन्य सिद्धियाँ भी) स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। किंतु योगकी चरम उपलब्धि मात्र सिद्धि-प्राप्तिके संकुचित प्रकोष्ठको अधिगत करना नहीं, वरन् आत्मज्ञान और आत्मबलकी प्राप्ति है।

योग हमारे ऋषियों, महर्षियों, तपस्वियोंकी अनुभूत साधनाका वैचारिक आदर्श है। योगीके लिये भौतिक और पारलौकिक पदार्थ सहज प्राप्य हैं। उसकी शक्ति असीमित होती है। वह ब्रह्माण्ड-स्थित सचराचर जगत्को अपने विशाल हृदयाकाशमें समाहित देखता है। उसके अन्तःकरणका भक्तियोग उस स्थितिको प्राप्त कर लेता है, जिसमें वह स्वयं आनन्दित होकर कह उठता है—***'सीय राममय सब जग जानी।'*** योगद्वारा अन्तःकरणमें छुपी असीम शक्ति प्रत्यक्ष हो उठती है और वह शक्ति चिरन्तन देदीप्यमान प्रकाश-पुञ्ज बनकर विश्वको जीने-जागने तथा सद्-व्यवहार-सम्पन्न करनेतककी योग्यता प्रदान करनेमें सक्षम हो जाती है। उत्तरगीता (२।१०) में योगके माहात्म्यके विषयमें इस प्रकार कहा गया है—

मुहूर्तमपि योगश्चेन्नासाग्रे मनसा सह।
सर्वं तरति पाप्मानं तस्य जन्मशतार्जितम्॥

'जो साधक योग-साधनामें स्थित होकर मनको एकाग्र करके क्षणमात्रके लिये भी अपनी दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर स्थित कर लेता है, वह अपने सैकड़ों जन्मोंके लिये पापसे छुटकारा पा जाता है।'

ध्यानयोगके विषयमें 'विवेकमार्तण्ड' ग्रन्थमें लिखा है—चाहे कोई हजारों अश्वमेध और वाजपेय यज्ञोंका अनुष्ठान करे, पर जो फल विशुद्ध ध्यान एवं समाधि-योगके द्वारा प्राप्त होता है, वह इन यज्ञोंसे नहीं होता—

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
एकस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

योगकी विभिन्न पद्धतियों एवं उपासनाकी अनेकानेक विधियोंका प्रमुख लक्ष्य चित्तको राग-द्वेषादि मलसे रहितकर उसमें सत्त्वगुणका उद्रेक करके वृत्तियोंको निर्मलता प्रदान करना है। योग स्वरूप-बोधसे स्वरूपोपलब्धितककी यात्रा है। अन्तश्चेतनाकी जागृतिका योग एक अन्यतम साधन है।

चरित्र-निर्माणमें योगका जो महत्त्व है वह भी स्पष्ट है। मानवमें निहित सात्त्विक तत्त्व जब योग-साधनाद्वारा जाग्रत् हो उठते हैं, तब मानव मानवीय गुणोंसे मण्डित हो जाता है। क्षमा, दया, करुणा, ज्ञान, दर्शन और वैराग्यकी अभिवृद्धि ही चरित्र-निर्माणकी भित्तियाँ हैं।

'नास्ति योगात्परं बलम्।' 'नास्ति योगात् परो बन्धुः' — जैसे वचन भी प्रसिद्ध ही हैं। भगवान् शिवका कथन है कि योगमार्गसे उत्तम कोई मार्ग श्रेष्ठ नहीं—

योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ।
शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा॥

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ५।२१)

महान् योगिराज शिवस्वरूप गोरक्षनाथ अपने गोरक्षशतक (५) में योगसाधनाके विषयमें कहते हैं—

एतद् विमुक्तिसोपानमेतत् कालस्य वञ्चनम्।
यद् व्यावृत्तं मनो भोगादासक्तं परमात्मनि ॥

'यह मुक्ति-प्राप्तिका सोपान है, इससे कालजयी होना सम्भव है। इस योग-ज्ञानके द्वारा मन विषयभोगोंके रसास्वादनसे निवृत्त होकर भगवच्चिन्तनमें लग जाता है।'

कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, हठयोग, प्राणयोग, बुद्धियोग, भावनायोग आदि अनेक प्रकारके योगोंका विवेचन शास्त्रोंमें किया गया है, अमनस्कयोगमें योगाभ्यासके विषयमें कहा गया है—

विविक्तदेशे सुखसंनिविष्टः
समासने किंचिदुपेत्य पश्चात्।
बाहुप्रमाणं स्थिरदृक् स्थिराङ्ग-
श्चिन्ताविहीनोऽभ्यसनं कुरुष्व ॥
एवमभ्यसतो योगं मनो भवति सुस्थिरम्।
वायुवाक्कायदृष्टीनां स्थिरता च तथा तथा ॥

(१।१६-१७)

सब प्रकारकी चिन्ताओंसे रहित हो एकान्त स्थानमें सम आसनपर कुछ पीछेकी ओर झुककर तनकर स्थिर अङ्गसे सुखपूर्वक बैठकर एक हाथपर्यन्त दृष्टि स्थिरकर योगका अभ्यास करो। ऐसा अभ्यास करते-करते मन स्थिर होता है, वायु (प्राण) वाणी और दृष्टिमें भी स्थिरता आ जाती है और फिर इस प्रकारके अभ्याससे परमतत्त्वका बोध हो जाता है। जब योगीकी भावना पञ्चमहाभूतोंसे निर्मित शरीरके विषयसे ऊपर उठ जाती है, तब उसको बाहर और भीतर सर्वत्र परमतत्त्वका ही स्फुरण होने लगता है और अखण्ड आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार सर्वविध कल्याणकारक योगमार्गका आश्रय ग्रहण करना चाहिये।

भारतीय संस्कृतिकी एक समृद्ध सम्पत्ति—योग

(डॉ॰ श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज)

मानव-जीवनका सर्वोत्तम पुरुषार्थ है भगवत्साक्षात्कार। यद्यपि श्रीभगवान् अव्यक्त[1] और अदृश्य हैं तथापि भक्तिपूर्वक ध्यान करनेवाले भाग्यशाली महानुभावोंको वे अपना दर्शन देकर अवश्य ही कृतार्थ कर देते हैं[2]। अतएव वे न केवल अदृश्य हैं अपितु व्यक्तरूप भी हैं। यह ध्यान वैदिक वाङ्मयमें उपदिष्ट योगके छः अङ्गोंमेंसे तीसरा है—

'तथा तत्प्रयोगकल्पः। प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं धारणा तर्कः समाधिरित्युच्यते योगः।'

(मैत्रायणीसंहिता ६।१८)

यहाँ ध्यानके अनन्तर धारणाका उल्लेख है और महर्षि पतञ्जलिके अनुसार धारणाके पश्चात् ध्यान होता है।

साधक जब अपने चित्तकी वृत्तिको प्रयत्नपूर्वक अपने आराध्य प्रभुके रूपके चिन्तनमें लगा देता है, तब वह स्थिति 'योग' कहलाती है—

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ॥

(विष्णुपुराण ६।७।३१)

इस प्रकारका ध्यान-योग संध्योपासनाके समय सुकर है। जितनी बार संध्योपासना होगी, (प्रातः, मध्याह्न और सायम्) उतनी बार ध्यान भी हो जायगा।

कोई-कोई साधक अपने मनोमन्दिरमें विराजमान प्रादेशमात्र आकारवाले, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज भगवान्‌का धारणा-विधिसे स्मरण करते रहते हैं—

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे
प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख-
गदाधरं धारणया स्मरन्ति ॥

(श्रीमद्भा॰ २।२।८)

जब साधकके चित्तकी उसके चलते-फिरते, उठते-बैठते अथवा कोई और काम करते समय भी भगवदाकारमयी वृत्ति

१-तदव्यक्तमाह हि। (ब्रह्मसूत्र ३।२।२३)
२-अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। (ब्रह्मसूत्र ३।२।२४)

बनी रहे, तब वह धारणा परिपक्व मानी जाती है—

व्रजतस्तिष्ठतोऽन्यद् वा स्वेच्छया कर्म कुर्वतः।
नापयाति यदा चित्तात् सिद्धां मन्येत तां तदा॥

(विष्णुपुराण ६।७।८७)

धारणामें जागतिक व्यवहार चलता रहता है और चित्त-वृत्ति भगवन्मयी भी बनी रहती है। किंतु जब साधककी चित्तवृत्ति सम्पूर्ण भावसे ऐसी भगवदाकारवती हो जाय कि अन्य किसी वस्तुका भान ही न रहे, तब वह स्थिति समाधि कहलाती है। सुनीति-नन्दन राजकुमार ध्रुवने देवर्षि नारदके उपदेशसे चित्तकी ऐसी समाधिमती एकाग्रता प्राप्त कर ली थी।

समाहितः पर्यचरदृष्यादेशेन पूरुषम्॥

(श्रीमद्भा० ४।८।७१)

ध्यायन् भगवतो रूपं नाद्राक्षीत् किंचनापरम्॥

(श्रीमद्भा० ४।८।७७)

ऐसे एकान्त ध्यानकी ओर संकेत करते हुए पूर्वाचार्योंने साधकोंको सावधान करते हुए श्रीभगवद्ध्यानमय योगके अभ्यास करनेकी ओर दत्तचित्त किया है। दिग्दर्शनार्थ—

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥

(मुण्डकोपनिषद् ३।१।८)

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥

(श्रीमद्भा० १।२।१४)

'ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः।'

(श्रीमद्भा० १२।१३।१)

अर्थात् ज्ञानकी निर्मलताके कारण शुद्ध चित्तवाला ध्यानाभ्यासी साधक भगवान्का दर्शन कर लेता है। एकाग्र मनसे प्रतिदिन भगवान्के नाम और गुणोंका श्रवण तथा कीर्तन करना चाहिये एवम् उनका ध्यान और पूजन भी करना चाहिये।

योगी लोग ध्यानके द्वारा श्रीभगवान्का दर्शन कर लेते हैं। योग भारतीय संस्कृतिकी एक समृद्ध सम्पत्ति है।

योगका वैविध्य

श्रीभगवान्ने उद्धवजीको तीन योगोंका उपदेश दिया था। वे हैं ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। अष्टाङ्गयोगको मिलाकर चार योग हो जाते हैं। 'योग-प्रदीप'में राजयोग, अष्टाङ्गयोग, हठयोग, लययोग, ध्यानयोग, भक्तियोग, नामयोग, क्रियायोग, भेदजयोग, मन्त्रयोग, कर्मयोग और ज्ञानयोगका उल्लेख करते हुए योगको बारह प्रकारका माना गया है।

भक्तियोगकी श्रेष्ठता

प्राचीन ग्रन्थोंमें योगके अनेक प्रकारोंका उल्लेख हुआ है अतएव रुचिभेदसे उन योगोंके अनुगामी भी अनेक प्रकारके हैं। भगवान् श्रीकृष्णका यह मन्तव्य है कि सभी प्रकारके योगियोंमें जो श्रद्धापूर्वक मुझमें मन लगाकर मेरा भजन करता है, वही सर्वोत्तम योगी है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६।४७)

संसारमें कैसे रहना चाहिये

जग माहीं ऐसो रहो, ज्यों अम्बुज सर माहिं।
रहै नीरके आसरे, पै जल छूवत नाहिं॥
जग माहीं ऐसे रहो, ज्यों जिह्वा मुख माहिं।
घीव घना भच्छन करै, तौ भी चिकनी नाहिं॥
ऐसा हो जो साध हो, लिये रहै वैराग।
चरनकमलमें चित धरै, जगमें रहै न पाग॥

—चरनदास

योगमाया

श्रीयोगमाया वह अद्भुत तत्त्व है जिसके कारण निर्गुण-निराकार परब्रह्म कल्याणगुणगणाकर मूर्तिमान् बन जाते हैं। यद्यपि इन दोनों—शक्ति तथा शक्तिमान्‌में कोई भेद नहीं है तथापि भक्तोंसे आराधित शक्तिमान् जिस प्रकार श्रीराम-कृष्णादि अनेक रूपोंमें दर्शन देते हैं, उसी प्रकार ऋषि-मुनि-संस्तुता शक्ति भी श्रीदुर्गा, देवी, काली आदि नानाविध रूपोंमें प्रकट होती हैं। भावके तारतम्यके अनुसार ही शास्त्रमें, उपासनाविधिमें व्यावहारिक भेद दृष्टिगोचर होता है, जैसे किसी भावुक भक्तको अघटनघटनापटीयसी शक्तिदेवीकी अपार महिमाके सम्मुख ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी गौण प्रतीत होते हैं तो किसी दूसरे भक्तको शक्ति शक्तिमान्‌के अधीन विदित होती हैं। परमार्थतः दोनों एक ही वस्तु हैं।

शास्त्रमें इन महाप्रभावा योगमायाका वर्णन अनेक स्थलोंपर उपलब्ध है। वेदके एक मन्त्रमें शक्ति-शक्तिमान्‌को भाई-बहिन मानकर उनका आह्वान किया गया है—

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व ········।

(शुक्लयजु॰ ३। ५७)

'अम्बिका बहिनके साथ हे रुद्र! यह आपका भाग है, इसे पाइये।'

मार्कण्डेयपुराण तथा देवीभागवत इन जगज्जननीके सर्वोपरि माहात्म्यका वर्णन कर ही रहे हैं। श्रीमद्भागवतमें वह ब्रह्मके परिपूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्रजीकी अनुजा कही गयी हैं— **अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा।**

'भगवान् श्रीविष्णुकी छोटी बहिन अष्टमहाभुजा आयुध लिये दिखायी दीं।' इन्हीं योगमायाने श्रीमन्नारायणके आदेशके अनुसार गर्भसङ्कर्षण नामक त्रिलोकीमें अश्रुतपूर्व चमत्कार किया था और अजा होकर भी यशोदामाताकी गर्भशय्यामें शयन किया था—

या योगमायाजनि नन्दजायया।

योगमायाकी इच्छासे ही वसुदेवजीके कारागृहके निरीक्षक द्वारपाल निद्राभिभूत हो गये थे।

तया हतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु
द्वाःस्थेषु पौरेष्वथ शायितेष्वपि।

इन्हींके साहाय्यसे भगवान् श्रीकृष्णने रास नामक लोकोत्तर विस्मय कार्य किया था। **योगमायामुपाश्रितः।**

सगुण ब्रह्मका जो सर्वातिशायी ऐश्वर्य है, वह सब योगमायाका प्रभाव है। सनकादि नित्यमुक्त ब्रह्मर्षियोंके वैकुण्ठाधिष्ठान श्रीविष्णुभगवान्‌के साथ संलापमें भगवान्‌का जो विशेषण है, उससे यही बात सिद्ध होती है—

ते योगमाययारब्धपारमेष्ठ्यमहोदयम्।
प्रोचुः प्राञ्जलयो विप्राः प्रहृष्टाः क्षुभितत्वचः॥

(श्रीमद्भा॰ ३। १६। १५)

'योगमायासे जिनके परमैश्वर्यका महोदय प्रकट हुआ, उन परमेश्वरसे वे आनन्दित-पुलकित ब्राह्मण हाथ जोड़कर बोले।'

योगियोंके योगप्रभावको भी योगमाया कहा जा सकता है। किंतु प्रस्तुत प्रसङ्गमें वह अभीष्ट नहीं है, क्योंकि बद्ध मनुष्यकी अपेक्षा मुक्त योगीका ऐश्वर्य यद्यपि निरवग्रह हो सकता है और शास्त्रमें ऐसा कहा भी गया है तथापि परमात्माके साथ तुलना करनेमें वह सावग्रह ही ठहरता है। योगदर्शनके मतानुसार समाधिके अनन्तर अन्यान्य विभूतियोंके अतिरिक्त योगियोंको सर्वज्ञत्व नामकी सिद्धिकी प्राप्ति हुआ करती है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।

'प्रकृति और पुरुषके भेदका यथार्थ ज्ञान जिसको हो गया वह सब भावोंका अधिष्ठाता और सर्वज्ञ हो जाता है।' यह सर्वज्ञत्व तथा सर्वभावाधिष्ठातृत्व अवश्यमेव आपेक्षिक है। साधारण संसारी जीवकी अपेक्षा योगी सर्वज्ञ है ही, किंतु उसमें निरतिशय सर्वज्ञबीज नहीं है, वह तो नित्यसिद्ध परमपिताका ही सहज गुण है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

'वहाँ सर्वोपरि सर्वज्ञताका बीज है।' इसी प्रकार योगीको प्रकृतिपर विजय प्राप्त हो जाती है। किंतु वह जगत्‌की सृष्टि-स्थिति-प्रलय नहीं कर सकता। वेदान्तशास्त्रका—**जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च।**'—यह सूत्र इस विषयमें प्रमाण है। विश्वव्यापार तो भगवान्‌की ही योगमायाका विलास है।

योगज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ

(श्रीहरिलाल भोगीलाल त्रिवेदी, वैद्य)

प्राचीन कालमें अनेकों महर्षियोंने अध्यात्मबलको प्राप्तकर परम प्राप्तव्य वस्तुका लाभकर जिस सर्वोत्कृष्ट स्थितिके भोक्ता बननेका सौभाग्य प्राप्त किया था, उस स्थितिको पानेके लिये जिसके हृदयमें प्रयत्नशील होनेकी उत्कट इच्छा जाग्रत् हुई है, उसी मनुष्यमें मनुष्यत्व है। अन्यथा केवल मनुष्य-देह धारण करनेसे ही वास्तविक मनुष्यत्व नहीं आता। परंतु परम दयामय देवेशने मनुष्यको जो-जो उत्तम साधन प्रदान किये हैं, उन-उन साधनोंकी सर्वोत्तम शुद्धि करते हुए मनुष्यत्वकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ गुणयुक्त देवत्व और उससे भी उच्चतम ईशत्वको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करनेवाला वीर साधक ही मनुष्य नाम पानेके योग्य है।

इस जगत्का प्रत्येक अणु—सजीव या निर्जीव प्रतिक्षण उत्तरोत्तर शुद्ध होकर विकासमार्गमें गतिशील हो रहा है। इसीके अनुसार मानव प्राणीके भीतर भी अन्तिम सर्वोत्कृष्ट स्थिति—मुक्तिस्थिति प्राप्त करनेकी अभिलाषा ज्ञात या अज्ञातभावसे रहती ही है। भगवती श्रुति कहती हैं—**'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'** इससे यह सिद्ध है कि ज्ञान प्राप्त हुए बिना मोक्षाभिलाषीकी मुक्त होनेकी आशा निरर्थक है। वह ज्ञान क्या है, यह जानना चाहिये। इस जगत्में दीखनेवाली प्रत्येक लौकिक विद्या दुःखोंकी आत्यन्तिकी निवृत्ति और सुखकी परावधिकी प्राप्ति करवानेमें सर्वथा असमर्थ है। यह बात बुद्धिमानोंके लिये सुस्पष्ट है। तब वह ऐसी कौन-सी विद्या है जिसके द्वारा मनुष्य कर्तव्य, ज्ञातव्य और प्राप्तव्यकी परमोत्तम सिद्धिको साधकर कृतकृत्य हो सकता है? इस विश्वमें आविष्कृत तथा अन्वेषित समस्त विद्याओंमें केवल ब्रह्मविद्या ही सर्वोपरि है और उसीकी सहायतासे मनुष्य मनुष्यत्वसे देवत्व और देवत्वसे आगे जाकर ईशत्वमें स्थित हो सकता है।

यथार्थतः उन्नतिपथमें शीघ्र अग्रसर होनेकी इच्छा करनेवाले व्यक्तिको अपने स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण इस देहचतुष्टय तथा मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार—इस अन्तःकरण-चतुष्टयको शुद्ध करना परमावश्यक है। शुद्धि होनेपर ही सत्य वस्तुका यथार्थ ज्ञान हो सकता है और सत्य ज्ञान होनेपर ही कर्तव्यकी परावधि प्राप्त होती है। जबतक यह स्थिति प्राप्त नहीं होती, तबतक बार-बार इस दृश्य-प्रपञ्चमें प्रवेशकर नाना प्रकारके अनुभव करने पड़ते हैं अर्थात् तबतक जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति नहीं मिलती। जो महापुरुष मुमुक्षुपदमें स्थित हैं और जिनके अंदर तीव्र मोक्षाभिलाषाका उद्भव हुआ है, उनके लिये परम पूज्य महर्षियोंके पवित्र चरण-चिह्नोंका अनुसरण करना और उनकी आज्ञाके अनुसार कर्तव्य-कर्मोंको सम्पन्न करनेके लिये कटिबद्ध होना बहुत ही आवश्यक है।

मोक्षप्राप्तिके उपयोगी दो मार्ग हैं—योगविद्या और वेदान्तशास्त्र। श्रीयोगवासिष्ठ महारामायणमें स्पष्ट लिखा है—

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव।
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥
असाध्यः कस्यचिद्योगो कस्यचिद् ज्ञाननिश्चयः।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमेश्वरः॥

करोड़ों वर्षोंमें तय होने योग्य लंबा रास्ता किस प्रकार सहज हो सकता है, यह बतलाना योगका कार्य है। जिनको मुक्त होनेकी तीव्र इच्छा है उनको निकटका मार्ग बताना योगका उद्देश्य है। जिस मार्गसे चलनेपर बहुत ही थोड़े समयमें परमपद प्राप्त होता है अर्थात् सामान्य मनुष्यको जिस वस्तुकी प्राप्तिमें करोड़ों वर्ष लगाने पड़ते हैं, उस वस्तुकी प्राप्ति एक ही जन्ममें सिद्ध महात्मा कर सकते हैं, वही मार्ग योगमार्ग है। आत्मतत्त्वकी अनन्त अपार शक्तियोंका अटूट धाराबद्ध प्रवाह बहा देनेका प्रधान मार्ग ही योगप्रणाली है। परम तत्त्वके चैतन्यसागरमेंसे अनन्त सामर्थ्य प्राप्त करनेकी कला ही योगविद्या है। इस कलाको हस्तगत करनेपर इस विश्वमें कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता और इसी कारणसे योगतत्त्वविद् महापुरुष कहते हैं कि योगविद्या ही सब विद्याओंकी परम एवं चरम अवधि है।

योगविद्या-तत्त्वका सत्य ज्ञान प्राप्त करनेके लिये साधकको श्रीसद्गुरुका आश्रय लेना अनिवार्य है; क्योंकि वेदान्तशास्त्रके सिद्धान्तको सत्यरूपमें केवल सद्गुरु ही समझा सकते हैं, उनकी सहायताके बिना केवल मिथ्या भ्रान्तिमें पड़कर मनुष्य अवनतिको प्राप्त हो सकता है। इसी कारण

दीर्घदर्शी तत्त्वज्ञानसम्पन्न शास्त्रकारोंने भी आज्ञा दी है—

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।'

(मुण्डकोपनिषद्)

—इस सूत्रके समर्थनमें परमपूज्य आचार्यचूडामणि श्रीशंकरभगवान् भी कहते हैं—

'गुरुमेवाचार्यं शमदमादिसम्पन्नमभिगच्छेत्। शास्त्रज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यात्।'

अर्थात् 'शम-दमादिसम्पन्न गुरुके समीप जाना चाहिये। शास्त्रका ज्ञान होनेपर भी ब्रह्मज्ञानकी मनमानी खोज नहीं करनी चाहिये।' लौकिक विद्याकी सिद्धिके लिये भी जब गुरुकी आवश्यकता पड़ती है, तब ब्रह्मविद्याकी सिद्धिके लिये तो सद्गुरुकी निरतिशय आवश्यकता है, यह सुस्पष्ट है। क्योंकि जिसको जिस वस्तुका अधिकार प्राप्त होता है, उसीके लिये वह प्राप्त हुआ पदार्थ हितकारक होता है। अनधिकारी वेदान्तज्ञानके मार्मिक रहस्यपूर्ण हेतुको नहीं समझ सकता, इसीलिये ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सद्गुरुकी आवश्यकता हमारे सारे शास्त्र मुक्तकण्ठसे स्वीकार करते हैं।

जब वेदान्तप्रदेशमें विचरण करनेका समय आता है, तब ब्रह्मज्ञान, तत्त्वज्ञान आदि शब्दोंसे ज्ञानको समझाना सहज होता है। ज्ञान और उस ज्ञानसे विभूषित महापुरुषोंकी अन्तर्बाह्य स्थितिके स्वरूपको समझनेमें सरलता हो, इसीलिये ज्ञानकी सात भूमिकाओंका वर्णन किया गया है। वे सात भूमिकाएँ इस प्रकार हैं—

भूमयः सप्त तद्वत्स्युर्ज्ञानस्योक्ता महर्षिभिः।
शुभेच्छा ननु तत्राद्या ज्ञानभूमिः प्रकीर्तिता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यादसंसक्तिश्च पञ्चमी।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी चाथ तुर्यगा॥

(वेदान्तसिद्धान्तादर्श)

महर्षियोंने ज्ञानकी सात भूमिकाएँ कही हैं—(१) शुभेच्छा, (२) विचारणा, (३) तनुमानसा, (४) सत्त्वापत्ति, (५) असंसक्ति, (६) पदार्थाभावनी और (७) तुर्यगा। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१-*शुभेच्छा*—नित्यानित्यवस्तुविवेकादिपुरःसरा फलपर्यवसायिनी मोक्षेच्छा शुभेच्छा।

अर्थात् 'नित्यानित्यवस्तुविवेक-वैराग्यादिके द्वारा सिद्ध हुई फलमें पर्यवसित होनेवाली मोक्षकी इच्छा अर्थात् विविदिषा, मुमुक्षुता, मोक्षके लिये आतुर इच्छा ही शुभेच्छा है।'

'मैं मूढ़ होकर ही क्यों स्थित रहूँ, मैं शास्त्रों और सत्पुरुषोंके द्वारा जानकर तत्त्वका साक्षात्कार करूँगा'—इस प्रकार वैराग्यपूर्वक केवल मोक्षकी इच्छा होनेको ज्ञानीजनोंने शुभेच्छा कहा है।

२-*विचारणा*—गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारात्मक-श्रवणमननात्मिका वृत्तिः सुविचारणा।

'श्रीसद्गुरुके समीप वेदान्तवाक्यके श्रवण-मनन करनेवाली जो अन्तःकरणकी वृत्ति है, वह सुविचारणा कहलाती है।'

योगवासिष्ठमें यह बताया गया है कि शास्त्रोंके अध्ययन, मनन और सत्पुरुषोंके सङ्ग तथा विवेक-वैराग्यके अभ्यासपूर्वक सदाचारमें प्रवृत्त होना—यह विचारणा नामकी भूमिका है—

शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥

सत्पुरुषोंके सङ्ग-सेवा एवं आज्ञापालनसे, सत्-शास्त्रोंके अध्ययन-मननसे तथा दैवी सम्पदारूप सद्गुण-सदाचारके सेवनसे उत्पन्न हुआ विवेक (विवेचन) ही विचारणा है। भाव यह है कि सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तुके विवेचनका नाम ही विवेक है, सब अवस्थाओंमें और प्रत्येक वस्तुमें प्रतिक्षण आत्मा और अनात्माका विश्लेषण करते-करते यह विवेक सिद्ध होता है। विवेकके द्वारा असत् और अनित्यसे आसक्ति हट जाती है, इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें कामना और आसक्तिका न रहना ही वैराग्य है। इस प्रकार विवेक-वैराग्य हो जानेपर साधकका चित्त निर्मल हो जाता है और वह नित्य परमात्माके स्वरूपके चिन्तनमें ही लगा रहता है।

३-*तनुमानसा*—निदिध्यासनाभ्यासेन मनस एकाग्रतया सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यता तनुमानसा।

'निदिध्यासन (ध्यान और उपासनाके अभ्यास) से मानसिक एकाग्रता प्राप्त होती है, उसके द्वारा जो सूक्ष्म वस्तुके ग्रहण करनेकी सामर्थ्य (योग्यता) प्राप्त होती है उसे

तनुमानसा कहते हैं।'

सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करते-करते उस परमात्मामें तन्मय हो जाना तथा अत्यन्त वैराग्य और उपरतिके कारण परमात्माके ध्यानमें ही नित्य स्थित रहनेसे मनका विशुद्ध होकर सूक्ष्म हो जाना ही तनुमानसा नामकी तीसरी भूमिका है, अतः इसे निदिध्यासन भूमिका भी कहा जा सकता है।

उपर्युक्त तीन भूमिकाएँ जाग्रत् भूमिकाएँ कहलाती हैं। क्योंकि इनमें जीव और ब्रह्मका भेद स्पष्ट ज्ञात होता है। इनमें स्थित व्यक्ति साधक माना जाता है, ज्ञानी नहीं। क्योंकि—

एतस्मिन्नवस्थात्रये ज्ञानोत्पादनयोग्यतामात्रं सम्पद्यते न च ज्ञानमुत्पद्यते।

—'इन तीनों अवस्थाओंमें तत्त्वज्ञानके प्राप्तिकी योग्यता प्राप्त होती है, ब्रह्मज्ञान नहीं प्राप्त होता', अर्थात् इन तीन भूमिकाओंमें विचरता हुआ पुरुष ब्रह्ममें अभेद-भावको प्राप्त नहीं होता। परंतु ज्ञानकी प्राप्तिके लिये इनकी पहले अत्यन्त आवश्यकता होनेके कारण इनकी गणना अज्ञानकी भूमिकामें न होकर ज्ञानकी भूमिकामें ही होती है।

ज्ञानभूमिकात्वं तु ज्ञानेतरकर्माद्यनधिकारित्वे सति ज्ञानस्यैवाधिकारित्वात्।

इन तीन भूमिकाओंमें स्थित पुरुष ज्ञानसे इतर कर्मादिका अधिकारी नहीं होता, प्रत्युत केवल ज्ञान-तत्त्वज्ञानका ही अधिकारी होता है।

४-*सत्त्वापत्ति*—निर्विकल्पब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारः सत्त्वापत्तिः।

संशयविपर्ययरहित ब्रह्म और आत्माके तादात्म्य अर्थात् ब्रह्मस्वरूपैकात्मत्वका अपरोक्ष अनुभव ही सत्त्वापत्ति नामकी चतुर्थ भूमिका है। यह सिद्धावस्था है। इस भूमिकामें स्थित महापुरुषको **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** का वास्तविक अनुभव हो जाता है। इसीको श्रीमद्भगवद्गीतामें निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति कहा गया है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(५।२४)

'जो पुरुष आत्मामें ही सुखी है, आत्मामें ही रमण करता है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवान् है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त मैं ही ब्रह्म हूँ, इस प्रकार अनुभव करनेवाला ज्ञानयोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।' ऐसी स्थितिमें उसका इस शरीर और संसारसे कुछ सम्बन्ध नहीं रहता। ब्रह्मवेत्ता पुरुषके अन्तःकरणमें शरीर और अन्तःकरणके सहित यह संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है। श्रीयाज्ञवल्क्यजी, राजा अश्वपति और राजा जनक आदि इस चौथी भूमिकामें पहुँचे हुए माने गये हैं। यद्यपि इस दशाको प्राप्त पुरुषको जगत्का भान होता है और शरीर तथा अन्तःकरणद्वारा सभी क्रियाएँ सावधानीके साथ होती हैं तथापि मायावश जीव जिस जगत्को सत्यस्वरूप देखता है, उस जगत्के मिथ्यात्वका उसे यथार्थ अनुभव हो गया है। यह भूमिका स्वप्न कहलाती है।

५-*असंसक्ति*—सविकल्पकसमाध्यभ्यासेन निरुद्धे मनसि निर्विकल्पकसमाध्यवस्थासंसक्तिः।

'सविकल्पक समाधिके अभ्यासके द्वारा मानसिक वृत्तियोंके निरोधसे जो निर्विकल्पक समाधिकी अवस्था होती है, वही असंसक्ति कहलाती है।' इसे सुषुप्तिभूमिका भी कहते हैं, क्योंकि इस भूमिकामें सुषुप्ति-अवस्थाके समान ब्रह्मसे अभेद-भाव प्राप्त हो जाता है। यह जगत्प्रपञ्चको भूला रहता है, परंतु समयपर स्वयं ही उठता है और किसीके पूछनेपर उपदेश करता है तथा देहनिर्वाहकी क्रिया भी करता है।

अस्यामवस्थायां योगी स्वयमेव व्युत्तिष्ठते।

परम वैराग्य और परम उपरतिके कारण उस ब्रह्म-प्राप्त ज्ञानी महात्माका इस संसार और शरीरसे अत्यन्त सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, इसलिये इस पाँचवीं भूमिकाको असंसक्ति कहा गया है। ऐसे पुरुषका संसारसे कोई प्रयत्न नहीं रहता। अतः वह कर्म करने या न करनेके लिये बाध्य नहीं है। श्रीजडभरतजी इस पाँचवीं भूमिकामें स्थित माने जा सकते हैं।

६-*पदार्थाभावनी*—असंसक्तिभूमिकाभ्यासपाटवाच्चिरं प्रपञ्चापरिस्फूर्त्यवस्था पदार्थाभावनी।

'असंसक्ति नामक पाँचवीं भूमिकाके परिपाकसे प्राप्त पटुताके कारण दीर्घकालतक प्रपञ्चके स्फुरणका अभाव पदार्थाभावनी भूमिका कहलाती है।' पाँचवीं भूमिकामें विश्वप्रपञ्चका विस्मरण अल्पकालतक ही रहता है और छठी

भूमिकामें यह स्थिति दीर्घकालपर्यन्त रह सकती है। इन दोनों भूमिकाओंमें केवल समयका ही भेद होता है। इस भूमिकाको गाढ़ सुषुप्तिके नामसे पुकारते हैं। इस भूमिकामें स्थित महापुरुष देहनिर्वाहादि क्रिया भी स्वतः व्युत्थित दशामें आकर नहीं करता, परंतु—

'अस्यामवस्थायां परप्रयत्नेन योगी व्युत्तिष्ठते।'

'अन्यके द्वारा व्युत्थान पाकर वह क्रिया करता है।' दूसरा कोई मुखमें ग्रास दे देता है तो दाँत और जीभसे खानेकी क्रिया हो जाती है, इत्यादि।

जब ब्रह्मप्राप्त पुरुष छठी भूमिकामें प्रवेश करता है, तब उसकी नित्य-समाधि रहती है, इसके कारण उसके द्वारा कोई भी क्रिया नहीं होती। उसके अन्तःकरणमें शरीर और संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंका अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है। उसे संसारका और शरीरके बाहर-भीतरका बिलकुल ज्ञान नहीं रहता, केवल श्वास आते-जाते हैं, इसलिये इस भूमिकाको 'पदार्थाभावनी' कहते हैं। जैसे गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुषको बाहर-भीतरके पदार्थोंका ज्ञान बिलकुल नहीं रहता, वैसे ही इसको भी ज्ञान नहीं रहता। अतः पुरुषकी अवस्थाको 'गाढ़ सुषुप्ति-अवस्था' भी कहा जा सकता है। किंतु गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुषके तो मन-बुद्धि अज्ञानके कारण मायामें विलीन हो जाते हैं। अतः उसकी स्थिति तमोगुणमयी है, पर इस ज्ञानी महापुरुषके मन-बुद्धि ब्रह्ममें तद्रूप हो जाते हैं। अतः इसकी अवस्था गुणातीत है। इस समाधिस्थ ज्ञानी महात्मा पुरुषकी व्युत्थानावस्था दूसरोंके बारंबार प्रयत्न करनेपर होती है, अपने-आप नहीं। उस व्युत्थानावस्थामें वह जिज्ञासुके प्रश्न करनेपर पूर्वके अभ्यासके कारण ब्रह्म-विषयक तत्त्व-रहस्यको बतला सकता है। इसी कारण ऐसे पुरुषको 'ब्रह्मविद्वरीयान्' कहते हैं। श्रीऋषभदेवजी इस छठी भूमिकामें स्थित माने जा सकते हैं।

६-*तुरीया-तुयर्गा*—ब्रह्मध्यानावस्थस्य पुनः पदार्थान्तरापरिस्फूर्तिस्तुरीया।

'ब्रह्मचिन्तनमें निमग्न इस महापुरुषको पुनः किसी भी समय किसी भी अन्य पदार्थकी परिस्फूर्तिका न होना, यही ज्ञानकी सप्तम भूमिका तुरीया कहलाती है।' इस स्थितिको प्राप्त महात्मा स्वेच्छापूर्वक या परेच्छापूर्वक व्युत्थानको प्राप्त ही नहीं होता, केवल एक ही स्थिति—ब्रह्मीभूत-स्थितिमें ही सदा रमण करता है।

अस्यामवस्थायां योगी न स्वतो नापि परकीयप्रयत्नेन व्युत्तिष्ठते केवलं ब्रह्मीभूत एव भवति।

छठी भूमिकाके पश्चात् सातवीं भूमिका स्वतः ही हो जाती है। उस ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महात्मा पुरुषके हृदयमें संसार और शरीरके बाहर-भीतरके लौकिक ज्ञानका अत्यन्त अभाव हो जाता है। क्योंकि उसके मन-बुद्धि ब्रह्ममें तद्रूप हो जाते हैं, इस कारण उसकी व्युत्थानावस्था तो न स्वतः होती है और न दूसरोंके द्वारा प्रयत्न किये जानेपर ही होती है। जैसे मुर्दा जगानेपर भी नहीं जाग सकता, वैसे ही यह मुर्देकी भाँति हो जाता है, अन्तर इतना ही रहता है कि मुर्देमें प्राण नहीं रहते और इसमें प्राण रहते हैं तथा श्वास लेता रहता है। ऐसे पुरुषका संसारमें जीवन-निर्वाह दूसरे लोगोंके द्वारा केवल उसके प्रारब्धके संस्कारोंके कारण ही होता रहता है। वह प्रकृति और उसके कार्य सत्त्व, रज, तम तीनों गुणोंसे और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंसे अतीत होकर ब्रह्ममें विलीन रहता है, इसलिये यह उसके अन्तःकरणकी अवस्था 'तुर्यगा या तुरीया' भूमिका कही जाती है।

उपर्युक्त महात्मा पुरुष उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको नित्य ही प्राप्त है। अतः उसके मन-बुद्धिमें भी संसारका अत्यन्त अभाव है। इसलिये ऐसे पुरुषको 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' कहते हैं।

इस प्रकार ज्ञानकी सात भूमिकाओंमें प्रथम तीन भूमिकाएँ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये योग्यता प्राप्त करनेके निमित्त बनायी गयी हैं। चौथीसे सातवीं भूमिकातक ज्ञानकी दशा है और यह उत्तरोत्तर उन्नत दशाकी भूमिका है। चतुर्थ भूमिकामें ही तत्त्वज्ञानका यथार्थ प्रादुर्भाव हो जाता है और वही तत्त्वज्ञान अन्तिम चारों भूमिकाओंमें स्थित रहता है। व्युत्थान-दशाके तारतम्यसे इनमें भेद माना गया है।

शास्त्र कहता है—**'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'** अतः ब्रह्मके जाननेवालोंको ज्ञानी, तत्त्वज्ञानी, आत्मज्ञानीकी संज्ञासे शास्त्रोंने स्थान-स्थानपर उल्लेख किया है—

एताः सत्त्वापत्त्याद्याश्चतस्रो भूमिका एव ब्रह्मविद्-ब्रह्मविद्वरब्रह्मविद्वरीयो ब्रह्मविद्वरिष्ठेत्यैतैर्नामभिर्यथाक्रमेण पूर्वं व्याख्याताः।

'इस प्रकार सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी और तुरीया—इन चार भूमिकाओंमें स्थित महात्मा क्रमशः ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहलाता है।'

ब्रह्मविद्वरिष्ठ महापुरुषसे वार्तालाप न होनेपर भी उसके दर्शन और चिन्तनसे ही मनुष्यके चित्तस्थ मल-विक्षेपका तथा आवरणका नाश हो जाता है। फलतः उसकी वृत्ति परमात्माकी ओर आकृष्ट हो जाती है और उसका सर्वथा कल्याण हो जाता है।

योग-साधनाके विघ्न और उन्हें दूर करनेके उपाय

(पं० श्रीकमलाकान्तजी त्रिवेदी)

समाधौ क्रियमाणे तु विघ्नान्यायान्ति वै बलात्।

'समाधिकालमें विघ्न बलपूर्वक आने लगते हैं।' योगीको चाहिये कि उन विघ्नोंका धीरे-धीरे त्याग करे। भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें कहा है—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शना-
लब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

(समाधिपाद ३०)

'व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व—यह नौ चित्तके विक्षेप हैं, यही अन्तराय (विघ्न) कहलाते हैं।' ये अन्तराय क्या हैं और किस प्रकार इनसे छुटकारा मिलता है, इस बातको योगमार्गमें प्रवेश करनेके पहले जानना आवश्यक है।

शरीरको धारण करनेमें समर्थ होनेके कारण धातु नामको प्राप्त हुए वात, पित्त और कफकी न्यूनाधिकता, खाये तथा पिये हुए आहार-पदार्थोंके परिणामस्वरूप रसकी न्यूनाधिकता और मनसहित एकादश इन्द्रियोंके बलकी न्यूनाधिकताको व्याधि अथवा रोग कहते हैं। व्याधि होनेपर चित्तवृत्ति उसमें अथवा उसे दूर करनेके उपायोंमें लगी रहती है। इससे वह योगमें प्रवृत्त नहीं हो सकती। इसी कारण व्याधिकी गणना योगके विघ्नोंमें होती है।

अजीर्ण, नींदकी खुमारी, अति परिश्रम प्रभृतिसे ब्रह्माकार-वृत्तिका अभाव हो जाता है। अजीर्ण आदि लयके कारणरूप विघ्नोंके निवारण करनेके लिये पथ्य और लघु भोजन करनेसे तथा प्रत्येक व्यवहारमें युक्ति एवं नियमके अनुसार चलनेसे और उत्थानके प्रयत्नद्वारा चित्तको जाग्रत् करनेसे ये विघ्न दूर होते हैं। इस विषयमें श्रीकृष्ण भगवान्ने भी अर्जुनके प्रति कहा है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

(गीता ६।१६)

'हे अर्जुन! जो अधिक भोजन करता है, जो बिलकुल बिना खाये रहता है, जो बहुत सोता है तथा जो बहुत जागता है, उसके लिये योग नहीं है।' बल्कि—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(गीता ६।१७)

'जो नियमपूर्वक भोजन करता, नियमित विहार करता तथा कर्म करनेमें भी नियमपूर्वक रहता है तथा जिसका जागना और सोना भी नियमपूर्वक होता है, उसके लिये योग दुःखका नाश करनेवाला होता है।'

योगसाधनकी इच्छा होनेपर देश-कालादिकी विपरीतताकी कल्पना करके योग-साधनकी प्रवृत्तिमें जो चित्तकी असमर्थता होती है उसे स्त्यान कहते हैं। देश-कालादिकी कल्पित विपरीतताको दूर करनेमें सामर्थ्यरहित चित्तकी यह अयोग्यता भी योगमें प्रवृत्त होने नहीं देती। इसलिये यह भी योगमें विघ्नरूप है।

'यह वस्तु ऐसी ही है या अन्य प्रकारकी है!' इस प्रकारका परस्परविरोधी और उभयकोटिको विषय करनेवाला विज्ञान संशय कहलाता है।' 'योग होता है या नहीं?' 'गुरु और शास्त्र, योग और योगसाधनकी जो महिमा वर्णन करते हैं वह सत्य है या असत्य?' 'योगका फल कैवल्य होता है या दूसरा कुछ?' 'ईश्वर-प्रणिधानसे समाधिलाभ तथा कैवल्य-प्राप्ति सिद्ध होती है या नहीं?' 'योगका परिणाम कैवल्य सत्य है या यह कल्पनामात्र है?'—इस प्रकारके अनेकों विरोधी तथा उभयकोटिको विषय करनेवाले ज्ञानको

संशयरूप समझना चाहिये। इस प्रकारके संशय मनुष्यको कभी भी योगमें निश्चलतापूर्वक प्रवृत्त नहीं होने देते। अतः ये योगके प्रबल विरोधी हैं। अतद्रूप-प्रतिष्ठत्व अर्थात् अपने वास्तविक रूपमें स्थिर न होनेसे संशय और भ्रान्तिदर्शनके अभेद होनेपर भी उभयकोटिके स्पर्श और अस्पर्शरूप अवान्तरभेद कहनेकी इच्छासे ही उनका भेद कहा जाता है। इसलिये संशयका नाशकर भ्रान्तिदर्शनमें भी श्रीसद्गुरुके वचन और शास्त्रप्रमाणमें श्रद्धा रखनी चाहिये।

समाधि-साधनमें प्रयत्न न करना अथवा उसमें उदासीनता रखना प्रमाद कहलाता है।

कफादिके द्वारा शरीरके भारी होने तथा तमोगुणके द्वारा चित्तके भारी होनेसे भी योग-साधनमें प्रवृत्ति नहीं होती, इसे ही आलस्य कहते हैं।

विषयके समीप रहनेसे विषय-स्थित दोषोंके अत्यन्त विस्मरणद्वारा विषयभोगकी चित्तमें जो तीव्र इच्छा (तृष्णा) होती है उसे अविरति अथवा अवैराग्य कहते हैं।

विषय-तृष्णा योगकी प्रबल विरोधिनी है। क्योंकि वह वृत्तिको अन्तर्मुखी नहीं होने देती। यदि कदाचित् अति यत्नपूर्वक वृत्ति अन्तर्मुखी होती भी है तो फिर अल्प समयमें ही विषयोंके स्फुरणद्वारा चित्तको क्षुब्ध करके उसे बहिर्मुख कर देती है। स्मृति भी यही कहती है—

निःसङ्गता मुक्तिपदं यतीनां
सङ्गादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।
आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः
सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः॥

'यतियोंका संगरहित रहना मुक्तिका स्थान है, संगसे सारे दोष उत्पन्न होते हैं। योगारूढ़ भी संगसे अधोगतिको प्राप्त होते हैं, फिर अल्प सिद्धिवाला अपक्व योगी यदि संगसे अधोगतिको प्राप्त हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?'

विषय-तृष्णामें दोषदृष्टि करनेसे यह विघ्न दूर होता है। जिस प्रकार लड्डूमें विष डाला गया है—यह बात जान लेनेपर भूखा भी उसे खानेकी इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार शास्त्रोंका अध्ययन और सद्गुरुके उपदेशके द्वारा विषयोंमें दोषदृष्टि होनेपर उनके भोगनेकी इच्छा नहीं होती।

सद्गुरु तथा योगशास्त्रोंके द्वारा उपदिष्ट योगसाधनमें असाधनत्वबुद्धिको भ्रान्तिदर्शन या विपर्ययज्ञान कहते हैं। यह भ्रान्तिदर्शन भी विपरीत ज्ञान तथा विपरीत प्रवृत्तिके कारण साधकको योगमें प्रवृत्त नहीं होने देता। अतः इसकी गणना योगके विघ्नोंमें होती है।

मधुमती आदि समाधिकी भूमिकाओंमें किसी भी भूमिकाका अभ्यास करते रहनेपर भी किसी कारणसे उसका प्राप्त न होना अलब्धभूमिकत्व कहलाता है। अलब्धभूमिकत्व भी साधकके चित्तको असंतोषके द्वारा बहिर्मुख रखनेके कारण योगमें विघ्नरूप है।

मधुमती आदि योगकी भूमिकाओंमें किसी भूमिकाकी प्राप्ति होनेपर भी विस्मय अथवा कर्तव्यके विस्मरण या ज्ञानके द्वारा उसमें चित्तको सुस्थिर न करना अनवस्थितत्व कहलाता है। योगकी किसी भूमिकाके प्राप्त होनेपर, इसीसे भलीभाँति स्थिरता हुई है, किसी कारणसे ऐसा मान लिया जाय और उससे आगेकी सुस्थिरताके लिये प्रयत्न नहीं किया जाय तो उसको उत्तर भूमिकाकी प्राप्ति तो होती ही नहीं, साथ ही उस भूमिकासे भी वह भ्रष्ट हो जाता है। अतः प्राप्त हुई योगभूमिकामें अपने चित्तको सुस्थिर करनेके लिये साधकको प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा प्रयत्न न करनेसे उस भूमिकामें चित्तकी अस्थिरता रहती है, और वह भी योगमें प्रतिबन्धक होती है।

चित्तको विक्षिप्त करनेवाले ये नौ योग-मल योगके विघ्न कहलाते हैं। संशय और भ्रान्तिदर्शनरूप वृत्तियाँ भी वृत्तिनिरोधरूप योगकी विरोधिनी हैं और व्याधि आदि वृत्ति न होनेपर भी वृत्तियोंके साहचर्यसे योगमें बाधक हैं।

केवल ये नौ ही योगके विघ्न नहीं हैं, बल्कि चित्तके विक्षेप करनेवाले इन विघ्नोंके साथ दुःखादि अन्य विघ्न भी हैं। भगवान् पतञ्जलि उनका भी नाश करनेके लिये कहते हैं—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।

(समाधि॰ ३२)

उस विक्षेप तथा उसके साथ होनेवाले दुःखादिकी निवृत्तिके लिये एकतत्त्वका अभ्यास करना चाहिये। इसी प्रकार योगवासिष्ठमें भी कहा है—

तावन्निशीथवेताला वल्गन्ति हृदि वासनाः।
एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः॥

'जबतक एकतत्त्वके दृढ़ अभ्याससे मनको पूर्णरूपसे जीत नहीं लिया जाता, तबतक अर्धरात्रिमें नृत्य करनेवाले वेतालोंके समान वासनाएँ हृदयमें नृत्य करती रहती हैं।'

इस प्रकार अनेक विघ्न योगीके समाधिमें विघ्नरूपसे आते हैं, अतएव उनको हटानेका धीरे-धीरे यत्न करना चाहिये।

इस विषयका एक दृष्टान्त है। एक चरवाहेको रखवाली करनेके लिये दी हुई एक बछिया जंगलमें भटकती है और भटकनेकी आदत सीखती है। पीछे जब वह गाभिन हो जाती है तब कुछ खिलानेका लालच देकर उसे लोग घर ले आते हैं। पर उसको भटकना छोड़कर घरपर रहना अच्छा नहीं लगता और मौका पाकर वह फिर निकल जाती है। पीछे फिर पकड़कर लायी जाती है। ऐसा करते-करते जब वह ब्याती है, तब अपने बछड़ेके प्रेमपाशमें ऐसी बँध जाती है कि फिर लाठीसे मारकर बाहर निकालनेपर भी नहीं निकलती। इसी प्रकार बुद्धिरूपी बछिया संसाररूपी जंगलमें भटकती है और विषयभोगरूपी कुटेव सीखती है। पीछे पुण्योदय होनेपर जब वह मुमुक्षारूप गर्भ धारण करती है तब योगद्वारा बुद्धिको स्थिर करनेका प्रयत्न होता है तथा ध्यानादि क्रियाओंके द्वारा उसे प्राप्त होता है तथापि भटकनेकी आदत होनेके कारण मौका मिलते ही बुद्धि चलायमान हो जाती है। परंतु बुद्धिको जब समाधिद्वारा ज्ञानरूपी वत्स उत्पन्न होता है, तब उसके प्रेममें निमग्न होकर वह किसी भी दुःखरूपी प्रहारसे घबराकर घर नहीं छोड़ती अर्थात् कभी बहिर्मुख नहीं होती। इस प्रकार दोषोंको निवृत्तकर निरोधप्रयत्नके द्वारा निश्चय किया हुआ चित्त स्वाभाविक चञ्चलतासे विषयाभिमुख होकर बाहर जाय तो उसे फिर निरोधप्रयत्नसे ब्रह्ममें लगाये। इस प्रकार ब्रह्ममें एक हुआ चित्त लय तथा स्तब्ध-अवस्थामें नहीं जाता, शब्दादि विषयाकार-वृत्तिका अनुभव नहीं करता तथा रसका भी आस्वादन नहीं करता। यह निवात-प्रदेशमें दीपशिखाके समान अचल होकर किसी भी विषयके आकारको न धारण कर केवल ब्रह्माकार होता है। यह अद्वैतभावनारूप निर्विकल्प समाधि है। यह अद्वैतभावनारूप वृत्ति भी केवल शुद्ध सात्त्विक होनेपर ब्रह्मका अनुभव कर स्वयं लीन हो जाती है। इसलिये योगाभ्यास करनेवालेको इन सब विघ्नोंके दूर करनेके लिये प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिये। क्योंकि **'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'**—श्रेयस्कर कार्यमें अनेकों विघ्न आते हैं, यह प्राकृतिक नियम है। इसलिये विघ्न करनेवाले उपकरणोंमें लोभवश न फँसकर उनसे सदा सचेत रहना चाहिये।

योगसे प्राप्त होनेवाली अपरा एवं परा सिद्धियाँ

(वेदान्तभूषण पं॰ श्रीबदरीदासजी पुरोहित)

सर्वथा सिद्धिविहीन व्यक्तिकी कहीं कोई प्रतिष्ठा नहीं होती और विशेष सिद्धियोंके स्वाभाविक निधान होनेके कारण परमेश्वर सर्वसमर्थ एवं शक्तिमान् होता है और उसकी सर्वत्र पूजा-प्रतिष्ठा होती है। अतः उच्चकोटिका ज्ञान-विज्ञान, जीवन्मुक्ति एवं दिव्य शक्ति आदिकी सिद्धियाँ सबको अभीष्ट होती हैं। अणिमादि अष्टविध सिद्धियाँ तो प्रसिद्ध ही हैं। ये सिद्धियाँ यदि अहङ्कार आदिको जन्म देती हैं और साधक अपनी प्रतिष्ठाके लिये इनका चमत्कार आदिके रूपमें प्रदर्शन करता है तो ये ही सिद्धियाँ उसके मोक्ष आदि परा सिद्धियोंकी प्राप्तिमें अन्तराय बन जाती हैं, उसके पतनका कारण बन जाती हैं, साथ ही इन सिद्धियोंकी शक्ति भी नष्ट हो जाती है। अतः सिद्धिप्राप्त साधकको इनका उपयोग यदि आवश्यक हो तो यथासम्भव परोपकारके कार्यों तथा जीवमात्रके कल्याणके लिये करना चाहिये और इन्हें सर्वथा गुप्त रखते हुए निरभिमानपूर्वक आगेकी साधना करते रहना चाहिये।

शरीरमें इन्द्रियों तथा चित्तमें विलक्षण परिणाम उत्पन्न होने अर्थात् इनकी प्रकृतिमें विलक्षण परिवर्तन होनेको सिद्धि कहते हैं। सिद्धियोंके पाँच भेदसे पाँच प्रकारके सिद्ध पुरुष भी माने जाते हैं। इनके निमित्त पाँच हैं—जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधि। वे सिद्धियाँ जिनकी उत्पत्तिमें केवल जन्म ही निमित्त है, जन्मजा सिद्धि है। जैसे पक्षियों आदिका आकाशमें उड़ना अथवा कपिल आदि महर्षियोंमें उनके पूर्वजन्मके पुण्योंके प्रभावसे जन्मसे ही सांसिद्धिक ज्ञानका उत्पन्न होना। पारे आदि रसायनोंके उपयोगसे शरीरमें विलक्षण परिणाम उत्पन्न करना ओषधिजा सिद्धि है। मन्त्रद्वारा प्राप्त सिद्धि मन्त्रजा सिद्धि है, जैसे स्वाध्यायद्वारा इष्टदेवताका

मिलना। तपसे अशुद्धिके दूर हो जानेपर शरीर और इन्द्रियोंकी सिद्धि होती है, यह तपोजा सिद्धि है। योगाभ्यासद्वारा समाधि-प्राप्त सिद्धि समाधिजा सिद्धि है।

इनमेंसे यहाँपर योग एवं तपके प्रभावसे प्राप्त होनेवाली मुख्य सिद्धियोंका ही विशेष उल्लेख किया जाता है। मोक्षरूपी परमसिद्धिकी प्राप्ति निर्बीज समाधिका फल है, परंतु सब प्रकारकी दिव्य ऐश्वर्यरूपी नाना प्रकारकी अपरा सिद्धियाँ सम्प्रज्ञात समाधिसे ही सम्बन्ध रखती हैं। योगाभ्यास करनेवाले योगी महात्माओंको जो योगकी विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनका संक्षिप्त परिचय महर्षि पतञ्जलिके योगदर्शनके आधारपर यहाँ दिया जा रहा है—

पहली सिद्धि

व्युत्थान-संस्कारोंका लय होकर जो निरोध-संस्कारोंका प्रकट होना है तथा निरोधके क्षणमें जो चित्तका धर्मीरूपमें दोनोंके साथ अन्वय है उसे 'निरोध परिणाम-सिद्धि' कहते हैं। निरोध-संस्कारसे अन्तःकरणकी शान्ति प्रवाहित होती है। नानाविषयोंके संस्कारसे जो अन्तःकरणकी चञ्चलता होती है, उस 'सर्वार्थता' का क्षय और एकाग्रताका उदय ही अन्तःकरणमें समाधिका परिणाम है। तब 'शान्तप्रत्यय' अर्थात् एकाग्रता-परिणाममें सिद्धिकी इच्छा रखनेवाले योगीका अन्तःकरण तरङ्गरहित जलाशयके समान वृत्तियोंकी सर्वार्थताओंसे रहित होकर शान्त हो जाता है, इसी अवस्थाका नाम 'शान्तप्रत्यय' है, और उदितप्रत्यय, अर्थात् शान्तप्रत्ययके साथ ही सिद्धियोंकी इच्छाजनित वासनाबीजके वेगसे सिद्धिके उन्मुख योगीका अन्तःकरण रहता है, इसी अवस्थाका नाम 'उदितप्रत्यय' है। इन दोनों प्रत्ययोंकी समानतारूप चित्तकी जो स्थिति है वही 'एकाग्रतापरिणाम' है। इससे स्थूल, सूक्ष्मभूत और इन्द्रियोंमें भी 'धर्मपरिणाम', 'लक्षणपरिणाम' और 'अवस्थापरिणाम' वर्णित किये गये हैं ऐसा समझना चाहिये। पृथ्वीरूप धर्मीका जो घटरूप विकार है उसको 'धर्मपरिणाम' कहते हैं। घटका जो अनागत लक्षणके त्यागपूर्वक वर्तमान लक्षणवाला हो जाना घटरूप धर्मका 'लक्षणपरिणाम' है और वर्तमान लक्षणवाले घटका जो नयापन तथा क्षण-क्षणमें पुरातनपन है उसको 'अवस्था-परिणाम' कहते हैं। इन तीनों परिणामोंका इन्द्रियोंमें भी इस प्रकार विचार किया जाता है—जैसे इन्द्रियोंका जो नील-पीतादि विषयोंका ज्ञान है वही उनका 'धर्मपरिणाम' है, नीलादि ज्ञानका जो वर्तमान लक्षणवाला हो जाना है उसीका नाम 'लक्षणपरिणाम' है। वर्तमान दशामें जो स्पष्टपन या अस्पष्टपन है उसका नाम 'अवस्थापरिणाम' है। शान्त—अतीत, उदित—वर्तमान और अव्यपदेश्य—भविष्यत्, जो धर्म हैं उनमें अनुगत होनेवाला 'धर्मी' है। परिणामोंके भेदमें क्रमोंका भेद कारणरूप है। क्रमके अदल-बदलसे ही परिणामोंका परिवर्तन होता है, जैसे प्रथम मिट्टीके परमाणु होते हैं, पुनः उनसे मिट्टीका पिण्ड बनता है, फिर मिट्टीके पिण्डसे घट बनता है। घट फूटकर कपाल हो जाता है, कपालसे ठीकरे हो जाते हैं, फिर ठीकरे परमाणुमें परिणत होते हुए मिट्टीके रूपको ही धारण कर लेते हैं। ठीक वैसे ही अन्तःकरणकी पूर्ववृत्ति उत्तर-वृत्तिका पूर्वकारण होती हुई क्रमके अनुसार धर्मान्तर-परिणाम करती है। प्रकृतिके सब तरङ्गोंका परिवर्तन और अन्तःकरणमें सुख-दुःख आदि धर्मोंका परिवर्तन—ये सब इसी क्रम-नियमके ऊपर निर्भर हैं। अतएव धर्म, लक्षण और अवस्था नामक तीनों परिणामोंमें संयम करनेसे योगीको भूत और भविष्यत्का ज्ञान होता है।

दूसरी सिद्धि

शब्द, अर्थ और ज्ञानके एक दूसरेमें मिले रहनेसे संकर अर्थात् घनिष्ठ मेल है, उनके विभागोंमें संयम करनेपर 'सब प्राणियोंकी वाणी' का ज्ञान होता है।

तीसरी सिद्धि

संस्कारोंके प्रत्यक्ष होनेसे योगीको पूर्वजन्मका ज्ञान होता है। जैसे मनुष्यके छायारूप चिह्नको यन्त्रद्वारा धारण करनेकी शक्ति उत्पन्न करके वैज्ञानिकगण फोटोग्राफमें मनुष्यमूर्तिको यथावत् प्रकाशित कर देते हैं, वैसे ही संस्कारोंमें संयम करनेसे संस्कारके कारणरूप कर्मोंका यथावत् ज्ञान योगीको हो सकता है।

चौथी सिद्धि

ज्ञानमें संयम करनेपर दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है। जिस अन्तःकरणमें जैसा गुण-परिणाम रहता है, वैसी ही उस अन्तःकरणसे सम्बन्धयुक्त ज्ञानकी स्थिति होती है। अतः यदि किसी जीवविशेषके अन्तःकरणका हाल जानना हो तो उसके

ज्ञानकी पर्यालोचना करके उस जीवके मनका सब हाल जान सकते हैं।

पाँचवीं सिद्धि

कायागत रूपमें संयम करनेसे उसकी ग्राह्य शक्तिका स्तम्भ हो जाता है; और शक्तिस्तम्भ होनेसे दूसरेके नेत्रके प्रकाशका योगीके शरीरके साथ संयोग नहीं होता, तब योगीके शरीरका अन्तर्धान हो जाता है। जैसे रूपविषयक संयम करनेसे योगीके शरीरके रूपको कोई नहीं देख सकता, उसी प्रकार शब्दादि पाँचोंके विषयमें संयम करनेसे योगीके शरीरके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धको पासमें रहा हुआ पुरुष भी नहीं जान सकता।

छठी सिद्धि

सोपक्रम—जो कर्म शीघ्र फलदायक हो जाता है उस शीघ्र कार्यकारी कर्मकी अवस्थाका नाम 'सोपक्रम' है, जैसे जलसे भीगे हुए वस्त्रको निचोड़कर सुखा देनेसे वस्त्र शीघ्र सूख जाता है तथा निरुपक्रम—कर्म-विपाककी मन्दताके कारण विलम्बसे फलदायक कर्मकी अवस्थाका नाम 'निरुपक्रम' है, जैसे बिना निचोड़ा पिण्डीकृत वस्त्र बहुत कालमें सूखता है। इन दो प्रकारके कर्मोंमें जो योगी संयम करता है उसको मृत्युका ज्ञान हो जाता है। अथवा त्रिविध अरिष्टोंसे मृत्युका ज्ञान होता है।

सातवीं सिद्धि

मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा आदिमें संयम करनेसे तत्सम्बन्धी बलकी प्राप्ति होती है। मैत्रीबल, करुणाबल, मुदिताबल और उपेक्षाबलकी प्राप्ति करके योगी पूर्ण मनोबल अर्थात् आत्मबल प्राप्त करता है। जो शक्ति अन्तःकरणको इन्द्रियोंमें गिरने न देकर नियमितरूपसे आत्मस्वरूपकी ओर खींचती रहती है उसीको 'आत्मबल' या तेज कहते हैं।

आठवीं सिद्धि

बलमें संयम करनेसे योगीको हस्तीके-से बलादि प्राप्त हो सकते हैं। बल दो प्रकारका है—एक आत्मबल, दूसरा शारीरिक बल। प्रकृतिके विभिन्न होनेसे बलमें स्वतन्त्रता है, जैसे सिंहबल, गजबल, बलशाली खेचर पक्षियोंका बल और बलशाली जलचरोंका बल। जिस प्रकारके बलकी आवश्यकता हो उसी प्रकारके बलशाली जीवोंके बलमें संयम करनेसे योगीको उसी प्रकारके बलकी प्राप्ति हुआ करती है।

नवीं सिद्धि

ज्योतिष्मती प्रकृतिके प्रकाशको सूक्ष्मादि वस्तुओंमें न्यस्त करके उनपर संयम करनेसे योगीको सूक्ष्म, गुप्त और दूरस्थ पदार्थोंका ज्ञान होता है। लययोगी अपने अन्तर्राज्यमें शरीरके द्विदलस्थानमें शुद्ध तेजपूर्ण बिन्दुका दर्शन करता है। वह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति बिन्दुरूपसे आविर्भूत होकर जब स्थिर होने लगती है, तब वही बिन्दुध्यानकी अवस्था है। उसी बिन्दुके विस्तारसे योगी संयमशक्तिकी सहायता और ज्योतिष्मती प्रकृतिकी सहयोगितासे अनेक गुप्त विषय और जलमग्न या पृथ्वीगर्भस्थित समस्त द्रव्यसमूहके देखनेमें समर्थ हो सकता है।

दसवीं सिद्धि

सूर्यनारायणमें संयम करनेसे योगीको यथाक्रम स्थूल और सूक्ष्मलोकोंका ज्ञान हो जाता है। स्थूल लोक प्रधानतः यही मृत्युलोक है और विविध स्वर्ग तथा सप्त पाताल—ये सूक्ष्म लोक कहलाते हैं। अन्यान्य निकटस्थ ब्रह्माण्डोंका ज्ञानलाभ करना भी सूक्ष्म लोकसे सम्बन्धयुक्त ज्ञान है।

ग्यारहवीं सिद्धि

चन्द्रमामें संयम करनेसे नक्षत्रव्यूहका ज्ञान होता है। ज्योतिषका सिद्धान्त है कि जितने ग्रह हैं उन सबमें चन्द्र एक राशिपर सबसे बहुत ही कम समयतक रहता है। इससे प्रत्येक ताराव्यूहरूपी राशिकी आकर्षण-विकर्षण शक्तिके साथ चन्द्रका अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः उसी शक्तिके अवलम्बनसे नक्षत्रोंका पता लगानेमें चन्द्रकी सहायता सुविधाजनक है।

बारहवीं सिद्धि

ध्रुवमें संयम करनेसे ताराओंकी गतिका पूर्ण ज्ञान होता है। ध्रुवलोक हमारे सौर्य जगत्से इतना दूरवर्ती है कि उस दूरताके कारण हमलोग उसको स्थिर ही देख रहे हैं। जैसे दूरवर्ती देशमें स्थित किसी अग्निशिखाको उसके स्वभावसे ही चञ्चल होनेपर भी हम एक अचञ्चल ज्योतिर्मय रूपवाली देखते हैं, वैसे ही ध्रुवके चलने-फिरनेपर भी उसके चलनेका

हमारे लोकसे कोई सम्बन्ध न रहनेके कारण और परस्परमें अगणित दूरत्व होनेसे हमलोग ध्रुवको अचञ्चल ध्रुव ही निश्चय करते हैं।

तेरहवीं सिद्धि

नाभिचक्रमें संयम करनेपर योगीको शरीरके समुदायका ज्ञान होता है। शरीरके सात स्थानोंमें सात कमल अर्थात् चक्र हैं, जिनमें छः चक्रोंमें साधन करके सिद्धि प्राप्त होनेपर सातवें चक्रमें पहुँचनेसे मुक्ति प्राप्त होती है। षट्चक्रोंमेंसे नाभिके पास स्थित जो तीसरा चक्र है, उसमें संयम करनेसे शरीरमें किस प्रकारका पदार्थ किस प्रकारसे है; वात, पित्त और कफ—ये तीन दोष किस रीतिसे हैं; चर्म, रुधिर, मांस, नख, हाड़, चर्बी और वीर्य—ये सात धातुएँ किस प्रकारसे हैं, नाड़ी आदि कैसी-कैसी हैं—इन सबका ज्ञान हो जाता है।

चौदहवीं सिद्धि

कण्ठके कूपमें संयम करनेसे भूख और प्यास निवृत्त हो जाती है। मुखके भीतर उदरमें वायु और आहार आदि जानेके लिये जो कण्ठछिद्र है, उसीको 'कण्ठकूप' कहते हैं। यहींपर पाँचवाँ चक्र स्थित है। इसीसे क्षुत्पिपासाकी क्रियाका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

पंद्रहवीं सिद्धि

कूर्मनाड़ीमें संयम करनेसे स्थिरता होती है। पूर्वोक्त कण्ठकूपमें कच्छप आकृतिकी एक नाड़ी है, उसको कूर्मनाड़ी कहते हैं। उस नाड़ीसे शरीरकी गतिका विशेष सम्बन्ध है। इसीसे यहाँ संयम करनेपर शरीर स्थिरताको प्राप्त हो जाता है। जैसे सर्प अथवा गोह अपने-अपने बिलमें जाकर चञ्चलता और क्रूरताको त्याग देते हैं, वैसे ही योगीका मन इस कूर्मनाड़ीमें प्रवेश करते ही अपनी स्वाभाविक चञ्चलताका त्याग कर देता है।

सोलहवीं सिद्धि

कपालकी ज्योतिमें संयम करनेसे योगीको सिद्धगणोंके दर्शन होते हैं। मस्तकके भीतर कपालके नीचे एक छिद्र है, उसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। उस ब्रह्मरन्ध्रमें मन ले जानेसे एक ज्योतिका प्रकाश नजर आता है, उसमें संयम करनेसे योगीको सिद्ध और महात्माओंके दर्शन होते हैं। जीवकोटिसे उपराम होकर सृष्टिके कल्याणार्थ ऐसी शक्तियोंको धारण करके एक लोकसे लोकान्तरमें विचरण करनेवालोंको ही सिद्ध या महात्मा कहा जाता है, जो चतुर्दश भुवनोंमें ही विराजते हैं।

सत्रहवीं सिद्धि

प्रातिभमें संयम करनेसे योगीको सम्पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। योगसाधन करते-करते योगियोंको एक तेजोमय तारा ध्यानावस्थामें दिखलायी पड़ता है, उसी तारेका नाम 'प्रातिभ' है। चञ्चलबुद्धि मनुष्य उस तारेका दर्शन नहीं कर सकते। योगीकी बुद्धि जब शुद्ध होकर ठहरने लगती है, तभी उस भाग्यवान् योगीको 'प्रातिभ' के दर्शन होते हैं। इसी प्रातिभको स्थिर कर उसमें संयम करनेसे योगी ज्ञान-राज्यकी सब सिद्धियोंको प्राप्त कर सकता है।

अठारहवीं सिद्धि

हृदयमें संयम करनेसे योगीको चित्तका ज्ञान होता है। चतुर्थ चक्रका नाम हृत्कमल है। इससे अन्तःकरणका एक विलक्षण सम्बन्ध है। चित्तमें नये और पुराने सब प्रकारके संस्कार रहते हैं, चित्तके नचानेसे ही मन नाचता है। चित्तका पूर्ण स्वरूप महामायाकी मायासे जीवपर प्रकट नहीं होता है। जब योगी हृत्कमलमें संयम करता है, तब वह अपने चित्तका पूर्ण ज्ञाता बन जाता है।

उन्नीसवीं सिद्धि

बुद्धि पुरुषसे अत्यन्त पृथक् है। इन दोनोंके अभिन्न ज्ञानसे भोगकी उत्पत्ति होती है। बुद्धि परार्थ है, उससे भिन्न स्वार्थ है। उसमें अर्थात् अहंकारशून्य चित्प्रतिबिम्बमें संयम करनेसे पुरुषका ज्ञान होता है। बुद्धि-पुरुषका जो परस्पर प्रतिबिम्ब-सम्बन्धसे अभेद-ज्ञान है, वही पुरुषनिष्ठ भोग कहलाता है। बुद्धि दृश्य होनेसे उसका यह भोगरूप प्रत्यय परार्थ यानी पुरुषके लिये ही है। इस परार्थसे अन्य जो स्वार्थ प्रत्यय है यानी जो बुद्धिप्रतिबिम्बित चित्सत्ताको अवलम्बन करके चिन्मात्ररूप है, उसमें संयम करनेसे योगीको नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव पुरुषका ज्ञान हो जाता है। बुद्धिके मलिनभावसे रहित शुद्धभावमय, जैव अहंकारसे शून्य, आत्मज्ञानसे भरी हुई जो चिद्भावकी दशा है उसीको जानकर उसमें जब योगी संयम करता है, तब उसको पुरुषके स्वरूपका

बोध हो जाता है। इस परा सिद्धिके पानेपर योगीको प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता नामक षट्सिद्धियोंकी प्राप्ति हो जाती है।

षट्सिद्धियोंका फल—'प्रातिभ सिद्धि'से योगीको अतीत, अनागत, विप्रकृष्ट और सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, 'श्रावणसिद्धि'से योगीको दिव्य श्रवणज्ञानकी पूर्णता यानी प्रणवध्वनिका अनुभव होता है। 'वेदनसिद्धि'से योगीको दिव्यस्पर्शज्ञानकी पूर्णता होती है। 'आदर्शसिद्धि'से दिव्य दर्शनकी पूर्णता, 'आस्वादसिद्धि'से दिव्य रसज्ञानकी पूर्णता और 'वार्तासिद्धि'से दिव्य गन्धज्ञानकी पूर्णता स्वतः प्राप्त हो जाती है। ये सब समाधिमें विघ्नकारक हैं, परंतु व्युत्थानदशाके लिये सिद्धियाँ हैं।

बीसवीं सिद्धि

बन्धनका जो कारण है उसके शिथिल हो जानेसे और संयमद्वारा चित्तकी प्रवेश-निर्गममार्गनाड़ीके ज्ञानसे चित्त दूसरे शरीरमें प्रवेश कर सकता है। चञ्चलताको प्राप्त हुए अस्थिर मनका शरीरमें द्वन्द्व तथा आसक्तिजन्य बन्धन है, समाधिप्राप्तिसे क्रमशः स्थूल शरीरसे सूक्ष्म शरीरका यह बन्धन शिथिल हो जाता है। संयमकी सहायतासे चित्तके गमनागमनमार्गीय नाड़ीज्ञानसे स्वतः सूक्ष्म शरीरको कहीं पहुँचा देनेका नाम प्रवेश-क्रिया है और पुनः उस सूक्ष्म शरीरको ले आनेका नाम निर्गम-क्रिया है। इन दोनोंका जब योगीको बोध हो जाता है तब योगी जब चाहे तब अपने शरीरसे निकलकर दूसरेके शरीरमें प्रवेश कर सकता है। इसीका नाम 'परकाया-प्रवेश' है।

इक्कीसवीं सिद्धि

उदानवायुके जीतनेसे जल, कीचड़ और कण्टक आदि पदार्थोंका योगीको स्पर्श नहीं होता और मृत्यु भी वशीभूत हो जाती है। ऊर्ध्वगमनकारी कण्ठसे लेकर सिरतक व्यापक जो वायु है वही 'उदानवायु' कहलाता है। यह ऊर्ध्वगमनकारी होनेसे उसमें संयम करनेवाले योगीका शरीर जल, पङ्क और कण्टक आदिसे नष्ट नहीं होता। उदानवायुसे सब स्नायुओंकी क्रियाएँ नियमित रहती हैं। मस्तिष्कका स्वास्थ्य ठीक रहकर चेतनकी क्रिया बनी रहती है। इसके अतिरिक्त उदानवायुसे प्राणमय कोशसहित 'सूक्ष्म शरीर'पर आधिपत्य बना रहता है। अतएव उदानवायुके जयसे योगी इच्छानुसार शरीरसे प्राणोत्क्रमणरूप इच्छामृत्युको प्राप्त कर सकता है। जैसे भीष्म पितामहने उत्तरायण सूर्य आनेपर ही देहत्याग किया था।

बाईसवीं सिद्धि

समानवायुको वश करनेसे योगीका शरीर ज्योतिर्मय हो जाता है। नाभिके चारों ओर दूरतक व्यापक रहकर समताको प्राप्त हुआ जो वायु जीवनी-क्रियाको साम्यावस्थामें रखता है, उस वायुको 'समानवायु' कहते हैं। इस शरीरकी समानताका इस वायुसे प्रधान सम्बन्ध है। शारीरिक तेजशक्ति ही जीवनी-क्रियाको साम्यावस्थामें रखती है। इसीलिये समानवायुको संयमसे जीत लेनेसे योगी तेजःपुञ्ज हो जाता है।

तेईसवीं सिद्धि

कर्ण-इन्द्रिय और आकाशके आश्रयाश्रयिरूप सम्बन्धमें संयम करनेसे योगी दिव्यश्रवणको प्राप्त होता है। समस्त श्रोत्र और शब्दोंका आधार आकाश है। जबतक कानके साथ आकाशका सम्बन्ध रखा जाता है, तबतक शब्द सुनायी पड़ते हैं, अन्यथा नहीं। इससे कान और आकाशका जो आश्रयाश्रयिरूप सम्बन्ध है, उसमें संयम करनेसे योगी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म छिपे हुएसे अति छिपे हुए, दूरवर्ती-से-दूरवर्ती और नाना प्रकारके दिव्य शब्दोंको श्रवण कर सकता है।

चौबीसवीं सिद्धि

शरीर और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे और लघु यानी हलकी रुई-जैसे पदार्थकी धारणासे आकाशमें गमन हो सकता है। आकाश और शरीरका व्यापक और व्याप्यरूपसे सम्बन्ध है। आकाश सब भूतोंसे हलका है और सर्वव्यापी है, इसलिये योगी जब आकाश और शरीरके सम्बन्धमें संयम करता है और उस समय लघुताके विचारसे रुई आदि हलके-से-हलके पदार्थोंकी धारणा भी रखता है, तब इस क्रियासे उसमें हलकेपनकी सिद्धि हो जाती है।

पचीसवीं सिद्धि

शरीरसे बाहर जो मनकी स्वाभाविक वृत्ति है उसका नाम 'महाविदेह' धारणा है, उसके द्वारा प्रकाशके आवरणका नाश हो जाता है। स्थूल शरीरसे बाहर शरीरके आश्रयीकी अपेक्षा न रखनेवाली जो मनकी वृत्ति है उसे 'महाविदेह' कहते हैं।

उसीसे ही अहंकारका वेग दूर होता है। उस वृत्तिमें जो योगी संयम करता है, उससे प्रकाशका ढकना दूर हो जाता है। जबतक शरीरका अहंकार रहता है, तबतक मनकी बाह्यवृत्ति रहती है, परंतु जब शारीरिक अहंकारको त्यागकर स्वतन्त्र-भावसे मनकी वृत्ति बाहर रहती है, तभी योगीका अन्तःकरण मलरहित और निःसङ्ग रहता है। शरीरसे लगी हुई मनकी जो बाहरी वृत्ति है उसका नाम 'कल्पिता' है। परंतु शरीरकी अपेक्षा न रखकर देहाध्याससे रहित जो मनकी स्वाभाविकी और निराश्रयी बाहरी वृत्ति है वही अकल्पित है। कल्पितको छोड़कर अकल्पित जो महाविदेहवृत्तिका साधन किया जाता है, उसके सिद्ध होनेपर प्रकाशस्वरूप बुद्धिका पूर्ण विकास हो जाता है। तब अहंकारसे उत्पन्न हुए क्लेश, कर्म और कर्मफल—इनके सम्बन्धसे साधक मुक्त हो जाता है तथा रज-तमका आवरण हट जाता है, जिससे योगी अपने अन्तःकरणको यथेच्छ ले जानेकी सिद्धिको प्राप्त करता है।

छब्बीसवीं सिद्धि

पञ्चतत्त्वोंके स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व—ये पाँच अवस्थाविशेष हैं, इनमें संयम करनेसे भूतोंपर जयलाभ होता है। भूतोंकी 'स्थूल-अवस्था' वह है जो दृष्टिगोचर हुआ करती है। 'स्वरूपावस्था' वह है जो स्थूलमें गुणरूपसे अदृष्ट हो। जैसे तेजमें उष्णता है। 'सूक्ष्मावस्था' तन्मात्राओंकी है। 'अन्वयावस्था' व्यापक सत्त्व, रज और तमोगुणकी है और पञ्चम 'अर्थवत्त्वावस्था' फलदायक होती है। जब योगी पञ्चभूतोंकी इन अवस्थाओंमें संयमद्वारा उनको जय कर लेता है तब प्रकृति अपने-आप उस योगीके अधीन हो जाती है। जैसे गौ अपने-आप ही बच्चेको दूध पिलाया करती है, वैसे ही पञ्चभूतके जयसे प्रकृति वशीभूत हो जानेपर वह प्रकृति माता अपने-आप ही उस योगीकी सेवामें तत्पर हो जाती है।

अष्ट सिद्धियाँ—भूतजयानन्तर अणिमादि 'अष्ट सिद्धि', सिद्धियोंका प्रकाश, शरीर-सम्बन्धी सब सम्पत्तियोंकी प्राप्ति और शरीरके रूपादि धर्मोंका अनभिघात होता है। अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व और ईशित्व—ये अष्ट सिद्धियाँ हैं। जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको सूक्ष्म अणुसे भी सूक्ष्मतर कर लेता है तब उसे 'अणिमासिद्धि' कहते हैं। 'लघिमासिद्धि' उसको कहते हैं कि जब योगी इच्छा करते ही अपने स्थूल शरीरको हलकेसे भी हलका कर सके और आकाशके अवलम्बनसे जहाँ चाहे वहीं जा सके। 'महिमासिद्धि' वह है कि जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको चाहे जितना बढ़ा सके। 'गरिमासिद्धि' वह कहलाती है कि जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको चाहे जितना भारी-से-भारी कर सके। 'प्राप्तिसिद्धि' वह कहलाती है कि जब योगी इच्छा करते ही एक लोकसे लोकान्तरमें यानी किसी ग्रह, उपग्रह, सूर्य या किसी महासूर्यमें जहाँ चाहे वहीं पहुँच सके। 'प्राकाम्यसिद्धि' वह है कि जब योगी जिस किसी पदार्थकी इच्छा करे तभी वह पदार्थ उसको प्राप्त हो जाय, अर्थात् त्रिलोकमें उसको अप्राप्त कोई भी पदार्थ न रहे। 'वशित्वसिद्धि' वह कहलाती है कि जिससे योगीके वशमें समस्त पञ्चभूत और सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ आ जाते हैं। और वह जैसे चाहता है वैसे ही पञ्चभूतोंसे काम ले सकता है। वह स्वयं किसीके भी वशमें नहीं होता। 'ईशित्वसिद्धि' उसको कहते हैं कि जब योगी भूत और भौतिक पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेकी शक्तिको प्राप्त हो जाता है, यदि वह नवीन सृष्टिको करना चाहे तो वह भी आंशिकरूपसे कर सकता है। ये ही अष्ट सिद्धियाँ हैं। इन सिद्धियोंके साथ-साथ योगीको रूप, लावण्य, बल और वज्रतुल्य दृढ़ता—ये सब कायसम्पत्तियाँ भी मिल जाती हैं।

सत्ताईसवीं सिद्धि

ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व नामक इन्द्रियोंकी पाँच वृत्तियोंमें संयम करनेसे इन्द्रियोंका जय होता है। सामान्य और विशेषरूपसे शब्दादि जितने विषय हैं वे सब बाहरी विषय ग्राह्य कहलाते हैं, उन ग्रहण करनेयोग्य विषयोंमें जो इन्द्रियोंकी वृत्ति जाती है उस वृत्तिको 'ग्रहण' कहते हैं। किसी रीतिसे बिना विचारे विषय जब अकस्मात् गृहीत हो जाते हैं, तब मनका उसमें प्रथम विचार ही 'स्वरूपवृत्ति' है। उस अवस्थामें जो अहङ्कारका सम्बन्ध रहता है, वह अहङ्कारमिश्रित भाव ही 'अस्मितावृत्ति' कहा जाता है। फिर बुद्धिद्वारा उस स्वरूपके विचारको यानी जब बुद्धि सत्यासत्य, सामान्य और विशेषका विचार करने लगती है तब उस वृत्तिको 'अन्वय' कहते हैं। नाना विषयोंको प्रकाश करनेवाली, स्थितिशील,

अहङ्कारके साथ सब इन्द्रियोंमें व्यापक, बहकी हुई जो वृत्ति है वही पञ्चम 'अर्थवत्त्ववृत्ति' कहलाती है। इन इन्द्रियोंकी पाँचों वृत्तियोंमें संयम करके इन्हें अपने अधीन कर लेनेसे इन्द्रियगणका पूर्ण जय होता है।

इन्द्रियजयका फल—इन्द्रियजयके अनन्तर मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानजयकी सिद्धियाँ योगीको स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। मनकी गतिके समान शरीरकी उत्तम गतिकी प्राप्तिको 'मनोजवित्व' कहते हैं, अर्थात् मनकी तरह शीघ्र ही अनेक योजनव्यवहित देशमें गमन करनेकी शरीरमें सामर्थ्य होनेका नाम 'मनोजवित्व' है। शरीरके सम्बन्धको त्यागकर जो इन्द्रियोंकी वृत्तिका प्राप्त करना है उसे 'विकरणभाव' कहते हैं, अर्थात् जिस देश, काल या विषयोंमें अभिलाषा हो, शरीरके बिना ही चक्षुरादि इन्द्रियोंसे गति प्राप्त होनेका नाम 'विकरणभाव' है। प्रकृतिके विकारोंके मूल कारणको जय करनेका नाम 'प्रधानजयत्व' है, जिससे सर्ववशित्व प्राप्त होता है। ये सिद्धियाँ स्वतः मिलती हैं।

अट्ठाईसवीं सिद्धि

बुद्धि और पुरुषमें पार्थक्य-ज्ञानसम्पन्न योगीको सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व प्राप्त होता है। जब अन्तःकरणकी ऐसी निर्मल अवस्था होती है, तब अपने-आप परमात्माका शुद्ध प्रकाश उसमें प्रकाशित होने लगता है, जिससे योगीको बुद्धिरूप दृश्य और पुरुषरूप द्रष्टामें जो तात्त्विक भेद है वह स्पष्ट अनुभव होने लगता है और ऐसी परिस्थितिमें योगी अखिल भावोंका स्वामी और सकल विषयोंका ज्ञाता बन जाता है।

उनतीसवीं सिद्धि

जितने कालमें एक परमाणु पलटा खाता है उसको क्षण कहते हैं और उसके अविच्छिन्न प्रवाहको क्रम कहते हैं। उनमें संयम करनेसे विवेक यानी अनुभवसिद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है। भौतिक पदार्थके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भागको 'परमाणु' कहते हैं। जिस कालसे कम भागमें काल विभक्त न हो सके, उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म कालभागको 'क्षण' कहते हैं। उन परमाणुओंकी गति अर्थात् प्रवाहका जो रूप है उसको 'क्रम' कहते हैं। क्रम क्षणसे ही जाना जाता है। भूत क्षणका परिणाम वर्तमान क्षण है। वर्तमान क्षणका परिणाम भविष्यत् क्षण होगा। इस प्रकार समस्त ब्रह्माण्डोंकी सृष्टिक्रिया एक ही क्षणका परिणाम है। इस योगबुद्धिसे क्षण और क्रममें संयम करके उनका साक्षात् ज्ञानलाभ करनेसे अभ्रान्त और पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होती है। तब योगी जिस विषयको देखता है, उसका ही यथार्थ पूर्णरूप देख लेता है। यही योगीकी त्रिकालदर्शी अवस्था है।

परा सिद्धि

उपर्युक्त अपरा सिद्धियोंकी प्राप्तिके अनन्तर योगीको विवेकख्यातिजनित वैराग्यके कारण दोषोंके बीज-नाश हो जानेपर 'कैवल्यकी प्राप्ति' होती है। सिद्धियाँ दो प्रकारकी हैं, एक परा और अन्य अपरा। विषयसम्बन्धी सब प्रकारकी उत्तम, मध्यम और अधम सिद्धियाँ 'अपरा सिद्धि' कहलाती हैं। ये सिद्धियाँ मुमुक्षु योगीके लिये हेय हैं। इनके सिवा जो स्व-स्वरूपके अनुभवकी उपयोगी सिद्धियाँ हैं वे योगिराजके लिये उपादेय 'परा सिद्धियाँ' हैं।

भोगमें योग

(काव्यतीर्थ पं० श्रीकृष्णदत्तजी शास्त्री)

योग विषय अनन्त तथा असीम है। सभी आचार्योंने इसकी पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ की हैं। योग-जैसे गहन और दुरूह विषयमें पूर्वाचार्योंके अनेक मत होना स्वाभाविक है। जो विषय गूढ़ और जटिल होता है उसका अनेक प्रकारसे समीक्षण किया जाना भी एक प्रकारसे उसके महत्त्वका सूचक है। 'योग' शब्द प्रसङ्गाधीन अनेक अर्थोंमें पाया जाता है। अतः उसका सांकेतिक अर्थ करना उचित नहीं। कोई योगका अर्थ समाधि करता है तो किसीके मतमें अष्टाङ्गयोगद्वारा चित्तवृत्तिका निरोध करना ही योग है। कुछ लोग योगका अर्थ सहकार करते हैं तो किसीके मतमें 'योग' नाम दो भावोंके संयोग या मिलापका है। गवेषणापूर्वक निरीक्षण करनेसे पता चलता है कि योगका अर्थ 'त्याग' करना ही उचित है। वह चाहे किसी अभिप्रेत—अभीष्टके मिलापके लिये हो या स्वतन्त्र हो किंतु योगका अर्थ 'त्याग' करना युक्ति एवं हेतुपूर्ण

है। लोकमें भी योगका अर्थ त्याग ही देखा जाता है। जैसे अमुक मनुष्य योगी हो गया, अमुकने तो मानो संसारसे योग ही ले लिया हो, ऐसा लोग कहते हैं। संन्यासयोग, सांख्ययोग, निष्काम कर्मयोग आदि शब्दोंसे ऐसी प्रतीति होती है कि योग शब्द त्यागमात्रमें पर्यवसित है। क्योंकि एकके त्याग बिना दूसरेका मिलन नहीं होगा। वस्तुतः 'योग' है क्या पदार्थ ? उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है और उसके लिये क्या करना होगा ? यह एक जटिल और गम्भीर प्रश्न है। इस विषयमें विद्वानोंने अनेक उपाय बताये हैं—जैसे अष्टाङ्गयोग, हठयोग, राजयोग, भक्तियोग, प्रेमयोग, ध्यानयोग, संन्यासयोग, सांख्ययोग, समाधियोग, क्रियायोग आदि। परंतु ध्येय सबका एक है, वह है—'ऐहिक पदार्थोंके प्रति अनासक्ति-पूर्वक ब्रह्मसाक्षात्कार किंवा तत्प्राप्ति।' अतः सिद्ध होता है कि योगाभिप्रेत परीक्षाका परीक्ष्य विषय अनासक्ति और फल ब्रह्मप्राप्ति है। अनासक्तिको वासनात्याग भी कहते हैं। ऐहिक वासनाका सम्यक् लय करना योगका काम है। वासना किंवा आसक्ति-त्याग दो प्रकारसे किया जा सकता है। किसी प्रेय पदार्थका स्वरूपसे त्याग और कामना तथा वासना-त्याग। इस विश्वकी विचित्रता और व्यापकताको देखते हुए यथार्थ त्याग कामना और वासनाद्वारा ही हो सकता है। यदि हठयोगद्वारा जंगलमें जाकर या अन्य क्रियाओंद्वारा संसारका स्वरूपसे त्याग किया भी जाय तो पूर्ण त्याग नहीं बन सकता। किसी-न-किसी रूपमें संसारका अस्तित्व बना ही रहेगा। कदाचित् बाह्य जगत्का त्याग किया भी तो आन्तरिक जगत्का त्याग न होगा। पाञ्चभौतिक शरीरद्वारा ही पञ्चभूतोंका त्याग नहीं हो सकता। शरीरके रहते हुए शरीरका स्वरूप-त्याग नहीं बन सकता, अतः वासनात्यागको ही यथार्थ मानना चाहिये।

वासनात्यागके लिये जंगलमें जानेकी या अमुक क्रिया करनेकी आवश्यकता नहीं, उसके लिये तो ब्रह्मज्ञ गुरुद्वारा आत्म-परमात्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्तकर अन्तःकरण-वृत्त्यवच्छिन्न वासनाका त्याग करना होगा। संघर्षमय जीवनकी चञ्चलताको नष्टकर समताके साम्राज्यमें विचरना होगा। '**समत्वं योग उच्यते**'का पालन करना होगा, ऐहिक ऐश्वर्योंको पाकर भी पद्मपत्रवत् निर्लिप्त रहना होगा, जीते हुए मुरदा बनना पड़ेगा, सच्चा जनक—विदेह बनना होगा, तभी भोगमें योगका आनन्द प्राप्त होगा, गृहमें जंगलसे अधिक मङ्गलमय जीवन व्यतीत होगा। इसीका नाम योग है। हठयोगद्वारा किसी वृत्तिको समूल नष्ट करना या किसी वृत्तिविशेषकी उत्पत्तिके पूर्व ही उसका नाश कर देना वास्तविक योग नहीं। दमनका नाम यथार्थ त्याग नहीं, बल्कि वह त्यागका उपहासमात्र है। त्यागशक्तिकी दुर्बलताका परिचय देना तो एक प्रकारसे योगकी अवज्ञा करनेके बराबर है।

जैसे किसी प्रकार प्रश्न-पत्रोंको प्राप्त कर लेना, किसीसे पूछ लेना अथवा आत्मघातका भय दिखाकर परीक्षा पास कर लेनेको 'उत्तीर्ण' होना नहीं कह सकते, इसी प्रकार जन्मसे ही दूर रहकर हठयोगद्वारा वृत्तियोंका दमनकर वासना-लय या आसक्ति-त्याग प्राप्त करना योगीका काम नहीं। योगी तो वही है जो विश्ववैभव-सरोवरमें खड़ा होकर भी अपनेको सूखा रख सके, उसकी तरङ्गोंका रंग न चढ़ने दे, विषयद्वन्द्वमें भी निर्द्वन्द्व रहे। निर्वात दीपकी भाँति चित्तको निश्चल और मनको एकाग्र रखे। विषयरसको नीरस बना दे। किसीने कहा भी है—

ईंधन बिहूनी आग राखिबेको जतन कहा,
ईंधनमें आग राखे वाहीको जतन है।
इन्द्री गलित करै, कहौ कौन साधपनो,
इन्द्री बलित बाँधे सोई साधपन है॥
'अक्षर अनन्य' बिन बिषय पाए त्याग कहाँ,
पाय करै त्याग सोई बैराग मन है।
घर छोड़ बन जोग माँडनको निहोरो कहा,
घरहीमें जोग माँडे सोई गुरुजन है॥

वास्तवमें योगविषयक 'अक्षर अनन्य' कविके उपर्युक्त पद्यका भाव अक्षरशः सत्य है। जब सम्भावना ही नहीं, तब त्याग किसका? बलात् इन्द्रियोंका दमन करना तो योगकी विडम्बना है। तृणके अभावमें अग्निका रखना, 'अग्निकी यथार्थ रक्षा' नहीं है। तृणसमूहके होते हुए अग्निको सुरक्षित रखनेका नाम ही रक्षा है। कमल जलमें वास करता है किंतु जलमें लिप्त नहीं रहता। जो गृहमें रहकर भी गृहमें लिप्त नहीं, उसमें आसक्त नहीं,वही सच्चा योगी है। किसीने सत्य कहा है—

पंकज ज्यों जल माँहि बसै, तो पै भिन्न रहै, जल परस न लावे।
हंस बसै सर माँहि सदा, पै छीर भखै नीरहि बिलगावे॥

व्यूह-समूह बसै जिमि ध्यानी, पै ध्यान धरै, नहिं चित्त डिगावे ।
भोग न बाधि सकै तिमि योगै, जो भोगमें योग समाधि लगावे ॥

शुद्धान्तःकरण और सात्त्विक अन्नभोगीके चित्तमें कभी विक्षेप उत्पन्न नहीं होता तब बाधा कैसी ? वह चाहे जिस आश्रममें बसे, किसीसे कम नहीं। चित्त-वृत्तिके निरोधका नाम समाधि है, वह चाहे किसी प्रकार क्यों न प्राप्त हो। मानसिक वेगोंके शान्त होते ही **'नोद्विजते न च द्वेष्टि योगी विगतकल्मषः'** हुआ नहीं कि वही सच्चा योगी हो गया।

यदि हमें भोगमें योग साधना है तो सबसे प्रथम आचार-विचारोंको शुद्ध और परिमित करना होगा। तभी अन्तःकरण-वृत्त्यवच्छिन्न इस प्रपञ्चमय प्राणीको योगी बना सकेंगे। जहाँतक चित्तकी चञ्चलता और विक्षेपका नाश नहीं, वहाँतक योग (त्याग) प्राप्त नहीं होता और त्याग बिना ब्रह्मसाक्षात्कार कैसा ? अतः स्थिर धारणा प्राप्त करनी होगी। स्थिरता तो समतामें है। तराजूके किसी पलड़ेमें यदि बोझ कम-ज्यादा होगा तो स्थिरता नहीं प्राप्त हो सकती। बस, यही दशा योगीकी है। मनकी तरङ्गोंका रंग किसी तरफ चढ़ जाने दिया या उसकी परवा न की तो फिर स्थिरता कहाँ ? चित्तवृत्तिमें विक्षेपका प्रवेश हुआ नहीं कि बस, किया-कराया सब धूल। अतः यदि भोगमें योग प्राप्त करना है तो चित्तमें विक्षेपका प्रवेश मत होने दो, मनके विकारोंको नष्ट करो, कल्पनाको मिटा दो, उदासीनताका सेवन सीखो, जंगलमें नहीं किंतु घरमें ही सच्चे जनक—विदेह बनो। कौन कहता है कि भोगमें योग नहीं हो सकता ? निर्लेप होते ही सब ऋद्धि-सिद्धि आपकी दासी हो जायँगी। तृष्णा आपके आगे हाथ जोड़े खड़ी रहेगी। संतोष आपका मित्र होगा, फिर भय किसका ? कल्पना-कालका अभाव हुआ कि आप अजर-अमर योगी हो गये—***'जलमें न्हाइये, कोरे रहिये, अन्तरमें कीजे बास।'*** अब शेष क्या रहा ? विशुद्धान्तःकरण मनुष्यको कुछ भी दुर्लभ नहीं—

विक्षेपकल्पनातीतः समचित्तो विचारधीः ।
भोगे योगं न जानाति स योगी किं करिष्यति ॥

कल्पना, काल एवं विक्षेपरूप शत्रुको जीतनेवाला, शान्तिके साम्राज्यमें स्थिरचित्त हो निश्चिन्त विचरनेवाला यदि भोगमें योग नहीं साध सकता तो वह योगी होकर ही क्या करेगा ? अरे, बन्धन तो वासनामें है, जब वासनाका लय हो गया, तब जाग्रदवस्था होते कितनी देर लगती है और वासनारहित योगी सदा ही जीवन्मुक्त है, उसे भोग-बन्धन कैसे हो सकता है।

वासनालिङ्गसम्बद्धो जीवः संसृतिहेतुकः ।
वासनालिङ्गनिर्लिप्तो योगी जाग्रदवस्थकः ॥

योगका महत्त्व

(प्रो० डॉ० श्रीसीतारामजी झा 'श्याम' एम्० ए०, पी-एच्०डी०, डी० लिट्०)

योग जीवनको सार्थक बनानेवाले साधनोंमें उत्तम साधन है। इसका महत्त्व तो इसीसे जाना जा सकता है कि यह मनुष्यको सभी प्रकारके आवरणों और विक्षेपोंसे सदाके लिये मुक्त करता हुआ ऐसा विशुद्ध अन्तःकरणवाला बना देता है कि परमात्मासे उसका अभिन्न सम्बन्ध अपने-आप स्थापित हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता (५।७) में भगवान् श्रीकृष्णका कथन है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

अर्थात् 'योगसे युक्त, विशुद्ध अन्तःकरणवाला विजितात्मा—शरीरजयी, जितेन्द्रिय और सब भूतोंमें अपने आत्माको देखनेवाला यथार्थ ज्ञानी हो जाता है। इस प्रकार स्थित हुआ पुरुष लोकसंग्रहके लिये कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता अर्थात् कर्मोंसे नहीं बँधता।'

वस्तुतः योग तनको सुगठित, मनको नियन्त्रित और आत्माको उद्भासित करता है। यह सभी अभ्युत्थानोंका सबसे मुख्य आधार एवं सारस्वत उपलब्धिका अक्षुण्ण स्रोत है। इसके नियमित अभ्याससे मनुष्यके सारे संशय दूर हो जाते हैं। फिर तो वह जीवनके चरम लक्ष्यको ही प्राप्त कर लेता है—अपनी ऊँचाईके चरम बिन्दुपर पहुँचकर योग आत्मा और परमात्माके मिलनका अप्रतिम माध्यम बन जाता है।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥

(कठोपनिषद् २।३।१५)

योगाभ्याससे जब साधकके हृदयकी अहंता-ममतारूप समस्त ग्रन्थियाँ भलीभाँति कट जाती हैं, उसके सब प्रकारके संशय सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और उसे यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि 'परमेश्वर अवश्य हैं और वे निश्चय ही मिलते हैं', तब वह इस शरीरमें रहते हुए ही परमात्माका साक्षात्कार करके अमर हो जाता है। वह स्वरूपावस्थाको प्राप्त कर लेता है।

तत्त्वदर्शी महर्षियोंने परमात्माकी प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय 'ध्यान' अर्थात् 'योग' ही बताया है—

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥

(श्वेता० उप० १।१४)

योगके महत्त्वपर प्रकाश डालते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीको यही समझाया था कि—प्रिय उद्धव! मैंने ही वेदोंमें एवं अन्यत्र भी मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये अधिकारिभेदसे तीन प्रकारके योगों—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगका उपदेश किया है। मनुष्यके परम कल्याणके लिये इनके अतिरिक्त और कोई उपाय कहीं नहीं है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।६)

यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है कि मन ही बन्धन और मोक्षका मूल कारण है—'**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।**' ऐसी स्थितिमें आवश्यकता है मनको अनुरूपता प्रदान करनेकी, जिससे भटकावकी स्थिति उत्पन्न ही न हो। तात्पर्य यह कि योग-साधनाद्वारा मनको निरन्तर ईश्वरोन्मुख करनेका ही प्रयत्न वाञ्छनीय है।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या।

(शुक्लयजुर्वेदसंहिता ११।२)

योगका यह वैशिष्ट्य है कि उसकी साधनाकी ज्योतिमें आत्मतत्त्वद्वारा परब्रह्म परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है, फिर तो उसके सामने किसी प्रकारके बन्धनके रहनेका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। जिस प्रकार कोई तेजोमय रत्न मिट्टीसे लिप्त रहनेके कारण छिपा रहता है, अपने असली रूपमें प्रकट नहीं होता, परंतु वही जब मिट्टी आदिको हटाकर धो-पोंछकर साफ कर लिया जाता है, तब अपने असली रूपमें चमकने लगता है, उसी प्रकार इस जीवात्माका वास्तविक स्वरूप अत्यन्त जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके संस्कारोंसे मलिन हो जानेके कारण प्रत्यक्ष प्रकट नहीं होता, परंतु जब मनुष्य ध्यानयोगके साधनद्वारा समस्त मलोंको धोकर आत्माके यथार्थ स्वरूपको भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेता है, तब वह असङ्ग हो जाता है। अर्थात् उसका जो जड पदार्थोंके साथ संयोग हो रहा था, उसका नाश होकर वह कैवल्य-अवस्थाको प्राप्त हो जाता है तथा उसके सब प्रकारके दुःखोंका अन्त होकर वह सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है। उसका मनुष्य-जन्म सार्थक हो जाता है। उस स्थितिमें वह योगी दीपकके सदृश निर्मल प्रकाशमय आत्मतत्त्वके द्वारा ब्रह्मतत्त्वको भलीभाँति देख लेता है। तब उन जन्मादि समस्त विकारोंसे रहित, अचल और निश्चित तथा समस्त तत्त्वोंसे असङ्ग—सर्वथा विशुद्ध परमदेव परमात्माको तत्त्वसे जानकर सब प्रकारके बन्धनोंसे सदाके लिये छूट जाता है—

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् २।१५)

निस्संदेह योगयुक्त होते ही इन्द्रियाँ सही रूपमें विकसित होने लगती हैं—इन्द्रियोंको जड़तासे ऊपर उठानेवाला अनुपम तत्त्व योग ही है। भारतीय चिकित्साशास्त्रमें भी यही सिद्धान्त निरूपित है—

सेन्द्रियचेतनद्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्।

(आचार्य चरक)

तत्त्वतः योगाभ्याससे एक साथ अनेक लाभ होते हैं। यथा—आलस्य-त्याग आत्मबल-विस्तार, भय-संशय-निवारण, उत्साहवृद्धि, स्वास्थ्यलाभ, बौद्धिक विकास, आध्यात्मिक उन्नयन आदि। योग एक व्यवहार-परक विद्या है। इसलिये साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी इसके अभ्याससे असाधारण लाभ उठा सकता है।

अनेक योगासन ऐसे हैं, जिन्हें अति सरलतासे अपनाकर शारीरिक एवं मानसिक शक्तियोंका विकास किया जा सकता है। केवल प्राणायाम करनेसे शरीरमें अतीव स्फूर्ति आ जाती है और मन भी हल्का तथा प्रसन्न रहता है। इतना होनेसे ही

बहुमुखी विकासका द्वार खुलने लगता है, क्योंकि शरीर और मनके स्वस्थ रहनेपर मनुष्य असम्भव-से-असम्भव कार्योंको भी सम्पन्न कर लेता है।

इसी प्रकार अनेक बन्ध, मुद्राएँ तथा नेति-वस्ति आदि षट्कर्मोंकी प्रक्रियाएँ भी योग-साधनामें पर्याप्त सहायक होती हैं। इनके सम्यक् अभ्यासके लिये किसी सुयोग्य अनुभवी गुरुका आश्रयण लेना चाहिये।

संसारको भयङ्कर रोगोंसे मुक्त करना अथवा उनसे बचे रहनेका मार्ग-दर्शन करना योगविद्याकी महान् देन है। आज भी अनेक चिकित्सा-केन्द्रोंमें विभिन्न प्राणायामादि योगाभ्यासों-द्वारा विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक रोगोंकी चिकित्सा की जाती है।

योगके सम्यक् अभ्याससे तो रोग और जरा-जन्य क्लेशका परिहार होता ही है, साधकको इच्छामृत्युकी शक्ति भी प्राप्त हो जाती है—

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।

(श्वेता० २। १२)

अर्थात्'योगाग्निमय शरीरको प्राप्त कर लेनेवाले उस योगीके शरीरमें न तो रोग होता है, न बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु ही होती है।'

यह योगका ही प्रभाव है कि मनुष्यका शरीर कालके निकषपर खरा उतरकर तप्त कञ्चनकी भाँति दमकता रहता है और प्राणवायुपर अधिकार कर लेनेसे उसका मन भी सदाके लिये परिशुद्ध हो जाता है—

मनोऽचिरात् स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम्॥

(श्रीमद्भा० ३। २८। १०)

इस प्रकार मनुष्यके सर्वाङ्गीण विकासमें योगकी भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। यह योग-तत्त्व चरित्र-निर्माण, चिकित्सा-विधान, सामाजिक उत्थान, राष्ट्रोन्नयन एवं विश्व-कल्याणकी भावनाको विकसित करनेसे लेकर परमात्म-साक्षात्कार तकका अप्रतिम साधन है।

योगसाधनामें प्रणवोपासना

(श्रीगंगारामजी शास्त्री)

अष्टाङ्गयोगमें बताये हुए यम-नियमोंका पालन करते हुए आसनकी दृढ़ता प्राप्त हो जानेपर प्राणायामका अभ्यास किया जाता है। प्राणायामके दो प्रकार बताये गये हैं—अगर्भ प्राणायाम और सगर्भ प्राणायाम । केवल श्वास-प्रश्वासकी साधनाका अभ्यास अगर्भ प्राणायाम कहा जाता है। जहाँ श्वासोच्छ्वास-क्रियाके साथ पूरक, रेचक और कुम्भक करते समय मात्राकी गणना किसी मन्त्र-विशेषके साथ की जाती है, उसे सगर्भ प्राणायाम कहा जाता है। गुरूपदिष्ट मार्गके अनुसार इसके लिये सामान्यतया किसी बीजमन्त्रका ही उच्चारण किया जाता है। साधक अपने-अपने इष्टदेवके बीज-मन्त्रका इस प्रकार उच्चारण करते हैं कि उसकी ध्वनि श्वास-प्रश्वासके साथ इस प्रकार एकाकार हो जाती है कि पास बैठे हुए व्यक्तिको भी यह पता नहीं चलता कि इस प्राणायाम-क्रियाके साथ किसी मन्त्रका जप भी चल रहा है। जहाँ किसी विशेष प्रणालीका अनुसरण आवश्यक न हो वहाँ प्रायः सभी साधक जप-ध्यानसहित सगर्भ प्राणायाममें ओंकारका ही जप करते हैं, क्योंकि नादसे प्रथम व्यक्त ध्वनिके रूपमें ओंकारका ही प्राकट्य हुआ। इसीलिये इसे '**श्रुतिगिरामाद्यम्**', '**श्रुतिमौलि-मृग्यम्**' और '**जगत्कारणम्**' कहा गया है। योगसाधना करनेवालेके लिये कहा गया है—

परानन्दमयं नित्यं चैतन्यैकगुणात्मकम्।
आत्माभेदस्थितं योगी प्रणवं भावयेत् सदा॥

(शारदातिलक २५। ५४)

इसका भाव यह है कि योगी परानन्दमय अपनी आत्मासे अभिन्न समझता हुआ ही उस प्रणवका ध्यान करे।

यहाँ प्रणवको आत्माके साथ अभेदरूपसे स्थित कहा गया है। जहाँ गति होती है, वहाँ शब्दकी किसी-न-किसी प्रकारकी व्यक्त अथवा अव्यक्त ध्वनि अवश्य रहती है। हम जो श्वासोच्छ्वास लेते हैं, उसमें भी गति रहती है। इस क्रियासे जो अस्पष्ट ध्वनि निकलती है, उसे नाद कहा जाता है।

विज्ञानके अनुसार हृदयके द्वारा फेफड़ोंमें रक्तके आवागमनकी क्रियासे जो ध्वनि स्टेथस्कोपके द्वारा सुनी जाती है, उससे यह नाद भिन्न है। इसके सुननेकी क्रिया भी विशेष योगाभ्याससे ही प्राप्त होती है। इस श्वासोच्छ्वास-क्रियामें जो ध्वनि निकलती है, वह 'ह'-'स' ध्वनियोंसे साम्य रखती है। नासिका-मार्गसे जब इन ध्वनियोंका निकलना सतत चलता रहता है तो इसीको अजपा-जप कहा जाता है। हृदयसे उत्थित होनेवाले उस नादको भी अनाहतनाद कहते हैं। इस प्रकार अनाहतनादके साथ 'ह' कार और 'स' कारकी ध्वनि निरन्तर चलती रहती है। 'ह' के साथ अनुनासिक ध्वनि तथा 'स' कारके मिलनेसे '**हंसः**' मन्त्र बनता है।—

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।
हंस हंसेति मन्त्रोऽयं जीवो जपति सर्वदा॥

(योगशिख०)

'ह' के साथ अनुस्वार और 'स' के साथ विसर्ग मिलकर यह '**हंसः**' मन्त्र बनता है। योगकी विशेष क्रियाके द्वारा इसमें पूर्वापर-विपर्यय होकर '**सः**'+'**अहम्**' इस प्रकार '**सोऽहम्**' बनता है। बिन्दुको पुरुष और विसर्गको प्रकृति माना जाता है। इसलिये '**हं**' को पुरुष और '**सः**' को प्रकृति कहा गया है। '**हंसः**' से '**सोऽहम्**' की इस क्रियाके सम्बन्धमें शारदातिलकमें बताया गया है—

पुरुषं स्वाश्रयं मत्वा प्रकृतिर्नित्यमास्थिता॥
यदा तद्भावमाप्नोति तदा सोऽहमयं भवेत्।

(२५।५२-५३)

प्रकृति सदा पुरुषको आश्रय करके रहती है, इसलिये प्रकृति जब अपने आश्रयसे तद्भावपूर्ण हो जाती है तो यही '**हंसः**' मन्त्र '**सोऽहम्**' बन जाता है। इस '**सोऽहम्**' में व्यञ्जन 'ह' कार और सकारका लोप होकर केवल '**ओम्**' रह जाता है, जो ओंकार, प्रणव, उद्गीथ, तार आदि नामोंसे प्रसिद्ध है। इस प्रकार ओंकार और आत्माकी एकरूपता सिद्ध होती है। '**अव रक्षणे**' धातुसे ओम्‌की सिद्धि मानें तो प्राणन-क्रियाके द्वारा यह शरीरसे आत्माका रक्षक है। '**प्राणान् अवति प्रकाशेन नवीकरोति इति प्रणवः**'—इस प्रकार भी प्राणन-क्रियाके आश्रयसे जो इसे सतत नवीन करता रहता है वही प्रणव है।

समस्त और व्यस्तके क्रमसे ओंकारका उच्चारण दो प्रकारसे होता है। ओंकारमें तीन वर्ण हैं—अकार, उकार और मकार। इन तीनोंको मिलाकर ओम् बनता है। यह इसका समस्त रूप है। इसके उच्चारणके भी तीन प्रकार हैं—'**ओमोमोम्**'इस प्रकार निरन्तर उच्चारणको ह्रस्व कहा गया है। **ओम् ओम् ओम्** इस प्रकार स्फुट उच्चारणको दीर्घ कहा जाता है। **ओ३म् ओ३म् ओ३म्** इस प्रकार ओका जहाँ प्लुत उच्चाण होता है उसे प्लुत कहा जाता है। ओंकारके उच्चारणका फल इस प्रकार बताया गया है—

यदि ह्रस्वा भवति सर्वं पाप्मानं दहत्यमृतत्वं च गच्छति।
यदि दीर्घा भवति महतीं श्रियमाप्नोत्यमृतत्वं च गच्छति।
यदि प्लुता भवति ज्ञानवान् भवत्यमृतत्वं च गच्छति।

(नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् ३)

'ओंकारका जो ह्रस्व उच्चारण करता है, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, और वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। ओंकारके दीर्घ उच्चारणसे जप करनेपर अत्यन्त लक्ष्मीवान्—धन-धान्य-वैभव-सम्पन्न हो जाता है और अमृतत्वको प्राप्त करता है। प्लुत उच्चारण करनेसे ज्ञानी होता है और अमृतत्व प्राप्त करता है।' योगसाधना करनेवालेको जब ओंकारका समस्त क्रमसे उच्चारण करनेका अच्छा अभ्यास हो जाता है तो आगे उसे व्यस्तक्रमसे उच्चारण करनेकी विधि बतायी जाती है। अकार, उकार, मकार और तुरीया मात्रा इस प्रकार व्यस्तक्रमसे इसमें तीन मात्रा और चतुर्थ अनुस्वारको आधी मात्रा मानकर सार्धत्रय मात्रात्मक कहा जाता है।

ध्यानबिन्दूपनिषद्‌में ओंकारके उच्चारणका फल इस प्रकार बताया गया है—

ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घः सम्पत्प्रदोऽव्ययः।
अर्धमात्रासमायुक्तः प्रणवो मोक्षदायकः॥

'ह्रस्व उच्चारणसे पापका नाश होता है, दीर्घ उच्चारण करनेसे यह अक्षय सम्पत्तिको प्रदान करता है तथा अर्धमात्रासहित उच्चारण करनेसे मोक्ष प्राप्त होता है।'

ओंकारके व्यस्त उच्चारणमें अकारकी ध्वनि मूलाधारसे उत्थित होकर मणिपूरमें नाभिपर्यन्त व्याप्त होकर रुद्रग्रन्थिका भेदन करती है। नाभिसे ऊपर हृदयसे विशुद्धि-चक्रतक उकारकी ध्वनि व्याप्त होकर विष्णु-ग्रन्थिका भेदन होता है।

मकारकी ध्वनि कण्ठदेशसे आज्ञाचक्रतक व्याप्त होकर ब्रह्मग्रन्थिका भेदन होता है। इसके पश्चात् जिसे तुरीया मात्रा अथवा अर्धमात्रा कहा गया है, उसकी सूक्ष्म ध्वनियोंसे आत्मसाक्षात्कारकी अवस्था आती है। योगतत्त्वोपनिषद् (१३८-१३९) में कहा गया है—

अकारे रेचितं पद्ममुकारेणैव भिद्यते।
मकारे लभते नादमर्धमात्रा तु निश्चला॥

'अकारसे स्फुट होनेवाले हृत्पद्मका उकारसे भेदन होता है। मकारसे नादसिद्धि प्राप्त होती है और अर्धमात्रासे निश्चलावस्था प्राप्त होती है।' प्रणवकी इस अर्धमात्राके सम्बन्धमें कहा गया है—

शिखा तु दीपसंकाशा तस्मिन्नुपरि वर्तते।
अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता॥

(ब्रह्मविद्योपनिषद् ९)

'जिस प्रकार दीपककी ज्वाला होती है, उसी प्रकार अर्धमात्रा प्रणवके ऊपर स्थित है। इसका उच्चारण तार स्वरके रूपमें किया जाता है, इसीलिये इसे तार भी कहा जाता है।' इसके उच्चारणके सम्बन्धमें संकेत किया गया है—

कांस्यघण्टानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये।
ओंकारस्तु तथा योज्यः शान्तये सर्वमिच्छता॥

(ब्रह्मविद्यो॰ १२)

'जिस प्रकार काँसेके घंटाकी ध्वनि धीरे-धीरे कम होकर विलीन हो जाती है, उसी प्रकार सभी प्रकारकी कामनापूर्तिके लिये ओंकारका प्रयोग करना चाहिये।' इसी प्रकार ध्यानबिन्दूपनिषद् (१८) में भी कहा गया है—

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्।
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित्॥

'तेलकी अविच्छिन्न न टूटनेवाली धाराके समान अथवा काँसेकी घण्टाकी निरन्तर ध्वनिके समान प्रणवका अग्र—तुरीय मात्रा अवाच्य कही जाती है।' उसकी केवल आज्ञाचक्रसे ऊपर जाकर ध्वनि ही व्याप्त होती है। इसके सम्बन्धमें शिवमहिम्नःस्तोत्रमें बताया गया है—

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा-
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम्॥

इसकी मधुसूदनी टीकामें बताया गया है कि ओंकार शिवका ही स्वरूप है। जिस प्रकार शिव सर्वात्मक हैं, उसी प्रकार ओंकार समस्त पद है, जिस प्रकार शिव भिन्नतया प्रतीयमान आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रूपमें व्याप्त हैं, तीनों वेद; तीनों वृत्तियाँ—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति; तीनों विश्व—विश्व, तेजस्, प्राज्ञ; तीनों लोक— भूः, भुवः, स्वः; तीनों देवता—ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर सभी शिवके व्यस्त रूप हैं। उसी प्रकार ओंकारके अकारसे जाग्रदवस्था, ऋग्वेद, भूलोक और ब्रह्माका बोध होता है। उकारसे यजुर्वेद, स्वप्नावस्था, भुवर्लोक और विष्णुका बोध होता है। मकारसे सामवेद, सुषुप्तावस्था, स्वर्लोक और महेश्वरका बोध होता है। इस प्रकार अकार, उकार, मकारयुक्त ओंकारके उच्चारणसे आपकी ही स्तुति होती है। इन तीनों अवस्थाओंसे परे सम्पूर्ण विकारसे रहित आपका जो तेजोमय रूप है, उसका बोधक ओंकारकी तुरीया मात्रा है। इस प्रकार तीन मात्रासे स्थूल, सूक्ष्म और कारणभूत प्रपञ्चका समावेश हो जाता है। इन सबसे विलक्षण जो चैतन्यात्मा निर्विकार है, उसका बोध करानेवाली प्रणवकी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होनेवाली ध्वनियाँ हैं, जिन्हें अर्धमात्रा कहा जाता है। अर्धमात्रा कहनेसे उपाधिरहित चैतन्यमात्रका बोध होता है। ओम्‌के उच्चारणमें जहाँ तार-स्वरसे कांस्यघण्टानिनादके समान ध्वनिको दीर्घसे दीर्घतर किया जाता है, उसीको अणु-ध्वनियाँ कहा गया है। इन ध्वनियोंको कहीं नाद, बिन्दु, कला और कलातीत नाम दिये गये हैं तो कहीं इसे अ,उ,म, नाद, बिन्दु, कला, कलातीत और तत्पर इस प्रकार आठ भेद किये गये हैं। अमृतनादोपनिषद् (४) में इसके उच्चारणके विषयमें इस प्रकार संकेत किया गया है—

मात्रालिंगपदं त्यक्त्वा शब्दव्यञ्जनवर्जितम्।
अस्वरेण मकारेण पदं सूक्ष्मं हि गच्छति॥

'जिसका कोई वाचक नहीं ऐसी मात्रा, लिंग, पद, शब्द और व्यञ्जनसे रहित स्वररहित मकार ही अर्धमात्रा है, जिसके अणु, अणुतर और अणुतम ध्वनियोंसे अवरुद्ध होकर उस नादबिन्दुकलातीत चैतन्यका आभास होता है।'

योगीको चाहिये कि वह आत्मामें अभेद-रूपसे प्रतिष्ठित

परानन्दरूप नित्य और एकमात्र चैतन्यगुणात्मक प्रणवकी भावना करे। वृत्तिको अन्तर्मुखी करना ही भावना कहा जाता है। इसके लिये कठोपनिषद (२। १। १)में कहा गया है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयं भू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

'परमात्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुखी बनाया है, इसलिये हमारी वृत्ति बाहरी वस्तुओंकी ओर ही रहती है, अन्तरात्माकी ओर नहीं। कोई अमृतत्वकी इच्छावाला विद्वान् ज्ञानी या धीर पुरुष ही अपनी सभी इन्द्रियोंको अन्तर्मुख कर उस परमात्माका दर्शन करनेमें समर्थ होता है। आवृत्तचक्षु साधक योगकी विशेष क्रियासे सम्पन्न होकर ही अन्तर्मुखी वृत्ति करके अन्तरात्माके दर्शन कर पाता है।

योगी आत्मनिष्ठ होकर ही उस प्रणव-स्वरूप आनन्दरसके एकमात्र समुद्र आत्माको जान सकता है, जो स्वगुणसंवेद्य है, वाणीसे परे है, '**नामात्रे विद्यते गतिः**' और '**वचसामगम्यम्**', '**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**' इन वेदवाक्योंके अनुसार जो वेदवाणीसे भी अगम्य है। इसलिये कहा गया है—

आम्नायवाचामतिदूरमाद्यं वेद्यं स्वसंवेद्यगुणेन सन्तः।
आत्मानमानन्दरसैकसिन्धुं पश्यन्ति तारात्मकमात्मनिष्ठाः।

(शा० ति० २५। ५५)

तार-ध्वनिके सात भेद बताये गये हैं, जिनके नाम— अ, उ, म, नाद, बिन्दु, शक्ति और शान्ता कला हैं।

शाक्त सिद्धान्तके अनुसार बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिका, नाद आदि ये सूक्ष्म-ध्वनियाँ नवधा मानी गयी हैं।

आज्ञाचक्रसे ऊपर बिन्दु सूक्ष्मतर होकर अर्धचन्द्रमें बदल जाता है। इसके उच्चारणका मात्राकाल एक चौथाई माना गया है। उसके पश्चात् मात्राका अष्टम भाग रोधिनीका माना गया है। सामान्य साधक अभ्यास करके यहींतक बढ़ पाते हैं। जिन्हें केवलीकुम्भक और बन्धत्रयका अच्छा अभ्यास हो वे ही इस साधकोंके मार्गकी रोधिकाको पार कर आगे बढ़ पाते हैं। उसके लिये गीतामें वर्णित '**नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्**' की स्थितिमें आना होता है। इसे पार कर लेनेपर ही योगी पातञ्जल-योगमें वर्णित पञ्चभूतजयका अधिकारी हो सकता है, पर यह अवस्था पूर्वजन्मके संस्कार, निरन्तर साधना और गुरुकी कृपासे ही प्राप्त होती है।

गुरु-तत्त्व-साधना

(पं० श्रीरामनारायणजी झा, ज्योतिषाचार्य, ज्योतिष-तीर्थ, साहित्यकेसरी, साहित्यशास्त्री)

इस असार संसारमें मानवशरीर धारण करनेवालोंको दुरवगाह भवसिन्धुसे पार उतरनेके लिये एक श्रीमद्गुरुपदाम्बुज-नौकाको छोड़ दूसरा उपाय नहीं है, यही सब विद्वानोंका सिद्धान्त है। परंतु श्रीमद्गुरुदेवका अर्चनादि नहीं जाननेसे गुरु-तत्त्वका पूरा पता लगना असम्भव दीख पड़ता है। श्रीमद्गुरुदेवका नाम प्रायः सब जानते ही हैं, परंतु बहुत-से लोग अर्चनादि नहीं जानते। उन लोगोंके उपकारार्थ इस विषयपर हम तन्त्रानुसार कुछ संग्रहकर यथामति पाठकोंके सामने उपस्थित करना आवश्यक समझते हैं। साधक ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर रातका वस्त्र छोड़, शुद्ध वस्त्र पहनकर और सब तरहसे शुद्ध होकर तथा स्वस्तिकासन करके शिरःस्थ सहस्रदलकमलकर्णिकामें परम शिवरूप गुरुदेवका ध्यान करें। यथा—मूलाधारमें चतुर्दलकमलकी कर्णिकापर स्थित जो स्वयम्भूलिङ्ग है, उसमें सार्धत्रिवलयाकार असंख्य विद्युत्कान्तिवाली, बिसतन्तुसदृश सूक्ष्मा, इडा, पिङ्गला नाडीके मध्य स्थित जो सुषुम्ना नाडी है उसके मध्यमें मुख की हुई कुण्डलिनी है। उसको '**हंसः**' मन्त्रसे जगाकर फिर '**हंसः**' मन्त्रका जप करें। इस विषयमें अनन्तफल तन्त्रमें लिखा है—

हंसात्मिकां भगवतीं जीवो जपति सर्वदा।
हङ्कारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः॥
अस्याः सम्बोधमात्रेण जीवन्मुक्तो भवेन्नरः।

फिर उस स्थानसे उठाकर स्वाधिष्ठानचक्र तथा मणिपूरकचक्रको सुषुम्ना नाडीद्वारा भेदनकर और अनाहतचक्रमें जीवात्माके साथ संयोगकर, फिर सुषुम्ना नाडीद्वारा विशुद्धचक्र और आज्ञाचक्रको भेदनकर शिरःस्थ

सहस्रदलकमलकर्णिकामें परमशिवरूप गुरुदेवसे संयोग कराकर उन जीवात्मा, परमशिव और कुण्डिलनी—इन तीनोंको एक समझकर चन्द्रमण्डलसे स्रवित सुधारसपानसे आनन्दोन्मत्त सदाशिवरूपी श्रीमद्गुरुदेवका ध्यान करना चाहिये। यथा—

स्वमूर्द्धनि सहस्रारपङ्कजासीनमव्ययम्।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं शरच्चन्द्रनिभाननम्॥
प्रफुल्लेन्दीवराकारनेत्रद्वयविराजितम्।
शुक्लाम्बरधरं शुक्लगन्धमाल्यानुलेपनम्॥
विभूषितं श्वेतमाल्यैर्वराभयकरद्वयम्।
वामाङ्गगतया शक्त्या सहितं स्वप्रकाशया॥
सुरक्तोत्पलधारिण्या ज्ञानैर्मुदितमानसम्।
शिवेनैक्यं समुन्नीय ध्यायेत् परगुरुं धिया॥

अपने मस्तकके बीच सहस्रदलकमलमें बैठे हुए अविनाशी, स्वच्छ स्फटिक मणिके सदृश कान्तिवाले, शरत्कालीन चन्द्रमाके समान मुखवाले, विकसित कमलके समान विशाल नेत्रवाले, श्वेत वस्त्र धारण करनेवाले, श्वेत गन्ध तथा श्वेत पुष्पकी मालाको धारण करनेवाले, श्वेत चन्दन धारण करनेवाले, दोनों हाथोंमें वराभयमुद्रा धारण करनेवाले तथा वामाङ्गमें लाल कमल धारण किये हुए अपने तेजसे प्रकाशित स्वशक्तिसे युक्त होकर ज्ञानसे प्रसन्न चित्तवाले अपने परम गुरुदेवको सदाशिवके साथ ऐक्य समझकर ध्यान करना चाहिये।

स्त्रीगुरुपक्षमें—

सहस्रारे महापद्मे किञ्जल्कगणशोभिते।
प्रफुल्लपद्मपत्राक्षीं घनपीनपयोधराम्॥
प्रसन्नवदनां क्षीणमध्यां ध्यायेच्छिवां गुरुम्।
पद्मरागसमाभासां रक्तवस्त्रसुशोभिताम्॥
रक्तकङ्कणपाणिं च रक्तनूपुरशोभिताम्।
स्थलपद्मप्रतीकाशपादद्वन्द्वसुशोभिताम्॥
शरदिन्दुप्रतीकाशरत्नोद्भासितकुण्डलाम्।
स्वनाथवामभागस्थां वराभयकराम्बुजाम्॥

अपने सिरके बीच जो किञ्जल्कसे शोभित सहस्रपत्रवाला महाकमल है उसमें विकसित कमलपत्रके समान सुन्दर आँखवाली, निविड़ मांसल स्तनवाली, प्रसन्न मुखवाली, कृश कटिवाली, पद्मरागमणिके समान सुन्दर कान्तिवाली, रक्तवस्त्र धारण करनेवाली, रक्तवर्ण दोनों हाथोंमें पद्मरागमणिखचित कङ्कणको धारण करनेवाली, रक्तवर्ण दोनों चरणोंमें रक्तनूपुरको धारण करनेवाली, स्थलकमलके समान चरणवाली, शरत्कालीन चन्द्रमाके समान मणिके प्रकाशसे प्रकाशयुक्त कुण्डलवाली, हाथोंमें वराभयमुद्रा धारण करनेवाली, अपने स्वामीके वामाङ्गमें विलसित होनेवाली जो महाशक्तिरूपा गुरु है उसको शिरःस्थ सहस्रदलकमलकर्णिकामें ध्यानकर अधोलिखितानुसार उसकी मानसिक मुद्रात्मिका पूजा करनी चाहिये।

लं पृथ्वीतत्त्वात्मकं गन्धं गुरवे समर्पयामि नमः।

दोनों हाथोंके कनिष्ठ और अङ्गुष्ठकी संयोगात्मक मुद्रासे गन्ध अर्पण करना चाहिये।

हुं आकाशतत्त्वात्मकं पुष्पं गुरवे समर्पयामि नमः।

दोनों हाथोंके अङ्गुष्ठ और तर्जनीकी संयोगात्मक मुद्रासे पुष्प अर्पण करना चाहिये।

यं वायुतत्त्वात्मकं धूपं गुरवे समर्पयामि नमः।

दोनों हाथोंके ऊर्ध्वमुख तर्जनी और अङ्गुष्ठकी संयोगात्मक मुद्रासे धूप अर्पण करना चाहिये।

रं वह्नितत्त्वात्मकं दीपं गुरवे समर्पयामि नमः।

दोनों हाथोंके मध्यमा और अङ्गुष्ठकी संयोगात्मक-मुद्रासे दीप अर्पण करना चाहिये।

वं अमृततत्त्वात्मकं नैवेद्यं गुरुवे समर्पयामि नमः।

दोनों हाथोंके अनामिका और अङ्गुष्ठकी संयोगात्मक मुद्रासे नैवेद्य अर्पण करना चाहिये। उसके बाद प्राणायामत्रय अधोलिखितानुसार करना चाहिये—

प्रथम प्राणायाम

'ओं' इस मन्त्रसे वा 'ऐं' इस मन्त्रसे ही प्राणायामत्रय सम्पन्न होता है। दाहिने हाथके अङ्गुष्ठसे दक्षिण नासापुटको दबाकर वाम नासापुटसे चार वा सोलह बार मन्त्र जपता हुआ श्वास खींचकर नाभिमें गुरुदेवका ध्यान करता हुआ पूरक नामक प्राणायाम करे। फिर दक्षिण अनामिकासे वाम नासा-पुटको दबाकर सोलह वा चौंसठ बार मन्त्र जपकर तथा वायुको स्तम्भितकर हृदयमें गुरुदेवका ध्यान करते हुए कुम्भक नामक प्राणायाम करे। फिर दक्षिण नासापुटसे दक्षिणाङ्गुष्ठ

हटाकर आठ वा बत्तीस बार मन्त्र जपता हुआ तथा मस्तकमें गुरुदेवका ध्यान करता हुआ श्वास निकालकर रेचक नामक प्राणायाम करे।

द्वितीय प्रकार

पूर्वोक्त प्राणायामका उलटा ही द्वितीय प्राणायाम होता है। दक्षिणानामिकासे वाम नासापुटको दबाकर दक्षिण नासापुटसे चार वा सोलह बार मन्त्र जपता हुआ नाभिमें गुरुदेवका ध्यान करते हुए श्वास खींचकर पूरक नामक प्राणायाम करे। फिर दक्षिणाङ्गुष्ठसे दक्षिण नासापुटको दबाकर सोलह वा चौंसठ बार मन्त्र जप करते हुए वायुको स्तम्भितकर हृदयमें गुरुदेवका ध्यान करते हुए कुम्भक नामक प्राणायाम करे। फिर वाम नासापुटसे दक्षिण अनामिकाको हटाकर आठ वा बत्तीस बार मन्त्र जपते हुए तथा मस्तकमें गुरुदेवका ध्यान करते हुए श्वास निकाल रेचक नामक प्राणायाम करे। प्रथम प्रकार ही तृतीय प्रकारका प्राणायाम होता है। प्रतिपादित प्राणायामत्रय करके फिर मालाका यथाविधि संस्कार कर—

क्लीं माले माले महामाले सर्वसिद्धिस्वरूपिणि।
चतुर्वर्गस्त्वयि न्यस्तस्तस्मान्मे सिद्धिदा भव ओं कामेश्वर्यै नमः॥

—इस मन्त्रसे अक्षतादि लेकर पूजा करके 'ऐं' इस गुरु-मन्त्रका अष्टोत्तरशत वा अष्टाधिकसहस्र जपकर—

ओं त्वं माले सर्वदेवानां पूजिता शुभदा मता।
शुभं कुरुष्व मे भद्रे यशो वीर्यं च धेहि मे॥

—इस मन्त्रसे मालाको प्रणामकर मस्तकपर रखे। इसके बाद पुरुष गुरुदेवके पक्षमें—

ओं गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम्।
सिद्धिर्भवतु मे देव त्वत्प्रसादान्महेश्वर॥

अष्टोत्तरशतं वा अष्टाधिकसहस्रसंख्यकं तेजोरूप 'ऐं' इति गुरुमन्त्रजपमहं गुरवे समर्पयामि नमः।

—इससे गुरुदेवके दाहिने हाथमें समर्पण करे।

स्त्रीगुरुपक्षमें—

ओं गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम्।
सिद्धिर्भवतु मे देवि त्वत्प्रसादान्महेश्वरि॥

अष्टोत्तरशतं वा अष्टाधिकसहस्रसंख्यकं तेजोरूप 'ऐं' इति गुरुमन्त्रजपमहं गुरवे समर्पयामि नमः।

—इससे गुरुदेवके वाम हस्तमें अर्पण करे। उसके बाद—

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

—इन तीनों मन्त्रोंसे—

स्त्रीगुरुपक्षमें—

नमस्ते देवदेवेशि नमस्ते हरपूजिते।
ब्रह्मविद्यास्वरूपायै तस्यै नित्यं नमो नमः॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
उन्मीलितं यया चक्षुस्तस्यै नित्यं नमो नमः॥

—इन दोनों मन्त्रोंसे शिरःस्थ सहस्रदल-कमलकर्णिकागत परम गुरुदेवको प्रणामकर तथा उनसे आज्ञा लेकर सांसारिक कार्यमें लगना चाहिये।

शुद्धस्वरूप

मन तुम लागहु सुद्ध सरूपे॥ टेक॥
तन मन धन न्यौछावरि बारो बेगि तजो भव कूपे॥
सतगुरु कृपा तहाँ लै लावो जहाँ छाँह नहिं धूपे।
पइया करम ध्यान सों फटको जोग जुगति करि सूपे॥
निर्मल भयो ज्ञान उँजियारो गूँग भयो लखि चूपे।
भीखा दिब्य दृष्टि सों देखत सोहे बोलत मूँ पै॥

—भीखा साहब

गुरु-तत्त्व-विचार

संसारका कोई भी कार्य अनुभवी गुरु या जानकार पथप्रदर्शकके बिना सहज ही सफल नहीं होता। केवल पुस्तकें पढ़नेसे काम नहीं चलता, जो मनुष्य उस कामको करके सफल हो चुका हो, उसकी सलाह आवश्यक होती है और कठिन कार्य हो तो कुछ दिन उसके पास रहकर विनय और सेवासे उसे प्रसन्न रखते हुए उससे सीखना पड़ता है। जब लौकिक कार्योंका यह हाल है तब आध्यात्मिक साधनमें तो गुरुकी बड़ी ही आवश्यकता है। वहाँ तो पद-पदपर गिरनेका डर है। इसलिये प्रत्येक साधकको अनुभवी गुरुके शरण होकर अध्यात्मसाधना करनी चाहिये। भारतीय साधनामें गुरुपरम्परा और गुरुकुलोंका बहुत ऊँचा स्थान है, क्योंकि गुरुके बिना ज्ञान नहीं होता। गुरु ही आँखें खोलकर, हाथमें मसाल लेकर विघ्नोंसे बचाकर शिष्यको लक्ष्यस्थानतक सुखसे पहुँचाता है। गुरु और ईश्वरमें कोई भेद नहीं, प्रत्युत शिष्यके लिये तो गुरु ईश्वरसे भी बढ़कर है। यही गुरु-तत्त्व है।

परंतु आजकल सच्चे गुरु प्रायः नहीं मिलते। वास्तवमें गुरु सदा ही मुश्किलसे मिलते थे। फिर आजकल तो बहुतसे लोभी-लालची और कामी-कपटी लोग गुरु बन गये हैं, इसलिये गुरुवेश कलङ्कित-सा हो गया है। अतः बहुत ही सावधानीसे गुरु बनाना चाहिये। गुरुमें इतने गुण अवश्य होने चाहिये—

'स्वभाव शुद्ध हो, जितेन्द्रिय हो, धनका लालच जिसे हो ही नहीं, वेद-शास्त्रोंका ज्ञाता हो, सत्यतत्त्वको पा चुका हो, परोपकारी हो, दयालु हो, नित्य जप-तपादि साधनोंको स्वयं (चाहे लोक-संग्रहार्थ ही) करता हो, सत्यवादी हो, शान्तिप्रिय हो, योगविद्यामें निपुण हो, जिसमें शिष्यके पापनाश करनेकी शक्ति हो, जो भगवान्‌का भक्त हो, स्त्रियोंमें अनासक्त हो, क्षमावान् हो, धैर्यशाली हो, चतुर हो, अव्यसनी हो, प्रियभाषी हो, निष्कपट हो, निर्भय हो, पापोंसे बिलकुल परे हो, सदाचारी हो, सादगीसे रहता हो, धर्मप्रेमी हो, जीवमात्रका सुहृद् हो और शिष्यको पुत्रसे बढ़कर प्यार करता हो।'

जिनमें ये गुण न हों और निम्नलिखित अवगुण हों, उन्हें गुरु नहीं बनाना चाहिये—

'जो संस्कारहीन हो, वेद-शास्त्रोंको जानता-मानता न हो, कामिनी-काञ्चनमें आसक्त हो, लोभी हो, मान, यश और पूजा चाहता हो, वैदिक और स्मार्त कर्मोंको न करता हो, क्रोधी हो, शुष्क या कटुभाषण करता हो, असत्य बोलता हो, निर्दयी हो, पढ़ाकर पैसा लेता हो, कपटी हो, शिष्यके धनकी ओर दृष्टि रखता हो, मत्सर करता हो, नशेबाज, जुआरी या अन्य किसी प्रकारका व्यसनी हो, कृपण हो, दुष्टबुद्धि हो, बाहरी चमत्कार दिखलाकर लोगोंका चित्त हरता हो, नास्तिक हो, ईश्वर और गुरुकी निन्दा करता हो, अभिमानी हो, बुरी सङ्गतिमें रहता हो, भीरु हो, पातकी हो, देवता, अग्नि और गुरुमें श्रद्धा न रखता हो, संध्या-तर्पण, पूजा और मन्त्र आदिके ज्ञानसे रहित हो, आलसी हो, विलासी हो, धर्महीन हो, संन्यासी होकर त्यागी न हो और गृहस्थ होकर गृहिणीरहित हो, शक्तिहीन हो और वृषलीपति हो।'

स्त्रियोंको किसी भी अन्य पुरुषसे दीक्षित होनेकी या किसी परपुरुषको गुरु बनानेकी आवश्यकता नहीं है। सिद्धमन्त्र स्वामी अपनी पत्नीको दीक्षा दे सकता है। दीक्षा न दे तो भी पति उसका परम गुरु ही है। विधवा स्त्री केवल श्रीपरमात्माको ही गुरु समझकर उन्हींका सेवन करे।

जो धन और कामिनीका लोभी मालूम हो, ऐसे गुरुसे तो सदा दूर ही रहना चाहिये।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आजकल सद्गुरु हैं ही नहीं, उत्कट इच्छा और सच्ची चाह होनेपर संसारसागरसे तारनेवाले सद्गुरु अवश्य ही मिलते हैं। यदि किसी कारणवश गुरुरूपमें श्रद्धा नहीं टिकती हो तो सर्वान्तर्यामी परमात्मप्रभु परमेश्वरको (शिव, राम, कृष्ण, हनुमान् आदि स्वरूपोंमें) परम गुरु मानकर शास्त्रसम्मत साधना करनी चाहिये।

'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।'

कामना भोगसे कभी शान्त नहीं होती, घी डालनेपर अग्निके समान वह अधिकाधिक बढ़ती ही रहती है।—मनुस्मृति

ब्रह्मचारीजीकी दो बातें

(श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

स्व०श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी मेरे समवयस्क थे, वे वाराणसीमें संस्कृत पढ़ने आये थे। मेरे घर प्रायः नित्य ही आते थे। हम दोनोंमें गहरी छनती भी थी। मुझे उनके हाथका बनाया भोजन बहुत अच्छा लगता था, यद्यपि हम दोनोंके छात्र-जीवनके कारण ऐसा अवसर कम मिलता था कि साथ भोजन करें। उन दिनों वे 'ब्रह्मचारी' विशेषणका उपयोग करते थे और मुझसे धार्मिक विषयोंमें इतना आगे बढ़ जाते थे कि मेरे लिये वहाँतक उनके साथ चलना कठिन था और आगे चलकर तो वे इतना आगे बढ़ गये थे कि उनका साथ ही छूट गया था। पर उनकी एक बात याद रही—आदमीमें श्रद्धा हो या विश्वास न भी हो पर प्राचीन पवित्र स्थानोंके दर्शनसे अन्तश्चक्षु अवश्य खुलता है चाहे क्षणिक ही हो, ज्ञान हो जाता है।

इसी सिलसिलेमें हम पहले भारतके सबसे पुराने, अभीतक जीवित स्थान—काशीमें स्थित जंगमबाड़ी मठ गये थे। यह तो ताम्रपत्रसे ही सिद्ध है कि काशी-नरेश महाराजा श्रीजयेन्द्रदेवजीने शिवयोगी मल्लिकार्जुन जंगमको मठ बनानेके लिये भूमि दी थी, जिसपर मठ बना। वाड़ीका अर्थ बाग होता है। जंगमवाड़ीमें स्थापित शङ्करका एक लिङ्ग है। इस स्थानकी ऐतिहासिक महिमा है। यह सिद्ध स्थान तपस्याके योग्य है।

दूसरा स्थान है शतशिवा। बंगालीटोला मुहल्लेमें महाकालीकी एक जाग्रत् तथा सद्यः फल देनेवाली प्रतिमा प्रतिष्ठित है। कहा जाता है कि यह सौ शवोंपर स्थापित है। पर गङ्गाजीका तट वहाँ शायद हजारों वर्ष पहले रहा हो—गङ्गाजीने महाकाल—काशीनगरीका तट पर्याप्त दूरीपर छोड़ा है, इसका एक सत्य प्रमाण है। ब्रह्मचारीजी कहते थे कि काशीकी वर्तमान नगरी यद्यपि संसारमें सबसे पुरानी नगरी है तथापि अब जो पुराना नगर है, वह भी एक प्रकारसे नया मानना चाहिये। इसके गर्भमें महान् तपस्वी अब भी तपस्या कर रहे हैं। उसका प्रमाण कुछ वर्ष पूर्व मिला था।

काशीसे पाँच मील दूर शिवपुरके पास एक वकीलने एक जमीन खरीदी। वे नींव डालनेके लिये उसकी खोदाई करा रहे थे। यकायक एक खोखला गड्ढा निकल आया और उसमें देखते हैं कि भालूके समान काले बालोंसे ढके एक कृशकाय महात्मा ध्यानस्थ बैठे हैं। उनकी आँख खुली। उन्हें जैसे आश्चर्य हुआ—'क्या है?' मालिक हाथ जोड़कर खड़े हो गये, उन्होंने महात्मासे क्षमा माँगी। महात्माने केवल इतना ही कहा—'अच्छा, ध्यान खुला है तो जरा गङ्गाजल पिला दो।' भूमि-स्वामीके पास मोटर थी नहीं। टेम्पोका युग नहीं था। रिक्शा भी नहीं था। एक इक्कासे गङ्गाजीसे जल लानेमें तीन घंटे लग गये। जब सिद्धके सम्मुख जल प्रस्तुत किया गया तो उन्होंने पूछा—'इतनी देर क्यों लगी?'

'महाराज! चार-पाँच मील आने-जानेमें समय लग गया।' सिद्धने विस्मयसे पूछा—'गङ्गा इतनी दूर चली गयीं? अच्छा, जैसे यह स्थान ढका था वैसे ही ढक दो।' स्थान ढक दिया गया। भूस्वामीने वह स्थान सदाके लिये छोड़ दिया। बहुत पूछनेपर भी बतलाया नहीं कि वह स्थान कहाँ है। उन्हें भय था कि महात्मा शाप न दे दें। हमने उनसे सम्पर्क करनेकी चेष्टा की। वे दिवङ्गत हो चुके थे।

ब्रह्मचारीजीका कथन बिलकुल सत्य है कि काशी महाश्मशान है। पता नहीं कितने संत-महात्मा बैठे हुए हैं। यह भी प्रकट है कि गङ्गाजी बहुत दूर चली गयी हैं। ऐसे महात्मा पृथ्वीतलमें काशीमें हैं, इसका मुझे प्रत्यक्ष प्रमाण मिला। बड़े भाग्यसे ऐसे अवसर मिलते हैं और जरा भी भूल होनेपर सर्वनाश भी हो जाता है।

(२)

ब्रह्मचारीजीकी दूसरी बात थी—जिह्वा ही शरीरका सबसे महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इसीसे जीवन बनता और बिगड़ता है। यों तो दोहा प्रसिद्ध है—

जिह्वा ऐसी बावरी, कह गई अकास पतार।
आप तो कह भीतर गयी, जूती खात कपार॥

—पर प्रभुदत्तजीका तात्पर्य इससे भिन्न था। वे कहते थे कि कलियुग ईसासे लगभग ३१०२ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। उसीसे अनुमान लग जाता है कि महाभारत कब हुआ, उसीके बाद कलियुग आया। कलियुग लौहयुग कहलाता है। इसमें लोहेकी प्रधानता रहेगी—लोहा संघर्ष, युद्ध, विपत्तिद्वारा

घातक है। अतएव लोहासे बचनेका एकमात्र उपाय है जिह्वापर नियन्त्रण। कलासे ही कलि बना है। कला शिव-शक्तिकी अभिव्यक्ति है। शिव-शक्तिकी ६४ कला बतायी गयी है। इसमें जगत्‌का सब व्यापार आ जाता है। जन्मसे मृत्युतक जितने भी गुण हैं, अंश—उपयोग हैं, सब इस ६४ कलाके अन्तर्गत हैं। रामानुजने जिन छः वेदाचार्योंका उल्लेख किया है, सभी इसी ६४ कलाकी सिद्धिसे शिवत्वकी प्राप्तिकी बात कहते हैं, वे षडाचार्य हैं—भारुचि, टङ्क, बोधायन, गुहदेव तथा द्राविड़ाचार्य आदि। इनके ग्रन्थ उपलब्ध हैं या नहीं, मैं नहीं जानता। होंगे तभी तो भगवान् रामानुजाचार्यने उनका स्मरण किया है। मैंने जिज्ञासा की कि जिह्वाका विषयके साथ यह कलाका विषय कैसे छिड़ गया? तो उत्तर मिला कि कलाका अर्थ जिह्वा है। जो इस अर्थको जानते हैं वे जिह्वाके द्वारा ६४ कलाओंपर विजय प्राप्त कर शिवमय, विष्णुमय हो जाते हैं। विष्णुकी षोडश कला, लक्ष्मीकी कला, ब्रह्मा तथा शङ्करकी—सबकी १६-१६ कलाएँ मिलकर शिवतत्त्वकी ६४ कला होती है। उसपर अधिकार पानेके लिये जिह्वाका सहारा लेना पड़ेगा। हृदयसे नाम जपनेसे तथा जिह्वापर पूरी तरह नियन्त्रण रखनेसे ही सिद्धि होती है। जिह्वा ही कहती है—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाय केन क्व च सम्प्रतिष्ठा।

(श्वेता० अ०१, मन्त्र १)

'हम किससे उत्पन्न हैं, कौन हमें जीवित रखता है। अन्तमें मरनेके बाद हमारी पूर्णतः स्थिति क्या है?'

इसका उत्तर केवल पढ़नेसे नहीं होगा। आज तो केवल इन्द्रिय-सुखके लिये कलियुगमें लोग पागल हो रहे हैं। लोहेका उपयोग, अस्त्र, शस्त्र, विज्ञान—सबका केवल एक ही लक्ष्य है इन्द्रिय-सुख। जिसके लिये भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा था—

इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।

(गीता ३।७)

तो फिर जिह्वा क्या करेगी? ब्रह्मचारीजी कहते थे कि जीभ ही तो सब उत्पात मचाये है। लेकिन ब्रह्मचारीजी जिस जिह्वाका उपयोग करना या कराना चाहते थे आज उसे आसानीसे दिमागमें ले आना भी कठिन है। हठयोग-प्रदीपिका (१३।३७)में इसका जो उत्तर है वह कितने लोगोंकी समझमें आयेगा। लिखा है कि—

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।

यानी जिह्वाको तीनों नाड़ियों—इडा, पिंगला और सुषुम्नाके मार्गसे कपाल-गह्वरमें लगाना चाहिये। इसे खेचरी मुद्रा भी कहेंगे। सर्पकी तरह जीभको उलटकर कण्ठके तलवेमें लगाना चाहिये, जिससे अमृत भी झरता मिलेगा और ध्यानस्थ होकर ज्ञान भी प्राप्त हो जायगा। हठयोग-प्रदीपिकामें 'कला' का उपयोग जिह्वाके लिये हुआ है। अब यह प्रकट है कि कला—६४ कला—कलियुग तथा कला—जिह्वाका घनिष्ठ सम्बन्ध है। हो सकता है यह अभ्यास सबके बूतेका न हो, हरेक अभ्यास कठिन होता है, पर क्या आजके युगमें इतना भी नहीं कर सकते कि अपनी जिह्वाका दुरुपयोग न करें, कम-से-कम बोले, अधिक-से-अधिक जप करे, प्रभुके नामका अधिकतम उपयोग करे। योगकी यह प्रथम सीढ़ी होगी। काश, हम इस सीढ़ीपर पहला पग रख पाते। इसीसे कहते हैं कि (कला) कलिमें कला—जिह्वा सबसे महत्त्वपूर्ण है।

ब्रह्मचारीजी इस गुणकी जीती-जागती मूर्ति थे—

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति। स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति॥ तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥

संक्षेपमें ब्रह्मचारी पृथ्वी और आकाशको धारण करनेवाला देवता है, दोनोंमें कुछ खोज रहा है। वह अपने तपसे आचार्य तथा राष्ट्रको पूर्ण करता है। उसीसे ब्राह्मण उत्पन्न होता है, ज्येष्ठ ब्रह्मज्ञान पैदा होता है और देवगण उसके लिये अमृत लेकर पधारते हैं।

गीताका सांख्ययोगी, मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं, ऐसे समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अनन्यभावसे निरन्तर स्थित रहता है (देखिये गीता ३। २८; ५। ८-९, १३; ६। ३१; १३। २९-३०; १४। १९-२०; १८। १७, ४९से ५५ आदि)।
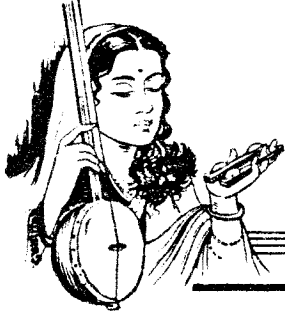
योगके मुख्य सिद्धान्त

वेद तीन काण्डोंमें विभक्त है—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। वेदके कर्मकाण्डके अनुसार कर्म-सुकौशलको योग कहते हैं। वेदके उपासनाकाण्डके अनुसार चित्तवृत्ति-निरोधको और वेदके ज्ञानकाण्डके अनुसार जीवात्मा और परमात्माके एकीकरणको योग कहते हैं। कर्मकाण्डका अन्तिम लक्ष्य निष्काम होकर कर्म करना है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसका विस्तृत वर्णन किया गया है। कर्म करते हुए कर्मबन्धनसे मुक्त होना ही उसका स्वरूप है। उपासनाकाण्डका अन्तिम लक्ष्य अन्तःकरणकी वृत्तियोंको साधनके द्वारा निरुद्ध कर परमात्माके स्वरूपका अनुभव करना है। तरङ्गरहित जलाशयमें जैसा मनुष्य अपना मुख देख लेता है, चित्तकी वृत्तियाँ निरुद्ध होते ही दृश्य-प्रपञ्चके द्रष्टा परमात्माका स्वरूप वैसा ही अन्तःकरणमें दिखायी देने लगता है। इस विज्ञानका विस्तृत वर्णन योगदर्शनके सूत्रोंमें पाया जाता है। ज्ञानकाण्डका अन्तिम लक्ष्य अविद्याजनित अज्ञानको विद्याकी कृपासे दूरकर आत्मज्ञान प्राप्त करते हुए परमात्मा और जीवात्माके भेदका जो मिथ्या ज्ञान है, उसको हटाकर जीवात्मा और परमात्माकी अद्वैतसिद्धि करना है। इसका विस्तृत वर्णन उपनिषदों और वेदान्तादि शास्त्रोंमें मिलता है। यही वेदके तीनों काण्डोंके अनुसार योगके सिद्धान्तोंका रहस्य है। वस्तुतः इन तीनोंके द्वारा एक ही अवस्थाकी प्राप्ति होती है।

श्रीभगवान्‌की सांनिध्यप्राप्तिके साधनोंको उपासना कहते हैं। उपासनाका प्राण भक्ति है और कलेवर योग है। शरीरमें प्राणके न रहनेसे जैसे शरीरकी कुछ भी उपयोगिता नहीं रहती, वैसे ही भगवद्भक्तिहीन योग नटका खिलवाड़ हो जाता है। शरीरके अभावमें प्राणके रहनेका कोई स्थान ही नहीं रहता। इस दशामें प्राणका अस्तित्व ही सम्भव नहीं रहता। इसी विज्ञानके अनुसार भक्ति और योगका उपासनाकाण्डके सब साधनोंमें अन्योन्याश्रय बना रहना स्वाभाविक है। योगतत्त्ववेत्ता पूज्यपाद महर्षियोंने योगसाधनकी चार स्वतन्त्र शैलियोंका उपदेश दिया है और योगमार्गसे भगवद्राज्यमें पहुँचनेके लिये आठ सोपान बताये हैं। योगसाधन-शैलियोंके चार नाम हैं—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। योगके आठ सोपानोंके नाम इस प्रकार हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। त्रिकालदर्शी और स्थूल तथा सूक्ष्म राज्यको हस्तामलकवत् देखनेवाले महर्षियोंने योगविज्ञानको इन चार श्रेणियों और आठ सोपानोंमें विभक्त करके ऐसा बताया है कि साधनमार्गके सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग इनमें आ जाते हैं।

मन्त्रयोगका सिद्धान्त यह है कि यह संसार नाम-रूपात्मक है। नाम और रूपसे ही जीव अविद्यामें फँसकर जकड़ा रहता है। मनुष्य जिस भूमिपर गिरता है, उसीके अवलम्बनसे उठ सकता है। अतः नाम और रूपके अवलम्बनसे ही जब वह फँसता है, तो नाम और रूपके ही अवलम्बनसे मुक्त भी हो सकता है। मन्त्रयोगके ज्ञाता पूज्यपाद आचार्योंने मन्त्रयोगके साधनोंको सोलह भागोंमें विभक्त किया है। जैसे दिक्‌शुद्धि, स्थानशुद्धि, मन्त्रजप, स्तुति, न्यास आदि । मन्त्रयोगके ध्यानको स्थूल ध्यान कहते हैं। यह ध्यान पञ्च सगुणोपासना और अवतारोपासनाके अनुसार कई प्रकारका होता है। मन्त्रयोगकी समाधिको महाभाव-समाधि कहते हैं।

हठयोगका सिद्धान्त यह है कि स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर एक ही भावमें गुम्फित है और एकका प्रभाव दूसरेपर पूरा बना रहता है। स्थूल शरीरको अपने अधीनकर सूक्ष्म शरीरको अधीन करते हुए योगकी प्राप्ति करनेको हठयोग कहते हैं। योगनिष्णात आचार्योंने हठयोगको सात अङ्गोंमें विभक्त किया है। यथा—नेति, धौति आदि षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि। हठयोगके ध्यानको ज्योतिर्ध्यान कहते

हैं और प्राणके निरोधसे होनेवाली हठयोगकी समाधि महाबोध-समाधि कहलाती है।

लययोगका सिद्धान्त यह है कि ब्रह्माण्डकी प्रतिकृति मानवपिण्ड है। ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिका विलास जैसा ब्रह्माण्ड है, वैसा मानवपिण्ड भी है। ग्रह, नक्षत्र, चतुर्दश भुवन आदिके पीठ मानवपिण्डमें भी हैं। पञ्चकोशोंका आवरण शिथिल होनेपर पिण्ड जहाँ चाहे, उसी लोकमें अपना सम्बन्ध स्थापन कर सकता है। इसी विज्ञानके अनुसार मनुष्यपिण्डके आधारपद्ममें कुलकुण्डलिनी नामक ब्रह्मशक्ति प्रसुप्त रहकर अविद्याके प्रभावसे सृष्टिक्रिया किया करती है। रजोवीर्यजनित बैजी सृष्टि उसका साक्षात् फल है। मनुष्यशरीरस्थ सप्तम चक्र मस्तकमें स्थित सहस्रदलमें जिस योगद्वारा कुलकुण्डलिनी-शक्तिको ले जाकर ब्रह्मरूपी सदाशिवके साथ मिला दिया जाता है, उस शिवमें शक्तिका लय कर मुक्ति प्राप्त करनेके साधनका नाम लययोग है। लययोगके आठ अङ्ग हैं। लययोगके ध्यानको बिन्दुध्यान और लययोगकी समाधिको महालय-समाधि कहते हैं।

राजयोग अन्य तीन योगोंकी चरम सीमा है। उसका सिद्धान्त यह है कि मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कारसे संवलित अन्तःकरण ही जीवके बन्धनका कारण और मुक्तिका भी कारण है। जैसे, अशुद्ध मन जीवको नीचे गिराता है और शुद्ध मन ऊपर उठाता है, वैसे ही इन्द्रियपरायण बुद्धि जीवको बन्धनमें जकड़ती है और ब्रह्मपरायण बुद्धि जीवको मुक्तिभूमिमें पहुँचा देती है। अतः शुद्ध बुद्धिकी सहायतासे तत्त्वज्ञान-लाभ करके अन्तमें राजयोगी जीव और ब्रह्मके अभेदका कारण समझकर ज्ञानसे अज्ञानका नाश करता हुआ जीव और ब्रह्मकी अद्वैतसिद्धिके द्वारा मुक्त हो जाता है। राजयोगसाधनके सोलह अङ्ग हैं। राजयोगके ध्यानको ब्रह्मध्यान कहते हैं और राजयोगकी समाधि निर्विकल्प-समाधि कहलाती है, जिसका फल जीवन्मुक्ति है।

इन चार योगशैलियोंके मूलमें भगवद्भक्तियुक्त अष्टाङ्ग-योगका साधनक्रम विद्यमान है। अष्टाङ्गयोगके आठों अङ्ग ब्रह्मरूपी सर्वोच्च सौध-शिखर (छत) पर चढ़नेके लिये आठ सोपान (सीढ़ियाँ) रूप हैं। इनका संक्षिप्त विज्ञान यह है कि बहिरिन्द्रियोंपर आधिपत्य जमानेके साधनोंको यम कहते हैं। अन्तरिन्द्रियोंपर आधिपत्य जमानेके साधनोंको नियम कहते हैं। स्थूल शरीरको योगके उपयोगी बनानेके साधनोंको आसन कहते हैं। शरीरस्थ प्राणको योगोपयोगी बनानेके साधनोंको प्राणायाम कहते हैं। ये चारों साधन बहिरङ्गके हैं। बहिर्मुख मनको अन्तर्मुख करनेके साधनोंको प्रत्याहार कहते हैं। प्रत्याहारसे ही अन्तरङ्गका साधन प्रारम्भ होता है। अन्तर्जगत्में ले जाकर मनको एक स्थानमें ठहरानेके साधनोंको धारणा कहते हैं। अन्तर्जगत्में ठहरनेका अभ्यास प्राप्त करते हुए अपने इष्टदेव, चाहे सगुणभावमय रूप हो, चाहे ज्योतिर्मय रूप हो, चाहे बिन्दुमय रूप हो, चाहे निर्गुण सच्चिदानन्दमय रूप हो, जिसका जैसा अधिकार हो, उसी इष्टदेवको केवल ध्येय बनाकर जगत्के भूल जानेको ध्यान कहते हैं। परमात्मामें अपने जीवभावके मिला देनेको समाधि कहते हैं। वह समाधि सविकल्प और निर्विकल्प दो भागोंमें विभक्त है। निर्विकल्प-समाधि ही सब साधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। यही सर्वजीव-हितकारी सब सम्प्रदायोंके अनुयायियों, सब प्रकारके उपासकों और सब प्रकारके साधकोंके लिये परम हितकर योगका संक्षिप्त विज्ञान है।

विरक्त

(श्रीपंन्यासजी महाराज विजयमाणिक्यरुचिजी यति 'मानिक')

सत्यव्रत धार मन मोहते निवार कर, गिरिकी गुहामें तन तपते तपायेंगे।
दया दिल लायेंगे औ जीव न सतायेंगे औ, दीन न दबायेंगे न काया कलपायेंगे ॥
'मानिक' की जोत ईश जोतमें जुटायेंगे औ, आनन्द बढ़ायेंगे अनन्त सुख पायेंगे।
दुनियामें फेर कभी आयेंगे न जायेंगे न, कर्मको खपायेंगे अमरपद पायेंगे ॥

अष्टाङ्ग-योग

(अनन्तश्री स्वामी श्रीमाधवाश्रमजी महाराज, 'शुकदेव स्वामीजी')

योगशास्त्रके प्रणेता भगवान् पतञ्जलिने समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य—इन चार पादोंमें सूत्रात्मक-पद्धतिमें योगशास्त्रका प्रणयन किया है। प्रथम पादमें मुख्य रूपसे चित्तवृत्ति-निरोधात्मक समाधिका तथा अभ्यास-वैराग्यरूप और उसके साधनका निरूपण है। द्वितीयपादमें समाधिकी सिद्धिके लिये अष्टाङ्ग-योग, तृतीयपादमें योग-विभूति तथा चतुर्थपादमें कैवल्य या स्वरूप-प्रतिष्ठाकी स्थितिका वर्णन हुआ है।

योगकी सिद्धिके लिये अष्टाङ्ग-योगका पालन करना अत्यावश्यक है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं। प्रकृतमें इनका संक्षेपमें वर्णन किया जा रहा है—

यम

'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।'

(पा० यो० सा० ३०)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम कहलाते हैं।

अहिंसा—'**प्राणवियोगानुकूलव्यापारो हिंसा तदभावोऽहिंसा**' के अनुसार प्राणवियोगजनक व्यापार हिंसा है, एतादृश व्यापाराभाव अहिंसा है। अथवा '**अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः**' (पा० यो० सा० ३५) अहिंसाकी स्थिति होनेपर उस योगीके सांनिध्यमें जन्मजात सर्प और नकुलका स्वाभाविक वैर-त्याग हो जाता है, यह अहिंसाका स्वरूप और फल है।

सत्य—'**वाङ्मनसयोर्याथार्थ्यम्**' (भोजवृत्ति) '**वाचा यथा वस्तुकथनं सत्यशब्दाभिधेयम्**' (भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य) वाणी, मन, कर्म, वचनसे जो यथार्थ वर्णन किया जाय अथवा शास्त्रीय सिद्धान्तकी रक्षाके लिये जो कहा जाय वह सत्य है। अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, दर्श-पौर्णमास आदि यज्ञोंका फल स्वर्ग है अथवा क्रिया (यज्ञ) रूपी धर्मका फल स्वर्ग है। जो सत्यप्रतिष्ठ है, उस योगीको स्वर्गादिरूपी फलकी प्राप्ति हो जाती है। '**सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्**' (पा० यो० सा० ३६)। यहाँ उस योगीका संकल्प सिद्ध हो जाता है और वाणी सिद्ध हो जाती है।

अस्तेय—दूसरोंके धनका अपहरण न करना अस्तेय कहा जाता है '**अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्**' (पा० यो० सा० ३७), सम्पूर्ण दिशाओंमें भ्रमण करनेवाले योगीको अस्तेयकी प्रतिष्ठा होनेपर सम्पूर्ण ईप्सित (इच्छित) वस्तुओंकी प्राप्ति हो जाती है।

ब्रह्मचर्य—जननेन्द्रियके नियन्त्रण करनेको ब्रह्मचर्य कहा जाता है। जो साधक इस सूत्रका स्मरण करके साधनामें रत रहता है, उसे निम्नलिखित फलकी प्राप्ति होती है—

'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।'

(पा० यो० सा० ३०)

ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठासे वीर्य-लाभ होता है। वीर्य शब्द शक्ति-विशेषका वाचक भी है, जैसे वीर्यलाभ होनेपर अणिमादि शक्तियोंके साथ योगी शिष्योंको ज्ञानादि भी हृदयङ्गम करानेकी सामर्थ्य प्राप्त करता है।

अपरिग्रह—'**भोगसाधनानामनङ्गीकारः**' (भोजवृत्ति) भोग्य वस्तुओंका संग्रह न करना अथवा '**मा गृधः कस्य स्विद् धनम्**' (ई० उ० १) इस वचनके आधारपर किसीके धनकी आकाङ्क्षा न करनेका भी अपरिग्रहमें ही पर्यवसान है, एतावता यह भी अपरिग्रह ही कहा जा सकता है। '**अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः**' (पा० यो० सा० ३९) साधकको अपने पूर्वजन्मों, वर्तमान जन्मका एवं भविष्यके बोधके अतिरिक्त दूसरोंके भी सभी जन्मोंका बोध हो जाता है, यह अपरिग्रहका फल है।

नियम

नियम पाँच कहे गये हैं— शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—'**शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि नियमाः**' पा० यो० २। ३२)।

शौच—शौच दो प्रकारका होता है—बाह्य और आभ्यन्तर। मिट्टी और जलसे शरीरका प्रक्षालन करना बाह्य शौच कहा जाता है। गोमूत्र, गोमयादिके प्राशन तथा मैत्री आदि भावनासे अन्तःकरणके दोष—राग-द्वेषादिकी निवृत्ति होती है। इसे आभ्यन्तर शौच कहा गया है—'**शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा**

परैरसंसर्गः' (पा० यो० सा० ४०)। बाह्याभ्यन्तर शौचका फल सौमनस्य और सौमनस्यका फल एकाग्रतापूर्वक इन्द्रियविजय और आत्मदर्शनकी योग्यता प्राप्त करना है।

संतोष—'**संतोषादनुत्तमसुखलाभः**' (पा० यो० सा० ४२)। प्राप्त वस्तुसे अधिककी अभिलाषा न करना संतोष कहा गया है। संतोषसे लोकोत्तर सुखकी प्राप्ति होती है। यही इसका फल है।

तप—द्वन्द्व सहन करना, भूख-प्यास, ठंडी-गरमीको अप्रतिकारपूर्वक सहन करना, कृच्छ्र-चान्द्रायणादि एवं एकादशी आदि व्रत करना यही तप कहा जाता है।

'**कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।**'

(पा० यो० सा० ४३)

तपसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म पाप नष्ट होनेसे इन्द्रियोंमें सूक्ष्म वस्तुको दूर देशमें भी सुनने और देखनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

स्वाध्याय—'**स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः**' (पा० यो० सा० ४४) अधिकारानुसार प्रणव-जप, वेद, पुराण, स्मृतियोंका अध्ययन, भगवन्नाम-जपादि स्वाध्याय कहलाता है। इष्टदेवका साक्षाद्दर्शन होना स्वाध्यायका फल है।

ईश्वरप्रणिधान—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ३६)

शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियों तथा बुद्धि-स्वभावादिसे किया गया कर्म फलाभिसन्धिवर्जित यद्वा ईश्वरार्पण-बुद्धिसे किया गया कर्म ही ईश्वर-प्रणिधान है। समाधिकी सिद्धि ही इसका फल है—'**समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।**' (पा० यो० सा० ४५)

आसन

'**तत्र स्थिरसुखमासनम्**' (पा० यो० सा० ४६) जिस मुद्रामें साधक स्थिरतासे (देरतक) सुखपूर्वक दृढ़ होकर बैठ सके वही आसन है। जैसे पद्मासन, सिद्धासन आदि। इसमें हाथ-पैर आदि अवयवोंको कष्टरहित सुखपूर्वक रखा जाता है। आसनकी सिद्धि हो जानेपर शीतोष्णादि प्रतीत नहीं होते।

प्राणायाम

'**तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।**'

(पा० यो० सा० ४९)

आसन स्थिर हो जानेपर, श्वास और प्रश्वास—इन दोनोंका विच्छेद हो जानेपर गतिका विच्छेद करना ही प्राणायाम है। प्राणायामके तीन भेद हैं—रेचक, पूरक और कुम्भक। प्राणायामका अभ्यास करनेसे साधकके क्लेश, कर्मोंके फल और समस्त दोष-पाप नष्ट होकर चित्तका शब्दादि विषयोंसे सम्बन्ध छूट जाता है।

प्रत्याहार

'**स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः**' (पा० यो० सा० ५४) इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे विमुख होकर चित्तके स्वरूपका अनुकरण करना प्रत्याहार कहलाता है। इन्द्रियोंको रोकनेवाला चित्त ही है। चित्तके रुकनेसे ये सभी इन्द्रियाँ भी अवरुद्ध हो जाती हैं। उक्त पाँचों उपाय योगके बहिरङ्ग साधन हैं, क्योंकि चित्तको स्थिर करनेके बाद ही समाधितक पहुँचा जा सकता है।

धारणा

'**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा**' (पा० यो० विभूति० १) नाभिचक्र, नासाग्र, हृदयपुण्डरीक आदि स्थलोंमें चित्तको एकाग्र कर लेना ही धारणा है। भगवान्के श्रीचरणारविन्दकी नखमणि - चन्द्रिकासे लेकर शिखापर्यन्त स्वरूपका चिन्तन करना बहिरङ्ग धारणा है।

ध्यान

'**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्**' (पा० यो० विभूति० २) धारणामें किसी देशमें चित्तकी वृत्ति एक स्थानपर स्थिर की जाती है। जब वह वृत्ति समानप्रवाहरूपसे अविच्छिन्न तैलधारावत् प्रवाहित होती रहे, मध्यमें कोई दूसरी वृत्ति न आये तो उसीको ध्यान कहते हैं। धारणा और ध्यानमें केवल यही अन्तर है कि धारणा विच्छिन्न अर्थात् भिन्न-भिन्न देशमें होती है और ध्यान अविच्छिन्न तैल-धाराकी भाँति होता है।

समाधि

'**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः**' (पा० यो० विभूति० ३) ध्यान जब ध्येय वस्तुके आकारमें हो जाय

और ध्यान तथा ध्याता दोनों न रहें तो उसे समाधि कहते हैं। ध्यानावस्थामें ध्यानरूपी क्रिया, ध्यान करनेवाले साधक एवं ध्येय वस्तुकी भी प्रतीति होती है, किंतु अभ्यास बढ़नेपर जब ध्यान, ध्याता और ध्येय—ये तीनों एकाकार होकर ध्येयके रूपमें प्रतीत होने लगें तो उस अवस्थाका नाम समाधि है। समाधिका परम प्रयोजन कैवल्य प्राप्त करना है।

योगचतुष्टय—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग एवं राजयोग

(श्रीएकान्तवासी महात्मा)

(१) मन्त्रयोग

योगसाधनका रहस्य दर्शनोंमें महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शनमें, महर्षि भरद्वाजकृत कर्ममीमांसादर्शनमें और मन्त्रयोगसंहिता, हठयोगसंहिता, लययोगसंहिता, राजयोगसंहिता तथा पुराणोंमें और तन्त्रोंमें विस्तृतरूपसे वर्णित है। योगसाधनकी चार अलग-अलग शैलियाँ हैं। उनमें मन्त्रयोग प्रथम है। उसके देवर्षि नारद, पुलस्त्य, गर्ग, वाल्मीकि, भृगु, बृहस्पति आदि प्रमुख आचार्य हुए हैं।

मन्त्रयोगका सिद्धान्त यह है कि परमात्मासे भाव, भावसे नाम-रूप और उसका विकार तथा विलासमय यह संसार है। इसलिये जिस क्रमके अनुसार सृष्टि हुई है, उसके विपरीत मार्गसे ही लय होगा, यह निश्चय है। अर्थात् परमात्मासे भाव और भावसे नाम-रूपद्वारा जब सृष्टि हुई है, जिससे समस्त जीव संसार-बन्धनमें आ गये हैं, तो यदि मुक्तिलाभ करना हो तो प्रथम नाम-रूपका आश्रय लेकर नाम-रूपसे भावमें और भावसे भावग्राही परमात्मामें चित्तवृत्तिका लय होनेपर ही मुक्ति होगी। इसलिये नारदादि महर्षियोंने नाम और रूपके अवलम्बनसे साधनकी विधियाँ बतलायी हैं, इसीका नाम मन्त्रयोग है। यथा योगशास्त्रमें—

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात्।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः॥
तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते।
उत्तिष्ठति जनः सर्वोऽध्यक्षेणैतत्समीक्ष्यते॥
नामरूपात्मकैर्भावैर्बध्यन्ते निखिला जनाः।
अविद्याग्रसिताश्चैव तादृक्प्रकृतिवैभवात्॥
आत्मनः सूक्ष्मप्रकृतिं प्रवृत्तिं चानुसृत्य वै।
नामरूपात्मनोः शब्दभावयोरवलम्बनात्॥

'सृष्टि नाम-रूपात्मक होनेके कारण नाम-रूपके अवलम्बनसे ही साधक सृष्टिके बन्धनसे अतीत होकर मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। जिस भूमिपर मनुष्य गिरता है, उसी भूमिके अवलम्बनसे वह पुनः उठ सकता है—यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। नाम-रूपात्मक विषय जीवको बन्धनयुक्त करते हैं, नाम-रूपात्मक प्रकृति-वैभवसे जीव अविद्याग्रस्त हुए रहते हैं, अतः अपनी-अपनी सूक्ष्म प्रकृति और प्रवृत्तिकी गतिके अनुसार नाममय शब्द तथा भावमय रूपके अवलम्बनसे जो योगसाधन किया जाय, उसको मन्त्रयोग कहते हैं।' मन्त्रयोगका विस्तार और महिमा सबसे अधिक है। सनातन वैदिक मूर्तिपूजा और पीठ-विज्ञान मन्त्रयोगके अनुसार ही सिद्ध होते हैं। मन्त्रयोग-साधन-प्रणालीके अनेक अङ्ग हैं। उनमेंसे मन्त्रयोगके ग्रन्थोंमें निम्नलिखित सोलह अङ्ग मुख्य बतलाये हैं—

भवन्ति मन्त्रयोगस्य षोडशाङ्गानि निश्चितम्।
यथा सुधांशोर्जायन्ते कलाः षोडश शोभनाः॥
भक्तिः शुद्धिश्चासनं च पञ्चाङ्गस्यापि सेवनम्।
आचारधारणे दिव्यदेशसेवनमित्यपि॥
प्राणक्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं बलिः।
यागो जपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडश॥

'चन्द्रकी सोलह कलाओंकी तरह मन्त्रयोग भी सोलह अङ्गोंसे पूर्ण है। ये सोलह अङ्ग इस प्रकार हैं—भक्ति, शुद्धि, आसन, पञ्चाङ्गसेवन, आचार, धारणा, दिव्यदेशसेवन, प्राणक्रिया, मुद्रा, तर्पण, हवन, बलि, याग, जप, ध्यान और समाधि।' नाना शास्त्रोंमें इन सोलह अङ्गोंका विस्तृत वर्णन पाया जाता है। भक्तिका विस्तार तो सभी भक्तिशास्त्रोंमें पाया जाता है। शुद्धिके अनेक भेद हैं। यथा—किस दिशामें मुख करके साधन करना चाहिये, यह दिक्शुद्धि है। कैसे स्थानमें बैठकर साधन करना चाहिये, यह स्थानशुद्धि है। स्नानादि-

द्वारा शरीरशुद्धि और प्राणायामादिद्वारा मनःशुद्धि होती है। कैसे आसनपर बैठना चाहिये—जैसे कि चैलासन, मृगचर्मासन, कुशासनादि, यह आसन-शुद्धि है। अपने इष्टकी गीता, सहस्रनाम, स्तव, कवच और हृदय—ये पाँचों पञ्चाङ्ग कहलाते हैं। आचारके तन्त्र और पुराणोंमें अनेक भेद कहे गये हैं। मनको बाहर मूर्ति आदिमें लगानेसे अथवा शरीरके भीतर स्थानविशेषोंमें मनके स्थिर रखनेको धारणा कहते हैं। जिन सोलह प्रकारके स्थानोंमें पीठ बनाकर पूजा की जाती है, उनको दिव्यदेश कहते हैं। यथा—मूर्धास्थान, हृदयस्थान, नाभिस्थान, घट, पट, पाषाणादिकी मूर्तियाँ, स्थण्डिल, यन्त्र आदि। मन्त्र -शास्त्रमें प्राणायामोंके अतिरिक्त शरीरके नाना स्थानोंमें प्राणको ले जाकर साधन करनेकी आज्ञा है। ये सब साधन प्राणक्रिया कहलाते हैं। न्यास आदि इसीके अन्तर्गत हैं। मन्त्रयोगमें अपने-अपने इष्टदेवके प्रसन्न करनेकी जो चेष्टाएँ हैं, वे मुद्रा कहलाती हैं, यथा—शङ्खमुद्रा, योनिमुद्रा आदि। पदार्थविशेषद्वारा इष्टदेवका तर्पण किया जाता है। अग्निमें आहुति देनेको हवन कहते हैं, बलि तीन प्रकारकी होती है—यथा आत्मबलि अहङ्कारादिकी, इन्द्रियोंकी बलि तथा काम-क्रोधादिकी बलि। अन्तर्याग और बहिर्याग-भेदसे याग दो प्रकारके होते हैं। अपने इष्टके नामके जपको जप कहते हैं। जप भी वाचनिक, उपांशु और मानसिक-भेदसे तीन प्रकारका होता है। इष्टके रूपमें ध्यानको मनके द्वारा करनेसे जो साधन होता है, उसको 'ध्यान' कहते हैं। इष्टके रूपका ध्यान करते-करते अपनेको भूल जानेसे जो एक अवस्था होती है, उसे मन्त्रयोगमें 'महाभावसमाधि' कहते हैं। यही मन्त्रयोगसमाधि है।

(२) हठयोग

जैसे मन्त्रयोगके साधनोंमें नाम-रूपके अवलम्बनसे साधनकी विशेषता है, उसी प्रकार केवल स्थूलशरीरके अधिक अवलम्बनसे चित्तवृत्तिनिरोध करके योगसाधनकी प्रणाली हठयोगमें चलायी गयी है। महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इस प्रकारसे श्रीभगवान्‌के निकट पहुँचनेके लिये साधनके आठ सोपान बतलाये गये हैं। ये उत्तरोत्तर एक दूसरेसे ऊँचे हैं। बहिरिन्द्रियोंपर प्रभाव रखनेको 'यम' कहते हैं। अन्तरिन्द्रियोंपर प्रभाव रखनेको 'नियम' कहते हैं। योगसाधनके लायक शरीर बनानेको 'आसन' कहते हैं। प्राण और अपान वायुपर प्रभाव डालकर उनको योगसाधनोपयोगी बनानेको 'प्राणायाम' कहते हैं। मनको बाहरसे खींचकर भीतरकी ओर लानेको 'प्रत्याहार' कहते हैं। भीतरमें मनको ठहरा रखनेको 'धारणा' कहते हैं। इष्टरूपी ध्येयमें मनके लगा रखनेको 'ध्यान' कहते हैं और इष्टमें मनको लीन करके अपनेको भूल जानेको 'समाधि' कहते हैं। यही 'अष्टाङ्गयोग'-का सार है। इनमेंसे चार अङ्ग बाहरके हैं और चार अङ्ग भीतरके हैं। इन आठोंका बहुत कुछ विस्तार है। उन विस्तारोंमेंसे मन्त्र, हठ, लय और राज—इन चार श्रेणीके साधनोंमें इन आठों अङ्गोंमेंसे किसीमें किसी अङ्गपर अधिक ध्यान दिया है और किसी-किसी साधनमें किसी-किसी दूसरे अङ्गपर विशेष ध्यान दिया है। शास्त्रोंमें कहा गया है कि महर्षि मार्कण्डेय, भरद्वाज, मरीचि, जैमिनि, पाराशर, भृगु, विश्वामित्र आदिकी कृपासे इस कल्पमें हठयोगका विस्तार हुआ है। जब देखा जाता है कि सूक्ष्मशरीरके तीव्र संस्कारसे उत्पन्न हुए कर्मोंके भोगका आश्रयरूपी स्थूलशरीर बनता है, अर्थात् सूक्ष्मशरीरके भावके अनुरूप ही स्थूलशरीरका संघटन होता है तथा सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीर एक ही सम्बन्धयुक्त होकर रहते हैं, तब इसमें क्या बाधा है कि स्थूलशरीरके कार्योंके द्वारा सूक्ष्मशरीरपर आधिपत्य नहीं किया जा सकता? फलतः अधिकारिविशेषके लिये स्थूलशरीरप्रधान योग-क्रियाओंका आविष्कार योगशास्त्रमें किया गया है, जिनके द्वारा साधक प्रथम अवस्थामें स्थूलशरीरकी क्रियाओंका साधन करता हुआ उसपर सम्पूर्ण आधिपत्य कर लेता है और क्रमशः उस शक्तिको अन्तर्मुख करके उसके द्वारा सूक्ष्मशरीरको वशमें लाकर चित्तवृत्तिनिरोधके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार करनेमें समर्थ होता है। इसी योगप्रणालीको हठयोग कहते हैं।

मन्त्रयोगमें जिस प्रकार भावपूर्ण स्थूल ध्यानकी विधि है, हठयोगमें वैसे ही ज्योतिःकल्पनारूप ज्योतिर्ध्यान करनेकी विधि रखी गयी है। अन्तर्जगत्‌के पवित्र भावोंको आश्रय करके जिस प्रकार नाना देव-देवियोंके ध्यानके लिये मन्त्रयोगमें उपदेश है, उसी प्रकार परमात्माको सब ज्योतियोंका ज्योतिःस्वरूप जानकर उनके ज्योतिर्मय रूपकी कल्पना करके

ध्यानका अभ्यास करनेकी व्यवस्था हठयोगमें है। मन्त्रयोग-समाधिमें नाम-रूपोंकी सहायतासे समाधि-लाभ करनेकी साधन-प्रणाली वर्णित है और हठयोगमें वायुनिरोधके द्वारा मनका निरोध करके समाधिलाभ करनेकी विधि है। मन्त्रयोग-समाधिको 'महाभाव' और हठयोग-समाधिको 'महाबोध'-समाधि कहा जाता है।

षट्कर्मासनमुद्राः प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः ।
ध्यानसमाधी सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य ॥

'षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि—हठयोगके ये सात अङ्ग हैं।' इन सब अङ्गोंके क्रमानुसार साधनद्वारा क्या-क्या फलप्राप्ति होती है, उसका योगशास्त्रमें वर्णन है—

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढम् ।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता ॥
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात् प्रत्यक्षमात्मनः ।
समाधिना त्वलिप्तत्वं मुक्तिश्चैव न संशयः ॥

'षट्कर्मद्वारा शरीरशोधन, आसनके द्वारा दृढ़ता, मुद्राके द्वारा स्थिरता, प्रत्याहारसे धीरता, प्राणायाम-साधनद्वारा लाघव, ध्यानद्वारा आत्माका प्रत्यक्ष और समाधिद्वारा निर्लिप्तता तथा मुक्तिलाभ अवश्य होता है।' इन सब मानसिक और आध्यात्मिक लाभोंके सिवा हठयोगके प्रत्येक अङ्ग और उपाङ्गके साधनद्वारा शारीरिक स्वास्थ्यविषयक भी विशेष लाभ होता है, जो योगिराज श्रीगुरुदेवसे जानने योग्य है। धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक और कपालभाति—ये छहों क्रियाएँ षट्कर्मकी कहलाती हैं। हठयोगके अनुसार बैठकर साधन करनेके कुल तैंतीस आसन माने गये हैं। उनकी क्रियाएँ अलग-अलग हैं। हठयोगके अनुसार आठ प्रकारके प्राणायामकी क्रिया कही गयी है। उनके नाम सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली हैं। इसी प्रकार हठयोगमें पचीस मुद्रा-साधनकी विधि पायी जाती है। ये सब मुद्राएँ वायु और मनको स्थिर करनेवाली होती हैं। प्रत्याहारमें भी ये मुद्राएँ मदद करती हैं तथा ध्यानसिद्धि और समाधि देनेमें भी मदद करती हैं, जो हठयोगका अन्तिम साधन है।

(३) लययोग

अङ्गिरा, याज्ञवल्क्य, कपिल, पतञ्जलि, वसिष्ठ, कश्यप और वेदव्यास आदि पूज्यचरण महर्षियोंकी कृपासे परम मङ्गलकारी तथा मन-वाणीसे अगोचर ब्रह्मपद-प्राप्तिके कारणभूत लययोगका सिद्धान्त संसारमें प्रकट हुआ है।

प्रकृति-पुरुषके शृङ्गारसे उत्पन्न हुए ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों एक ही हैं। समष्टि और व्यष्टि-सम्बन्धसे ब्रह्माण्ड और पिण्ड एकत्व-सम्बन्धसे युक्त हैं। अतः ऋषि, देवता, पितर, ग्रह, नक्षत्र, राशि, प्रकृति, पुरुष सबका स्थान समानरूपसे ब्रह्माण्ड और पिण्डमें है। पिण्डज्ञानसे ब्रह्माण्ड-ज्ञान हो सकता है। श्रीगुरूपदेशद्वारा शक्तिसहित पिण्डका ज्ञान लाभ करनेके अनन्तर सुकौशलपूर्ण क्रियाद्वारा प्रकृतिको पुरुषमें लय करनेसे लययोग कहलाता है। पुरुषका स्थान सहस्रारमें है और कुलकुण्डलिनी नाम्नी महाशक्ति आधारपद्ममें प्रसुप्त हो रही है। उसके सुप्त रहनेसे ही बहिर्मुखी सृष्टिक्रिया होती है। योगाङ्गद्वारा उसको जाग्रत् करके पुरुषके पास ले जाकर लय कर देनेपर योगी कृतकृत्य होता है, इसीका नाम 'लययोग' है।

योगशास्त्रमें इसके नौ अङ्ग बतलाये गये हैं। यथा—

अङ्गानि लययोगस्य नवैवेति पुराविदः ।
यमश्च नियमश्चैव स्थूलसूक्ष्मक्रिये तथा ॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं चापि लयक्रिया ।
समाधिश्च नवाङ्गानि लययोगस्य निश्चितम् ॥
स्थूलदेहप्रधाना वै क्रिया स्थूलाभिधीयते ।
वायुप्रधाना सूक्ष्मा स्याद्ध्यानं बिन्दुमयं भवेत् ॥
ध्यानमेतद्धि परमं लययोगसहायकम् ।
लययोगानुकूला हि सूक्ष्मा या लभ्यते क्रिया ॥
जीवन्मुक्तोपदेशेन प्रोक्ता सा हि लयक्रिया ।
लयक्रियासाधनेन सुप्ता सा कुलकुण्डली ॥
प्रबुद्ध्य तस्मिन् पुरुषे लीयते नात्र संशयः ।
शिवत्वमाप्नोति तदा साहाय्यादस्य साधकः ॥
लयक्रियायाः संसिद्धौ लयबोधः प्रजायते ।
समाधिर्येन निरतः कृतकृत्यो हि साधकः ॥

'योगतत्त्वज्ञ महर्षियोंने लययोगके नौ अङ्ग वर्णन किये हैं—यम, नियम, स्थूल क्रिया, सूक्ष्म क्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि। स्थूलशरीरप्रधान

क्रियाको 'स्थूल क्रिया' और वायुप्रधान क्रियाको 'सूक्ष्म क्रिया' कहते हैं। बिन्दुमय प्रकृति-पुरुषात्मक ध्यानको 'बिन्दुध्यान' कहते हैं। यह ध्यान लययोगका परम सहायक है। लययोगानुकूल अति सूक्ष्म सर्वोत्तम क्रिया जो केवल जीवन्मुक्त योगियोंके उपदेशसे ही प्राप्त होती है, वह 'लयक्रिया' कहलाती है। लयक्रियाओंके साधनद्वारा प्रसुप्त कुलकुण्डलिनीनामक महाशक्ति प्रबुद्ध होकर ब्रह्ममें लीन होती है। इनकी सहायतासे जीव शिवत्वको प्राप्त होता है। लयक्रियाकी सिद्धिसे महालयरूपी समाधिकी उपलब्धि होती है, जिससे साधक कृतकृत्य हो जाता है।'

बहिरिन्द्रियोंको वशमें लानेके साधनको 'यम' कहते हैं। अन्तरिन्द्रियोंको वशमें लानेके साधनको 'नियम' कहते हैं। हठयोगकी तरह तैंतीस आसनोंमेंसे कुछ आसनोंका साधन, पचीस मुद्राओंमेंसे कुछ थोड़ी-सी मुद्राओंका साधन—ये सब लययोगकी 'स्थूल क्रिया' कहलाती हैं। इसी प्रकार हठयोगके आठ प्राणायामोंमेंसे थोड़े-से प्राणायाम और स्वरोदय आदिकी क्रियाएँ लययोगके अनुसार 'सूक्ष्म क्रिया' कहलाती हैं। स्वरोदयके द्वारा बहुत-सी सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। लययोगका पञ्चम साधन प्रत्याहार है, जो केवल मनकी सहायतासे किया जाता है। प्रत्याहारकी सिद्धि प्रारम्भ होते ही योगी नादका सुनना प्रारम्भ कर देता है। लययोगके आठवें अङ्गमें योगी शरीरके अंदरके षट्चक्रोंको जानता और उनकी सहायतासे साधनका अभ्यास करता है। योगाचारियोंका मत है कि मेरुदण्डके नीचेसे लेकर मस्तकके ऊपरतक सात ऐसे स्थान हैं, जिनकी सहायतासे योगी प्रकृति-शक्तिको नीचेसे ले जाकर सातवें सहस्रदलके स्थानमें शिव-शक्तिका संयोग करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस चक्रकी क्रियाके पूर्ण होनेपर मुक्तिकी प्राप्ति होती है। यह साधन धारणा-साधनसे प्रारम्भ होकर समाधि-सिद्धितक सहायता करता है। लययोगके ध्यानका नाम 'बिन्दुध्यान' है। इस प्रकारसे योगी साधन करते-करते प्रकृतिके सूक्ष्मरूपका बिन्दुरूपमें दर्शन करता है। उसीका ध्यान बढ़ाते-बढ़ाते और उसके साथ लययोगकी कुछ और भी लयक्रिया जो गुरुमुखसे प्राप्त होती है, उसका साधन करते-करते योगी अन्तिम क्रिया समाधिकी प्राप्ति कर लेता है। लययोगकी समाधिका नाम महालय है।

मन्त्रयोगमें जैसे रूपकल्पनाद्वारा ध्यान किया जाता है, हठयोगमें जैसे भगवान्‌का ज्योतिःकल्पनाद्वारा ध्यान किया जाता है, लययोगमें वैसी कल्पना नहीं की जाती। लययोगका योगी योगसाधनके द्वारा अन्तर्जगत्‌में एक अलौकिक बिन्दुका दर्शन करता है। उसीको स्थिर रखकर उसीमें परमात्माके ध्यान करनेको 'बिन्दुध्यान' कहते हैं। यह लययोगकी विशेषता है। लययोगकी दूसरी विशेषता यह है कि लययोगी यदि चाहे तो सारे ब्रह्माण्डको अपने शरीरमें देख सकता है; क्योंकि लययोगसिद्धान्तके अनुसार समष्टिरूपी ब्रह्माण्डका व्यष्टिरूपी मनुष्यपिण्ड साक्षात् प्रतिबिम्बस्वरूप है। लययोगकी सहायतासे ही प्राचीन कालके पूज्यपाद महर्षिगण इस मृत्यु-लोकमें बैठकर सारे ब्रह्माण्डका पता लगा सकते थे।

(४) राजयोग

सब योगसाधनोंका राजा होनेसे इसको राजयोग कहते हैं। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है—'**राजत्वात् सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः।**' राजयोगके लक्षणके विषयमें और उसके साधन-क्रमके विषयमें शास्त्रोंमें कहा गया है कि—

सृष्टिस्थितिविनाशानां हेतुता मनसि स्थिता।
तत्सहायात् साध्यते यो राजयोग इति स्मृतः॥
अन्तःकरणभेदास्तु मनो बुद्धिरहङ्कृतिः।
चित्तं चेति विनिर्दिष्टाश्चत्वारो योगपारगैः॥
तदन्तःकरणं दृश्यमात्मा द्रष्टा निगद्यते।
विश्वमेतत्तयोः कार्यकारणत्वं सनातनम्॥

'सृष्टि, स्थिति और लयका कारण अन्तःकरण ही है, उसकी सहायतासे जिसका साधन किया जाता है, उसको राजयोग कहते हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये अन्तःकरणके चार भेद हैं। अन्तःकरण दृश्य और आत्मा द्रष्टा है। अन्तःकरणरूपी दृश्यसे जगद्रूपी कार्य दृश्यका कार्य-कारण-सम्बन्ध है। दृश्यसे द्रष्टाका सम्बन्ध स्थापित होनेपर सृष्टि होती है। चित्तवृत्तिका चाञ्चल्य ही इसका कारण है। वृत्तिजयपूर्वक स्व-स्वरूपका प्रकाश करना राजयोग कहलाता है। राजयोगसाधनमें विचारबुद्धिका प्राधान्य रहता है। विचार-शक्तिकी पूर्णताद्वारा राजयोगका साधन होता है। राजयोगके ध्यानको 'ब्रह्मध्यान' कहते हैं। राजयोगकी समाधिको 'निर्विकल्प-समाधि' कहते हैं। राजयोगसे सिद्धि-

प्राप्त महात्माका नाम 'जीवन्मुक्त' है। महाभाव (मन्त्रयोगकी समाधि)-प्राप्त योगी, महाबोध (हठयोगकी समाधि)-प्राप्त योगी तथा महालय (लययोगकी समाधि)-प्राप्त योगी तत्त्वज्ञानकी सहायतासे राजयोग-भूमिमें अग्रसर होते हैं। राजयोग सब योगसाधनोंमें श्रेष्ठ है और साधनकी चरम सीमा है, इस कारण इसको राजयोग कहते हैं।

राजयोगके साधनोंको भी शास्त्रोंमें सोलह अङ्गोंमें विभक्त करके वर्णन किया गया है। वे इस प्रकार हैं—

कलाषोडशकोपेतराजयोगस्य षोडश।
सप्त चाङ्गानि विद्यन्ते सप्तज्ञानानुसारतः॥
विचारमुख्यं तज्ज्ञेयं साधनं बहु तस्य च।
धारणाङ्गे द्विधा ज्ञेये ब्रह्मप्रकृतिभेदतः॥
ध्यानस्य त्रीणि चाङ्गानि विदुः पूर्वे महर्षयः।
ब्रह्मध्यानं विराड्ध्यानं चेशध्यानं यथाक्रमम्॥
ब्रह्मध्याने समाप्यन्ते ध्यानान्यन्यानि निश्चितम्।
चत्वार्यङ्गानि जायन्ते समाधेरिति योगिनः॥
सविचारं द्विधाभूतं निर्विचारं तथा पुनः।
इत्थं संसाधनं राजयोगस्याङ्गानि षोडश॥
कृतकृत्यो भवत्यासु राजयोगपरो नरः।
मन्त्रे हठे लये चैव सिद्धिमासाद्य यत्नतः।
पूर्णाधिकारमाप्नोति राजयोगपरो नरः॥

राजयोगके अङ्ग—'षोडशकलासे पूर्ण राजयोगके षोडश अङ्ग हैं। सप्त-ज्ञान-भूमिकाओंके अनुसार सात अङ्ग हैं। ये सब विचारप्रधान हैं। इनके साधन अनेक प्रकारके हैं। धारणाके अङ्ग दो हैं—एक प्रकृतिधारणा और दूसरी ब्रह्मधारणा। ध्यानके अङ्ग तीन हैं—विराट्-ध्यान, ईशध्यान और ब्रह्मध्यान। ब्रह्मध्यानमें ही सबकी परिसमाप्ति है और समाधिके चार अङ्ग हैं—दो सविचार और दो निर्विचार। इस प्रकारसे राजयोगके षोडश अङ्गोंके साधनद्वारा राजयोगी कृतकृत्य होता है। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग—इन तीनोंमें सिद्धिलाभके अनन्तर अथवा किसी एकमें सिद्धिलाभ करनेके अनन्तर साधकको राजयोगका पूर्णाधिकार प्राप्त होता है।'

राजयोगसंहिताके अनुसार—

साधनं राजयोगस्य धारणाध्यानभूमितः।
आरभ्यते समाधिर्हि साधनं तस्य मुख्यतः॥
समाधिभूमौ प्रथमं वितर्कः किल जायते।
ततो विचार आनन्दानुगता तत्परा मता॥
अस्मितानुगता नाम ततोऽवस्था प्रजायते॥
विशेषलिङ्गं त्वविशेषलिङ्गं
लिङ्गं तथालिङ्गमिति प्रभेदान्।
वदन्ति दृश्यस्य समाधिभूमि-
विवेचनायां पटवो मुनीन्द्राः॥
हेया अलिङ्गपर्यन्ता ब्रह्माहमिति या मतिः।
निर्विकल्पे समाधौ हि न सा तिष्ठति निश्चितम्॥
द्वैतभावास्तु निखिला विकल्पश्च तथा पुनः।
क्षीयन्ते यत्र सा ज्ञेया तुरीयेति दशा बुधैः॥
समाधिसाधनं शास्त्राभ्यासतो न हि लभ्यते।
गुरोर्विज्ञाततत्त्वात्तु प्राप्तुं शक्यमिति ध्रुवम्॥

'इसका साधन प्रथमावस्थामें धारणा और ध्यानभूमिसे प्रारम्भ होता है और राजयोगकी साधनभूमि प्रधानतः समाधिभूमि ही है। समाधिभूमिमें पहले वितर्क रहता है तदनन्तर अग्रसर होनेपर विचार रहता है। उससे आगेकी अवस्थाका नाम आनन्दानुगत अवस्था है और उससे आगेकी अवस्थाका नाम अस्मितानुगत अवस्था है। विशेषलिङ्ग, अविशेषलिङ्ग, लिङ्ग और अलिङ्ग—ये चार भेद दृश्यके हैं। अलिङ्गतक त्यागने योग्य हैं। 'मैं ब्रह्म हूँ', यह भाव भी निर्विकल्प-समाधिमें नहीं रहता। कोई द्वैतभाव अथवा कोई विकल्प जब शेष न रहे, वही तुरीयावस्था है। समाधिभूमिका साधनक्रम शास्त्रमें ज्ञात नहीं हो सकता। जिनको अपरोक्षानुभूति हुई है, ऐसे जीवन्मुक्त गुरु ही उसका भेद बतला सकते हैं।'

राजयोगके साधन-क्रमकी समालोचना करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि प्रथम परम भाग्यवान् राजयोगी दर्शनोक्त सप्तज्ञानभूमियोंको, एकके बाद दूसरीको इस तरह क्रमशः अतिक्रम करता हुआ, जैसे मनुष्य सोपानद्वारा छतपर चढ़ जाता है, उसी प्रकार सप्तज्ञानभूमियोंका रहस्य समझ जाता है। यही राजयोगोक्त सोलह अङ्गोंमेंसे प्रथम सप्ताङ्गका साधन-क्रम है। उसके अनन्तर वह सौभाग्यवान् योगी सत् और चित्-भावपूर्ण प्रकृति-पुरुषात्मक दो राज्यके दर्शन करके उनकी धारणासे अनन्तरूपमय प्रपञ्चकी विस्मृति-सम्पादन करनेमें

समर्थ होता है। यही राजयोगके अष्टम और नवम अङ्गका साधन-क्रम है। उसके अनन्तर वह योगिराज परिणामशील प्रकृतिके स्वरूपको सम्पूर्णरूपसे जानकर ब्रह्म, ईश या विराट्‌रूपमें अद्वितीय ब्रह्मसत्ताका दर्शन करके ध्यानभूमिकी पराकाष्ठामें पहुँच जाता है। यही राजयोगोक्त सोलह अङ्गोंमेंसे दशम, एकादश और द्वादश अङ्गका साधन-क्रम है। उसके अनन्तर वह परम भाग्यवान् योगाचार्य यथाक्रम वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत—इन चारों आत्मज्ञानयुक्त (ये चारों समाधिकी दशा पूर्वकथित मन्त्र-हठ-लययोगोक्त महाभाव, महाबोध, महालय-समाधिसे विभिन्न हैं।) समाधि-दशाओंको अतिक्रमण करते हुए स्व-स्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। इसी दशाको जीवन्मुक्त-दशा कहते हैं। यही सब प्रकारके योग-साधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। यही उपासना-राज्यकी परिधि है और यही वेदान्तका चरम सिद्धान्त है।
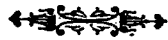
संसार-योग

(पं० श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे)

संसार जैसा कुछ दिखायी देता है वैसा नहीं है, यह है आनन्दमय, दिखायी देता है दुःखमय। यही तो माया है और यह माया हमारे एक-एक रग और रेशेमें फैली हुई है। इसी कारणसे संसारकी प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक सम्बन्ध, प्रत्येक घटना जैसी है वैसी नहीं दिखायी देती, कुछ भिन्न ही प्रकारकी दिखायी देती है। हमारा शरीर पञ्चमहाभूतोंसे बना है और पञ्चमहाभूतोंका अंश है। पर दिखायी ऐसे देता है मानो पञ्चमहाभूत कोई दूसरी चीज है और यह शरीर कोई दूसरी चीज। इस पञ्चमहाभूतात्मक शरीरको जैसा हम समझते हैं वैसा नहीं है, इसका कोई भी भाग इन पञ्चमहाभूतोंसे पृथक् नहीं है। हमारे शरीरमें जो आकाश है, वह ऊपरके महाकाशसे सदा मिला हुआ है। हमारे शरीरमें जो पृथ्वीका अंश है, वह सदा संसारभरकी पृथ्वीसे अभिन्नतया मिला हुआ है। यह शरीर जिस पृथ्वीपर है उस पृथ्वीसे एक क्षणके लिये भी कभी पृथक् नहीं हो सकता। योगियोंके शरीर पृथ्वीसे अलग होते हैं, पर जिस अवस्थामें होते हैं उस अवस्थामें यह पृथ्वी भी अपने पार्थिवरूपसे अलग होती है। हमें जल दिखायी देता है पृथ्वीमें, पर वास्तवमें पृथ्वी जलमें है और जल अग्निके भीतर है जो एक असम्भव बात मालूम होती है। इसी प्रकार अग्नि वायुके भीतर है और वायु आकाशके भीतर। हमें घटमें घटकी मिट्टी आकाशको घेरे हुई दिखायी देती है, पर यथार्थमें आकाश घटको घेरे हुए है, यह लम्बी-चौड़ी सम्पूर्ण पृथ्वी एक महान् जलार्णवके बीचमें मिट्टीके एक लोंदेके समान कही गयी है। यह महान् जलार्णव अग्निके, उससे भी बड़े आग्नेयार्णवके भीतर एक सरोवर-सा है और यह आग्नेयार्णव उससे भी कई गुना बड़े वायव्य महार्णवके भीतर है और यह वायव्य महार्णव उससे अनन्तगुण महान् आकाशार्णवके भीतर है। यह आकाशार्णव अविद्या नाम्नी त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृतिके भीतर है और यह अपरा प्रकृति परा प्रकृतिके भीतर है और यह परा प्रकृति परमात्माके भीतर है। परमात्मा सारे संसारको घेरे हुए हैं, इनके भीतर वे सब महार्णव हैं और इन सबसे घिरा हुआ हमारा यह संसार है। यह भगवान्‌से घिरा हुआ है, इसका एक-एक अणु भगवान्‌से घिरा हुआ है और भगवान् आनन्दमय हैं। इसलिये यह संसार आनन्दमयके सिवा और कुछ नहीं हो सकता।

पर यह दिखायी देता है दुःखमय! इसका कारण क्या है? इसका कारण है माया अर्थात् हमारा अज्ञान—हमारा यह न देख पाना कि यह संसार आनन्दमय भगवान्‌के भीतर है। जैसे समुद्रके भीतर मछली हो और वह जलके लिये छटपटाये, वैसी ही अवस्था हमलोगोंकी है कि आनन्द-महार्णवके भीतर रहते हुए भी हमलोग आनन्दके लिये छटपटा रहे हैं! आखिर यह अज्ञान भी कहाँसे आया? इसका उत्तर यही है कि यह हमारे अंदरसे आया। सर्वव्यापक भगवान्‌में जो-जो कुछ है उस-उसमें भी स्वभावतः ही वह चैतन्य है जिसमें एक होते हुए भी बहु होनेकी शक्ति है और पूर्णसे पृथक् होकर पृथक्‌रूपसे बहु होनेकी जो इच्छा है उस इच्छासे चैतन्यका वह अंश मनसे घिर जाता है। यह जो घिर जाना है इसीको अहंकार कहते हैं। अहंकार और ममकाररूपमें जब यह प्रकट

होता है तब चैतन्यका वह अपृथक् होनेपर भी पृथक् बना हुआ अंश बद्ध-जीव हो जाता है। उस बद्धतासे अपना वास्तविक स्वरूप वह भूल जाता है। आत्मस्वरूपकी इस विस्मृतिके कारण वह बाह्य स्वरूप—सारे संसार और संसारके प्रत्येक पदार्थको इसी आत्मविस्मृतिके पैमानेसे देखता है और उसे तब संसार जैसा कुछ वास्तवमें है वैसा नहीं दिखायी देता—आनन्दमय संसार उसे दुःखमय दिखायी देता है और इस दुःखमय संसारमें वह आनन्दको ढूँढ़ता है। अपने-आपको जो भूला हुआ है वह दूसरेको कैसे पहचान सकता है और जो चीज वह चाहता है, जिसकी खोजमें वह भटकता है,वह भी उसे ऐसे भटकनेसे कैसे मिल सकती है ?

संसारमें जितने उद्योग हो रहे हैं वे सब आनन्दकी खोजके ही उद्योग हैं, चाहे वह बच्चोंका स्कूलोंमें पढ़ना हो या मैदानमें खेलना, युवकोंका ब्याह रचना हो या संतानकी आशा करना, धन कमाना हो या नाम कमाना, साँप, बिच्छू और सिंह-व्याघ्रसे डरना हो या उन्हें मार डालनेकी फिक्र करना, मृत्युसे भागना हो या मृत्युके वश होना, युद्ध-हारना हो या युद्ध-जीतना, राज्यक्रान्ति हो या परराष्ट्रपर आक्रमण करना, व्यापारकी दूकान हो अथवा कल-कारखाना। ये सब बद्ध जीवोंके आनन्दकी खोजके उद्योग हैं। ये उद्योग अच्छे-बुरे कुछ नहीं हैं, इनसे यदि आनन्द मिल जाय तो अच्छे हैं, न मिले तो बुरे हैं। पर जबतक आत्मविस्मृति बनी हुई है, हम अपने-आपको भूले हुए हैं, तबतक पहचान भी भूले हुए हैं, रास्ता भी भूले हुए हैं और इसलिये फल भी भूला हुआ ही होता है। इसीलिये यह देखा जाता है कि आत्मविस्मृत कोई भी मनुष्य संसारमें सुखी नहीं हुआ। ऐसे सब प्राणियोंके जीवनोंका अन्तिम अनुभव यही रहा कि जीवन व्यर्थ ही बीता, आनन्दकी खोजमें कहाँ-कहाँ भटके, पर आनन्द मिला नहीं, उलटे दुःख ही बढ़ता गया। इसीलिये यह कहा जाता है कि संसार दुःखमय है, पर दुःखमय है पूर्णसे पृथक् होनेके कारण—पूर्णसे वियोग होनेके कारण। बंद कोठरीमें, अखिल वायुमण्डलसे पृथक् होते ही, जैसे हमारे प्राण घबराने लगते हैं वैसे ही पूर्ण जो श्रीभगवान् हैं उनसे पृथक् होते ही सर्वाङ्ग दुःखसे व्याप्त हो जाता है। पूर्णसे अपूर्णका यह वियोग है—संसारका सारा दुःख विरह-दुःख है। संसारका प्रत्येक दुःखी प्राणी विरही है, चाहे उसके दुःखका कोई भी प्रकार हो। प्रत्येक दुःख भगवान्का विरह है।

आत्मविस्मृतिके जीवनमें कुछ समयके लिये जो सुख मिलता है जिससे कभी-कभी मनुष्य उद्धत और उन्मत्त भी हो जाते हैं वह तो दुःखका बड़ा ही भयङ्कर स्वरूप है। उससे अच्छी दशा उन लोगोंकी है जो बेचारे दुःखी हैं, क्योंकि वे उन्मत्त नहीं हैं और संसारको दुःखमय ही मानकर संसार-स्वामीकी कुछ सुध लेते हैं। पर इनसे भी अच्छे सम्भवतः वे लोग हैं जो संसारके दुःखमात्रको भगवान्के विरहका दुःख मानते हैं, क्योंकि सच्ची बात यही है कि संसारमें जो दुःख है वह भगवान्का विरह ही है। विरही सदा अपने प्रियतमका चिन्तन करता रहता है और चिन्तन ही अपूर्णके पूर्णसे मिलनका मार्ग है।

यह दुःखमय संसार अपने दुःखसे यही सूचित करता है कि वह आनन्दमय भगवान्की ओर जा रहा है और यही कारण है कि यह विश्वजननी अपने उन्हीं सुपुत्रोंको धन्य मानती है जो इस संसारमें उत्पन्न होकर भगवत्साक्षात्कार करके इस संसारका दुःख हरते हैं और इसीलिये ऐसे महात्मा **'सर्वभूतहिते रताः'** कहाते हैं। भूतमात्रका कल्याण यही है कि भगवान्से जो उसका वियोग हो गया है सो फिर भगवान्से योग हो जाय। संसारका सबसे बड़ा कल्याण यही है। जो लोग देशसेवा या संसारसेवा करना चाहते हों वे भगवान्से योग करके सबके वियोग-दुःखको दूर करनेका परम्परासे सिद्ध, मुनि-महात्माओंका जो योग चला आया है उसमें युक्त हों। अन्य सब उद्योग, जिनमें अपने स्वरूपकी पहचान नहीं और इस कारण संसारके रूपकी भी पहचान नहीं, केवल दुःखके ही साधन हैं।

संसार भगवान्का कर्म है। कर्म नाम ही संसारका है। कर्म कहते हैं विसर्गको अर्थात् सृष्टि रचनेको—अपना संकल्प मूर्तिमान् करनेको और उस मूर्तिमें आत्मस्वरूप डालनेको। मूर्ति कर्म है और उस मूर्तिको चैतन्य करना उस कर्मकी परिसमाप्ति है—

'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥'

यह परिसमाप्ति यही है कि श्रीभगवान्के संकल्पसे जो चैतन्यांश निकलकर कामवशात् अहंभावसे बद्ध होकर

मूर्तिमान् हुआ वह अपने अंशरूपको जानकर अपने पूर्णरूपके साथ योगयुक्त हो। इस प्रकार यह संसाररूप कर्म—व्यष्टिशः और समष्टिशः—भगवत्संकल्पका मूर्तिमान् रूप है और इसकी परिसमाप्ति श्रीभगवान्‌के साथ इसका योग है। यह योग समस्त विश्व-ब्रह्माण्डमें व्याप्त होकर उसको घेरे हुए है। श्रीभगवान्‌की निजसत्तामें तो नित्ययोग है ही, किसी समय भी वियोग नहीं, पर कर्मसत्तामें आत्मविस्मृतिसे जो वियोग हुआ है, उसीसे संसार आनन्दमय होकर भी दुःखमय प्रतीत हो रहा है—नित्ययोगके भीतर ही यह विरह-दुःख है। संसारके प्राणिमात्रका दुःख इसी दुःखका अंश है। आत्मविस्मृतिके नष्ट होते ही संसार भगवान्‌से नित्ययुक्त है ही।

आत्मविस्मृतिकी अवस्थामें संसार दुःखमय है। आत्मस्मृति (कल्पना नहीं) के होते ही संसार आनन्दमय है, क्योंकि श्रीभगवान्‌के साथ संसारका नित्ययोग प्रकट हो गया। इसी योगके लिये नानाविध भावोंसे संसार तरस रहा है।
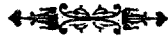
शरणागतियोगमें समस्त योगोंका समन्वय

(स्वामी श्रीपरमहंसजी महाराज)

भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यकी सिद्धिके लिये वेद-शास्त्रों और अनुभवसिद्ध महात्माओंने अधिकारिभेदके अनुसार कर्मयोग, सांख्ययोग, अष्टाङ्गयोग, हठयोग, राजयोग, मृत्युञ्जययोग, प्रेमभक्तियोग, पाशुपतयोग, ध्यानयोग, क्रियायोग, लययोग, मन्त्रयोग, जपयोग, बुद्धियोग, महाभावयोग और पूर्णयोग इत्यादि अनेकानेक उपाय और साधन बतलाये हैं, वे सभी अपने-अपने सन्मार्गमें महत्त्वपूर्ण तथा प्रधान हैं, परंतु विचार करनेपर उन समस्त योगोंका पर्यवसान शरणागतियोगमें होनेसे शरणागतिके समान अन्य कोई सरल सुगम एवं सुखसाध्य साधन नहीं प्रतीत होता। इस योगमें समस्त योगोंका समन्वय है।

शरण, प्रपन्न, अनन्यभक्ति, अव्यभिचारी भक्ति, अवलम्बन, निर्भरता, प्रपत्ति, आत्मसमर्पण, दासभाव, गोपीभाव इत्यादि शब्द प्रायः एक शरणागतिके ही द्योतक हैं। साधारणतया शरणागतिका अर्थ मन-वाणी और शरीरसे अपने-आपको भगवान्‌के अर्पण कर देना है। '**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**।' अर्थात् 'हे प्रभो ! मैं आपका शिष्य—दास हूँ, आपके शरणागत हूँ, मुझे उपदेश दीजिये।' अर्जुनद्वारा केवल इतना कहनेपर भगवान् उसे अद्भुत गीता-शास्त्रका उपदेश करते हैं।

भगवान् भी यही कहते हैं कि जो एक बार भी शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे रक्षाकी प्रार्थना करता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ। यह मेरा सदाके लिये व्रत है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा० रा०, युद्ध० १८। ३३)

वास्तवमें यही वचन शरणागतिका मूलमन्त्र माना जाता है। श्रीरामचरितमानस तो शरणागतिपरक ही है। उपर्युक्त आशयको लेकर ही महात्मा तुलसीदासजीने रामचरितमानसमें अनेक स्थलोंपर शरणागतिके आदर्शको प्रस्तुत किया है। यहाँ महात्मा भरतजीके कुछ वचनोंको दिया जा रहा है—

कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनामु किहें अपनाए॥

(मानस २। २९९। २-३)

परमात्माको सर्वसमर्थ और सर्वश्रेष्ठ मानकर उनके प्रति अपनेको समर्पित कर देना प्रपत्ति है। परमात्माके सिवा किसीका कभी भी किसी कालमें कुछ भी सम्बन्ध—सहारा न मानकर लज्जा, भय, मान, बड़ाई, अभिमान, अहंता, ममता, कामना, दम्भ आदिका परित्यागकर केवल भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, अनन्त गुणोंके अपार समुद्र, सर्वाधिपति, ऐश्वर्य, माधुर्य, धर्म-शौर्य, ज्ञान, वैराग्य, यश, श्री आदिके भण्डार, क्लेश, कर्म-संशय और भ्रमका सर्वथा नाश करनेवाले परमप्रेमी, परमसुहृद्, परम आत्मीय, परमगुरु और परम महेश्वर हैं—ऐसा दृढ़ विश्वास करना चाहिये और उन्हें करुणावरुणालय समझकर अपनेको सर्वथा निराश्रय, निरवलम्ब, निर्बुद्धि, निर्बल, दीन, निःसत्त्व और दास मानते हुए अतिशय श्रद्धा, भक्ति, शक्ति और अनन्यप्रेमपूर्वक निरन्तर

भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, स्वरूपका चित्तसे चिन्तन, बुद्धिसे सब कुछ एक नारायण हैं—ऐसा निश्चय, प्राणोंसे नित्य-निरन्तर भगवन्नाम-जप, कानोंसे भगवत्कथाका श्रद्धापूर्वक श्रवण, नेत्रोंसे भगवद्विग्रहकी झाँकीका दर्शन, वाणीसे नित्य-निरन्तर भगवन्नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभावका संकीर्तन, हाथोंसे भगवान्‌की मधुर मनोहर सुन्दर घनश्यामकी मूर्तिका पूजन, पैरोंसे भगवद्धाम, भगवत्तीर्थ भगवान्‌के मन्दिरोंमें दर्शनार्थ गमन और शरीरसे भगवान्‌की सेवा एवं साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करना— यही अनन्य शरणागति-योग है।

साधक अपने दोषोंको देखकर दीनतापूर्वक भगवान्‌को सर्वगुणाकर मानकर जब उनकी शरण लेता है और अपने-आपको उनके प्रति समर्पण कर देता है तो उसका शरणागति-सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है और पुनः उसके जीव-स्वभाववाले दुर्गुण दूर होकर भगवान्‌की कृपासे उसमें सभी संतों और भक्तोंके गुण अपने-आप बहुत तेजीसे प्रविष्ट होने लगते हैं। भगवान् कहते हैं—मेरा आश्रय लेनेवालेको किसी प्रकार कोई हानि नहीं होती और वह शीघ्र परम धर्मात्मा एवं संत बनकर मुझे भी सर्वदाके लिये प्राप्त कर लेता है—

'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।'

ब्रह्माण्ड तथा पद्मपुराणादिमें शरणागतिके छः भेद बताये गये हैं—

(१) अनुकूलताका संकल्प, (२) प्रतिकूलताकी भावनाका परित्याग, (३) सर्वशक्तिमान् होनेसे वे शरणागत मेरी रक्षा अवश्य करनेमें समर्थ हैं—इसका दृढ़ विश्वास, (४) मैंने उन्हें अपने रक्षकके रूपमें वरण कर लिया है—ऐसी दृढ़ भावना, (५) अपनेको उनके चरणोंमें डाल देना तथा (६) कार्पण्य—अहंकारका परित्याग एवं दीनताका भाव ग्रहण करना।

शरणागत भक्त मन, वचन तथा शरीरसे भगवन्नामरूप, गुण और लीलाओंका चिन्तन, भगवल्लीला एवं नामका गुण-गान और भगवदाज्ञानुसार स्ववर्णाश्रमोचित नियत कर्मोंको निःस्वार्थभावसे भगवान्‌के लिये करता रहता है,यही मन, वाणी तथा शरीरसे भगवदर्पण होना है।

वह प्रत्येक विधानमें भगवान्‌की दयाका दर्शन करता रहता है। भगवान् दया और न्यायके सागर हैं, वही मेरे प्रेमी और सच्चे सुहृद् हैं। उन्होंने मेरे वास्तविक कल्याणके लिये मुझे सुख-दुःख प्रदान किया है, ऐसा मानकर मृत्युको भी भगवान्‌का पुरस्कार मानता है, तनिक भी घबराता नहीं, अपना मन निरन्तर भगवान्‌की मूर्ति, नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभाव, रहस्य तथा तत्त्व-चिन्तनमें लगाये रहता है।

भगवान् समस्त सद्‌गुणोंके आकर या अमृतसमुद्र हैं, उनमें दया, क्षमा, शान्ति, समता, सरलता, उदारता, वात्सल्य, पवित्रता, माधुर्य, औदार्य, सौन्दर्य, अनन्तता, व्यापकता, सच्चिदानन्दघनता अपरिसीम—पूर्ण भरी है। वे षडैश्वर्यसंयुक्त हैं, समस्त जगत्‌के जीवोंमें जो सद्भाव, भक्ति, श्रद्धा, दया और प्रेम दिखायी दे रहा है, वह सब मिलकर प्रेममय दयासागरकी दया तथा प्रेमके एक बूँदके बराबर भी नहीं है। विश्वका तेज और ज्ञान एकत्रित किया जाय तो भी उस तेजमय ज्ञानस्वरूप परमात्माके तेज तथा ज्ञानके एक बूँदके समान नहीं है। इस प्रकार मनसे भगवत्तत्त्वका अनुचिन्तन करना ही मनका अर्पण करना है, मनसे पूर्णतः शरणागति होना है।

भगवन्नाम, रूप, गुण, लीलाओंके प्रतिपादन करनेवाले सत्-शास्त्रों, पुराणों, गीता, रामायणादिका प्रपठन करना, स्वाध्याय कहलाता है। नित्य-निरन्तर नियम तथा सत्प्रेमसे भगवन्नाम, गुण-रूप, प्रेम और महिमाका विस्तारपूर्वक प्रपठन तथा भगवन्नामका वाणीद्वारा संकीर्तन करना वाणीको भगवदर्पण करना है।

भगवान्‌की इच्छा, भगवदाज्ञा, वेद-शास्त्रोक्त ऋषि-मुनियोंकी संस्कृति तथा सत्य नीतिके अनुसार केवल परमात्माके ही लिये कर्तव्यकर्मोंका आचरण करना—शरीरको भगवदर्पण करना कहलाता है। प्रेमी भक्त अपने प्रियतम प्रेमास्पदके लिये ही सम्पूर्ण कर्म करता है।

ऐसी स्थितिमें कर्म बन्धन-रूप नहीं होगा, क्योंकि जब मनुष्य कर्मोंमें ममता, आसक्ति, अहंता और फलकी कामना रखता है, तब वह कर्म बन्धनकारक होते हैं, अतः कर्मफल भोगनेके लिये पुनर्जन्म लेना पड़ता है। अतएव समस्त जगत् परमात्माका है, समस्त पदार्थोंके स्वामी भगवान् हैं, मैं स्वयं भी परमात्माका हूँ, मेरे द्वारा जो कुछ भी यज्ञ, दान, तप, व्रत, सेवा, पूजा, ब्रह्मचर्य आदि कर्म होते हैं, वे सब परमात्माके ही

हैं। ऐसा भाव रखना चाहिये।

मन-वचन तथा शरीरसे भगवदर्पण होनेसे, शरणागतको कोई भय, चिन्ता, अभाव, उत्तरदायित्व और दुर्गति इत्यादि दुःख-दोष नहीं रहता। क्योंकि मनुष्यको बाँधनेवाला 'मैं' और 'मेरा' है। भगवच्छरणागत होनेपर 'मैं-मेरे'के बन्धनसे दास मुक्त हो जाता है। बस, केवल एक तू ही तू और सब कुछ तेरा ही है—यह भावना शरणागतियोग है, यही अर्पण है, यही अर्पण सिद्ध है, यही मुक्ति है।

भगवान् स्वयं अपनी अभय शरणकी प्रतिमा तथा शरणागतके बन्धन, चिन्ता, दुःख, अभावसे निर्भय होनेके लिये कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६६)

अर्थात् सम्पूर्ण धर्मों, कर्तव्यकर्मों, फल-कामनाओं, अहंता-ममताओं और मोहासक्तियोंको त्यागकर केवल एकमात्र समस्त योगों, सम्पूर्ण क्रिया और मुक्ति-साधनोंमें परम श्रेष्ठ मेरी शरणागति-योगको अपना लेना सर्वोत्तम योग है।

वास्तवमें भगवत्-शरणागतको अपने स्वार्थ एवं उद्धार होनेसे मतलब ही क्या? वह तो अपने-आपको मन-वचन-तनसहित उनके चरणोंमें समर्पित कर, सर्वथा निश्चिन्त हो जाता है, समस्त कर्मोंको भगवत्समर्पण कर, सब कुछ प्रभुका समझकर जीवन, मन, वचन और तनकी ममता, अहंता, आसक्ति, अभिमान, कामनाओंका सर्वथा त्यागकर भगवान्की शरणके अतिरिक्त किसीसे भी प्रयोजन नहीं रखता है। भगवान्को परम प्राप्य, परमगति, परमाधार, परमप्रिय, परम हितैषी, परम प्रभु, परम सुहृद्, परम आत्मीय, परम स्वामी, संरक्षक, कर्ता-भर्ता समझकर बैठते-उठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते और हर प्रकारसे परम श्रद्धासे, अनन्य चित्तसे नित्य-निरन्तर भगवान्को भजता रहता है। उसका समस्त भार तो भगवान् अपने जिम्मे ले लेते हैं।

इस मार्गपर चलनेवाले भक्तके कामना, वासना, इच्छा, तृष्णा, स्पृहा, आसक्ति-मोहादि दुर्गुण और दुराचार स्वतः नष्ट हो जाते हैं। दैवी सम्पदाका विकास और आसुरी सम्पदाका नाश होनेमें भगवान्की दया ही प्रधान हेतु है। मन-वाणी तथा शरीरको सर्वाङ्गभावसे शरणागति-योगकी प्राप्ति नहीं हुई है तो समझना होगा कि अभीतक मनमें कहीं 'मैं-मेरा' इस प्रकारकी इच्छा-कामना छिपी हुई है। इसे दूर करनेके लिये परमात्मासे बार-बार प्रार्थना करनी चाहिये कि उसकी सभी इन्द्रियाँ प्रभु-कार्यमें ही लगी रहें—

जिह्वे कीर्तय केशवं मुररिपुं चेतो भज श्रीधरं
पाणिद्वन्द्व समर्चयाच्युतकथां श्रोत्रद्वय त्वं शृणु।
कृष्णं लोकय लोचनद्वय हरेर्गच्छाङ्घ्रियुग्मालयं
जिघ्र घ्राण मुकुन्दपादतुलसीं मूर्द्धन् नमाधोक्षजम्॥

'हे जिह्वे! केशव-नामका संकीर्तन कर। हे चित्त! मुरारि-माधवका चिन्तन कर। हाथो! श्रीधरकी सेवा-पूजा करो। कानो! तुम अच्युत भगवान्की ही कथा श्रवण करो। नेत्रो! भगवान् श्रीराम-श्रीकृष्ण-श्रीशिव, श्रीभगवती माँकी मनोहर मधुर-सुन्दर छबिका दर्शन करो। चरणयुगलो! भगवद्धाम तीर्थोंमें सदा भ्रमण करते रहो। नासिके! तुम मुकुन्दके चरणोंपर चढ़ी तुलसीदलका सुवास लिया करो और मस्तक! भगवान् अधोक्षजके समक्ष झुककर साष्टाङ्ग प्रणाम किया कर। यही सर्वाङ्ग उपासना समस्त योगोंका समन्वय—शरणागति-योग है।

ध्यान

करु मन नंदनँदनको ध्यान।
यहि अवसर तोहिं फिर न मिलैगो, मेरौ कह्यौ अब मान॥
घूँघरवारी अलकैं मुखपै, कुण्डल झलकत कान।
नारायन अलसाने नैना, झूमत रूपनिधान॥

—श्रीनारायण स्वामी

प्रेमयोग

(१)

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकामें थे। व्रजगोपियोंकी बात छिड़ते ही विह्वल हो उठते थे। पटरानियोंको इससे बहुत ईर्ष्या होती थी। इनकी ईर्ष्या भङ्ग करनेके लिये भगवान्ने एक लीलाका अभिनय किया। भगवान् बीमार हो गये। बीमारी भी कठिन थी। वैद्यजीने ओषधिकी व्यवस्था की, अनुपान बतलाया 'चरणरज'। यह अनुपान कौन देता है? चरणरजके लिये सभीसे पूछा गया। रुक्मिणी, सत्यभामा आदि सभी महिषियोंने नरकके डरसे चरणरज देनेकी बातपर मुख मोड़ लिया। श्रीकृष्णको चरणरज देनेका दुःसाहस कौन करता। देवर्षि नारदजीको विश्वके सभी देवी-देवताओंके पास भेजा गया। परंतु किसकी हिम्मत थी जो ऐसा दुःसाहस करे। नारदजी म्लानमुख खाली हाथ लौट आये। भगवान्ने कहा—'एक बार व्रज जाकर तो शेष चेष्टा कर देखो।' नारदजीको बात बहुत नहीं भायी। परंतु भगवान्का कहना था, व्रज जाना ही पड़ा। नारदजी हमारे श्यामसुन्दरके पाससे आये हैं, सुनकर पगली श्रीराधाजीके साथ व्रजाङ्गनाएँ बासी मुँह ही दौड़ीं प्राणनाथकी कुशल पूछनेके लिये। नारदजीने श्रीकृष्णकी बीमारीकी बात सुनायी। गोपियोंके प्राण सूख गये। उन्होंने कहा—

'क्यों, क्या वहाँ कोई वैद्य नहीं है?'

'वैद्य भी हैं, दवा भी तैयार है, परंतु अनुपान नहीं मिलता'—नारदजीने कहा।

'ऐसा क्या अनुपान है?'

'अनुपान बहुत ही दुर्लभ है, तमाम जगत्में चक्कर लगा आया। है सभीके पास, पर कोई भी देना नहीं चाहता या दे नहीं सकता।'

'कहिये, कहिये भगवन्! क्या वह अनुपान हमलोगोंके पास भी है? होगा तो हम जरूर ही देंगी'—व्रजगोपियोंने व्याकुल होकर कहा।

'तुम नहीं दे सकोगी।'

'उनको नहीं दे सकेंगी, ऐसी हमारे पास कोई वस्तु कैसे रह सकती है?'

'अच्छा! क्या श्रीकृष्णको अपने चरणोंकी धूल दे सकोगी? इसी अनुपानके साथ दवा देनेसे उनका रोग नष्ट होगा।'

'यह कौन-सी बड़ी कठिन बात हुई? लो, हम पैर बढ़ाये देती हैं, जितनी चाहिये चरणधूलि अभी ले जाओ'—गोपियोंने सरल हृदय और उत्साहसे कहा।

'अरी, करती क्या हो? क्या तुम यह नहीं जानती कि श्रीकृष्ण 'भगवान्' हैं, भगवान्को चरणधूलि दे रही हो? वे जगत्पति हैं, क्या तुम्हें नरकका भय नहीं है?' नारदने आश्चर्यचकित होकर कहा।

'नारदजी! हमारे मुक्ति-भुक्ति, स्वर्ग-नरक, जीवन-मरण, सुख-दुःख, हँसी-रुलाई सब एक श्रीकृष्ण ही हैं। अनन्त नरकमें जाकर भी यदि हम श्यामसुन्दरकी देहको पुनः स्वस्थ और सबल पा सकें, तो हम ऐसे मनचाहे नरकका तो नित्य ही भजन करें। जानते नहीं नारदजी! हमारे लिये श्यामसुन्दरने अघासुर, नरकासुर आदिको तो पहलेसे ही मार रखा है। हम न पाप जानती हैं और न नरक मानती हैं। हम तो जानती हैं मात्र हमारे श्यामसुन्दरके सुखको—लीला-विलासको। तुम्हारे सारे पापों और नरकोंको हमलोगोंने इस लीला-विलासके अंदर बदनमें मल लिया है। इसीसे तो हम जल-मर रही हैं। यह मरना ही हमारा जीवन है।'

नारदका वक्षःस्थल पवित्र प्रेमधारासे धुल गया, नारदजीने श्रीश्रीराधारानीके चरणोंकी रज लेकर थोड़ी-सी तो अपने सब अङ्गोंमें लगायी और शेष बची हुईकी पोटली बाँध ली विश्वेश्वरकी ऐश्वर्य-व्याधिके विनाशके लिये। गोपीपदरजके स्पर्शसे परमोज्ज्वलतनु होकर जब नारदजी चरणधूलिकी पोटलीको मस्तकपर रखे द्वारकामें पधारे, तब वहाँ आनन्दकी लहर बह चली। चरणरजके अनुपानसे श्रीकृष्णने औषध ली और सहज ही निरामय हो गये। महर्षियोंका मान भङ्ग हो गया, उन्होंने आज प्रत्यक्ष प्रमाणसे गोपीप्रेमकी अपार अतलस्पर्शी गम्भीरता और मधुरिमाको देख लिया। और श्रीकृष्ण गोपियोंकी बात छिड़ते ही क्यों तन-मनकी सुधि भूल जाते हैं, इसका रहस्य भी उनकी समझमें आ गया। धन्य प्रेमयोग।

(२)

एक समय श्रीधाम—द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी रात्रिकालमें श्रीरुक्मिणी, सत्यभामा-प्रभृति-प्रधाना षोडश राजमहिषियोंके मध्य शयन कर रहे थे। स्वप्नावस्थामें आप अकस्मात् 'हा राधे ! हा राधे !' उच्चारण करते हुए क्रन्दन करने लगे। जब अन्य किसी प्रकार प्रभुका क्रन्दन नहीं रुका तो बाध्य होकर महारानी श्रीरुक्मिणीदेवीने अपने प्राणवल्लभको चरण-संवाहनपूर्वक जागृत किया। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र निद्राभङ्ग होनेपर किंचित् लज्जित हुए और उन्होंने अति चतुराईसे अपना भाव गोपन कर लिया और पुनः निद्रित हो गये। परंतु इसका रहस्य जाननेके लिये महारानियोंके हृदयमें अत्यन्त व्यग्रता उत्पन्न हुई। सब परस्पर कहने लगीं—'देखो, हम सब सोलह सहस्र महिषी हैं और कुल, शील, रूप एवं गुणमें कोई भी अन्य किसी रमणीसे न्यून नहीं है, तथापि हमारे प्राणवल्लभ किसी अन्य रमणीके लिये इतने व्याकुल हैं, यह तो बड़े ही विस्मयकी बात है, रात्रिमें स्वप्नावस्थामें भी जिस रमणीके लिये प्रभु इतने व्याकुल होते हैं वह रमणी भी, न मालूम कितनी रूप-गुणवती होगी ? इसपर श्रीरुक्मिणीदेवी कहने लगीं—'हमने सुना है कि वृन्दावनमें राधा नामकी एक गोपकुमारी है, हमारे प्राणेश्वर उसके प्रति अत्यन्त आकृष्ट हैं, इसीलिये रूपलावण्यवैदग्ध्य-पुञ्ज नयनाभिराम श्रीप्राणनाथ हम सबके द्वारा परिसेवित होकर भी उस सर्वचित्ताकर्षक चित्ताकर्षणीके अलौकिक गुणग्राम भूल नहीं सके हैं।' श्रीसत्यभामादेवी कहने लगीं—'सब ठीक ही है, तो भी वह एक गोपकन्याके सिवा तो कुछ नहीं, फिर उसके प्रति हमारे प्राणकान्त इतने आसक्त क्यों हैं ? अस्तु, जो कुछ भी क्यों न हो, हमारी सम्मतिमें तो इस सम्बन्धमें रोहिणीमातासे पूछनेपर ही इसका ठीक-ठीक पता लग सकेगा, क्योंकि उन्होंने स्वयं वृन्दावनमें वास किया है और उस समयकी सम्पूर्ण घटनाओंको वे भलीभाँति जानती हैं।' यह प्रस्ताव सबको रुचा। रात्रि बीती, प्रातःकाल हुआ। श्रीकृष्णचन्द्र प्रातःकृत्य समापन करके राजसभाको पधारे और यथासमय पुनः अन्तःपुर पधारकर स्नानादि-समाधानपूर्वक भोजन करने बैठे। राजभोग सम्मुख आकर उपस्थित हुए, उद्धवादि सखावृन्दसहित प्रभुने भोजन किया और आचमन करके किञ्चित् विश्रामपूर्वक पुनः राजसभाको गमन किया। अवसर पाकर महारानियोंने श्रीरोहिणीदेवीको पूर्वरात्रिकी घटना सुनाकर उनसे व्रजवृत्तान्त पूछा। माताजी कहने लगीं—'प्यारी पुत्रियो ! यद्यपि मैं व्रजलीलाकी सम्पूर्ण घटनाएँ जानती हूँ, किंतु माता होकर पुत्रकी गुप्त लीलाओंका रहस्य किस प्रकार कह सकती हूँ ? यदि राम-कृष्ण यह कथा सुन लें तो फिर लज्जाकी सीमा न रहेगी।' इसपर महिषीगण कहने लगीं—'माताजी ! जिस किसी प्रकारसे भी हो सके, हमें व्रजलीलाकी कथा तो आपको अवश्य ही सुनानी होगी।' माताजीने कहा—'तब एक उपाय करो, सुभद्राको द्वारपर पहरेके लिये बैठा दो; कह दो, किसीको अंदर न आने दे, फिर मैं निःसंकोच तुम्हारे निकट व्रजलीलाका वर्णन करूँगी !' माताजीने यह कहकर सुभद्राकी ओर देखा और कहा—'सुभद्रे ! यदि राम-कृष्ण आयें तो उन्हें भी कदापि भीतर मत आने देना।' माताजीका आदेश-पालन किया गया। सुभद्रा 'जो आज्ञा' कहकर द्वार-रक्षा करने लगीं। महिषीवृन्द माताजीको चारों ओरसे घेरकर बैठ गयीं और माताजीने सुमधुर व्रजलीलाका वर्णन करना आरम्भ किया।

इधर राजसभामें राम-कृष्ण दोनों भाई चञ्चल हो उठे। जब किसी प्रकार भी राजसभामें नहीं ठहर सके तो उत्कण्ठित-चित्त होकर अन्तःपुरकी ओर चल पड़े। आकर देखते हैं कि सुभद्रादेवी द्वारपर खड़ी हैं। उन्होंने सुभद्रादेवीसे पूछा—'तुम आज यहाँ क्यों खड़ी हो ? द्वार छोड़ दो, हमलोग भीतर जायँ।' सुभद्रादेवीने कहा—'रोहिणी माँने इस समय तुम्हारा अन्तःपुरमें प्रवेश करना निषेध कर रखा है, अतः तुमलोग अभी भीतर नहीं जा सकोगे।' यह सुनकर जब दोनों भाई आश्चर्यान्वित होकर इस निषेधका कारण ढूँढ़ने लगे तो माताजीकी वह रहस्यपूर्ण व्रजलीलात्मक वार्ता उन्हें सुनायी दी। यह वार्ता श्रीवृन्दावनचन्द्रकी परमकल्याणमय, परमपावन, अद्भुत मङ्गलरासविहारात्मक थी। सुनते-सुनते दोनों भाइयोंके मङ्गल श्रीअङ्गोंमें अद्भुत प्रेम-विकारके लक्षण दिखायी देने लगे। क्रमशः दोनों ही प्रेमानन्दमें विह्वल हो गये। अविश्रान्त प्रेमाश्रुकी मन्दाकिनीधारा प्रवाहित होकर दोनोंके गण्डस्थल एवं वक्षःस्थलको प्लावित करने लगी। यह देखकर सुभद्रादेवी भी एक अनिर्वचनीय महाभावावस्थाको प्राप्त हो गयीं। जिस समय

माताजी स्वामिनी श्रीवृन्दावनेश्वरीजीकी अद्भुत प्रेमवैचित्र्या-वस्थाका वर्णन करने लगीं, उस समय श्रीबलरामजी किसी प्रकार भी धैर्य धारण न कर सके। उनके धैर्यका बाँध टूट गया, श्रीअङ्गमें इस प्रकार महाभावका प्रकाश हुआ कि उनके श्रीहस्त-पद संकुचित होने लगे और जब माताजी निभृत निगूढ़- विलास वर्णन करने लगीं,तब तो श्रीकृष्णचन्द्रजीकी भी यही अवस्था हुई। दोनों भाइयोंकी यह अद्भुत अवस्था देखकर सुभद्रादेवीकी भी यही अवस्था हो गयी। तीनों मङ्गलस्वरूप ही महाभावस्वरूपिणी स्वामिनी श्रीवृन्दावनेश्वरीजीके अपार महाभावसिन्धुमें निमज्जित होकर ऐसी स्वसंवेद्यावस्थाको प्राप्त हो गये कि वे लोगोंके देखनेमें निश्चल स्थावर प्रतिमूर्तिस्वरूप परिलक्षित होने लगे। निश्चल निर्वाक् स्पन्दरहित महाभावा-वस्था! अतिशय मनोऽभिनिवेशपूर्वक दर्शन करनेपर भी श्रीहस्तपादावयव किञ्चित् भी परिलक्षित नहीं हो सकते थे। आयुधराज श्रीसुदर्शनजीने भी विगलित होकर लम्बिताकार धारण कर लिया।

इसी समय स्वच्छन्दगति देवर्षि नारदजी भगवद्दर्शनके अभिप्रायसे श्रीधाम-द्वारकामें आ उपस्थित हुए। उन्होंने राजसभामें जाकर सुना कि राम-कृष्ण दोनों भाई अन्तःपुर पधारे हैं। देवर्षिजीकी सर्वत्र अबाधगति तो है ही, अन्तःपुरके द्वारपर जाकर उन्हें जो अद्भुत दर्शन हुए,उससे देवर्षिजी स्तम्भित हो गये। इस प्रकारका दर्शन उन्होंने पूर्वमें कभी नहीं किया था। निज प्राणनाथकी ऐसी अद्भुत अवस्थाके कारणका विचार करते हुए प्रेमविवश स्तम्भ-भावको प्राप्त होकर देवर्षिजी भी वहीं चुपचाप खड़े रह गये। कुछ ही क्षण पश्चात् जब माताजीने पुनः किसी एक रसान्तरका प्रसंग उठाया, तब उन सबको पूर्ववत् स्वास्थ्यलाभ हुआ। सिद्धान्ततः रसान्तरद्वारा रसापत्तिका विदूरित होना सङ्गत ही है। इसी अवसरपर महाभावविस्मित देवर्षि नारदजीने बहुविध स्तव—स्तुति करना आरम्भ कर दिया। करुणावरुणालय श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने देवर्षिद्वारा स्तुत होकर प्रसन्नतापूर्वक कहा—'देवर्षे! आज बड़े ही आनन्दका अवसर है। कहिये, मैं आपका क्या प्रीति सम्पादन करूँ?' देवर्षिजीने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'प्रभो! वर्तमानमें यहाँपर उपस्थित होकर आप सबका जो एक अदृष्टाश्रुतपूर्व महाभावावेश परिलक्षित हुआ है, स्वरूपतः वह क्या पदार्थ है और किस प्रकार उस महावस्थाका प्राकट्य हुआ? कृपया सविशेष उल्लेख करके दासको कृतार्थ कीजिये। सर्वप्रथम तो सेवामें यही एकान्त निवेदन है।' भक्तवत्सल श्रीभगवान् अमन्दहास्यचन्द्रिकापरिशोभित सुन्दर श्रीवदनचन्द्रमासे देवर्षि नारदजीके सर्वात्माको आप्यायित करते हुए इस प्रकार वचनामृत वर्षण करने लगे—'देवर्षे! प्रातः तथा मध्याह्न-कृत्यसमापनपूर्वक जिस समय हम दोनों भाई राजसभामें समासीन थे, उसी समय महिषीगणके द्वारा पूछे जानेपर माता रोहिणीदेवीने महाचित्ताकर्षिणी अपार माधुर्यमयी व्रजलीला-कथाकी अवतारणा की। महामाधुर्यशिखरिणी व्रज-लीलावार्ताका ऐसा प्रभाव है कि हम जहाँ और जिस अवस्थामें भी हों, हमें वहींसे और उसी अवस्थामें ही आकर्षण करके वह कथास्थलपर खींच लाता है। हम दोनों भाई ऐसे ही आकर्षित होकर यहाँ उपस्थित हुए और देखा कि सुभद्राजी द्वारपालिकारूपमें द्वारपर खड़ी हैं। उत्कण्ठावश अन्तःप्रवेशकाम हम दोनों श्रीसुभद्राद्वारा रोके जानेपर प्रवेशनिषेधका कारण ढूँढ़ते रहे, उसी समय श्रीमाताजीके मुखारविन्दविगलित अत्यद्भुत व्रजलीलामाधुरीने कर्णगत होकर हमारे हृदय विगलित कर दिये। तत्पश्चात् जो अवस्था हुई उसका तो आपने प्रत्यक्ष दर्शन किया ही है। मेरी प्राणेश्वरी महाभावरूपिणी श्रीस्वामिनीजीके महाभावकर्तृक सम्पूर्ण भावसे ग्रसित होनेके कारण हम आपका पधारना भी नहीं जान सके।' इतना कहकर भगवान्ने जब देवर्षिजीसे पुनः वरग्रहणका अनुरोध किया तो देवर्षिजी प्रार्थना करने लगे, 'भगवन्! मैं और किसी वरका प्रार्थी नहीं हूँ। निजजनोंके सर्वाभीष्टप्रदाता चरणयुगलमें केवल यही प्रार्थना है कि आप चारोंकी जो एक अत्यद्भुत महाभावा वेशमूर्ति मैंने प्रत्यक्ष दर्शन की है, वही भुवनमङ्गल चारों स्वरूप जनसाधारणके नयनगोचरीभूत होकर सर्वदा इस पृथिवीतलपर विराजमान रहें। माया-संनिपातमें ग्रस्त जीवसमूह एवं तद्दर्शनविरहकातर भक्तजनके लिये वह महासंजीवनी रसायन स्वरूपचतुष्टय सर्वोत्कर्षतासहित जययुक्त होवें।' करुणायतन भक्तवाञ्छापूर्णकारी श्रीभगवान्ने कहा—'देवर्षे! इस विषयमें मैं पूर्वसे ही अपने दो और परमभक्तोंके प्रति भी आपके प्रार्थनानुरूप ही वचनबद्ध हूँ—एक भक्तचूडामणि महाराज इन्द्रद्युम्न और द्वितीय परमभक्ति-

स्वरूपिणी श्रीविमलादेवी। निखिलप्राणिकल्याणहित भक्तचूडामणि महाराज इन्द्रद्युम्नकी घोरतर तपस्यासे प्रसन्न होकर मैं नीलाचल-क्षेत्रमें दारुब्रह्मस्वरूपमें अवतीर्ण होकर जनसाधारणको दर्शन देनेका वर प्रदान कर चुका हूँ तथा महाविद्यास्वरूपिणी श्रीविमलादेवीद्वारा अनुष्ठित महातपस्यासे प्रसन्न होकर उनकी प्राणिमात्रको बिना विचार किये महाप्रसाद वितरण करनेकी प्रतिज्ञाको उक्त स्वरूपसे ही पूर्ण करनेकी स्वीकृति दे चुका हूँ। अतएव इन तीनों उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये हम चारों इसी स्वरूपमें आगामी कलियुगमें लवणसमुद्र-तटवर्ती नीलाचल-क्षेत्रमें अवतीर्ण होकर प्रकाशमान रहेंगे।' सर्व-जीवकल्याणव्रत देवर्षि श्रीनारदजीने मनोवाञ्छित वर प्राप्त करके प्रभुचरणारविन्दमें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और मधुर वीणासे करुणावारिधि श्रीप्रभुके अमृतमय नामगुणमाधुरीका गान करते-करते यदृच्छागमन किया। श्रीराम-कृष्णने भी माताजीके कथञ्चित् संकोचकी आशंका करके उस स्थानसे प्रस्थान किया। ये ही मूर्तिचतुष्टय श्रीकृष्ण, बलराम, सुभद्रा एवं सुदर्शनरूपसे श्रीनीलाचलक्षेत्रको विभूषित करके अद्यापि विराजमान हैं।

(३)

एक बार श्रीराधाजी अपनी सखियोंसहित सिद्धाश्रम नामक तीर्थमें स्नान करने गयीं। उसी तीर्थमें भगवान् श्रीकृष्ण भी अपनी सोलह हजार रानियों और रुक्मिणी, सत्यभामा आदि आठों पटरानियोंसहित पधारे। भगवान्की रानियाँ और पटरानियाँ भगवान्के श्रीमुखसे सदा ही श्रीराधाजी एवं श्रीगोपियोंके प्रेमकी प्रशंसा सुनती थीं। आज शुभ अवसर जानकर भगवान्की महिषियोंने श्रीराधाजीसे मिलनेकी इच्छा की और भगवान्की आज्ञा लेकर उनके साथ सब श्रीराधाजीसे मिलने गयीं। श्रीराधाजीको समस्त सखियोंसमेत भगवान्के दर्शनसे बड़ा ही सुख मिला। पश्चात् श्रीराधाजीने भगवान्की समस्त पटरानियोंका बड़ा ही सत्कार किया। बातचीतमें उन्होंने कहा—'बहिनो! चन्द्रमा एक होता है परंतु चकोर अनेक होते हैं, सूर्य एक होता है परंतु नेत्र अनेक होते हैं। इसी प्रकार हमारे प्रियतम भगवान् श्रीकृष्ण एक हैं और हम उनकी भक्त अनेक हैं'—

चन्द्रो यथैको बहवश्चकोराः
सूर्यो यथैको बहवो दृशः स्युः।
श्रीकृष्णचन्द्रो भगवांस्तथैको
भक्ता भगिन्यो बहवो वयं च॥

श्रीराधाजीके शील, स्वरूप, सौन्दर्य, गुण और व्यवहारका महिषियोंपर बड़ा ही प्रभाव पड़ा। वे आग्रह करके श्रीराधाजीको अपने स्थानपर लायीं और उनका यथासाध्य सबने बड़ा ही सत्कार किया। भोजनादिके उपरान्त रातको श्रीराधाजीको भगवान्की आज्ञासे श्रीरुक्मिणीजीने स्वयं दूध पिलाया। अनेक प्रकार प्रेमसंलाप होनेके अनन्तर श्रीराधाजी अपने स्थान पधार गयीं। भगवान् अपने शयनागारमें लेटे हुए थे। श्रीरुक्मिणीजी नित्यनियमानुसार वहाँ जाकर भगवान्के चरण दबाने बैठीं। चरणोंके दर्शन करते ही वह आश्चर्यमें डूब गयीं। उन्होंने देखा—भगवान्की तमाम चरणस्थलीपर फफोले पड़ रहे हैं। श्रीरुक्मिणीने अपनी संगिनी सब रानियोंको बुलाकर भगवान्के चरण दिखाये। सभी चकित और स्तम्भित हो गयीं। भगवान्से पूछनेकी हिम्मत किसीकी नहीं। तब श्रीभगवान्ने आँखें खोलकर सब रानियोंके वहाँ जमा होने और यों चकित रह जानेका कारण पूछा। श्रीरुक्मिणीजीने बड़ी ही नम्रताके साथ पैरके तलुओंमें फफोलोंकी बात कहकर भगवान्से ऐसा होनेका कारण पूछा। भगवान्ने पहले तो बातको टाल दिया, परंतु बहुत आग्रह करनेपर उन्होंने कहा—'देखो—तुम लोगोंने श्रीराधाजीको जो दूध पिलाया था, वह गरम अधिक था। इसीलिये मेरे पैरमें फफोले पड़ गये।' रानियोंकी समझमें यह बात नहीं आयी। उन्होंने पूछा—'दूध यदि गरम था तो उससे श्रीमतीजीका मुँह जलता, आपके पैरके फफोलोंसे उसका क्या सम्बन्ध?' भगवान्ने मुस्कराते हुए कहा—श्रीराधाजीके हृदयकी बात ही निराली है—

श्रीराधिकाया हृदयारविन्दे
पादारविन्दं हि विराजते मे।
अहर्निशं प्रश्रयपाशबद्धं
लवं लवार्धं न चलत्यतीव॥
अद्योष्णदुग्धप्रतिपानतोऽङ्घ्रा-
वुच्छालकास्ते मम प्रोच्छलन्ति।
मन्दोष्णमेवं हि न दत्तमस्यै
युष्माभिरुष्णं तु पयः प्रदत्तम्॥

'श्रीराधिकाजीके हृदयकमलमें मेरे चरणकमल दिन-रात प्रेमपाशमें बँधे विराजते हैं, एक क्षण या अर्ध क्षणको भी उस बन्धनसे छूटकर वे वहाँसे नहीं हट सकते। तुमने दूध जरा ठंडा करके नहीं दिया, बहुत गरम दे दिया और श्रीराधाजी उसे तुम्हारा दिया हुआ जानकर पी गयीं। दूध हृदयमें गया और मेरे चरण उससे जल गये, इसीसे फफोले पड़ गये।'

भगवान्‌के वचन सुनकर श्रीरुक्मिणीजी, सत्यभामाजी आदि सभी महारानियोंको बड़ा ही आश्चर्य हुआ और वे श्रीराधाजीके प्रेमके सामने अपने प्रेमको बहुत ही तुच्छ मानने लगीं।
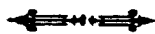
चित्तकी दशाएँ

संसारदशा - जाग्रत्-अवस्था

चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम ही योग है। जब मनुष्य योगदर्शनके नियमोंके अनुसार ऐसी साधना कर लेता है कि जिससे चित्त पुरुषकी इच्छाके अनुसार किसी स्थानमें रोकनेसे वहींपर स्थिर रह जाय, बलात्कारसे विषयान्तरपर धावन न करे, उस साधनाका नाम योग है। अतएव योगकी पूर्व अवस्था जाननेके लिये यह संसार-अवस्थाका प्रथम चित्र है।

इस चित्रमें चित्तकी जो दशा दिखायी गयी है, वह सर्वसाधारण मनुष्यके चित्तकी है। यह मनुष्यकी जाग्रत्-अवस्था है। हृदयदेशमें जो सूर्यके आकारके समान आकार है, वह चित्त है। जिस प्रकार उदयकालमें सूर्यकी किरणें एक साथ ही सम्पूर्ण संसारको स्पर्श कर लेती हैं और सब प्राणी दिनका अनुभव कर लेते हैं, उसी प्रकार चित्तकी वृत्तियाँ शरीरके सब अङ्गोंपर व्याप्ति कर लेती हैं, शरीर जाग्रत्-अवस्थामें आ जाता है। एवं शरीरमें रहनेवाली इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करने लगती हैं—नेत्र देखने लगता है, कान सुनने लगता है, रसना रसका अनुभव करने लगती है इत्यादि। उसी प्रकार कर्मेन्द्रियाँ भी अपने-अपने कार्यमें तत्पर हो जाती हैं। यह चित्तकी जाग्रत्-अवस्था है। इसके द्वारा जीवात्मा संसारकी सब स्थूल वस्तुओंका अनुभव कर रहा है। यह एक मनुष्यका आकार है। वह एक राजाका चित्र है, उसके आसपास उसका परिवार दिखाया गया है और उसके अतिरिक्त उसकी सब सम्पत्तियाँ तथा अन्य-अन्य संसारकी वस्तुएँ हैं, जिनका अनुभव एवं उपयोग वह कर रहा है। इसी प्रकार मनुष्यको अपनी जाग्रत्-अवस्थाका अनुभव होता है। यह चित्तकी बाह्य वृत्ति है।

वासनामय जगत्—स्वप्नावस्था

यह चित्तकी दूसरी अवस्था है। दिनकी अवधि पूरी होनेपर आयी। सूर्यनारायण अस्ताचलपर जा रहे हैं। उनकी संसारव्यापिनी वे सब किरणें अब संसारको छोड़कर सूर्यके बिम्बमें लय हो रही हैं। जिस सूर्यके सामने दिनमें देखा नहीं जा सकता था, अब उसीको मनुष्य आँख फाड़-फाड़कर देख रहे हैं। एक साधारण गोल अङ्गार-पिण्डके समान भगवान् सूर्यदेव दिखायी दे रहे हैं, उसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थाकी अवधि पूरी हो गयी है। दिनके विविध कार्योंके अनुष्ठानकी थकावट और आहारकी मादकताने इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको खींचना आरम्भ कर दिया है और सब अङ्ग शिथिल होते जा रहे हैं, मानो जाग्रत्-अवस्थाका संसार निद्राके अन्धकारमें लीन होता जा रहा है, नेत्र आदि सब इन्द्रियोंके द्वारोंपर निद्राके परदे पड़ते जा रहे है, होते-होते सब जाग्रत्-संसार लुप्त हो गया और पुरुष-शरीर काष्ठवत् अवस्थित हुआ शय्यापर पड़ा हुआ है।

वर्तमान फोटो यन्त्रके काँचके समान पुरुषकी सब इन्द्रियाँ जाग्रत्-अवस्थामें अपने-अपने विषयोंकी छायाको लेकर अन्तःकरणके पटलमें छाप देती हैं। अब वह सब अनुभूत विषयोंकी छाया अन्तःकरणमें है। वे विषय जो जाग्रत्-अवस्थामें जहाँ थे, वहीं रह गये हैं, केवल उनकी छाया मात्र अन्तःकरणदेशमें है। इसी छायाको वासना कहते हैं। इस वासनासे स्वप्नावस्थामें जिन विषयोंका प्राणी अनुभव कर रहा है, यह उसका वासनामय जाग्रत् है। उस अवस्थामें भी वह जाग्रत्‌के समान संसारके सुख-दुःखोंका अनुभव कर रहा है। यह चित्तकी वासनामयी अन्तर्वृत्ति है। जिस प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें नाना व्यवसायोंमें चित्त व्यापृत रहता है, उसी प्रकार स्वप्नावस्थामें भी विविध व्यापारोंमें ग्रस्त रहता है। किसी प्रकार भी विश्राम नहीं है। ये दोनों ही जीवके कर्मानुसार भोगके कारण हैं।

जगत्का अभाव—सुषुप्ति-अवस्था

यह चित्तकी तीसरी अवस्था है। जब मनुष्यके आहार-विहारके अतिशयसे निद्रामें ही गाढ़ता आ जाती है, उस समय वह सुषुप्ति-अवस्था कहलाती है। इसमें जो जाग्रत्-अवस्थाके अनुभवोंसे स्वप्नावस्थामें वासनाएँ थीं, वे भी सब निद्राकी गाढ़ताके कारण विलुप्त हो गयी हैं। जैसे गाढ़ अँधियारी रात्रिमें सब जगत् अन्धकारमें विलुप्तप्राय हो जाता है, उसी प्रकार इस सुषुप्ति-अवस्थामें भी सब वासनाओंका अविद्यामें लय हो जाता है। देखिये, चित्रके अन्तःकरणदेशको कोई आकार नहीं दिखाता है। यह अन्तःकरणकी वह अवस्था है, जिसमें स्थूल या सूक्ष्म कोई-सा भी भोग नहीं है। केवल आत्माका सुखस्वरूप ही शेष रह जाता है। यह संसारकी ही तीसरी अवस्था होनेपर भी आत्मावबोधकी सुखावस्थाका नमूना है, किंतु अस्थायी है और तमोऽभिभूत है। जब मनुष्यकी योग-सिद्धि हो जाती है और समाधिसे चित्त एकाग्र हो जाता है, उस समय वह आत्मस्वरूपके सुखका ही अनुभव करता है, संसारके सुख-दुःखोंसे अतीत हो जाता है। योगदर्शनमें इसे ही स्वरूपावस्थिति कहा गया है।

जपयोग

(बालयोगी श्रीबालस्वामीजी महाराज (श्री न० रा० निगुडकर) के अनुभवयुक्त विचार)

योग क्या है ?

'योग' शब्दके अनेक अर्थ हैं, पर मुख्य अर्थ दो हैं—एक 'जोड़ना' और दूसरा 'उपाय'। योगसाधनके द्वारा साधकका मन अन्तर्यामीके साथ जोड़ा जाता है। साध्य एक होनेपर भी उसे सिद्ध करनेके अधिकार-भेदसे अनेकानेक साधन होते हैं, यही तो हिन्दूधर्मकी विशेषता है। ऐसे सब साधनोंका सामान्य नाम 'योग' है और फिर प्रकार-भेदसूचक शब्द लगाकर अमुक योग कहा जाता है, जैसे—कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, हठयोग, नादयोग, लययोग, जपयोग इत्यादि। अर्थात् जिस-जिस उपायसे चित्तका स्वस्वरूपके साथ योग होता है उसको योग ही कहते हैं। योगशास्त्रमें ऐसे अनेक योग हैं। उन्हींमें एक जपयोग है।

बन्ध-मोक्ष

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
चित्ते चलति संसारो निश्चले मोक्ष उच्यते॥

'मनुष्यका मन ही मनुष्यके बन्ध और मोक्षका वास्तविक कारण है। चित्तके चलाये संसार है और अचल किये मोक्ष है।'

श्रीमद्भगवद्गीताके १६ वें अध्यायमें जो आसुरी सम्पत्ति कही गयी है, उससे जब मनुष्यका मन युक्त होता है तब वह बन्धनका कारण बन जाता है और जब वही मन दैवी सम्पत्तिसे युक्त होता है, तब वह मोक्षका कारण बन जाता है। पूर्ववासनाबलसे चित्त चञ्चल होता है और वह आत्मस्वरूपमें विचित्र संसारचित्र भासित करता है। यह चञ्चल चित्त ही संसार बनता है और द्रष्टा उस दृश्यपर मोहित हो निज स्वरूप भूल जाता है और जीवदशा तथा तदानुषङ्गिक दुःखोंको भोगता रहता है। जबतक चित्त चञ्चल रहता है, तबतक सच्चे सुखका लाभ उसे नहीं होता और आवागमनके चक्रमें भटकता रहता है। परंतु जब चित्त स्वस्वरूपमें स्थिर होता है, तब उसे निजानन्द प्राप्त होता है और वह कृतार्थ होता है। ग्रन्थप्रामाण्य और अनुभवप्रामाण्यसे यह बात प्रत्यक्ष होती है। परमार्थसाधनके जितने भी उपाय हैं उनमें प्रधान हेतु चित्तकी स्थिरता ही है। इस मुख्य हेतुका यदि ध्यान न रहे तो कोई भी साधन हो वह विफल है। श्रुतियोंमें चित्त-स्थैर्यके अनेक उपाय बताये गये हैं और उनके अनुसार अनुभवी महात्माओंने अनेक साधन निर्माण किये हैं। जपयोग भी ऐसा ही एक शास्त्रोक्त और अनुभवसिद्ध साधन है।

वेदशास्त्र-प्रमाण

हमारे धर्मका मुख्य प्रमाण वेद है (मनु० २। ६)। इस विषयमें कोई मतभेद नहीं। और वैदिक धर्मका मुख्य लक्षण 'यज्ञ' है यह भी स्पष्ट है। वैदिक वाङ्मय यज्ञमय है और अपने इस देशमें कोई समय ऐसा था जब सर्वत्र यज्ञ-ही-यज्ञ हुआ करते थे। महाभारतसे यह जान पड़ता है कि चारों वर्णोंके लिये भिन्न-भिन्न यज्ञ थे। (शान्तिपर्व, अ० २३८। ३१)।

पीछे यज्ञोंमें हिंसा बहुत बढ़ गयी, तब श्रौत यज्ञोंके स्थानमें स्मार्त यज्ञ उत्पन्न हुए। त्रिसुपर्णमें यज्ञके सम्बन्धमें एक

आध्यात्मिक कूट है, उसे देखनेसे यह मालूम हो जाता है कि किस प्रकार यह परिवर्तन किया गया। महाभारतमें अनेक स्थलोंपर द्रव्यमय हिंसाप्रधान यज्ञोंकी निन्दा की गयी है। पुराणोंने तो हिंसा उठानेमें बहुत बड़ा काम किया है। फिर भगवान् बुद्धदेव, भगवान् जिनदेव और भगवान् शंकराचार्यने हिंसात्मक यज्ञोंका विरोध ही किया। भगवान् श्रीकृष्णकी शिक्षा तो यज्ञके विषयमें यही थी कि—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।

(गीता ४। ३३)

अर्थात् द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। इन यज्ञोंमें भी भगवान्ने 'जपयज्ञ' को ही अपनी विभूति बताया है (गीता १०। २५)। जपयज्ञ सबके लिये सुगम है, इस समयके लिये तो बड़े ही कामका है। यह यज्ञ है भी ऐसा कि इसमें कोई खर्च नहीं और चाहे जब यह किया भी जा सकता है। वैदिक धर्मानुष्ठानका जो कुछ फल है, वह इस यज्ञसे प्राप्त हो—यह तो कालक्रमसे ही प्राप्त है। इसी जपयज्ञको जपयोग कहते हैं।

वैदिक युगमें जपयज्ञका स्वरूप 'स्वाध्याय' था। वेदाज्ञा है कि 'स्वाध्यायके विषयमें प्रमाद न करो।' 'सतत स्वाध्याय करो।' स्वाध्यायका अर्थ है वेदाध्ययन। यह स्वाध्याय द्विजातिमात्रके लिये था। गुरुमुखसे वेदाध्ययन करके पीछे उसका पारायण करना, वेदमन्त्रोंका जप करना मुख्य तप था। बहुत कालतक ऐसा ही था। पीछे शाखा-प्रशाखाओंका बहुत विस्तार होनेसे अपनी शाखाका अध्ययन ही 'स्वाध्याय' कहा जाने लगा। तथापि स्वाध्यायरूप जप-तप चलता ही था। इस विषयके पृथक् ग्रन्थ थे और उनमें जपके सम्बन्धमें नियम थे। महर्षि शौनकका 'ऋग्विधान' ऐसा ही ग्रन्थ है। रामायणकालमें भी स्वाध्यायकी यह परिपाटी थी। **'तपःस्वाध्यायनिरतम्'** यह वचन श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणमें आरम्भमें ही आता है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्र वनवास करते हुए यजुर्वेदका स्वाध्याय करते थे, इस बातका स्पष्ट उल्लेख है। महाभारतके समयमें भी यह परिपाटी थी, पर यहींसे स्वाध्यायरूप जप-तप उत्तरोत्तर घटता दिखायी देता है। इसके पश्चात् बड़ा परिवर्तन हुआ है। यज्ञ-यागादि उठ गये, भक्तिमार्ग बढ़ा और तीर्थक्षेत्रों और देवमन्दिरोंके उत्सव बढ़ने लगे। वैदिक मन्त्र पिछड़ गये, पौराणिक मन्त्र-तन्त्र आगे बढ़े—देशभरमें इन्हींका प्रचार हुआ। साध्य तो वही था जो पहले था, पर बाह्य साधन बदल गये। इस समय वैदिक देवताओं, यज्ञों और वेदमन्त्रोंके स्थानमें पौराणिक देवता, अवतार, देवप्रतिमा, देवालय, तीर्थक्षेत्र और उनके उत्सव, गीतासहस्रनामादिकोंके पाठ, पौराणिक मन्त्रोंके जप और भगवन्नामस्मरण ही प्रतिष्ठित हैं। यह केवल बाह्यरूपमें भेद है, साध्य तो सदासे एक ही चला आता है।

भगवान् मनु जपयज्ञका माहात्म्य बतलाते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

(मनुस्मृति २। ८५-८६)

दर्श-पौर्णमासरूप कर्मयज्ञोंकी अपेक्षा जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है। उपांशुजप सौगुना और मानसजप सहस्रगुना श्रेष्ठ है। कर्मयज्ञ (दर्श-पौर्णमास) ये जो चार पाकयज्ञ हैं—वैश्वदेव, बलिकर्म, नित्य श्राद्ध और अतिथिपूजन-वे जपयज्ञके सोलहवें अंशके बराबर भी नहीं हैं।

प्रणव और गायत्री

महर्षि पतञ्जलिने अपने योगसूत्रोंमें मन्त्रसिद्धि मानी है और यह कहा है कि इष्टमन्त्रके जपसे इष्टदेवके दर्शन होते हैं। प्रणव मुख्य मन्त्र है और उसके अर्थकी भावना करते हुए उसका जप करनेसे सिद्धि प्राप्त होती है। प्रणवजपका श्रेष्ठत्व भगवान् मनुने भी कथन किया है। कारण, प्रणव वेदोंका मूल है। श्रुतिमें भी प्रणवकी महिमा गायी गयी है।

प्रणवके बाद बड़े महत्त्वका मन्त्र गायत्री है। यह वैदिक मन्त्र है और सबने इसकी महिमा गायी है। यह सब सिद्धियोंका देनेवाला है और द्विजातिमात्रको इसका अधिकार है।

पौराणिक मन्त्र

इसके बाद भिन्न-भिन्न देवताओंके मन्त्र आते हैं और इन्हींका आजकल विशेष प्रचार है, कारण, इनका उच्चारण सुगम है और इनका अर्थ भी जल्दी समझमें आता है, नियमोंकी कोई विशेष कड़ाई नहीं है, चाहे जब, चाहे जहाँ जप किया जा सकता है। इन्हीं कारणोंसे इनका विशेष प्रचार हुआ है और हो रहा है।

इन प्रमाणोंसे यह स्पष्ट हुआ कि मन्त्रजप या जपयोग सर्वमान्य है और केवल मन्त्रजपसे सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और सर्वधर्मानुष्ठानका फल मिलता है। यह ऐसा साधन है कि इसमें कोई कठिनाई नहीं, कोई खर्च नहीं, कोई आयास नहीं, कोई कठोर नियम नहीं।

नामस्मरण और मन्त्रजप

नामस्मरण और मन्त्रजप भिन्न-भिन्न दो साधन हैं, एक नहीं। बहुतोंको तो यह भी मालूम नहीं है कि नामस्मरण क्या होता है। नामका केवल उच्चारण करनेसे नामकी पवित्रताके कारण फल तो अवश्य होता है, परंतु बहुत ऊँचा नहीं, पर नामका यथार्थ स्मरण होनेके लिये मानसिक क्रिया आवश्यक है। जिस किसी देवताका नाम हो, नामके लेते ही उन देवताका रूप मानस-चक्षुके सामने खड़ा हो जाना चाहिये, उनके गुण-कर्मोंका स्मरण होना चाहिये, भक्तोंके लिये उन्होंने क्या-क्या किया यह मालूम होना चाहिये और भगवान्‌का सर्वोत्तमत्व और अपना अत्यन्त क्षुद्रत्व ध्यानमें आना चाहिये और उनके अपार दया-प्रेमसे गद्गद होकर उनके स्वरूपमें मिलनेका प्रयत्न होना चाहिये। ऐसा नामस्मरण श्रेष्ठ है। शास्त्रों और साधु-संतोंने ऐसे ही नामस्मरणकी महिमा गायी है, इसीसे कहा गया है—

राम नाम सब कोइ कहे, ठग ठाकुर अरु चौर।
तारे ध्रुव प्रह्लादको, वहै नाम कछु और॥

नामस्मरणमें विशेष नियम तो नहीं है, पर जो दस नामापराध हैं वे न होने चाहिये, तभी नामस्मरण पूर्ण फलप्रद होता है।

राम नाम सब कोइ कहे, दश रित कहे न कोय।
एक बार दश रित कहे, कोटि यज्ञ फल होय॥

इस दोहेमें जिन्हें दश रित कहा है, वे ही दस नामापराध हैं, जिनसे नामस्मरण 'रित' (रिक्त) होना चाहिये। ये नामापराध हैं—(१) निन्दा, (२) आसुरी प्रकृतिवालेको नाममहिमा बतलाना, (३) हरि-हरमें भेददृष्टि रखना, (४) वेदोंपर विश्वास न रखना, (५) शास्त्रोंपर अविश्वास, (६) गुरुपर अविश्वास, (७) नाममहिमाको असत् जानना, (८) नामके भरोसे निषिद्ध कर्म करना, (९) नामके भरोसे विहित कर्म न करना और (१०) भगवन्नामके साथ अन्य साधनोंकी तुलना करना। इन दसका परहेज रखा जाय तो नामजपसे शीघ्र परम सिद्धि प्राप्त होती है, इसमें कोई संदेह नहीं।

नामस्मरणके अलावा मन्त्र-जप कुछ और है। जप मन्त्रका ही होना युक्त है। केवल भगवान्‌के नाम अथवा ***'रघुपति राघव राजा राम'*** इत्यादि धुनोंका स्मरण या कीर्तन हो सकता है पर उसे जप-यज्ञ कहना ठीक नहीं। मन्त्रोंकी रचना विशिष्ट पद्धतिसे मन्त्रशक्तिके विशेषज्ञ अनुभवी महात्माओंद्वारा की हुई होती है। उनका अर्थ गहन होता है और मन्त्रशास्त्रके नियमोंके अनुसार ही अक्षर जोड़कर मन्त्र बनाये जाते हैं और ये मन्त्र परम्परया जपके कारणसे सिद्ध और अमोघ फलदायक होते हैं। ऐसे मन्त्रोंको साम्प्रदायिक रीतिसे ग्रहण करके विशेष पद्धतिसे उनका जप करना होता है। पुस्तकोंमें मन्त्रोंको पढ़ लेनेमात्रसे कोई विशेष लाभ नहीं होता।

कुछ लोग पुस्तकोंमें कोई मन्त्र पढ़कर कुछ दिन उसका जप करते हैं, कुछ लाभ होता न देख फिर उसे छोड़ देते हैं तब कोई दूसरा मन्त्र जपते हैं और इसी तरह नये-नये मन्त्र जपते और निराश होते हैं। कुछ लोग कई मन्त्र एक साथ ही जपते हैं, पर किसी एकसे भी उन्हें कोई लाभ नहीं होता। कुछ लोग माला जपनेको ही मन्त्रजप समझते हैं और कोई बड़ी-सी माला लेकर यन्त्रवत् घुमाया करते हैं, और समझते यह हैं कि हमने इतनी संख्या जप किया। पर इतने जपका फल पूछिये तो वह नहींके बराबर होता है। परमार्थका साधन इस प्रकार नहीं हुआ करता।

माला तो करमें फिरे, जीभ फिरे मुँहमाँहि।
मनीराम चहुँदिस फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं॥

संतोंकी यह बात साधकोंको ध्यानमें रखनी चाहिये।

मन्त्रजपमें मालाका महत्त्व अधिक नहीं है। स्मरण दिलाना और जपसंख्याका मालूम होना—ये दो काम मालाके हैं और माला स्वयं पवित्र भी है, इसलिये भक्त लोग उसे धारण करते हैं। पर भोले लोग मालाको अपने सम्प्रदायका चिह्न और पापनाशका साधन जानकर धारण करते हैं। कविवर मोरोपन्त तो कहते हैं कि 'मन बन्धन तोड़कर परधन और कामिनीकी ओर भागनेवाला पशु है। इसके गलेमें विवेकके रस्सेसे वैराग्यका काष्ठ बाँध देना चाहिये।'

दीक्षा

पूर्वमें यह कहा जा चुका है कि मन्त्रजप यज्ञ है और वह ईश्वरकी विभूति है। यज्ञका अधिकार दीक्षाविधिसे ही प्राप्त होता है, यह वैदिक नियम है। संहिताब्राह्मणमें इस विषयके वचन हैं। इसलिये किसी अधिकारी पुरुषसे ही मन्त्रकी दीक्षा लेकर तब जप करना चाहिये। श्रद्धालु साधक ऐसा ही करते हैं। गायत्रीमन्त्र दीक्षाविधिसे ही लिया जाता है और उस विधिको व्रतबन्ध कहते हैं। शैव, वैष्णवादि सम्प्रदायोंमें दीक्षाविधि चलती ही है। बहुत-से लोग दीक्षा लेना-देना नहीं मानते, पर यह उनकी भूल है। कुछ लोगोंकी तो यह हालत होती है कि मन्त्र जपते हैं किसी देवताका और ध्यान करते हैं किसी दूसरे ही देवताका। इससे सिद्धि कैसे मिले ? भगवान् यद्यपि एक हैं तो भी उनके अभिव्यक्त रूप तो भिन्न-भिन्न हैं। अपनी अभिरुचिके अनुसार परंतु शास्त्रविधिको बिना छोड़े किसी भी मार्गका अवलम्बन करनेसे शीघ्र फल-प्राप्ति होती है। इसलिये मन्त्र दीक्षाविधिसे ही लेना चाहिये। जिसने स्वयं दीक्षाविधिसे मन्त्र लिया हो और जपा हो उससे मन्त्र लेनेमें कोई हर्ज नहीं है। दीक्षाविधिके लिये शुभ समय, शुभ स्थान और चित्तमें उत्साह होनेकी बड़ी आवश्यकता है। मन्त्र ले चुकनेपर फिर एक दिन भी मन्त्र-जापके बिना खाली न जाय।

जप-विधि

श्रीगुरुसे मन्त्रदीक्षा लेकर साधन-मन्त्रका जप आरम्भ करे। जिनके लिये सुभीता हो, वे किसी एकान्त पवित्र स्थानमें, नदी-किनारे अथवा शिवालयमें जप करें। जिनके ऐसा सुभीता न हो वे अपने घरमें ही जपके लिये कोई पवित्र स्थान बना लें। इस स्थानमें देवताओं, तीर्थों और साधु-महात्माओंके चित्र रखें, उन्हें फूल-माला चढ़ावें, धूप दें। स्वयं स्नान करके भस्म-चन्दन लगाकर चैलाजिन-कुशोत्तर आसन बिछाकर पूर्व या उत्तर दिशाकी ओर मुख करके कन्धेपर उपवस्त्र धारण किये, इष्टदेव और गुरुका स्मरण करते हुए आसनपर बैठें। जो नित्य कर्म करनेवाले हैं, वे पहले संध्यावन्दन कर लें तब प्रातःकालमें सूर्यनारायणको नमस्कार करें, पश्चात् देवपूजन करके नित्य-पाठ कर लें। जो संध्या आदि करना नहीं जानते[१] वे पहले गङ्गा, नर्मदा आदि नामोंसे शरीरपर जलसे मार्जन करें, तब एकाग्रचित्त हो, भगवान् सूर्यका ध्यान करके उन्हें नमस्कार करें, अनन्तर अपने इष्टदेवका ध्यान करके गुरुमन्त्रसे सब उपचार उन्हें अर्पण करें। फिर स्तोत्रपाठादि करके आसनपर बैठें। आसन स्वस्तिक, पद्म अथवा सिद्ध इनमेंसे कोई भी हो दृष्टिको नासाग्र करके प्राणायाम करें। अनन्तर थोड़ी देर सावकाश पूरक और रेचक करें। इसके बाद माला हाथमें लेकर जप आरम्भ करें। मेरु-मणिका उल्लङ्घन न करें। अपनी सुविधा देखकर जपसंख्या निश्चित कर लें और प्रतिदिन उतनी संख्या पूरी करें और वह जप अपने इष्टदेवको अर्पण करें। इसके पश्चात् अपने इष्टदेवके पुराण और उपदेशसे कुछ पढ़ लें। श्रीरामके भक्त हों तो श्रीअध्यात्म-रामायण, श्रीरामगीता और श्रीरामचरितमानस। श्रीकृष्णके भक्त हों तो श्रीमद्भागवत और श्रीगीता पढ़ें। अनन्तर तीर्थप्रसाद लेकर उठें। इस क्रमसे श्रद्धापूर्वक कोई साधना करे तो वह कृतार्थ हो जायगा। यह सब तर्कसे नहीं, करके देखनेसे ही कोई भी जान सकता है। उसका चित्त आनन्दसे भर जायगा। पाप, ताप, दैन्य सब नष्ट हो जायगा। ईश्वर-स्वरूपमें चिरविश्रान्ति प्राप्त होगी। सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान स्फुरित होने लगेगा और शक्ति भी प्राप्त होगी। प्रत्येक देवताके सहस्रनाम हैं, प्रत्येकके अपने उपदेश हैं, भक्त इनका उपयोग करे। प्रातःकाल गीता आदिसे कोई श्लोक पढ़कर दिनभर उसका मनन करे। सायंकालमें पञ्चोपचार-पूजा आदि होनेके बाद जप करके सहस्र नाममेंसे कोई नाम ध्यानमें लाकर उसके अर्थका विचार करते हुए सो जाय। इससे शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है।

(क्रमशः)

संसारमें संग ही प्रधान है, जैसा संग होता है, वैसी ही बुद्धि बन जाती है। कुसंगसे बड़े-बड़े देवता और ऋषियोंका पतन हो गया है और सत्संगसे अनेक पतित भी पूजनीय हो गये हैं, अतएव सदा सत्संग करते रहो।—एक अरण्यवासी महात्मा

१-द्विजोंको संध्या जाननी और करनी ही चाहिये।

मन्त्रयोग-साधना

(कविराज पं० श्रीसीतारामजी शास्त्री 'श्रीविद्याभास्कर')

भारतीय संस्कृतिके विशाल साहित्य-सिन्धुके मन्थनसे समुद्भूत आध्यात्मिक साधना-सुधा ही अजर-अमर कर देनेवाली वास्तविक सुधा है। इस पीयूष-रससे परिप्लुत गम्भीर चिन्तनकी परिणतिका सुधा-स्रोत 'योग' नामसे परिलक्षित होता है।

योग-मार्गकी विविध विधाओंमें मुख्यतः चार प्रकारके योगोंकी प्रधानता है—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। इनमें कुछका वर्णन निम्न प्रकार है—

हठयोग—हठपूर्वक नेति, धौति, आसनादिके द्वारा शारीरिक क्षमतामें वृद्धि होती है एवं यत्किंचित् स्वास्थ्य-लाभकी दिशामें उपलब्धियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं, मानसिक या आध्यात्मिक लाभ प्रायः सामान्य रहता है। इसकी कठिन साधना-प्रक्रियाओंका सम्पादन अनुभवी योगी गुरुके निर्देशनमें किया जाना परमावश्यक है, क्योंकि किंचिन्मात्र भी असावधानीसे विपरीत फलकी आशङ्का बनी रहती है।

लययोग—योगतारावलीमें लययोगकी साधनाके सवा लाख भेद-प्रभेद वर्णित हैं, उनमें नादानुसंधान-समाधि ही मान्यतम लययोगोंमें सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इसका निरन्तर अजस्र रूपसे अभ्यास सापेक्ष है, न्यूनतम कालका भी व्यवधान होनेसे यथार्थ फलकी प्राप्ति दुष्कर हो जाती है। अतः सांसारिक कर्मोंमें व्यापृत जन-मानसके लिये यह विशेष उपयोगी सिद्ध नहीं होता।

मन्त्रयोग—परमशिवप्रोक्त तन्त्र-आगमोंकी साधना-विधिका नाम मन्त्रयोग है। भारतीय दर्शनोंने निगम (वेद), आगम (तन्त्र) को ही स्वतः परम प्रमाण माना है। ईश्वरके निःश्वासभूत होनेसे **'वेदाः प्रमाणम्'** और शिवप्रोक्त होनेसे **'आगमाः प्रमाणम्'** इस प्रकारसे कहा गया है। आगम शब्दका अर्थ है—**'आगच्छति बुद्धिमारोहति यस्मादभ्युदयनिःश्रेयसोपायः स आगमः।'** जिसके द्वारा इहलौकिक और पारलौकिक कल्याणकारी उपायोंका यथार्थ ज्ञान हो वह आगम शब्दसे निरूपित होता है। तन्त्र शब्द भी आगम अर्थका ही वाचक है, इसका शब्दार्थ इस प्रकार किया गया है—

तनोति विपुलानर्थांस्तत्त्वमन्त्रसमाश्रितान्।
त्राणं च कुरुते पुंसां तेन तन्त्रमिति स्मृतम्॥

मन्त्र तत्त्वोंका विस्तृत विवेचन एवं उसके तात्पर्यार्थ-साधना-प्रक्रियाका पूर्णरूपसे विपुल प्रतिपादन करता है तथा मानव-जातिका सभी प्रकारके भयोंसे परित्राण करता है, अतः उसकी तन्त्र-संज्ञा होती है।

तन्त्रागमके विशाल साहित्यकी रहस्यमयी साधना-विधिका नाम ही मन्त्रयोग है।

मन्त्र और मन्त्रशक्ति

मननात् त्रायत इति मन्त्रः, मननत्राणधर्माणो मन्त्राः। मनको मननीय शक्ति प्रदान (एकाग्र) करके जपके द्वारा समस्त भयोंका विनाश करके पूर्ण रक्षा करनेवाले शब्दोंको मन्त्र कहा जाता है। मन्-त्र—ये दो शब्द इसमें है। 'मन्' शब्दसे मनको एकाग्र करना, 'त्र' शब्दसे त्राण (रक्षा) करना जिनका धर्म है और जपसे जो अभीष्ट फल प्रदान करे, वे मन्त्र कहे जाते हैं।

जैसे वेदान्तका सिद्धान्त है कि **'जीवो ब्रह्मैव नापरः'**-'जीव ही ब्रह्म है दूसरा नहीं।' उसी प्रकार तन्त्र-आगमोंका सिद्धान्त है—**'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्'**—आनन्द ही ब्रह्मका रूप है, **'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्'** आदि श्रुतियाँ भी इसी आगम-सिद्धान्तका प्रतिपादन करती हैं। परमानन्दघन परात्पर परमेश्वर पूर्ण ब्रह्मने अपनी अमोघ संकल्प (इच्छा) शक्तिसे **'एकोऽहं बहु स्याम्'**—मैं अकेला हूँ बहुत हो जाऊँ, इस विचित्र विश्वकी रचना करके इसीमें प्रवेश किया—**'तत् सृष्ट्वा तदनु प्राविशत्'**। इसी तरह तन्त्र-आगमोंके भी दार्शनिक सिद्धान्त हैं। यहाँ ब्रह्मका शिव नामसे व्यपदेश किया गया है। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् भगवान् परमशिव संसाररूपी क्रीडा करनेके लिये अपनी सर्वज्ञता और सर्वकर्तृताशक्तिको संकुचित करके मनुष्य-देहका आश्रयण करता है—**'मनुष्यदेहमाश्रित्य छन्नास्ते परमेश्वराः'**—मनुष्य-देहमें प्रच्छन्नरूपसे परमेश्वर ही विद्यमान है, यही गीता-शास्त्र भी कहता है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

(९ । ११)

यह चराचरात्मक समस्त विश्व उसकी क्रीडा है, केवल लीलामात्र है—'**क्रीडात्वेनाखिलं जगत्**', '**लीलामात्रं तु केवलम्**।' अतः यहाँ सिद्ध होता है कि वह परमशिव अपनी सर्वज्ञता एवं सर्वकर्तृता-शक्तिको संकुचित करके मनुष्यदेहमें अल्पज्ञता और अल्पकर्तृता धारण करके क्रीडा कर रहा है। जब वह अपनी शक्तिको संकुचित करता है, तब सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि सांसारिक धर्मोंसे अभिभूत हो जाता है। इसीसे आधि-व्याधि, शोक-संताप, दीनता-हीनता, दरिद्रता, अहन्ता-ममता, संकल्प-विकल्प आदि आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक संतापोंसे संतप्त—दुःखित हो भय-विह्वल होकर इनसे मुक्ति चाहता है। बस इसीके लिये शास्त्रोंमें एवं शास्त्रतत्त्वज्ञ योगीन्द्र, मुनीन्द्र, सिद्ध महात्माओंने विविध प्रकारकी साधना-उपासनाओंके विविध विधानोंका प्रतिपादन किया है। श्रीशिव-निर्मित तन्त्र-आगम-शास्त्रोंमें स्वात्मबोध एवं स्वरूप-ज्ञान तथा सांसारिक भयङ्कर संतापोंकी निवृत्तिके लिये मन्त्र-साधनाको ही सर्वोत्तम मान्यता दी गयी है। तन्त्रागमके गम्भीर सिद्धान्तोंके तात्त्विक एवं विवेचनात्मक ग्रन्थ 'महार्थमञ्जरी'में मन्त्रस्वरूपका सुन्दर संकलन किया गया है—

मननमयी निजविभवे निजसंकोचभये त्राणमयी।
कवलितविश्वविकल्पा अनुभूतिः कापि मन्त्रशब्दार्थः ॥

सर्वज्ञता-सर्वकर्तृता-शक्ति-सम्पन्न अपने विभव (ऐश्वर्य) का बोध कराना तथा अल्पज्ञता एवं अल्पकर्तृतारूपी संकुचित शक्तिसे समुत्पन्न दीनता, हीनता, दरिद्रता आदि सांसारिक संतापोंसे मुक्त करना और कुत्सित वासनाओंके संकल्प-विकल्पोंका 'ग्रास' (विनाश) करके 'शिवोऽहं' की भावनासे भावित अनुभूति होना ही मन्त्र-शब्दका तात्पर्यार्थ, स्वरूप या प्रयोजन है। इसी भावको और स्पष्ट किया गया है—

मोचयन्ति च संसाराद्योजयन्ति परे शिवे।
मननत्राणधर्मित्वात्तेन मन्त्रा इति स्मृताः ॥

नेत्र-तन्त्रमें बहुत विस्तारसे मन्त्रके तात्त्विक रहस्योंका विवेचन किया गया है। सात करोड़ मन्त्र शिवके मुखसे विनिर्गत हुए हैं—'**सप्तकोटिमहामन्त्राः शिववक्त्राद्विनिर्गताः**।' वर्णमालाके 'अ' से लेकर 'क्ष' तक पचास अक्षरोंको 'मातृका' कहते हैं। इन मातृका-वर्णोंसे ही समस्त मन्त्रोंका निर्माण हुआ है। मातृका शब्दका अर्थ है माता या जननी। अतः समस्त वाङ्मयकी यह जननी है। ये समस्त मन्त्र वर्णात्मक हैं और मन्त्र शक्ति-स्वरूप हैं। यह मातृकाकी ही शक्ति है और वह शक्ति शिवकी है, अतः समस्त मन्त्र साक्षात् शिवशक्ति-स्वरूप हैं। यही भगवान् शङ्कर पार्वतीसे कहते हैं—

सर्वे वर्णात्मका मन्त्रास्ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका ॥

मन्त्र अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न होते हैं, इनके सामर्थ्यकी इयत्ताका निर्धारण नहीं किया जा सकता। इसीलिये कहा गया है—'**मन्त्राणामचिन्त्यशक्तिता**' (परशुरामकल्पसूत्र), '**अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधिप्रभावः**।' इन्हीं मन्त्रात्मक वर्णोंसे ही समस्त विश्वका सृजन हुआ है—'**वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे इति श्रुतिः**।' आगम-दर्शनकी मूल भित्ति शिवादि-क्षिति-पर्यन्त छत्तीस तत्त्वोंपर आधारित है। ये तत्त्व मातृकाके छत्तीस अक्षरोंपर आधारित हैं। इन्हीं तत्त्वोंसे दृश्यमान समस्त चराचरात्मक विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और लय आदि होते हैं। अतः मन्त्रात्मक अक्षरोंको शब्दब्रह्म कहा जाता है। संसारका व्यवहार भी शब्दोंके द्वारा ही होता है, इसलिये शब्द-शक्ति सर्वोपरि मानी गयी है। भगवान् परमशिवने इन्हीं शब्दोंसे विचित्र चमत्कारपूर्ण समस्त अभीष्ट प्रदान करनेवाले मन्त्रोंकी रचना करके समस्त सांसारिक जीवोंपर कारुण्य-पूर्ण अनुग्रह किया। इन मन्त्रोंकी साधनासे सम्पूर्ण अभीष्टोंकी सिद्धि सरलतासे की जा सकती है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—'***मंत्र महामनि बिषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के*** ॥' यहाँतक कि इनसे भाग्य भी बदल जाता है। इनकी साधना विधिवत् शास्त्रानुमोदित करनी चाहिये।

तन्त्रोंमें मन्त्रोंके स्वरूपका विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। उसमें तीन जातियाँ एवं चार प्रकार मुख्य हैं। इनका 'शारदातिलक' तन्त्रमें इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है—

पुंस्त्रीनपुंसकात्मनो मन्त्राः सर्वे समीरिताः।
मन्त्राः पुंदेवता ज्ञेया विद्या स्त्री देवता स्मृता ॥

पुरुष, स्त्री और नपुंसक—ये तीन जातियाँ मन्त्रोंकी मानी

गयी हैं। मन्त्र पुरुष—देवतात्मक होते हैं एवं महाविद्या, श्रीविद्या आदि विद्याओंके मन्त्र स्त्री-देवतात्मक कहे जाते हैं। इनके चार प्रकार नित्यातन्त्रमें इस प्रकार वर्णित हैं—

मन्त्रा एकाक्षराः पिण्डाः कर्तर्यो द्व्यक्षरा मताः।
वर्णत्रयं समारभ्य नववर्णावधिबीजकाः॥
ततो दशार्णमारभ्य यावद्विंशतिमन्त्रकाः।
अत ऊर्ध्वं गता मालास्तासु भेदो न विद्यते॥

'एक अक्षरवाले मन्त्रकी 'पिण्ड' संज्ञा है, एवं दो अक्षरकी 'कर्तरी', तीन अक्षरसे नौ अक्षरतकके मन्त्रोंको 'बीज' मन्त्र कहा जाता है, दस अक्षरसे बीस अक्षरतक 'मन्त्र' नाम होता है। बीस अक्षरसे अधिक संख्यावाले मन्त्रोंको 'माला' मन्त्र कहते हैं।'

साधकके नामके साथ इन मन्त्रोंके मित्र, शत्रु, साध्य, सिद्ध, सुसिद्ध आदि सम्बन्ध होते हैं। अतः मेलापक-प्रक्रियासे विचार करके मन्त्र ग्रहण करनेसे ही अभीष्ट-सिद्धि होती है। कामना-परक मन्त्रोंका अविचारित रूपसे अनुष्ठान करना विपरीत फलदायक भी हो सकता है। अतः '**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ**'—इस गीतोक्त वचनके अनुसार शास्त्रोंके प्रमाणसे कर्तव्याकर्तव्य निर्धारण करना आवश्यक है। अतः मन्त्र-साधना तन्त्रशास्त्रप्रतिपादित विधानानुसार करनेसे ही ऐहिक और पारलौकिक अभीष्ट-सिद्धि होती है।

तन्त्रशास्त्रमें कुछ मन्त्र, विद्याएँ कलियुगमें सिद्ध मानी गयी हैं, वे सबके लिये उपयोगी हैं, उनमें सिद्धारि आदि मेलापक विचार आवश्यक नहीं हैं।

मन्त्र-साधन-प्रक्रिया

तन्त्र-आगम-शास्त्रमें वर्णित लक्षणोंसे युक्त गुरुसे विधिवत् मन्त्र-दीक्षा-ग्रहण करना चाहिये। उस मन्त्रको अपने इष्टदेवका स्वरूप ही मानना चाहिये। देवताओंका स्वरूप मन्त्रात्मक ही होता है। '**मन्त्रा वर्णात्मकाः सर्वे सर्वे वर्णाः शिवात्मकाः**।'श्रीगुरु-मुखारविन्दसे निःसृत मन्त्ररूप इष्टदेवको स्वकीय कर्णोंके द्वारा हृदय-प्रदेशमें विराजमान करके निरन्तर उसकी परिचर्यामें संलग्न हो जाना चाहिये। इस साधनाके तीन अङ्ग मुख्य हैं—नित्यकर्म, नैमित्तिककर्म और काम्यकर्म।

नित्यकर्म—नित्यकर्ममें प्रातः स्मरण, शौच, दन्तधावन, स्नान, संध्या, पूजा, स्तोत्रपाठ आदिका विधान शास्त्रसे या गुरुसे सम्यक् प्रकारसे जानकर उसका सम्पादन करना चाहिये। प्रातःकालसे रात्रिमें शयनपर्यन्त सभी क्रियाएँ विधिपूर्वक सम्पन्न होनी चाहिये, नित्यकर्मोंका पालन करना मन्त्र-साधकके लिये परमावश्यक है। नित्यकर्मका लोप होनेसे प्रत्यवाय होता है, अतः प्रायश्चित्तका विधान है। मनुष्य स्वभाव-सुलभ प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटवादि दोषोंसे यदि नित्यकर्म लोप हो जाय तो प्रायश्चित्त करना परमावश्यक है। वैदिक विधानोंके अनुसार मन्त्रयोगमें चान्द्रायण व्रतादिकोंकी तरह कठोर विधान नहीं है, केवल कर्मवैगुण्यके अनुसार लाघव-गौरव देखकर मूल मन्त्र-जप-संख्याका ही न्यूनाधिक रूपसे सरल विधान है। जैसे संध्यालोप होनेसे मूल मन्त्रका शत-संख्यात्मक एक माला तथा नैमित्तिक कर्मलोपमें सहस्र संख्यात्मक दस मालाका विधान है।

नैमित्तिककर्म—यह कर्म विशेष पर्वोंपर किया जाता है। परशुराम-कल्पसूत्रमें पाँच मुख्य पर्व माने गये हैं, पञ्चपर्वोंमें विशेषार्चा हैं। रात्रिव्यापिनी कृष्णाष्टमी, कृष्ण-चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति—इन पञ्च पर्वोंपर दिनमें व्रत रखकर रात्रिमें विशेष पूजा-सामग्रीसे अर्चन करनेका विधान है एवं गुरुका जन्मदिन, व्याप्तिदिन, स्वविद्याग्रहण-दिन, पुष्यार्क, नवरात्र आदि पर्वोंपर अपनी शक्तिके अनुसार व्रतपूर्वक यथाविभव विशेष उत्सवका आयोजन करना चाहिये। इस नित्य और नैमित्तिककर्म करनेवाले साधकके सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं।

काम्यकर्म—काम्यकर्म उसे कहते हैं जो विशेष कामना-पूर्तिके लिये किया जाता है। अपने मूल मन्त्रका पञ्चाङ्ग-पुरश्चरण करनेपर जब मन्त्र-चैतन्यका लक्षण उत्पन्न हो जाय तो भिन्न-भिन्न कामनाओंके लिये पृथक्-पृथक् वस्तुओंसे होम करनेका विधान शास्त्रोंमें वर्णित है, उन-उन वस्तुओंसे होम करनेसे तत्-तत् कामनाएँ पूर्ण होती हैं। परंतु काम्यकर्म करनेका शास्त्रोंमें निषेध ही किया गया है—

शुभं वाप्यशुभं वापि काम्यं कर्म करोति यः।
तस्यारित्वं व्रजेन्मन्त्रस्तस्मान्न तत्परो भवेत्॥

अर्थात् 'शुभ या अशुभ अभिचारादि—काम्य कर्म जो करता है, उसके लिये वही मन्त्र शत्रु-भावापन्न हो जाता है। इसलिये काम्यकर्ममें तत्पर नहीं होना चाहिये।' कोई

अत्यावश्यक कार्य हो तो उसके लिये कदाचित् कर लेनेका विधान है। अपने मन्त्रका नित्य-नैमित्तिक कर्म करनेमात्रसे साधकका जिसमें कल्याण निहित है, उसे मन्त्रका अधिष्ठाता देवता स्वयं सम्पादन करता रहता है। अपने इष्टदेवके सर्वात्मना-समर्पण—शरणागत होकर देवता-प्रीत्यर्थ कर्म करनेसे सभी मनोरथ पूर्ण होते हैं, ऐसा शास्त्रमें लिखा गया है—

निष्कामो देवतां नित्यं योऽर्चयेद् भक्तिनिर्भरः।
तामेव चिन्तयन्नास्ते यथाशक्ति मनुं जपन्॥
सैव तस्यैहिकं भारं वहेन्मुक्तिं च साधयेत्।
सदा संनिहिता तस्य सर्वं च कथयेत सा॥
वात्सल्यसहिता धेनुर्यथा वत्समनुव्रजेत्।
तथानुगच्छेत् सा देवी स्वं भक्तं शरणागतम्॥

निष्काम भक्तिभावसहित जो इष्ट देवताका अर्चन करता है और निरन्तर उसका ही चिन्तन करता हुआ यथाशक्ति मन्त्रका जप करता है, उसके सांसारिक जितने कार्य हैं, उन सबका वहन भगवती स्वयं करती हैं और अन्तमें मोक्ष-प्रदान भी कर देती हैं। इतना ही नहीं, सदा उसके संनिहित रहती हैं और सब कुछ बताती रहती हैं। वात्सल्यभावसे युक्त होकर जैसे धेनु अपने बछड़ेके पीछे रहती है, उसी तरह वह वात्सल्यमयी माता भगवती शरणागत भक्तके कल्याण करनेमें निरन्तर तत्पर रहती है। इसलिये गीतामें भी लिखा है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(२।४०)

निष्काम कर्म करनेवालेका कभी क्रम-भङ्ग नहीं होता और कोई निषिद्ध कर्मकी सम्भावना भी नहीं रहती। निष्कामकर्मका स्वल्परूप आचरण करनेसे महाभयसे परित्राण होता है। अतः मन्त्र-चैतन्यके लिये पुरश्चरणादि अनुष्ठानके बाद मन्त्र-सिद्धि हो जानेपर ऐहिक और पारलौकिक समस्त कार्य स्वयं सिद्ध होते रहते हैं।

मन्त्रसिद्धिके लिये पञ्चाङ्ग-पुरश्चरण अत्यावश्यक है एवं अन्य प्रकारसे ग्रहण आदिमें संक्षेप-पुरश्चरणोंका भी शास्त्रमें विधान किया गया है तथा ओषधियों आदिके प्रयोगसे भी सरलतासे मन्त्र-सिद्धि हो जाती है। पुरश्चरण नहीं करनेसे मन्त्र सिद्धिप्रद नहीं होता, लिखा है—

जीवहीनो यथा देहः सर्वकर्मसु न क्षमः।
पुरश्चरणहीनोऽपि तथा मन्त्रो न सिद्धिदः॥

जैसे जीवहीन देह कोई कर्म करनेमें समर्थ नहीं होता, वैसे ही पुरश्चरणके बिना मन्त्र सिद्धिदायक नहीं होता, अतः भोग एवं मोक्ष दोनों चाहनेवाले साधकको पुरश्चरण करना अनिवार्य है। कुछ महाविद्याएँ श्रीविद्या आदिमें पुरश्चरण आवश्यक नहीं है। क्योंकि ये विद्याएँ मोक्ष-प्रधान होती हैं, भोगोंकी इनमें अप्रधानता होती है—'**भोगा भवन्ति चेद् भवन्तु मा भवन्ति मा भवन्तु।**' भोगोंकी प्राप्ति होनी ठीक है, न हो तो उनके लिये विशेष अभिलाषा नहीं होती। वैराग्यवान् साधक इन महाविद्याओंका अनुष्ठान मोक्षैकमात्र-प्राप्तिके लिये करते हैं। अन्य मन्त्रोंका पुरश्चरण तो परमावश्यक है। पुरश्चरण करनेपर भी मन्त्रसिद्धिके लक्षण उत्पन्न न हों तो द्रावण-बोधनादि मन्त्रके संस्कार करने चाहिये। इनसे मन्त्र सिद्धि देनेवाला हो जाता है।

द्रावणं बोधनं वश्यं पीडनं पोषशोषणम्।
दाहनं च बुधः कुर्यात्ततः सिद्धो भवेन्मनुः॥

इन संस्कारोंके करनेपर भी यदि मन्त्र-सिद्धि न हो तो उस मन्त्रका परित्याग कर देना चाहिये, ऐसा शास्त्रोंका मत है। महाविद्याओंके परित्यागका विधान नहीं है।

मन्त्रसिद्धिके लक्षण

तन्त्रान्तरोंमें मन्त्रसिद्धिके तीन प्रकारके लक्षण बताये गये हैं—उत्तम, मध्यम और अधम।

उत्तम लक्षण—'मनोरथानामक्लेशः सिद्धेरुत्तमलक्षणम्'—बिना क्लेशके सभी मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं। (साधना करनेवालोंके शुभ भाव, पवित्र विचार, सत्संकल्प और श्रेष्ठ मनोरथ होते हैं।) अतः सिद्ध हुए मन्त्रके द्वारा सदिच्छा पूर्ण हो जाती है एवं अकाल मृत्युका भय दूर हो जाता है। देवताके दर्शन होते हैं एवं और भी अनेक प्रकारकी यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

मध्यम लक्षण—'ख्यातिर्वाहनभूषादिलाभः सुचिरजीवनम्०'—यश, वाहन, भूषण, आरोग्य, रोगविषापहरण-शक्ति, पाण्डित्य, कवित्व, वैराग्य, मुमुक्षुत्व, सर्ववश्यता, त्यागभावना, अष्टाङ्गादि योगोंका अभ्यास, भोगोंकी नगण्य

इच्छा, समस्त प्राणियोंमें दयाभाव, सर्वज्ञतादि गुणोंका उदय आदि मध्यम सिद्धिके लक्षण हैं।

अधम लक्षण—ख्याति, वाहन, भूषण आदि वैभवकी प्राप्ति तथा धन, पुत्र, दारादि लोकैश्वर्यकी प्राप्ति—ये मन्त्र-सिद्धिके अधम लक्षण हैं। यह साधककी प्रथम भूमिका है।

स्वल्प सिद्धियोंसे सावधानी

मन्त्रयोग-साधनमें तत्पर साधकको मन्त्रप्रभावजन्य कुछ स्वतः स्वल्प सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, किंतु वे परम सिद्धिमें बाधक होती हैं। '**अष्टाविंशतिधा शक्तिः**', '**नवधा तुष्टिः**', '**अष्टधा सिद्धिः**'—ये तीन प्रकारके अङ्कुश परम सिद्धिके अवरोधक होते हैं।

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वाङ्कुशस्त्रिविधः॥

ऊह—उपदेशके बिना ही अपेक्षित अर्थका ज्ञान होना ऊह-सिद्धि कही जाती है।

शब्दसिद्धि—प्रासङ्गिक शब्द-श्रवणमात्रसे मुख्य अर्थका बोध शब्दसिद्धि कही जाती है।

अध्ययन-सिद्धि—गुरुके साधारण उपदेशसे शास्त्रोंका बोध होना अध्ययन-सिद्धि है।

दुःख-विघात-सिद्धि—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक—इन तीन प्रकारके दुःखोंका विघात होना दुःख-विघात-सिद्धि है।

सुहृत्प्राप्ति-सिद्धि—किसी विशिष्ट व्यक्तिके सम्पर्कसे अर्थ-प्राप्ति होना सुहृत्प्राप्ति-सिद्धि है।

दान—विद्वान्, तपस्वी, सिद्धोंके द्वारा प्राप्त अलौकिक क्रियाओंका ज्ञान दान-सिद्धि है।

योगशास्त्रानुसार ये आठ सिद्धियाँ लोकमें तो सिद्धि-रूप हैं, परंतु साधना-मार्गमें अग्रसर होनेमें अवरोधक होती हैं—'**ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।**'

अतः इन स्वल्प सिद्धियोंके जालमें न पड़कर सावधान होकर अपनी साधनाको आगे बढ़ाते रहना ही मुख्य-सिद्धि है। मन्त्रयोगमें मानसिक जपमें निरन्तर संलग्न रहना ही मुख्य भूमिका है।

'**जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः।**

इस प्रकार मन्त्रयोगमें अध्यवसाय-सम्पन्न साधक अनवरत साधनामें संलग्न होनेपर जब पूर्ण सिद्धिका अधिकारी बन जाता है, तब उसका मध्यम-धाममें प्रवेश होता है।

मध्यम धाम-प्रवेश

इस समय साधकका चित्त ही मन्त्र बन जाता है। प्रारम्भिक साधना-कालमें वाचिक, उपांशु, मानसिक जपकी स्थिति रहती है। इस अवस्थामें चित्त ही मन्त्र हो जाता है। '**चित्तं मन्त्रः।**' शिवसूत्रमें इसका विशद विवेचन है। इस अवस्थामें मानसिक जपसे ऊपर उठकर स्वयं अपने-आप चैतन्य सत्ताके सम्पर्कसे चित्तमें जप होने लग जाता है। अब साधकको नाना प्रकारके चमत्कारिक अनुभव होते हैं और उस अद्वैत तत्त्वकी गंध आने लग जाती है। '**शिवोऽहं**' की भावना विकासोन्मुख होने लगती है। यह सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व शिवत्व-प्राप्तिका द्वार है—'**शैवीमुखमिहोच्यते।**' अपना लक्ष्य सामने दिखायी देने लग जाता है। द्वारमें प्रवेश करनेके बाद जैसे भवनके अन्तरालमें जानेका मार्ग सुगम हो जाता है, वैसे ही शिवत्व-प्राप्तिकी सिद्धावस्था भी सुलभ हो जाती है। तन्त्रशास्त्रके विशिष्ट ज्ञाता महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराजजीने भी अपने तन्त्रशास्त्र-सम्बन्धी प्रायः समस्त निबन्धोंमें इस स्थितिका बहुधा उल्लेख किया है। तन्त्रागम-साहित्यमें भी विविध तन्त्रोंमें विविध प्रकारसे विस्तृत विवेचन मिलता है।

शिवत्व-प्राप्ति

तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम्॥
तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जनाः।
सहाराधकचित्तेन तेन ते शिवधर्मिणः॥

(स्पन्दकारिका २६-२७)

पूर्वोक्त स्थिति प्राप्त होनेपर सर्वज्ञतादि बलसे युक्त मन्त्र साधकके अधिकारमें आ जाते हैं, जैसे देहधारी अपने कर-चरणादि इन्द्रियोंका स्वेच्छासे संचालन कर सकता है, उसी प्रकार मन्त्र भी उसकी इच्छाके अनुसार कार्य करनेमें लग जाते हैं, इस प्रकार चित्तमें मन्त्रका निरन्तर मनन करते रहनेसे वे शान्त-रूप निरञ्जन शिवधर्मी मन्त्र साधकको शिवत्व प्रदान करके आराधकके चित्तके साथ वहींपर लीन हो जाते हैं।

मन्त्रयोग—साधना करनेवालोंकी तीन प्रकारकी

स्थितियोंका विभिन्न तन्त्र-आगमोंमें विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। यथा साधक, सिद्धि, सिद्ध। इन्हींका रूप द्वैत, द्वैताद्वैत, अद्वैत एवं भेद-भेदाभेद, अभेद है। प्रारम्भमें साधकका द्वैत-भाव या भेदभाव रहता है, जैसे पूज्य और पूजक, मैं पूजा करनेवाला हूँ और इष्टदेव पूज्य हैं। इसीको द्वैतभाव कहते हैं। तदनन्तर पूर्वोक्त साधनाके अनुसार सिद्धि-लाभ करता है और तब मानसिक पूजा जिसे अन्तर्याग कहते हैं, साधक इसमें एकनिष्ठ हो जाता है। अब उसे बाहरमें इष्ट देवताका पूजन गौण हो जाता है और पूजामें समर्पण की जानेवाली सभी सामग्री हृदयस्थित देवताको मानसिक कल्याणके द्वारा समर्पण करता है। यही द्वैताद्वैत—भेदाभेदकी स्थिति है। इस स्थितिमें लौकिक वैभवकी कामनाओंके प्रलोभनमें न पड़कर उस परमतत्त्वकी प्राप्तिके लिये जागरूक होकर दृढ़ निष्ठा, अदम्य उत्साहसे अनवरत अभ्याससे भावना-दार्ढ्यकी स्थितिको प्राप्त कर लेता है और इसी समय कुण्डलिनीके जागरणका अनुभव एवं षट्चक्र-भेदन होता है तथा आज्ञाचक्रस्थित तृतीय नेत्र खुल जाता है। अब मन्त्र-साधक **'शिवोऽहं'** की भावनासे भावित हो जाता है और उसमें अन्तःकरण तदाकाराकारित होकर सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व आदि लक्षण प्रस्फुटित होने लगते हैं, इसीको शिवत्व-प्राप्ति कहते हैं, जैसा कि इस सूत्रमें वर्णित है **'शिवतुल्यो जायते।'** यही सिद्धावस्था है, इसे ही अद्वैतसिद्धि या अभेदभाव कहते हैं।

स्वच्छन्द तन्त्र, मृगेन्द्रागम, मालिनीविजयोत्तर, त्रैपुर-सिद्धान्त, शिवसूत्र, शक्तिसूत्र, त्रिकमत, प्रत्यभिज्ञा-दर्शन आदि ग्रन्थोंमें इसके विभिन्न रूप—मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर; पशुप्रमाता, प्रमाता, पतिप्रमाता; चित्त, चिति, चैतन्य; सकल, विज्ञानाकल, प्रलयाकल; नर, शक्ति, शिव; इदन्ता, अहन्ता, पूर्णाहन्ता; आणव, शान्ता, शाम्भव आदि मन्त्रयोगकी त्रिपुटीके सूक्ष्म-सूक्ष्मतम रहस्योंका विस्तृत विवेचन समुपलब्ध होता है। इन समस्त तन्त्रशास्त्रोंका लक्ष्य एक ही है। केवल साधना-सरणिमें कुछ प्रकारान्तर परिलक्षित होता है। कुछ तन्त्रोंमें विस्तार और कुछमें सामान्य संग्रह है, इसलिये एक तन्त्रकी पद्धतिका आश्रय लेकर साधना करनेसे अन्य तन्त्रोंमें विहित जो क्रियाएँ हैं, वे भी समस्त पूर्ण हो जाती हैं। गुरुबोधित मार्ग ही सर्वथा अनुकरणीय है—

क्वचित्तन्त्रेषु विस्तारः क्वचित्तन्त्रेषु संग्रहः।
एकं तन्त्रं समाश्रित्य सम्यक् कर्मकृतं तथा॥
सर्वं तेन कृतं राम एतच्च गुरुमार्गतः।

(त्रिपुरारहस्य)

मन्त्र-साधनाकी अनुभूतिपूर्वक इस क्रमिक विकाससे इसी जन्ममें ही जीवन्मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः।

(स्पन्दका०)

'चिदानन्दलाभे देहादिषु चैत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्य-प्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः।' इस प्रकारसे परात्रिंशिका-शक्तिसूत्र आदि ग्रन्थोंमें जीवन्मुक्तिका विशेषरूपसे वर्णन है, क्योंकि तन्त्र-आगमोंमें जीवन्मुक्ति मोक्षरूपमें मानी गयी है।

मन्त्रयोगका परम आदर्श

करुणामयी, कल्याणमयी पराम्बा भगवती श्रीजगज्जननी श्रीललिता त्रिपुरसुन्दरीके जीवोंके आधि-व्याधि, शोक-संताप, दीनता-हीनता, दरिद्रता आदि दुःखको दूर करनेके लिये प्रार्थना करनेपर समस्त विद्याओंके अधिपति, सम्पूर्ण प्राणियोंके स्वामी भगवान् परमशिवने तन्त्र-आगमशास्त्रको प्रकट किया, इसमें मन्त्रशक्तिकी प्रधानता है। इसके द्वारा साधक अपने वाञ्छित कामनाओंको स्वल्प-कालमें ही प्राप्त कर सकता है।

वैदिक याग और उपनिषदोंकी विद्याओंके साथ तान्त्रिक याग एवं विद्याओंकी समानता परिलक्षित होती है। केवल प्रक्रियागत भेद ही भापित होता है। मूलतः कोई भेद नहीं है। विशेषकर कलियुगमें तन्त्र-विधानानुसार साधना करनेसे शीघ्र सिद्धि होती है। इन तन्त्र-शास्त्रोंमें वाम और दक्षिण दो मार्ग हैं। वाममार्गमें पञ्चमकारोंका विधान है। इसका कोई धीर-वीर इन्द्रियोंपर संयम रखनेवाला ही अधिकारी होता है। किञ्चित् भी असावधानी होनेसे पतन हो जाता है। सिद्धियोंके प्रलोभनसे इस मार्गमें प्रवृत्त होना भयप्रद है। दक्षिणमार्ग निर्भय एवं निष्कण्टक है। भगवान् आद्य शंकराचार्यने भी दक्षिण मार्गका ही समर्थन करके 'सौन्दर्यलहरी', 'प्रपञ्चसारतत्त्व' आदि ग्रन्थोंकी रचना की है और वर्तमानमें तन्त्र-मार्गमें शांकर सम्प्रदाय ही अविच्छिन्न-रूपसे चला आ रहा है। उच्चकोटिके तन्त्रविदोंका प्रधान उद्देश्य अद्वैत-तत्त्वकी प्राप्ति ही है। अद्वैत-सिद्धि मन्त्रयोगसे शीघ्र प्राप्त होती है, इसीलिये अद्वैत-

मतके आचार्य शंकरने इसका प्रचार-प्रसार किया। श्रीमद्भागवत (११।३।४७)में भी लिखा है—

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्॥

'जो शीघ्र हृदय-ग्रन्थिका भेदन चाहता है, वह तान्त्रिक विधिसे केशवका अर्चन करे।' 'केशव' शब्द यहाँपर उपलक्षण है। शिव, शक्ति, सूर्य, गणेश आदि देवताओंका भी पूजन विहित है।

वर्तमानमें प्रचलित प्रायः सभी यज्ञानुष्ठान-पद्धतियाँ तन्त्रशास्त्रसे अनुप्राणित हैं। तन्त्रोंमें स्त्री, शूद्र आदि भी साधनाके अधिकारी माने गये हैं। इसमें जाति और धर्मपर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। साधनाकी प्रवृत्तिवाले सभी समुदायके लोगोंके लिये इसका द्वार खुला है। स्त्री जातिके लिये तो विशेष सुविधा प्रदान की गयी है। साधनामें सरलता एवं अनुभूति होना तन्त्रशास्त्रकी अपनी विशेषता है। मन्त्रयोगके साधकोंका जीवन मन्त्रमय हो जाता है। सभी कार्य उनके मन्त्रपूर्वक होते हैं, इससे शनैः-शनैः साधकमें दिव्य गुणोंका संचार होने लगता है। पाशविक प्रवृत्तियाँ नष्ट होने लगती हैं। सदाचार और सद्विचारके द्वारा आनन्दमय आदर्श जीवन-यात्रा सम्पन्न होती है।

मृत्युञ्जय-योग

जिस प्रकार अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने गीताका उपदेश किया था, उसी प्रकार श्रीद्वारकापुरीमें उद्धवजीको भी उपदेश प्रदान किया। उक्त उपदेशमें कर्म, ज्ञान, भक्ति, योग आदि अनेक विषयोंकी भगवान्‌ने बड़ी ही विशद व्याख्या की है। अन्तमें योगका उपदेश हो जानेके बाद उद्धवने भगवान्‌से कहा कि 'प्रभो! मेरी समझमें आपकी यह योगचर्या साधारण लोगोंके लिये दुःसाध्य है, अतएव आप कृपापूर्वक कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिससे सब लोग सहज ही सफल हो सकें।' तब भगवान्‌ने उद्धवको भागवत-धर्म बतलाया और उसकी प्रशंसामें कहा कि 'अब मैं तुम्हें मङ्गलमय धर्म बतलाता हूँ, जिसका श्रद्धापूर्वक आचरण करनेसे मनुष्य दुर्जय मृत्युको जीत लेता है। यानी जन्म-मरणके चक्रसे सदाके लिये छूटकर भगवान्‌को पा जाता है। इसीलिये इसका नाम मृत्युञ्जय-योग है।' भगवान्‌ने कहा—

मनके द्वारा निरन्तर मेरा विचार और चित्तके द्वारा निरन्तर मेरा चिन्तन करनेसे आत्मा और मनका मेरे ही धर्ममें अनुराग हो जाता है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि शनैः-शनैः मेरा स्मरण बढ़ाता हुआ ही सब कर्मोंको मेरे लिये ही करे। जहाँ मेरे भक्त साधुजन रहते हों उन पवित्र स्थानोंमें रहे और देवता, असुर तथा मनुष्योंमेंसे जो मेरे अनन्य भक्त हो चुके हैं, उनके आचरणोंका अनुकरण करे। अलग या सबके साथ मिलकर प्रचलित पर्व, यात्रा आदिमें महोत्सव करे। यथाशक्ति ठाट-बाटसे गान-वाद्य, कीर्तन आदि करे-कराये। निर्मल-चित्त होकर सब प्राणियोंमें और अपने-आपमें बाहर-भीतर सब जगह आकाशके समान सर्वत्र मुझ परमात्माको व्याप्त देखे। इस प्रकार ज्ञानदृष्टिसे जो सब प्राणियोंको मेरा ही रूप मानकर सबका सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और ब्राह्मण भक्त, सूर्य और चिनगारी, दयालु और क्रूर, सबमें समान दृष्टि रखता है, वही मेरे मनसे पण्डित है। बारंबार बहुत दिनोंतक सब प्राणियोंमें मेरी भावना करनेसे मनुष्यके चित्तसे स्पर्धा, असूया, तिरस्कार और अहंकार आदि दोष दूर हो जाते हैं। अपनी दिल्लगी उड़ानेवाले घरके लोगोंको 'मैं उत्तम हूँ, यह नीच है'—इस प्रकारकी देहदृष्टिको और लोकलाजको छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेतकको पृथ्वीपर गिरकर भगवद्भावसे साष्टाङ्ग प्रणाम करे।

जबतक सब प्राणियोंमें मेरा स्वरूप न दीखे, तबतक उक्त प्रकारसे मन-वाणी और शरीरके व्यवहारोंद्वारा मेरी उपासना करता रहे। इस तरह सर्वत्र परमात्म-बुद्धि करनेसे उसे सब कुछ ब्रह्ममय दीखने लगता है। ऐसी दृष्टि हो जानेपर जब समस्त संशयोंका सर्वथा नाश हो जाय, तब उसे कर्मोंसे उपराम हो जाना चाहिये। अथवा वह उपराम हो जाता है। हे उद्धव! मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे और चेष्टाओंसे सब प्राणियोंमें मुझको देखना ही मेरे मतमें सब प्रकारके मेरी प्राप्तिके साधनोंमें सर्वोत्तम साधन है। हे उद्धव! एक बार निश्चयपूर्वक आरम्भ करनेके बाद फिर मेरा यह निष्काम धर्म किसी प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे अणुमात्र भी

ध्वंस नहीं होता। क्योंकि निर्गुण होनेके कारण मैंने ही इसको पूर्णरूपसे निश्चित किया है। हे संत! भय, शोक आदि कारणोंसे भागने, चिल्लाने आदि व्यर्थके प्रयासोंको भी यदि निष्काम-बुद्धिसे मुझ परमात्माके अर्पण कर दे तो वह भी परम धर्म हो जाता है। इस असत् और विनाशी मनुष्य-शरीरके द्वारा इसी जन्ममें मुझ सत्य और अमर परमात्माको प्राप्त कर लेनेमें ही बुद्धिमानोंकी बुद्धिमानी और चतुरोंकी चतुराई है।

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति माऽमृतम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। २२)

अतएव जो मनुष्य भगवान्‌की प्राप्तिके लिये कोई यत्न न करके केवल विषयभोगोंमें ही लगे हुए हैं, वे श्रीभगवान्‌के मतमें न तो बुद्धिमान् हैं और न मनीषी ही हैं।

समाधियोग

(श्रीश्रीधर मजूमदार एम्० ए०)

उपनिषदोंके द्रष्टा ऋषियोंने ध्यानबलसे अपने अतीन्द्रिय ज्ञानद्वारा इस बातको अवगत किया कि बाहरी समस्त चराचर जगत्‌के एकमात्र कारण अनन्त चेतन ब्रह्मके दो रूप हैं—एक व्यक्त रूप और दूसरी वह आभ्यन्तर चेतना जो बाह्य व्यक्त जगत्‌को अनुप्राणित करती है, सत्तास्फूर्ति देती है। पहला रूप इन्द्रियगोचर है और बाह्य प्रपञ्च (Phenomenon) कहलाता है और दूसरा अतीन्द्रिय है और प्रत्यक्-चैतन्य (Noumenon) कहलाता है। बाह्य प्रपञ्च परिणामी है और प्रत्यक्-चैतन्य अपरिणामी है। 'ये सब दृश्य पदार्थ विनाशी हैं, अन्तरात्मा अविनाशी कहलाता है। निर्विशेष निरञ्जन परब्रह्म अक्षर है।' (योगशिखोपनिषद् ३। १६)।

जहाँ बाह्य प्रपञ्च है वहाँ प्रत्यक्-चैतन्य भी है। दूधमें मक्खनकी भाँति प्रत्यक्-चैतन्य बाह्य प्रपञ्चमें सर्वत्र-सर्वदा व्याप्त है, किंतु प्रत्यक्-चेतनके सर्वांशमें सर्वदा बाह्य प्रपञ्च नहीं है। दूधके अणु-अणुमें मक्खन है, किंतु जबतक दूध मथा नहीं जायगा, तबतक उसमें मक्खन दृष्टिगोचर नहीं होगा। इसी प्रकार समाधिका आश्रय लिये बिना प्रत्यक्-चैतन्यका साक्षात्कार नहीं होता। जाग्रत्-अवस्थामें क्षिप्त मनको इन्द्रियोंके द्वारा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दके रूपमें बाह्य प्रपञ्चका प्रत्यक्ष होता है, उस समय प्रत्यक्-चैतन्य अन्तर्हित रहता है। किंतु प्रत्यक्-चैतन्यका साक्षात्कार इन्द्रियोंके निरोधसे अर्थात् निरुद्ध मनके द्वारा समाधि-अवस्थामें सच्चिदानन्दरूपमें होता है, उस समय इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं और बाह्य प्रपञ्च तिरोहित हो जाता है।

'जब मनुष्य परमात्माको परमार्थतः देख लेता है, तब अखिल दृश्य जगत् विलीन हो जाता है।' (जाबालदर्शनोपनिषद् १०। १२)।

इस प्रकार एक समयमें ब्रह्मके एक रूपका ही साक्षात्कार होता है। आत्मदर्शी मुनि ब्रह्मके अविनाशी प्रत्यक्-चैतन्यस्वरूपका ही वरण करते हैं और परिणामी दृश्य स्वरूपका अपलाप करते हैं।

हमें दृश्य प्रपञ्चकी प्रतीति इन्द्रियोंके द्वारा होती है, किंतु ये इन्द्रियाँ अर्थात् चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा मनके सहयोग बिना व्यापार नहीं करतीं। उदाहरणतः यदि हमारा मन किसी दूसरे विचारमें संलग्न हो तो हमारे नेत्र खुले रहनेपर भी तथा किसी खास वस्तुपर हमारी दृष्टि जमी रहनेपर भी हमें उस वस्तुका प्रत्यक्ष नहीं होता। यही स्थिति दूसरी इन्द्रियों—श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचाकी है। इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका अनुसंधान करनेके अतिरिक्त मन प्राक्तन संस्कारोंकी ही आवृत्ति करता हुआ अथवा आगे मिलनेवाले पदार्थोंकी चिन्ता करता हुआ क्षिप्त अवस्थामें रह सकता है। चित्तकी वृत्तियोंका निरोध कर देनेसे, अर्थात् मनको सब प्रकारके संकल्पोंसे सर्वथा शून्य कर देनेसे—इसीको चित्तकी निरुद्ध अथवा समाहित अवस्था कहते हैं—सारी इन्द्रियाँ निर्व्यापार हो जाती हैं, जिससे बाह्य प्रपञ्चका दीखना बंद हो जाता है। परिणामी बाह्य प्रपञ्चके अदृश्य हो जानेपर उससे इतर अविनाशी प्रत्यक्-चैतन्यकी उपलब्धि होती है। अर्थात् बाह्य आवरणके दृष्टिके सामनेसे हट जानेपर भीतरकी सार वस्तु प्रकट हो जाती है।

'चित्तके (बाह्य विषयोंका अनुसंधान करते समय) चञ्चल होनेपर संसारका भान होता है। मनका निश्चल होना ही

मुक्ति है। अतः हे विश्वके नियन्ता! परम तत्त्वके ज्ञानसे ही मनको स्थिर करना चाहिये।' (योगशिखोपनिषद्में महेश्वरका ब्रह्माके प्रति उपदेश ६।५८)।

'चञ्चलतासे शून्य मन अमर कहलाता है, वही तप है और उसीको मोक्ष कहते हैं—यह शास्त्रोंका सिद्धान्त है।'

सब प्रकारके संकल्पोंसे सर्वथा शून्य हो जानेका नाम ही 'समाधि' है, जिस समाधिमें मन सर्वथा निश्चल हो जाता है और जीवात्मा तथा परमात्माका भेद मिट जाता है। जीवात्माका प्रत्यक्-चैतन्यमें, सर्वव्यापी अन्तरात्मामें, ब्रह्मके अतीन्द्रिय रूपमें स्थित होना ही समाधि है। जीवात्माके अंदर यह प्रत्यक्-चैतन्य अथवा परमात्मा, जिसे निर्विकल्प परम अहम् भी कहते हैं, क्षुद्र अहं-प्रत्ययसे आच्छन्न रहता है, जो देहाभिमानका कारण है। इस क्षुद्र अहंबुद्धिके निवृत्त हो जानेपर अथवा चूर्ण हो जानेपर प्रत्यक्-चैतन्य अथवा निर्विकल्प 'परम अहम्'का उदय होता है। अतः समाधि-लाभके लिये क्षुद्र अहंबुद्धिकी निवृत्ति आवश्यक है। दूसरे शब्दोंमें क्षुद्र अहंबुद्धिकी निवृत्ति ही समाधि है, जिस समाधिमें हृदयकी गाँठ खुल जाती है और चित्तका विस्तार होकर उसे पूर्णताकी अवस्था प्राप्त हो जाती है।

'जीवात्मा और परमात्माकी एकताके ज्ञानके उदयको ही 'समाधि' कहते हैं।' (जाबालदर्शनोपनिषद् १०।१ और अन्नपूर्णोपनिषद् ५।७५)।

'जीवात्माकी परमात्माके साथ एकता ही, जिसमें संकल्पकी सारी क्रिया ही नष्ट हो जाती है, 'समाधि' कहलाती है।' (सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् १६)।

'मुनियोंके द्वारा साधित समाधि उस संकल्पशून्य अवस्थाका नाम है जिसमें न तो मनकी क्रिया है और न बुद्धिका व्यापार है, जो आत्मज्ञानकी अवस्था है और जिसमें उस (प्रत्यक्-चैतन्य) के अतिरिक्त सबका बाध है।' (मुक्तिकोपनिषद् २।५५)।

'ब्रह्माकारवृत्तिके द्वारा अथवा सर्वसंकल्पनिवृत्तिके द्वारा चित्तकी वृत्तियोंको सर्वथा भूल जानेका नाम ही 'समाधि' है।' (तेजोबिन्दूपनिषद् १।३७)।

'हे ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण! 'समाधि' शब्द उस संशयरहित मानसिक पूर्णताका वाचक है, जिसमें आसक्तिका सर्वथा अभाव है और जिसमें सदसद्विवेक भी नहीं है।' (अन्नपूर्णोपनिषद् १।५०)।

जीवात्मा परमात्मरूप महासागरके वक्षःस्थलपर नृत्य करते हुए एक तरङ्गके समान है। तरङ्गके पीछे समुद्ररूप महान् आधार है। इसी प्रकार जीवात्माके पीछे परमात्मारूप महान् आधार है। वासना अथवा उससे उत्पन्न होनेवाली अहंबुद्धि ही तरङ्गकी सत्ताको अक्षुण्ण रखती है। जिस क्षण वासना नष्ट हो जाती है और उसके साथ ही अहंप्रत्यय भी निवृत्त हो जाता है, उसी क्षण तरङ्ग विलीन होकर सागरमें मिल जाती है, अर्थात् जीवात्मा परमात्मामें प्रवेश कर उसके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाता है।

समाधिसिद्धि तथा मोक्षके लिये आवश्यकता है मनको निरुद्ध करनेकी, वासनाशून्य करनेकी अर्थात् सर्वथा संकल्पशून्य होनेकी। इस संकल्पशून्यताको ही जीवात्माकी प्रत्यक्-चैतन्यमें, सर्वव्यापक अन्तरात्मामें, ब्रह्मके अतीन्द्रिय भावमें स्थिति कहते हैं।

'प्रत्येक वस्तुको ब्रह्मसे अभिन्न देखना ही ज्ञान है, मनको निर्विषय करना ही परमात्माका ध्यान है, मनोमलके नाशको ही स्नान कहते हैं और इन्द्रियनिग्रहका नाम ही शौच है।' (स्कन्दोपनिषद् ११ और मैत्रेय्युपनिषद् २।२)।

'जब निश्चल मनके द्वारा क्षिप्त मनकी चिकित्सा करनेसे मनकी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं तभी सुदुर्लभ परब्रह्मका साक्षात्कार होता है।' (योगशिखोपनिषद् ६।६२)। 'जिस क्षण हृदयमें भरी हुई सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, उसी क्षण यह मरणधर्मा मनुष्य अमृतत्व लाभ कर लेता है और इसी जीवनमें ब्रह्मानन्दका आस्वादन करता है।' (बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।७)।

'जब इस क्षिप्त मनको संकल्पाभावके शस्त्रसे शान्त कर दिया जाता है तभी (और उससे पूर्व नहीं) समग्र सर्वगत निर्विशेष ब्रह्मका साक्षात्कार होता है।' (महोपनिषद् ४।९१)।

'जिस भाग्यवान् पुरुषकी आत्मामें रति हो गयी है, जिसका मन पूर्ण और शुद्ध है और जिसे अनुत्तम विश्राम प्राप्त हो गया है, उसके लिये इस संसारमें कोई भी कामनाकी वस्तु नहीं रह जाती।' (महोपनिषद् २।४७)।

'जो चित्त आत्मा (परमात्मा) में निवेशित हो गया है

और जिसके सारे मल समाधिके द्वारा धुल गये हैं, उसके आनन्दका वाणीद्वारा वर्णन नहीं हो सकता, केवल अन्तःकरणद्वारा अनुभव हो सकता है।' (मैत्र्युपनिषद्)।

'जीवात्मा और परमात्माकी एकताकी अवस्था जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटीका अभाव है, जो परमानन्दरूपा है और शुद्ध चैतन्यात्मिका है, वही समाधि है।' (शाण्डिल्योपनिषद् १।११)।

उपनिषदों तथा पातञ्जल योगसूत्रमें समाधिकी अवस्था प्राप्त करने अर्थात् मनको निरुद्ध अथवा सब प्रकारके संकल्पोंसे सर्वथा शून्य करनेकी अनेक विधियाँ बतायी गयी हैं। परंतु मेरी समझसे उन सबमें श्रेष्ठ तथा सुगम विधि है प्रत्यक्-चैतन्य, निर्विकल्प ब्रह्म, परमात्मा अथवा सर्वव्यापी अन्तरात्माको सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण करने अथवा उनके अंदर आत्मनिक्षेप करनेकी मन-ही-मन भावना और अभ्यास करना। स्मरण रहे कि प्रत्यक्-चैतन्य, निर्विकल्प ब्रह्म, परमात्मा और सर्वव्यापी अन्तरात्मा आदि सारे शब्द ब्रह्मके अतीन्द्रिय रूपका ही लक्ष्य कराते हैं। इस पूर्ण समर्पणकी साधनामें तीव्र भक्ति और श्रेष्ठ ज्ञान दोनों मिले हुए रहते हैं। पूर्ण समर्पणकी भावना तीव्र भक्तियोगसे ही उत्पन्न होती है और सर्वव्यापी अन्तरात्माके अंदर आत्म-निक्षेप इस श्रेष्ठ ज्ञानसे होता है कि यह सर्वव्यापी अन्तरात्मा, जो अमृतत्वका कारण है, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पञ्चमहाभूतों अर्थात् इन्द्रियगोचर बाह्य प्रपञ्चके पीछे छिपा रहता है। 'यह आत्मा ही इन सबके भीतर चल रहा है। इस आत्माकी ही उपासना करो, जो अनन्त तथा जन्म, मृत्यु, भय एवं शोकसे रहित है।' (सुबालोपनिषद् ५।१)।

जीवात्माको परमात्माके शरणापन्न कर देनेकी मन-ही-मन भावना करनी चाहिये। परंतु यह अहंबुद्धि ही जीवात्माको परिच्छिन्न एवं परमात्मासे पृथक् बना रखती है। अतः जीवात्माको परमात्माके अर्पण कर देनेका अर्थ है अहंबुद्धिको सर्वव्यापी अन्तरात्मा अर्थात् निर्विकल्प परम अहम्के अर्पण कर देना। इसके लिये व्यष्टि बुद्धिको भावना एवं ध्यानरूप अभ्याससे समष्टिबुद्धि अर्थात् समष्टि अहङ्कारके रूपमें परिणत करना होगा, इससे सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होगी। यह समष्टिमें फैली हुई बुद्धि परिपक्व होनेपर शुद्ध अहंकारके निर्विकल्प परम अहम्के रूपमें बदल जाती है। इस अवस्थामें मनकी क्रिया सर्वथा निरुद्ध हो जाती है और क्षुद्र अहंबुद्धि निर्विकल्प ब्रह्ममें विलीन हो जाती है। इससे असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है, जिसमें जीवात्मा निर्विकल्प ब्रह्मके साथ एकात्मताको प्राप्त हो जाता है।

'हे पद्मसम्भव! इस परम तत्त्वकी उपलब्धि भक्तिके द्वारा चित्तके अन्तर्लीन होनेसे होती है। भावनामात्र ही इस स्थितिका कारण है।' (योगशिखोपनिषद्—महेश्वरका ब्रह्माके प्रति उपदेश ३।२३)।

'चित्तवृत्तिका अहङ्कारशून्य होकर ब्रह्माकार बन जाना ही सम्प्रज्ञात समाधिका स्वरूप है। यह स्थिति ध्यानके परिपक्व अभ्याससे सिद्ध होती है।' (मुक्तिकोपनिषद्२।५१)।

'चित्तकी प्रशान्त वृत्ति, जो ब्रह्मानन्दको देनेवाली है, असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। यह अवस्था योगियोंको अतिशय प्रिय है।' (मुक्तिकोपनिषद् २।५२)।

जब चित्त अपनी चैत्य-दशा अर्थात् विषयचिन्तनसे मुक्त हो जाता है, तब इस प्रकारके क्षीणचित्त पुरुषोंकी स्थितिको बाह्यप्रतीतिशून्यता अथवा कलनाशून्यता कहते हैं। यह एक प्रकारकी जाग्रत्-अवस्थामें सुषुप्ति है।

'हे निदाघ! यह जाग्रत्-अवस्थाकी सुषुप्ति अभ्यास-साध्य है। यही जब प्रौढ़ हो जाती है, तब इसे तत्त्ववेत्ता पुरुष तुरीयावस्था अथवा समाधि-अवस्था कहते हैं।' (अन्नपूर्णोपनिषद्—महर्षि ऋभुका अपने शिष्य निदाघके प्रति उपदेश २।१२, १३)।

'मैं केवल सत्तारूप हूँ, मैं क्षुद्र अहंबुद्धिसे शून्य परम अहम् हूँ। मेरा स्वरूप बाह्य प्रपञ्चसे विरहित है, मैं चिदाकाशमय हूँ।' (तेजोबिन्दूपनिषद् ३।३)।

यह आगे बताया जायगा कि अहंबुद्धिसे विशिष्ट परमात्मा ही जीवात्मा बना हुआ है, जिस प्रकार तरङ्ग वायुजन्य आन्दोलनसे विशिष्ट समुद्रके अतिरिक्त कुछ नहीं है। जीवात्माकी परमात्माके प्रति आत्मसमर्पण-बुद्धि उसके अहंकारका नाश कर देती है और उसे समाधि अथवा तुरीय अवस्थाको पहुँचा देती है जहाँ पहुँचकर वह अपने असली तेजोमय स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ।

'केवल सद्भावकी भावना दृढ़ हो जानेसे वासना

(अहंबुद्धि) का लय हो जाता है। वासनाका निःशेषरूपसे क्षय ही मोक्ष है और उसीको जीवन्मुक्ति भी कहते हैं।' (अध्यात्मोपनिषद् १३)।

'इस गुणसमाहार (बाह्य प्रपञ्च) को आत्मासे भिन्न देखनेवाले तत्त्वदर्शी पुरुषकी आन्तरिक शान्तिसे उत्पन्न स्थितिका नाम समाधि है।' (अन्नपूर्णोपनिषद् १। २९)।

पातञ्जलयोगसूत्रकी समीक्षा करनेसे हम इसी सिद्धान्तपर पहुँचते हैं। वहाँ भी इस बातकी ओर संकेत किया गया है कि चित्तकी चञ्चलता अथवा क्षुद्र अहंबुद्धि ही जीवात्माको परमात्मासे अलग रखती है, परंतु ज्यों ही यह अहंकार अथवा भेदबुद्धि निवृत्त हो जाती है त्यों ही जीवात्मा अपने असली तेजोमय रूपको प्राप्त होकर परमात्माके साथ एक हो जाता है। जब चित्त अपनी चित्तताको भूलकर ध्येयाकार बन जाता है, उस अवस्थाको 'समाधि' कहते हैं। पातञ्जलयोगसूत्रमें भी अहंकारके नाशका सर्वोत्तम उपाय अपरिच्छिन्न निर्विकल्प ब्रह्मके प्रति आत्मसमर्पणबुद्धिपूर्वक कायिक, वाचिक, मानसिक सब प्रकारकी क्रियाके त्यागका अभ्यास कहा गया है। दृश्य प्रपञ्चकी आड़में छिपे हुए निर्विकल्प ब्रह्मका साक्षात्कार करनेमें जब इन्द्रियाँ अपनेको असमर्थ अनुभव करती हैं, तब इस प्रकारकी निष्क्रियता एवं समर्पणका अभ्यास होता है। इस अभ्याससे उस क्रियाके अनुकूल आसन अपने-आप लग जाता है और साधक धीरे-धीरे शीत-उष्ण, सुख-दुःख, सत्-असत् आदि द्वन्द्वोंके अभिघातसे मुक्त हो जाता है, साथ ही प्राणोंकी क्रिया भी अपने-आप बंद हो जाती है और प्राणायाम सध जाता है, जिससे आत्म-साक्षात्कारका अवरोधक अहङ्कारका पर्दा हट जाता है।

चित्तवृत्तिका निरोध ही योग है—'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**' (पातञ्जलयोगसूत्र, समाधिपाद २)।

तब द्रष्टा अपने असली स्वरूपमें स्थित होता है—'**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।**' (पा० यो० समाधि० ३)।

चित्तको किसी देश-विदेशमें बाँध देना 'धारणा' है—'**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।**' (पा० यो० विभूति० १)।

इस प्रकारकी एकाग्रताके द्वारा वृत्तिके अखण्ड प्रवाहका नाम 'ध्यान' है—'**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।**' (पा० यो० विभूति० २)।

ध्यानके स्थिर हो जानेपर मन ध्येयाकार बन जाता है और अपने स्वरूपको भूल जाता है। इस अवस्थाको 'समाधि' कहते हैं—'**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।**' (पा० यो० विभूति० ३)। 'ईश्वरको सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण कर देनेसे समाधि-सिद्धि होती है। '**समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।**' (पा० यो० साधन० ४५)।

सब प्रकारके प्रयत्नोंको शिथिल कर देनेसे तथा अनन्त परमात्माको आत्मसमर्पण करनेसे ध्यानोपयोगी सरल आसन लग जाता है। '**प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।**' (पा० यो० साधन० ४७)।

इसके अनन्तर द्वन्द्वोंमें समभाव हो जाता है—'**ततो द्वन्द्वानभिघातः।**' (पा० यो० साधन० ४८)।

ऐसा होनेपर श्वास-प्रश्वासकी गति रुककर प्राणायाम लग जाता है—'**तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।**' (पा० यो० साधन० ४९)।

तब (आत्माके) प्रकाशका अवरोधक आवरण क्षीण हो जाता है—'**ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।**' (पा० यो० साधन० ५२)।

उस अनन्त (परमात्मा) में निरतिशय सर्वज्ञताका बीज रहता है—'**तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।**' (पा० यो० समाधि० २५)।

उसके (सर्वव्यापी अन्तरात्माको आत्मसमर्पण करनेके) बाद सारे विघ्न हट जाते हैं और प्रत्यक्चेतनकी उपलब्धि हो जाती है—'**ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।**' (पा० यो० समाधि० २९)।

तुम परमेश्वर और भोग दोनोंकी सेवा नहीं कर सकते। विषय न बटोरो। कलके लिये चिन्ता न करो। कल अपनी चिन्ता आप करेगा।—ईसामसीह

सदा स्मरण करने योग्य तो एक ही वस्तु है। सदा सर्वदा सर्वत्र श्रीकृष्णके सुन्दर नामोंके स्मरणमात्रसे ही प्राणिमात्रका कल्याण हो सकता है।—श्रीचैतन्य महाप्रभु

नादानुसंधान और लययोग

(महामण्डलेश्वर योगिराज १००८ श्रीबर्फानीबाबाजी महाराज)

नादानुसंधान लययोगका एक विशेष प्रकार ही है। हठयोगप्रदीपिका (४। ६६) में कहा गया है—

श्रीआदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयन्ति।
नादानुसंधानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम्॥

'आदिनाथ भगवान् शिवने लययोगसाधनके सवा करोड़ प्रकारोंका वर्णन किया है। उन सभी लययोगके प्रकारोंमें मैं केवल नादानुसंधानको ही मुख्य मानता हूँ।'

जिसे राजयोगकी साधना करनी हो, योगिराज बनना हो, उसे सावधान चित्तसे मनको स्थिर करके, बाहरी और भीतरी विषयोंका चिन्तन त्यागकर नादका ही अनुसंधान करना चाहिये—

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता॥

(हठयोगप्र० ४। ९३)

नादयोगकी साधना करनेके पूर्व यह जान लेना भी आवश्यक है कि यह नाद क्या है। जिस प्रकार अर्थ-जगत्‌की चार अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया, उसी प्रकार शब्द-जगत्‌की चार अवस्थाएँ होती हैं, जिन्हें परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी कहा जाता है। ऋग्वेदमें वाणीके इन चारों भेदोंका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

(ऋग्वेद १। १६४। ४५)

सायणभाष्यमें बताया गया है—

'परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति चत्वारीति एकैव नादात्मिका वाक् मूलाधारादुदिता सती परेत्युच्यते। नादस्य च सूक्ष्मत्वेन दुर्निरूपत्वात् सैव हृदयगामिनी पश्यन्तीत्युच्यते योगिभिर्द्रष्टुं शक्यत्वात्। सैव बुद्धिं गता विवक्षां प्राप्ता मध्यमेत्युच्यते, मध्ये हृदयाख्ये उदीयमानत्वात् मध्यमा। अथ यदा सैव वक्त्रे स्थिता ताल्वोष्ठादिव्यापारेण बहिर्निर्गच्छति तदा वैखरीत्युच्यते एवं चत्वारि वाचः पदानि परिमितानि मनीषिणो मनसः स्वामिनः स्वाधीनमनस्का ब्राह्मणाः वाच्यस्य शब्दब्रह्मणोऽधिगन्तारो योगिनः परादि चत्वारि पदानि विदुर्जानन्ति। तेषु मध्ये त्रीणि परादीनि गुहागुहायां निहिता निहितानि हृदये हृदयान्तर्वर्तित्वात्। तुरीयं तु पदं वैखरीसंज्ञकं मनुष्याः सर्वे वदन्ति।'

'वाणीके चार पद हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। एक ही नादात्मक वाणी मूलाधारसे उदित होनेपर परा कही जाती है। नादकी सूक्ष्मताके कारण उसका निरूपण कठिन होनेसे वही नाद जब हृदयमें उत्थित होता है तो उसे योगी देख सकते हैं, इसलिये उसे पश्यन्ती कहते हैं। उसीके बुद्धिगम्य होनेपर बोलनेकी इच्छासे मध्यमा कहते हैं। हृदयके मध्यमें उदय होनेके कारण इसका मध्यमा नाम है। वही वाणी मुखमें स्थित होकर जब तालु-ओष्ठ आदिके द्वारा उच्चरित होती है, तब उसे वैखरी कहते हैं। इस प्रकार वाणीके चार पद हैं। नादब्रह्मके साधक मनीषी योगी वाणीके इन चारों पदोंको जानते हैं। पर सभी जनसाधारण इनमेंसे केवल वैखरी वाणी ही बोलते हैं।'

वरिवस्यारहस्यमें श्रीभास्कररायने इसीको अधिक विस्तारसे स्पष्ट किया है। यहाँ इतना ही जान लेना आवश्यक है कि परमशिवमें जब किंचित् स्फुरणा होती है, जिसे स्पन्द, स्फोट, रव अथवा नाद कहा जाता है तो मूलाधारसे परा वाक्-शक्ति ही विमर्श-रूपमें प्रकट होती है। विमर्शशक्तिका इच्छा-रूप ही पश्यन्ती कहा जाता है। वही ज्ञानशक्तिके रूपमें मध्यमा और क्रियाशक्तिके रूपमें वैखरी कही जाती है। योगिनीहृदयमें बताया गया है—

आत्मनः स्फुरणं पश्येद् यदा सा परमा कला।
अम्बिका रूपमापन्ना परा वाक् समुदीरिता॥
इच्छाशक्तिस्तदा सेयं पश्यन्ती वपुषा स्थिता।
ज्ञानशक्तिस्तथा ज्येष्ठा मध्यमावागुदीरिता॥
क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा।

इसका अर्थ ऊपर आ गया है। प्रयोगसारके अनुसार—

सोऽन्तरात्मा तदा देवी नादात्मा नदते स्वयम्।
यथासंस्थानभेदेन स भूयो वर्णतां गतः॥
वायुना प्रेर्यमाणोऽसौ पिण्डाद् व्यक्तिं प्रयास्यति।

अन्तरात्मा-रूप वह देवी शक्तिरूपा नादात्माके रूपमें

स्वयं शब्दमयी बन जाती है। वही नाद संस्थान-भेदसे वर्णरूपमें परिवर्तित होकर वायुसे प्रेरित होकर पिण्डमें उच्चरित होता है। प्रपञ्चसारतन्त्र (२।४३) में कहा गया है—

मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः
पश्चात् पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्मध्यमाख्यः।
वक्त्रे वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्ना-
बद्धस्तस्माद्भवति पवनप्रेरितो वर्णसंघः॥

इसकी टीकामें श्रीपद्मपादाचार्यने बताया है कि चैतन्याभिविशिष्ट प्रकाशिका माया ही निष्पन्दा परावाक् है। कामकलाविलासकी चिद्वल्ली व्याख्यामें सुभगोदयवासनाका संदर्भ देते हुए बताया गया है—

परा भूर्जन्म पश्यन्ती वल्लीगुच्छसमुद्भवा।
मध्यमा सौरभा वैखर्यक्षमाला जयत्यसौ॥

परा वाक् बीज-रूपा है, उससे वल्ली-वेल ही पश्यन्ती है और गुच्छोंके सौरभसे युक्त मध्यमा है। वैखरी ही अक्षमाला है। अक्षमालासे यहाँ अकारसे लेकर क्षकारपर्यन्त पचास मातृका वर्णोंको जानना चाहिये।

नादसाधनाके द्वारा साधक अपनी वृत्तिको अन्तर्मुखी करनेका अभ्यास करता हुआ इसी परा वाग्रूपा चिच्छक्तिका अनुभव करता है। नादपर जिसने अधिकार कर लिया उसे इस संसारमें कुछ भी कार्य शेष नहीं रह जाता; क्योंकि यह माना जाता है कि यह सम्पूर्ण जगत् नादाधीन है—

नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात् पदाद्वचः।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत्॥

हम यदि किसी नदीके उद्गमपर जाना चाहें तो पहिले उसके प्रवाहके मार्गका जान लेना आवश्यक होता है, इसलिये नादके भी इस मार्गको जानकर हम उसके उद्गमतक पहुँच सकते हैं। वर्णकी अभिव्यक्तिका क्रम इस प्रकार बताया गया है—

आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते मनः।
देहस्थं वह्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
ब्रह्मग्रन्थिस्थितः सोऽथ क्रमादूर्ध्वपथे चरन्।
नाभिहृत्कण्ठमूर्धास्येष्वाविर्भावयति ध्वनिम्॥
नादोऽतिसूक्ष्मो सूक्ष्मश्च पुष्टोऽपुष्टश्च कृत्रिमः।
इति पञ्चाभिधां धत्ते पञ्चस्थानस्थितः क्रमात्॥

बोलनेकी इच्छासे आत्मा मनको प्रेरित करता है। मन देहस्थ अग्निको उत्तेजित करता है, वह अग्नि देहस्थ पवनको प्रेरित करता है, जिससे मणिपूरमें स्थित अग्निसे पश्यन्ती और वहाँसे हृद्गत मध्यमा, वहाँसे कण्ठ, मूर्धा और मुखसे होकर वैखरी वाणीकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार इस नादके स्थान-भेदसे पाँच प्रकार हो जाते हैं जिन्हें अतिसूक्ष्म, सूक्ष्म, पुष्ट, अपुष्ट और कृत्रिम कहा जाता है। नाद नाम पड़नेका कारण यह है कि यह अग्नि और पवनके संयोगसे उत्थित होता है—

नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः।
जातः प्राणाग्निसंयोगात् तेन नादोऽभिधीयते॥

नकार प्राण वायुको और दकार अग्निको कहते हैं इसीलिये इसका नाम नाद कहा जाता है। नादसाधनकी क्रिया शारदातिलक (२५।४५—४७) के अनुसार इस प्रकार है—

अङ्गुलीभिर्दृढं बद्ध्वा करणानि समाहितः।
अङ्गुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां विलोचने॥
नासारन्ध्रे मध्यमाभ्यामन्याभिर्वदनं दृढम्।
बद्ध्वात्मप्राणमनसामेकत्वं समनुस्मरन्॥
धारयेन्मरुतं सम्यग्योगोऽयं योगिवल्लभः।
नादः संजायते तस्य क्रमादभ्यसतः शनैः॥

'समाहित-चित्त होकर अङ्गुलियोंसे इन्द्रियोंको दृढ़तासे बाँधे। दोनों हाथोंके दोनों अँगूठोंसे कानके छेद बंद करे। दोनों तर्जनी अङ्गुलियोंसे दोनों नेत्र बंद करे। मध्यमा अङ्गुलियोंसे दोनों नाकके छेद बंद करे। दोनों अनामिका ऊपरके ओष्ठपर और दोनों कनिष्ठिका अधरोष्ठपर रखकर मुख अच्छी तरह बंद कर ले। फिर ऐसा ध्यान करे कि मेरा आत्मा प्राण और मन एकाकार हो गये हैं। इस प्रकार पवनके स्थिर होनेसे मनकी स्थिरता होनेपर धीरे-धीरे क्रमशः इस अभ्यासको धैर्यके साथ करते रहनेपर नाद सुनायी देने लगता है।' हठयोगप्रदीपिका (४।६८) के अनुसार यह नाद सुषुम्नापथमें सुनायी देता है—

श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम्।
शुद्धसुषुम्णासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः॥

बगलामुखी-रहस्यमें भी बताया गया है कि योनिमुद्राका निरन्तर अभ्यास करनेवाले योगीका सुषुम्नामें प्राण-संचार होने

लगता है, उसीसे आनन्दजनक नाद सहसा उत्पन्न हो जाता है। मूलाधारसे लेकर सहस्रारपर्यन्त सुषुम्नापथमें शुद्ध स्फटिकके समान नादस्वरूप चैतन्यका ध्यान करना चाहिये। हंस मन्त्रका अभ्यास करना चाहिये।

मन्त्रके दो प्रकार बताये गये हैं—वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। स्फुट उच्चारण किये जानेवाले सभी मन्त्र वर्णात्मक हैं। नाद ही ध्वन्यात्मक मन्त्र कहा जाता है, जिसके लिये कहा गया है—**'नास्ति नादात्परो मन्त्रः।'** नादसे बढ़कर कोई मन्त्र नहीं है। नाद-साधनाकी दूसरी सरल विधि इस प्रकार बतायी गयी है कि कान बंद करनेके लिये दो गुटका बनाये। एक रत्ती कस्तूरी, दो रत्ती जायफल, तीन रत्ती जावित्री और छः रत्ती लौंग लेकर इन सबको चूर्ण करके जामुनके छोटे फलके बराबर दो गोलियाँ बना ले। उन्हें रेशमी वस्त्रमें लपेटकर कानोंमें लगाकर सूर्योदयसे पूर्व उठकर प्रातःकृत्यसे निवृत्त हो स्वस्थ मनसे अभ्यास करे। अभ्यास-कालमें प्रारम्भमें कठिनाईका अनुभव होता है। प्रारम्भमें शरीरमें किसी-किसी साधकको चींटी-सी रेंगती प्रतीत होती है तो किसीको मिर्चके समान जलनका अनुभव होता है। दूसरी अवस्थामें शरीर टूटने-सा लगता है, अङ्गोंमें ऐंठन होने लगती है। तीसरी अवस्थामें अत्यन्त थकानका अनुभव होता है। चतुर्थ अवस्थामें सिर काँपने लगता है। पाँचवीं स्थितिमें तालुसे लार-सी टपकने लगती है। छठी अवस्थामें मूर्धासे लम्बिका-मार्गसे अमृतस्राव होता है जिसे पानकर योगी अत्यन्त तृप्तिका अनुभव करता है। सप्तम अवस्थामें गूढ़ रहस्य प्रकट होने लगते हैं। अष्टम स्थितिमें परावाक्का साक्षात्कार होता है। नवम अवस्थामें दिव्य देह, नेत्रोंकी निर्मलता और दिव्य दर्शन होते हैं। दशमावस्थामें योगी परब्रह्मका साक्षात्कार कर परब्रह्मका अनुभव करने लगता है।

नाद-श्रवणके क्रममें भी दस प्रकारके नाद क्रमानुसार सुनायी पड़ते हैं—

प्रथम ध्वनि भौंरेके गुंजार और कलकण्ठी नारियोंके गीतके समान सुनायी पड़ती है, दूसरी ध्वनि बाँसुरीके स्वर और कांस्यपात्रकी ध्वनिके समान सुनायी देती है। फिर क्रमसे घण्टानाद, मेघगर्जन, समुद्रगर्जनकी ध्वनि आदि सुनायी पड़ती है।

दस ध्वनियोंका दूसरा प्रकार इस प्रकार सुननेमें आता है—प्रथम चिण् शब्द, द्वितीय चिण्चिण शब्द, तृतीय चिरचिर शब्द, चतुर्थ घरघराहटका शब्द, पाँचवाँ इससे कुछ ऊँचा घर्घर शब्द, छठा मृदङ्गकी ध्वनि, सप्तम सूक्ष्मनाद, अष्टम वंशीके स्वर, नवम मधुर ध्वनि और दशम नगाड़ेका-सा शब्द सुनायी देता है।

प्रयोगसारमें नादसिद्धिके पूर्वकी दस अवस्था इस प्रकार बतायी गयी है—१-कम्प, २-रोमोद्गम, ३-आनन्द, ४-विमलता, ५-स्थिरता, ६-स्फूर्ति—अङ्गोंमें लाघव, ७-प्रकाश, ८-वैदुष्य, विद्वत्ता—सर्वज्ञता, ९-अद्वैत-भाव—द्वैत-भावनाका मिटना और १०-आत्मसाक्षात्कार।

इस प्रकार नाद-साधनाके सिद्ध हो जानेपर योगीको जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं वे इस प्रकार हैं—१-भूत, भविष्य, वर्तमानका ज्ञान, त्रिकालदर्शी होना, २-ऋतम्भरा प्रज्ञा, ३-मनकी बात जान लेना, ४-इच्छानुसार प्राणको रोक लेना, ५-शरीरकी सम्पूर्ण नाडियोंपर अधिकार, ६-वाणीकी सिद्धि, शापानुग्रहमें समर्थ होना, जो कह दे वही हो जाना, ७-चिरायु होना, ८-इन्द्रजाल और प्रकृतिके अन्तरालके अज्ञात रहस्योंका ज्ञान, ९-कायाकल्प, परकायप्रवेशकी सामर्थ्य, १०-आत्माका प्रकाश—ये दस लक्षण प्रकट होनेपर यह समझना चाहिये कि नादसिद्धि प्राप्त हो गयी है।

योगसाधनाके दो प्रयोजन होते हैं— सिद्धियाँ प्राप्त करना और मोक्ष प्राप्त करना। नाद-साधनासे सिद्धियाँ तो प्राप्त होती ही हैं, योगी इसी जन्ममें जीवन्मुक्तकी अवस्था भी प्राप्त कर लेता है।

नादसाधनाका अभ्यास अत्यन्त जटिल प्रक्रिया है, इसलिये इसे किसी अच्छे गुरुकी देख-रेखमें ही करना चाहिये। कभी-कभी अधिक उष्मा बढ़ जानेसे अथवा शक्तिसे अधिक प्राण-निरोधकी क्रिया करनेसे मस्तिष्कमें विकृति भी आ सकती है। नाद सुननेका अभ्यास प्रथम दाहिने कानसे ही किया जाता है। हठयोग प्रदीपिकामें नादश्रवणकी चार अवस्थाएँ तथा कुछ अन्य स्थितियोंका भी वर्णन किया गया है, विस्तारभयसे यहाँ उन सबका उल्लेख करना सम्भव नहीं, जिज्ञासु किसी अच्छे मार्गदर्शकसे उनका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। [प्रेषक—श्रीगंगारामजी शास्त्री]

तारकयोगका रहस्य

(आचार्य श्रीधनीदासजी महाराज)

'योग' विषय गूढ़ तथा व्यापक होनेसे योग-शब्दाभिप्रेत सभी तत्त्वोंका परिचय संक्षेपमें नहीं दिया जा सकता। आजकल 'योग' शब्द इतना व्यापक हो गया है कि उसके वाच्यार्थकी नियत प्रतीतिका पतातक नहीं। फिर भी साधारणतया 'योग'का अर्थ किसी अभीष्ट वस्तुके लिये 'अन्तःकरण-पूर्वक तत्पर होना' मान लें तो अनुचित न होगा। कारण, योगान्तर्गत जितनी भी क्रियाएँ हैं, वे सब किसी अभीष्ट-प्राप्ति या मिलापके लिये ही की जाती हैं, वे चाहे किसी रूपमें क्यों न हों। लोकमें भी किसी अभीष्ट वस्तुके मिलापको 'योग' और अलग होनेको 'वियोग' कहते हैं। किसी वस्तुके साथ अन्य पदार्थके सहकारको भी योग कहा जाता है। यद्यपि महर्षि पतञ्जलि 'योग'का अर्थ **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** कहकर चित्तवृत्तिका निरोध बताते हैं तथापि चित्तके निरोधमात्रसे योगका अर्थ पर्यवसित नहीं होता। व्यासभाष्यमें 'योग'का अर्थ समाधि किया गया है। पर समाधि भी किसी परीप्सित अर्थके लिये ही होती है। इस प्रकार प्रसङ्गानुसार 'योग'के अनेक अर्थ हो सकते हैं। फिर भी 'योग' शब्दसे उसी क्रिया-कलापको ग्रहण करना होगा, जो किसी अलौकिक अथवा लोकोत्तर अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिये किया जाता हो। ऐसी वस्तु ब्रह्मसाक्षात्कार किंवा परमात्मप्राप्तिके अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकती। अतः मानना होगा कि ब्रह्मप्राप्तिके मार्गका नाम 'योग' है, वह चाहे किसी प्रकारका क्यों न हो। ब्रह्मप्राप्ति मन्त्र-तन्त्र, जप-योग, समाधि-साधना आदि अनेक प्रकारसे मानी गयी है। अतएव अनेक प्रकारके योगोंका उल्लेख पाया जाता है। जिसे जिस योगद्वारा अभीष्ट वस्तु प्राप्त हुई, उसने उसीको सर्वोत्तम समझकर उपदेश किया। इस प्रकार योगको अनन्त नाम-रूप प्राप्त हो गये। इन सबमें कौन-सा योग श्रेष्ठ है, यह कहना कठिन है। परंतु अनुभव और उदाहरणोंद्वारा प्रत्येक प्राणी अपने विचारोंको सर्व-साधारणके समक्ष रखनेका अधिकारी है। निजानन्दसम्प्रदाय (प्रणामी-धर्म) के आदिसंस्थापक सद्गुरु श्रीदेवचन्द्रजी तथा प्राणनाथ प्रभुने अपने सिद्धान्तोंमें जिस योगको माना है उसका संक्षिप्त रूप यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है--

आपने एक अपूर्व और अद्वितीय ज्ञानका अन्वेषण किया है, जिसे तारकयोग किंवा तारकप्रेमयोग कहते हैं। तारकयोगमें अन्य योगोंकी भाँति विशेष क्रिया-कलापोंकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, अधिकारी पात्र योग्य होना चाहिये। बस, जिस प्रकार एक दीपसे अन्य दीपोंका संयोग होते ही सभी दीप तत्काल एक कालावच्छेदेन तत्समान प्रकाशयुक्त होते चले जाते हैं और प्रथम दीपको किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता, उसी प्रकार तारकयोगद्वारा प्रत्येक योग्य अधिकारीको, बिना क्रम, समान शक्ति प्राप्त होते देर नहीं लगती और ब्रह्मसाक्षात्कारके योग्य प्राणी बन जाता है। जैसे दीप अन्य दीपको समान प्रकाश प्रदानकर घट-पट आदिका बोधक बना देता है, वैसे ही तारकयोगद्वारा तत्काल समान शक्तिसम्पन्न योगी माया-ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपका ज्ञाता हो ब्रह्मानन्दका अनुभव करने लग जाता है। अतः दीपवत् गुण होनेसे इसे 'दीपकज्ञान' नामसे भी पुकारते हैं। इस विषयमें तत्काल समान शक्तिप्राप्त शिष्योंद्वारा कही हुई साखी भी पायी जाती है। यथा—

गुरु कंचन, गुरु पारस, गुरु चंदन परमान।
तुम सदगुरु दीपक भये, गुरु कियो जुं आपु समान॥
दीपक ज्ञान हाथ कर दीन्हो। छीर नीरको निरनय कीन्हो॥

तारकयोग कहिये या दीपकज्ञान, तात्पर्य दोनोंका एक है। इस नश्वर जगत्से बिना श्रम तारनेवाला होनेके कारण 'तारतम' ज्ञान भी इसीका नाम है। तारकयोग-शक्तिसम्पन्न योगीको गर्भ-जन्म, जरा-मरण आदि सांसारिक भय नहीं रहते—

गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्भयात् संतारयति तस्मात् तारकम्।

(अद्वयतारकोपनिषद्)

संसारजन्य कर्म, क्लेश, विपाक, जन्म-मरण आदि यावद् दुःखपरम्परासे तारनेके कारण ही 'तारक' नाम अन्वर्थक है। इस तारतम्यके रहस्यमय योगको प्राप्तकर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, उसे कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहता, वह जीवन्मुक्तदशामें विचरने लगा तो फिर बाकी क्या रहा। **'मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति'**—उसकी कौन कहे, वह तो

विश्वको पावन करने लगा, अब उसके दर्शन और परमात्माके दर्शनमें अन्तर नहीं रहा—'**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**' वह ब्रह्मतुल्य हो गया।

'**तस्मादन्तर्दृष्ट्या तारक एवानुसंधेयः।**'

(अद्वयतारकोपनिषद्)

इसलिये विज्ञजनोंको आत्मदृष्टिद्वारा तारकयोगका अनुसंधान करना चाहिये, इस प्रकारकी आज्ञा श्रुति प्रदान करती है। इस बातका अनुमोदन स्मृति भी मुक्तकण्ठसे करती है। यथा—

'**गुरुर्विश्वेश्वरः साक्षात् तारकं ब्रह्म निश्चितम्।**'

इस तारकज्ञानके प्रदान करनेवाले गुरुको साक्षात् ईश्वरस्वरूप समझना चाहिये और तारकज्ञानयोग निश्चय ब्रह्मस्वरूप है। जो तारकयोग प्रदान कर अन्यको भी अपने समान शक्तिसम्पन्न बना देता है, वह ईश्वरस्वरूप तो है ही, इसमें संदेह क्या ? महर्षि पतञ्जलि भी अपने योगदर्शनके एक सूत्रमें 'तारकयोग' की अपूर्वता और विशेषता स्वीकार करते हैं। यथा—

तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।

(योग० ३। ५४)

'विवेकद्वारा प्राप्त किया गया 'तारकयोगज्ञान' बिना क्रम सब विषयोंको प्रकाशित करता है' अर्थात् जैसे अन्य विद्या या योग क्रमशः धीरे-धीरे प्राप्त होते हैं, ऐसा तारकयोगमें नहीं। यह तो एक कालावच्छेदेन अतीत-अनागत समस्त प्रपञ्चका प्रकाशक होते हुए ब्रह्मसाक्षात्कार करानेवाला है। इसलिये इसे 'तारक'नामसे पुकारते हैं।

यह योग क्या है और इसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है, यह द्रष्टव्य है। तारकयोग एक मन्त्रविशेषद्वारा प्राप्त ज्ञानको कहते हैं, जिसमें ब्रह्मसाक्षात्कारका भेद बताया गया है। इसे परा ब्रह्मविद्या भी कहते हैं। इसका मुख्य साधन प्रेम है। जहाँतक सच्चा प्रेम उत्पन्न नहीं होता,वहाँतक तारकयोग सिद्ध नहीं होता। इसका बल प्रेम बिना प्रकट नहीं होता। अन्य क्रियाओंद्वारा सहायता मिलती है, परंतु इसका प्राण तो प्रेम ही है। प्रेमपुट लगते ही तारकज्ञान अपूर्व योगको प्राप्त हो जाता है। प्रेममें दबाव न सही किंतु आकर्षण है। भयङ्करता नहीं किंतु तल्लीनता है, अभिमान नहीं किंतु अपनापन है, नैराश्य नहीं अपितु विश्वास है। अतएव 'तारकयोग' प्राप्त करनेके लिये प्रधान साधनभूत सच्चा प्रेम ही माना गया है। प्रेमद्वारा इसे प्राप्त करते विलम्ब नहीं। इस योगमें एक अपूर्व विशेषता यह है कि इसका सम्यक् ज्ञान होते ही मनुष्य पद्मपलाशवत् निर्लिप्त होकर निर्भय विचरने लग जाता है और सच्चिदानन्दके ज्ञानका अनुभवी होकर किसी प्रकारके विक्षेपको प्राप्त नहीं होता—

इतहीं बैठे घर जागे धाम। पूरन मनोरथ हुए सब काम॥

इस विनश्वर विश्वमें बैठा हुआ भी वह अपनेको ब्रह्मधाममें मानता है और पूर्णकाम होकर जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

विश्व-कल्याण-योग

(श्रीअनन्तशङ्करजी कोल्हटकर बी० ए०)

'**योगीश्वरं याज्ञवल्क्यम्**' कहकर जिनका अनुस्मरण ब्रह्मयज्ञके समय हम करते हैं, उन मुनि याज्ञवल्क्यका आदेश है—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।

मानवमात्रका परम धर्म यही है कि योगसाधनासे आत्म-दर्शन करे। श्रुति माता भी कहती हैं—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।' परंतु, परम कठिन योग-साधनका अनुष्ठान करना तथा सिद्धियोंके मोहसे अपने-आपको बचाकर, अन्तिम सफलता प्राप्त करना बड़ा ही दुस्तर है।

हमारा एकमात्र सहारा इसमें—भगवत्-शरणागति है। परमात्मा कहीं दूर तो नहीं हैं ! हमारे हृन्मन्दिरमें ही विराजते हैं। सरलचित्तसे उन्हें पुकारो। उन्हींके बताये पथसे चलो।

मन और इन्द्रियोंका संयम करो। आत्म-तत्त्व एक ही है—ऐसी समबुद्धि धारण करो। भूतमात्रके हित-साधनमें प्रयत्नशील रहो और निश्चय रखो, तुम मुझे ही प्राप्त होगे, यही विश्व-कल्याण-योग है।

क्रियायोगका स्वरूप

योगदर्शनमें समाधिसिद्धिका एक मुख्य साधन 'ईश्वरप्रणिधान' माना गया है[१] और ईश्वरप्रणिधान क्रियायोगका एक प्रधान अङ्ग है। यह समाधि ही असम्प्रज्ञात योग या सम्पूर्ण योगके नामसे योगशास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। भगवान् पतञ्जलिने तप (भगवान्‌की सेवाके लिये कष्ट सहना), स्वाध्याय (इष्ट देवताके नाम, मन्त्र, स्तोत्र और चरित्रोंका श्रवण, मनन, ध्यान आदि) तथा ईश्वरप्रणिधान (आराधन करते हुए अपने सारे कर्मों, कर्मफलों तथा अपने-आपको भी भगवान्‌के समर्पण कर देना) को क्रियायोग माना है[२]।

क्रियायोगपर पद्मपुराणका 'क्रियायोगसार' नामक एक स्वतन्त्र खण्ड है। इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्ध तथा अध्यात्मरामायण एवं अन्य पुराणोंमें भी बार-बार क्रियायोगका वर्णन हुआ है। इन सभी प्रकरणोंमें क्रिया-योगको प्रायः भक्तियोग या ईश्वरनिमित्तक कर्मयोग ही कहा गया है। क्रियायोगमें भगवान्‌के आराधना-विषयक पञ्चोपचारोंसे लेकर १०८ राजोपचारोंतक भगवदर्चाका साङ्गोपाङ्ग वर्णन हुआ है। इसलिये पद्मपुराणमें क्रियायोगके सारभूत निर्णयके विषयमें कहा गया है कि साङ्गोपाङ्ग क्रियायोगकी साधनामें गङ्गादि पुण्यतोया नदियोंका दर्शन, नामस्मरण, मार्जन, अवगाहन, भगवान् विष्णुकी पूजा, दानकर्म, ब्राह्मण एवं भक्तोंकी पूजा, एकादशी आदि व्रतोंका अनुष्ठान, धात्री-पिप्पल आदि देववृक्षों एवं तुलसीका पूजन, अतिथि आदिमें विष्णु-भक्तकी भावना रखकर उनका सत्कार तथा अर्चन आदि श्रद्धा-भक्तिसे किया जाता है। ये सब क्रियायोगके अङ्ग-उपाङ्ग हैं—

गङ्गाश्रीविष्णुपूजा च दानानि द्विजसत्तम।
ब्राह्मणानां तथा भक्तिर्भक्तिरेकादशीव्रते॥
धात्रीतुलस्योर्भक्तिश्च तथा चातिथिपूजनम्।
क्रियायोगाङ्गभूतानि प्रोक्तानीति समासतः॥

(पद्म० क्रिया० ३। ४-५)

वैसे क्रियायोगका मुख्य अङ्ग है 'भगवान्‌की नाना उपचारोंसे अष्टयामोंमें बार-बार आराधना करना।' यह योग वैष्णव-समाजमें विशेषरूपसे समादृत है। शास्त्रोंमें क्रियायोगका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्णन किया गया है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि क्रियायोग (पूजा-पद्धति) के द्वारा भगवान्‌की आराधना परम कल्याणकारक है। इस क्रियायोगके आदि उपदेष्टा भगवान् नारायण हैं, फिर ब्रह्मा, भृगु आदिसे यह परम्परा लोकमें प्रसृत होती गयी। भगवान् शङ्करने माता पार्वतीको भी क्रियायोगका उपदेश दिया था। यह क्रियायोग सभी वर्णाश्रमोंके लिये प्रशस्त है। स्त्री-शूद्रादिके लिये भी यह श्रेष्ठ साधना-पद्धति है। भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवको इस योगका उपदेश करते हुए कहा था—

'प्रिय उद्धव! इस क्रियायोग (कर्मकाण्ड) का बहुत विस्तार है, तथापि मेरी पूजाकी तीन विधियाँ हैं—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्रित। साधकको इन तीनोंमेंसे जो अनुकूल एवं सुविधाजनक हो, उसका आश्रय लेकर अपने कल्याणका प्रयत्न करना चाहिये। साधकको चाहिये कि अधिकारानुसार शास्त्रोक्त विधिसे यज्ञोपवीत-संस्कारद्वारा संस्कृत होकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पूजन-सामग्रियोंसे मूर्तिमें, वेदीमें, अग्निमें, सूर्यमें, जलमें, हृदयमें अथवा ब्राह्मणमें मेरी ही भावना कर पूजा करे। प्रातः शौच-स्नान-संध्यावन्दनादिसे निवृत्त होनेपर पूजन करना चाहिये। मेरी मूर्ति आठ प्रकारकी है—पत्थरकी, लकड़ीकी, धातुकी, मिट्टी और चन्दनादिकी, चित्रमयी, बालुकामयी, मनोमयी और मणिमयी। प्रतिमा भी चल-अचल-भेदसे दो प्रकारकी होती है। अचल प्रतिमामें आवाहन-विसर्जन नहीं होता। सकाम भाव तथा निष्काम-भाव—इन दोनों भावोंसे भक्त मेरी उपासना करते हैं। हृदयमयी मूर्तिमें केवल भावनाद्वारा ही पूजन किया जाता है।' भगवान्‌का कथन है कि यदि कोई बिना भक्तिभावके श्रद्धा-विहीन होकर मुझे सब कुछ अर्पण कर देता है तो भी मैं उससे संतुष्ट नहीं होता, परंतु कोई श्रद्धापूर्वक केवल जल भी अर्पण करता है तो मैं पूर्ण प्रसन्न हो जाता हूँ। फिर यदि कोई

१-समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् (यो० सू० २। ४५)।
२-तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। (यो० सू० २। १)।

श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गन्ध-पुष्प-धूप-दीपादि उपचारोंके समर्पण-पूर्वक मेरी आराधना करता है तो कहना ही क्या ?—

भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते।
गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यं च किं पुनः॥

(श्रीमद्भा० ११।२७।१८)

उपासक भगवान्‌की आराधनाके लिये पूजासम्भार लेकर कुशासनपर पूर्व या उत्तराभिमुख होकर बैठ जाय। विधिपूर्वक अङ्ग-न्यास एवं करन्यास कर जलपूर्ण कलशकी गन्ध-पुष्पादि-से पूजा करे। अपने ऊपर अभिमन्त्रित जल छिड़के। तदनन्तर पाद्य, अर्घ्य एवं आचमनीयके लिये तीन पात्रोंमें जल भरकर रख ले, उनमें पूजा-पद्धतिके अनुसार पृथक्-पृथक् गन्ध-पुष्पादि सामग्री छोड़े। तीनों पात्रोंके जलको क्रमशः हृदयमन्त्र-शिरोमन्त्र और शिखामन्त्रसे तथा अन्तमें गायत्रीसे तीनोंको, अभिमन्त्रित करे। इसके बाद प्राणायाम तथा हृदयकमलमें भगवान्‌का ध्यान करे। तदनन्तर मानसी पूजा करे। पुनः तन्मय होकर मेरा आवाहन कर प्रतिमामें स्थापना करे। फिर अङ्ग-न्यास कर पूजा करे। पाद्य, अर्घ्यादि उपचार समर्पित करे। सुदर्शनचक्र, पाञ्चजन्य शङ्ख, कौमोदकी गदा, खड्ग, बाण, धनुष, हल, मूसल—इन आठ आयुधोंकी पूजा आठ दिशाओंमें करे। कौस्तुभमणि, वैजयन्तीमाला तथा श्रीवत्सचिह्नकी पूजा वक्षःस्थलपर यथास्थान करे। नन्द, सुनन्द, प्रचण्ड, चण्ड, महाबल, बल, कुमुद और कुमुदेक्षण—इन आठ पार्षदोंकी आठ दिशाओंमें गरुडके सामने; दुर्गा, विनायक, व्यास और विष्वक्सेनकी चारों कोनोंमें स्थापना कर पूजा करे। बायीं ओर गुरुकी और यथाक्रम पूर्वादि दिशाओंमें इन्द्रादि लोकपालोंकी पूजा करे।

भगवान्‌की विशेष पूजामें यदि सम्भव हो तो चन्दनादिसे सुवासित जलसे '**स्वर्णोघर्मः०**'[3] '**जितं ते पुण्डरीकाक्ष०**'[4] तथा पुरुषसूक्त[5] आदि वैदिक सूक्तोंसे स्नानाभिषेक करे। यज्ञोपवीत, चन्दन, आभूषण, माला, वस्त्रादि अलङ्करणोंसे भगवान्‌को अलङ्कृत करे। विविध व्यञ्जनोंका नैवेद्य लगाये। पञ्चामृत आदि अर्पित करे।

इष्टदेवताके मन्त्रादिसे हवन और भगवत्स्वरूप मूल मन्त्र '**ॐ नमो नारायणाय**' का जप भी करना चाहिये। अन्तमें नीराजन पुष्पाञ्जलि समर्पित करे तथा भगवान्‌के स्तोत्रों, चरित्रों एवं लीला-कथाओंका गान करे। भगवान्‌की कथाओंका स्वयं श्रवण करे, दूसरोंको श्रवण कराये तथा सांसारिक प्रपञ्चको भूलता हुआ भगवान्‌में तन्मय रहे। अन्तमें दण्डवत् प्रणामकर भगवान्‌के चरणकमलोंमें अपना सिर रखकर दोनों हाथोंसे चरण पकड़कर इस प्रकार प्रार्थना करे—'भगवन्! इस संसार-सागरमें मैं डूब रहा हूँ। मृत्युरूप मगर मेरा पीछा कर रहा है। मैं डरकर आपकी शरणमें आया हूँ। प्रभो! आप मेरी रक्षा कीजिये'—

'प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात्॥'

—ऐसी प्रार्थना कर मुझे समर्पित पुष्प, पुष्पमाला आदि आदरके साथ ग्रहणकर सिरपर धारण करे, उसे मेरा दिया हुआ प्रसाद ही समझना चाहिये।

'उद्धवजी! प्रतिमा आदिमें जब जहाँ श्रद्धा हो, तब तहाँ मेरी पूजा करनी चाहिये, क्योंकि मैं सर्वात्मा हूँ और समस्त प्राणियोंमें तथा अपने हृदयमें भी स्थित हूँ। इस प्रकारके क्रियायोगद्वारा जो मेरी पूजा करता है, वह इस लोक और परलोकमें मुझसे अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करता है। जो निष्कामभावसे मेरी पूजा करता है, उसे मेरा भक्तियोग प्राप्त हो जाता है और उस निरपेक्ष भक्तियोगके द्वारा वह स्वयं मुझे प्राप्त कर लेता है।' इस क्रियायोगमें भगवान्‌की आराधनामें मन्दिर-निर्माण, प्रतिमा-स्थापन, फूल आदिके बगीचे

३-यजुर्वेद १८।५०, स्वर्णघर्मानुवाक।

४-पुराणोंकी महापुरुषविद्या चौदह श्लोकोंका एक दिव्य स्तोत्र है, यह महाभारतमें भी प्राप्त होता है। इसमें नारायणकी स्तुतिपूर्वक उन्हें परम आराध्य मानकर उनकी शरणमें जानेपर दिव्य ज्ञानप्राप्तिसे संसारसे निस्तार होनेकी बात प्रधानरूपसे वर्णित है। श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके १६वें अध्यायमें देवर्षि नारदने राजर्षि चित्रकेतुको महापुरुषविद्याका उपदेश दिया था, जिसके प्रभावसे चित्रकेतुको भगवान्‌के दिव्य दर्शन हुए और उनकी कृपासे विद्याधरत्व प्राप्त हुआ। इस महापुरुषविद्याका प्रारम्भ—

जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन। सुब्रह्मण्य नमस्तेऽस्तु महापुरुषपूर्वज॥ —से हुआ है।

५-यजुर्वेदके ३१वें अध्यायके प्रारम्भिक सोलह मन्त्र। यह सूक्त प्रायः सभी संहिताओंमें पढ़ा गया है।

लगवाना, रथयात्रा आदि उत्सवोंकी सम्यक् व्यवस्था करना, मन्दिर आदिके लिये भूमि-दान करना आदि सभी पुण्य-कर्म सम्मिलित हैं। तात्पर्य यह है कि क्रियायोगमें सभी कार्य भगवदुद्देश्यसे तथा भगवदर्पणबुद्धिसे किये जाते हैं। ऐसा साधक शीघ्र ही भगवान्‌के कृपा-प्रसादसे उनके सायुज्यको प्राप्त कर लेता है और उसका जीवन कृतकृत्य हो जाता है।

शिक्षाकी दृष्टिसे अष्टाङ्गयोगका महत्त्व

(डॉ० श्रीभीष्मदत्तजी शर्मा)

महर्षि पतञ्जलि-प्रणीत योगदर्शन साधकों, भक्तों और उपासकोंके लिये परम उपयोगी शास्त्र है। इसमें अन्य दर्शनोंकी भाँति खण्डन-मण्डन न करके सरलतापूर्वक संयमित जीवनपद्धतिपर प्रकाश डाला गया है। इसीलिये आजके युगमें न केवल आध्यात्मिक अथवा धार्मिक क्षेत्रमें योगदर्शनके महत्त्वको स्वीकार किया गया है, वरन् शिक्षाके क्षेत्रमें भी इसका महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

शिक्षाका जीवनसे गहरा सम्बन्ध है। जीवनका आधार शिक्षा ही है। किसी व्यक्तिके जीवनमें जैसी शिक्षा होती है, वैसा ही उसके जीवनका निर्माण होता है। धार्मिक शिक्षासे धार्मिक जीवनका और भौतिक शिक्षासे भौतिक जीवनका निर्माण होता है। अतः सदैव श्रेष्ठ शिक्षाको जीवनमें उत्तम माना गया है।

भारतवर्ष धर्म, संस्कृति, अध्यात्म और शिक्षाके क्षेत्रमें प्राचीन कालसे ही अग्रगण्य रहा है। यहाँकी आध्यात्मिक शिक्षाने विश्वको समानता, स्वतन्त्रता तथा भ्रातृत्वका दर्शन प्रदान कर **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की भावनाका प्रचार-प्रसार किया है। यह विडम्बना ही है कि आज भारतमें धार्मिक, आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षाका प्रायः लोप होता जा रहा है। महर्षि मनु, वाल्मीकि, व्यास, शंकर, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ, तुलसी और सूरदास आदि प्राचीन विद्वानों एवं संत-महात्माओंसे लेकर स्वामी विवेकानन्द, टैगोर, अरविन्द और गाँधीजी आदि सभी विचारकोंने शिक्षाको परिभाषित करते हुए कहा कि इसके द्वारा बालकका न केवल शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और सामाजिक विकास होता है, वरन् आध्यात्मिक, धार्मिक और नैतिक विकास भी होता है। वस्तुतः ऐसा होनेपर ही सर्वाङ्गीण विकासकी प्रक्रिया पूर्ण होती है। अतः आज शिक्षा-प्रणालीको इस प्रकार तैयार करनेकी आवश्यकता है, जिससे विद्यार्थियोंका वास्तविक समग्र विकास हो सके। इस दृष्टिसे शिक्षाके क्षेत्रमें योगके समाहितचित्तताकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

यद्यपि समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद तथा कैवल्यपाद नामसे चार पादोंमें विभक्त पातञ्जलयोगदर्शनमें समग्र जीवनपद्धतिका चिन्तन हुआ है तथापि साधनपादमें प्रतिपादित अष्टाङ्गयोगमें ही इस शास्त्रका सम्पूर्ण सार-सर्वस्व निहित है। समस्त योगसाधना इसी अष्टाङ्गयोगपर आधारित है। निर्मल विवेक-ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हुए योग-सम्बन्धी आठ अङ्गोंके अनुष्ठानपर इस शास्त्रमें बल देना इसी ओर संकेत करता है कि मानव-जीवनमें इहलौकिक एवं पारलौकिक कल्याणके लिये यम-नियमादि अष्टाङ्गयोगकी साधना परम उपादेय है। आत्मसाक्षात्कार सम्पूर्ण योगसाधनाका चरम फल है। उचित शिक्षाद्वारा इसी आत्म-साक्षात्कारको प्राप्त करके मानव कृतकृत्य हो जाता है। आजकी शिक्षा प्रणालीमें इनकी उपादेयताको स्वीकार करते हुए योगको शिक्षाके विभिन्न स्तरोंके पाठ्यक्रमोंमें सम्मिलित करनेकी आवश्यकता है, किंतु योगाभ्यासमें केवल विभिन्न प्रकारके आसनोंका अभ्यास करना ही आज प्रचलित होनेके कारण इसका पूर्ण रहस्य अज्ञात ही बना रहता है और योग केवल ऐसा शारीरिक व्यायाममात्र बनकर रह गया है, जिसका उद्देश्य या तो शरीरको स्वस्थ रखना अथवा अनेक प्रकारके रोगोंसे मुक्ति प्राप्त करना है, किंतु वस्तुस्थिति यह नहीं है। यह तो योगका गौण उद्देश्य है। योगका मुख्य उद्देश्य है—ईश्वर-प्राप्ति। योगाभ्यास करनेसे यदि किसीको भगवद्भक्ति नहीं हुई तो उसका प्रयास व्यर्थ है। विद्यार्थी तथा अध्यापकके लिये योगकी उपादेयता इतनी अधिक है कि इसके अभावमें आजकी शिक्षामें नैतिक मूल्योंका निरन्तर ह्रास हो रहा है।

अतः शिक्षाके क्षेत्रमें योगके समावेशको परम आवश्यक मानते हुए उसके आठों अङ्गोंका यहाँ संक्षेपमें शैक्षिक महत्त्वाङ्कन किया जा रहा है—

यम

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं। इन पाँचों यमोंकी आजकी शिक्षामें महती आवश्यकता है। आज छात्रोंके जीवनमें जो अव्यवस्था, कुण्ठा, हिंसा, अनुशासनहीनता, उपेक्षा, निराशा, असंयम, अशान्ति और छल-कपट आदि दुर्गुण बढ़ते जा रहे हैं, उसके मूलमें योगके इस प्रथम अङ्ग 'यम' को छात्रोंद्वारा अपने आचरणमें न लाना ही है। आजकी शिक्षामें छात्रोंको संयमी बनानेका प्रयास न होनेसे ही युवकोंमें धर्म, संस्कृति और अध्यात्मसे हटनेकी प्रवृत्ति बलवती होती जा रही है। आज शिक्षामें प्रत्येक स्तरपर पाठ्यक्रममें इन पाँचों यमोंको छात्रों तथा अध्यापकोंके जीवनमें धारण करानेका प्रावधान होना चाहिये। समुचित दिशामें व्यवहार-परिवर्तन करनेका शिक्षाका कार्य तभी पूर्ण होगा, जब छात्र और अध्यापक दोनों ही अहिंसक, सत्यवादी, ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले तथा अपरिग्रही होंगे।

नियम

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (शरणागति)—ये पाँच नियम हैं। शौचका अर्थ है—बाह्य और आभ्यन्तर-शुद्धि। जल-मिट्टी आदिसे बाह्य शुद्धि और जप-तप तथा पवित्र विचारोंसे आन्तरिक शुद्धि होती है। आजकल लोग मल-त्यागके पश्चात् साबुनसे हाथ धोकर शुद्धि मान लेते हैं, किंतु यह उचित नहीं है। बिना जल-मिट्टीके शुद्धि नहीं होती। आज शौचाचारकी व्यवस्था दिन-प्रति-दिन शिथिल होती जा रही है। छात्रोंका आहार-व्यवहार और विचार दूषित होना आजकी शिक्षाका अभिशाप बन गया है। अतः शौच-पालनकी ओर छात्रोंको प्रेरित करनेकी बड़ी आवश्यकता है। भारतीय दर्शन मानव-जीवनमें संतोषको अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानता है, किंतु पाश्चात्त्य दर्शन ठीक इसके विपरीत असंतोषको उन्नतिका कारण मानता है। अतः आजकी शिक्षा भी छात्रों और अध्यापकों तथा समाजमें असंतोषको बढ़ा रही है। छात्रोंमें व्याप्त असंतोषकी अभिव्यक्ति समय-समयपर अनेक प्रकारके आन्दोलनके रूपमें होती रहती है। ऐसी परिस्थितिमें छात्रोंद्वारा संतोष-नियमका पालन करनेसे शिक्षा-जगत्‌में व्याप्त अशान्तिके शमनमें सहायता मिल सकती है।

तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधानका मानव-जीवनमें विशेषरूपसे छात्रोंके लिये अत्यधिक महत्त्व है। सत्कर्मके लिये कष्ट सहन करने, सद्ग्रन्थोंके अध्ययन करने तथा ईश्वरके प्रति समर्पित हो जानेसे ही अच्छे मानवका निर्माण हो सकता है। आजकी शिक्षाका भी उद्देश्य है—अच्छे मानवका निर्माण। छात्रोंको ऊँचा उठनेके लिये कठोर परिश्रमी, अध्ययनशील और ईश्वर-भक्त बननेकी प्रेरणा इन तीनों साधनोंसे लेनी चाहिये।

आसन

आसनका अर्थ है बैठना। परमात्मामें मन लगानेके लिये निश्चलभावसे सुखपूर्वक बैठनेको आसन कहते हैं। आजकल अनेक प्रकारके योगासनोंके प्रशिक्षणका प्रचलन बढ़ता जा रहा है, किंतु योगके नामपर केवल विभिन्न प्रकारके योगासनों, व्यायामोंका प्रशिक्षणमात्र ही दिया जाता है। स्कूलों-कालेजों और विश्वविद्यालयोंमें योगके नामसे जो कोर्स चल रहे हैं, उनमें भी प्रायः विभिन्न प्रकारके योगासनोंपर ही बल दिया जाता है। किंतु महर्षि पतञ्जलिके अनुसार यम-नियमकी सिद्धि होनेपर ही आसनकी स्थिति है। बिना यम-नियमके आसनकी साधना करना व्यर्थ है। यम-नियमरहित आसनका अभ्यास शारीरिक व्यायाममात्र ही है। उससे किसी प्रकारका आध्यात्मिक लाभ नहीं हो सकता है। परमात्मामें मन लगानेके लिये आसनका अभ्यास किया जाता है, न कि केवल स्वास्थ्य-लाभके लिये।

यदि शिक्षणको प्रभावशाली बनाना है तो हमें छात्रोंको आसन-सम्बन्धी जानकारियोंसे अवगत कराना चाहिये। इसके अतिरिक्त छात्रोंके जीवनमें ऐसी पद्धतिका भी विकास करना चाहिये, जिससे वे प्रतिदिन कुछ समय परमात्मामें मन लगानेके लिये अपनी सुविधानुसार आसनका अभ्यास करते रहें और साथ ही पद्मासन, हलासन, मयूरासन आदि विभिन्न प्रकारके योगासनोंका अभ्यास करानेसे भी छात्रोंके जीवनमें सदाचार, संयम, अनुशासन तथा अच्छे संस्कारोंका विकास हो सकता है।

प्राणायाम

यम, नियम तथा आसनकी सिद्धि होनेके पश्चात् योगका चतुर्थ साधन है 'प्राणायाम।' प्राणायामका अर्थ प्राण (श्वास-प्रश्वास) का व्यायाम है। जिस प्रकार शरीरको स्वस्थ एवं हृष्ट-पुष्ट रखनेके लिये व्यायाम किया जाता है, उसी प्रकार श्वास-प्रश्वासकी क्रियाद्वारा हृदयको हृष्ट-पुष्ट एवं स्वस्थ रखनेके लिये प्राणायाम किया जाता है। इससे आन्तरिक शुद्धि होती है। अतः प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठानके प्रारम्भमें आचमन और प्राणायामका विधान है।

जिस प्रकार शारीरिक अनुशासनके लिये यम, नियम और आसनका अभ्यास आवश्यक है, उसी प्रकार मानसिक अनुशासनके लिये प्राणायामकी आवश्यकता है। आजकल स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयोंमें छात्रोंको योग-प्रशिक्षणके समय प्राणायामका अभ्यास कराना इसलिये आवश्यक है, क्योंकि छात्रोंके जीवनमें व्याप्त अशान्तिको दूर करनेमें इससे सहायता मिलेगी। जब प्रत्येक विद्यार्थी नित्य-प्रति प्राणायाम करनेका अभ्यास करेगा तो उसके मनकी चञ्चलता धीरे-धीरे दूर हो जायगी तथा उसके स्वभावमें स्थिरता आ जायगी। साथ ही अध्ययनके समय उसके मनकी धारणाशक्ति भी बढ़ जायगी और ज्ञानोपार्जनमें भी अभीष्ट सफलता मिलने लगेगी।

प्रत्याहार

यम-नियम और आसनको सिद्ध करते हुए जब साधक प्राणायामका अभ्यास करता रहता है तो उसकी इन्द्रियाँ तो शुद्ध हो जाती हैं किंतु मन तथा इन्द्रियोंकी बाह्य वृत्तियाँ इधर-उधर दौड़ती रहती हैं, जिससे ध्येयमें मन नहीं लग पाता है। अतः उक्त वृत्तियोंको सांसारिक विषयोंसे वापिस लाकर अपने वशमें करते हुए चित्तको ध्येयमें लगानेसे ही योग सिद्ध होता है। किसी भी प्रकारकी साधनाके लिये वस्तुतः न केवल मनको वशमें करना आवश्यक है, वरन् इन्द्रियोंको वशमें करना भी आवश्यक है। जितेन्द्रिय व्यक्ति ही जीवनमें सुखी रहता है। विषयलोलुप इन्द्रियाँ मनुष्यकी शत्रु होती हैं और वशमें होनेपर वे ही मित्र हो जाती हैं। आजकल अश्लील साहित्य, चलचित्र, दूरदर्शन तथा दूषित वातावरणके कारण छात्रोंके जीवनमें इन्द्रियोंकी विषयलोलुपता बढ़ती जा रही है। फलतः वह दिन-प्रति-दिन नैतिक मर्यादाओंसे दूर होकर अपराधी-सा बनता जा रहा है। इसीलिये आजके शिक्षा-मन्दिरोंमें सर्वत्र अशान्ति, कलह, विद्रोह, हिंसा और अनाचार आदिका ताण्डव नृत्य हो रहा है। ऐसे विकट समयमें छात्रोंके जीवनमें नैतिक मूल्योंके विकासके लिये उनकी इन्द्रियलोलुपताको दूर करना आवश्यक है। इस कारण जब छात्र पाठ याद करने बैठते हैं तो उन्हें पाठ याद नहीं होता। इन सभी दोषोंका निवारण 'प्रत्याहार'के प्रशिक्षणसे हो सकता है। अतः छात्रोंको योगासनकी शिक्षाके समय प्रत्याहारका अभ्यास भी कराया जाना चाहिये।

धारणा-ध्यान-समाधि

यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार—ये पाँच योगके बहिरङ्ग-साधन हैं। इनके सिद्ध होनेपर अन्तरङ्ग-साधनोंका अभ्यास कराया जाता है। अन्तरङ्ग-साधनोंमें पहला साधन है धारणा, दूसरा साधन है ध्यान और तीसरा साधन है समाधि। शरीरके बाहर या भीतर कहीं भी किसी एक स्थानमें चित्तको ठहराना 'धारणा' है। जिस ध्येय वस्तुमें चित्तको लगाया जाय, उसीमें चित्तकी वृत्तिका एकतार चलना 'ध्यान' है। योगका अन्तिम साधन 'समाधि' है। इसमें मनकी पूर्ण एकाग्रता होती है। ध्याता, ध्यान और ध्येय—ये तीनों इसमें एक हो जाते हैं। इन तीनों साधनोंका किसी एक ध्येय पदार्थमें होना 'संयम' कहलाता है (योग० ३।४)। संयमकी सिद्धि होनेपर योगीको बुद्धिका प्रकाश प्राप्त हो जाता है। योगीकी यह बुद्धि ऋतम्भरा प्रज्ञा कहलाती है। इसके द्वारा उसे वस्तुके स्वरूपका यथार्थ एवं पूर्ण ज्ञान होता है। यही योग-साधनाकी पराकाष्ठा है।

शिक्षाके क्षेत्रमें धारणा, ध्यान और समाधिका अत्यन्त महत्त्व है। प्राचीन कालमें गुरु अपने शिष्योंको इन तीनोंका विशेष प्रशिक्षण देते थे, जिससे उन्हें परिपूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होती थी। आध्यात्मिक, धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रमें उनकी उपलब्धि अतुलनीय होती थी। वस्तुतः धारणा, ध्यान और समाधिके बिना यथार्थ ज्ञानका प्राप्त होना कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव है। कोई भी साधना इन तीनोंके बिना अधूरी है। शिक्षा प्राप्त करना भी एक साधना है। इसके लिये भी चित्तकी एकाग्रता आवश्यक है। आजकल विद्यार्थियोंकी प्रायः यह

शिकायत रहती है कि उनका मन पढ़ाईमें नहीं लगता है। जब वे किसी विषयका अध्ययन करने बैठते हैं तो उनका मन अन्यत्र चला जाता है। उन्हें पाठ ठीक याद नहीं हो पाता। अतः वे परीक्षामें उत्तीर्ण होनेमें कठिनाईका अनुभव करनेके कारण अनुचित साधनोंका प्रयोग करते हैं। साक्षात्कारके समय यथावत् ज्ञानका प्रस्तुतीकरण न करना, प्रश्नोंका ठीक उत्तर न दे पाना, किसी विषयपर ठीक-ठीक विचार प्रकट न कर पाना, पाठ याद करते-करते सिरमें दर्द हो जाना और समयपर याद किये हुएको भूल जाना आदि दोष आज छात्रोंमें बढ़ते जा रहे हैं। इन सबका कारण है चित्तकी एकाग्रताका अभाव। चित्तकी एकतानताके लिये आवश्यक है कि शिक्षा-प्रणालीमें धारणा, ध्यान और समाधिका ज्ञान कराया जाय। इससे उन्हें मेधावी और योग्य नागरिक बनाया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षाके क्षेत्रमें योग-प्रशिक्षणका तभी पूर्ण लाभ उठाया जा सकता है जब उसके आठों अङ्ग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिका परम्पराप्राप्त प्रशिक्षण दिया जाय।

संत-मतमें सुरत-शब्दयोगकी महत्ता

(स्वामी श्रीअच्युतानन्दजी महाराज)

संत-मतकी साधनामें सुरत-शब्दयोग अथवा नादानुसंधान प्रभु-प्राप्तिका सर्वोत्तम और अन्तिम साधन है। सुरतको अन्तर्नादमें जोड़नेकी क्रियाको सुरत-शब्दयोग कहते हैं। मानस-जप, मानस-ध्यान—इन दोनों स्थूल सगुण उपासनाओंके बाद दृष्टियोग करनेपर जो ज्योतिर्मय बिन्दु उदित होता है, उस बिन्दुपर ही अन्तर्नाद ग्रहण होता है। मनोनिग्रहके लिये नादानुसंधान सर्वोत्कृष्ट यौगिक क्रिया है। उपनिषत्कारने कहा है—

सदा नादानुसंधानात् संक्षीणा वासना तु या॥
निरञ्जने विलीयेते मनोवायू न संशयः।

(नादबिन्दूपनिषद् ४९-५०)

अर्थात् नादके सतत अभ्याससे वासना क्षीण हो जाती है और मन तथा प्राणवायु निरञ्जन (निर्माया) में लय हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है।

नाद ग्रहण करनेपर मन विषयकी चाहना नहीं करता। इसके सम्बन्धमें उपनिषद्का वचन द्रष्टव्य है—

मकरन्दं पिबन् भृंगो गन्धान् नापेक्षते यथा।
नादासक्तं सदा चित्तं विषयं न हि काङ्क्षति॥
बद्धः सुनादगन्धेन सद्यः संत्यक्तचापलः।

(नादबिन्दूपनिषद् ४२-४३)

अर्थात् 'जिस प्रकार मधुमक्खी मधुको पीती हुई उसकी सुगंधकी चिन्ता नहीं करती, उसी प्रकार चित्त जो सर्वदा नादमें लीन रहता है, विषयकी चाह नहीं करता, क्योंकि वह नादकी मिठासमें वशीभूत है तथा अपनी चञ्चल प्रकृतिको त्याग चुका है।'

नादका अभ्यास करनेपर मनको इतना आनन्द प्राप्त होता है कि वह विषयरूप विषको भूल जाता है—

नादग्रहणतश्चित्तमन्तरङ्गभुजङ्गमः ॥
विस्मृत्य विश्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति।

(नादबिन्दूपनिषद् ४३-४४)

अर्थात् 'नाग-रूप चित्त नादका अभ्यास करते-करते पूर्णरूपसे उसमें लीन हो जाता है और सभी विषयोंको भूलकर नादमें अपनेको एकाग्र करता है।'

संत कबीर साहबने नादानुसंधानको सहज योग कहा है। मनको वशमें करनेके लिये अन्तर्नादकी खोज आवश्यक है—

सबद खोजि मन बस करै, सहज जोग है येहि।
सत्त सब्द निज सार है, यह तो झूठी देहि॥

शब्द-साधना करके जो अपनी चेतन-धारको समेट पाते हैं, उनका शरीर प्राण रहते हुए भी मृतकवत् हो जाता है, ऐसे साधक फिर आवागमनके चक्रमें नहीं पड़ते। लेकिन जो शब्द-साधना हीन हैं, वे संसारमें भूले रहते हैं और बारंबार जनमते-मरते हैं। गुरु नानकसाहबकी वाणीमें इसकी पुष्टि पायी जाती है—

सबदि मरै तो मरि रहै, फिरि मरै न दूजी बार।
सबदै ही ते पाइऐ, हरि नामे लगै पिआरु॥
बिनु सबदै जग भूला फिरै, मरि जनमै बारोबार।

शब्द-साधनासे सारी इन्द्रियाँ विषय-विमुख हो शिथिल हो जाती हैं, मन गल जाता है और सभी सांसारिक आशाएँ मिट जाती हैं। संत चरणदासजी महाराजने बड़ा ही उत्तम कहा है—

'जबसे अनहद घोर सुनी, इन्द्री थकित गलित मन हूआ,
आशा सकल भुनी'

सुरत-शब्दयोगको संतोंने मीन-मार्ग कहा है। जैसे छोटी मछली नदीके बहावके प्रतिकूल जलके सहारे चलती है, उसी प्रकार साधक सुरत-शब्दके सहारे सृष्टि-प्रवाहके प्रतिकूल चलकर परम प्रभु परमात्माको पाता है। वह शब्द-प्रवाह भी ऊपरसे नीचेकी ओर है। लेकिन जो शब्दको ग्रहण करते हैं, वे शब्दके उद्गमकी ओर आकृष्ट होते हैं, क्योंकि शब्दमें अपने उद्गम-स्थानकी ओर खींचनेका स्वाभाविक गुण है। जो शब्द जहाँसे आता है, वह अपने उद्गम-स्थानका गुण भी साथ लिये रहता है और जो उसे ग्रहण कर पाते हैं, उन्हें वह शब्द अपने गुणसे संयुक्त कर देता है।

सृष्टिके आदिमें परमात्माकी इच्छा हुई कि **'एकोऽहं बहु स्याम्'** अर्थात् मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ। इच्छासे कम्प हुआ। कम्पका सहचर शब्द भी अवश्य हुआ। उसी आदि शब्दको ऋषियोंने ओ३म्, स्फोट, उद्गीथ, प्रणव, ध्वनि, ब्रह्मनाद आदि शब्दोंसे कहा और संतोंने अपनी वाणीमें उसे सार-शब्द, सत्तनाम, सत्तशब्द, आदिनाम, रामनाम कहा है। यह आदिनाम परम प्रभु परमात्मासे हुआ, इसलिये इसमें परमात्मातक पहुँचनेकी शक्ति है। जो इसे ग्रहण करते हैं, वे ईश्वरीय गुणके ग्राही हो जाते हैं अर्थात् उनमें ईश्वरत्व आ जाता है। इसलिये संतोंने शब्द-साधना वा सुरत-शब्दयोगको विशेष महत्ता दी है। इसके सम्बन्धमें कबीर साहबने बहुत ही अच्छा कहा है—

आदिनाम पारस अहै, मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भया, छूटा बंधन मोह॥

वह आदिशब्द किसी अङ्ग-प्रत्यङ्ग वा अन्य किसी पदार्थमें ठोकर लगनेसे नहीं उत्पन्न होता, प्रत्युत वह स्वाभाविक ही सबके अन्तःस्थलमें सदा ध्वनित होता रहता है। इसीलिये उसे अनाहत शब्द कहा गया है। आहत शब्द किसी-न-किसी वस्तुमें ठोकर लगने वा कम्पन होनेसे उत्पन्न होता है। लेकिन अनाहत शब्द परम प्रभु परमात्मासे ही उत्थित है। संत कबीर साहबने इसके सम्बन्धमें कहा है—

सब्द सब्द सब कोइ कहै, वो तो सब्द बिदेह।
जिभ्या पर आवै नहीं, निरखि परखि करि लेह॥

संतोंने सार-शब्द अर्थात् आदिनामको ही ग्रहण करनेका संकेत किया है, क्योंकि उसको ग्रहण करनेपर परमात्माकी प्राप्ति होती है।

आदिनाम निर्गुण और सर्वव्यापक है। इसीलिये संतोंने इसे निर्गुण रामनाम भी कहा है। यह आदिनाम साधकको साधनाके प्रथम सोपानमें प्राप्य नहीं है। स्थूल-मण्डलका केन्द्रीय शब्द ग्रहण करके फिर सूक्ष्म-मण्डलके केन्द्रीय शब्दको ग्रहण करते हुए कारण-मण्डलके केन्द्रीय शब्दको ग्रहण कर महाकारण-मण्डलके केन्द्रपर जो शब्द ग्रहण होगा, वही सार-शब्द है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण-मण्डलतक त्रयगुण (सत्त्व, रज, तम) का विस्तार है। इसलिये इन मण्डलोंके शब्द सगुण-ही-सगुण होंगे। इन चतुर्मण्डलोंके परे जो नाद ग्रहण होगा, वही निर्गुण रामनाम है।

शब्द-साधनाके पूर्व बिन्दु-ध्यान आवश्यक है। दृष्टियोग करनेपर जो ज्योतिर्मय बिन्दु उदित होता है, उसपर नाद स्वाभाविक ही स्थित रहता है, इसीलिये जो दृष्टियोग करके बिन्दुको प्राप्त करते हैं, उनको अन्तर्नाद सहज ही प्राप्त होता है। योगशिखोपनिषद्में इसका वर्णन बहुत उत्तम ढंगसे हुआ है—

'बिन्दुपीठं विनिर्भिद्य नादलिङ्गमुपस्थितम्।'

अर्थात् 'बिन्दु-पीठका भेदन करके नादलिङ्ग उपस्थित होता है।' ज्योतिर्मय बिन्दु सूक्ष्म होता है। किसी भी अक्षरके लिखनेके पूर्व बिन्दु बनता है, तभी वह अक्षर लिखा जाता है। ध्यानबिन्दूपनिषद् (श्लोक २) में बिन्दुको बीजाक्षर कहा है, जिसपर नाद स्थित रहता है—

बीजाक्षरं परं बिन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम्।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्॥

अर्थात् परम बिन्दु ही बीजाक्षर है, उसके ऊपर नाद है। नाद जब अक्षर (अविनाशी) ब्रह्ममें लय हो जाता है, तो निःशब्द परम पद कहलाता है।

संत पलटू साहबने भी कहा है कि जो बहिर्वृत्तिको

त्यागकर अन्तर्मुखताका साधन करते हैं, वे ज्योतिर्मय बिन्दुको पाते हैं, जिसपर नाद-ध्वनि हो रही है—

बिन्दुमें नादका मेला, उलटिके खेल यह खेला।
बिन्दुमें तहँ नाद बोलै रैन दिवस सुहावनं॥

परमाराध्य श्रीसद्गुरु महाराज (पूज्यपाद महर्षि मेँही परमहंसजी महाराज) की भी वाणीमें आया है—

धर कर बिन्दु सुनो अनहद ध्वनि।
बिबिध भाँतिकी होती पुनि पुनि॥

यों प्रकृति भी संकेत करती है कि ज्योतिके बाद शब्द अवश्य होता है। जैसे आकाशमें जब बादल टकराते हैं तो प्रथम बिजलीकी छटक होती है, उसके बाद ठनकेकी भी आवाज होती है। उसी तरह साधक जब साधना करके प्रकाश-मण्डलमें पहुँचते हैं, तो वहाँ उन्हें शब्द भी अवश्य मिलता है। इसीलिये गुरु नानकसाहबने कहा है कि सुषुम्नामें शून्यका ध्यान करके शब्द ग्रहण करना चाहिये—

सुखमन कै घरि राग सुनि सुन मंडल लिव लाइ।
अकथ कथा बिचारिअै मनसा मनहि समाइ॥

आदिनाद ही सृष्टिका मूल कारण अर्थात् बीज है। यदि शब्द न रहे तो सृष्टि नहीं रहेगी। अन्तर्नादका सुनना बाह्यकानसे नहीं हो सकता है, क्योंकि यह नाद अत्यन्त सूक्ष्म होता है जो अन्तर्हृदयमें ही प्रकाशित होता है।

इसीको उलटा नाम भी कहा गया है। इसलिये कि इसका प्रवाह ब्रह्माण्डसे पिण्डकी ओर अर्थात् ऊपरसे नीचेकी ओर है। जपकालमें वर्णात्मक नामका जब उच्चारण होता है तो यह नीचेसे अर्थात् नाभिसे प्रवाहित होकर मुखसे निकलता है। इसीलिये इसे सीधा और ध्वन्यात्मक रामनामको उलटा कहा है। वर्णात्मक नाम सगुण होता है। लेकिन ध्वन्यात्मक नाम अर्थात् आदिनाम निर्गुण होता है। इसी अनुपम और गुण-निधान निर्गुण रामनामकी वन्दना गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने रामचरितमानसके बालकाण्डमें की है—

बंदउँ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥
बिधि हरि हरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो॥

(१९। १-२)

गोस्वामीजीने इस निर्गुण रामनामको ब्रह्मा, विष्णु और महेश तथा वेदका प्राण अर्थात् ओंकार कहा है। सुरत-शब्दयोगकी साधनाद्वारा साधक मायाके सारे आवरणों—अन्धकार, प्रकाश और शब्द अथवा स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण और कैवल्यको पारकर परम प्रभु परमात्मासे एकताका बोध कर पायेंगे। इसके लिये सच्चे शब्दाभ्यासी सदाचारी सद्गुरुसे तथा शास्त्रोंसे सद्युक्ति प्राप्त करनी चाहिये।

नामसंकीर्तन-योग

(श्रीश्रीधरविनायकजी माण्डवगणे)

मनीं ईश्वराचे चरण। सर्वभावें त्यास शरण॥
योजे ऐसे अन्तःकरण। योग म्हणावे त्याळा॥

(यथार्थदीपिका)

'मनमें ईश्वरके चरण हों, सब प्रकारसे चित्त उन्हींके शरण हो, ऐसा अन्तःकरण हो जाय, इसीका नाम योग है।'

योगाभ्यासकी जो आवश्यकता होती है वह मनोनाश करके चित्तको ऐसा बना लेनेके लिये होती है। जिस योगके अभ्याससे यह काम बनता है, उसे राजयोग कहते हैं। राजयोग जिस क्रमसे प्राप्त होता है, उसमें तीन 'क्रम-भूमिकाएँ' हैं, जिन्हें हठ, लय और मन्त्रयोग कहते हैं। इस क्रमसे चित्त चिन्मय तो हो जाता है, पर इसमें केवल व्यतिरेकज्ञान रहता है अर्थात् उससे जीवन्मुक्त-अवस्था नहीं प्राप्त होती। जीवन्मुक्त होनेके लिये अन्वय-ज्ञान आवश्यक होता है।

यावन्नानात्मधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः।
जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा॥

(श्रीमद्भागवत)

'जबतक पुरुषकी नानात्मधी-युक्तियोंसे निवृत्ति नहीं होती, तबतक वह अज्ञ जागता हुआ भी सोता है, जैसे कोई मनुष्य सोते हुए जागता है।' इसके लिये कर्मयोगकी आवश्यकता होती है। **'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'** के अनुसार 'काम्यत्याग' और तत्पश्चात् 'सर्वकर्मफलत्याग' अर्थात् ईश्वरार्पण-कर्मके योगसे जब साधक त्यक्तकाम-संन्यासी हो जाता है, तब वह भागवतधर्मका अधिकारी होता है। ईश्वरभक्तिके अतिरिक्त जिसके और कोई

भी इच्छा नहीं होती, उसके सब कर्म ईश्वरार्पित हो जाते हैं। 'निर्हैतुक-निरहङ्कार होनेमात्रसे ही ब्रह्मार्पण हो जाता है', जैसा कि रंगनाथ स्वामीने कहा है। इससे अन्तःकरण शुद्ध होता है और ईश्वरभक्ति अङ्कुरित होती है। इसके अनन्तर कीर्तनमें रुचि होती है और नवविध भक्तियोगसे तत्त्वजिज्ञासा उत्पन्न होकर श्रीगुरुजनका अधिकार प्राप्त होता है। श्रीगुरुका स्वरूप बतलाते हैं—

शब्दज्ञाने पारंगत। जो ब्रह्मानन्दे सदा डुल्लत।
शिष्य प्रबोधनी समर्थ। तो मूर्तिमंत स्वरूप माझें॥

(एकनाथी भागवत)

अर्थात् श्रीगुरु, जो शब्दज्ञानमें पारङ्गत हैं तथा ब्रह्मानन्दमें सदा झूमते रहते हैं और जो शिष्यको प्रबुद्ध करनेमें समर्थ होते हैं, वह भगवान्के ही मूर्तिमान् रूप हैं। ऐसे गुरुकी शरणमें जाकर ज्ञान प्राप्त करना होता है। ग्रन्थोंके अध्ययनसे केवल रुचि होती है। यथार्थ ज्ञान श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुसे ही प्राप्त होता है।

युगधर्मके अनुसार इस कलियुगमें 'नाम-संकीर्तन' ही मुख्य साधन है—

तात्काल जावया देहाभिमान। अखंड माझें नामस्मरण॥
गीत नृत्य हरिकीर्तन। सर्व भूतीं समान मद्भाव॥

(एकनाथी भागवत)

'देहाभिमानके शीघ्र छूटनेके लिये भगवान्का अखण्ड नामस्मरण, गीत-नृत्य, हरिकीर्तन और सब प्राणियोंमें समान भगवद्भाव ही साधन है।'

हरिकीर्तनसे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र तीनों ही ग्रन्थियोंका भेदन होकर आत्मस्वरूपका बोध होता है। भगवान् वेदव्यासने महाभारत, वेदान्त-सूत्र और अष्टादश पुराण रचे, पर उन्हें उनसे शान्ति नहीं प्राप्त हुई। तब भगवन्नाम-कीर्तनरत वीणाधारी श्रीनारदसे उन्होंने शान्तिका मार्ग पूछा। देवर्षिने **'अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः'** कहकर भक्तिके सूत्र बताये और ऐसा ग्रन्थ रचनेको कहा, जिसमें श्रीहरिका गुणकीर्तन हो। तब वेदव्यासने वह ग्रन्थ 'श्रीमद्भागवत' लिखा। वेदव्यासके पुत्र सिद्ध योगी श्रीशुकाचार्य कहते हैं—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्यैव पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥

'सब शास्त्रोंका आलोडन करके बार-बार जो विचार किया, उससे यही निष्कर्ष निकला कि सदा नारायणका ही ध्यान करते रहना चाहिये।'

श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं—'कीर्तनसे काया ब्रह्मभूत हो जाती है और ऐसा महद्भाग्य उदय होता है कि भगवान् भी भक्तके ऋणी हो जाते हैं।' इसलिये कीर्तन-योगकी महिमा बड़ी विलक्षण है।

व्यक्तियोग

संसारमें जो असंख्य आत्मा नामरूपसे व्यक्त हुए हैं, वे परमात्माकी असंख्य सत्ताएँ हैं। एक ही परमात्मसत्ताके ये असंख्य भेद हैं, यद्यपि एक ही परमात्मसत्ताके अन्तर्गत होनेसे वे एक दूसरेसे पृथक् नहीं। इनके असंख्य ज्ञान हैं, यद्यपि एक ही परमात्मज्ञानके अंश होनेसे वे एक दूसरेसे पृथक् नहीं। इनके असंख्य आनन्द हैं, यद्यपि एक ही परमानन्दके आस्वाद होनेसे वे एक दूसरेसे पृथक् नहीं। ये जो सत्ता, ज्ञान और आनन्दके भेद नामरूपात्मक जगत्में नाम-रूपसे व्यक्त हुए हैं सो उस सत्ता, ज्ञान और आनन्दको व्यक्त करनेके लिये ही हो सकते हैं, अव्यक्तके व्यक्त होनेमें व्यक्त होनेकी इच्छाके सिवा और कोई कारण नहीं हो सकता। इसलिये संसारमें जितने नाम-रूप व्यक्त हुए हैं, उनके पीछे परमात्माकी एक-एक सत्ता, ज्ञान और आनन्द अव्यक्त है। एक-एक अव्यक्त सत्ता, ज्ञान और आनन्दस्वरूप एक-एक आत्माका ही यह व्यक्त रूप है, जो हम संसारमें देखते हैं। संसारमें सब रूप एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं, इसका कारण यह है कि इन रूपोंके पीछे भिन्न-भिन्न आत्मा अपने सच्चिदानन्दस्वरूपके भिन्न-भिन्न प्रकारोंके साथ है। संसारमें जो कोई व्यक्त हुआ, उसका हेतु अपनी सत्ता, ज्ञान और आनन्दको व्यक्त करना है। जन्म-जन्मान्तरसे व्यक्त करनेका यह काम होता चला आया है। परमात्मा अपनी सत्ता, ज्ञान और आनन्द अनन्तकोटि विश्वब्रह्माण्डरूपमें व्यक्त करते हैं। वैसे ही उसीके अंश

असंख्य आत्मा एक-एक व्यष्टिमें अपनी सत्ता व्यक्त करते हैं। **'एकोऽहं बहु स्याम्'**—यह जो मूल संकल्प है वही अनन्तविध होकर व्यक्त होने लगता है। अपने-आपको व्यक्त करनेका यह जो कर्म है, इसकी परिसमाप्ति अपने अंशकी सम्पूर्ण सत्ता, ज्ञान और आनन्दके प्रकट करनेमें ही हो सकती है। इसलिये जिस शरीरमें आत्माकी पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती है वह मुक्त हो जाता है। इसका अर्थ यही है कि यह सृष्टिकर्म परमात्माके अपने-आपको व्यक्त करनेका कर्म है और इस कर्मके अंशस्वरूप असंख्य आत्माओंका अपने-अपने असंख्य शरीर-निर्माण करनेका कर्म भी अपने-आपको ही व्यक्त करनेका कर्म है। भगवत्संकल्पके अनुसार भगवान्के सत्-चित्-आनन्दस्वरूपका पूर्णतया व्यक्त हो जाना जैसे भगवत्संकल्पकी पूर्ति और तत्संकल्पगत भगवत्कर्मकी परिसमाप्ति है, वैसे ही प्रत्येक आत्माका परमात्मसंकल्पके अंशस्वरूप जो संकल्प है; उसके अनुसार उसका अपने विशिष्ट सच्चिदानन्दस्वरूपका पूर्णतया व्यक्त करना ही उस संकल्पकी पूर्ति अर्थात् उसे व्यक्त करनेके कर्मकी परिसमाप्ति है। संसारमें जितने व्यक्त रूप हैं, वे रूप ही हैं, आत्मा नहीं, पर हैं वे आत्माके रूप, इतनी बात सत्य है। पर आत्माके भी वे पूर्ण अभिव्यक्ति करनेवाले रूप नहीं हैं। पूर्ण अभिव्यक्ति जिस आत्माकी हो जाती है, उसका कर्म पूर्ण हो गया। आत्माका किसी रूपमें व्यक्त होना ही केवल कर्म नहीं—कर्म है आत्मसत्ताको पूर्णरूपसे व्यक्त करना, एक जन्ममें न हो तो दो जन्ममें, दस जन्ममें। जन्मका हेतु आत्माको ही व्यक्त करना है। आत्माका यह व्यक्तियोग है।

परंतु जबतक आत्माकी ही स्मृति नहीं है, देहात्मबुद्धि है और विषय ही परमधाम है, तबतक यह व्यक्तियोग केवल आकाशकुसुम है। इसलिये पहले आत्माको जानना चाहिये। श्रीगुरुकृपाके बिना आत्मस्वरूप नहीं पहचाना जाता, ऐसा सुना है। और श्रीगुरु सत्सङ्गके बिना नहीं मिलते और सत्सङ्ग श्रीहरिकृपा बिना नहीं मिलता। इसलिये भगवान्की भक्तिसे सत्सङ्ग लाभकर श्रीगुरुरूप भगवान्से आत्मस्वरूपमें स्थित होनेका योग जानना चाहिये। विषयोंके सब बन्धनोंसे मुक्त होनेपर ही अपने-आपको जाननेकी आशा की जा सकती है। भगवद्भक्तिसे यह सब सुगम हो जाता है। मुक्त मनुष्यके जो कर्म होते हैं, वे आत्मस्वरूपको ही व्यक्त करनेवाले होते हैं।

मुक्त पुरुषके शरीर और कर्म ही आत्माकी अभिव्यक्ति हैं। संसारमें देखने योग्य रूप, सुनने योग्य वाणी, स्पर्श करने योग्य शरीर, समझने और हृदयमें धारण करने योग्य प्रत्येक बात मुक्त पुरुषकी ही होती है। कारण, मुक्त पुरुषकी ये सब बातें आत्माकी अभिव्यक्ति होती हैं। इसीलिये ऐसे पुरुषोंके दर्शन करनेकी इच्छा होती है और उनके दर्शन-स्पर्शनसे अद्भुत सुख होता है। उनका उठना-बैठना, चलना-फिरना, हँसना-खेलना भी देखने योग्य होता है। इसीलिये अर्जुन श्रीकृष्णसे पूछते हैं कि वह कैसे बोलते हैं, कैसे बैठते हैं, कैसे चलते हैं, यह भी बताइये। जितने मुक्त पुरुष हैं वे सब दर्शनीय हैं, वे सभी दुःख हर लेते हैं, क्योंकि उनके रूप और कर्म आत्माके होते हैं। पर सब मुक्त पुरुषोंके रूप और कर्म एक-से नहीं होते—एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न होते हैं। किसीका श्रीरूपसौन्दर्य श्रीउमामहेशके समान होता है, किसीका श्रीशिवके समान होता है, किसीका श्रीरामके समान, किसीका श्रीबुद्धदेवके समान, किसीका श्रीकृष्णके समान, किसीका श्रीलक्ष्मीके समान, किसीका श्रीसरस्वतीके समान, किसीका श्रीबालकृष्णके समान; कितने नाम गिनावें, अनन्त नाम हैं—उनके अनन्त रूप हैं—सब दर्शनीय और वन्दनीय ! कारण, भगवान् अनन्त हैं, उनके अनन्त नाम हैं, अनेक रूप हैं। अनन्त जो आत्मा हैं, वे ही परमात्माकी अनन्त सत्ताएँ हैं और ये अनन्त सत्ताएँ अनन्त रूप धारण करती हैं। इससे यह बात भी स्पष्ट होती है कि प्रत्येक मनुष्यको निजात्मस्वरूपकी जो अभिव्यक्ति करनी है, वह अन्य सब सच्चिदानन्द सत्ताओंसे रूपतः और कर्मतः भिन्न है। संसारमें जो अनन्त रूप हैं, वे इन्हींके हैं—पर जो रूप और कर्मबद्ध हैं, वे आत्माकी अभिव्यक्ति नहीं—अहङ्कारकी अभिव्यक्ति हैं। जो आत्मा मुक्त हैं, उन्हींके रूप और कर्म आत्माकी अभिव्यक्ति हैं और प्रत्येक आत्माका मूल हेतु संसारमें अपने अनन्तके साथ युक्त सच्चिदानन्दस्वरूपको व्यक्त करना है। हमलोग जो बद्ध हैं, उनका हेतु भी मुक्त होकर अपने नित्ययुक्त सच्चिदानन्दको पाकर उसे व्यक्त करना है। इसी व्यक्तियोगके लिये नर-तन ही एकमात्र साधन है। इसी तनमें यह व्यक्त करना है—प्रत्येक व्यक्तिको व्यक्त करना है। यही व्यक्तियोग है।

प्रेमयोग और भावतत्त्व

(डॉ० श्रीभवदेवजी झा, एम्० ए० (द्वय), पी-एच्०डी०)

योगकी विशेषता विशुद्ध प्रेममें ही है। यह प्रेम वर्णनातीत होता है—'**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।**' जीव स्वभावतः किसी वस्तुकी अपेक्षा न करके जब आनन्द-सागरमें मग्न होना चाहता है और जब अपने प्रेमास्पदके लिये व्याकुल हो उठता है, तभी सच्चे प्रेमका उदय होता है। इस प्रेमका उदय हो जाना प्रेमयोग कहलाता है। प्रेममें इन्द्रिय-सुखकी इच्छाओंका नितान्त अभाव रहता है। विशुद्ध प्रेम इन्द्रिय और उनके धर्मोंसे परेकी वस्तु है। प्रेमको रागके नामसे भी जाना जाता है। इसके तीन भेद माने गये हैं—पूर्वराग, मिलन और विरह। इस सम्बन्धमें आठ विकारोंकी चर्चा रागमार्गके उपासक वैष्णवोंने की है। वे इस प्रकार हैं—स्तम्भ, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभङ्ग, पुलक और प्रलय। प्रेमके लिये इन भावोंको 'सात्त्विक विकार' कहा गया है। चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु—ये विरहकी दस दशाएँ हैं।

अनुरागको शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति नित्य वर्धमान कहा गया है। अनुराग जब बढ़ते-बढ़ते अपनी अन्तिम सीमातक पहुँच जाता है तो उसे भाव कहते हैं। भावकी अन्तिम परिणतिको ही महाभाव कहते हैं। महाभावके भी दो भेद बताये गये हैं—१-रूढ़ महाभाव तथा २-अधिरूढ़ महाभाव। अधिरूढ़ महाभावके भी दो रूप हैं—मोहन (मोदन) और मादन। मादन महाभाव ही मोहनके रूपमें परिणत होकर दिव्योन्मादको प्रकट करता है। दिव्योन्माद ही प्रेमयोगकी अन्तिम अवस्थाको प्रकट करता है। यह दिव्योन्मादका महाभाव राधिकाजीके शरीरमें सम्यक्‌रूपसे उत्पन्न हुआ था।

भावोंकी चार दशाएँ मानी गयी हैं—(१) भावोदय, (२) भाव-सन्धि, (३) भावशाबल्य तथा (४) भावशान्ति।

किसी कारण-विशेषसे उत्पन्न होनेवाले भावको हम भावोदय कहते हैं। उदाहरणके लिये संध्या होते ही गोपियोंके हृदयमें श्रीकृष्णके आगमनका भावोदय होना। हृदयमें दो प्रकारके भावोंका मिल जाना ही भाव-सन्धि है। जैसे प्रवासी पतिके रुग्णावस्थामें घर लौटनेपर उसकी पत्नीके हृदयमें हर्ष और विषाद—दो प्रकारके भावोंका संयोग हो जाता है। अनेक प्रकारके भावोंका जब प्रेमीके हृदयमें उदय हो जाता है तो उस स्थितिको भावशाबल्य कहते हैं। इसी प्रकार जब इष्ट वस्तुके प्राप्त हो जानेपर जो एक अनिर्वचनीय संतुष्टि मिलती है, उसे ही भावशान्तिके नामसे जाना जाता है। जैसे रासलीलाके समय सहसा श्रीकृष्णके अन्तर्धान हो जानेपर जब वे गोपियोंको अकस्मात् मिल गये, उस समय जो उनका अदर्शनरूप व्याकुलतामय विरहभाव था, वह पूर्णतः शान्त हो गया।

प्रेमयोगियोंने भावतत्त्वकी विशद चर्चा करते हुए व्यभिचारी भावोंका भी वर्णन किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, तम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाड्य, व्रीडा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा और बोध। इनका वैष्णव ग्रन्थोंमें विशद विवरण प्राप्त होता है।

विशुद्ध प्रेमयोगकी दशा बड़ी विलक्षण होती है। जब एक बार अपने प्रियतमसे लगन लग जाती है और जब वह हृदयमें बस जाता है तो नित्य-निरन्तर उसीके भाव प्रेमीके मनको बाँधे रहते हैं। फिर तो सभी प्रकारके भाव और सात्त्विक विकार एवं विरह-दशाएँ स्वतः उदित होने लगती हैं।

प्रेमीको अपने प्रेमास्पदके विरहमें रोने-धोनेके अतिरिक्त कुछ सुहाता ही नहीं। महाप्रभु चैतन्यदेव भी अपने श्यामसुन्दरके विरहमें रोते-रोते यही कहा करते थे—

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्‌गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति ॥

अर्थात् 'हे प्रभो ! तुम्हारा नाम लेते-लेते कब मेरे दोनों नेत्रोंसे अश्रुधारा बह चलेगी ? कब हम गद्‌गदकण्ठसे तुम्हारा प्यारा नाम रटते हुए पुलकित हो उठेंगे ?'

वस्तुतः श्रीचैतन्यमहाप्रभुने तो नाम-संकीर्तनके साथ अपनी सारी साध पूरी कर ली और प्रेमतत्त्वके सभी भावों और विभिन्न स्थितियोंके साथ ही अखण्ड प्रेमानन्द भी प्राप्त कर लिया।

प्रेमीके विरहमें ही उसके प्रेमकी परिपक्वता होती है। विरह प्रेमकी जाग्रत्-गति है और सुषुप्ति मिलन है। विरहके बिना प्रेमका असली स्वाद कहाँ ? अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके विरहमें तड़पनेवाली गोपियोंकी दशापर जरा विचार करें, जो प्रेम-बावरी बनकर कहती हैं—

बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब वै लता लगति तन सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं॥
बृथा बहति जमुना, खग बोलत बृथा कमल-फूलनि अलि गुंजैं।

परमज्ञानी उद्धवजीने अपने निर्गुण ज्ञानकी गठरी प्रेमयोगिनी—गोपिकाओंके समक्ष खोल तो दी, पर उनका विरह-विषमज्वर शान्त होनेके बदले और भड़क उठा। उनके विरहका संक्रामक रोग उद्धवपर भी सवार हो गया।

विरह तो परमात्माकी एक विलक्षण देन है, जो किसी विरले भाग्यवान् कृपापात्रको ही प्राप्त हो पाता है। एक कविने तभी तो कहा है—

जिसपर तुम हो रीझते, क्या देते यदुवीर।
रोना-धोना सिसकना, आहोंकी जागीर॥

सचमुच विरह तो एक अनोखी जागीर है, जो किसी भाग्यशालीको ही नसीब होती है। सच्चा प्रेमी अपने प्रेमास्पदको पाकर उतना संतुष्ट नहीं होता, जितना उसके वियोग-विछोहमें आँसू बहाकर होता है।

विशुद्ध भगवत्प्रेमकी विरहाग्निमें तो सारे जप-तप ईंधन बनकर राख हो जाते हैं। विरही उस विरहानलमें जलकर ऐसा राख बन जाता है कि उसे मौत भी नहीं ढूँढ़ पाती। इसीलिये तो कबीरने कहा—

बिरह अगिन तनमें तपै, अंग सबै अकुलाय।
घट सूना जिय पीव महँ, मौत ढूँढ़ फिरि जाय॥

ऋषियोंने अनेकानेक योग-साधनोंका मार्ग प्रशस्त किया, किंतु नटनागरके प्रेममें अपनी सुध-बुध खो बैठनेवाली गोपियोंके प्रेमके समक्ष उन्हें भी लज्जित होना पड़ा। चरनदासने तो विरहकी महिमाके सामने सारे योग, जप, तप तथा ध्यानको भी नगण्य माना है—

पी पी कहते दिन गया, नैन गयी पिय ध्यान।
विरहिन के सहजै सधै भगति जोग तप ज्ञान॥

व्रजगोपियोंकी योगधारणा

(श्रीप्रेमनारायणजी त्रिपाठी 'प्रेम')

भगवान् श्रीकृष्णके वियोगमें गोपियोंको अधीर जानकर भक्तप्रवर उद्धव भगवान्‌की आज्ञासे उन्हें समझा-बुझाकर आश्वासन देनेके लिये व्रज जाते हैं और वहाँ गोपियोंको ज्ञान-वैराग्यका उपदेश देते हैं। उधर गोपियोंपर इसका विपरीत ही प्रभाव पड़ता है। वे अपने प्यारे मनमोहनको जीवन्मुक्त पुरुषके ब्रह्मदर्शनकी भाँति सर्वत्र देख रही हैं। उन्हें जड-चेतन-पृथ्वीकी समग्र वस्तुओंमें प्यारे श्रीकृष्णके दर्शन हो रहे हैं। अपने शरीरमें ही सब कुछ देखनेवाली तथा प्यारे मदनमोहनके साथ सदा क्रीडा करनेवाली एक गोपी कहती है—

हौं ही व्रज वृन्दावन मोहीमें बसत सदा,
जमुनातरंग स्यामरंग अवलीनकी।
चहुँ ओर सुंदर सघन बन देखियतु,
कुंजनमें सुनियत गुंजन अलीनकी॥
बंसीवट तट नटनागर नटतु मोमें,
रासके बिलासकी मधुर धुनि बीनकी।
भरि रही झनक भनक ताल ताननिकी,
तनक तनक तामें झनक चूरीनकी॥

(महाकवि देव)

उस गोपीको यकायक प्यारे प्रभुकी रासक्रीडाकी सुधि हो आती है। वह मानो उसीमें प्रभुके साथ नृत्य करके 'तनक-तनक तामें' झनक चूरीनकी' सुन-सुनकर पागल हो उठती है। उसके रोमाञ्च हो जाता है। गद्‌गदकण्ठसे लीलामयकी लीलाका वर्णन करती-करती वह आप-ही-आप आनन्दाम्बुनिधिमें गोते खाने लगती है। इसी बीच दूसरी गोपी उद्धव महाराजसे कहती है—

निसिदिन स्रौननि पियूष सौ पियत रहैं,
छाय रह्यौ नाद बाँसुरीके सुरग्रामकौ।
तरनितनूजा तीर बन कुंज बीथिनमें,
जहाँ-तहाँ देखती हैं रूप छबिधामकौ॥
'कवि मतिराम' होत ह्याँ तौ ना हिये तैं नैकु,

सुख प्रेमगातको परस अभिरामकौ।
ऊधौ! तुम कहत वियोग तजि जोग करौ,
जोग तब करैं जो वियोग होय स्यामकौ॥

(महाकवि मतिराम)

अबकी बार यह गोपी श्याममय होकर उछल पड़ती है। उद्धवजीको डाँट बता-बताकर कहती है—महाराज! यहाँ तो हमें जहाँ-तहाँ सर्वत्र ही प्यारे श्रीकृष्णके दर्शन मिल रहे हैं। उनके अमृतमय वंशीनादसे हमारे कान भरे जा रहे हैं। यमुनाके तीर कुञ्जमें—वनमें, प्रत्येक स्थलमें वह मनोहर छबि दिखायी दे रही है। अतएव हे उद्धवजी! आप जो हमें श्रीकृष्णप्राप्तिके लिये योग-समाधि सिखाने आये हैं, वह तो व्यर्थ ही है। कारण, हमारे प्यारे कन्हैयाका तो हमसे पलभरको कभी वियोग ही नहीं है। वे तो हमारे साथ हमें यहीं दीख रहे हैं। इतना सुनकर तीसरी गोपी आगे बढ़कर कहने लगी—उद्धवजी!—

प्राननिके प्यारे तनतापके हरनिहारे,
नंदके दुलारे ब्रजबारे उमहत हैं।
कहैं 'पदुमाकर' उरूझे उर अंतर यों,
अंतर चहे हू तैं न अंतर चहत हैं॥
नैननि बसे हैं अंग-अंग हुलसे हैं, रोम
रोमनि लसे हैं निकसे हैं को कहत हैं।
ऊधौ! वै गोबिन्द मथुरामें कोई और, इहाँ
मेरे तो गोबिन्द मोहि मोहि में रहत हैं॥

(महाकवि पद्माकर)

यह तो इतनी मगन है कि उद्धवजीको भी चक्करमें डाल देती है। कहती है—'उद्धव महाराज! मेरी आँखोंमें वे बसे हैं। मेरे हृदयमें वे समा गये हैं। दूरी चाहनेपर भी दूर नहीं हो सकते, ऐसे लीन हैं। कौन कहता है कि वे कहीं अन्यत्र जाकर बस गये हैं? हे उद्धवजी! तुम्हारे मथुराजीमें वास करनेवाले श्रीकृष्ण कोई और ही होंगे! मेरे प्यारे कृष्ण-गोविन्द तो मेरे रोम-रोममें समाकर यहीं रम रहे हैं।'

धन्य है प्रेम! विमुग्धकारी लीलाधारीकी छबि जब इस प्रकार किसी योगीके हृदयकमलमें वास करने लग जाती है, तब क्यों न वह ***'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई'*** बन जाय। धन्य है अलखनिरञ्जन, संतनसुखदाता, लीलानागर प्रभु श्रीकृष्णको और उनकी प्रेममयी गोपरमणियोंको!

जडयोग

(श्री 'माधव')

चेतन और जड, विद्या और अविद्या, प्रकाश और अन्धकार, गुण और दोषसे पूर्ण यह विचित्र सृष्टि रचकर प्रभुने मनुष्यको विवेक तथा बुद्धि दी, जिसके सहारे वह जड, अविद्या, अन्धकार और दोषका परित्यागकर चेतन, विद्या, प्रकाश और गुणका आश्रय लिये रहे और अपने सत्यस्वरूपको जानते हुए परमात्म-पथमें उत्साह और उल्लासके साथ चलता रहे। मनुष्यके विवेक और बुद्धिमें जबतक परमात्माका प्रकाश जगमगाता रहता है, तबतक वह अपने उद्देश्य-पथपर निश्चल-रूपसे चलता रहता है। शुद्ध बुद्धिका लक्षण यह है कि उसमें परमात्माका आश्रय, भगवान्‌का भरोसा अक्षुण्णरूपसे बना रहता है। शुद्ध बुद्धि जगत्‌को न देखकर जगत्‌के स्वामीको देखती है। उसे प्रपञ्चका आवरण ढक नहीं सकता, मायाकी मोहिनी उसे मुग्ध नहीं कर सकती, क्योंकि उसे परमात्माका प्रकाश, मायापतिका बल प्राप्त है। प्रपञ्चको वेधकर, ससीमको चीरकर शुद्ध बुद्धिकी विशुभ्र किरणें अविच्छिन्नरूपसे परमात्मपदमें प्रवाहित होती रहती हैं। शुद्ध बुद्धि हरिके सिवा किसीका वरण ही नहीं करती, किसीकी ओर देखती ही नहीं, कुछ स्वीकार ही नहीं करती। शुद्ध बुद्धिका यह स्वाभाविक स्वरूप है।

बुद्धिकी यह स्वाभाविकता तभीतक अक्षुण्ण रहती है, जबतक मनुष्य सतत सतर्क एवं सावधान होकर, अहर्निश भीतरसे जागरूक होकर, प्रभुके स्मरण, चिन्तन, ध्यानका सहारा लेकर सदा-सदैव अपने उद्देश्यका ध्यान रखता है। और उसकी प्राप्तिके लिये सब समय तत्पर रहता है। उद्देश्यका विस्मरण ही सारी विपत्तिका मूल है। जहाँ उद्देश्य एक क्षणके लिये भी बिसरा कि प्रपञ्चके लुभावने पर्दे आँखोंपर, बुद्धिपर पड़े और पर्दा पड़ते ही जो साधना ईश्वरोन्मुखी होकर अनन्य-एकान्तरूपसे प्रभुकी खोजमें थी, वही जगत्‌की पूजा-अर्चा

करने लगती है और बुद्धि धीरे-धीरे शैतानके हाथकी कठपुतली हो जाती है। बुद्धि अपना प्रकाश खो देती है, मनकी लगाम ढीली पड़ जाती है, इन्द्रियाँ विषयोंके मोहक रूपपर आसक्त हो जाती हैं और सबसे भयावह परिणाम इसका यह होता है कि बुद्धिके दोषसे असत्‌में सद्बुद्धि, अपवित्रमें पवित्रबुद्धि, असुखमें सुखबुद्धि और अनित्यमें नित्यबुद्धि हो जाती है। इस कारण मनुष्य स्वभावतः असत्, असुख, अपवित्र और अनित्यकी आराधना करने लगता है। क्योंकि उनके रूपपर आकर्षणका जो सुवर्णमय आवरण पड़ा हुआ है, वही उसे उसके सत्य रूपको देखने नहीं देता। इसे ही हमारे ऋषियोंने 'प्रज्ञापराध' कहा है।

असत्, अनित्य, असुख और अपवित्रकी आराधनामें भला सुख कैसे प्राप्त हो ? मनुष्य तो आशामें, प्रतीक्षामें इस विश्वासमें कि कहीं अदृश्यके गर्भमें सुखकी राशि छिपी पड़ी है, जिसे समय कभी-न-कभी लावेगा ही और हम उस सुखको आज न सही, कल भोगेंगे ही—बस, इसी मृगतृष्णामें वहाँ सुख खोज रहा है, जहाँ सुखका लेश भी नहीं। वहाँ शान्ति पाना चाहता है, जहाँ अशान्तिकी महावह्नि धाँय-धाँय कर धधक रही है। मृगजलसे किसकी कब प्यास बुझी ? परंतु इन नादान मृगोंकी आँखें भी कौन खोले ? जिस क्षण हम जगत्‌के वास्तविक स्वरूपको समझ लेंगे, उसी क्षण हमारी आँखें सदाके लिये इससे फिर जायँगी। मृगशिशुको जलती दुपहरीमें लू और लपटोंमें पानीकी खोजमें व्याकुल दौड़ते हुए देखकर किसे दया नहीं आती ? उस नादान मृगछौनेको कोई लाख समझावे, उसे मरनेसे कोई लाख बचानेकी चेष्टा करे; परंतु उसकी बुद्धिमें जो विभ्रम हो गया है, उसके कारण वह तो आगसे ही प्यास बुझानेपर तुला हुआ है और उसे बचानेका हमारा जो भी प्रयत्न होगा, उसे अहितकारी समझकर वह और भी जी छोड़कर लू और लपटोंमें ही भागेगा। यह नहीं कि उसे लूकी लपटें सताती नहीं, जलाती नहीं। वह जितना ही बढ़ता है उतना ही जलता है, परंतु आगे जो जलकी लहरोंका समुद्र लहरा रहा है, उसे पिये बिना कैसे लौटे ? असत्‌में सद्बुद्धिका परिणाम भीषण ज्वाला, दारुण विपत्ति ही है। महाप्रभुने इसे ही 'विषभक्षण' कहा है।

अनादिकालसे ऋषि-मुनि पहाड़की चोटीपर खड़े होकर डंकेकी चोट कहते आये हैं कि जिस जगत्‌के रूपपर तुम मुग्ध हो उसका एक बार भी तो घूँघट उठाकर मुख देख लो ! आवरणपर प्राण गँवाना कहाँकी बुद्धिमानी है ? जिस क्षण इस जगत्‌को सच्चे रूपमें देख लोगे, उसी क्षण इसका नक्शा ही बदल जायगा और उसी क्षण तुम्हारा जलना-तपना भी सदाके लिये मिट जायगा। भवतापसे तुम मुक्त हो जाओगे। परंतु हमारी दशा तो ठीक उस मृगछौनेकी-सी है जो लू-लपटोंमें झुलसता हुआ भी सुख-जलकी आशा और तृष्णामें बुरी तरह भागा जा रहा है। ऋषि-मुनियोंके इन उपदेशोंको हम सुनते-पढ़ते हैं, परंतु भीतर ऐसा भासता है— अरे ! ये हमें संसारसे अलग करने और हमारा सुख छीननेपर तुले हुए हैं। इन्हें संसार-सुखका क्या पता। इन्होंने तो जंगलों-पहाड़ोंकी हवा खायी। ये तो हमें संसारसे अलग रहकर एकान्त-सेवनका उपदेश देंगे ही, परंतु हम भला ऐसे मूर्ख थोड़े हैं कि सामनेके लहराते हुए संसार-सुखकी अनन्त अपार राशिको ठुकरा दें।

'रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्।

संसारके सुख और भोगकी प्राप्तिके लिये हम आज विनाश—सर्वनाशके पथपर सरपट भागे जा रहे हैं। संग्रह-परिग्रहका भूत सिरपर सवार है और हमने जगत्-पिशाचसे ग्रस्त होकर बुद्धिभ्रंशके कारण पदार्थोंमें सुख मान रखा है। अमुक वस्तुको जुटाओ, उसमें सुखकी प्राप्ति होगी, इस वस्तुका संग्रह करो, उससे सुखका अमृत झरेगा। यह जुटाओ, वह जुटाओ, इसका संग्रह करो, उसका परिग्रह करो—बस अब क्या, अब तो एक क्षणमें अभी सुख बरसनेहीवाला है। एक पग आगे बढ़ाया कि सुखका लहराता हुआ समुद्र चरणोंमें लोटेगा। कैसी शीतल लहरें आ रही हैं। यह सुखद शीतल स्पर्श। इस ओरसे सुखकी बाढ़ उमड़ी आ रही होगी—हम जी भरकर सुख लूटेंगे। अपने तो लूटेंगे ही, अपने बाल-बच्चोंके लिये भी सुखका संग्रह कर जायँगे। उनके लिये सुखकी इतनी सामग्रियाँ इकट्ठी कर जायँगे कि वे सुखमें डूबे ही रहेंगे, कभी सुखका अभाव होगा ही नहीं। बस क्या है—यह जमा करो, उसे जुटाओ, यह बनवाओ, यह तैयार करो, इसे मारो, उसे मिटाओ—हम अपने सुखका एक भी बाधक नहीं रहने देंगे और उसकी जितनी भी साधक सामग्रियाँ

होंगी, उन सबका संग्रह कर लेंगे—फिर भय काहेका, चिन्ता किस बातकी ?

विनाशके पथपर द्रुतगतिसे दौड़नेवालोंमें एक बड़ी विकट प्रतियोगिता, एक विचित्र होड़-सी लगी हुई है ! हम अपने सर्वनाशकी सारी सामग्री जुटाकर ही संतुष्ट नहीं होते। हम देखते हैं कि हमसे आगे दौड़नेवालेके पास अधिक सामग्री है, अधिक परिग्रह है—जिसे हम वैभव-ऐश्वर्य कहते हैं, सुखके बहुत अधिक साधन और सामान विद्यमान हैं—फिर क्यों न हम उन साधनोंको भी इकट्ठा कर लें, क्यों न जीवनका 'सदुपयोग' और 'सद्व्यय' कर लें। अपने लिये सभी सामान इकट्ठा कर लिया तो क्या हुआ—बाल-बच्चोंके सुखका कोष कभी खाली न पड़ने पावे, यह देखना भी तो हमारा ही कर्तव्य है। कोई भी अपनी स्थितिसे—चाहे वह कितनी भी ऐश्वर्यमयी क्यों न हो—संतुष्ट नहीं है। जिसके पास महल-अटारी है,वह ऐसे ही दस-बीस और चाहता है—वह भी यदि हो गया तो इच्छा और तृष्णा फिर असंख्य-गुना बढ़ी और फिर !! तृष्णाका भी कहीं ओर-छोर है ? मरीचिकाकी भी कहीं 'इति' है ? जिसके पास मोटर है वह हवाई जहाजके लिये तड़प रहा है, जिसके पास हवाई जहाज है वह साम्राज्य स्थापित करनेकी ज्वालामें झुलस रहा है, जिसे साम्राज्य है वह संसारपर अपना एकच्छत्र शासन चाहता है !!! इसी वृत्तिका नाम जड-उपासना है।

जड-उपासना, शिवको छोड़कर शवकी आराधना पाश्चात्त्य संस्कृतिके विष-वृक्षका फल है। आज तो समस्त संसार इस ज्वालामें झुलस रहा है और लोग इसे सुखका सुन्दर अमृत-निर्झर मानकर इसमें आकण्ठ डूबे हुए हैं। जड सभ्यताने आत्माके स्थानपर शरीरकी, परमात्माके स्थानपर जगत्की, आत्मकल्याणके स्थानपर सर्वनाशकी और विश्व-कल्याणके स्थानपर संहारकी प्रतिष्ठा की है। सब अपनी ही ऐश्वर्यवृद्धिमें व्यस्त हैं—मानो किसीको दूसरेकी ओर देखने, उसके सुख-दुःख सुननेका कोई अवकाश ही नहीं है। दूसरेको गिराकर, जगत्के सभी प्राणियोंको मिटाकर उसकी छातीपर हम अपने ऐश्वर्यका महल खड़ा करना चाहते हैं। ऊँचे-ऊँचे भव्य महलोंके पड़ोसमें टूटी-फूटी झोपड़ियाँ; विलास, वैभव और नाच-रंगके पास ही भीषण दरिद्रताका करुण आर्त-चीत्कार, मोटरोंकी धूलमें गड़े हुए कंगाल नर-नारियोंके करुण कङ्काल, तोप, मशीनगन और हवाई जहाजोंकी अग्नि-वर्षामें पति और पुत्रको खोकर, तड़पती हुई विधवा और अनाथिनीका हृदयवेधक हाहाकार, प्रभुओंका दीन-हीन किसानोंपर रौरव अत्याचार, धनमदमें झूमते हुए, वेश्या और वारुणीमें डूबे हुए बाबुओं और मालिकोंके प्रमत्त अट्टहासके साथ दाने-दानेके लिये तरसते हुए, लज्जा ढकनेभरके वस्त्रके लिये बिलखते हुए लाखों नर-नारियोंका गगनभेदी करुण-क्रन्दन—इस पाश्चात्त्य संस्कृतिके विष-फल हैं। पुरुषोंमें व्यभिचार और स्त्रियोंमें वेश्यापन—इस सभ्यताका आदर्श है। समस्त प्रकारके संयम-नियम हटाकर, सब तरहके बन्धन और मर्यादाको तोड़कर विलासिता, व्यसन, पापाचार, सुखसम्भोगमें आत्मविस्मृत रहना, यही आधुनिक जड सभ्यताका पुण्य-फल है। और आश्चर्य तो यह है कि इसे ही हम मान रहे हैं—उन्नति, विकास, सुधार और सुख-वृद्धि ! पुरुषोंके हिस्से नृशंसता और स्त्रियोंके हिस्से उच्छृङ्खलता और स्वेच्छाचारिता पड़ी है। सिनेमा-थियेटरोंमें रूपका जाल बिछाकर, नग्न सौन्दर्यकी वारुणी पिलाकर क्वारी लड़कियाँ और मिसें अपने कला-ज्ञानका बहुत सुन्दर परिचय दे रही हैं। पुरुष अपनी माँ-बहिनोंपर भी पापपूर्ण दृष्टि डालते हुए संकोच नहीं करता। पुरुष नारीको अपने विलास-भोगकी सामग्री समझे हुए हैं और नारी अपने रूप-सौन्दर्यके बलपर पुरुषोंको पतनके गह्वरमें गिरानेकी वस्तु। एक ओर वैभव-ऐश्वर्यका प्रमत्त अट्टहास है, दूसरी ओर दरिद्रता, नग्नता, अपमान और प्रताड़नाका नग्न नृत्य !!

पाप, अत्याचार, उत्पीडन और उच्छृङ्खलताका संसारकी छातीपर जब ताण्डवनृत्य होने लगता है और इसके कारण जब विषमता और विरोधकी विभीषिका विश्वको जलाने लगती है—संसारमें हाहाकारका दारुण चीत्कार होने लगता है, तब भगवान् शङ्करका क्रोधस्फीत तीसरा नयन खुलता है, जिससे अग्निकी धारा-सी फूट पड़ती है और जिसमें पड़कर सारी विषमता, सारा विरोध, सारे पाप-ताप-अत्याचार भस्म हो जाते हैं। मानवताके इस विध्वंसमें भी प्रभुका कल्याण-भाव ही है और वे मन्द-मन्द मुसका रहे हैं। इस विध्वंस-लीलाके अनन्तर नवीन सृष्टि, नवीन रचना होती है, जिसमें पुनः शुद्ध

प्रज्ञा और निर्मल विवेकका अवतार होता है।

चरकसंहिताके 'विमानस्थानम्'-प्रकरणके तृतीय अध्यायमें जनपदध्वंसनका वर्णन आया है। एक समय भगवान् पुनर्वसु आत्रेयने अपने शिष्य अग्निवेशसे कहा कि नक्षत्र, ग्रह, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, पवन और दिशाओंकी प्रकृतिमें विकृति आयी-सी मालूम होती है। मालूम होता है, थोड़े दिनों बाद ही पृथ्वी और औषधोंका गुण जाता रहेगा और इस कारण लोग नित्यरोगी हो जायँगे, इसके फलस्वरूप जनपदका उद्ध्वंसन उपस्थित होगा।

मनुष्यकी प्रकृतिमें विभिन्नता होनेपर भी उनके अंदर कुछ समानता है और उस समानताके कारण ही समान कालमें समस्त व्याधियाँ उपस्थित होकर जनपदका नाश करती हैं। उल्कापात, निर्घात और भूकम्प इसके लक्षण हैं। गुरुकी भविष्यवाणी सुनकर शिष्यको बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने प्रश्न किया—ऐसी विकृति और तज्जन्य जनपदध्वंस क्यों उपस्थित होता है?

इसका उत्तर भगवान् आत्रेय देते हैं— वायु आदिमें जो वैगुण्य उपस्थित होता है उसका कारण अधर्म है। पूर्वकृत असत् कर्म ही उसके कारण हैं। उस अधर्म और असत् कर्मका घर है प्रज्ञापराध—बुद्धिका दोष। जब देश, नगर और जनपदके अध्यक्ष धर्मका परित्याग कर अधर्मपथसे प्रजा-पालन करते हैं, तब उनके आश्रित-उपाश्रित, पुरवासी, जनपदवासी और व्यवहारोपजीवी (वकील, मुख्तार) उस अधर्मकी वृद्धि करते हैं। उस अधर्मके उत्पन्न होनेसे धर्म अन्तर्हित हो जाता है। उसके बाद उन सब धर्मविहीन लोगोंको देवता छोड़ देते हैं। इस तरह मनुष्यके धर्मविहीन, अधर्मपरायण और देवताओंद्वारा परित्यक्त होनेके कारण सब ऋतुएँ विकृत हो जाती हैं। अतएव देवता यथासमय वर्षा नहीं करते, अथवा विकृतरूपमें करते हैं। वायु सम्यग्रूपमें नहीं प्रवाहित होता, भूमि विकृत हो जाती है, पानी सूख जाता है, औषध अपना स्वभाव छोड़कर विकृत हो जाते हैं। अन्तमें समाज उस वायु, जल, भूमि और औषधके स्पर्श, पान और भोजनके कारण ध्वंसको प्राप्त होता है। युद्धके कारण भी मनुष्यका ध्वंस होता है, किंतु उस युद्धका मूल भी अधर्म ही है। मनुष्योंमें लोभ, क्रोध, रोष और अभिमान अत्यन्त बढ़ जानेसे वे दुर्बलोंका अपमान करके आत्मीय स्वजन और दूसरोंका नाश करनेके लिये एक-दूसरेपर शस्त्रद्वारा आक्रमण करते हैं। अधर्म अभिशापका भी कारण है। धर्मविहीन मनुष्य धर्मभ्रष्ट होकर गुरु, वृद्ध, सिद्ध, ऋषि और पूज्योंका अपमान करके अहित साधन करते हैं। फिर वे सब लोग गुरु आदिके अभिशापसे भस्म हो जाते हैं।

ऐसे संकटकालमें बचनेका क्या उपाय है? किस तरह इस ध्वंससे त्राण मिले? भगवान् आत्रेय इस महामारीसे बचनेका उपाय इस प्रकार बतलाते हैं—

सत्यं भूते दया दानं बलयो देवतार्चनम्।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः॥
हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम्।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्॥
शङ्कया धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम्।
धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसम्मतैः॥
इत्येतद् भेषजं प्रोक्तमायुषः परिपालनम्।
येषां न नियतो मृत्युस्तस्मिन् काले सुदारुणे॥

ऐसे सुदारुण जनपदध्वंसकालमें इन दवाओंसे ही रक्षा हो सकती है—सत्याचरण, सब भूतोंके प्रति दया, दान, बलि, देवार्चन, सद्वृत्तका अनुष्ठान, आत्मगुप्ति (मन्त्रोंद्वारा आत्मरक्षा), पुण्यवान् जनपदसमूहका उपसेवन (अर्थात् देशपरिवर्तन), ब्रह्मचर्यपालन, ब्रह्मचारियोंके आश्रयमें रहना, धर्मशास्त्र तथा जितात्मा महर्षियोंका आज्ञापालन और वृद्धजनपूजित धार्मिक और सात्त्विक लोगोंका सहवास।

आज संसारमें युद्धके बादल मँडरा रहे हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रके, एक देश दूसरे देशके सर्वनाशकी तदबीरें सोच रहा है और उसके लिये विषैली गैसों, नये-नये प्रकारके हवाई जहाजों, मशीनगनों तथा तोपोंका आविष्कार बड़ी तत्परतासे हो रहा है। अधर्म, पापाचार, विध्वंस, स्वेच्छाचारिता, अदूरदर्शिताका भीषण उत्पात सर्वत्र हो रहा है। क्या इनसे भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं? क्या इस जनपदध्वंस-प्रक्रियामें हम देवताओंके विरुद्ध असुरोंका ही साथ देते रहेंगे? अथवा दैवी सम्पत्तिकी अभिवृद्धि कर पुनः रामराज्यकी स्थापनामें सहायक होंगे?

पातिव्रतयोग

(पं॰ श्रीप्रेमवल्लभजी त्रिपाठी)

अनादि संसृतिपारावारमें मायानिर्मित सुख-दुःख-मोहात्मक प्रपञ्चके बन्धनसे परवश हुआ जीव तबतक स्वतन्त्र और अनन्त सुखी कदापि नहीं हो सकता, जबतक कि वह अनन्तकोटिब्रह्माण्डाधीश्वर, निराकार, निर्विकार परब्रह्मका साक्षात्कार न कर ले। उसके साक्षात्कारके लिये यज्ञ, तपस्या, दान, यम, नियम, स्वाध्यायादि अनेक उपायोंमें योग एक सर्वश्रेष्ठ उपाय है। धर्मशास्त्रके उपदेशक-शिरोमणि योगिराज श्रीयाज्ञवल्क्यजी आत्मसाक्षात्कार करनेके लिये अनेकानेक धर्मोंका निरूपण करते हुए योगमार्गद्वारा आत्मसाक्षात्कार करना परमधर्म बतलाकर योगकी सर्वश्रेष्ठता प्रदर्शित करते हैं—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।

—तत्तद् अधिकारियोंकी तत्तद् भावनानुसार वेदशास्त्रोंमें योगके नाना प्रकारके भेद वर्णित किये गये हैं। अतः प्रत्येक पुरुष अपने-अपने वर्ण, आश्रम और भावानुकूल अधिकारोंके अनुसार योगका आश्रय लेकर उस परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

स्त्रियोंके लिये इसी परमपदको प्राप्त करनेका एकमात्र साधन 'पातिव्रत' (योग) है। वास्तवमें पातिव्रत योग ही है। विचार करनेपर पता लगता है कि योग और पातिव्रतमें तथा उनकी साधनप्रणालीमें किञ्चित् भी अन्तर नहीं है। क्योंकि **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'**—चित्तकी चञ्चल वृत्तियोंको असन्मार्ग (विषयों) से हटाकर भगवान्‌की किसी सगुण या निर्गुण मूर्तिमें उसे स्थिर करना ही योग है। तब क्या चित्तवृत्तिसहित बहिर्मुख इन्द्रियोंको असन्मार्गसे हटाकर अपने पतिदेवमें ही स्थिर करना, यह स्त्रियोंका पातिव्रतयोग नहीं है?

जिस तरह यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारादि-द्वारा चित्तको भगवत्परतन्त्र रखना ही पुरुषोंके योगका साधन कहा गया है, इसी तरह पतिके ही निमित्त अपनी सब कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाएँ करते हुए सर्वथा पतिके परतन्त्र रहना ही स्त्रियोंके पातिव्रतयोगका परमसाधन बतलाया गया है। भगवान् मनुने स्पष्ट निर्देश दिया है कि स्त्री अपनी बाल्यावस्थामें पिताके अधीन, युवावस्थामें पतिके अधीन, पतिके दिवङ्गत हो जानेपर अपने पुत्रादिके अधीन रहे। पूर्ण स्वतन्त्र कभी न रहे—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम्॥

(मनु॰ ५।१४८)

अतएव स्त्रीकी स्वतन्त्रताका सर्वथा ही निषेध किया गया है—

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित् कार्यं गृहेष्वपि॥

(मनु॰ ५।१४७)

अर्थात् 'स्त्री बालिका हो या युवती अथवा वृद्धा—उसे पूर्ण स्वतन्त्रतापूर्वक बिना घरवालोंकी अनुमतिके कोई भी महत्त्वका कार्य नहीं करना चाहिये।'

पुरुषोंके लिये साकार तथा निराकार-भेदसे दो तरहकी ईश्वरीय उपासना कही गयी है, किंतु स्त्रियोंके लिये स्वतन्त्र रीतिसे इस उपासनाकी आज्ञा न देकर केवल एक पातिव्रतरूप सगुणोपासना ही वेद-शास्त्रोंमें कही गयी है। यद्यपि गार्गी, मैत्रेयी आदि विदुषी स्त्रियोंने भी ज्ञानमार्गद्वारा निर्गुण ब्रह्मकी और गोपियाँ, मीराबाई प्रभृति स्त्रियोंने भक्ति-मार्गका अवलम्बन ले सगुण ब्रह्मकी उपासना करके पुरुषोंके समान स्वतन्त्र रीतिसे आत्म-साक्षात्कार किया, परंतु ये सब ज्ञानाधिकार और भक्त्यधिकार असाधारण कोटिके हैं। गार्गी, मैत्रेयी, गोपीजन, मीरा प्रभृति स्त्रियाँ साधारण कोटिकी नहीं थीं। इनमें कोई तो श्रुति और कोई देवियाँ और कोई ऋषिका थीं, जिन्होंने किसी कारणवश ही स्त्री-शरीर ग्रहण किया था। अतः उनके लिये ही यह असाधारण धर्म सम्भव था, स्त्रीजाति-मात्रके लिये नहीं। इस दृष्टिसे गार्गी, मैत्रेयी प्रभृति स्त्रियाँ स्त्री-जातिकी आदर्श नहीं हो सकतीं। स्त्रियोंके आदर्श अरुन्धती, अनसूया, सीता, सावित्री, गान्धारी आदि हैं, जिन्होंने अपने पति भगवान्‌को ही स्वात्म-समर्पण करके, उपास्य-उपासकभावसे आजन्म उन्हींकी सेवामें रहकर, अप्रतिहत शक्तिको पाकर उस परमपदको प्राप्त किया।

यह सर्वथा निर्विवाद है कि अष्टाङ्गयोगके सिद्ध होनेसे बहुकालमें पुरुषको जो शक्ति प्राप्त होती है, उसी शक्तिको स्त्री

अपने पातिव्रतयोगसे अल्पकालमें सहज ही प्राप्त कर लेती है। इस पातिव्रतयोगकी शक्तिका दिग्दर्शन संक्षेपमें कराया जाता है—

(क) जब महाभारतके युद्धमें धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें केवल एक दुर्योधनके शेष रह जानेपर वीर भीमसेनने दुर्योधनको भी मारनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली, तब दुर्योधन अपनी जीवन-आशाको छोड़कर अपनी माताके अन्तिम दर्शन करके रोने लगा। तब पतिव्रताशिरोमणि माता गान्धारीने उसके अमर होनेका उपाय उसे सूचित करानेके लिये धर्मराज युधिष्ठिरके पास भेजा तो धर्मराजने उसे यही उपदेश दिया कि 'भाई ! तू सर्वाङ्ग-नग्न होकर अपनी माताके अभिमुख जा और यदि वह तुझे एक बार अपनी दृष्टिसे देख ले तो फिर तुझे ऐसे हजारों भीमसेन भी नहीं मार सकते।'

धर्मराजके इस उपदेशके अनुसार जब दुर्योधन नग्न होकर माताके पास जाने लगा, तब पाण्डवप्राण श्रीकृष्णजीने अपने किये हुए कार्यको निष्फल समझकर, उसको अपनी योगमायासे समझाकर, पत्तोंकी लँगोटी पहनाकर गान्धारीके पास भेजा। माता गान्धारीने पूछा कि 'पुत्र ! धर्मराजने तुम्हें जैसा उपदेश दिया, क्या तुम ठीक उसी तरह यहाँ आये हो ?' भगवन्मायावञ्चित हतभाग्य दुर्योधनके मुखसे निकल पड़ा कि हाँ, ठीक वैसे ही आया हूँ। तब माताने अपनी आँखोंकी पट्टीको खोलकर जब उसे देखा तो उसे वञ्चित समझकर अपनी पातिव्रतशक्तिसे सब वृत्तान्त जानकर कहा कि—

मार्गे त्वया सम्मिलितोऽधुना किं
कृष्णः किमूचे वचनं वदस्व ।

'हे पुत्र ! मार्गमें क्या तुम्हें श्रीकृष्ण मिले ? और उन्होंने तुमसे क्या कहा, (सो) कहो।' आँखोंपर पट्टी बँधी रखनेवाली माताकी इस प्रकारकी अद्भुत ज्ञानशक्तिको देखकर जब दुर्योधनने चकित होकर इस शक्तिकी प्राप्तिका कारण पूछा तो पतिव्रता गान्धारीने कहा—

योगेन शक्तिः प्रभवेन्नराणां
पातिव्रतेनापि कुलाङ्गनानाम् ।

अर्थात् 'पुरुषोंको योगसे शक्ति प्राप्त होती है और कुलाङ्गनाओंको अपने पातिव्रतसे।' ओह ! कैसा पातिव्रतयोग कि गान्धारीने तत्काल अतीव कुपित होकर उन परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णको भी शाप दे दिया कि—

कृष्ण त्वया मे निहताश्च पुत्रा
नश्यन्तु ते यादवयूथसङ्घाः ।

'हे कृष्ण ! तुमने मेरे पुत्रोंका नाश किया, अतः इसी तरह तुम्हारे यादवगण भी सब नष्ट हो जायँ।'

क्या स्त्रीके पातिव्रतकी यह शक्ति पुरुषके उस अष्टाङ्गयोगशक्तिसे कुछ कम है कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि, स्थिति और संहार करनेवाले—कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथाकर्तुम् समर्थ श्रीकृष्ण भी—

अस्यास्तु शापं पतिदेवताया
न चान्यथा कर्तुमधीश्वरोऽभूत् ।

—इस पतिव्रताके शापको अन्यथा करनेके लिये समर्थ न हो सके।

(ख) चक्रवर्ती महाराजा भोज एक दिन प्रजाकी स्थिति देखनेके लिये रात्रिके समय अपने नगरमें घूम रहे थे, तब उन्होंने किसी मकानकी खिड़कीसे अंदर देखा कि एक स्त्री अपने पति भगवान्‌की पादसेवा कर रही है। निद्रावश होनेसे पति उसके घुटनेपर ही सिर रखकर सो गया था। उसी कमरेके एक दूसरे कोनेमें उनका छोटा-सा बच्चा सोया था। बीचमें एक अग्निकुण्ड था, जिसमें अग्निकी प्रचण्ड ज्वालाएँ लहलहा रही थीं। उसी समय सोया हुआ बच्चा उठकर चिल्लाता हुआ उस अग्निकी ओर आने लगा। माता यह सब देख रही थी, किंतु उसने अपने घुटनेपर सोये हुए पतिदेवको जगानेसे अपने पातिव्रतके नियममें बाधा समझकर, पुत्रकी प्राणरक्षा न कर उसकी उपेक्षा ही कर दी। बहुत छोटा और अनभिज्ञ होनेके कारण वह बालक उस अग्निमें गिर गया।

इधर महाराज भोज निश्चय ही कर चुके थे कि बच्चा अवश्य भस्म हो जायगा, किंतु उस पतिव्रताके शापसे भयभीत हुई अग्नि चन्दनके पङ्कके समान शीतल बन गयी। उस पतिव्रता स्त्रीके पातिव्रतयोगकी अतर्क्य सिद्धि-शक्तिसे चकित होकर कविराज महाराज भोजने—

'हुताशनश्चन्दनपङ्कशीतलः ।'

—यह श्लोकका चतुर्थ चरण बनाकर शेष तीन पादोंकी पूर्तिके लिये कविचक्रवर्ती श्रीकालिदासजीको आज्ञा दी। उन्होंने अपनी अलौकिक बुद्धिद्वारा उसी घटनाके अनुरूप

समस्यापूर्ति कर दी—

सुतं पतन्तं प्रसमीक्ष्य पावके
न बोधयामास पतिं पतिव्रता।
पतिव्रताशापभयेन पीडितो
हुताशनश्चन्दनपङ्कशीतलः ॥

'शिशुको अग्निमें गिरते देखकर पतिव्रता पत्नीने अपने पतिको जगानेका प्रयत्न नहीं किया। इधर अग्नि उसके इस पातिव्रतसे प्रभावित होकर और शापसे भयभीत होकर चन्दनके पङ्कके समान शीतल हो गयी।'

क्या स्त्रियोंका यह पातिव्रतयोग पुरुषोंके उस अष्टाङ्गयोगसे कम है? इसीलिये तो वैदिक-स्मार्त-धर्म-प्रवर्तक, धर्मशास्त्रके आदि उपदेष्टा आदि राजा भगवान् मनुजी इस पातिव्रतकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥

(मनु० ५। १५५)

अर्थात् 'स्त्रियोंके लिये अलग यज्ञ, व्रत, उपवास नहीं है। केवल एक पतिकी सेवा करनेसे वे परमपदको प्राप्त होकर देवताओंद्वारा पूजित होती हैं।'

वास्तवमें इसी एक सहज उपायसे जिस स्त्रीने इस पातिव्रतयोगको प्राप्त कर लिया, फिर उसके लिये कौन-सा कर्तव्य शेष रह गया? वह तो फिर अपने मनुष्यभावको ही त्यागकर, देवभावको प्राप्त होकर जगत्पूज्या लक्ष्मी बन जाती है।

सम्पूर्ण वेद, शास्त्र उसकी क्या ही अच्छी स्तुति गा रहे हैं—

यस्य भार्या शुचिर्दक्षा भर्तारमनुगामिनी।
नित्यं मधुरवक्त्री च सा रमा न रमा रमा ॥

इसका भाव यह है कि 'जिस पुरुषकी पत्नी बाहर-भीतरसे सर्वथा पवित्र, कुशल, पतिका अनुसरण करनेवाली तथा निरन्तर मधुर भाषण करनेवाली हो, वही स्त्री सच्ची लक्ष्मी है और दूसरी कोई नहीं।'

इस पातिव्रतयोगकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है—जिसके प्रतापसे इस भारतवर्षमें ऐसे वीर पैदा हुए जिनके मन इन लौकिक विषयोंसे मुग्ध न होकर अपने लक्ष्यसे किञ्चिन्मात्र भी विचलित नहीं हो सकते थे। महाराज श्रीरामचन्द्रजीने एक समय श्रीलक्ष्मणजीके ब्रह्मचर्यकी परीक्षाके लिये उनसे प्रश्न किया कि 'लक्ष्मण!

पुष्पं दृष्ट्वा फलं दृष्ट्वा दृष्ट्वा यौषितयौवनम्।
त्रीणि रत्नानि दृष्ट्वैव कस्य नोच्चलते मनः ॥

'सुन्दर पुष्प, फल और स्त्रीका यौवन—इन तीन रत्नोंको देखकर किसका मन विचलित नहीं होता?' (क्या नीतिका यह वचन मिथ्या हो सकता है जो तुम अपनेको अखण्ड ब्रह्मचारी समझते हो?) वीर लक्ष्मणने तत्काल इसका उत्तर देते हुए कहा कि—

पिता यस्य शुचिर्भूतो माता यस्य पतिव्रता।
ताभ्यां यः सूनुरुत्पन्नस्तस्य नोच्चलते मनः ॥

'जिसके पिता पवित्र आचरणवाले हों और माता पतिव्रता हो, उनके रज-वीर्यसे उत्पन्न हुए पुत्रका मन चलायमान नहीं हो सकता।'

यही योग और पातिव्रत तो इस भारतवर्षकी अलौकिक सम्पत्ति हैं, जिनके प्रतापसे यहाँके स्त्री-पुरुषोंने क्षणभङ्गुर, सांसारिक आधिभौतिक विषयोंका उपभोग न करके आध्यात्मिक विषयोंकी ही खोजमें अपना तन, मन, धन समर्पण करके उस अखण्ड पदको पहुँचकर **'दिवौकसां मूर्धनि तैः कृतं पदम्'** उस देवपदको भी ठुकरा दिया।

धन्य है भारतभूमिको, जिसमें जन्म लेनेवाले स्त्री-पुरुष पातिव्रत और योगको ही अपनी सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति समझकर उसके द्वारा इस मनुष्यदेहको सफल करके इसको इतना पवित्र कर देते हैं कि स्वर्गलोकनिवासी समस्त देवगण भी इस भारतभूमिके लिये तरस-तरसकर मुक्तकण्ठसे हम भारतवासियोंकी उत्तम महिमा गाया करते हैं—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ॥

(श्रीमद्भा० ५। १९। २१)

धन्य! जिसके प्रतापसे यहाँकी स्त्रियोंके उदरसे ऐसे योगिराज उत्पन्न हुए कि जिन्होंने यहाँकी स्त्रियोंका नाम वीरजननी धराकर भूमण्डलमें यह घोषणा कर दी कि—

नारी नारी मत कहो नारी नरकी खान।
नारीसे सुत ऊपजे ध्रुव प्रह्लाद समान॥

कितने खेदकी बात है और कैसा दुर्भाग्य है कि इसी पातिव्रतयोगको आज हमारी माताओं, बहिनों और कन्याओंने सुधार, स्वातन्त्र्य तथा उन्नतिके नामपर विकृत करना प्रारम्भ कर दिया है!

सबसे उत्तम और अन्तिम साधन—बुद्धियोग

(श्रीतपोवनस्वामीजी महाराज)

परमात्माकी प्राप्तिका उपाय ही योग कहलाता है। यह योग साक्षात् और परम्परासे ईश्वर-प्राप्तिका साधन होनेके कारण फल तथा साधनरूपसे दो प्रकारका है। परमात्मप्राप्तिका साक्षात् साधन बुद्धियोग ही है, अतः वह उत्तम और अन्तिम योग है। परम पुरुषार्थरूप भगवान्की प्राप्ति एकमात्र ज्ञानसे ही हो सकती है। यह श्रुतियों और स्मृतियोंकी एक स्वरसे घोषणा है—

ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति (मु० उ०)।

अर्थात् ब्रह्मको जाननेवाला नित्यमुक्त ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
(श्वेता० उ०)

'आत्माको परमात्मासे अभिन्न जानना ही मोक्षका साक्षात् साधन है, परमात्मप्राप्तिरूप परम पुरुषार्थके लिये इसके अतिरिक्त और कोई साधन है ही नहीं।'

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

अर्थात् 'जिन अधिकारियोंका आत्मविषयक अज्ञान ज्ञानसे नष्ट हो जाता है, उनका वह ज्ञान सूर्यके समान उस वेदान्तप्रसिद्ध परम तत्त्वको प्रकाशित कर देता है।'

'आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर ज्ञानी पुरुष तत्काल ही आत्माकी स्वरूपभूत निरतिशय शान्तिको प्राप्त कर लेता है।'

यदि यह कर्ता-भोक्तारूप दुःखमय संसार रज्जुमें सर्प और शुक्तिमें रजतकी प्रतीति होनेके समान अज्ञान-जन्य ही माना जाता है तो अवश्य इसकी निवृत्ति केवल ज्ञानसे ही हो सकती है। भक्ति, ध्यान अथवा कर्म उस ज्ञानके प्रापक साधन हैं।

मिथ्या ज्ञानसे प्राप्त हुई सुदृढ़ भेद-बुद्धि ही सारे अनर्थोंकी जड़ है। महान् व्यामोहके कारण देह आदिमें प्रकट हुई आत्मबुद्धिके द्वारा जबतक 'मैं कर्ता हूँ', 'भोक्ता हूँ', 'दुर्बल हूँ', 'उन्नत हूँ', 'सुखी हूँ', 'दुःखी हूँ', 'यह सब कुछ मेरा ही है' तथा विधि-निषेध, पुण्य-पाप और इहलोक-परलोक इत्यादि व्यवहार होते रहते हैं, तबतक इसी व्यवहारमें बँधे रहनेके कारण जन्म-मृत्युरूप संसार-समुद्रसे जीवका लेशमात्र भी छुटकारा नहीं हो सकता। और इसीलिये प्रिय-अप्रिय विषयोंकी वेदनासे चित्त चिन्तित रहनेके कारण वह जीव अत्यन्त व्याकुल रहा करता है। जबतक शरीर धारण करना पड़ता है। तबतक स्वप्नमें भी लेशमात्र भी शान्तिका अनुभव नहीं हो सकता—यह निश्चित बात है।

देहधारी होना ही दुःखका मूल है, उस समय जो कभी क्षणिक सुखका अनुभव होता है वह भी दुःखोंसे सम्बन्ध रखनेके कारण दुःख ही है। अतः सम्पूर्ण दुःखोंका मूलभूत जो शरीरग्रहण है, उसका अभाव हो जाना ही परम पुरुषार्थरूप मोक्ष है—यह अनेकों दार्शनिकोंका सिद्धान्त है। इसी आशयका बोधक भगवान् गौतमका न्यायसूत्र भी है—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

इसका तात्पर्य यह है कि भ्रान्तिरूप मिथ्या ज्ञानसे पहले राग-द्वेष आदि चित्तके दोष प्रकट होते हैं, उनसे धर्माधर्ममें प्रवृत्ति होती है, धर्माधर्ममें प्रवृत्ति होनेसे ही देव, मनुष्य और तिर्यग् आदि योनियोंमें जन्म होता है, फिर उससे दुःख होता है। इस प्रकार यहाँ क्रमशः उत्तरोत्तर भावोंमें पूर्व-पूर्व भाव कारण होते हैं। अतः इसी क्रमसे मूलहेतु मिथ्या ज्ञानके नाश होनेपर उसके कार्यभूत रागादि दोषोंकी निवृत्ति होती है, दोषनिवृत्ति होनेपर धर्माधर्मकी प्रवृत्ति नहीं होती, प्रवृत्तिका अभाव होनेसे किसी योनिमें शरीर ग्रहण नहीं करना पड़ता और शरीरके न होनेसे सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है।

ऐसी स्थितिमें सभी विचारकोंका मत यही है कि 'समस्त दुःखोंका एकमात्र कारण मिथ्या ज्ञान ही है।' उस मिथ्या ज्ञानकी निवृत्ति कैसे होगी और उसकी निवृत्ति हो जानेपर नित्य-निरतिशय आनन्दस्वरूप अपने आत्मभूत परमात्मामें स्थिति किस प्रकार हो सकती है? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर भगवान् भाष्यकार यह सूत्रभूत वाक्य कहते हैं—

मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद् भवति।

ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान हुए बिना इस जन्म, जरा, मृत्यु और दुःखरूप अज्ञान-जन्य संसारका विनाश सौ करोड़ कल्पोंमें भी किसी तरह नहीं हो सकता। इससे बढ़कर बुद्धियोगका माहात्म्य क्या कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त जबतक ईश और ईशितव्यका भेद बना हुआ है अर्थात् 'मैं नियम्य हूँ और ईश्वर मेरा नियामक है' इस प्रकार जीव और ईश्वरमें भेदकी कल्पना है तथा ऐसा होनेके कारण ही हाथमें तलवार उठाये हुए स्वामीके सामने सेवककी भाँति पुरुषका जीवन जबतक भयपूर्ण और पराधीन है, तबतक उसे स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त हो सकती है? तथा स्वतन्त्र हुए बिना सुखकी वार्ता भी कैसे की जा सकती है? स्वतन्त्रताके द्वारा ही कृतार्थ हो जानेके कारण जीवको सुख मिलता है—यह सभीका मत है। बड़े खेदकी बात है कि अपनेसे भिन्न नियामक और फलदाता ईश्वरकी कल्पना करके उसके अधीन हो उससे डरते हुए पण्डित पुरुष भी मोहित और दुखी हो रहे हैं! जबतक सम्यक्-रूपसे विचारके द्वारा परमार्थतत्त्वका निश्चय नहीं होता, तबतक अपनेको नियम्य मानकर अपनेसे भिन्न नियामककी अज्ञान-जन्य कल्पना अवश्य ही होगी। अतः परमार्थतत्त्वस्वरूप परब्रह्मका ज्ञान ही नियम्य-नियामकभावसे उसमें आरोपित की हुई अनर्थकी कारणभूत जीव-ईश्वरभेदकल्पनाका नाशक है, इसलिये तत्त्वज्ञान ही सब साधनोंमें उत्तम और विशेष है। जैसा कि सुरेश्वराचार्यने कहा है—

ईशेशितव्यसम्बन्धः प्रत्यगज्ञानहेतुजः।
सम्यग्ज्ञाने तमोध्वस्तावीश्वराणामपीश्वरः॥

अर्थात् अपने आत्माके परम तत्त्वको न जाननेसे ही नियम्य-नियामकभावकी उत्पत्ति होती है। विचारजन्य सम्यक्-ज्ञानके द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर तो यह संसारी जीव हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरोंका भी ईश्वर हो जाता है।

जीव, ईश्वर, जगत् इत्यादि नाना प्रकारकी कल्पनाएँ माया-मोहके ही कारण स्फुरित होती हैं। तत्त्वज्ञानसे माया-मोहकी निवृत्ति हो जानेपर वैसी भेद-कल्पनाएँ नहीं हो सकतीं। उस समय स्वयं ब्रह्मभावको प्राप्त होकर पुरुष नित्य-मुक्त शुद्धस्वरूप अपनी महिमामें विराजमान होता है।

इस प्रकार भेद-कल्पना और उससे प्राप्त होनेवाले संसाररूप अनर्थकी परम्पराके एकमात्र बीज महामोहका अत्यन्त विनाश करके नित्यानन्दस्वरूप परमात्माके साथ एकताकी प्राप्ति करानेका साधन बुद्धियोग ही है। अन्य भक्तियोग, राजयोग, कर्मयोग, लययोग, जपयोग, क्रियायोग और हठयोग आदि जो विविध योग हैं, वे भी क्रम-क्रमसे भगवत्प्राप्तिके लिये परम उपयोगी हैं। उनमें भी भक्तियोग सबसे प्रधान है, क्योंकि वह अन्य योगोंकी अपेक्षा शीघ्र ही बुद्धियोगको उत्पन्न करता है।

गौणी भक्ति और परा भक्तिके भेदसे भक्ति दो प्रकारकी है। यदि परा भक्ति नित्य-निरतिशय निर्विकल्पाद्वैतरूपिणी और भेदकी गन्धसे रहित हो तो वह पूर्वोक्त अद्वैत-ज्ञानरूपा ही है, अतः उसकी मोक्षके प्रति साक्षात् साधनता निषिद्ध नहीं है। इसलिये यहाँ बुद्धियोगके साधन-रूपसे गौणी भक्ति ही विवक्षित है। श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें न्याययुक्त अनेकों श्लोकोंद्वारा उन-उन स्थलोंपर भक्तिके सर्वोत्तम माहात्म्यका वर्णन किया गया है। भागवत-प्रसिद्ध नवधा भक्तिके द्वारा अपनेको प्रिय लगनेवाले भगवान्‌के किसी भी रूपसे उनकी उपासना करनेवाले पुरुष भगवत्कृपासे अपने पाप और चित्तमलके नाश हो जानेपर विशुद्धचित्त होकर शीघ्र ही भगवान्‌के पारमार्थिक निरुपाधिक तत्त्वको जाननेमें समर्थ होते हैं। भक्तोंके मार्गमें जो-जो विघ्न आते हैं, उन सबको दूर करके भक्तवत्सल भगवान् सदा ही अपने भक्तोंका पालन करते हैं, अतः राजयोग आदिसे भक्तियोगका माहात्म्य अवश्य ही विशेष है। क्योंकि भगवान्‌की यह प्रतिज्ञा है—

'न मे भक्तः प्रणश्यति॥'

'मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता।' इस विषयपर **लेखकद्वारा निर्मित बदरीशस्तोत्रमें विचार किया गया है—**

भक्तिर्यदीयसगुणात्मनि शीघ्रशुद्धे
चित्तस्य साधनमतस्तदुपार्जनीयम्।
भक्तो न नश्यति यतोऽवति तं विपद्भ्यो
भक्तप्रियस्तमनिशं स्मर बद्रिकेशम्॥

अर्थात् 'भगवान्‌के सगुण-साकार स्वरूपमें की हुई भक्ति अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक चित्तशुद्धिका कारण होती है, अतः सभी मुमुक्षुओंको चाहिये कि निरन्तर उस भक्तिका उपार्जन करें। क्योंकि परमेश्वरके चरणोंमें जिसने सर्वथा अपना चित्त समर्पण कर दिया है, उसका कभी नाश नहीं होता। जो भक्तवत्सल भगवान् इहलोक और परलोक दोनोंको विनष्ट करनेवाली सभी आपदाओंसे अपने भक्तकी सदा ही रक्षा करते हैं, उन ऐसे माहात्म्यवाले बदरीनाथजीका हे मन ! तू निरन्तर स्मरण कर।'

इसके अतिरिक्त जिस प्रकार भगवान् अभक्तोंको बन्धनका हेतुभूत अज्ञान देते हैं, उसी प्रकार वे ही भक्तोंको चित्तशुद्धिपूर्वक ज्ञान भी देते हैं। अतः तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌की प्रसन्नताके सिवा और कोई भी उपाय नहीं है। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। १०-११)

'मुझमें सदा चित्त लगाये रहनेके कारण जो लोग अनन्य प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, उन्हें मैं शीघ्र ही परम तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझ नित्यानन्दैकरस निर्विशेष अद्वय परब्रह्मको प्राप्त कर लेते हैं। उन भक्तोंपर ही दया करके मैं प्रत्यगात्मारूपसे उनके अन्तःकरणमें रहता हुआ अत्यन्त प्रकाशमय ज्ञानात्मक प्रदीपसे उनके अज्ञान-जन्य आवरणको नष्ट कर देता हूँ।'

तथा जबतक चित्त पापकलापोंसे कलुषित है, तबतक उसमें शुद्धता और शुद्धतासे होनेवाले आत्मप्रकाशकी लेशमात्र भी सम्भावना नहीं है। कीचड़से मलिन हुए जलमें जिस प्रकार सूर्यमण्डलका प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं दीखता, उसी प्रकार पापकलुषित हृदयमें आत्मप्रतिबिम्ब तनिक भी स्फुरित नहीं होता। परंतु कीचड़ धो देनेसे निर्मल हुए चित्तमें सहज ही आप-ही-आप आत्मतत्त्व प्रकाशित होने लगता है।

धर्माधर्मकी मर्यादाके व्यवस्थापक और धर्माधर्मके फलदाता सर्वनियामक परमेश्वरकी प्रसन्नताके साथ ही होनेवाली करुणाके बिना किसीके भी पाप-समूहका नाश नहीं हो सकता। अतः भगवान्‌के अनुग्रहका एकमात्र हेतु उनकी भक्ति ही अन्य सभी कल्याण-साधक योगोंसे श्रेष्ठ है— इसमें कहना ही क्या है ? इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा है—

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥

'भगवान्‌की अनन्य भक्ति करनेसे जिसका चित्त निर्मल हो गया है और चित्तशुद्धि हो जानेसे ही जिसकी विषयोंमें लेशमात्र भी आसक्ति नहीं है, ऐसे पुरुषको ही भगवान्‌के पारमार्थिक स्वरूपका ज्ञान हो सकता है, अन्य किसी साधनसे किसी प्रकार नहीं हो सकता।'

निष्कर्षस्वरूप यह कहा जा सकता है कि 'अनन्यचित्तसे अभ्यास किया हुआ भक्तियोग परम पुरुषार्थकी साधनभूत अद्वैत-बुद्धिका उत्पादक होता है और अनायास ही शीघ्रतापूर्वक फलयोग (बुद्धियोग) का अप्रतिबन्धकभावसे साधक होता है, इसलिये वही सब साधनोंमें परम उत्तम है।'

इसके बाद यम-नियम आदि आठ अङ्गोंसे युक्त, चित्तवृत्तिका निरोधरूप फलवाला राजयोग भी सम्यग्रूपसे आत्मज्ञानका उपयोगी है, इसलिये वह भी उत्तम साधन है।

चित्तशुद्धि होनेके अनन्तर एकाग्रमनसे अखण्ड अपरिच्छिन्न आत्माका निरन्तर चिन्तन करनेवाला पुरुष अपरोक्षभावसे आत्माका अनुभव करता है।

आत्मामें चित्तकी समाधि ही अध्यात्मयोग कहलाता है, उसकी प्राप्ति हो जानेसे बुद्धिमान् पुरुष स्वयंप्रकाश आत्माका साक्षात् अनुभव करके हर्ष और शोक आदिसे रहित हो जाता है।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥

(गीता ६। १३,१५)

अर्थात् 'शरीर, मस्तक और ग्रीवा—इन्हें इस प्रकार

धारण करे, जिससे ये सम एवं अचञ्चल हों और स्थाणु-(ठूँठ पेड़-) की भाँति स्थिर होकर नेत्रोंसे अपनी नासिकाके केवल अग्रभागको देखता हुआ अन्य दिशाओंकी ओर दृष्टि न ले जाकर आत्म-भावनामें संलग्न हो चुपचाप बैठा रहे। योगनिष्ठ पुरुष इस प्रकार एकाग्र-चित्तसे निरन्तर आत्माका अनुसंधान करता हुआ, मुझमें स्थित हो जाना ही जिसका स्वरूप है ऐसी नित्य-निरतिशय परमकैवल्यरूपिणी शान्तिको प्राप्त कर लेता है।'

ऐसी अनेकों श्रुतियाँ और स्मृतियाँ तत्त्वदर्शनके उपाय-रूपसे राजयोगका वर्णन करती हैं। यह योग केवल अद्वैत विज्ञानको ही नहीं, सगुण भक्तिको भी चित्तकी एकाग्रताका सम्पादन करता हुआ सुदृढ़ करता है। इसी आशयका समर्थक शाण्डिल्यसूत्र भी है—

'योगस्तूभयार्थमपेक्षणात् ....'

अर्थात् 'भक्ति और ज्ञान दोनों ही चित्तवृत्तिकी स्थिरताकी अपेक्षा रखते हैं, अतः योग इन दोनोंका निमित्त एवं सहायक होता है।'

जिस प्रकार राजयोग भक्तिका उपकारक है, उसी प्रकार भक्ति भी योगके लिये उपयोगिनी है। अतः इन दोनोंमें परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव-सम्बन्ध है।

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा', 'तस्य वाचकः प्रणवः', 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'—इन पातञ्जलयोग-दर्शनके सूत्रोंका भी यही भाव है कि परमेश्वरमें किये जानेवाले कायिक, वाचिक और मानसिक प्रणिधान—भक्तिविशेषसे संतुष्ट होकर ईश्वर अपने भक्तपर अनुग्रह करते हैं, अतः पाप आदि कारणोंसे होनेवाले विघ्न और प्रतिबन्धकोंके अभाव हो जानेसे उस भक्तको थोड़े ही समयमें समाधि और उसके फलकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। उस ईश्वरका वाचक नाम प्रणव-ॐकार है। प्रणव-मन्त्रका जप और प्रणव-प्रतिपाद्य ईश्वरका चिन्तन ही पूर्वोक्त प्रणिधान (भक्ति) है।

इस प्रकार प्रणव-जप और प्रणवके अर्थभूत परमात्माका भलीभाँति चिन्तन करनेसे अवश्य ही चित्त एकाग्र होता है। तदनन्तर बुद्धिमें स्पष्टरूपसे परमात्मा प्रकाशित होते हैं, अर्थात् परम तत्त्वज्ञानका उद्गम होता है—यह इन तीनों सूत्रोंका सम्मिलित अर्थ है।

इस विवेचनके अनुसार यद्यपि राजयोग और भक्ति-योग परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव-सम्बन्धसे युक्त होनेके कारण कुछ शास्त्रकारोंद्वारा तुल्यप्रधान बतलाये गये हैं, तथापि यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार आदिके द्वारा समाधिलाभ करना अत्यन्त कठिन , दुष्कर, परिश्रमसाध्य तथा अनेक विघ्नोंके कारण विषम कार्य है। अतः भक्तिमार्गपर चलना ही अत्यन्त सरल, सुकर तथा परिश्रम एवं विघ्नोंसे रहित है। इसलिये भक्तियोग ही शीघ्र फलदायक उत्तम साधन है। यही उन महात्मा विद्वानोंका भी सिद्धान्त है, जिन्होंने अनेकों साधनोंका अनुष्ठान स्वयं किया है। इस विषयमें व्यासजीके निम्नाङ्कित वचन ध्यान देने योग्य हैं—

यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना।
तत्फलं लभते सम्यक् कलौ केशवकीर्तनात्॥

'अन्य युगोंमें तपस्या, योग और समाधिसे भी जो फल प्राप्त नहीं होता, वही फल कलियुगमें मनुष्य केवल भगवान्का नाम-कीर्तन करनेसे पा लेता है।'

इस प्रकार यहाँ भक्तियोगकी प्रधानता होनेपर भी चित्त-वृत्तिनिरोधके विषयमें राजयोगका माहात्म्य निषिद्ध नहीं है। सिद्ध योगियोंकी सहायतासे प्राणायाम और प्रत्याहारादि योग-साधनोंका परिशीलन तथा उसके द्वारा समाधिसम्पादन भी कल्याणपदपर आरूढ़ होनेका उपाय होनेके कारण प्रशंसनीय ही है। दुःखके साथ कहना पड़ता है कि जो लोग योगकला-निष्णात सिद्ध-महात्माओंकी सहायताके बिना ही अपनी धृष्टताके कारण केवल पुस्तकोंकी सहायतासे प्राणायामादि योगमार्गपर चलते हैं, वे महान् अनर्थके गड्ढेमें गिरते हैं। उनके इस दुःसाहस और विपरीत बुद्धिपर आश्चर्य होता है।

पूर्वोक्तरूपसे राजयोग और भक्तियोग परस्पर उपकार्य-उपकारकभावसे सम्बद्ध होनेपर भी दोनों ही ज्ञानयोगके उपकारक होते हैं और अद्वैतबुद्धि (ज्ञान) योग किसी अन्यका अङ्गभूत होकर उपकारक नहीं है, अतः वही ईश्वरप्राप्तिका प्रयोजक उत्तम और अन्तिम योग है।

अपने-अपने वर्ण और आश्रमके लिये विहित सभी कर्मोंका ईश्वरार्पणबुद्धिसे अनुष्ठान करनारूप जो निष्काम **कर्मयोग है वह भी रागादि दोषोंको दूर करके चित्त-शुद्धिके**

द्वारा ज्ञानयोगका साधक होता है, अतः वह भी आदरणीय ही है। इस कर्मयोगका स्वरूप और माहात्म्य श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत आदि प्रामाणिक ग्रन्थोंमें विस्तारके साथ उपलब्ध होता है। कुछ प्राचीन कर्मठों और किन्हीं-किन्हीं आधुनिकोंकी भी यह सम्मति है कि 'कर्मयोग ही अन्य सभी साधनयोगोंसे श्रेष्ठ है, अतः उसीका सबको अनुष्ठान करना चाहिये।'

इनके अतिरिक्त अन्य जो क्रियायोग, जपयोग, हठयोग, लययोग आदि हैं, वे सभी परम्परासे बुद्धियोगके लिये उपयोगी होनेके कारण आदरणीय हैं और मुमुक्षुओंको उनका भी अनुष्ठान करना चाहिये।

इन सभी योगोंका मूल कारण क्या है, जिसके प्रभावसे उन-उन योगोंमें पुरुषोंकी प्रवृत्ति होती है और क्रमशः बुद्धियोग-सम्पादनके द्वारा परम कैवल्यकी प्राप्ति होती है? इसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि सभी योगोंका मूल कारण साधु-संग है। साधु-संग ही सभी योगोंका मूलभूत योग है, इसलिये उसे मूलयोग कहा गया है। इस प्रकार सत्संगयोग परम्परासे परम बुद्धियोगका भी कारण है, अतः वही परमसे भी परमयोग है, उसकी उत्कृष्टताका अनुमान कोई भी नहीं कर सकता। अतः समस्त कल्याणों और सभी योगोंका आदिकारण सत्संग ही है। संसाररोगसे पीड़ित हुए मनुष्योंके लिये सत्संग ही सबसे उत्तम ओषधि है। भव-तापसे संतप्त पुरुषोंके लिये सत्संग ही सबसे बढ़कर सहारा है। संसार-सागरमें डूबते हुए लोगोंको सत्संग ही पार लगानेवाला उपाय है।

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २६। ३२)

'जिस प्रकार पानीमें डूबते हुए प्राणियोंके लिये सुदृढ़ नौका ही एकमात्र सहारा है, उसी प्रकार भयङ्कर संसार-समुद्रमें डूबते-उतराते हुए अत्यन्त दीन-दुःखी मनुष्योंके लिये अत्यन्त शान्त ब्रह्मवेत्ता साधु ही सबसे बड़े सहारे हैं।'

पूर्ण योग

(स्वामी श्रीमित्रसेनजी)

'योग'का अर्थ संयोग, मिलन या मेल है। दोका अथवा बहुतोंका एकमें मिल जाना योग है। यह योगसिद्धि वियोगमें होती है। परंतु वियोगसे योगमें आना तो फिर वियोगमें जानेके लिये ही है। ऐसा वियोग और योग अर्थात् योग-वियोग ही संसारी जीवन है, जिसमें देश-कालका अधिकार बना रहता है। ईश्वरी-जीवनमें पूर्ण योग भी है और पूर्ण वियोग भी। इस जीवनमें आना-जाना अथवा कोई परिवर्तन नहीं है, सभी रूप और सभी अवस्थामें यह योग है। यह निश्चित ही है कि ईश्वरीय सत्तासे रहित कोई भी सत्ता नहीं है। परंतु जिसमें यह धारणा और ज्ञान है कि सब विस्तार एक ईश्वरमें ही योग पा रहा है, वह तो अपने जीवनके समस्त विस्तारसे अपने प्रभुमें समाया ही है। उसका संसारी जीवन भी ईश्वरीय जीवन ही है। इस अवस्थाको प्रकट करनेके लिये नदी-सागरका दृष्टान्त प्रसिद्ध है। नदी अपने समुद्रमें पूर्ण योग प्राप्तकर अपने रूप और नामको समुद्रमें मिला रही है। समुद्रमें योग पाकर उसका रूप और नाम समुद्री सत्तामें समा जाता है और जो नदी अपने समुद्रमें योग नहीं पाती, वह अपने रूप तथा नामसे अभावमें आ जाती है। मानो अणुका अपने विभुमें योग पाना ही उसकी सत्ताका सत्यतामें बना रहना है।

अब नदीके इस पूर्ण योगपर विचार कीजिये। वह जिस पर्वतसे निकली है, उसका जो जन्म-स्थान है, वहींसे वह अपने समुद्रमें योग पा रही है। यह स्थिति मध्यकी है, उसकी अविच्छिन्न धारा उद्गमस्थानसे लेकर समुद्रपर्यन्त समुद्रसे सदा युक्त ही है। आदि, मध्य, अन्त किसी भी अवस्थामें वह योगशून्य नहीं है। यही उसका पूर्ण योग है।

इसी प्रकार साधक भी अपने पूर्णरूपमें और सभी अवस्थाओंमें अपने प्रभुमें पूर्ण योग पा रहा है। इसमें स्थूल या सूक्ष्मका भेद ही क्या है? जैसे संसारी दृष्टि अपने सम्मुख जो कुछ है—सब देख रही है, वैसे ही इसमें ईश्वरी सत्ताका देखना है। इसमें अपना देखना सबमें समाया ही है और ऐसी दृष्टि-द्वारा पूर्ण योग ही है। ऐसी स्थूल दृष्टिमें सूक्ष्म दृष्टि भी समायी ही है। पूर्ण आनन्द, पूर्ण उल्लास, पूर्ण उमंग सब पूर्ण-ही-पूर्ण है।

पूर्ण योगका अभिप्राय यह है कि मानो सभी रूपों, सभी

नामों और सभी अवस्थाओंमें अपने प्रभुजी अपना योग-ही-योग दे रहे हैं। किसी भी रूप, नाम या अवस्थामें तनिक-सी भी कुछ ग्लानि या शंका मनमें आ जाय तो समझना चाहिये कि यही योगसे हीनता है। परंतु यह ग्लानि, शंका या नहींका बर्ताव भी अपने प्रभुजीका ही पूर्ण दान है। यह भी पूर्ण योगकी पूर्ति और दृढ़तारूप ही है।

हिरण्यकशिपु श्रीप्रह्लादजीकी भक्तिमें अवरोध करनेवाले होकर भी अवरोधक नहीं थे, वरं उनकी गहरी दृढ़ताका कारण भी प्रभुकी प्रेरणा ही है। यह भी संसारी वियोगकी अवस्थासे पूर्णयोगकी सिद्धिमें पहुँचनेका एक पूर्ण साधन ही है। अपनी प्यारी वस्तुको छीननेवाला ही उस वस्तुमें प्रीति बढ़ानेवाला है।

कृष्णसमीपी पांडवा गले हिमाचल जाय।
कृष्णबिरहिनी गोपियाँ मुक्तिधाम लिया पाय॥

पाण्डवोंका योग बाहरी योग था और गोपियोंका योग बाहरीसे भीतरी योगमें समाकर पूर्ण योग सिद्ध हो गया था। इसी प्रकार सभी योग पूर्ण योगमें समाये हैं।

समत्वं योग उच्यते

(सरस्वतीपुत्र श्रीगोपालजी)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् आसक्तिको त्यागकर समत्वबुद्धिसे कर्म करनेके लिये आज्ञा देते हुए कहते हैं कि हे धनंजय! आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंका आचरण कर। यह समत्वभाव (जो कुछ भी कर्म किया जाय उसके पूर्ण होने और न होनेमें तथा उसके फलमें समभाव रहनेका नाम समत्व है) ही योग नामसे कहा जाता है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २।४८)

यहाँ भगवान्‌ने अर्जुनको कर्मयोगके आचरणकी जो प्रक्रिया बतायी है, उसके अनुसार उनका कहना है कि जब कर्मयोगका साधक अपने द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका त्याग कर देता है, तब उसमें स्वतः ही राग-द्वेष तथा हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंका अभाव हो जाता है। अपनी इस स्थितिपर पहुँचकर ही उसका सिद्धि और असिद्धिमें समानभाव हो जाता है, अर्थात् कर्मकी पूर्णता तथा अपूर्णतामें और अनुकूल तथा प्रतिकूल परिणाममें न वह हर्षित होता है और न शोक करता है। गीतामें ही ज्ञानयोगकी स्थितिका निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥

(५।२०)

यहाँ भगवान्‌ने यह स्पष्ट किया है कि ज्ञानयोगीकी स्थितिमें समभाव हो जानेके कारण उसकी किसी भी वस्तुमें लेशमात्र भी आसक्ति नहीं रहती। इसलिये वह अनुकूलकी प्राप्तिमें न तो हर्षित होता है और न कभी प्रतिकूलकी प्राप्तिमें उद्विग्न। इसी कारण उसके राग-द्वेष आदि सभी दोष समाप्त हो जाते हैं। ज्ञानी भक्तमें भी हर्ष-शोकादि विकारोंका सर्वथा अभाव रहता है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।

(१२।१७)

मूल तात्पर्य है कि जब मनुष्यमें फलासक्ति अथवा आसक्तिके त्याग-जैसा गुण विद्यमान हो जाता है तो फिर उसमें समभावका आना स्वाभाविक है, क्योंकि आसक्तिके त्यागका और समताका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये दोनों ही परस्पर एक दूसरेके सहायक हैं, अतः भगवान् श्रीकृष्णने गीता (२।४८) में सिद्धि तथा असिद्धिमें सम होकर कर्म करनेके लिये कहा है। यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि जब समत्वको ही योग नामसे कहा गया है तो फिर योगमें स्थित होनेके लिये अलगसे कहनेका क्या तात्पर्य है, क्योंकि सिद्धि और असिद्धिमें सम होकर कर्म करनेके अन्तर्गत ही योगमें स्थित होनेकी बात आ जाती है।

इस सम्बन्धमें बात कुछ ऐसी है कि कर्मयोगीकी अवधि है—समभावका स्थिर हो जाना। इसलिये भगवान्‌ने यहाँ यह भाव दर्शाते हुए कि योगमें स्थित होकर कर्म कर अर्थात् अर्जुन! तुझे केवल सिद्धि और असिद्धिमें ही समभाव नहीं रखना है, किंतु प्रत्येक क्रियाको सम्पादित करते समय किसी

भी पदार्थमें तथा किसी भी कर्ममें या उसके फल अथवा किसी प्राणीमें नित्य ही समभावसे स्थित रहना चाहिये। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने यहाँ योगकी परिभाषामें उसका अर्थ स्पष्ट किया है कि समताका नाम ही योग है तथा किसी भी साधनके द्वारा समत्वको प्राप्त कर लेना ही योगी बनना है। भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञानियोंके समत्वभाव और उनकी महिमाको इस प्रकार बताते हैं—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(गीता ५।१९)

अर्थात् जिनका मन समत्वभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है (वे जीते हुए ही संसारसे मुक्त हैं) क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम हैं, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित हैं। इसलिये समता परमपिता परमेश्वरका साक्षात् स्वरूप है।

रामचरितमानसके अयोध्याकाण्डमें श्रीराम-सीताको जमीनपर सोते हुए देखकर निषाद जब बहुत दुःखी हुआ तो लक्ष्मणजीने उससे श्रीरामके सम्बन्धमें कहा—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥

(रा० च० मा० २।९३।७-८)

यहाँ भी तुलसीदासजीने रामकी भेदशून्य स्थिति बतायी है। यानी राम 'सम' हैं। उधर गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

सभी प्राणियोंपर मेरी समान कृपा-दृष्टि है। न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय। कहनेका तात्पर्य यह है कि समता ही साधककी पूर्णता या पराकाष्ठा है। समभाव या समता आ जानेपर अन्य श्रेष्ठ गुण भी उसमें स्वतः ही आ जाते हैं। समता जीवका स्वाभाविक गुण है, जिसे गीतामें योग नामकी संज्ञा दी गयी है, जिस योगका स्वल्प मात्र साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

(गीता २।४०)

जन्म-मृत्युका भय उनको ही होता है जिनका मन समत्व-रूप परमेश्वरमें स्थित नहीं है। किंतु जो उस समत्व-रूप परमपिता परमेश्वरमें स्थित हैं, उनके लिये तो भगवान् घोषणा करते हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२।७)

ऐसे प्रेमी भक्तोंका शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-सागरसे उद्धार करनेवाला होता हूँ। सांख्ययोगमें श्रीकृष्ण कहते हैं—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

(गीता २।५३)

जब तेरी बुद्धि अनेक प्रकारके सिद्धान्तोंको सुननेसे विचलित हुई परमात्माके स्वरूपमें अचल और स्थिर ठहर जायगी, तब तू समत्वरूपयोगको प्राप्त होगा अर्थात् परमात्मासे तेरा नित्य संयोग हो जायगा। मनुष्य या जीवका प्रकृतिके साथ जो संयोग है, वह अनित्य है और परमात्माके साथ जो संयोग है वह नित्य है, प्रकृतिके साथ संयोगमें विषमता है जिसे मनुष्य स्वयं पैदा करता है, जो कृत्रिम तथा नाशवान् है किंतु दूसरी ओर मनुष्यका परमात्माके साथ संयोग अविनाशी है। इसके बीजका कभी नाश नहीं होता। जन्म-जन्मान्तर यह संयोग बना रहता है। **'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'** (गीता २।४०) तथा फिर वह आगेके जन्ममें भी अनायास ही समत्व-बुद्धियोगके संस्कारोंको प्राप्त हो जाता है—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।

(गीता ६।४३)

आत्माका स्वभाव समता तथा परमेश्वरकी प्राप्ति है। परमात्माको प्राप्त हुए कर्मयोगी, भक्तियोगी तथा ज्ञानयोगीमें समता या समत्व-भाव ही एक असाधारण लक्षण बताया गया है। बिना समत्व या समताके न साधन ही पूर्ण है और न सिद्धि ही। सिद्ध पुरुषमें समत्व नहीं तो वह सिद्ध कैसा ? ज्ञानमार्गमें भी ऐसे समभाव रखनेवाले साधक मोक्षके अधिकारी होते हैं। **'समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥'** (गीता २।१५) अर्थात् जिस धीर पुरुषमें विषयोंके संयोग-वियोगसे राग-द्वेष और हर्ष-शोकादि नहीं उत्पन्न होते हैं, वह परमात्माकी

प्राप्तिका पात्र बन जाता है। इसलिये परमेश्वरका संयोग ही सत्य है, क्योंकि वे नित्य सर्वत्र व्याप्त हैं और संसार तो मायामय है। सत्‌का कोई अभाव नहीं है तथा असत्‌का कुछ अस्तित्व नहीं है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (२।१६)

फिर किसी भी कार्यका आरम्भ होता है और समाप्ति भी होती है। कर्मफलका संयोग और वियोग दोनों ही निश्चित हैं, पर जीवात्मा ज्यों-का-त्यों ही रहता है। योगीका समताके साथ जो संयोग है, वही नित्ययोग है। भगवान्‌ने गीता (१२।२०) में बताया है कि इस धर्ममय अमृतको निष्काम-भावसे सेवन करनेवाला मुझे अतिशय प्रिय है। गीता(१४।२४-२५) में गुणातीत पुरुषके लक्षणोंको प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि योगी निरन्तर आत्मभावमें स्थित दुःख-सुखमें, मिट्टी-पत्थर और स्वर्णमें, प्रिय तथा अप्रियमें, अपनी निन्दा-स्तुतिमें, मान-अपमानमें, शत्रु और मित्र—सबमें समभाव रखता है। गीता (६।७—९) में एक सिद्ध कर्मयोगीकी भी यही स्थिति बताते हुए उसमें समत्व-भाव बताया गया है।

रामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें तुलसीदासजी कहते हैं—

निंदा स्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रान प्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥

(रा० च० मा० ७।३८)

बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥

(रा० च० मा० ७।४६।५-६)

भगवान्‌ने गीता (१२।१८-१९)में एक सिद्ध भक्तके लक्षणोंसे समता बताते हुए '**समः शत्रौ च मित्रे···· प्रियो नरः**' यही संदेश दिया है। छठे अध्यायके श्लोक सातसे नौमें पदार्थ आदिमें समभाव रखनेवाले एक सिद्ध कर्मयोगीकी स्थिति इस प्रकार बतायी गयी है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

गीतामें इस प्रकारके समत्वभावके उदाहरण भरे पड़े हैं। तत्त्वज्ञानीकी स्थिति बताते हुए (५।१८में) कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समान-रूपसे एक परमात्माका ही दर्शन करते हैं। व्यावहारिक दृष्टिसे इन पाँचों प्राणियोंमें विषमता अनिवार्य है। एक योगीकी स्थिति बताते हुए (६।३२में) कहा गया है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

जैसे मनुष्य अपने सारे अङ्गोंमें अपनी आत्माको समभावसे देखता है, वैसे ही जो योगी अपने ही समान सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है,वह सुख और दुःखको भी सम देखता है और वही योगी परम श्रेष्ठ है। भाव यह है कि सर्वत्र आत्मदृष्टि हो जानेके कारण समस्त विराट् विश्व उसका स्वरूप बन जाता है।

इस समत्वभावसे जो सर्वत्र समदृष्टि रखता है, उसका दृष्टिकोण समष्टिरूप समस्त विश्वमें समभाव है।

अन्तःकरण तथा परमात्मतत्त्व अथवा साधक या सिद्धके दृष्टिकोणसे समत्व (समता) को साधनरूपा और साध्यरूपा संज्ञा दी जाती है। जैसे साधन-रूपा (साधककी समता) के अन्तर्गत कर्मयोगी सिद्धि और असिद्धिमें सम रहकर कर्म करता है—'**सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा**' (गीता २।४८)। इसी प्रकार ज्ञानयोगी सत्-असत्‌का विवेक होनेके कारण सत्-स्वरूपमें स्थित हुआ सदा ही सम रहता है, क्योंकि असत् कभी नित्य नहीं है, जैसे (गीता २।१५-१६)। इसी तरह भक्तियोगीमें भी समभावका दृष्टिकोण भक्तिके द्वारा आ जाता है, जैसे (गीता १२।१३)। मूल बात यह है कि जबतक विनाशी पदार्थोंका महत्त्व अन्तःकरणमें बना रहता है, तबतक स्वतःसिद्ध समताका अनुभव या आभास नहीं हो सकता है, किंतु इसके विपरीत इस महत्त्वके हटते ही समताका प्रादुर्भाव हो जाता है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह कभी असत्‌को महत्त्व न दे, जिससे विषमता उत्पन्न होती है। इसके

विपरीत समताके साथ मनुष्यका नित्ययोग है।

साध्यारूपा समता या सिद्धिके समत्व (समता) के अन्तर्गत कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोगके साधकमें समता स्वतः ही रहती है। साधकमें साधनरूपा समता होनेपर अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख, मान-अपमान, शीत-उष्ण आदिका प्रभाव पड़ता है और उनसे विचलित भी होता रहता है, किंतु जब साधकमें साध्यारूपा समता आ जाती है तो उसे अनुकूल और प्रतिकूलका ज्ञान होता तो है, पर उसका उसपर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता और न ही वह उनसे विचलित होता है। भगवान् श्रीकृष्ण इस स्थितिको दर्शाते हुए कहते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(६।२२)

अर्थात् 'जिस लाभको प्राप्त होकर उससे दूसरा कुछ भी अधिक लाभ नहीं मानता है और जिस अवस्थामें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं होता है।' अतः साध्यारूपा समताके प्राप्त होनेपर स्वतः ही समता आ जाती है। समत्वभाव (समता) में स्थित हुआ पुरुष जिसे गीतामें **'समत्वं योग उच्यते'** कहा गया है, अपनी जीवित-अवस्थामें ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(गीता ५।१९)

इस प्रकार भगवद्गीतामें सम-अवस्थामें रहनेकी स्थितिको योग कहा गया है और इसकी गीतामें बार-बार महत्ता प्रदिष्ट हुई है। यह एक प्रकारकी सिद्धावस्था है और भगवत्प्राप्त पुरुषका लक्षण है।

निष्काम-कर्मयोग

(श्रीरामकृष्णजी मिश्र, पी० सी० एस्०, अपर आयुक्त 'प्रशासन')

मानवके आधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक तापोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिके निमित्त विश्वमें योगविषयक अनेक ग्रन्थ निर्मित हुए हैं, जिनके सम्यक् अनुशीलन-हेतु अत्यधिक समय, धन, परिश्रम एवं शक्तिकी आवश्यकता है। किंतु श्रीमद्भगवद्गीता भगवान्की साक्षात् संक्षिप्त एवं सारगर्भित योगयुक्त वाणी[1] है, जबकि अन्यान्य धर्मग्रन्थोंमें ईश्वरकी वाणी मनुष्यतक पहुँचनेमें किसी-न-किसी माध्यमका आश्रय लिया गया है तथा सम्प्रेषणमें अन्तराल भी हुआ है। गीताके अठारह अध्यायोंमें मुख्य अठारह योगोंके अन्तर्गत बुद्धियोग, ध्यानयोग आदि अनेक भेद हैं, किंतु वे सब मुख्यरूपसे ज्ञान, भक्ति एवं कर्म—इन तीन योगोंमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। आदि-शंकराचार्य ज्ञानयोगको; रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य तथा निम्बार्काचार्य भक्तियोगको और लोकमान्य तिलक आदि महानुभाव कर्मयोगको गीताका मुख्य उपदेश मानते हैं। महात्मा गाँधी अनासक्तियोगके नामसे भक्ति एवं शरणागति-युक्त कर्मयोगको ही प्रधानता देते हैं। वास्तविकता यह है कि गीतामें भक्तियोगको अन्तर्निहित करते हुए केवल दो ही निष्ठाएँ—१-ज्ञानयोग तथा २-कर्मयोग विवेचित की गयी हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें निष्कामयोगके लिये कर्मयोग, योग, नैष्कर्म्य, मदर्थकर्म, तदर्थकर्म, मत्कर्म, समत्वयोग तथा बुद्धियोग आदि शब्द व्यवहृत हैं। यद्यपि श्रीमद्भगवद्गीतामें इस रूपमें यह शब्द कहीं भी प्रयुक्त नहीं है तथापि कामनारहित कर्तव्यकर्मके लिये कर्मयोगके स्थानपर लोकमें निष्काम-कर्मयोग शब्द ही अधिक प्रचलित है। प्रायः सभी टीकाकारगण गीताके द्वितीय अध्यायके बुद्धियोगको निष्काम-कर्मयोगका ही पर्याय मानते हैं। यह निष्काम-कर्मयोग आत्म-साक्षात्कारमें विशेष सहायक माना गया है।

आत्म-साक्षात्कारके दो मार्ग—जगत्में अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार आचरण करनेके लिये गीतामें दो प्रकारकी निष्ठाएँ बतायी गयी हैं। उनमेंसे ज्ञानयोग ज्ञानियोंके

१-'योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम्।', (गीता १८।७५)

लिये तथा कर्मयोग कर्मयोगियोंके लिये हैं। ज्ञानयोग निवृत्ति तथा कर्मयोग प्रवृत्तिमार्ग है।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(गीता ३।३)

ज्ञानयोग—निष्काम-कर्मयोगको समझनेके लिये ज्ञानयोगके स्वरूपको समझना पर्याप्त सहायक होगा। त्रिगुणात्मिका मायासे उत्पन्न गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं, ऐसा समझकर मन, इन्द्रियों तथा शरीरसे होनेवाली समस्त क्रियाओंमें कर्तृत्वके अभिमानसे रहित होकर सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एक ही भावसे स्थित होनेका नाम ज्ञानयोग है। इसीको गीतामें सांख्ययोग, संन्यास तथा कर्मसंन्यास आदि नामोंसे भी कहा गया है। इस योगमें योगी अपनी आत्माका अवलोकन करते हुए परम संतुष्ट रहता है। इस प्रकार उसके लिये कोई कर्तव्य-कर्म शेष नहीं रहता। इस विषयमें तत्त्वज्ञानी याज्ञवल्क्यद्वारा अपनी पत्नी मैत्रेयीको दिये गये ज्ञानका उपदेश द्रष्टव्य है—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

(बृहदारण्यकोपनिषद् ४।५।६)

श्रीमद्भगवद्गीता और मुण्डकोपनिषद्में भी कहा गया है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(गीता ३।१७)

तथा—

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

(गीता २।५५)

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डकोप० २।२।८)

ज्ञानयोग एवं कर्मयोगकी एकता—ज्ञानयोग तथा निष्काम-कर्मयोग साधन-शैलीमें भिन्न-भिन्न होते हुए भी परम तत्त्वकी प्राप्तिमें एक ही हैं और दोनों ही परम कल्याणकारक हैं। परमात्म-तत्त्व-प्राप्तिरूप फल एक ही होनेके कारण दोनोंको एक ही बताया गया है, लेकिन श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार ज्ञानयोगकी अपेक्षा निष्काम-कर्मयोग अधिक श्रेयस्कर है।

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥

(गीता ५।४, २)

ज्ञानयोगसहित अन्य योगोंकी अपेक्षा निष्काम-कर्मयोगके अधिक ग्राह्य होनेके कुछ कारण निम्नाङ्कित हैं—

१-निष्काम-कर्मयोग प्रवृत्तिमें निवृत्तिमार्गकी पुष्टि करता है।

यह गृहस्थ-आश्रमका विशिष्ट योग है। मनुष्य गृहस्थ-आश्रममें रहकर अपने कर्तव्यकर्मोंका पालन करते हुए तथा आश्रमका बिना त्याग किये हुए इस योगके माध्यमसे परमतत्त्वकी प्राप्तिमें समर्थ हो सकता है। भगवान्‌ने गीतामें सूर्य, मनु, इक्ष्वाकु तथा जनक आदि गृहस्थ राजर्षियोंका नाम उद्धृत करते हुए इङ्गित किया है कि कल्पके प्रारम्भमें प्रवृत्ति-मार्गियोंने इस विद्याको जानकर तथा इसके द्वारा निर्दिष्ट मार्गपर आचरण करके सुगमतापूर्वक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति की थी (गीता ४।१-२, ३।२०)।

२-निष्काम-कर्मयोगके आश्रयके बिना ज्ञानयोग भी सरलतासे नहीं प्राप्त किया जा सकता। इसी उद्देश्यसे श्रीमद्भगवद्गीतामें निष्काम-कर्मयोगके बिना ज्ञानयोगकी प्राप्ति भी दुःखपूर्वक होनी बतायी गयी है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ५।६)

३-इस योगका आचरण अन्य योगोंकी अपेक्षा अत्यन्त सुगम तथा व्यावहारिक है। समस्त अवस्थाओं, जातियों, धर्मों एवं सम्प्रदायोंमें इस निष्काम-कर्मयोगका आचरण निर्भयतापूर्वक किया जा सकता है। निष्काम भावनासे किये जानेके कारण इसमें किसी प्रत्यवाय या विपरीत दण्डका भी भय नहीं रहता। अतः यह सब प्रकारसे उपयोगी तथा सुरक्षित योग है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(गीता २।४०)

४-कर्मके विषयमें अर्जुनके मोहित हो जानेसे ही श्रीमद्भगवद्गीताका उपदेश दिये जानेकी आवश्यकता हुई थी।

वह अनुयायीको अरण्यमें चला जाना नहीं सिखाता, अपितु कर्मसे विरत हो रहे अर्जुनको अपने धर्मसे सम्बन्धित युद्ध-कर्मकी ओर ही प्रेरित करता है। यह संसार भी एक युद्ध है, जिसमें निष्काम-कर्मयोगके माध्यमसे कर्म करते हुए परम पदकी प्राप्ति कराना ही गीताका मुख्य उद्देश्य है।

५-तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके पश्चात् यद्यपि ज्ञानयोगीको कर्म करना आवश्यक नहीं है तथापि लोक-संग्रह एवं लोकशिक्षाके लिये आदर्श स्थापनके लिये वह कर्मोंमें प्रवृत्त रहता है। इसी उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये गीतामें स्वयं ब्रह्मा तथा भगवान्‌के द्वारा कर्मोंमें प्रवृत्त रहनेको वरीयता दी गयी है। आदिशंकराचार्य प्रभृति ज्ञानी तथा महात्मा गाँधी, श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका-सदृश महात्मागण लोकशिक्षाके कार्यसे अलग नहीं हुए, क्योंकि लोककल्याण ही उनका एकमात्र उद्देश्य था[२]।

कर्मका स्वरूप

निष्काम-कर्मयोगमें कर्म ही वह कार्यकारी उपादान है, जिसपर इस योगका भव्य प्रासाद निर्मित होता है। यद्यपि कर्मोंकी गति अत्यन्त गहन तथा कठिन है तथापि गीतामें विभिन्न संदर्भोंमें कर्मोंकी निम्न कोटियाँ निर्दिष्ट हैं—

(१) कर्म	अकर्म	विकर्म
(२) सात्त्विक	राजस	तामस
(३) शारीरिक	मानसिक	वाचिक
(४) इष्ट	अनिष्ट	मिश्रित
(५) शुभ	अशुभ	शुभाशुभ
(६) सञ्चित	प्रारब्ध	क्रियमाण

मानसिक भावना ही क्रियाओंके कर्म, अकर्म तथा विकर्म बनानेमें मूल हेतु है। कर्मका स्वरूप एक दीखनेपर भी मानसिक भावनामें अन्तर होनेके कारण उनके स्वरूप तथा परिणामोंमें भी अन्तर आ जाता है। कोई भी क्रिया साधारण कामना रहनेसे कर्म, किसीको अनिष्ट पहुँचानेकी भावना होनेसे विकर्म तथा कामनारहित होनेसे अकर्म या निष्कामकर्म बन जाती है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

(मैत्रायण्युपनिषद् ४। ११)

श्रीमद्भगवद्गीतामें कर्मकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥

(गीता ५। ११, १८। १५)

इसका तात्पर्य यह है कि शरीर, मन और इन्द्रियोंद्वारा की जानेवाली प्रत्येक चेष्टा, व्यापार या हलचलका नाम कर्म है। इस परिभाषामें कर्मकी परिधि इतनी अधिक व्यापक है कि देहधारियोंके द्वारा किसी कालमें सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग किया जाना कदापि सम्भव नहीं है। यथा—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

(गीता ३। ५, १८। ११)

योगः कर्मसु कौशलम्

चूँकि देहधारियोंके द्वारा समस्त कर्मोंका त्याग असम्भव है, अतः निष्काम-कर्मयोग कर्मकी ऐसी युक्ति प्रतिपादित करता है, जिससे शरीर-यात्रा भी चलती रहे तथा इस निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे बन्धन भी न हो। कर्मोंको करनेकी इसी कुशलताका नाम निष्काम-कर्मयोग है—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

(गीता २। ५०)

अब प्रश्न यह उठता है कि कर्मोंको करनेमें वह कौशल या युक्ति क्या है, जिससे प्रवृत्तिमार्गमें रहते हुए भी निवृत्तिमार्गका फल या परमतत्त्वकी प्राप्ति हो जाय। अर्थात् कर्मोंको भुने चनेके समान अङ्कुरणरहित या बन्धनमुक्त कैसे बनाया जाय? निष्काम-कर्मयोगकी इस तकनीककी निम्नाङ्कित विशेषताएँ हैं—

२-नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ (गीता ३। १८, २२)

(१) केवल नियत कर्मका विधान—मीमांसकोंके अनुसार कर्मके दो प्रकार हैं—(१) विहित-कर्म, (२) निषिद्धकर्म। पुनः वेदों एवं शास्त्रोंद्वारा निर्धारित विहित कर्मोंकी भी चार श्रेणियाँ हैं—(१) नित्य, (२) नैमित्तिक, (३) काम्य और (४) प्रायश्चित्त। निष्काम-कर्मयोगमें निषिद्धकर्म (चोरी, व्यभिचार, असत्य, कपट एवं हिंसा आदि) तथा काम्यकर्म (स्त्री, पुत्र, धन तथा यश आदिकी प्राप्ति हेतु कर्म) सर्वथा त्याज्य हैं। नित्य, नैमित्तिक एवं प्रायश्चित्त-सम्बन्धी समस्त विहित कर्मोंको एक व्यक्तिद्वारा किया जाना सम्भव नहीं है। अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार निर्धारित कर्म तथा यज्ञ, दान और तपको नियत कर्म, सहज कर्म या स्वाभाविक कर्म कहा गया है। इहलोक तथा परलोकके सम्पूर्ण भोगोंकी कामनाका सर्वथा त्याग करते हुए श्रद्धा एवं उत्साहपूर्वक इन्हीं नियत कर्मोंका किया जाना इस योगमें अपेक्षित है—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्मज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

(गीता ३।८, १८।४५, १६।२४, १८।५)

(२) फलेच्छाका अभाव—इस योगमें कर्तव्यकर्मोंका किया जाना मानवका स्वाभाविक धर्म है, किंतु उनमें फल-प्राप्तिकी कामना कदापि नहीं होनी चाहिये। परिश्रम, श्रद्धा एवं निष्ठापूर्वक किये गये कर्मका फल तो अच्छा ही होगा। इसी भावनाको दृष्टिगत रखते हुए निम्नाङ्कित श्लोक निष्काम-कर्मयोगका चतुःसूत्री श्लोक कहा गया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २।४७)

इसके अतिरिक्त अन्य श्लोक भी द्रष्टव्य हैं—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

(गीता ४।२०, २।५१, ५।१२, ६।१)

(३) आसक्तिका अभाव—विषयोंका ध्यान करते हुए पुरुषके लिये आसक्ति ही वह प्रथम सीढ़ी है, जिसपर आरूढ़ होकर मानव पतनोन्मुख होकर नष्ट हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें उसके पतनका क्रम यह है कि प्रायः सामान्य व्यक्तिको विषयोंका चिन्तन करते-करते उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, जिससे उनकी कामना उत्पन्न होती है। कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे अविवेक या मूढ़भाव उत्पन्न होता है, जिससे स्मरण-शक्ति भ्रमित हो जाती है। स्मृतिके भ्रमित होनेसे बुद्धिका नाश होता है तथा अन्ततः वह पुरुष अपने साधनसे पतित होकर नष्ट हो जाता है। (गीता २।६२-६३)।

अतः कर्तव्य कर्मोंमें किंचिन्मात्र भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये। आसक्ति ही कर्मबन्धनका हेतु है, जो परमतत्त्वकी प्राप्तिमें त्याज्य है। (गीता ४।२३)।

(४) समत्व-बुद्धि—जिस प्रकार समुद्रमें विभिन्न नदियोंके जल प्रवेश करते हैं, लेकिन उसमें कोई विशेष हलचल उपस्थित नहीं होती, उसी प्रकार इस जगत्‌में रहते हुए निष्काम-कर्मयोगीके मनमें सिद्धि-असिद्धि, जय-पराजय, सुख-दुःख तथा लाभ-हानि आदि द्वन्द्वोंमें भी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। यही समत्व निष्काम-कर्मयोग या समत्व नामक बुद्धियोग है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(२।४८)

(५) सर्वत्र समान व्यवहार—जिस प्रकार मनुष्य अपने शरीरके समस्त अङ्गों—सिर, मुँह, मस्तिष्क, गुदा तथा

उपस्थके विभिन्न कर्मोंको जानते हुए भी उनके सुख-दुःखमें समान व्यवहार करता है, उसी प्रकार निष्काम-कर्मयोगी भी समस्त प्राणियोंमें ब्रह्म-सत्ताका दर्शन करता हुआ उनसे यथोचित व्यवहार करता है तथा किसीसे द्वेष नहीं करता। (गीता ५। १८, ६। ९, ३०)।

(६) काम्य संकल्पोंका भी त्याग—इस योगके अनुयायीके लिये केवल काम्य कर्मोंका ही नहीं, अपितु समस्त काम्य संकल्पोंका भी परित्याग कल्याणकारी है, क्योंकि जब बीजरूप संकल्प[3] ही नहीं होगा तो काम्य कर्मरूप वृक्षकी भी उत्पत्ति नहीं होगी तथा परमतत्त्वकी प्राप्तिमें प्रारम्भसे ही कोई व्यवधान भी नहीं होगा—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

(४। १९)

(७) कर्मोंको भगवान्‌के लिये अर्पण करना तथा शरणागति-भाव—इस योगमें समस्त कर्मोंको भगवान्‌के ही अर्पण किया जाना अपेक्षित है। समस्त कर्म पूर्ण शरणागति तथा समर्पण-भावसे करने चाहिये ताकि उन कर्मोंको करनेसे किसी प्रकारका कोई बन्धन न रहे—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(गीता ९। २७, ४। २४, १८। ६५-६६)

इस प्रकार निष्काम-कर्मयोग मानवकी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक प्रकृतिके सर्वथा अनुकूल है। उससे स्वार्थ तथा परमार्थ, व्यक्ति तथा समाज, इहलोक एवं परलोक सभीका कल्याण-साधन होता है। वैयक्तिक कामनासे रहित होकर विश्वात्माकी कामनासे कर्म करना ही ईश्वरसे तादात्म्य स्थापित करना है। हर प्रकार समझानेके बाद अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको यही उपदेश दिया था कि वह सभी धर्मोंको छोड़कर केवल उनकी शरणमें आ जाय। वे स्वयं उसे समस्त पापोंसे मुक्त कर देंगे। अतः निष्काम-कर्मयोगका भी प्रयोजन मानवका दैवी रूपान्तर करके ईश्वरके कार्यका साधन बनाते हुए समग्र विश्वके वास्तविक कल्याणका मार्ग प्रशस्त करना है।

तिब्बती योग 'लुङ्गगोम' एवं आकाश-सञ्चरण-विद्या

(श्रीब्रह्मानन्दजी द्विवेदी 'आनन्द')

'लुङ्गगोम' तिब्बतकी असामान्य गति एवं आकाशोड्डयन-की विशिष्ट साधना है। वस्तुतः यह एक विशिष्ट प्राणायाम-पद्धति है। इस साधनामें प्रायः विभिन्न सिद्धियाँ अन्तर्भुक्त हैं। इसके अन्तर्गत प्राणायामको मनकी एकाग्रताके साथ संयुक्त किया जाता है। इसके द्वारा साधक सैकड़ों मीलकी दूरी स्वल्प कालमें ही तय कर सकता है। तिब्बतके साधकोंमें यह प्रक्रिया बहुत अधिक प्रचलित थी। ग्यारहवीं सदीके संत कवि मिलारेस्पाके लामा गुरु, स्वयं मिलारेस्पा एवं गुरुभ्राता 'त्रपा' आकाशमें घोड़ेसे भी अधिक तीव्र गतिसे उड़ा करते थे। मिलारेस्पाने स्वयं कहा है कि मैंने एक बार अत्यधिक सुदीर्घ मार्ग जो कि महीनोंमें पार हो पाता, स्वल्प कालमें पार कर लिया। अलेक्जेन्ड्रा डेविड नीलने इस प्रकारके तीन लुङ्गगोम साधकोंको आकाशमें उड़ते हुए स्वयं देखा था।

लुङ्गगोमकी साधनामें शरीरकी सहनशक्तिमें अत्यधिक वृद्धिका अभ्यास किया जाता है। इस प्रक्रियाके सिद्ध होनेपर साधक अनवरत अनेक दिन अहोरात्र तबतक चलते रहते हैं,

---

३-यद्यपि मनुके अनुसार कोई भी कार्य बिना संकल्पके प्रारम्भ ही नहीं हो सकता है तथापि मनुष्य जो भी यज्ञ या कार्य करता है, उसके पहले संकल्पका विधान है। संकल्प कर्मका कारण होता है। यदि वह शुभ हो तो अत्यन्त कल्याणकारी है।

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः। व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्। यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥ (मनु० २। ३-४)

जबतक कि वे अपने निर्दिष्ट स्थलतक नहीं पहुँच जाते। त्सांग प्रान्तका शालूगोम्पा इस साधना-प्रशिक्षणका प्रमुख केन्द्र रहा है। इसके अतिरिक्त भी इसके अनेक केन्द्र हैं।

भारतीय योगशास्त्र भी इस साधनाकी झलक देता है। इसके अनुसार शरीरमें भू-तत्त्व एवं जल-तत्त्वकी मात्रा घटाकर अग्नि एवं वायु-तत्त्वके अंशकी अत्यधिक वृद्धि कर दी जाती है। परिणामतः शरीर अत्यधिक हलका हो जानेके कारण साधक आकाशमें सैकड़ों मील प्रति घंटेकी गतिसे गमन कर सकता है।

इस साधन-प्रक्रियामें किसी अनुभवी गुरुके निर्देशानुसार शिष्यको प्राणायामका अभ्यास करना पड़ता है। फिर साधकको दौड़नेका अभ्यास करना पड़ता है। फिर वह गुरूपदिष्ट मन्त्र-विशेषका कुछ कालतक जप एवं ध्यान करता है। आकाशगमनके समय इसी मन्त्रका साधकको जप करना पड़ता है। इस तारतम्यमें प्रत्येक पद मन्त्र एवं प्राणायामके समपर पड़ना चाहिये। साधकको अपनी दृष्टि गन्तव्य स्थानपर केन्द्रित रखनी चाहिये। सामान्यतः गुरु अपने शिष्यको किसी आकाशके तारेपर अपनी दृष्टि केन्द्रित रखकर यात्रा करनेका उपदेश देते हैं। दीर्घाभ्यासोपरान्त प्रगाढ़ सुषुप्ति एवं योगनिद्रामें सिद्धि प्राप्त कर लेनेपर तारेके अस्त हो जानेपर भी साधक—यात्रीके चक्षु उस तारेमें ही केन्द्रित रहते हैं और उसका ध्यान-प्रवाह भंग नहीं हो पाता। दीर्घाभ्यासके अनन्तर साधकके पैर पृथ्वीका संस्पर्श छोड़ देते हैं और वह वायुमण्डलमें तैरने लगता है। यह एक ऐसी योगनिद्रा है, जिसमें साधकको अपने शरीरका भार अनुभूत ही नहीं होता, क्योंकि वह अत्यधिक हलका हो जाता है।

उपर्युक्त साधनाका अभ्यास संध्याके समय, चाँदनीमें किसी समतल भूमिवाले लंबे-चौड़े रेगिस्तानी मैदानों आदिमें किया जाता है। आरम्भिक साधक दोपहर, तृतीय प्रहर, अरण्य, उपत्यका एवं पहाड़के व्यवधानोंपर विजय नहीं कर पाते और इसी प्रकार तारोंके अस्त हो जानेपर अग्रवर्ती यात्रा भी नहीं कर पाते, वे मार्गमें ही रुक जाते हैं, किंतु अनुभवी गुरुओंके लिये ये व्यवधान भी कोई अर्थ नहीं रखते। कथासरित्सागरकी प्रारम्भिक कथाओंमें इस प्रकार आकाश-गमनकी यात्राओंका कई स्थानोंपर उल्लेख हुआ है। पुराणोंमें भी पादुकासिद्धि, लेपसिद्धि आदिके द्वारा आकाशगमनकी अनेकों कथाएँ मिलती हैं। अतः इस विषयमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये।

बिरले योगी

(स्व० योगिवर्य महात्मा श्रीचिदानन्दजी यति)

अवधु निरपक्ष बिरला कोई, देख्या जग बहु जोई—
सम रस भाव भला चित जाके थाप उथापन होई।
अविनाशीके घरकी बातौं जानेंगे नर सोई॥ अवधु०॥
राव रंकमें भेद न जाने कनक उपल सम लेखे।
नारि नागिनीको नहिं परिचय ते शिवमन्दिर देखे॥ अवधु०॥
निन्दा-स्तुति श्रवण सुनीने हर्ष शोक नवी आणे।
ते जगमें योगीसर पूरा नित चढ़ते गुण ठाणे॥ अवधु०॥
चन्द्र समान सौम्यता जाकी सागर जेम गँभीरा।
अप्रमतें भारंड परैं नित सुर गिरि सम शुचि धीरा॥ अवधु०॥
पंकज नाम धराय पंक सुं रहत कमल जिम न्यारा।
'चिदानन्द' ऐसा जन उत्तम सो साहेबका प्यारा॥ अवधु०॥

वेदमें योगविद्या

(श्रीजगन्नाथजी वेदालंकार)

सभी धर्म-कर्म, योग, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति आदि सत्कर्म वेदोंद्वारा निर्दिष्ट हैं और उनसे ही निःसृत माने गये हैं, यहाँतक कि भविष्यमें होनेवाले ज्ञान-विज्ञान तथा कला-साहित्य आदिका भी वेदोंमें उत्स प्राप्त है—

'भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥'

(मनु० १२। ९७)

यहाँ संक्षेपमें योगमूलक कुछ वैदिक मन्त्रोंका निर्देश किया जा रहा है। योग शब्दका अर्थ है जोड़ना अथवा युक्त करना, समाहित अथवा एकाग्र होना। अपने आत्माको परमात्माके साथ युक्त करना ही योग है और जिस साधनसे इस प्रकारका योग एवं सायुज्य प्राप्त होता है, वह भी योग कहलाता है। योगभाष्यके रचयिता महर्षि व्यास कहते हैं कि पूर्ण एकाग्रतासे परमात्मामें समाहित हो जाना, समाधिकी अवस्था प्राप्त कर लेना भी योग है। अर्थात् 'योग' शब्द साधन और साध्य दोनोंका वाचक है।

ऋग्वेदके एक मन्त्रमें यह शब्द इन्हीं अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है—

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति ॥

(१। १८। ७)

अर्थात् जिन (इन्द्राग्नि) देवताके बिना प्रकाशपूर्ण ज्ञानीका जीवन-यज्ञ भी सफल नहीं होता, उसीमें ज्ञानियोंको अपनी बुद्धियों और कर्मोंका योग करना चाहिये, उसी देवमें उन्हें अपनी बुद्धियों और कर्मोंको अनन्यरूपसे एकाग्र करना चाहिये। उनकी बुद्धि उस देवके साथ तदाकार हो जाती है और वह उनके कर्मोंमें भी ओतप्रोत हो जाता है। अपनी सभी क्रियाओं और चेष्टाओंमें भी उनका चित्त उसके साथ जुड़ा रहता है।

योगके इस प्रधान लक्षणका प्रतिपादन यजुर्वेदके ११ वें अध्यायके प्रथम पाँच मन्त्रोंमें अत्यन्त स्पष्ट और सरल शब्दोंमें किया गया है। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याऽभरत् ॥

सबको उत्पन्न करनेवाले परमात्मा पहले हमारे मन और बुद्धिकी वृत्तियोंको तत्त्वकी प्राप्तिके लिये अपने दिव्य स्वरूपमें लगायें और अग्नि आदि इन्द्रियाभिमानी देवताओंकी जो विषयोंको प्रकाशित करनेकी सामर्थ्य है, उसे दृष्टिमें रखते हुए बाह्य विषयोंसे लौटाकर हमारी इन्द्रियोंमें स्थिरतापूर्वक स्थापित कर दें, जिससे हमारी इन्द्रियोंका प्रकाश बाहर न जाकर बुद्धि और मनकी स्थिरतामें सहायक हो।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या ॥

हम लोग सबको उत्पन्न करनेवाले परमदेव परमेश्वरकी आराधनारूप यज्ञमें लगे हुए मनके द्वारा परमानन्दकी प्राप्तिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्न करें। अर्थात् हमारा मन निरन्तर भगवान्‌की आराधनामें लगा रहे और हम भगवत्प्राप्तिजनित अनुभूतिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्नशील रहें।

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्र सुवाति तान् ॥

वे सबको उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर मन और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंको जो स्वर्ग आदि लोकोंमें, आकाशमें विचरनेवाले तथा बड़ा भारी प्रकाश फैलानेवाले हैं, हमारे मन और बुद्धिसे संयुक्त करके हमें प्रकाश प्रदान करनेके लिये प्रेरणा करें, ताकि हम उन परमेश्वरका साक्षात् करनेके लिये ध्यान करनेमें समर्थ हों। हमारे मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रकाश फैला रहे। निद्रा, आलस्य और अकर्मण्यता आदि दोष हमारे ध्यानमें विघ्न न करें।

इसी प्रकार ऋग्वेदमें कहा गया है—

यूयं तत् सत्यशवस आविष्कर्त महित्वना ।
विध्यता विद्युता रक्षः ॥
गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम् ।
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि ॥

(१ । ८६ । ९-१०)

—इन मन्त्रोंमें गौतम ऋषि मरुद्-देवताओंका आवाहन कर उनसे ज्योति-प्राप्तिकी प्रार्थना करते हैं—'हे सत्यके बलसे सम्पन्न मरुतो ! तुम्हारी महिमासे वह परमतत्त्व हमारे सामने प्रकाशित हो जाय। विद्युत्‌के सदृश अपने प्रकाशसे राक्षसका विनाश कर डालो। हृदयगुहामें निहित अन्धकारको छिन्न-भिन्न कर दो, वह अन्धकार सत्यकी ज्योतिकी बाढ़में डूबकर तिरोहित हो जाय। हमारी अभीष्ट ज्योतिको प्रकट कर दो।'

यहाँ मरुद्देवताओंसे योगपरक अर्थ करनेमें पञ्च प्राण—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यानका भी ग्रहण हो सकता है। इनपर पूर्ण प्रभुत्वकी प्राप्तिसे योगाभ्यासीको शक्तिके आरोहण और अवरोहणका अनुभव और परम तत्त्वका साक्षात्कार प्राप्त होता है। साक्षात्कारसे जिस ज्योतिके दर्शन होते हैं, वही योगीका अभीष्ट ध्येय है।

अथर्ववेदके एक मन्त्रमें राजयोगकी प्राणायाम-प्रणालीसे होनेवाले शक्तिके आरोहणका वर्णन प्रतीकात्मक भाषामें किया गया है—

पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥

(४ । १४ । ३)

—इस मन्त्रमें पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ क्रमशः अन्न, प्राण और मनकी भूमिकाओंके प्रतीक हैं और स्वर्ज्योति मनसे परे स्थित, वाङ्मनस-अगोचर विज्ञानमय भूमिकाका प्रतीक है। प्राणायामसे सिद्धिप्राप्त साधक कहता है कि मैंने पृथ्वीके तलसे अन्तरिक्षमें आरोहण किया, अन्तरिक्षसे द्युलोकमें और आनन्दमय द्युलोकके स्तरसे आरोहण करके मैं स्वर्लोकके ज्योतिर्मय धाममें पहुँच गया। पातञ्जलयोगदर्शनके अनुसार ये भूमिकाएँ विक्षिप्त, सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात और कैवल्य भूमिकाएँ कहलाती हैं।

चेतनाके उत्तरोत्तर आरोहणके क्रममें योगीको जो अनुभूतियाँ होती हैं, उनका वेदोंमें अनेकत्र वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥

(अथर्व० १० । २ । ३१)

—इस मन्त्रमें यह कहा गया है कि 'आठ चक्रों और नौ द्वारोंसे युक्त हमारी यह देहपुरी एक अपराजेय देवनगरी है। इसमें एक हिरण्मय कोश है, जो ज्योति और आनन्दसे परिपूर्ण है।'

वैदिक योगसाधनाका ध्येय है आत्माका परमात्माके साथ ऐक्य। उसके लिये साधककी अभीप्सा निम्नलिखित मन्त्रमें सुन्दर ढंगसे व्यक्त की गयी है—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम् ।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥

(ऋ० ८ । ४४ । २३)

अर्थात् 'हे अग्निदेव ! यदि मैं तू अर्थात् सर्वसमृद्धि-सम्पन्न हो जाऊँ या तू मैं हो जाय तो मेरे लिये तेरे सभी आशीर्वाद सत्य सिद्ध हो जायँ।'

इस प्रकार यहाँ वेदमन्त्रोंके आधारपर योग-सम्बन्धी कुछ रहस्यात्मक तत्त्व संक्षेपमें निर्दिष्ट किये गये हैं। प्राचीन या अर्वाचीन सभी योगमार्ग वेदमूलक ही हैं। वेदोंमें योगके मूलभूत सूत्र शिवसंकल्प-सूक्तमें भी सरल रूपमें सबके कल्याणके लिये निर्दिष्ट हुए हैं। इस सूक्तके उपदेशोंके आधारपर प्राणिमात्रके प्रति मैत्री-भावना और समदृष्टिका अभ्यास करना चाहिये। यह अभ्यास सिद्ध हो जानेपर अपने हृदयके सभी भावोंको भगवान्‌की ओर ही प्रेरित करे, सभी सांसारिक सम्बन्धों और अलौकिक सम्बन्धोंको भगवान्‌के साथ ही जोड़ दे। अनेकों वेदमन्त्रोंमें[1] यह उपदेश दिया गया है कि हमें माता-पिता, पुत्र, मित्र, कलत्र, बन्धु-बान्धव आदि सभी सम्बन्ध अपने सच्चे और अनन्य बन्धु भगवान्‌के साथ ही जोड़ने चाहिये, संसारी जनोंके साथ नहीं। सांसारिक आसक्तियोंको दूर करने और भगवान्‌में परम अनुरक्ति और

१-ऋ० ७ । ३२ । १९, ८ । ९८ । ११, ६ । १ । ५, १० । ४३ । १, ९ । ६१ । ४, १० । १८६ । २; सामवेद ११७० ।

रति उत्पन्न करनेका इससे सरल और सरस मार्ग अन्य कोई नहीं है। हृदयके सभी भावों और निखिल कामनाओंको भगवान्की ओर मोड़ देनेसे ही उनके साथ सारूप्य, साधर्म्य, सायुज्य और ऐकात्म्य सहजतया प्राप्त हो सकता है, जैसा कि भागवतमें स्पष्टरूपसे प्रतिपादित किया गया है—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया।
स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वापि याति तत्तत्सरूपताम्॥
कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः।
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसंत्यजन्॥

(१०।२९।१५, ११।९।२२-२३)

'काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य और सौहार्दके भावों एवं वृत्तियोंको जो लोग नित्य-निरन्तर भगवान्के साथ ही जोड़े रहते हैं, वे उनके साथ सहज ही तन्मयता प्राप्त कर लेते हैं।

यदि प्राणी स्नेहसे, द्वेषसे अथवा भयसे भी अपना मन एकाग्र-रूपसे किसीमें लगा दे तो उसे उसी वस्तुका स्वरूप प्राप्त हो जाता है, जैसे भृङ्गी (भ्रमर) एक कीड़ेको ले जाकर दीवारमें अपने रहनेके स्थानमें बंद कर देता है और वह कीड़ा भयसे उसीका चिन्तन करते-करते अपने पहले शरीरका त्याग किये बिना ही उसी चिन्तन किये गये रूपको प्राप्त कर लेता है—तद्रूप हो जाता है।'

धन्य हैं वे, जो इस प्रकारकी अनन्य एकाग्रताका आश्रयकर भगवान्के साथ तन्मयता प्राप्त कर लेते हैं।

योगोपनिषदोंमें योग-निरूपण

(पं० श्रीवटुकनाथजी शर्मा एम्० ए०, साहित्याचार्य)

योग हिन्दू-जातिकी सबसे प्राचीन तथा सबसे समीचीन सम्पत्ति है। यही एक ऐसी विद्या है जिसमें वाद-विवादको कहीं स्थान नहीं, यही वह एक कला है जिसकी साधनासे अनेक लोग अजर-अमर होकर देह रहते ही सिद्ध-पदवीको पा गये। यह सर्वसम्मत अविसंवादि सिद्धान्त है कि योग ही सर्वोत्तम मोक्षोपाय है। भवतापतापित जीवोंको सर्वसंतापहर भगवान्से मिलानेमें योग अपनी बहिन भक्तिका प्रधान सहायक है। जिसको अन्तर्दृष्टि नहीं, उसके लिये शास्त्र भारभूत है। यह अन्तर्दृष्टि बिना योगके सम्भव नहीं। अतः इसमें संदेह नहीं कि भारतीय तत्त्वज्ञानके कोशको पानेके लिये योगकी कुंजी पाना परमावश्यक है।

वेदबाह्य बौद्ध, जैन आदि भी योगपर उतनी ही आस्था रखते हैं, जितनी श्रद्धा वेदसम्मत-मतानुयायी सामान्य धार्मिक जनता रखती है। अनेक विलक्षण आचारसम्पन्न साधकगण भी योगको ही परमालम्बन मानते थे। हिन्दुओंके नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें भी योगके कितने अङ्ग—आसन, प्राणायाम आदि—व्याप्त देखे जाते हैं। यह एक बड़ी विशिष्ट बात है कि योगका यह प्राधान्य प्राचीनतम कालसे चला आया है।

वेद ही संसारभरके प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। वेदके दो विभाग हैं—मन्त्र और ब्राह्मण—'**मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः।**' मन्त्रोंके संग्रहका नाम संहिता है। मन्त्रोंके विनियोग आदि विषयोंको बतलानेवाला ग्रन्थ ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मणोंका अन्तिम भाग बहुधा आरण्यक होता है। आरण्यकोंका अन्तिम अंश बहुधा उपनिषद् होता है। यही कारण है कि उपनिषद् वेदान्त कहे जाते हैं। उपनिषद्का अर्थ है 'रहस्य,' 'गुप्त उपदेश'। वेदका सारभूत विषय जो परम अधिकारप्राप्त शिष्योंको ही बताया जाता था, वही उपनिषदोंमें भरा हुआ है। ऐसा माना जाता है कि वेदकी जितनी शाखाएँ थीं उतनी ही संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदें भी थीं। ऋग्वेदकी इक्कीस, यजुर्वेदकी एक सौ नौ, सामवेदकी एक हजार तथा अथर्ववेदकी पचास शाखाएँ थीं। सब मिलाकर ११८० शाखाएँ थीं। अतः इतनी ही उपनिषदें भी होनी चाहिये। किंतु संहिता, ब्राह्मणोंके साथ-साथ बहुत-सी उपनिषदें भी लुप्त हो गयीं।

उपनिषद्-साहित्यमें कठ, मुण्डक, श्वेताश्वतर तथा बृहदारण्यक आदि उपनिषदोंमें योगकी पर्याप्त चर्चा है, किंतु केवल योगसे ही विशेष सम्बन्ध रखनेवाली बीस उपनिषदोंका संग्रह 'योगोपनिषद्-संग्रह'के नामसे प्रकाशित है। साथ ही योगराजोपनिषद् भी योगका आर्ष ग्रन्थ है। यहाँ इन्हें आधार मानकर औपनिषद-योगका संक्षेपमें वर्णन किया जा रहा है—

१-अद्वयतारकोपनिषद्—इसमें लक्ष्यत्रयके अनुसंधानद्वारा तारकयोगका साधन कहा गया है।

२-अमृतनादोपनिषद्—इसमें षडङ्गयोगका वर्णन है, जो इस प्रकार है—

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते॥

'प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि—यह षडङ्गयोग कहलाता है।'

३-अमृतबिन्दूपनिषद्—मन ही बन्धनका कारण है।

बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

'विषयासक्त मन बन्धका और निर्विषय मन मुक्तिका कारण है।'

निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो हृदि।
यदा यात्यात्मनोऽभावं तदा तत्परमं पदम्॥

'विषयासक्तिसे मुक्त और हृदयमें निरुद्ध मन जब अपने अभावको प्राप्त होता है तब परमपद प्राप्त होता है।'

तावदेव निरोद्धव्यं यावद् हृदिगतं क्षयम्।
एतज्ज्ञानं च ध्यानं च शेषो न्यायस्य विस्तरः॥

'तभीतक हृदयमें मनका निरोध करना चाहिये जबतक उसका क्षय न हो जाय। इसीको ज्ञान और ध्यान कहते हैं, बाकी सब न्यायका विस्तार है।'

इसके अनन्तर इस उपनिषद्में ज्ञानका स्वरूप तथा ध्यानका प्रकार कहा गया है।

४-क्षुरिकोपनिषद्—इसमें प्रसिद्ध षडङ्ग—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—संक्षेपसे कहे गये हैं। **'आसनमवस्थितः'** परिभाषित कहकर किया है, किसी आसन-विशेषका नाम नहीं दिया गया है।

५-तेजोबिन्दूपनिषद्—यह कुछ बड़ी उपनिषद् है। इसमें छः अध्याय हैं। प्रथम अध्यायमें परब्रह्म-स्वरूप तथा परब्रह्मावगतिसाधन पञ्चदशाङ्गयोग कहा गया है। पञ्चदश अङ्ग ये हैं—

'यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूल-**बन्ध**, देहसाम्य, दृक्स्थिति, प्राणसंयमन, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि—ये अङ्ग क्रमसे बताये हैं। यम आदिका स्वरूप भी भिन्न ही प्रकारसे कहा गया है। उदाहरणार्थ यमका लक्षण देते हैं—

सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥

'यह सब ब्रह्म है, इस ज्ञानसे इन्द्रियोंका संयम करना ही यम कहलाता है। इसीका बारंबार अभ्यास करना चाहिये।'

द्वितीय अध्यायमें अखण्डैकरसत्व तथा चिन्मात्रत्व भावनाद्वारा सबका एकरूप प्रतिपादित किया गया है। तृतीयाध्यायमें ब्रह्मानुभवका वर्णन है। चतुर्थ अध्यायमें जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति आदिका वर्णन है। बाकीके तीन अध्यायोंमें वेदान्तप्रतिपाद्य तत् पदार्थ और त्वं पदार्थके अभेदका निरूपण है।

६-त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्—इसमें पहले सृष्टिक्रम दिखाया गया है। तदनन्तर योगके दो प्रकार कहे गये हैं—कर्मयोग तथा ज्ञानयोग।

कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु।
बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोगः स उच्यते॥

'विहित कर्मोंमें इस बुद्धिका होना कि यह कर्तव्यकर्म है, मनका ऐसा नित्य बन्धन कर्मयोग है।'

यत्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम्।
ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः॥

'और श्रेयोऽर्थ चित्तका सदा बद्ध रहना ज्ञानयोग है, ऐसा समझना चाहिये। यह ज्ञानयोग सब सिद्धियोंका देनेवाला और मङ्गलकारक है।'

इसके अनन्तर निर्विशेष ब्रह्मज्ञानोपाय अष्टाङ्गयोग कहा है। ये वे ही अष्टाङ्गयोग हैं जो महर्षि पतञ्जलिप्रोक्त है। जैसे—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

७-दर्शनोपनिषद्—इस उपनिषदमें सांकृति नामक शिष्य अपने गुरु दत्तात्रेयसे पूछते हैं और वे अष्टाङ्गयोगका वर्णन करते हैं। अष्टाङ्गयोग पूर्वोक्त ही है। इसके अनन्तर देहका वर्णन है। नाडी, वायु, नाडीके देवता, नाडियोंमें संवत्सरात्मप्राणसूर्यसंचार अन्तस्तीर्थ आदिका बहुत उत्तम वर्णन है। प्राणायामादि सब अङ्गोंका भी बहुत अच्छा प्रतिपादन है। यह योगोपनिषदोंमें एक उत्तम उपनिषद् है।

८-ध्यानबिन्दूपनिषद्—पहले ब्रह्मध्यानयोग (प्रणव-

ध्यान, सविशेष ब्रह्मध्यान त्रिमूर्तिध्यानद्वारा) प्रतिपादित है। षडङ्गयोग इसके अनन्तर कहा गया है। आसन चार ही कहे गये हैं—सिंह, पद्म, भद्र तथा सिद्ध। अन्तमें नादानुसंधानद्वारा आत्मदर्शन बतलाया गया है।

९-नादबिन्दूपनिषद्—इसमें प्रणवोपासना तथा नादानुसंधान कहा गया है।

१०-पाशुपतब्रह्मोपनिषद्—इसमें ज्ञानयोग प्रतिपादित है। परमात्माकी हंसत्वेन भावना, अन्तर्याग, ज्ञानयज्ञरूप अश्वमेध इत्यादि अनेक विषय हैं।

११-ब्रह्मविद्योपनिषद्—प्रणवकी चारों मात्राओंका वर्णन देकर सुषुम्नाके विषयमें यों कहा है—

पद्मसूत्रनिभा सूक्ष्मा शिखाभा दृश्यते परा।
सा नाडी सूर्यसंकाशा सूर्यं भित्त्वा तथा परम्॥
द्विसप्ततिसहस्राणि नाडीर्भित्त्वा च मूर्धनि।
वरदा सर्वभूतानां सर्वं व्याप्यैव तिष्ठति॥

'मृणाल-तन्तुके समान सूक्ष्म और ज्वाला-सी उज्ज्वल और सूर्यसदृश प्रकाशमान वह परानाडी सूर्यको भेदकर परमको प्राप्त होती है और मूर्धामें बहत्तर हजार नाडियोंको भेदकर सबको व्याप्तकर रहती है।'

नादके द्वारा मोक्षप्राप्ति, जीवस्वरूपनिरूपण, हंसविद्या, हंसयोगीके द्वारा अनुसंधेय आत्मस्वरूप इत्यादि अनेक विषय इसमें प्रतिपादित हैं।

१२-मण्डलब्राह्मणोपनिषद्—पहले-पहल अष्टाङ्ग-योग कहा है। चार यम कहे गये हैं—'**शीतोष्णाहार-निद्राविजयः, सर्वदा शान्तिः, निश्चलत्वम्, विषयेन्द्रिय-निग्रहश्चैते यमाः।**' तदनन्तर नव नियम हैं—'**गुरुभक्तिः, सत्यमार्गानुरक्तिः, सुखागतवस्त्वनुभवश्च तद्वस्त्वनुभवेन तुष्टिः, निःसङ्गता, एकान्तवासः, मनोनिवृत्तिः, फलानभिलाषः, वैराग्यभावश्च नियमाः।**'

योगके विषयमें कहा गया है—

तद्योगं द्विविधं विद्धि पूर्वोत्तरविधानतः।
पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरम्॥

'वह योग पूर्वोत्तर विधानसे दो प्रकारका है, पूर्वमें करनेका तारकयोग और बादका अमनस्कयोग है।' तारक भी द्विविध है, मूर्ति तारक और अमूर्ति तारक। जो इन्द्रियान्त है वह मूर्तितारक है, जो भ्रूयुगातीत है वह अमूर्ति तारक है। दोनोंका ही मनोयोगसे अभ्यास करना चाहिये।

तालुमूलोर्ध्वभागे महज्ज्योतिर्विद्यते, तद्दर्शनाद-णिमादिसिद्धिः।

'तालुमूलके ऊर्ध्व भागमें महज्ज्योति है। उसके दर्शनसे अणिमादि सिद्धि प्राप्त होती है।'

१३-महावाक्योपनिषद्—इस छोटेसे उपनिषद्में हंसविद्या कही गयी है। पर यहाँ कुछ विशेष है। तदनुसार—

'काण्डान्तरमें जो ज्योतिर्मण्डलस्वरूप आदित्य है वही विद्या है, अन्य कोई नहीं, '**असौ आदित्यो ब्रह्म**' यही आदित्य ब्रह्म है, जिसका '**हंसः सोऽहम्**' इस अजपा-मन्त्रसे निर्देश किया जाता है। प्राणापानकी अनुलोम और प्रतिलोम-गतिसे वह विद्या जानी जाती है, दीर्घकालके अभ्याससे वह विद्या लाभकर जब त्रिवृत् आत्मा ब्रह्मका ध्यान किया जाता है तब सच्चिदानन्द परमात्मा आविर्भूत होते हैं।'

१४-योगकुण्डल्युपनिषद्—

हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तद्द्वावपि विनश्यतः॥
तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा।
मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः॥

'चित्तके दो हेतु हैं, वासना और प्राण। इनमेंसे किसी एकके नष्ट होनेसे दोनोंका नाश होता है। इनमेंसे पहले सदा प्राणको ही जय करना चाहिये, तब मिताहार होकर आसन साधे और फिर शक्तिचालन करे।'

—इस सिद्धान्तको कहकर आसन प्राणायामादिद्वारा कुण्डलिनीयोग कहा गया है। द्वितीय अध्यायमें खेचरी विद्याकी सिद्धि मन्त्रद्वारा तथा प्रसिद्ध अभ्यासद्वारा कही गयी है। तृतीय अध्यायमें ब्रह्मस्वरूप, जीवस्वरूप, मुक्तिस्वरूप आदि कथित हैं।

१५-योगचूडामण्युपनिषद्—चक्र, नाडी, वायु आदिका तत्त्व बतलाते हुए षडङ्गयोग इसमें कहा गया है। तदनन्तर प्रणवाभ्यास प्रतिपादित है। प्रणवाभ्यास करनेवालेको भी प्राणजय करना आवश्यक है, अतः नाडीशोधनादिद्वारा प्राणायाम पुनः कहा गया है।

१६-योगतत्त्वोपनिषद्—मोक्ष-प्राप्तिके लिये ज्ञान तथा

योग दोनों आवश्यक हैं।

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम्।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि॥

'योगके बिना ज्ञान ध्रुव मोक्षका देनेवाला भला कैसे हो सकता है? उसी प्रकार ज्ञानहीन योग भी मोक्षकर्ममें असमर्थ है।'

योग चार हैं—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग। इस उपनिषद्में प्रसिद्ध अष्टाङ्गयोगका सविस्तर वर्णन है।

१७-योगशिखोपनिषद्—यह उपनिषद् बड़े महत्त्वका है। विषय तो वही है, जो योगतत्त्वोपनिषद्में कहा गया है, किंतु यहाँ बड़े विस्तारसे तथा प्रकारान्तरसे वही विषय कहा गया है। कुछ बातें उससे भिन्न भी हैं। वहाँ चारों योग स्वतन्त्ररूपेण कहे गये हैं। यहाँ वे क्रमिक-भूमिका माने गये हैं—

मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात्॥
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते।

'मन्त्र, लय, हठ और राज—ये चार योग यथाक्रम चार भूमिकाएँ हैं। चारों मिलकर यह एक ही चतुर्विध योग है, जिसे महायोग कहते हैं।'

इतना ही नहीं, उनके स्वरूप भी कुछ भिन्न प्रकारसे कहे गये हैं। उदाहरणार्थ राजयोग लीजिये—

'रजसो रेतसो योगाद् राजयोग इति स्मृतः।'

'रज और रेतके योगसे राजयोग होता है॥'

योगका सामान्य स्वरूप इस प्रकार है—

'प्राणापानसमायोगो ज्ञेयं योगचतुष्टयम्।'

'प्राणापानको समान करना योगचतुष्टय कहा गया है।' यह उपनिषद् योगदृष्ट्या सचमुच बड़े कामका है।

१८-वराहोपनिषद्—इसमें पाँच अध्याय हैं। चार अध्यायोंमें ज्ञान प्रतिपादित है। पञ्चम अध्यायमें योग कहा गया है। तीन योग हैं—लय, मन्त्र तथा हठ। हठयोगके आठ अङ्ग हैं। यम दस, नियम दस और आसन ग्यारह कहे गये हैं। अन्तमें योगके कुछ विशेष प्रकार दिये गये हैं, जैसे कालवञ्चनोपायभूतयोग, कायदार्ढ्यबलादिसाधनके योग, सम्पुटयोग आदि।

१९-शाण्डिल्योपनिषद्—इसमें महर्षि अथर्वा शाण्डिल्यसे अष्टाङ्गयोग कहते हैं। यम दस, नियम दस, आसन आठ, प्राणायामके तीन प्रकार, प्रत्याहार पाँच, धारणा पाँच, ध्यान दो कहे गये हैं। द्वितीय-तृतीय अध्याय बहुत छोटे-छोटे हैं। इनमें ब्रह्मस्वरूप कहा गया है। अन्तमें दत्तात्रेयका माहात्म्य प्रतिपादित है।

२०-हंसोपनिषद्—इसमें हंसविद्या संक्षेपसे प्रतिपादित है। अजपा-जप, नादानुसंधान आदि तदुपायत्वेन कहे गये हैं।

२१-योगराजोपनिषद्—चार योग हैं—मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग तथा हठयोग। इन चारों योगोंमें आसन, प्राणायाम, ध्यान तथा समाधि सम्मत हैं। लययोगके प्रसङ्गमें नव चक्रोंका वर्णन दिया गया है।

यह इक्कीस योगोपनिषदोंका सारांश है। इनमें योगके प्रायः सभी विषय आ गये हैं। परवर्ती ग्रन्थोंमें इन उपनिषदोंकी सामग्री ले ली गयी है। गोरक्ष आदि सिद्धोंके ग्रन्थोंमें इन उपनिषदोंके श्लोक प्रायः ज्यों-के-त्यों प्राप्त होते हैं। जो लोग कहते हैं कि योगके अङ्ग आठसे छः इन सिद्धोंने किये हैं, उन्हें इन उपनिषदोंको देखना चाहिये। जो लोग इन उपनिषदोंको पीछेके कालका मानते हैं, उनकी युक्तियाँ भी अल्पप्राण ही हैं। तथापि हम आगे यह दिखानेका प्रयत्न करते हैं कि जिन्हें विद्वज्जन प्राचीनतम मानते हैं, उनमें भी योगका विषय अच्छी तरह आया हुआ है।

योग शब्दके इस पारिभाषिक, अर्थमें प्रयुक्त होनेके बहुत पूर्वसे योगाभ्यास भारतके लोगोंको अच्छी तरहसे ज्ञात था। यद्यपि युज धातुका प्रयोग मनस् शब्दके साथ तथा ऐसे ही अर्थमें ऋग्वेदमें भी मिलता है, तथापि बिलकुल स्पष्टरूपसे कठोपनिषद्में योग शब्दका प्रयोग हुआ है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

(अध्याय २, वल्ली ३। १०-११)

'जब पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ मनसहित आत्मामें स्थिर होकर बैठती हैं, बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती, तब उस अवस्थाको परमा गति कहते हैं। उसी स्थिर इन्द्रिय-धारणाको योग कहते हैं। उस अवस्थामें साधक प्रमादरहित होता है। उत्पत्ति और

नाश योग ही है।'

उपनिषदोंमें योग 'अध्यात्मयोग' कहा गया है। संहिता-ब्राह्मणोंमें योग अनेक क्रियाकलापोंके साथ मिला हुआ मिलता है तथा सिद्धियाँ ही उसकी बहुशः लक्ष्य थीं। बहुत सम्भव है मोक्षप्राप्तिके लिये जब इसका प्रयोग होने लगा तब इसको अध्यात्मयोग कहने लगे।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

(कठोपनिषद् १।२।१२)

'वह देव अर्थात् आत्मा जो इतना तेजस्वी है कि देख नहीं सकते, जो गूढ़-गहन स्थानमें प्रवेश किये हुए है, गुहामें बैठा हुआ और गह्वरमें रहनेवाला है उसको अध्यात्मयोगाधिगमके द्वारा जानकर धीर पुरुष हर्ष और शोकको त्याग देता है।'

योग शब्दका प्रयोग दर्शनविशेषके लिये होता है या क्रियात्मकयोगके लिये होता है। उपनिषदोंमें दोनों अर्थोंमें योग शब्द प्रयुक्त मिलता है। ऊपरके दोनों कठोपनिषद्के मन्त्र ही इसके उदाहरण हैं। योगदर्शनके-से मत प्राचीन उपनिषदोंमें भी अनेक स्थलोंपर मिलते हैं। कठ, मुण्डक, छान्दोग्य आदि उपनिषदोंमें इसे स्वयं देखा जा सकता है। क्रियात्मकयोगके भी रूप, प्रकार, भेद आदि प्राचीन उपनिषदोंमें भी मिलते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद्के द्वितीय अध्यायमें षडङ्गयोगका वर्णन स्पष्ट ही दीख पड़ता है। जो लोग योगका षडङ्गत्व मात्र नाथसम्प्रदायका ही अङ्ग मानते हैं उन्हें यह उपनिषद् अपने मतके पलटनेमें बहुत कुछ सहायता देगा।

श्वेताश्वतरके कुछ वाक्य नीचे दिये जाते हैं—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥
प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः ॥

(२।८-९)

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्।

(१।१४)

'शरीरको त्रिरुन्नत अर्थात् छाती, गर्दन और सिर उन्नत, और सम करके, मनसहित इन्द्रियोंको हृदयमें नियतकर ब्रह्मरूप नौकासे विद्वान् सब भयानक प्रवाहोंको तर जाय। इस शरीरमें प्राणोंका अच्छी तरह निरोध करके युक्तचेष्ट हो और प्राणके क्षीण होनेपर नासिकाद्वारोंसे श्वास छोड़े और इन दुष्ट घोड़ोंकी लगाम मनको विद्वान् अप्रमत्त होकर धारण करे। ध्यानरूप मन्थनसे अत्यन्त गूढ-सा जो आत्मा है उसे देखे।'

श्वेताश्वतरमें योग विस्तारसे कहा गया है। उसमें यजुर्वेदसंहिता आदिमें आये कुछ योगविषयक मन्त्रोंका पूरा भाष्य-सा दिखायी पड़ता है। आसनोंका विस्तृत वर्णन इन उपनिषदोंमें नहीं मिलता। जैसे श्रीमद्भगवद्गीतामें **'समं कायशिरोग्रीवम्'** मिलता है वैसा ही यहाँ दिखायी पड़ता है। ध्यानादिके लिये सिद्धासन तथा पद्मासनको छोड़ अन्य आसन अनुपयुक्त और अनावश्यक माने गये हैं। गोरक्षनाथने गोरक्षपद्धतिमें इसी हेतु ये ही दो आसन बतलाये हैं।

वैदिक ग्रन्थोंमें प्राणविद्याका बड़ा ऊँचा स्थान है। उपनिषदोंमें भी प्राणोपासना अनेक भावनाओंके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारसे कही गयी है। प्रत्यक्ष सम्बन्ध योगसे प्राणोंका प्राणायामके सम्बन्धमें है। प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी उपनिषद् मोक्षके दो उपाय बताते हैं—मनोजय तथा प्राणजय। मनोजय वासनाओंके क्षीण होनेसे होता है, किंतु प्राणजय हो जानेसे मनोजय अनायास सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि योगमें प्राणजयपर इतना जोर दिया जाता है। प्राणजय प्राणायामद्वारा होता है। अतएव प्राणायामका इतना प्राधान्य है। कठोपनिषद् (२।२।३) में यों कहा गया है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥

(२।२।३)

'जो प्राणको ऊपर भेजता है और अपानको फेंकता है उस मध्यमें रहनेवाले वामनको विश्वेदेवगण भजते हैं।'

मुण्डकोपनिषद्में एक वाक्य यों मिलता है—

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥

(३।१।९)

'प्रजाओंके प्राणसह सम्पूर्ण चित्तमें वह आत्मा व्याप्त है और विशुद्धचित्तमें ही विशेषरूपसे प्रकट होता है।'

समाधिका वर्णन भी अनेक स्थलोंमें मिलता है। श्वेताश्वतर (२।१४-१५) में इस प्रकार वर्णन है—

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥
यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

'जिस प्रकार कोई तेजोमय बिम्ब धूलसे धूसरित हुआ हो और पीछे स्वच्छ करनेपर वही चमकने लगता है, उसी प्रकार उस आत्मतत्त्वको देखकर देही एकावस्थाको प्राप्त होकर कृतार्थ और वीतशोक होता है। परंतु जब देही आत्मतत्त्वसे ब्रह्मतत्त्वको परप्रकाशक दीपकी रीतिसे देखता है तब वह आत्मदेवको अज, ध्रुव, सर्वतत्त्वविशुद्ध जानकर सब पाशोंसे मुक्त हो जाता है।'

ऊपर संक्षेपमें यह दिखानेका प्रयत्न किया गया है कि प्राचीन उपनिषदोंमें भी योगके प्रत्येक अङ्गका विवरण मिलता है। वास्तविक बात तो यह है कि लगभग सभी उपनिषदोंमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे थोड़ा अथवा अधिक योग अवश्य ही आया है। उपनिषद् हमारे मोक्षशास्त्रके परमाधार हैं। मोक्ष अतीन्द्रिय ज्ञानके बिना उपहासास्पद है। अतीन्द्रिय ज्ञान बिना योगके साध्य नहीं। अतः उपनिषदोंसे योगका एक प्रकारसे अविनाभूत सम्बन्ध है। औपनिषदिक योग बड़े ही महत्त्वका विषय है। एक ओर तो संहिताओंमें आया हुआ निगूढ़रूप योग है, दूसरी ओर भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय, धर्म तथा मतानुरूप विकसित योग है। औपनिषदिक योग ही आगे-पीछेकी कुंजी है, योगका इतना भारी किला इसी **औपनिषदिक** योगकी नींवपर खड़ा है। उपनिषद् वेदान्त है—वेदका सर्वस्वसारभूत निचोड़ है। इनको श्रद्धासे समझनेका उद्योग करना चाहिये।

सिद्ध योगी

(१)

मोह ममतासे रहता दूर,
क्षणिक कायाकी माया नहीं।
छोह है छातीमें भरपूर,
जीवमें जीवन-समता सही ॥

(२)

भरा रहता है सेवाका भाव,
विश्वका सच्चा सेवक वही।
कभी बिचलित क्या करता उसे,
अतुल बल प्रभुता पथसे कहीं ॥

(३)

उसे उसका ही रहता ध्यान,
सृष्टि जिसकी मायासे हुई।
भोगसे रखता उसको दूर,
योगकी शक्ति अनूठी नई ॥

(४)

योगसे पावन निर्मल ज्ञान,
समझमें आती बातें सही।
कभी छल कलुष क्रोध अभिमान,
छोभ-छाया छू सकती नहीं ॥

(५)

साधनाका वह सच्चा कोष,
पूर्ण कर पाता जीवन-यज्ञ।
अमर यश जगमें होते व्याप्त,
समझ सकते क्या उसको अज्ञ ॥

(६)

सिद्ध योगी कहते हैं उसे,
सिद्धियाँ रहतीं जिसके पास।
स्वर्ग-सुखकी न हृदयमें चाह,
प्रलय ताण्डवका जिसे न त्रास ॥

—जगदीश झा 'विमल'

ईशावास्य और इसका कर्मयोग

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

पूर्ण ग्रन्थ

उपनिषदोंकी गणनाका जब अवसर आता है, तब ईशावास्यका नाम सबसे पहले लिया जाता है[1]। शुक्ल यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायका नाम ईशावास्य-उपनिषद् है। इसमें कुल अठारह मन्त्र हैं। इस तरह कलेवरकी दृष्टिसे यह बहुत छोटी उपनिषद् है, किंतु तत्त्वकी दृष्टिसे यह महान्-से-महान् है; क्योंकि इसमें थोड़ेमें अध्यात्मकी मूल बातें कह दी गयी हैं। इस तरह गागरमें सागर भरनेकी कहावत यहाँ चरितार्थ हो गयी है।

ईशावास्यमें दो मार्गोंका प्रतिपादन

शास्त्रने मानव-जीवनकी सार्थकताके लिये दो मार्ग बताये हैं। पहला है कर्ममार्ग और दूसरा है ज्ञानमार्ग[2]। ईशावास्यमें भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिये इन दोनों मार्गोंका भिन्न-भिन्न रूपसे प्रतिपादन हुआ है। किंतु हुआ है इतने रहस्यात्मक ढंगसे कि सरसरी दृष्टिसे इसकी प्रतीति नहीं होती। यही तो इसकी सूत्रात्मकता है।

पहले और दूसरे मन्त्रमें कर्मयोगका प्रतिपादन हुआ है। नवें, दसवें और ग्यारहवें मन्त्रमें इस कर्मकी उपासनाके साथ अबाधित अपेक्षा बतायी गयी है। इस तरह पाँच मन्त्रोंमें कर्मयोगका यहाँ साङ्गोपाङ्ग निरूपण सम्भव हो सका है।

पहला मन्त्र कर्म और संन्यास—इन दोनोंका प्रतिपादन करता है। अवशिष्ट मन्त्र संन्यासमार्गका प्रतिपादन करते हैं। इस तरह ईशावास्य छोटा किंतु पूर्ण ग्रन्थ है।

वेदार्थ-ज्ञानके लिये परम्परा अपेक्षित

जब हम गुरुपरम्पराके बिना ईशावास्यका पाठ करने लगते हैं, तब हमें इन दोनों मार्गोंके नाम इसमें दिखायी नहीं देते। अतः इस प्रश्नका उठना स्वाभाविक है कि 'ईशावास्यमें उपर्युक्त दो मार्गोंका प्रतिपादन हुआ है। इस कथनमें प्रमाण क्या है?' सच पूछा जाय तो इससे मिलता-जुलता प्रश्न सभी उपनिषदोंपर लागू होता है। कहा गया है कि 'उपनिषद् जिस तत्त्वको समझाना चाहती थी, उसे समझा नहीं पायी है।'

बात यह है कि उपनिषदोंका समझ सकना उतना सरल नहीं है, क्योंकि इनमें ब्रह्म-जैसे अप्राकृतिक तत्त्वोंका निरूपण हुआ है। अतः उपनिषदोंका नाम 'रहस्य' भी है। आजसे चालीस वर्ष पहलेतक 'वज्रसूचिकोपनिषद्'का रहस्य विवादका विषय बना हुआ था। उपनिषदोंके ज्ञानके लिये गुरुपरम्पराकी अपेक्षा होती है। स्वयं श्रुतिने कहा है—**'आचार्याद्धैव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापत्।'** यह सही है कि यह परम्परा आज उच्छिन्न-सी हो गयी है। फिर भी परम्परा-प्राप्त आलेखोंका अभी उच्छेद नहीं हुआ है। इनके आधारपर उपनिषदोंके अर्थ समझनेका प्रयास होना चाहिये। 'वज्रसूची'का जटिल अभिप्राय समझनेमें आलेख ही काम आये थे। इन आलेखोंमें इतिहास और पुराणके नाम पहले आते हैं—**'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्।'** कोरी बुद्धिके बलसे लक्ष्यतक नहीं पहुँचा जा सकता। यहाँ देवीभागवतके आधारपर ईशावास्यके **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि०'** मन्त्रकी आंशिक व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। परम्पराकी सहायतासे रहस्य किस तरह हृदयङ्गम हो जाता है, इसका एक और निदर्शन इससे प्राप्त हो जायगा।

ज्ञातव्य तीन सिद्धान्त

पहले सूत्ररूपमें कुछ सिद्धान्तोंसे परिचित हो लेना अपेक्षित है। वे सिद्धान्त हैं—

१-कर्मसे अज्ञानका नाश असम्भव है।

२-कर्म और ज्ञानका समुच्चय नहीं हो सकता।

३-कर्म और उपासनाका समुच्चय अतीव अपेक्षित है।

कर्मसे अज्ञानका नाश असम्भव

देवीभागवतमें आद्याशक्तिने देवताओंको उपदेश दिया है—'संसारकी जड़ अज्ञान है[3] और इस अज्ञानका नाश करना

१-ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः । ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा॥ (मुक्ति० उप० १।३०)

२-द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः। प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च विभावितः॥ (महा० शा० २४१ ।६)

३-अज्ञानमेव मूलं स्यात्। (दे० भा० ७।३४।६)

ही जीवनका लक्ष्य है[४]।' ऐसा सुनकर देवताओंके मनमें जिज्ञासा उठी कि जब जीवनका एकमात्र उद्देश्य है— 'अज्ञानका नाश करना' तब वह कौन-सा साधन है, जिससे इस अज्ञानका नाश किया जाय ?

तब जगदम्बाने बताया—'अज्ञानके नाशका एकमात्र साधन है— ज्ञान।' ज्ञानसे ही अज्ञानका नाश हो सकता है। इसके लिये और कोई साधन नहीं है—

'अज्ञाननाशने शक्ता विद्यैव तु पटीयसी।'

(दे० भा० ७। ३४। ५)

कर्मसे अज्ञानका नाश तो बिलकुल सम्भव ही नहीं है। जैसे कोई अन्धकारसे अन्धकारको मिटानेका प्रयास करे तो उसका प्रयास निष्फल होगा, वैसे कर्मसे अज्ञान मिटानेका प्रयास व्यर्थ है। क्योंकि कर्म अज्ञानसे जन्य है, अतः अज्ञानरूप ही है—

'अज्ञानजन्यकर्मणोऽप्यज्ञानरूपत्वात्।'

(टीका, दे० भा० ७। ३४। ५)

अज्ञानको अज्ञानसे वैसे ही नहीं मिटाया जा सकता, जैसे अन्धकारसे अन्धकार नहीं मिटाया जा सकता। जैसे अन्धकारसे जन्य भीतिसे अन्धकारका मिटा पाना अशक्य है, वैसे अज्ञानसे जन्य कर्मसे अज्ञानका मिटा पाना अशक्य है। अतः जगदम्बाने चेतावनी दी है कि 'कर्मके द्वारा अज्ञानको नष्ट करनेकी आशा कभी मत करना'—

प्रत्युताशाऽज्ञाननाशे कर्मणा नैव भाव्यताम्।

(दे० भा० ७। ३४। ९)

इस तरह सिद्ध होता है कि अज्ञानका नाश ज्ञानसे ही होता है, कर्मसे नहीं। जीवनकी सार्थकताके लिये कर्मकी आशा छोड़कर अज्ञानके नाशके लिये ज्ञानका ही सहारा ले।

कर्म और ज्ञानका समुच्चय नहीं

जो लोग केवल अपनी बुद्धिके बलपर ईशावास्यको समझनेका प्रयास करते हैं, वे **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि०'** मन्त्रको पढ़कर असमंजसमें पड़ जाते हैं। जगदम्बाकी उपर्युक्त बात इनकी बुद्धिमें उतर नहीं पाती। क्योंकि यह श्रुति जीवनपर्यन्त कर्म करनेका आदेश दे रही है, कर्म छोड़नेका नहीं। यदि जीते-जी कर्म छोड़कर संन्यासमार्गका आश्रयण कर लिया जायगा तो इस श्रुतिका विरोध स्पष्ट है। क्योंकि तब जीवन-पर्यन्त कर्म तो कर नहीं पाया। जगदम्बाके उपर्युक्त आदेशकी बोधिका बहुत-सी श्रुतियाँ हैं—

(क) ज्ञानादेव हि कैवल्यम्।

(ख) तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

श्रुतियाँ परस्पर विरुद्ध बात तो कह ही नहीं सकतीं। अतः दोनों प्रकारकी श्रुतियोंका समन्वय तो होना ही चाहिये। ऐसी स्थितिमें कोरी बुद्धि यही निर्णय दे सकती है कि 'कर्म और ज्ञानका समुच्चय मान लिया जाय। ज्ञान अज्ञानका नाश करेगा और कर्म इस काममें ज्ञानकी सहायता पहुँचाता रहेगा।' इस तरह दोनों प्रकारकी श्रुतियोंका समन्वय हो जाता है। इस समुच्चयवादका जगदम्बाने पहले तो अनुवाद किया है और इसके बाद खण्डन कर दिया है। अनुवाद है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणीत्यतः कर्माप्यावश्यकम्।
ज्ञानादेव कैवल्यमतः स्यात् तत्समुच्चयः।
सहायतां व्रजेत् कर्म ज्ञानस्य हितकारि च॥
इति केचिद् वदन्त्यत्र····।

(दे० भा० ७। ३४। ११-१२)

कर्म और ज्ञानका समुच्चय असम्भव

अन्तमें पराम्बा इस समुच्चयवादका खण्डन कर देती हैं। हेतु देती हैं—

'असम्भवाद् यौगपद्यं न सम्भवि।'

अर्थात् कर्म और ज्ञानका समुच्चय सम्भव ही नहीं है। उदाहरण देती हैं—जैसे अन्धकार और प्रकाश—**'तमः-प्रकाशयोर्यद्वत्'** (दे० भा० ७। ३४। १४) जैसे अन्धकार और प्रकाशका एक साथ रह सकना असम्भव है, वैसे कर्म और ज्ञानका एक साथ रहना असम्भव है। जो अन्धकार सूर्यके उगते ही अस्तित्वहीन हो जाता है, वह उसका साथ ही कैसे कर सकता है। फिर सहयोगकी बात ही दूर पड़ जाती है। इसी तरह ज्ञानके उदय होते ही जब अज्ञान रहता ही नहीं, तब वह ज्ञानका साथ और सहयोग कैसे कर सकेगा ?

कोरी बुद्धि कितनी एकाङ्गी होती है, यह बात इस

४-एतद् द्विजन्मसाफल्यं यदज्ञानस्य नाशनम्। (दे० भा० ७। ३४। ७)

दृष्टान्तसे स्पष्ट हो जाती है। दोनों श्रुतियोंके विरोधको हटानेके लिये इसे कर्म और ज्ञानका समुच्चय तो दीख गया, किंतु यह नहीं दीख सका कि यह बात सम्भव ही नहीं है !

मार्ग-भेद होनेसे विरोध नहीं

पराम्बाने '**कुर्वन्नेवेह॰**' मन्त्रसे प्रतिपादित कर्ममार्गसे पृथक् संन्यासमार्गका अस्तित्व बताकर सूचित कर दिया कि कोरी बुद्धि झूठे ही असमंजसके जालमें पड़ गयी थी और झूठे ही छूटनेके लिये हाथ-पैर पटक रही थी। क्योंकि जो मनुष्य अभिमानसे ग्रस्त हैं, वे जीवनभर कर्म करते रहें और जो इससे मुक्त हो गये हैं, वे ज्ञानमें लग जायँ। ऐसी व्यवस्था हो जानेपर जब विरोध ही नहीं रहता, तब उसके परिहारके लिये उलझन-भरा प्रयास कैसा ?

परम्परा-प्राप्त भाष्यसे सिद्धान्त-बोध

आलेखोंमें इतिहास और पुराणके बाद हम शांकर-भाष्यको रख सकते हैं; क्योंकि आचार्यका यह अर्थ परम्परासे प्राप्त है। आचार्य शंकरने 'ईशावास्य'को गोविन्दपादसे पढ़ा था। गोविन्दपादने गौड़पादसे, गौड़पादने शुकदेवसे, शुकदेवने व्याससे, व्यासने पराशरसे, पराशरने शक्तिसे, शक्तिने वसिष्ठसे, वसिष्ठने ब्रह्मासे और ब्रह्माने नारायणसे यह विद्या प्राप्त की थी[५]।

यदि परम्परा-प्राप्त इस भाष्यके माध्यमसे 'ईशावास्य' लगाया जाय, तो प्रारम्भमें ही ज्ञात हो जाता है कि '**कुर्वन्नेवेह॰**' मन्त्र संसारी लोगोंके लिये कर्मयोगका विधान करता है और प्रायः अवशिष्ट मन्त्र संन्यासयोगका। केवल इतना-सा सिद्धान्त जान लेनेपर न तो विरोधकी गुंजाइश होती है और न परिहारकी।

कर्मयोग

अब देखना है कि ईशावास्यके केवल एक मन्त्रने 'कर्मयोग'-जैसे बृहद् विषयको कैसे प्रतिपादित किया है।

किसी सूत्रकी व्याख्याके लिये आवश्यक होता है कि पूर्वसूत्रमें कहे गये साकाङ्क्ष विषयोंकी उत्तरसूत्रमें अनुवृत्ति कर ली जाय। गागरमें सागर भरनेका यह एक आवश्यक उपाय है।

'**कुर्वन्नेवेह॰**' मन्त्र 'ईशावास्य-उपनिषद्'का दूसरा मन्त्र है। इससे पहला मन्त्र है '**ईशा वास्यमिदं॰।**' इसलिये ईशावास्य मन्त्रमें कहे गये साकाङ्क्ष विषयोंकी '**कुर्वन्नेवेह॰**' मन्त्रमें अनुवृत्ति होती है। अतः आवश्यक है कि हम पहले ईशावास्य-मन्त्रके अर्थसे परिचित हो लें।

समुद्र और तरंगके दृष्टान्तसे इस मन्त्रका अर्थ सरलतासे समझमें आ जाता है। समुद्र जब प्रेमका खेल खेलना चाहता है[६], तब अपनेको अनगिनत तरंगों, बर्फ, फेन और बुलबुलोंके रूपमें परिणत कर लेता है। समुद्रसे तरंग आदिका यह भेद केवल आभासित होता है। समुद्रमें और इनमें केवल नाम और रूपका ही भेद होता है, वास्तविक नहीं। क्योंकि तरंग आदिके बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, अगल-बगल सर्वत्र जलसमूह-रूप समुद्र अनुस्यूत रहता है। समुद्रसे भिन्न उसकी सत्ता ही नहीं होती। जब उसकी नाम और रूप-रूपी दोनों उपाधियाँ मिट जाती हैं, तब वह समुद्र-रूप हो जाता है।

जब यह खेल प्रेम-मूलक है, तब सबका सबसे प्रेम होना ही चाहिये। यदि एक तरंग दूसरी तरंगसे प्रेम करती है तो वह खेलको पूर्णता ही प्रदान करती है, किंतु प्रेमके नामपर आसक्ति नहीं होनी चाहिये। आसक्ति तो एकमात्र समुद्रसे ही होनी चाहिये। क्योंकि सबका चिर सम्बन्ध समुद्रसे ही है। एक तरंगका दूसरे बर्फ आदिके साथ जो सम्बन्ध है, वह तो क्षणिक है। अभी है, किंतु दूसरे ही क्षण वह समाप्त हो जानेवाला है। ऐसी स्थितिमें एक तरंग यदि दूसरी तरंगपर आसक्त हो जाती है और क्षणमें होनेवाले अनिवार्य विछोहसे पागल बन जाती है, तो यह तरंगकी घोर नासमझी, कृतघ्नता, असफलता और गिरावट मानी जायगी। इस तरंगकी सत्ता न तो किसी अन्य तरंगसे प्राप्त हुई है, न बर्फसे और न बुलबुलेसे ही। तरंगकी सत्ता समुद्रसे है, अतः समुद्रकी है और समुद्रके

५-नारायणं पद्मभुवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च। व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्॥ श्रीशंकराचार्यम्·····।

६(क) यस्मात् प्रेमानन्दात् नित्यानन्दोऽयं लोकः प्रकटितो भवति। (साम॰ र॰ उ॰)

(ख) लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्। (ब्र॰ सू॰ १।२)

लिये है। तरंगको गले लगानेके लिये ही समुद्रने नाम-रूपका चोला पहनाकर उसे अपनेसे अलग किया है। इन दोनोंका सम्बन्ध अमर है। ऐसी स्थितिमें तरंग यदि समुद्रके अमर प्रेमको ठुकराकर दूसरी तरंग या बर्फपर आसक्त हो जाय तो क्या यह तरंगकी कृतघ्नता नहीं है? नासमझी इसलिये है कि जो समुद्रकी वस्तु है, उसे अपनी समझ बैठी। असफल इसलिये है कि असीम आनन्दको उल्लसित करनेके लिये प्रियतमने जो प्रेमका खेल प्रारम्भ किया था, उससे बेचारी वञ्चित रह गयी और अन्ततोगत्वा नरककी घोर गहराईमें डाल दी गयी। स्वयं ईशावास्यने कहा है—ऐसे लोगोंको संतापसे भरी योनियों और घोर नरकमें डाल दिया जाता है[७]। आसक्तिका यह कैसा भयानक परिणाम निकला।

इस सम्भावित दुःस्थितिसे बचानेके लिये यदि कोई महापुरुष दया कर तरंग आदिको सावधान कर दे, तो यह उनकी अहैतुकी कृपा ही मानी जायगी। संत तरंग आदिको सचेत करते हुए कहते हैं—

(जगत्याम्)—इस समुद्री दुनियामें **(यत्किं च जगत्)** जो कुछ तरंग, बर्फ, फेन और बुदबुद आदि वस्तुओंका समूह है, **(इदं सर्वम्)** यह सब **(ईशा वास्यम्)** समुद्रसे आच्छादित है। अर्थात् तरंग, बर्फ आदिके नाम-रूप-रूपी उपाधिको हटाकर उनमें वास्तविक समुद्र-रूपको देखो। ऐसी दृष्टि बन जानेपर तुम्हारा ओझल प्रियतम तुम्हारे सामने आ जायगा। यह भी समझमें आ जायगा कि ये बर्फ आदि सारी अभिव्यक्तियाँ उसीकी हैं, तुममेंसे किसीकी नहीं। इससे आसक्तिके मूल जो मोह, ममता आदि हैं, उनका परित्याग हो जायगा और प्रियतमके साथ अमर सम्बन्ध कायम हो जायगा। इस तरह **(तेन सह)** अपने प्रियतमके साथ अमर सम्बन्ध स्थापित कर **(त्यक्तेन)** त्याग-भावसे अर्थात् तरंग आदिमें मिथ्या ममता आदिका त्यागकर **(भुञ्जीथाः)** प्रेमके रसका उपभोग करो। उन नाम-रूपोंसे भी प्रेम करो, क्योंकि वे भी प्रियतम-रूप ही हैं। किंतु उनमें **(मा गृधः)** आसक्त मत होना। क्योंकि **(धनम्)** तरंग, बर्फ आदि सम्पत्ति **(कस्य स्वित्)** तरंग आदिरूपमें अभिव्यक्तिकी कामना करनेवाले समुद्रकी है। तुममेंसे किसीने इन्हें नहीं अभिव्यक्त किया है। फिर इनमें 'मेरा' यह भाव लाना झूठ है न ? मिथ्या आसक्ति छोड़ो।

जैसे किसी कृपालु महापुरुषने उपर्युक्त उपदेश देकर तरंग आदिका कल्याण चाहा है, वैसे परमकारुणिक श्रुति हमें सावधान करती है—

(मानवो !) **(जगत्याम्)** सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें **(यत् किं च जगत्)** जो कुछ स्थावर-जंगम है, **(इदं सर्वम्)** यह सब **(ईशा वास्यम्)** ईश्वरसे आच्छादित है। अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन-धान्य आदिसे नाम और रूप-रूपी उपाधिको हटाकर सबमें अनुस्यूत अपने प्रियतम ईश्वरके रूपको निहारो। ऐसी दृष्टि बन जानेपर तुम्हारा छिपा प्रियतम तुम्हारे सामने आ जाता है। यह भी समझमें आ जाता है कि ये स्त्री, पुत्र आदि पदार्थ परमेश्वर ही हैं, परमेश्वरके ही हैं और परमेश्वरके लिये हैं। इस दृष्टिकी प्राप्तिसे आसक्तिके मूल मोह-ममता आदिका त्याग हो जाता है। इसके अतिरिक्त परमेश्वरके साथ जो तुम्हारा अमर सम्बन्ध है, वह भी याद आता रहेगा। इस तरह **(तेन सह)** अपने प्रियतमके साथ **(त्यक्तेन)** त्याग-भावसे अर्थात् स्त्री-पुत्र आदिमें मिथ्या ममता आदिका त्यागकर **(भुञ्जीथाः)** अमर प्रेम-रसका उपभोग करो । उन नाम-रूपोंसे भी प्रेम तो करना ही है, क्योंकि वे भी प्रियतम-रूप ही हैं। किंतु याद रखना **(मा गृधः)** उनमें आसक्त मत होना। क्योंकि **(धनं कस्य स्वित्)** स्थावर-जङ्गमरूप सम्पत्ति परमेश्वरकी है। **(सृष्ट्यर्थं कामयते इति कः)** इस व्युत्पत्तिसे 'क' का अर्थ 'परमेश्वर' होता है। इनमेंसे किसी सम्पत्तिको तुमने तो बनाया नहीं है। फिर तुम ही बताओ कि **(धनं कस्य स्वित्)** यह सम्पत्ति तुममेंसे किसकी है? जब तुम्हारी नहीं, तो इसमें तुम्हारी ममता कैसी? यह पहला मन्त्र है। इसके बादका मन्त्र है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

इस तरह चेतावनी देकर भगवती श्रुति मनुष्यके अभिमानसे ग्रस्त व्यक्तिको कर्मयोगके मार्गपर चलनेकी सीख

७-असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः। ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥(ई० उप० ३)

देती है। कहती है **(इह)** मायाके द्वारा सजायी गयी इस रंगस्थलीमें **(कर्माणि कुर्वन् एव)** पात्रोचित भूमिका निभाते हुए ही **(शतं समाः जिजीविषेत्)** पूरे समयतक जीनेकी इच्छा करे। **(एवम्)** परमेश्वरको निरन्तर स्मरण करते रहनेसे, ममता-मोहका त्याग करनेसे, कर्मफलको भगवान्के अर्पण कर देनेसे **(कर्म)** तुमसे किये जानेवाले कर्म **(त्वयि नरे)** तुममें **(न लिप्यते)** नहीं लिप्त होंगे। **(इतः अन्यथा नास्ति)** तुम मनुष्यत्वके अभिमानसे ग्रस्त हो, इसलिये इससे भिन्न और कोई मार्ग तुम्हारे लिये नहीं है।

इस श्रुतिमें दो बातें कही गयी हैं—

(१) यदि सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करो, तो कर्म करते हुए ही जीना चाहो।

(२) कर्मलिप्त न हो, इसके लिये सावधान, किंतु कर्मका लेप कैसे न हो, यह बात इस श्रुतिमें नहीं बतायी गयी है। क्योंकि ये बातें पहली श्रुतिमें आ गयी हैं, जिनकी यहाँ आवृत्ति की गयी है। **'एवम्'** पद उसी अनुवृत्तिका सूचक है।

पहले मन्त्रमें निम्नलिखित विषय आ चुके हैं—

(१) समस्त जड-चेतनमें ईश्वरको देखे।

(२) समस्त नाम-रूप ईश्वरद्वारा अभिव्यक्त है। अतः सब कुछ ईश्वरका है, जीवका कुछ नहीं है।

(३) अतः मिथ्या ममता-मोह न करे।

(४) निरन्तर ईश्वरका स्मरण करते हुए, यह समझते हुए कि यह मेरे साथ है, उसीके लिये कर्म करे।

(५) सबको ईश्वरको समर्पण कर दे।

(६) प्रेम सबसे करे, किंतु आसक्तिसे बचे।

(७) निरन्तर प्रभुके प्रेम-रसका आस्वादन करता रहे।

(८) धर्मशास्त्रसे विहित कर्म ही करे।

—इन सभी तथ्योंकी पूर्व मन्त्रसे **'कुर्वन्नेव०'** श्रुतिमें अनुवृत्ति होती है।

विकर्म और अकर्मका भी ग्रहण

गागरमें सागर भरनेका एक उपाय और है। उसका नाम है—'उपलक्षण'। प्रस्तुत श्रुतिमें **'कर्माणि'** पद आया है। यह उपलक्षण है। इसलिये 'कर्म' शब्दसे 'विकर्म' और 'अकर्म' का भी ग्रहण हो जाता है।आचार्य शंकरने अपने गीता-भाष्यमें उपलक्षणका यह प्रकार अपनाया है। गीतामें **'गहना कर्मणो गतिः'** (४। १७) इस वचनमें केवल **'कर्मणः'** पद पढ़ा गया है। आचार्यने इसी उपलक्षणके बलसे अपेक्षित 'विकर्म' और 'अकर्म'का भी ग्रहण कर लिया है—**'कर्मण इति उपलक्षणार्थं कर्मादीनाम्—कर्माकर्मविकर्मणाम्।'** (शां० भा०)।

तात्पर्य है कि 'कर्म'की तरह हमें 'विकर्म' और 'अकर्म'को भी जानना चाहिये और इनमेंसे कर्मका ग्रहण और 'विकर्म' तथा 'अकर्म' का त्याग करना चाहिये। यह बात श्रुतिने **'एव'** पदसे व्यक्त की है। 'कर्म ही करना चाहिये' कहनेसे अर्थ निकल आता है कि 'कर्म' करना चाहिये और विकर्म और अकर्म नहीं करना चाहिये।

'कर्म' आदिके अर्थ

कर्म आदिके दो प्रकारके अर्थ होते हैं—एक लौकिक, दूसरा वैदिक। श्रीमद्भागवतमें बताया गया है कि कर्म आदिके सम्बन्धमें हम लौकिक पद्धतिको न अपनाकर वैदिक पद्धति ही अपनायें—

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।

अर्थात् कर्म, अकर्म और विकर्मका स्वरूप-निरूपण हमें वेदके आधारपर ही करना चाहिये, लोकके आधारपर नहीं। यही बात भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कही है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

(१६। २४)

जिज्ञासा होती है कि ये प्रमाण तो स्मृति-ग्रन्थोंके हुए, क्या प्रस्तुत उपनिषद्में भी इसपर कोई प्रकाश डाला गया है? जब सूत्र-रूपसे कर्मयोगके अन्य तथ्य कह दिये गये तो इस श्रुतिमें यह तथ्य भी कहीं-न-कहीं कहा गया होगा।

इस जिज्ञासाकी पूर्ति भी 'ईशावास्य' मन्त्रसे सम्भव है। इसके लिये **'ईशा'** पदका पर्याय **(वेदेन)** करना चाहिये, क्योंकि वेद ईश्वरस्वरूप होता है[८]। और वेदके शब्दोंसे ही

८(क) स्वयं वेदने अपनेको ईश्वर-स्वरूप बताया है—'ब्रह्म स्वयम्भूः' (तै० आ०)। (ख) पुराण और इतिहासने इस तथ्यको दुहराया है—

१-वेदः नारायणः स्वयम् (बृ० ना० पु० ४। १७)।

२-वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्। (महा० भा०)।

सृष्टिकी रचना होती है[१]।

कर्म और उपासनाका समुच्चय

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि०' में 'तेन (सह) भुञ्जीथाः' इस अंशकी अनुवृत्तिसे यह तात्पर्य निकलता है कि भगवान्‌को साथ रखकर उनके प्रेमका आस्वाद लेते हुए कर्म करना चाहिये। इस तरह कर्म और उपासनाके समुच्चयका प्रतिपादन हो गया है। फिर भी ईशावास्यमें कर्म और उपासनाके समुच्चयको अत्यावश्यक समझकर वहाँ तीन मन्त्रोंमें इसका विस्तारसे निरूपण किया गया है। यहाँ केवल पहला मन्त्र दिया गया है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः॥

इसका तात्पर्य है कि जो लोग कर्म (अविद्या) की उपासना करते हैं, वे अज्ञानस्वरूप घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो लोग उपासना (विद्या) में रत हैं मानो और अन्धकारमें प्रवेश करते हैं।

तन्त्रमें योग

(श्रीअटलबिहारीजी घोष)

भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय अपने-अपने मार्गके अनुसार 'योग' शब्दका अर्थ करते हैं। वेदान्त-पक्षका कहना है कि 'जीव और आत्माके मिलनका नाम योग है। प्रत्यभिज्ञा-पक्षके मतानुसार शिव और आत्माके अभेद-ज्ञानका नाम योग है। भेदवादियोंके मतमें पुराण-पुरुषका ज्ञान ही योग है। आगमवादी कहते हैं कि शिव और शक्तिका अभेद-ज्ञान ही योग है। योगाभ्यास करनेके लिये दीक्षा अवश्य ग्रहण करनी चाहिये। दीक्षानिर्दिष्ट अपनी ब्रह्ममूर्तिकी उपासनासे सिद्धि प्राप्त करनेपर योगमार्गमें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त करता है। कौल कहते हैं कि शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर एवं गाणपत्यादि मन्त्रोंके द्वारा चित्त विशुद्ध होनेपर कौल-ज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्रकाशित होता है। कुलार्णवतन्त्रके द्वितीय उल्लासमें लिखा है—

शैववैष्णवदौर्गार्कगाणपत्यादिकैः क्रमात्।
मन्त्रैर्विशुद्धचित्तस्य कौलज्ञानं प्रकाशते॥

उक्त तन्त्रमें और भी कहा गया है कि मनुष्य चार श्रेणियोंमें विभक्त है तथा प्रत्येक श्रेणीके मनुष्य अपने अधिकार-भेदसे परमपदार्थको भिन्न-भिन्न रूपमें देखा करते हैं।

अग्नौ तिष्ठति विप्राणां हृदि देवो मनीषिणाम्।
प्रतिमास्वप्रबुद्धानां सर्वत्र विदितात्मनाम्॥

अर्थात् क्रिया-काण्डमें अनुरक्त ब्राह्मण उनको (परमात्माको) अग्निमें देखा करते हैं। मनीषी अपने हृदयमें उनका अनुभव करते हैं। जो अप्रबुद्ध हैं, वे प्रतिमामें उन्हें देख पाते हैं और जो आत्मज्ञानी हैं, वे सर्वत्र और सर्वदा उस परम पदार्थको देखा करते हैं।

योगसाधनका उद्देश्य यही शेषोक्त अवस्था प्राप्त करना है। इसके लिये सबसे प्रथम कर्तव्य है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन षट् रिपुओंका नाश करना। स्त्री-भोगादिकी जो अभिलाषा है, वही काम है। प्राणियोंको पीड़ा पहुँचानेका नाम है क्रोध। धनादिकी अतिशय आकाङ्क्षाका नाम है लोभ। तत्त्वज्ञानका अभाव ही मोह है। मैं सुखी हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं धनवान् हूँ, इस प्रकारके गर्वको मद कहते हैं और दूसरेका सौभाग्य देखकर जो दुःख होता है, उसका नाम मत्सर है। ये ही शत्रु हैं, क्योंकि ये ही सब दुःखोंके कारण हैं और ये ही आत्मस्वरूपका विचार करनेमें बाधा पहुँचाते हैं। इनका दमन करनेके लिये योगके अष्टाङ्गोंमें यम, नियम,

---

श्रवणके बाद मनन अपेक्षित है। ब्रह्मका स्वरूप सत्, चित् और आनन्द होता है। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।' (बृ० उ० ३।९।२८)। चित्‌का अर्थ है—ज्ञान। अतः ब्रह्म जैसे नित्य सत्-रूप और आनन्दरूप है, वैसे नित्य ज्ञानरूप भी है। ज्ञानमें शब्दके अनुवेद्यका होना आवश्यक रहता है। नित्य ज्ञानके लिये नित्य शब्दका भी अनुवेद्य होना चाहिये। इस तरह नित्य शब्द, नित्य अर्थ और नित्यसम्बन्धवाला वेद ब्रह्मरूप सिद्ध हो जाता है।

१-वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे। (मनु० १।२१)

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिका अभ्यास करना होगा।

यम शब्दका अर्थ है उपरति अर्थात् काम आदिसे निवृत्ति। यह दस प्रकारका है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, कृपा, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच।

अहिंसाका अर्थ है—किसी कर्मके द्वारा और मनके द्वारा किसी प्रकारसे किसी प्राणीको क्लेश न पहुँचाना। सत्य शब्दका अर्थ है—जैसा सुना हो और जैसा देखा हो, वैसा ही कहना। अस्तेय शब्दका अर्थ है—दूसरेका तुच्छसे भी तुच्छ तृण आदि भी ग्रहण न करना। ब्रह्मचर्य शब्दका अर्थ है—आठों प्रकारके मैथुनका परित्याग करना। इस अष्टविध मैथुनका वर्णन शास्त्रमें इस प्रकार आया है—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥

—बुरी भावनासे स्त्रीका स्मरण, कथन, स्त्रीके साथ खेलना, स्त्रीको देखना, छिपकर बातें करना, पानेका सङ्कल्प करना, पानेकी चेष्टा करना और सहवास करना।

कृपा शब्दका अर्थ है—प्राणिमात्रकी दुःखनिवृत्तिकी चेष्टा। आर्जव शब्दका अर्थ इस प्रकार वर्णित है—

व्यवहारेषु सर्वेषु मनोवाक्कायकर्मभिः।
सर्वेषामपि कौटिल्यराहित्यमार्जवं भवेत्॥

अर्थात् समस्त प्राणियोंके साथ मन, वाणी और शरीरके द्वारा जो व्यवहार किया जाता है, उसमें कुटिलताके अभावका नाम आर्जव है। क्षमा शब्दसे अपकार करनेवालेके प्रति मित्रवत् व्यवहार समझना चाहिये। इष्टवस्तुकी अप्राप्तिमें जो दुश्चिन्ता उत्पन्न होती है, उस दुश्चिन्ताका अभाव ही धृति है। शरीर धारण करनेमात्रके लिये जो भोजन है उसका नाम मिताहार है। जिसके द्वारा चित्त निर्मल होता है, उस पवित्रताका नाम शौच है। यहाँपर यह समझना चाहिये कि धृति इन दस प्रकारके सभी साधनोंमें रहेगी। अहिंसा और ब्रह्मचर्यके द्वारा कामपर, कृपा और क्षमाके द्वारा क्रोधपर, अस्तेय, सत्य और आर्जवके द्वारा लोभपर, मिताहार और शौचके द्वारा मोहपर, क्षमा और आजर्वके द्वारा मदपर और अहिंसा, कृपा, आर्जव तथा क्षमाके द्वारा मत्सरपर विजय प्राप्त होती है।

योगका द्वितीय अङ्ग नियम भी दस प्रकारका है, जैसे—तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, देवपूजा, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप और होम।

कृच्छ्रादि व्रतोंके आचरणका नाम तप है। इष्टतर वस्तुकी भी अभिलाषा न होनेका नाम संतोष है। श्रुतिप्रतिपाद्य अर्थमें परलोकके अस्तित्वमें जो विश्वास है वही आस्तिक्य है। यथाविहित अनिन्द्य उपायसे कमाये हुए धनको शक्तिके अनुसार देव, पितर और मनुष्योंके उद्देश्यसे बाँटना दान कहलाता है। अपनी ब्रह्ममूर्तिकी उपासना देवपूजा है। उपनिषद् आदि मोक्षशास्त्रोंके सुननेका नाम सिद्धान्तश्रवण है। कुत्सित आचरणके कारण मनमें जो कष्ट होता है उसका नाम ह्री है। मति शब्दका अर्थ है मनन अर्थात् विविध युक्ति-प्रमाणोंकी सहायतासे सुने हुए अर्थका अनुशीलन। यहाँपर जप शब्दसे इष्टमन्त्रका जप समझना चाहिये। इसके द्वारा चित्तशुद्धि होती है। अग्निहोत्रादि होमका नाम होम है।

आसन अनेक प्रकारके हैं। इनकी कोई संख्या नहीं है। परंतु साधारणतः चौरासी प्रकारके आसनोंकी बात कही गयी है। उनमें पाँच आसन शास्त्रोंमें प्रधान बताये गये हैं। इन पाँचोंके नाम हैं—पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, वज्रासन और वीरासन।

१-पद्मासन—बायीं जाँघपर दाहिना पैर और दाहिनी जाँघपर बायाँ पैर रखकर, पीछेकी ओरसे दोनों हाथ ले आकर दाहिने हाथसे दाहिना अँगूठा और बायें हाथसे बायाँ अँगूठा पकड़ना होता है। इसको बद्ध पद्मासन कहते हैं। मुक्त पद्मासनमें इस प्रकार अँगूठा पकड़नेका नियम नहीं।

२-स्वस्तिकासन—दाहिने घुटने और जङ्घाके बीचमें बायें पैरका तलवा और बायें घुटने तथा जङ्घाके मध्यमें दाहिने पैरके तलवेको रखकर, शरीर सीधा करके बैठना होता है अर्थात् मेरुदण्ड और शिरोभागको एक सीधमें करना होता है। इसको स्वस्तिकासन कहते हैं।

३-भद्रासन—सीयनके दोनों ओर दोनों एड़ियोंको ठहराकर, अण्डकोषके नीचे दोनों हाथोंसे एड़ियों और पैरोंको पकड़कर स्थिर, निश्चल-भावसे बैठा जाता है, इसीको भद्रासन कहते हैं।

४-वज्रासन—दोनों जाँघोंके ऊपर दोनों पैरोंको रखकर, घुटनोंके ऊपर दोनों हाथोंकी हथेली रखकर निश्चलरूपमें

बैठनेको वज्रासन कहते हैं।

५-वीरासन—एक पैरसे दोनों अण्डकोषोंको दबाकर दूसरे पैरको दूसरी जाँघके ऊपर रखकर सरलभावसे बैठनेको वीरासन कहते हैं।

आसन लगानेपर जब श्रम दूर हो जाय तब प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये। जिस आसनमें साधकको कोई क्लेश न हो और सुखपूर्वक बैठ सके, वही आसन लगाकर प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये। प्राणायाम दो प्रकारका है—निगर्भ और सगर्भ। ध्यान और मानस-जप करते हुए प्राणायाम-साधनका नाम सगर्भ प्राणायाम है। बीज उच्चारण न करके जो प्राणायाम किया जाता है उसका नाम निगर्भ प्राणायाम है। इडा नाडीसे अर्थात् बायें नथुनेसे षोडश-मात्रा वायु आकर्षण करनेका नाम पूरक, चौंसठ मात्रा वायु धारण करनेका नाम कुम्भक, बत्तीस मात्रामें पिङ्गलासे अर्थात् दाहिने नथुनेसे वायु त्याग करनेका नाम रेचक है। प्राणायाममें तीन प्रकारकी अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्थामें पसीना निकलता है, उसे अधम अवस्था कहते हैं। मध्यम अवस्थामें साधककी देह काँपती है और प्राणायामकी उत्तम अवस्थामें साधक भूमि छोड़ सकता है। इस प्राणायाममें सिद्ध होनेपर साधक प्रत्याहारका अधिकारी होता है। प्रत्याहार शब्दका अर्थ है इधर-उधर दौड़नेवाली सब इन्द्रियोंको इन्द्रियग्राह्य विषयोंसे निवृत्त करना। अँगुली, एड़ीसे आरम्भ करके सहस्रारपद्मके नीचे रहे हुए द्वादशदल कमलतक सोलह स्थानोंमें प्राणवायुको धारण करनेका नाम धारणा है। प्रत्याहार और धारणाका अभ्यास गुरुके उपदेशके अनुसार ही करना चाहिये। गुरु शिष्यको योग्यताके अनुसार इनकी विधि निर्दिष्ट करते हैं।

एकाग्रचित्त होकर अपने अभीष्ट देवता या स्वकीया ब्रह्ममूर्तिके चिन्तन करनेका नाम ध्यान है। निरन्तर जीवात्मा और परमात्माके ऐक्यचिन्तनको समाधि कहते हैं।

जीवदेहमात्र ही शिवशक्त्यात्मक या अग्नीषोमात्मक अथवा शुक्रशोणितात्मक है और वह ९६ अंगुल लम्बी है अर्थात् साधककी अपनी अँगुलियोंसे ९६ अंगुल है। पायु और जननेन्द्रियके मध्यके स्थानको कन्द या मूलाधार कहते हैं। इस मूलाधारसे असंख्य नाडियोंकी उत्पत्ति हुई है। उनमें तीन प्रधान हैं, उन तीनोंका नाम है—इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना।

इडा बायीं ओर है, पिङ्गला दाहिनी ओर है और सुषुम्ना मेरुदण्डके मध्य भागमें है। सुषुम्नाके भीतर एक और नाडी है, उसे चित्रा कहते हैं। चित्राके अन्तर्भागको ब्रह्मनाडी कहते हैं। मूलाधारमें जो एक अत्यन्त सुन्दर ज्योतिर्मय त्रिकोण है, वहींपर कुण्डलिनी अर्थात् जीवशक्ति साढ़े तीन चक्करके रूपमें सोयी हुई सर्पिणीकी तरह रहती है। मूलाधारके ऊपर लिङ्गमूलमें जो चक्र है उसका नाम स्वाधिष्ठानचक्र है। उसके ऊपर नाभिके मूलदेशमें सुषुम्नानाडीसे सम्बद्ध जो चक्र है, उसे मणिपूरचक्र कहते हैं। हृदयस्थानमें जो एक चक्र है, उसको अनाहतचक्र कहते हैं, कण्ठदेशमें जो चक्र है, उसका नाम विशुद्धिचक्र है और भ्रूमध्यमें जो चक्र है उसको आज्ञाचक्र कहते हैं। इसी स्थानपर गुरुकी आज्ञाका सञ्चार होता है, इसीसे इसका नाम आज्ञाचक्र है। साधक कुण्डलिनी-शक्तिको इन समस्त चक्रोंका भेदन करता हुआ मूलाधारसे द्वादशदलचक्रके ऊपरमें शिवस्थानमें ले जाता है और शिवशक्ति-सामरस्यरूप अतुल आनन्दका भोग करता है। षट्चक्रनिरूपण, त्रिपुरासार-समुच्चय, गन्धर्वतन्त्र प्रभृति ग्रन्थोंमें इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। महाकालोक्त 'पादुकापञ्चकम्' स्तोत्रमें पूर्वोक्त द्वादशदलपद्मका विशेष विवरण है। योगसाधनाका उद्देश्य यही है कि गुरु, मन्त्र, यन्त्र, देवता और साधककी एकताकी उपलब्धि हो और क्रमशः अद्वैतभावकी प्राप्ति हो। उस अवस्थाकी प्राप्ति होनेपर सिद्धयोगी परमानन्द नित्यचैतन्यैक-गुणात्मक आत्माभेदस्थित प्रणवके या ह्रींकारके चिन्तनमें मग्न होते हैं। उस समय वे मन, वाणी तथा वेदवाक्यसे अतीत स्वसंवेद्य आनन्द-रससागर तारात्मक वस्तुकी उपलब्धि करते हैं।

अद्वैतलाभके पूर्वकी अवस्थामें जो ध्यान शारदातिलकमें बतलाया गया है, वह इस प्रकार है—

सत्यं मानविवर्जितं श्रुतिगिरामाद्यं जगत्कारणं
व्याप्तं स्थावरजङ्गमं मुनिवरैर्ध्यातं निरुद्धेन्द्रियैः।
अर्काग्नीन्दुमयं शताक्षरवपुस्तारात्मकं सन्ततं
नित्यानन्दगुणालयं गुणपरं वन्दामहे तन्महः॥

(२३।३७)

विचार करके देखनेपर मालूम होगा कि तन्त्रकथित

मार्गका और श्रुतिकथित मार्गका गन्तव्य स्थान एक ही है। इसीलिये श्रुति और आगमका भेद वाक्यगत है, वस्तुगत नहीं। उद्धृत श्लोककी व्याख्या कोई-कोई इस प्रकार करते हैं—

'अरूपस्य ब्रह्मणो भावनरूपं ध्यानमेतत्। सत्यम्, असत्यव्यावृत्तिरूपम्; 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतेः। मानविवर्जितम्, प्रमाणागोचरीकृतम्; 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेः। श्रुतिगिरामाद्यम्, वेदप्रवक्तृ 'शास्त्रयोनित्वात्' इति बादरायणिसूत्रणात्। जगत्कारणम्; 'जन्माद्यस्य' इति सूत्रणात्। व्याप्तस्थावरजङ्गमम्; 'सहस्रशीर्षा' इत्यादि श्रुतेः। मुनिवरैर्नारदादिभिः। अर्काग्नीन्दुमयमिति गायत्र्यादिदेवताक्रमेण। यद्वा अर्को विष्णुः अग्नी रुद्र इन्दुर्ब्रह्मा तन्मयम्। तत उत्पन्नत्वात्। यद्वा ओंकाररूपत्वं वक्ष्यति। एतेनाकारोकारमकारात्मकत्वेनाग्नीन्द्वर्करूपत्वं शताक्षरवपुरिति। शताक्षरैः परं महः प्रतिपाद्यते। प्रतिपाद्य-प्रतिपादकयोरभेदात् शास्त्रयोनित्वेन कार्यकारणाभेदाद्वा शब्दब्रह्मरूपत्वाद्वा तथोक्तिः; यद्वा यतः अर्काग्नीन्दुरूपत्वम् अत एव शताक्षरवपुरिति हेतुहेतुमद्भावेन योजना। नित्यानन्दचित्त्वं तत्स्वरूपमेव। तदालयत्वं च भगवत उपचारात्। गुणेभ्यः सत्त्वरजस्तमोभ्यः परं तद्रहितम् तद्वेदशिरसि प्रसिद्धम्। महः नित्यं प्रकाशकत्वान्मह इव। एते च सर्वे शब्दास्तस्य वस्तुनो लक्षका एव न वाचकाः। एतेषां शब्दानामेकार्थत्वम् अपर्यायत्वेऽपि अतद्व्यावृत्त्यर्थतया न पौनरुक्त्यम्।'

फिर, उपर्युक्त श्लोककी व्याख्या इस प्रकार भी की जाती है—

महस्तेजोरूपा कुण्डलिनी उच्यते। सत्यं नित्यत्वात्तस्याः; 'नित्या शक्तिः परादेवी' इत्युक्तेः। मानमियत्ता तद्वर्जिता; 'सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा विभुः'; इत्युक्तेः। व्याप्तस्थावरजङ्गमा; 'सर्वगा विश्वरूपिणी दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना' इत्युक्तेः। निरुद्धेन्द्रियैर्मुनिवरैर्ध्याता; 'योगिध्येया च सर्वदा' इत्युक्तेः। 'योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्ती नित्यमञ्जसा' इत्यपि। अर्काग्नीन्दुरूपा; 'त्रिधामजननी देवी' इत्युक्तेः। 'सोमसूर्याग्निरूपा च' इत्युक्तेश्च। शताक्षरवपुः; 'विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मन्त्रमयं जगत्' इत्युक्तेः। तारात्मकम्;

तन्मध्ये चिन्तयेद्देवीमृज्वाकारां तडित्प्रभाम्।
ओङ्काररूपिणीं ज्योत्स्नामात्मरूपां शुभोदयाम्॥

—इत्युक्तेः। नित्यानन्दगुणालया 'नित्यानन्दगुणोदया' इत्युक्तेः। गुणपरा; गुणरूपा परा च, 'शक्तिः कुण्डलिनी गुणत्रयवपुर्विद्युल्लतासंनिभा' इत्युक्तेः। 'परापरविभागेन परशक्तिरियं मता' इत्युक्तेश्च।

उक्त श्लोकमें **'शताक्षरवपुः'** शब्दका अर्थ शताक्षरमन्त्र है। यह (१) त्रिष्टुप्, (२) गायत्री और (३) अनुष्टुप्—इन तीन मन्त्रोंके संयोगसे बनता है।

उद्धृत श्लोककी जो व्याख्या दी गयी है वह महामति सर्वशास्त्रविशारद राघवभट्टकृत है। उससे यह मालूम होता है कि कोई मन्त्र किसी निर्दिष्ट देवताका नहीं है। जिस समय साधकसे मन्त्र, देवता और गुरुके साथ ऐक्य-भावना करनेके लिये कहा जाता है, उस समय साधक जिस इष्ट देवताका साधन करता है, वही एकमात्र परम देवता है, यह समझना भूल है। भगवत्पाद शंकराचार्यने स्वरचित प्रपञ्चसारतन्त्रमें हृल्लेख्या बीजके सम्बन्धमें कहा है—

यां ज्ञात्वा सकलमपास्य कर्मबन्धं
तद्विष्णोः परमं पदं प्रयाति लोकः।
तामेतां त्रिजगति जन्तुजीवभूतां
हृल्लेख्यां जपत च नित्यमर्चयीत॥

—इससे स्पष्ट मालूम होता है कि शक्तिबीज-साधनके द्वारा भी विष्णुपद प्राप्त किया जाता है। पहले ही कहा गया है कि साधकके उपास्य या इष्ट देवता उसकी गुरुनिर्दिष्ट ब्रह्ममूर्तिमात्र है। अपने इष्टकी मूर्तिका अवलम्बन करके ही परम पदार्थमें लीन हुआ जा सकता है। शाक्ततन्त्रमें शक्तिको प्रधानता दी जाती है, इसीसे 'ह्रीं' कार बीज और कुण्डलिनी-शक्तिकी आराधनाको प्रधानता दी जाती है। शैवतन्त्रमें 'ओंकार' और शिवको प्रधानता दी जाती है। इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं। शिव और शक्तिके परस्पर-सम्बन्धको 'अविनाभाव' बतलाया जाता है। जिन्होंने इस 'अविनाभाव' की उपलब्धि की है, वे ही जीवन्मुक्त हैं।

उपसंहारमें यह कहना आवश्यक है कि इसके अतिरिक्त और जो कुछ करनेकी आवश्यकता है, वह गुरुसे ही जाना जा सकता है। शास्त्रोंमें कहा गया है—

'गुरूपदेशतो ज्ञेयं न ज्ञेयं शास्त्रकोटिभिः।'

यह कहनेका मतलब यही है कि केवल शास्त्रवचनके आधारपर यदि योगसाधना की जाय तो साधकको समय-समयपर विशेषरूपसे विपद्ग्रस्त होना पड़ता है। गुरु शिष्यका अधिकार समझकर पग-पगपर उसे उपदेश देते हैं। यहाँतक देखा गया है कि प्राणायामसाधन करते समय भी कोई पथप्रदर्शक न होनेपर साधकको विपद्ग्रस्त होना पड़ा है। इन सब कारणोंसे जो विषय गुरुसे ही सीखने योग्य है, उसका उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है।

शांकरवेदान्तमें योगका महत्त्व

(श्रीवेदान्ती स्वामीजी)

योगदर्शनके अनुसार 'योग' शब्दसे निर्विकल्प-समाधि ही अभिप्रेत है, अन्य कुछ नहीं। इसे प्रायः सभी व्याख्याता मानते हैं—

'योग असम्प्रज्ञातसमाधिः।'

(व्यासभाष्य)

प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र आदि सभी प्रमाणों, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं एवं इसके विपरीत संकल्प, विकल्प आदि सभी वृत्तियोंको निरुद्ध कर एकमात्र तुरीय अवस्थामें स्थित होना ही योग है। इसे जैन, बौद्ध, सूफी आदि अन्य योग-साधक भी स्वीकार करते हैं। इसे ही निर्विकल्प समाधि कहा गया है। इसीमें परमात्माका साक्षात्कार भी होता है, जैसा कि महर्षि पतञ्जलिका कथन है—

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।'

(योग० १।३)

अद्वैत वेदान्तमें योगकी प्रधानता है। आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि—ये असम्प्रज्ञात योगके मुख्य अङ्ग हैं। विजातीय वृत्तियोंके तिरस्कारपूर्वक सजातीय वृत्तिका सहज प्रवाह ध्यान है। **'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'** तथा **'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता'**—आदिके अनुसार ध्यानकी परिपक्वावस्था ही समाधि है। समाधिसे सञ्चित पुण्यापुण्य अपरिमित कर्म इस ध्यानद्वारा नष्ट हो जाते हैं।

धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः।
वर्षत्येष यतो धर्मामृतधारां सहस्रशः॥

(पञ्चदशी)

'परमश्रेष्ठ योगवेत्तागण धर्मकी अमृतमयी धाराकी निरन्तर वर्षा करनेके कारण समाधिको धर्ममेघ कहते हैं।' योग-दर्शनमें कहा गया है कि जो योगी प्रसंख्यान-ज्ञानसे भी विरक्त है उसको निरन्तर विवेक-ख्यातिके उदय होनेसे धर्ममेघ-समाधि होती है—**'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः'** (४।२९)। ज्ञानसे केवल भ्रान्तिकी निवृत्ति होती है, पर ब्रह्माकाराकारिता-वृत्तिकी गाढ़ता योगके बिना सम्भव नहीं है। योगजन्य साक्षात्कारका विषय होनेसे ब्रह्मानन्द योगानन्दको प्राप्त होता है, वही निरुपाधिक होनेसे निजानन्द है और उसीको गौण-मिथ्या-मुख्यात्मके विवेचनद्वारा आत्मानन्द कहते हैं।

वस्तुतः आत्मबोध होनेपर भी आत्मनिष्ठताके अभावमें व्यक्ति जीवन्मुक्तके आनन्दसे वञ्चित रह जाता है। आत्मनिष्ठता ध्यानसे प्राप्त होती है। क्रमशः प्रत्ययैकतानतारूप ध्यानसे वासनाका क्षय भी शनैः-शनैः हो जाता है—

यदा यदा प्रत्यगवस्थितं मनः
तदा तदा मुञ्चति बाह्यवासना।

यम-नियमादिके पालनसे योगसाधनस्वरूप ध्यानकी योग्यता प्राप्त होती है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय अथवा ध्याता, ध्यान, ध्येयकी त्रिपुटीयुक्त सविकल्प-समाधि एवं त्रिपुटीरहित ध्येयैकगोचर समाधि निर्विकल्प है। विज्ञानमय ध्याता मनोमय ध्यानका विषय है। ध्याता, ध्यान, ध्येयके अभावमें निवातदीपवत् चित्त समाधिस्थ कहा जाता है। इस योग-समाधिके आश्रयसे अन्तःकरणके समस्त मलोंका अपनयन हो जाता है।

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं लभेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

(मैत्रायणी-उपनिषद् ४।९)

आत्मामें योगाभ्याससे शुद्ध हुए चित्तको निवेशित करनेके उपरान्त साधकको अलभ्य सुखकी प्राप्ति होती है। जिस कालमें द्वैतकी प्रतीति नहीं होती एवं विक्षेप निद्रा आदिका भी अभाव होता है, उस समय समाधिके दिव्य सुखका अनुभव होता है। उसी अवस्थाको ब्रह्मानन्द कहा जाता है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥

(गीता ६। २७)

योगाभ्याससे मन प्रशान्त हो जाता है। इस प्रकार कल्मषरहित योगी उत्तम सुख प्राप्त करता है। वह अवस्था-विशेष या समाधिके अभ्यासद्वारा परिशुद्ध अन्तःकरणसे स्वप्रकाश-स्वरूप चैतन्यको देखता हुआ अपनेमें संतुष्ट रहता है। आत्मतत्त्वमें स्थित हुआ (आत्मनिष्ठ) महान् दुःखोंसे विचलित नहीं होता है। किसी परिस्थितिके आनेपर वह घबड़ाता नहीं है। ऐसी ही स्थितिमें ब्रह्माकारावृत्ति स्थिर हो जाती है।

वेदान्त आदि दर्शनशास्त्रोंमें जहाँ विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्व आदि ज्ञानके साधन कहे गये हैं, वहीं श्रवण, मनन, निदिध्यासनको ज्ञानका हेतु बतलाया गया है।

श्रवणादित्रयं तद्वत्तत्त्वमिथ्याविवेचनम्।
पुनर्ग्रन्थेरनुदयो बोधस्यैते त्रयो मताः॥

(पञ्चदशी)

ग्रन्थिस्वरूप वासनाओंका पुनः उदय न होना ही ज्ञानका फल है। अर्थात् कूटस्थके साथ अहङ्कारादि तादात्म्य-वृत्तिका उदय न होना यह ज्ञानका फल है। निदिध्यासन-समाधिके अभ्याससे वृत्ति जब गाढ़ हो जाती है, तब **'तादात्म्याध्यास'**-रूप ग्रन्थिका उदय नहीं होता है। योगसे प्राप्त ब्रह्मज्ञानके द्वारा भ्रान्तिकी निवृत्ति होती है। ऐसी स्थितिमें चिज्जड-ग्रन्थिका उदय नहीं होता है। ध्यान-योगमें ब्रह्माकार-वृत्ति रहती है। यहाँ ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटी नहीं है। ब्रह्माकार-वृत्तिका यह वैशिष्ट्य है कि लक्ष्यकी आवृत्ति भी होती है तथा ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटी भी नहीं रहती ज्ञानप्राप्तिके बाद भी योगकी आवश्यकता रहती है, क्योंकि ज्ञान होनेपर ज्ञाननिष्ठाकी प्राप्ति योगके बिना नहीं हो सकती। अतः योगका महत्त्व योगज्ञान-निष्ठा ही है।

ज्ञान होनेपर केवल भ्रान्तिकी निवृत्ति होती है, वासनाका क्षय नहीं होता। अतः अन्तःकरणकी विशुद्ध प्रशान्त एवं विक्षेपशून्यावस्था योगाभ्यासके बिना नहीं होती है। अद्वैत-ज्ञानमें चित्तवृत्तियोंका निषेध होता है।

मन-बुद्धि आदि सूक्ष्म एवं स्थूल नाम-रूप सकल प्रपञ्चका निषेध करनेपर निषेधरहित निर्विशेषवृत्तिको ब्रह्माकार-वृत्ति कहते हैं; यह कर्ताका बाध करके उत्पन्न होती है अतः कर्तृजन्य नहीं है।

आनन्दको भी त्यागकर आत्मस्थिति प्राप्त करनेको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। यदि समाधि ज्ञान है तो उत्थानको अज्ञान मानना पड़ेगा। ज्ञान होनेपर भी विक्षेप दूर नहीं होता, क्योंकि ज्ञान तो केवल अज्ञान दूर करता है। अतः विक्षेप-निवृत्तिके लिये योगकी नितान्त आवश्यकता है।

सच्चे गुरुदेव

काहू सौं न रोष तोष काहू सौं न राग दोष,
काहू सौं न बैरभाव काहू की न घात है।
काहू सौं न बकवाद काहू सौं नहीं बिषाद,
काहू सौं न संग न तौ कोउ पक्षपात है॥
काहू सौं न दुष्ट बैन काहू सौं न लैन दैन,
ब्रह्म को बिचार कछु और न सुहात है।
सुन्दर कहत सोई ईसनि कौ महाईस,
'सोई गुरुदेव जाकै दूसरी न बात है'॥

—श्रीसुन्दरदासजी

योगवासिष्ठमें योग

(प्रो॰ डॉ॰ श्रीभीखनलालजी आत्रेय, एम्॰ ए॰, डी॰ लिट्॰)

श्रीयोगवासिष्ठ महारामायण भारतवर्षके आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें बहुत उच्च कोटिका ग्रन्थ है। इसमें वसिष्ठ ऋषिद्वारा श्रीरामचन्द्रको किये हुए आध्यात्मिक उपदेशका बहुत सरस भाषामें वर्णन है, इसके दार्शनिक सिद्धान्त बहुत सूक्ष्म और गहन हैं। अद्वैत वेदान्तके अनेक लेखकोंने इन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया है और कुछ विद्वानोंने इसके बहुत-से स्थलोंसे चुनकर कुछ श्लोकोंका संग्रह करके उन संग्रहोंको उपनिषदोंके नामसे प्रकाशित किया है। महा-उपनिषद्, अन्नपूर्णा-उपनिषद् और अक्षि-उपनिषद्के तो प्रायः सभी श्लोक योगवासिष्ठसे ही संगृहीत हैं।

'योग' शब्दका अर्थ

योगवासिष्ठमें योग शब्दका अर्थ है—संसारसागरसे पार होनेकी युक्ति (निर्वा॰पू॰ १३। ३)।

योगका आदर्श

योगद्वारा मनुष्य अपने यथार्थ स्वरूप सच्चिदानन्दका अनुभव कर लेता है। योगका ध्येय वह तुरीय नामक परम आत्मामें स्थिति है, जिसमें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति किसीका भी अनुभव न हो और न इनके आगामी अनुभवका बीज भी रहे तथा जिसमें परम आनन्दका निरन्तर अनुभव होता रहे।

योगके तीन प्रभेद

(१) एक तत्त्वकी दृढ़ भावना, (२) मनकी शान्ति और (३) प्राणोंके स्पन्दनका निरोध—ये तीन योगके प्रभेद हैं। इन तीनोंमेंसे किसी एकपर चलनेसे तीनोंकी ही सिद्धि हो जाती है। इन तीनोंमें मनको शान्त कर लेना सबसे सरल है। यद्यपि किसीको ज्ञानका अभ्यास, किसीको प्राण-निरोध और किसीको मनका शान्त करना सरल होता है तो भी योग-वासिष्ठकार कहते हैं कि प्राणोंके निरोधकी अपेक्षा मनको शान्त करना अथवा तत्त्वका दृढ़ अभ्यास करना अधिक सरल है (निर्वा॰ पू॰ १३। ८)। इसलिये इस ग्रन्थमें इन दो भेदोंका ही बहुधा उल्लेख हुआ है।

१-एक तत्त्वका दृढ़ अभ्यास

एक तत्त्वकी दृढ़ भावनासे मन शान्त होकर आत्मामें विलीन हो जाता है और प्राणोंका स्पन्दन स्वयं ही रुक जाता है (निर्वा॰ पू॰ ६८। ४८)। एक तत्त्वका दृढ़ अभ्यास तीन प्रकारसे किया जाता है—

१. ब्रह्मभावना—पहले विचारद्वारा यह निश्चय हो जाना चाहिये कि संसारभरमें केवल एक ही अनन्त आत्मतत्त्व है और सब पदार्थ उसी तत्त्वके नाना नाम-रूप हैं। तब मनको तन्मय करनेका प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकारका ब्रह्माभ्यास करनेसे मन ब्रह्माकार होकर विलीन हो जाता है और प्राणोंकी गति भी स्वयं ही अवरुद्ध हो जाती है, क्योंकि यह नियम है कि जो जिस विषयकी दृढ़ भावना करता है वह तद्रूप हो जाता है।

२. अभाव-भावना—अभाव-भावनाका अर्थ है, पदार्थोंको अत्यन्त असत् समझकर उनके पारमार्थिक अभावकी दृढ़ भावना करना। जबकि ब्रह्म (आत्मा)के अतिरिक्त इस जगत्में और कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं और सब दृश्य पदार्थ वस्तुतः ब्रह्म ही हैं, तब उनको नाना नाम-रूपवाले और भिन्न सत्तावाले समझना केवल भ्रम है। इस बातको भलीभाँति समझकर यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि पदार्थ हैं ही नहीं, केवल सर्वत्र ब्रह्म-ही-ब्रह्म है। इस निश्चयके अभ्यासका नाम ब्रह्मभावना है। ऐसा करनेसे मन शान्त हो जाता है और अहंभाव तथा जगत्का अनुभव—दोनोंका लोप होकर आत्मभावमें स्थिति हो जाती है (स्थिति-प्रकरण)।

३. केवलीभाव—केवलीभाव उस निश्चयके अभ्यासका नाम है जिसमें केवल एक आत्मतत्त्वकी स्थिति मानी जाय और समस्त दृश्य पदार्थोंके असत्य होनेकी दृढ़ भावना होनेके कारण अपने द्रष्टा होनेको भी असत् समझा जाय और अपने उस आत्मस्वरूपमें स्थिति हो जाय जिसमें द्वैतका कोई भान नहीं है (स्थिति॰ ४। ५३)।

२-मनोलय

योगवासिष्ठके अनुसार मन ही संसारका उत्पन्न करनेवाला और चलानेवाला है। मनके शान्त हो जानेपर जीवनमें परमशान्ति आ जाती है और संसारका अनुभव क्षीण हो जाता है। मनके शान्त हो जानेपर जीव ब्रह्मत्वको प्राप्त हो जाता है और प्राणोंका स्पन्दन भी रुक जाता है। मन

संसाररूपी मायाचक्रकी नाभि (केन्द्रबिन्दु) है। इस नाभिको बल और बुद्धिद्वारा घूमनेसे रोक लेनेपर संसारचक्रकी गति भी अवरुद्ध हो जाती है। मनको जीत लेनेपर सब कुछ जीत लिया जाता है। मनके नाश होनेपर संसारका इस प्रकार लय हो जाता है जैसे कि घटके नाश होनेपर घटाकाश नष्ट हो जाता है। चित्तके लीन हो जानेपर द्वैत और अद्वैत दोनोंकी भावनाओंका लय होकर परम शान्त आत्मतत्त्वका ही अनुभव शेष रह जाता है। संसाररूपी दुःखसे मुक्त होनेका उपाय केवल मनको निग्रह करना है। इसी युक्तिद्वारा मनुष्यको परम शान्तिका अनुभव होता है। बिना इस युक्तिके शुभगति प्राप्त नहीं होती।

मन ही स्थूल होकर परिमित जीव हो जाता है और मन सूक्ष्म और विस्तृत होकर ब्रह्म हो जाता है। जिन कारणोंद्वारा मन स्थूलताको प्राप्त होकर दुःख भोगता है, वे ये हैं—अनात्म वस्तुमें आत्मभाव, स्थूल देहमें आस्था, स्त्री, पुत्र और कुटुम्बसे ममता, मेरा-तेरापन, बुढ़ापे और मौतसे भय, संसारसे सुखकी आशा, किसी वस्तुकी प्राप्ति और किसीके त्यागका यत्न, भोगोंकी तृष्णा और विषयोंके भोगोंमें फँसना आदि (उप० प्रक० ५०। ५७—६३)।

मन सूक्ष्म होकर जिन कारणोंसे ब्रह्मभावको प्राप्त होता है, वे ये हैं—भोगोंमें सुखकी कल्पनाको छोड़कर सांसारिक वासनाओंको त्यागकर परम शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर प्रवृत्त होना, मनकी असत्ता और आत्माकी सत्तापर बार-बार विचार करना, संसारके पदार्थोंकी असत्ताका दृढ़ निश्चय हो जाना, परम तत्त्वके चित् सामान्य रूपमें स्थिर होना आदि।

मनको शान्त करनेके उपाय

बिना उचित युक्तिके मनको जीतना कठिन है (उप० प्रक० ९१। ३४)। जो लोग ठीक युक्तियोंको छोड़कर हठपूर्वक मनको जीतना चाहते हैं, उनको अनेक क्लेश और भय प्राप्त होते हैं। (उप० प्रक० ९१। ४०)। मनको शान्त करनेकी अनेक रीतियाँ हैं, उनमेंसे कुछका उल्लेख यहाँ किया जाता है—

१. ज्ञानयुक्ति—ज्ञानद्वारा मनका निरोध करना आँख मींचने या फूलको मसल देनेसे भी सरल है। इसमें जरा भी कष्ट नहीं होता (निर्वा० पू० १११। ३१)। मनकी सत्ता ही अज्ञानके कारणसे है और वह ज्ञानद्वारा इस प्रकार सरलतासे नष्ट की जा सकती है जैसे कि रस्सीमें साँपकी सत्ता और मरुभूमिमें मृगतृष्णाके जलकी सत्ता। जो वस्तु अज्ञानजन्य है, वह ज्ञानद्वारा तुरंत नष्ट हो जाती है। सत्यका ज्ञान होनेपर यह भलीभाँति निश्चित हो जाता है कि वस्तुतः आत्माके अतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं है और मन भी असत् है।

२. संकल्पत्याग—संकल्प मनका बन्धन है और संकल्पका अभाव मनकी मुक्ति है। संकल्प न रहनेपर मनका नाश हो जाता है और मुक्तिका उदय होता है। संकल्पके शान्त होनेपर संसारका सब दुःख मूलसहित नष्ट हो जाता है।

३. भोगोंसे विरक्ति—जबतक संसारका नाश करनेवाले भोगोंसे विरक्ति उदित नहीं होता, तबतक दुःखोंपर विजय पानेवाली परम निवृत्तिका अनुभव नहीं होता (५। २४। ३७-३८)। संसाररूपी गड्ढेमें पड़े हुए लोग तभीतक दुःखोंमें भ्रमण करते हैं, जबतक उनको विषयोंसे वैराग्य नहीं होता (५। २४। ४३)। विषयोंसे विरक्ति होनेसे मन सूक्ष्म होकर आत्मभावको प्राप्त होता है।

४. वासनात्याग—चित्त (मन)का असली रूप वासना है। वासना (इच्छा) और मन पर्यायवाची शब्द हैं। वह मनुष्य जिसकी सम्पूर्ण वासनाएँ क्षीण हो गयी हों, जीवन्मुक्त हो जाता है। बन्धनमें पड़े हुए लोगोंको उस अवस्थाका अनुभव नहीं होता (३। २२। ८)। वासनात्यागकी सरल युक्ति यह है कि पहले तामसी वासनाओंका परित्याग करके मनमें मैत्री आदिकी शुद्ध वासनाओंको रखे, उनके अनुसार व्यवहार करता हुआ फिर उनको भी मनसे निकालकर सब वासनाओंसे रहित होकर केवल एक चिन्मात्रावस्थाको प्राप्त होनेकी वासनाको मनमें रहने दे (स्थिति० प्रक० ५७। २१)। तब मन और बुद्धिसहित उस वासनाका भी त्याग करके जो अवस्था शेष रहे उसके ध्यानमें स्थिर रहे। इस प्रकार जिस वासनाद्वारा दूसरी वासनाओंका त्याग किया जाय, उस अहंभावको भी त्याग देना चाहिये। उस ज्ञानवान् पुरुषके मनमें, जिसने कि इस भावनासे कि 'सब कुछ ब्रह्म ही है' अपना अज्ञान नष्ट कर लिया है, कभी वासनाका उदय नहीं होता। जिस प्रकार दीपकसे अँधेरा दूर होकर प्रकाशका उदय हो जाता है, उसी प्रकार परमार्थके ज्ञानसे वासना समूल नष्ट

होकर शान्तिका अनुभव होता है।

५. अहंभावका नाश—अहंभावके दृढ़ होनेपर ही संसारका भ्रम उदित होता है और अहंभावके क्षीण होनेपर उस स्वभावमें स्थिति हो जाती है, जिसमें कि निरन्तर शान्ति ही है। अहंभावरूपी मेघके क्षीण होनेसे चिदाकाशके निर्मल हो जानेपर ही आत्मानुभवरूपी सूर्यका प्रचण्ड प्रकाश होता है। यह सब संसार इन्द्रजालकी भाँति मिथ्या है, इसलिये इसमें राग रखनेसे क्या और द्वेष करनेसे क्या ? इस प्रकार विचार करते रहनेसे अहंभाव नहीं रहता। जब यह ज्ञान होकर कि मैं ही सारा जगत् हूँ और यहाँपर कोई वस्तु भी त्यागने अथवा प्राप्त करने योग्य नहीं है, चित्तमें समताका प्रकाश हो जाय, तब अहंभावकी वृद्धि नहीं होती (स्थिति० ३३। ४६)।

६. असङ्गका अभाव—जिसके हृदयमें संसारकी वस्तुओंके साथ संग है, वही मनुष्य संसारसागरमें डूबा हुआ है और जिसका मन संगसे रहित है वही संसारसे मुक्त है। संगरहित पुरुष वह है जो न कर्मोंके त्यागसे प्रसन्न होता है और न कर्मोंमें अनुरक्त होता है, जो किसी भी कर्मका फल नहीं चाहता और जो सब अवस्थाओंमें समान रहता है। यहाँ सब कुछ आत्मा ही है—किस वस्तुका त्याग करूँ और किसका ग्रहण—इस भावका नाम असंग है। जीवन्मुक्तिमें यही दशा होती है (उप० प्रक० ६८। ४)।

७. कर्तृत्वभावका त्याग—जब स्पन्दनात्मक कर्म क्षीण हो जाता है तो मन भी क्षीण हो जाता है। जैसे अग्नि और उष्णताकी सदा एकता है, वैसे ही मन और कर्मकी सदा एकता है। दोनोंमेंसे एकका नाश होनेसे दोनोंका ही नाश हो जाता है। कर्मका बीज (कारण) आत्माके अज्ञानसे उत्पन्न हुआ संकल्प है। संकल्प करना ही बन्धनका कारण है, इसलिये उसका सर्वथा परित्याग करना चाहिये। संवेदन और संवेद्य दोनोंको छोड़कर वासनारहित शान्त होकर रहनेका नाम कर्मत्याग है।

८. सर्वत्याग—जबतक सब कुछ नहीं त्यागा जाता, तबतक आत्मलाभ नहीं होता। सब अवस्थाओंका परित्याग करनेपर जो शेष रहता है, वही आत्मा है (५। ५८। ४४)। शुद्ध सर्वत्यागको सर्वदुःखोंका अन्त करनेवाली चिन्तामणि समझना चाहिये, शुद्ध बुद्धिसे उसीकी साधना करनी चाहिये। जो सब कुछ है, जिससे सब कुछ है और जो सबका कारण है, उसीमें सबका त्याग कर देनेसे सर्वत्यागकी सिद्धि होती है। तीनों कालमें रहनेवाला जगज्जाल जिसने अपने भीतर इस प्रकार देख लिया है जैसे कि मोतीके भीतर तागा, उसने सब कुछ त्याग दिया। जिसने बुद्धिद्वारा सब शङ्काओं, सब इच्छाओं और सब निश्चयोंका त्याग कर दिया है वह महात्यागी कहलाता है।

९. समाधिका अभ्यास—यदि निर्विकल्प समाधिमें स्थिति हो जाय तो अक्षय और निर्मल सुषुप्तिके समान आत्मपदकी प्राप्ति हो जाती है। समाधि चुपचाप रहनेका नाम नहीं है। सब आशाओंरूपी तृणोंको भस्म करनेवाली तत्त्वज्ञानरूपी अग्निका नाम समाधि है (५। ६२। ८)। समाधि उस प्रज्ञाका नाम है जिसमें चित्त स्थिर हो, नित्य तृप्ति हो और पदार्थोंके असली रूपका ज्ञान हो। विषयोंके प्रति किसी प्रकारकी भी तृष्णा न रहनेका नाम समाधि है।

१०. लयक्रिया—देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और क्षेत्रज्ञ—जिन-जिन तत्त्वोंसे उत्पन्न होते हैं उनको जानकर उनमें इनको लय करनेका यत्न करना चाहिये। इस रीतिसे पहले अपने आपको विराट्में स्थित करे, फिर अव्याकृतमें और फिर परम कारणमें। शरीरके पार्थिव भाग मांसादिका पृथ्वीतत्त्वमें विचारद्वारा लय करे, रक्तादिका जलमें, तैजस भागका अग्निमें, वायव्य भागका वायुमें और आकाशीय भागका आकाशमें। इसी प्रकार एक-एक इन्द्रियको उसके कारण तत्त्वमें लय करे—श्रोत्रको दिक्में, त्वक्को वायुमें, चक्षुको सूर्यमें, जिह्वाको जलमें, घ्राणको पृथ्वीमें, पैरोंको विष्णुमें, पायुको मित्रमें, उपस्थको कश्यपमें, मनको चन्द्रमामें, बुद्धिको ब्रह्मामें—इस प्रकार समस्त देहको उसके कारण—तत्त्वोंमें लय करके अपने आपको विराट् समझे। अब पृथ्वी-तत्त्वको जलमें, जलको अग्निमें, अग्निको वायुमें, वायुको आकाशमें और आकाशको महाकाशमें जो कि सबका उत्पत्ति-कारण है, लय करे। वहाँपर योगी लिङ्ग-शरीरद्वारा क्षणभर स्थित होकर और ब्रह्माण्डके बाहर दृष्टि फैलाकर यह अनुभव करे कि मैं आत्मा हूँ। लिङ्ग-शरीरको सूक्ष्म अव्याकृतमें जो कि ब्रह्मासे पूर्वकी अवस्थाका नाम है, लीन करना चाहिये। यह वह तत्त्व है जिसमें नाम-रूपका त्याग करके जगत् स्थित रहता है। कोई इसको प्रकृति कहते हैं, कोई माया और कोई परमाणुसमूह,

कोई तर्कसे भ्रान्त चित्तवाले इसको अविद्या कहते हैं। उसमें सब पदार्थ लय होकर अव्यक्तरूपसे वर्तमान रहते हैं। इन तीनों अवस्थाओं-(स्थूल, सूक्ष्म और कारण-)के परे भी एक अव्यय चतुर्थ पद है। उसकी प्राप्तिके लिये उसका ध्यान करके कारण-शरीरका उसमें लय करना चाहिये। (निर्वा० पू० १२८। २१—२५)।

३-प्राण-निरोध

जैसे पंखेका हिलना बंद होते ही हवाका चलना बंद हो जाता है, उसी प्रकार प्राणोंकी गति रुक जानेपर मन भी शान्त हो जाता है।

प्राणका स्पन्दन रुकनेसे मन शान्त हो जाता है और मनके शान्त हो जानेपर संसारका लय हो जाता है। (५। ७८। १५-१६)।

प्राण-निरोधके उपाय

प्राण क्या है? प्राणोंकी प्रगति किस प्रकार होती है? और प्राणायाम कैसे किया जाता है—इन विषयोंकी चर्चा योगवासिष्ठमें खूब विस्तारसे की गयी है। यहाँपर संक्षेपमें केवल उन उपायोंकी गणनामात्र की जा रही है जिनसे कि योगवासिष्ठानुसार प्राणका स्पन्दन रुक जाता है। वे इस प्रकार हैं—वैराग्य, परम कारणका ध्यान, व्यसनक्षय, निरोधकी विशेष युक्ति, परमार्थज्ञान, शास्त्र और सज्जनोंका संग, वैराग्य और अभ्यास, सांसारिक प्रवृत्तियोंसे मनको हटाना, इच्छित वस्तुका ध्यान, एक तत्त्वका अभ्यास, दुःख हरनेवाले पूरकादि (पूरक, कुम्भक और रेचक) प्राणायामोंका गहरा अभ्यास, एकान्तमें ध्यान, ॐकारका उच्चारण करते-करते शब्द-तत्त्वकी भावना, संविद्को सुषुप्तिमें लाना, रेचकके अभ्याससे प्राणको आकाशपर्यन्त विस्तृत करना, पूरकके अभ्याससे मेरुके समान स्थिर हो जाना, कुम्भकके अभ्याससे प्राणका स्तम्भित करना, तालुमूलपर स्थित घण्टीको जिह्वासे यत्नपूर्वक दबाकर ऊर्ध्वरन्ध्रमें प्राण ले जाना, संवित्को शून्य आकाशमें, जहाँपर कोई कलना नहीं है, ले जाकर शान्त करना, नासाग्रसे द्वादशाङ्गुलपर बाहर शुद्ध आकाशमें संवित्को लीन करना, भ्रुवोंके मध्यमें दृष्टि लीन करके शुद्ध चेतनमें स्थित होना, ऊर्ध्वरन्ध्रमें प्राण ले जाकर तालुसे बारह अंगुल ऊपर प्राणको शान्त करना, जिसमें ज्ञानका उदय हो जाय, ठीक उसी समय उसमें दृढ़ भावसे निश्चित होना और किसी भी विकल्पसे विचलित न होना, चिरकालतक जिस पदार्थकी वासना रही हो, उसकी शून्य भावनासे मनको वासनारहित करके क्षीण करना और शुद्ध संवित्में ध्यान लगाना। इनके सिवा प्राणनिरोधकी और भी अनेक युक्तियाँ हैं जो नाना देशोंमें प्रचलित हैं और अनेक गुरुओंद्वारा बतायी गयी हैं। इस प्रकार प्राण-निरोधके अभ्याससे प्राणका लय होनेपर मनकी क्रिया शान्त हो जाती है और निर्वाणपद ही शेष रह जाता है।

प्राणविद्याके अतिरिक्त योगवासिष्ठमें कुण्डलिनी-विद्याका भी विस्तारपूर्वक वर्णन है। कुण्डलिनी-विद्याका ज्ञान होनेपर कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत् करके उसके द्वारा योगी अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

योगकी सात भूमिकाएँ

संसारके अनुभवसे मुक्ति पाने और परमानन्दका अनुभव प्राप्त करनेके योग नामक मार्गकी योगवासिष्ठके अनुसार सात भूमिकाएँ हैं। जो जीव प्रयत्नशील होते हैं, वे उन सबको थोड़े ही समयमें पार कर लेते हैं और जो अधिक प्रयत्नशील नहीं होते, उनको जन्म-जन्मान्तर लग जाते हैं। इन भूमिकाओंका वर्णन योगवासिष्ठमें कई स्थानोंपर आया है। एक स्थानपर ज्ञानकी सात भूमिकाओंका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार आया है—१-शुभेच्छा, २-विचारणा, ३-तनुमानसा, ४-सत्त्वापत्ति, ५-असंसक्ति, ६-पदार्थाभावनी और ७-तुर्यगा। इन सातोंके अन्तमें मुक्ति है जिसको प्राप्त कर लेनेपर कोई दुःख नहीं रहता।

१. शुभेच्छा—संसारसे वैराग्य हो जानेपर जब मनुष्य अपनेको अज्ञानी समझकर शास्त्र और सज्जनोंकी संगति करके सत्यका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, उस अवस्थाका नाम शुभेच्छा है।

२. विचारणा—शास्त्र और सज्जनोंके सम्पर्कसे और वैराग्य तथा अभ्याससे सदाचारमें जब प्रवृत्ति होती है, उस अवस्थाका नाम विचारणा है।

३. तनुमानसा—शुभेच्छा और विचारणाके अभ्याससे इन्द्रियोंके विषयोंमें असक्तता होनेसे मनके सूक्ष्म हो जानेका नाम तनुमानसा है।

४. सत्त्वापत्ति—पूर्व तीनों भूमिकाओंके अभ्याससे

और चित्तके विषयोंसे पूर्णतया विरक्त हो जानेपर सत्य आत्मामें स्थित हो जानेका नाम सत्त्वापत्ति है।

५. असंसक्ति—चारों भूमिकाओंके परिपक्व हो जानेपर जब पूर्णतया मनमें असक्ति उत्पन्न हो जाती है और आत्म-तत्त्वमें दृढ़ स्थिति प्राप्त हो जाती है तो उस अवस्थाका नाम असंसक्ति है।

६. पदार्थाभावनी—पूर्वके पाँचों भूमिकाओंके अभ्याससे और आत्मामें निश्चल स्थिति हो जानेसे जब आन्तर और बाह्य वस्तुओंके अभावकी दृढ़ भावना हो जाती है, उस स्थितिका नाम पदार्थाभावनी है। इसकी सिद्धि तब होती है, जबकि परमात्माकी सत्ता और पदार्थोंकी असत्ताका बहुत समयतक यत्नपूर्वक अभ्यास किया जाय।

७. तुर्यगा—पूर्वकी छः भूमिकाओंके अभ्याससे और पदार्थोंका अनुभव न होनेसे अपने असली स्वरूपमें निरन्तर स्थित रहनेका नाम तुर्यगा है। जीवन्मुक्त लोगोंको इस अवस्थाका अनुभव होता है। विदेहमुक्ति इस अवस्थासे परे है।

योगवासिष्ठ बड़ा विशाल ग्रन्थ है और इसमें प्राधान्येन प्राणोंके नियमनके द्वारा धारणा, ध्यान तथा निर्विकल्प समाधिकी स्थितिमें आत्माको परमात्माके एकात्मभावसे प्राप्तिका सम्यक् विधान वर्णित है या ज्ञानद्वारा वासनाके क्षयके क्रमसे मनके आत्मामें लय हो जानेपर स्वयमेव प्राणोंका नियमन निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति निर्दिष्ट है। इसलिये योगवासिष्ठमें ज्ञान या योग दोनों मार्गोंसे ब्रह्मप्राप्ति अभीष्ट है और महर्षिके उपदेश करते ही किशोर राम पूर्ण समाधिस्थ हो जाते हैं और फिर महर्षि उन्हें जाग्रत् कर उनके विश्वामित्रके साथ यज्ञरक्षार्थ गमन, सीतापरिणय, रावण-वध आदि भविष्यके कर्मोंको निर्दिष्ट करते हैं। इस प्रकार बराबर वे योग और ज्ञानमें निरत होकर आदर्श मर्यादापुरुषोत्तमके रूपमें स्थित होते हैं। इसी प्रकार योगवासिष्ठमें जनक आदि राजर्षि महर्षियोंके भी समाधिस्थ होकर विश्वमें विशिष्ट सफलता प्राप्त करने और अन्तमें मोक्ष प्राप्त करनेके उपाख्यान वर्णित हैं। यहाँ संकेत रूपमें उसके संक्षिप्त साधनोंका ही दिग्दर्शन किया गया है। उसके पूर्ण लाभके लिये समग्र ग्रन्थका अवलोकन और मनन करना चाहिये।

प्राणब्रह्म

(योगी श्रीनारायणस्वामीजी महाराज)

श्रीमद्भगवद्गीताके माहात्म्यमें लिखा है कि प्राणायाम-परायण पुरुषके इस लोकके तो क्या पूर्वजन्मोंके भी किये पाप नहीं रहते। तब भला प्राणायाम प्राप्त करनेकी इच्छा किसे न होगी? जिधर देखिये उधर ही सब प्राणायामके लिये उत्सुक दिखायी देते हैं, किंतु प्राणायाम क्या है, यह पहले समझ लेना चाहिये। आजकल तो लोग 'प्राण' का भी अर्थ न समझनेके कारण श्वासकी द्रुत आदि गतियोंके प्रसारपर ही योग-सिद्धियोंकी आशा करते हुए ठगे-से जा रहे हैं। यदि 'प्राण' शब्दकी समुचित व्याख्या कर दी जाय तो 'प्राणायाम' कठिन नहीं रह जाता।

भगवान् पिप्पलादसे एक शिष्य प्रश्न करता है—'**कुत एष प्राणो जायते**' महाराज! यह प्राण कहाँसे पैदा होता है? ऋषि उत्तर देते हैं—'**आत्मन एव प्राणो जायते**' आत्मासे ही प्राण उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि प्राणका जो महत्त्व महर्षि पिप्पलाद समझे हुए थे वह अप्रमेय था। प्राणका इतिहास वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है कि सबसे प्रथम प्रजापतिने 'रयि' एवं 'प्राण' को उत्पन्न किया। सूर्य ही प्राण है एवं चन्द्रमा ही रयि (भोग्यान्न) है। उन्होंने सब कुछ मूर्त एवं अमूर्तको प्राणरूपी सूर्यके तेजका भक्ष्य बताया है। कहा है—

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते।

(प्रश्नोप० १।५)

अर्थात् 'वह ही यह प्राण सर्वगत अग्निरूप उदय होता है।'

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्त एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष···· निरोधः॥ (प्रश्नोप० १।१०)।

अर्थात् 'जो तपसे, ब्रह्मचर्यसे, श्रद्धा एवं विद्याद्वारा आत्माको खोजकर सूर्यलोकको प्राप्त होते हैं, वे पुनः जन्म नहीं

धारण करते। कारण यह कि वह सूर्य ही प्राणोंका आश्रय है, वही मोक्ष है, वही अभय पद है। इसलिये कर्म करनेवालोंको यह परमाश्रय मिला हुआ है।' इस ऋचाका अर्थ यही है कि प्राण ही सूर्यका रूप है। अपने रूपको सूर्य जब खींच लेता है, तब प्राणी रूप आदि गुणविशिष्टोंसे हीन होकर मुक्त हो जाता है। कारण, प्राण ही शरीरबन्धनमें मुख्य है। अतः प्राणोंका आश्रय सूर्य इनको खींचकर प्राणीको मुक्त कर देता है।

उपनिषदोंकी प्रख्यात कथा है कि एक बार शरीरके समस्त अभिमानी देवताओंने अपने-अपने वश की हुई इन्द्रियोंद्वारा विचार कराया कि हम सबमें श्रेष्ठ कौन है! आकाश, वायु, अग्नि, पृथ्वी, वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्र—इन सभीने ही अपने-अपने माहात्म्यका वर्णन किया एवं कहा कि हम ही इस शरीरको धारण किये हुए हैं। तब प्राणने उनसे कहा—'**मा मोहमापद्यथ।**' अरे मूर्खो! अज्ञानको प्राप्त मत हो, मैं ही इस आत्माके लिये पाँच रूपसे विभाजित होकर शरीरको धारण कर रहा हूँ। उन सबने विश्वास नहीं किया, तब प्राण अभिमानसे शरीरको छोड़नेके तुल्य होने लगा। उसके छोड़नेसे पहले ही सब नष्ट-से होने लगे एवं विनयकर उसे स्थिर किया। प्राणके स्थिर होनेपर पुनः सब ऐसे ही स्थिर हो गये जैसे मधुमक्खियोंकी रानीके उड़नेपर सब मक्खियाँ उड़ जाती हैं एवं बैठनेपर बैठ जाती हैं। इस प्रकार हारकर मन, श्रोत्र आदि इन्द्रियोंने प्राणकी स्तुति की।

प्राणकी महिमाका वर्णन करते हुए ऋषियोंने लिखा है—

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत्। (प्रश्न० २। ५)

'यही प्राण अग्निरूपसे तपता है, सूर्य, मेघ, इन्द्र, वायु, पृथ्वी, रयि (चन्द्रमा वा भोग्य) यही है, सत् एवं असत् भी यही है एवं यही अमृत है।'

इस मन्त्रका प्रत्यक्ष आदेश है कि यद्यपि वेदान्तसूत्र '**नैकस्मिन्नसम्भवात्**' के अनुसार दो विरोधी गुणोंका एक जगह होना असम्भव है तथापि प्राणमें सत् एवं असत् दोनों संज्ञाओंका अस्तित्व है। यह प्राण अनुपम है। कहा है कि जैसे रथके पहियेमें 'अरे' लगे रहते हैं, इसी प्रकार प्राणमें सब कुछ ऋक्, यजु, साम, यज्ञ, क्षत्र एवं ब्रह्म आदि हैं। यह प्राण ही विराट्रूप होकर गर्भमें रहता है, उत्पन्न होता है एवं अन्य प्राणोंसे स्थित रहता है, देवादिको बलि प्राण ही पहुँचाता है, प्राण ही इन्द्र है, तेजस्वी होनेके कारण प्राण ही रुद्र है, यही रक्षक है, यही सूर्यका रूप धारण किये हुए आकाशमें विचरता है, यही नक्षत्रोंका पति है, यह प्राण ही मेघरूप होकर वर्षा करता है एवं प्रजाके प्राणोंकी रक्षा करता है।

प्रश्नोपनिषद्में प्राणको व्रात्य कहा है। व्रात्य शब्दका अर्थ है जो स्वतः शुद्ध हो, जिससे परे कोई न हो, आगे कहा है—

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि नः॥

(२। १३)

यह सब प्राणके वशमें है और स्वर्गमें जो कुछ है, वह भी हे प्राण! तेरे वशमें है। हे प्राण! माताके समान पुत्रोंका पालन कर। लक्ष्मी एवं सरस्वती अथवा श्री एवं प्रज्ञाको हमें दे।'

प्राणके विषयमें कहा है कि जैसे सम्राट् अपने अधीन राजाओंको छोटे-छोटे राज्योंका शासन बाँट देता है, इसी प्रकार यह प्राण दूसरे प्राणोंको अलग-अलग उपदेश देता है। औपनिषद विषयमें अपान आदि चार वायु भी प्राणके नामसे ही पुकारे जाते हैं। वहाँ लिखा है—'**मुखनासिकाभ्यां प्राणः**'—मुख एवं नाकमें प्राणवायु रहता है। इस प्राणको सप्तार्चिष कहा है, क्योंकि दो कान, दो नेत्र, दो नासिकारन्ध्र एवं एक मुख—ये सात प्राणके अग्निस्वरूपकी ज्योतियाँ कही जाती हैं।

मृत्युके समय पुरुष जिस प्रकारके प्राणकी चिन्तना करता है, उस चिन्तनाके विषय—प्राणको ही प्राप्त करता है। इस प्राणको जो जानता है उसकी प्रजा (संतान) नष्ट नहीं होती, वह अमर हो जाता है। लिखा है—

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते॥

(प्रश्नोप० ३। १२)

'प्राणकी उत्पत्ति, प्राण कैसे शरीरमें आता है, शरीरमें कहाँ रहता है, उसका पाँच प्रकारका व्यापकत्व एवं उसके अध्यात्मको जाननेसे मोक्ष हो जाता है।'

इसी प्राणके नियन्त्रणका नाम प्राणायाम है। प्राणायामकी अति सरल विधि यह है—सप्त व्याहृति (१-भूः, २-भुवः, ३-स्वः, ४-महः, ५-जनः, ६-तपः और ७-सत्यम्)-सहित

गायत्रीमन्त्रको मनसे चिन्तन करता हुआ नेत्रोंको बंद करके पूरक करे एवं इसके उपरान्त उपर्युक्त मन्त्रकी तीन आवृत्ति करता हुआ कुम्भक करे, पश्चात् एक बार स्मरण करता हुआ रेचक करके श्वासको बाहर निकाल दे। किन्हीं-किन्हीं आचार्योंका मत है कि सप्त व्याहृतिका प्रथम तो अर्थ समझना कठिन है, पुनः सात प्रकारका ध्यान असम्भव होनेके कारण अर्थसहित प्रणवका जाप करनेसे ही प्राणायाम-सिद्धि हो जाती है। योगसूत्रमें भी लिखा है—**'तस्य वाचकः प्रणवः'**—**'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** इत्यादि। अतः सर्वसुगम प्राणायाम प्रणवके द्वारा ही होता है। प्रणवकी एक संख्या निश्चित कर उससे पूरक करे, उससे तीन गुना जपता हुआ कुम्भक करे एवं फिर उतना ही रेचक करे। केवल इसी अभ्यासकी उत्तरोत्तर वृद्धि करनेसे यम, नियम, आसन, धारणा, ध्यान स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं एवं पश्चात् प्राणोंको जीतनेसे समाधि भी प्राप्त हो जाती है, हत्कमलका विकास होना आरम्भ हो जाता है एवं परम ज्योतिके दर्शन इसी शरीरसे प्राप्त हो जाते हैं। यह सुख अवर्ण्य है।

प्राणपूजा स्वात्मपूजा है, अतः परमात्माकी एवं चेतनकी पूजा है, इस पूजामें तनिक-सा मन लगानेवाला भी इस संसारजालके जडवादमें मोहित नहीं हो सकता। प्राणवायु ही पञ्चमहावायुओंमें मुख्य है, अतः मुक्तिका कारण है। वैदिक ब्राह्मणग्रन्थोंमें लिखा है—**'मौनी प्राणायामत्रयं कुर्यात्'**—मौन होकर तीन प्राणायाम करे। इस विषयमें कुछ मतभेद है। किन्हीं विद्वान् आचार्योंका कथन है कि सूक्ष्म प्राण, प्राण एवं महाप्राण—इन तीनोंका आलोडन ही प्राणायामत्रय कहा जाता है।

प्राणायामके विषयमें अधिकारकी कोई ख्यात भूमिका नहीं है। प्रत्येक प्राणी प्राणायामसरोवरमें स्नान करता हुआ अपनेको धन्य बना सकता है। किसी ऋतु-विशेषकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, अजपा-गायत्रीके साथ जो प्राणायामका विधान है वह क्लिष्टतासे भरा हुआ है।

केवल सात्त्विक श्रद्धामयी वृत्ति ही प्राणायाममें सफलताकी कुंजी हो जाती है।

शुद्ध एवं युक्त आसनपर स्थित होकर ही प्राणका व्यवहार करना उचित है, अन्यथा रोगादि होनेका भय हो जाता है। इस प्राणायामकी आसन-विधिपर किसीने कहा है—

तन डिढ मन डिढ बचन डिढ और आसन डिढ होय।
गुरू कहै सुण चेलक्या मरै तो सही पिण बूढो नी होय॥

प्राणायाम करनेवालोंमें ईश्वरभक्त एवं सो भी सगुणोपासक श्रद्धालु पुरुष बहुत जल्दी सिद्धि प्राप्त करते हैं। कौतुक समझकर करनेवालोंको प्राणायाम इतना सुखद नहीं होता। वस्तुतः प्राणकी महत्ता एवं उसकी रक्षा करना मनुष्य नहीं जानते; यही कारण है कि संसारमें चक्कर खाते हुए फिरते हैं। प्राणके महत्त्वका दिग्दर्शन कराते हुए पिप्पलादने भरद्वाज-पुत्र सुकेशा ऋषिसे कहा कि ये प्राण आदि जिससे उत्पन्न हुए हैं वह इसी शरीरमें अङ्गुष्ठमात्र होकर हत्कमलमें निवास करता है।

सृष्टिविषयमें उसने विचार किया कि मैं किसके आविर्भावपर अपना आविर्भाव करूँगा एवं किसमें स्थिति करूँगा, सबका आश्रय तो मैं हूँ, मेरा आश्रय क्या होगा, तब उसने प्राणकी उत्पत्ति की। प्राणसे श्रद्धा उत्पन्न की। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, दसों इन्द्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म एवं लोकप्रसिद्ध नामादि रचे।

इन सब रचित प्राणियोंमें व्याप्त प्राण उसी महाप्राणके आश्रित हैं। जैसे चलती हुई समुद्रगामिनी नदियाँ समुद्रको प्राप्त होकर नाम-रूपादि गुणविशिष्टोंसे अस्तित्वहीन हो जाती हैं, केवल 'समुद्र' ऐसा नाम रह जाता है, इसी प्रकार उस महाप्राण समुद्रपुरुषमें परायण ये प्राणसरिताएँ उस पुरुषको पाकर नाम-रूपसे परे हो जाती हैं एवं तब महाप्राण ऐसा नाम ही रह जाता है, इस महाप्राणको एवं इसके महत्त्वको जो जानता है वह अमर हो जाता है। 'रथके पहियेके अरेके समान प्राणमें सब कुछ व्याप्त है' उसी प्रकार यह प्राण वा महाप्राण उस परमपुरुष ईश्वररूपी पहियेमें अरेकी भाँति स्थित है, उसे जाननेसे मृत्युका भय नहीं रहता।

प्राणायामपरायण पुरुषको यह प्रकरण अवश्य देखना चाहिये। प्राणायाममें प्रणवका जो स्थान है वह श्लाघ्य एवं स्पृहणीय है, वह स्थान किसी अक्षर वा बीजमन्त्रको नहीं मिला। प्रणवकी— ॐकी तीन मात्राएँ हैं। यह अ, उ, म् वा (ओ३म्) ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि भेदोंके अनुसार त्रिमात्र है। अतः प्राणायामपरायण पुरुष यदि एक मात्रावाले प्रणवका

ध्यान करता है (वा 'अ' अक्षरकी उपासना करता है) तो वह निश्चय करके ज्ञान प्राप्त कर लेता है एवं मृत्युके उपरान्त तुरंत ही संसारमें मानुषी जन्म धारण करता है, पूर्व-संस्कारोंसे उसकी बुद्धि प्राणायामपरक विषयोंमें ही प्रवृत्त होती है। उसे ऋग्वेदके मन्त्रोंद्वारा मनुष्ययोनि मिलती है एवं संस्कारवश होकर वह पुरुष तपस्या तथा ब्रह्मचर्यसे श्रद्धापूर्ण होकर ऐश्वर्यका अनुभव करता है।

यदि कोई दो मात्रावाले प्रणवसे ('अ', 'उ'—इन दो अक्षरोंवाली मात्राओंसे) मनमें प्रणवको धारण करता है तो वह यजुर्वेदके मन्त्रोंसे अन्तरिक्षमें चन्द्रलोकको प्राप्त होता है। वह वहाँ ऐश्वर्यभोग करके पुण्य क्षीण होनेपर फिर इस लोकमें जन्म लेकर कैवल्यपद प्राप्त कर लेता है।

किंतु जो पुरुष तीन मात्रावाले पूर्ण प्रणव 'ॐ' इस अक्षरसे उस परमपुरुषकी प्राणायामपरायण होकर उपासना करता है वह तेजःस्वरूप सूर्यमें निवास करता है और जैसे साँप पुरानी केंचुली (त्वचा) से स्वतः मुक्त हो जाता है, इसी प्रकार वह पापसे मुक्त हो जाता है एवं सामवेदके मन्त्रोंसे ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है। पश्चात् इस परमसे भी परम उत्कृष्ट अर्थात् शरीररूपी नगरके राजासे भी श्रेष्ठ पुरुष परमात्माको देख लेता है। क्योंकि ॐकारकी पृथक्-पृथक् तीन मात्राएँ मनुष्यको संसारमें फँसानेवाली ही हैं। ये आवागमनसे रहित नहीं कर सकतीं (तीनों मिलकर करती हैं, अलग-अलग एक-एक मात्रा आवागमनके बन्धनको नष्ट नहीं कर सकतीं) किंतु केवल उपासनासे ही काम नहीं चलता, वहाँ यथायोग्य विचार कर लेनेपर बाहरी एवं भीतरीके बीचकी क्रियाओंमें बुद्धिसे युक्त वा परिपूर्ण होकर एक दूसरेके आश्रित एवं एक होकर ये भक्तकी रक्षा करती हैं एवं इस प्रकार वह त्रिमात्रसाधक अपने पथसे नहीं डिगता; किंतु निर्दिष्ट लक्ष्यको प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार वह साधक ऋग्वेदसे मनुष्यलोकको, यजुर्वेदसे चन्द्रलोकको ले जाया जाता है, किंतु जो साधक ऋषियोंके जाने हुए सामवेदके मन्त्रोंसे ब्रह्मलोकको ले जाया जाता है ऐसा विद्वान् साधक प्रणवप्राणायामके द्वारा ही जरा अर्थात् वृद्धावस्थासे रहित हो जाता है, मृत्युसे रहित हो जाता है (मृत्युसे रहितका तात्पर्य यह है कि यद्यपि शरीरका नाश होता है, किंतु ज्ञान एवं स्वप्रकाशविभूतिकी विस्मृति नहीं होती) एवं भयसे रहित होकर शान्तिको पाता हुआ परमपुरुषको प्राप्त होकर उसीमें लीन हो जाता है।

उस प्राणब्रह्मके विषयमें श्रुतिका भी यही कथन है—

एतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद। नातः परमस्तीति।

अमर भये

(स्व० योगिवर्य श्रीआनन्दघनजी 'यति')

अब हम अमर भये न मरेंगे।
या कारन मिथ्यात दियो तज क्योंकर देह धरेंगे॥
राग द्वेष जग बन्ध करत हैं इनको नाश करेंगे।
मर्‌यो अनन्त काल ते प्राणी सो हम काल हरेंगे॥
देह विनाशी, हूँ अविनाशी, अपनी गति पकरेंगे।
नाशी जासी, हम थिर वासी, चोखे ह्वै निखरेंगे॥
मर्‌यो अनन्त बार बिन समझ्यो, अब सुख-दुख बिसरेंगे।
'आनँदघन' निपट निकट अक्षर दो नहि समरे सो मरेंगे॥

प्रेषक—पंन्यासजी महाराज रीविरैंड

श्रीमद्भागवतके योगका वैलक्षण्य

(श्रीचतुर्भुजजी तोषनीवाल)

श्रीमद्भागवतमें 'योग' का अत्यन्त वैज्ञानिक रीतिसे विवेचन किया गया है। योग और धर्म—ये दोनों ही पुरुष-प्रयत्न-साध्य हैं। इसीलिये शास्त्रोंमें इन्हें बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग साधनके नामसे कहा गया है। धर्मका साधन अनुष्ठानप्रवण बुद्धिके द्वारा होता है, जब कि योगका साधन शान्ति-प्रवण बुद्धिके द्वारा होता है। अतः जिनकी प्रवणता अर्थात् रुझान कर्मकी ओर है उनके लिये धर्मका विधान है और जिनका रुझान शान्ति एवं समाधिकी ओर है उनके लिये योगाभ्यासका विधान है।

विषयके सम्यक् ज्ञानहेतु श्रीमद्भागवतके एतद्विषयक निम्न कतिपय श्लोकोंका तात्पर्य समझना सहायक होगा—

परमात्मा और आत्माकी एकता ही समस्त श्रुतियोंका प्रतिपाद्य विषय है और इसका सम्यक् अनुभव ही योगियोंका सर्वोच्च ध्येय है। अतः जिनकी बुद्धि योगमें निपुण हो गयी है, उन साधकोंका सर्वभावेन एक ही परम पुरुषार्थ बन जाता है कि वे सर्वत्र एवं सर्वदा परमात्मा एवं आत्माकी एकताका दर्शन करें—

एतावानेव मनुजैर्योगनैपुणबुद्धिभिः।
स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत्परात्मैकदर्शनम्॥

(श्रीमद्भा० ६।१६।६३)

किंतु भक्तिमार्गके आचार्योंने '**परात्मैकदर्शनम्**'का अर्थ किया है—सर्वत्र, सर्ववस्तुमें एक श्रीभगवान्का ही दर्शन होना।

परम योगेश्वरों—सनकादिकोंने योगका केवल इतना ही स्वरूप बतलाया है कि मनको सब ओरसे खींचकर साक्षात् श्रीभगवान्में प्रविष्ट करा दिया जाय।

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा॥

(११।१३।१४)

समग्र योगका उद्देश्य बताते हुए श्रीमद्भागवतमें भगवान् कपिलदेवजीका वचन है कि समग्र प्रकृति और प्राकृत जगत्से अनासक्ति ही मनको अन्तर्मुखी बनानेमें मुख्य हेतु सिद्ध होती है।

एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः।
युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः॥

(३।३२।२७)

भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय भक्त उद्धवको कहते हैं—(इसलिये) हे उद्धव! अपनी वृत्तियोंको मुझमें तन्मय करते हुए अपनी पूरी इच्छा-शक्तिद्वारा मनको वशमें कर लो और मुझमें नित्य युक्त हो जाओ। सारी योगसाधनाका इतना ही सार-तत्त्व है।

तस्मात् सर्वात्मना तात निगृहाण मनो धिया।
मय्यावेशितया युक्त एतावान् योगसंग्रहः॥

(११।२३।६१)

मनुष्य-जन्मका सर्वश्रेष्ठ लाभ यही है कि सांख्य (आत्मा-अनात्मा-विवेक), अष्टाङ्गयोग अथवा निष्ठापूर्वक स्वधर्माचरणद्वारा अन्तकालमें भी श्रीभगवान्की अखण्ड स्मृति बनी रहे।

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः॥

(२।१।६)

भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्राप्तिके साधनरूपमें भक्तियोगकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।६—८)

मनुष्योंका आत्यन्तिक कल्याण करनेके हेतु अधिकारिभेदसे मैंने तीन प्रकारके योगोंका विधान किया है—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। जिन्होंने कर्मोंसे विरक्त होकर कर्मफलका त्याग कर दिया है, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनको कर्मोंसे वैराग्य नहीं हुआ है, वे कर्मयोगके अधिकारी हैं। किंतु जो व्यक्ति न तो अति विरक्त

है, न अति आसक्त ही है तथा जिन्हें यदृच्छया अर्थात् कर्मफलवशात् अथवा भगवत्कृपाहेतु मेरी लीला-कथामें श्रद्धा हो गयी है, वे भक्तियोगके अधिकारी हैं।

इस प्रकार भक्तियोगके द्वारा मेरा निरन्तर भजन करनेसे मैं साधकके हृदयमें आकर बैठ जाता हूँ और तब उसके हृदयकी सारी वासनाएँ अपने संस्कारोंके साथ सहज ही नष्ट हो जाती हैं। इसी सिद्धान्तको स्पष्ट करते हुए श्रीभगवान्ने फिर कहा है—

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।३१)

अतः मेरे भक्तके लिये ज्ञान और वैराग्यकी प्राप्ति उसके आत्यन्तिक कल्याण-साधनमें विशेष अपेक्षा नहीं रखती है। उसका कल्याण तो प्रायः मेरी भक्तिके द्वारा ही हो जाता है।

महर्षि पतञ्जलिने योगकी परिभाषामें कहा है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'** 'योगके अष्टाङ्गों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिका सद्गुरुके निर्देशनमें दृढ़ संकल्पके साथ अनुशीलन करनेसे ही चञ्चल चित्तकी समस्त वृत्तियोंका निरोध सम्भव हो पाता है, जो अत्यन्त कष्टसाध्य है। श्रीभगवान्ने भी गीताके छठे अध्यायमें (श्लोक ३५) स्वीकार किया है कि चञ्चल मनका निग्रह तीव्र वैराग्य एवं अभ्यासके बलपर ही शनैः-शनैः सम्भव है। निर्विकल्प समाधि सिद्ध हुए बिना परमात्मैक्य-प्राप्ति सम्भव नहीं होती। इसमें भी एक साधनोंके अनुष्ठान-कालमें फलस्वरूप प्राप्त होनेवाली सिद्धियोंके रूपमें विपत्ति उपस्थित होती है। इन चमत्कारपूर्ण सिद्धियोंके प्रलोभनमें फँस जानेपर तो सारा श्रम ही निष्फल हो जाता है, कारण कि सिद्धियाँ तो भगवत्प्राप्तिमें अन्तराय ही हैं। (भा० ११।१५।३३)

अतः साधारण मनुष्य भी सुगमतासे भगवत्प्राप्ति कर सके, इसी उद्देश्यसे कारुण्यवश श्रीमद्भागवतका प्राकट्य हुआ है। श्रीमद्भागवतके मङ्गलाचरणके वस्तुनिर्देशात्मक (द्वितीय) श्लोकमें ही स्पष्ट घोषणा कर दी गयी—**'सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्'** अर्थात् श्रीग्रन्थके श्रवणकी इच्छामात्रसे ही अधिकारी साधकोंके हृदयमें श्रीभगवान् तत्क्षण बंदी हो जाते हैं। बन गया न काम? जिन चित्तवृत्तियोंको सांसारिक काम्य वस्तुओंकी दिशामें दौड़नेसे रोकने-हेतु योगके अष्टाङ्गोंका सम्यक् अनुष्ठान आवश्यक है, उसी उद्देश्यकी प्राप्तिहेतु श्रीमद्भागवत एक अभिनव सरल उपाय बता रहा है। चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेका प्रयत्न न करके केवल उनकी दिशा श्रीभगवान्की ओर मोड़ दें। यह दिशा-परिवर्तन भी एक अत्यन्त सरल साधन भक्तियोगसे ही सम्पन्न हो जाता है। इस सर्वोत्तम किंतु सरल साधन निर्गुण अथवा गुणातीत भक्तिका वर्णन करते हुए भगवान् कपिल माता देवहूतिसे कह रहे हैं—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।११-१२)

इस निर्गुण अर्थात् गुणातीत भक्तिका प्रादुर्भाव भी कितना सरल एवं विलक्षण है। श्रीभगवान्के गुणानुवादके श्रवणमात्रसे ही गुणातीत भक्तिदेवीका प्राकट्य हो जाता है, इसमें अन्य कुछ करना - धरना नहीं पड़ता। न समाधि लगानी पड़ती है, न पूजा-उपासना करनी पड़ती है। केवल श्रीभगवान्का गुणानुवाद सुना और मनकी गति श्रीभगवान्की ओर बहने लगी। किस भगवान्की ओर? बाहरके भगवान् नहीं—**'मयि सर्वगुहाशये'** अर्थात् जो भगवान् सबके हृदयमें विराजमान हैं, उनकी ओर। इस भक्तिमें दो बातें विशेष हैं—एक 'अहैतुकी' और दूसरी 'अव्यवहिता'। अहैतुकी भक्ति उसे कहते हैं, जो किसी बाह्य प्रेरणासे अथवा किसी प्रयोजनकी पूर्तिहेतु न की गयी हो। 'अव्यवहिता' का तात्पर्य है—लगातार धाराप्रवाह गतिवाली।

श्रीभगवान्के गुणानुवाद-श्रवणके साथ-साथ यदि उनके दिव्य माधुर्यमय रूपका वर्णन भी श्रवण किया जाय तो फिर मणि-काञ्चन-संयोगका फल देगा। नैर्गुण्यमें परिनिष्ठित, आत्माराम, निर्ग्रन्थ महायोगी श्रीशुकदेवजीने भी जब भागवतान्तर्गत भगवान् श्रीकृष्णके 'दयालुता' प्रकाशक **'अहो बकी यं०'** श्लोक और माधुर्यप्रकाशक **'बर्हापीडं नटवरवपुः०'** श्लोक-पाठ सुना तो वे उन श्लोकोंमें वर्णित अद्भुत अप्रतिम किशोरस्वरूपकी लीलाओंको सम्पूर्णतया

श्रवण करनेके लिये उत्सुक हो गये और अपने निर्विकल्प-समाधिका त्याग करके उस अद्‍भुत श्रीग्रन्थ, जिसके ये श्लोक थे, का अध्ययन करने-हेतु महर्षि व्यासके पास दौड़े गये। एक दिन जिस सर्वभूतहृदय बालक शुकके पीछे पुत्र-स्नेहकातर व्यासजी दौड़ रहे थे, आज इस श्रीमद्भागवतरूपी रत्नके लोभसे वही बालक उनके पीछे पड़ा हुआ था। लीला-श्रवणसे समाधित्यागका इससे उत्कृष्ट उदाहरण मिलना दुष्कर है।

आवागमन-चक्रसे छूटकर अभयपदके इच्छुक मोक्षकामी मनुष्यका परम कर्तव्य यही है कि वह सर्वात्मा, सर्वनियन्ता, सर्वदुःखहारी श्रीभगवान्‌के विषयमें ही श्रवण करे, उन्हींका कीर्तन एवं स्मरण करे। परम भक्तिमती कुन्तीदेवी भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करती हुई कहती हैं कि जो मनुष्य श्रीभगवान्‌के चरित्रोंका श्रवण, गायन, कीर्तन, स्मरण करते हुए आनन्दित होते रहते हैं, वे अविलम्ब उनके भवप्रवाहनाशक चरणकमलोंका दर्शन कर लेते हैं (श्रीमद्भा० १।८।३६)। अतः हे श्रीकृष्ण! जैसे गङ्गाकी अखण्ड जलधारा समुद्रमें गिरती रहती है, उसी प्रकार मेरी बुद्धि सब प्रकारके विषयोंसे सिमटकर निरन्तर केवल आपसे ही प्रेम करती रहे (श्रीमद्भा० १।८।४२)। राजा परीक्षित्‌ने भी श्रीमद्भागवतका केवल श्रवण करके ही परम गति पायी। ऐसे मनुष्य, दैत्य, पशु आदि विभिन्न योनिगत जीवोंके जिनमें योग, विद्या, तप, स्वाध्याय आदिका नितान्त अभाव था, किंतु जो केवल श्रवण-कीर्तन-स्मरणके बलसे परमगतिको प्राप्त हो गये, दृष्टान्तोंसे श्रीमद्भागवत भरा पड़ा है। अतः दुःसाध्य योगचर्याका सम्यक् अनुष्ठान करनेमें असमर्थ साधारण जीवोंको निराश होनेका कोई कारण नहीं है। वेद-स्तुतिमें तो इसे पूर्णतया स्पष्ट कर दिया गया है—

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि
यन्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः॥

(श्रीमद्भा० १०।८७।२३)

श्रुतियाँ कहती हैं—'बड़े-बड़े विचारशील योगी-यति अपने प्राण-मन और इन्द्रियोंको वशमें करके दृढ़ योगाभ्यासके द्वारा हृदयमें आपकी उपासना करते हैं। किंतु आश्चर्य यह है कि उन्हें जिस पदकी प्राप्ति होती है, उसी पदकी प्राप्ति उन शत्रुओंको भी हो जाती है, जो आपका वैरभावसे स्मरण करते हैं। कहाँतक कहें, भगवन्! वे स्त्रियाँ, जो अज्ञानवश, केवल काम-भावसे आपकी शेषनागके समान मोटी, लम्बी तथा सुकुमार भुजाओंपर आसक्त रहती हैं, उन्हें भी वही परमपद मिलता है जो हम श्रुतियोंको भी प्राप्त होता है। यद्यपि हम सदा-सर्वदा एकरस अनुभव करती हुई आपके चरणकमलोंका मकरन्द-पान करती रहती हैं।'

भक्तिसाधनाको योगसाधनासे समानता ही नहीं, वरन् सुगमताहेतु वरीयता प्राप्त है। विस्तार-भयसे इसकी पुष्टिमें श्रीमद्भागवतसे अधिक उद्धरण नहीं दिये जा रहे हैं। जिन साधकोंको इस विषयमें रुचि हो, उन्हें श्रीमद्भागवतके निम्न प्रसङ्ग इस दृष्टिसे अध्ययन करनेपर अपूर्व आनन्दकी प्राप्ति होगी—सम्पूर्ण वेणुगीत एवं रास-पञ्चाध्यायी, दशम स्कन्धके ९।९ से ११; १२।१२, ३९; ८२।४०; ८३।३, षष्ठ स्कन्धका ३।३९, एकादश स्कन्धके १९।२० से २४; २।१२, ३९-४०; ३।२७; ११।२३—२५, द्वादश स्कन्धके १३।१८, २३; ३।४६—५२; ६।२से ६ इत्यादि।

श्रीमद्भगवद्गीताके श्रीकृष्णको 'महायोगेश्वर' पदवीसे ही सम्बोधित किया गया है, किंतु श्रीमद्भागवतके श्रीकृष्णको तो 'योगेश्वरेश्वर' पदवी प्रदत्त हुई है (श्रीमद्भा० १०।२९।१६, १०।६९।१९, ११।१२।१६)। योगेश्वरेश्वरका अर्थ है समस्त योगेश्वरोंके भी ईश्वर अर्थात् नियन्ता, सर्वोपरि। अतः योगके विषयमें भगवान् श्रीकृष्णके वचन अन्तिम हैं।

अतः हम सब भी प्रेमसे भगवान्‌के गोप-सखाओंके साथ मिलकर इस प्रकारकी भक्तिपूर्ण प्रार्थना करें—

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु॥
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।
मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।६६-६७)

हमारे मनकी समस्त वृत्तियाँ श्रीकृष्णकी ओर प्रवाहित

होकर उन्हींके चरणकमलोंका आश्रय लें। हमारी वाणी उनके नामोच्चारण तथा शरीर उनको सतत प्रणाम करनेमें ही लगे रहें। भगवदिच्छासे या कर्मोंके फलस्वरूप हमें जिस-किसी योनिमें जन्म लेना पड़े, हम वहाँ शुभ आचरण, दान आदि सत्कर्म करें, किंतु उसका फल केवल यही मिले कि भगवान् श्रीकृष्णमें हमारी प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। महाभावावस्थागता गोपियोंकी आश्वासनवाणी '**तव कथामृतं····श्रवणमङ्गलम्।**' की हमें सदा स्मृति बनी रहे।

श्रीमद्भगवद्गीतामें योगका स्वरूप

(पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

यद्यपि भारतवर्षमें सभी भाषाओंमें योग-साहित्यपर अपार सामग्री है और केवल योगपर ही विभिन्न भाषाओंमें अनेकों ग्रन्थ निर्मित हुए हैं, जिनकी विस्तृत सूची आफ्रेक्ट तथा कुन्हन राजा और बी० राघवन आदिके कैटेलग्स कैटेलग्रम (बृहत् संस्कृत ग्रन्थ-सूची) आदिमें देखी जा सकती है। वेद, उपनिषद्, आरण्यक, ब्राह्मण-ग्रन्थ, इतिहास-पुराण सभी योगकी व्याख्या एवं विवरण प्रस्तुत करते हैं। योगवासिष्ठमें योगपर बत्तीस हजार (३२०००) श्लोक हैं। महर्षि पतञ्जलिके योग-दर्शनपर भी अनेकों व्याख्याएँ, भाष्य, विवरण आदि हैं। ये सभी योगके प्रशंसापरक और परमात्म-प्राप्तिमें अत्यन्त सहायक हैं। किंतु श्रीमद्भगवद्गीता स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे कथित होनेके कारण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योग-शक्तिसे युक्त है। यह कल्याणप्रद और मध्यम आकारका अत्यन्त पवित्र एवं प्रभावशाली ग्रन्थ है। इसके श्लोक बड़े सुन्दर, भव्य, अनेक अलंकारोंसे युक्त और रमणीयतम हैं। थोड़ी भी संस्कृत भाषा जाननेवाला इसे सरलतासे समझ सकता है। इसे पढ़नेमें उसे बहुत आनन्द प्राप्त होता है और पद-पदपर योगके द्वारा भगवत्साक्षात्कारका ही आनन्द प्राप्त होता दीखता है।

महाभारतमें एक जगह कहा गया है कि 'योगके द्वारा सारी सिद्धियों, समस्त योगोंके फल और भगवान्‌को भी तत्काल प्राप्त किया जा सकता है, किंतु यज्ञ तथा दान आदिके द्वारा योगजनित सिद्धियाँ कभी प्राप्त नहीं की जा सकतीं—

योगेनाप्नोति ताः सर्वाः नान्यैर्योगगतिं व्रजेत्।

यही बात गीताके आठवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भी कही गयी है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

अर्थात् 'वेद, यज्ञ, तप और दान आदिके द्वारा जो भी फल प्राप्त होता है अथवा शास्त्रोंमें कहा गया है, उन सबको प्राप्त कर उनसे आगे जाकर योगी सर्वोच्च पदको प्राप्त कर लेता है।'

इसी प्रकार छठे अध्यायके अन्तमें भी कहा गया है कि योगी तपस्वी, कर्मकाण्डी और शास्त्रज्ञानी आदि सभीसे बड़ा है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

इस प्रकार भगवद्गीतामें तथा अन्य शास्त्रोंमें योगकी सर्वाधिक महिमा निर्दिष्ट है। योगमें हिन्दू, ईसाई, जैन, बौद्ध, सिक्ख और मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर आदिका भेद-भाव भी नहीं है। इसमें विविध प्रकारके इष्ट देवताओंकी भी विभिन्नता नहीं है। योगी सर्वत्र सबमें परमात्माको देखता है। उसे राम, कृष्ण आदि सभी अवतार ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, कुबेर, वरुण, वायु, अग्नि, पृथ्वी आदि और समस्त संसारके मनुष्य, भूत, पितर तथा पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, गुल्म आदिमें भी भगवान्‌का ही रूप दिखायी देता है। योगी सबमें एक ही पूर्ण ब्रह्म परमात्माको देखता है। इससे उसके हृदयमें तत्काल शान्ति उदय होती है। किंतु करना क्या होता है कि काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, मान, प्रतिष्ठा, दम्भ, हिंसा, उद्वेग, हर्ष, किसी प्राणिपदार्थमें आसक्ति और समस्त विषयोंके रसतकका परित्याग कर अर्थात् संसारके सभी दोषोंका परित्याग कर मनको सम्यक् ज्ञानमें प्रतिष्ठित करके एक सम-अवस्थाको प्राप्त करना होता है। इसीका नाम कषायोंका परिपाक है। जबतक ऐसा नहीं हो जाता, तबतक

भगवान्‌का सम्यक् या परिपूर्ण साक्षात्कार नहीं हो सकता। यही बात स्वयं भगवान् विष्णुने नारदको कही थी कि 'मैं अविपक्वकषायवाले कुयोगी पुरुषोंको तत्काल दृष्टिगत नहीं होता—

अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्।

इसलिये बार-बार कामादि दोष एवं मल आदि कषायोंको दूर करते हुए परमात्म-साक्षात्कारके लिये उद्योग करना पड़ता है। यही बात सम्पूर्ण योगवासिष्ठमें विस्तारसे समझायी गयी है।

भगवद्‌गीतामें दूसरेसे आठवें अध्यायतक इस योगकी विशेष चर्चा है। इसका मुख्य प्रसंग दूसरे अध्यायके ३९ वें श्लोकसे प्रारम्भ होता है। जहाँ भगवान् कहते हैं—'यहाँतक तो सांख्यकी चर्चा हुई, अब योगकी बात सुनो, जिस यौगिक बुद्धिसे युक्त होकर तुम समस्त कर्मबन्धनोंको काट डालोगे।' इस योगमार्गमें किये गये अभ्यास-क्रमका उच्छेद नहीं होता अर्थात् अन्य पुण्योंके समान इसका फल नष्ट नहीं होता और इसमें प्रत्यवाय, पाप आदि भी नहीं होते। इसका थोड़ा-सा भी आचरण महान् भय और संकटको दूर कर देता है।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(२।४०)

इस योगप्रक्रियामें केवल एक ही निश्चयात्मिका बुद्धि रहती है कि एक ही परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है। उसकी शरणागति, ध्यान, स्मरणसे सारा क्लेश नष्ट होगा और पूरी शान्ति प्राप्त हो जायगी। समस्त प्राणिपदार्थ एवं क्रियाएँ भी और कुछ नहीं केवल उसीके ही स्वरूप हैं। अतः सभी प्राणि-पदार्थ मायिक हैं। सुख, दुःख, सिद्धियाँ एवं असिद्धियाँ भी मायिक हैं। इनमें कोई सार नहीं है। इसलिये इनकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हर्ष-विषाद आदिसे तनिक भी विचलित नहीं होना चाहिये। इस प्रकार जब साधककी बुद्धि परमात्मामें ही समाहित होकर स्थित हो जाती है तब वही 'योग' नामसे व्यपदिष्ट होता है—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(२।४८)

इस योगके सामने अन्य सभी कर्म तुच्छ हैं। अतः समस्त फलोंकी आशाका परित्यागकर केवल कर्तव्य-बुद्धिसे मात्र श्रेष्ठ कर्मोंका ही आचरण करना चाहिये। योगी व्यक्तिके पुण्य एवं पाप सभी नष्ट हो जाते हैं। इसलिये वह कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाता है और सारी कामनाओंका परित्यागकर सर्वथा प्रसन्न हो जाता है। वह केवल अपनी आत्माको देखता हुआ परमात्मभावसे संतुष्ट हो जाता है। उसे भारी-से-भारी क्लेशसे भी उद्वेग नहीं होता और संसारके राजपाट या किसी भी अन्य सुखकी स्पृहा नहीं होती। भय, क्रोध एवं आसक्तिसे वह सर्वथा शून्य होता है। उसकी दृष्टि एकमात्र परमात्मापर लगी रहती है। इससे भोग-पदार्थोंकी इच्छाकी तो बात ही क्या, उधर लेशमात्र भी उसका रहा-सहा रस भी समाप्त हो जाता है। यह योगके द्वारा परमात्माके दर्शनका परम फल है—

रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(२।५९)

—वैसे इस योग-सिद्धिमें विद्वान् लोगोंको भी कई जन्म लग जाते हैं। क्योंकि इन्द्रियाँ बड़ी बलवती होती हैं और वे ज्ञानी पुरुषोंको भी विजयके प्रयत्न करनेपर भी अलग-अलग अपने प्रभावसे मनको खींचकर परमार्थसे भ्रष्ट कर देती हैं। विषयोंके सांनिध्यसे उनका चिन्तन होता है और उनकी ओर आसक्ति होती है। उसमें बाधा पड़नेपर क्रोध भी होता है। इस प्रकार राग और क्रोधके कारण मोहमें पड़कर आगे-पीछेके सभी साधन भूल जाते हैं। फिर बुद्धि सर्वथा नष्ट हो जाती है और इससे साधक परमार्थ-प्राप्तिसे वञ्चित हो जाता है और एक प्रकारसे उसका सर्वनाश हो जाता है। इसलिये योग-साधकको सर्वथा आसक्ति और विषयोंके प्रभावसे बचकर अपने उद्धारका प्रयत्न करना चाहिये। जो ऐसा नहीं करता वह अपना अधःपतन करानेवाला स्वयं शत्रु है। योगी व्यक्ति विषयोंको तथा संसारको असत्य तथा क्षणभङ्गुर समझकर संसारमें केवल भगवान्‌की भावना एवं ध्यान करता हुआ परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है। जो ऐसा नहीं करता, वह विषयोंकी अग्निमें झुलसता हुआ अशान्त रहता है, ऐसे अशान्त व्यक्तिको सुख कहाँ? इधर योगी व्यक्ति भगवान्‌के ध्यानसे सुखी रहता है। जो सारी कामनाओंका परित्यागकर स्पृहारहित होकर शारीरिक नित्य-कर्मोंका आचरण करता है, जिसके मनमें अहंकार, मोह और ममता नहीं है तथा वह भगवान्‌को

ही सब कुछ मानता है, उसे सम्यक् शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

गीताके छठे अध्यायमें योगारुरुक्षु, योगारूढ और योगसिद्ध—इन तीन प्रकारकी योग-अवस्थाओंकी विवेचना हुई है। जो योगमार्गपर आरूढ होना चाहता है, उसके लिये फलाशा त्यागकर अपने वर्ण, आश्रम और परिस्थितियोंके अनुसार धर्मका ही आचरण करना चाहिये, ऐसा बतलाया गया है। ऐसा आचरण कर मनुष्य योगारूढ़ हो जाता है। जब साधक योगारूढ हो जाता है तब उसके लिये परम योग-सिद्धिकी प्राप्तिके निमित्त विशिष्ट देवी-देवताओंके ध्यानपूर्वक निर्बीज-समाधिकी स्थिति प्राप्त करनेका विधान है। क्योंकि—**'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।'** ऐसा कहा गया है। ऐसी अवस्थामें वह भगवान्‌की ही चर्चा करता है और एकान्त स्थानमें बैठकर निश्चल दीपशिखाकी भाँति स्थित हो अपने चित्तको भगवान्‌के भजनमें लगा देता है। वह लेशमात्र भी भगवान्‌से पृथक् नहीं होता—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥

(६।१९)

योगीको पवित्र एवं एकान्त—नदीके तीर, बिल्व या पीपलके वृक्षके नीचे, अरण्य-प्रान्तमें या किसी गुफा अथवा देवालयमें जहाँ मन भगवान्‌की ओर विशेष आकृष्ट हो सके ऐसे स्थानमें कुश, मृगचर्म, कम्बल या मुलायम वस्त्रके आसनपर सीधे बैठकर योग-साधना करनी चाहिये। सर्वप्रथम वह समस्त संकल्पों और उससे उत्पन्न होनेवाले कामनाओंका निःशेष रूपसे परित्याग कर दे और मनको सर्वथा चिन्तनसे मुक्त कर दे। मनके शुद्ध हो जानेपर भगवान् हृदयमें अपने-आप आ जाते हैं। यदि मन कहीं किसी बाहरी वस्तुका चिन्तन करनेकी ओर दौड़े, तो उसे वहाँसे खींचकर पुनः हृदयस्थ परमात्मामें लगाना चाहिये। जब मन अभीष्ट वस्तुका चिन्तन नहीं करता और उसके हृदयमेंसे सदैव रजोगुण, तमोगुण सभी भाव विलय हो जाते हैं, तब योगीके हृदयमें परम शान्ति आ विराजती है और वह परम सुखी हो जाता है। फिर अज्ञान नष्ट होकर विशुद्ध विज्ञान चमक उठता है, जिससे हृदयके भीतर तथा बाहर परमात्माका चिन्तन होने लगता है। उसकी दृष्टि सब जगह समान हो जाती है। यथा—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(६।२९)

इस प्रकार जो समस्त प्राणियों तथा आकाश, पाताल, समुद्र, नदी, पर्वत आदिमें सर्वत्र एक परमात्माको देखता है, भला उसकी दृष्टिसे परमात्मा या परमात्माकी दृष्टिसे वह कैसे ओझल हो सकता है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(६।३०)

जो समभावमें स्थित होकर राग-द्वेषादिसे शून्य पूरे विश्वमें अपने आत्माके समान ही सबके सुख-दुःखकी भावना करता है और सर्वत्र परमात्माको निरन्तर देखता है, वही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध योगी है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६।३२)

भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने योगके तत्त्वको परम पवित्र संन्याससे भी अधिक श्रेष्ठ माना है। यदि कोई संन्यासी योगका साधक नहीं है, तो उसे सिद्धि बड़ी कठिनाईसे प्राप्त हो सकेगी और अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा। परंतु विशुद्ध योगका साधक अनायास विशुद्ध ज्ञानके द्वारा भगवान्‌को अतिशीघ्र ही प्राप्त कर लेता है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

(५।६)

क्योंकि योग-साधनासे योगीकी आत्मा निर्मल दर्पणकी भाँति स्वच्छ, ज्ञानके प्रकाशसे पूर्ण हो जाती है, जिससे योगी सर्वथा स्ववश एवं जितेन्द्रिय हो जाता है। वह सब प्राणियोंमें अपने आत्माको देखते हुए उनमें सर्वत्र अनुस्यूत हो जाता है, फलतः उसे कोई पाप-ताप स्पर्श भी नहीं कर पाते—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

(५।७)

योगी बाह्य पदार्थोंके प्रभावसे सर्वथा असंस्पृष्ट रहता है। उसे योगके द्वारा आत्मामें जो सुख, शान्तिकी उपलब्धि होती है, उसका वर्णन नहीं हो सकता। उसकी आत्मा ब्रह्म-साक्षात्कारसे सम्पन्न होकर एवं ब्रह्मयोगसे परिपूर्ण होकर अक्षय आनन्दको प्राप्त करती है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥

(५।२१)

मनुष्य सर्वाधिक बुद्धिमान् प्राणी कहा जाता है। पर बुद्धिका सबसे बड़ा चमत्कार यही है कि वह इस मायामय एवं मिथ्या संसारमें सत्य एवं सच्चिदानन्दतत्त्व परमात्माका दर्शन प्राप्त कर ले अन्यथा उसे अनन्तकोटि योनियोंमें सुख-दुःखके चक्करमें निरन्तर भटकते रहना पड़ेगा। व्यास, वाल्मीकि, वसिष्ठ, नारद, पतञ्जलि, याज्ञवल्क्य आदि सभी महर्षियोंने भगवान्‌की कृपासे ही उनका साक्षात्कार किया और अपने-अपने योग-शास्त्रोंमें केवल भगवान्‌को ही महत्त्व दिया। वे राज-पाट, धन-दौलत, ऐश्वर्य-भोग एवं विश्वकी सम्पूर्ण सुख-समृद्धियोंके प्रति तनिक भी आकृष्ट नहीं हुए। सुदूर तपोवनमें रहकर शुद्धतम बुद्धिद्वारा योगसिद्धिको प्राप्त कर वे एक क्षणके लिये भी भगवच्चिन्तन या भगवद्दर्शनसे अलग नहीं होते थे। वे प्रायः अजर, अमर एवं अन्य सभी आधियों-व्याधियोंसे मुक्त भी थे। देवर्षि नारदने भागवतकी रचनाके पूर्व व्यासदेवको यही समझाया था। उनके वचन बड़े महत्त्वके थे, जो मूलतः इस प्रकार हैं—

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो
न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं
कालेन सर्वत्र गभीररंहसा ॥

अर्थात् कामोपभोग आदि सुख कालयोगसे स्वर्ग, नरक तथा पाताल आदिमें सर्वत्र वैसे ही प्राप्त होते हैं, जैसे दुःख बिना बुलाये ही आ जाते हैं—स्वाभाविक ही प्राप्त होते हैं, पर उनसे कोई लाभ न होकर अशान्ति ही बढ़ती है और भयंकर-से-भयंकर क्लेशोंकी प्राप्ति होती है। इसलिये बुद्धिमान् और विद्वान् व्यक्तिका एकमात्र यही कर्तव्य है कि समस्त प्रयत्नोंके द्वारा सम्पूर्ण शक्ति लगाकर योगाभ्यासद्वारा शीघ्र-से-शीघ्र परम तत्त्व परमात्माका सम्यक् साक्षात्कार अवश्य कर ले और जबतक ऐसा न हो जाय, तबतक अन्य कुछ भी कार्य न करे। यहाँतक कि विश्राम भी न करे।

परमात्मा करुणा, सुख, शान्ति, ज्ञान, बल और आनन्दका अक्षय-कोष है। अतः कृपापूर्वक वह अपनेको प्राप्त कराकर जीवात्माका परम कल्याण करना ही चाहता है। इसलिये उसकी प्राप्तिमें विलम्बकी शङ्का ही कहाँ है? भगवद्गीता तथा सभी योगशास्त्रों और इतिहास-पुराणादि शुद्ध भारतीय वाङ्मयका भी यही उपदेश है—

वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ।
आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते ॥

(हरिवंश०, भविष्य० १३२।९५)

एहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।

समूची गीतामें एकमात्र भगवान् ही प्रतिपाद्य तथा प्रत्येक शब्दमें शुद्धरूपसे व्याप्त हैं। बस, आवश्यकता है उसमें गम्भीर अवगाहन करनेकी, उससे तत्काल भगवद्दर्शन सुलभ हो सकता है।

याद रखो

१- किसीको नीचा दिखानेकी चाह या चेष्टा न करो, किसीकी अवनति या पतनमें प्रसन्न न होओ, न किसीकी अवनति या पतन चाहो ही। किसीकी निन्दा-चुगली, दोष-प्रकाशन न करो।

२- मान-प्रतिष्ठाके लिये त्यागका स्वाँग मत धारण करो। सच्चा त्याग करो। त्यागमें भाव प्रधान है, बाहरी क्रिया नहीं।

३- मौन-साधन करो—परंतु याद रखो, असली मौन तो मनका है। मनमें विषय-चिन्तन बंद हो जाना चाहिये।

४- गिरे हुए, रोगी, प्रलोभनमें पड़े हुए, अपराधी, विपत्तिग्रस्त और अपमानित नर-नारियोंके साथ कभी दुर्व्यवहार मत करो। उनसे सहानुभूतिका बर्ताव करो। उन्हें सच्चा सुखी बनानेकी चेष्टा करो।

चरकसंहितामें योगदर्शन

प्राचीन ऋषि-महर्षि महात्यागी, महायोगी एवं उपासनाबलसे त्रिकालज्ञ थे। उन्होंने जिन ग्रन्थोंका निर्माण किया है, उनमें कल्याणकारी भगवदीय तत्त्व और आत्म-विश्लेषणके सभी रहस्य प्रकट करनेके प्रयत्न किये थे। इसीलिये विविध ऋषियोंद्वारा दृष्ट वैदिक सूक्तों, वेदाङ्गों तथा दर्शन-शास्त्रोंमें योगशक्ति ही मुख्यरूपसे वर्णित हुई है। मनुष्यके शारीरिक लाभ तथा रोगादिके अपाकरणके लिये उन्हीं ऋषियोंने आयुर्वेदशास्त्रका भी निर्माण किया, जिनमें चरक, सुश्रुत, वाग्भट, शार्ङ्गधर आदि आचार्योंकी संहिताएँ अत्यन्त प्राचीन हैं। माधवनिदान तथा भावप्रकाश आदि ग्रन्थ उन्हींपर आधृत हैं। इन सभीमें योगविद्याका भी वर्णन हुआ है, किंतु इन सबका मूल चरकसंहिता मानी गयी है जो महर्षि पतञ्जलिकी रचनाके रूपमें मान्य है। इसमें मनुष्यके अन्तर्हृदयमें स्थित विविध प्रकारके भावों तथा आत्मा-परमात्मापर पर्याप्त विचार किया गया है। उनके पूरे भावको वर्णित करना शक्य नहीं है, केवल संक्षेपमें यहाँ चरकस्थ योगका वर्णन किया गया है।

चित्तवृत्तियोंका निरुद्ध हो जाना ही योग है। अर्थात् योगावस्थामें चित्त विषयोंसे हट जाता है और अपने कारण आत्मा-परमात्मामें लीन हो जाता है। जब चित्तवृत्तियोंका निरोध हो जाता है, तब आत्माकी अपने स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। योग-दर्शनमें योगकी यही व्याख्या दी गयी है।। आयुर्वेदके महान् ऋषि भी योगके इन सिद्धान्तोंको मानते थे। चरक-संहिताके प्रारम्भमें आयुर्वेद-दीपिकाकार चक्रपाणिदत्त महोदयने कहा है कि आयुर्वेदके उपदेष्टा भगवान् चरक और योगदर्शनके आद्य आचार्य भगवान् पतञ्जलि एक ही व्यक्तिके दो नाम हैं[1]। अस्तु, चरकसंहितामें अनेक स्थलपर योगकी व्याख्या, योगकी सिद्धियोंका विवरण, योगियोंकी चर्या, हठयोगके सिद्धान्त—वमन, विरेचन, वस्ति आदिका वर्णन होना स्वाभाविक ही है। अतः योग और आयुर्वेदके सिद्धान्तोंका मूल प्रयोजन प्रायः समान ही है और दोनों शास्त्रोंमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

चरकसंहितामें योगकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि आत्माको मन और इन्द्रियोंके साथ विषयोंके सम्पर्कसे सुःख-दुःख होते हैं। जब मन आत्मामें स्थिर हो जाता है, तब सुख-दुःखकी अनुभूति नहीं होती, मनके आत्मा-परमात्मामें लीन हो जानेकी अवस्थाको योगियोंने योग कहा है[2]।

मन और आत्माका सतत सम्पर्क रहता है—मोक्ष होनेपर ही आत्माको मनसे छुटकारा मिल सकता है, यही बात भगवान् चरकने भी कही है। आत्मा जब एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें प्रवेश करनेके लिये जाता है, तब वह अपने साथ किये हुए कर्मके फल, मन-बुद्धि-अहंकार, सूक्ष्म इन्द्रियाँ, सूक्ष्म भूत आदि घटकोंको ले जाता है, योगी लोग यह देखते हैं। सामान्य मनुष्योंको यह अनुभव नहीं हो पाता[3]।

मन आत्माके समान व्यापक नहीं है फिर भी अपनी चञ्चलताके कारण व्यापक प्रतीत होता है, इन्द्रिय-मन और आत्माका परस्पर सम्बन्ध होनेके कारण आत्माको सुख-दुःखकी अनुभूति होती है।

भगवान् चरकने इन्द्रिय-विजयको आरोग्यका प्रमुख कारण बतलाया है, उनका कथन है कि मानसिक वेगोंको

१- पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः। मनोवाक्कायदोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः॥

(चरक-सूत्र १ ।१ पर चक्रपाणि)

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन। योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

(योगवार्तिक विज्ञानभिक्षु)

२- आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां संनिकर्षात् प्रवर्तते। सुखं दुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे॥
निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते। सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः॥

(चरक-शारीर १।४४)

३- अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः। न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहंकारविकारदोषैः॥

(चरक-शा० २।३६)

रोकनेसे व्यक्ति पापमुक्त होकर पुण्यशाली बनता है और शीघ्र ही धर्म-अर्थ और कामको प्राप्त करता है।

मनका प्रवेश जहाँ-जहाँ होता है, वहाँ-वहाँ सुख-दुःखकी अनुभूति होती है और जहाँ मनका प्रवेश नहीं होता, वहाँ सुख-दुःखकी अनुभूति नहीं होती। मनका प्रवेश सम्पूर्ण शरीरमें है, अतः शरीर दुःखका अधिष्ठान माना गया है। केश, लोम, नखाग्रमें मनका प्रवेश नहीं होता, अतः वहाँ-वहाँ दुःखकी अनुभूति नहीं होती। अतः यह स्पष्ट है कि मनका कोई एक विशिष्ट निर्धारित स्थान नहीं है।

आयुर्वेदके अनुसार इन्द्रियसहित शरीर और मन वेदनाका अधिष्ठान माना गया है। योगमें और मोक्षमें सभी वेदनाओंका नाश हो जाता है। मोक्ष प्राप्त होनेपर सभी प्रकारकी (शारीरिक-मानसिक-ऐन्द्रियिक) वेदनाओंका नाश हो जाता है, अतः योग मोक्षका प्रवर्तक है[1]। योग स्वयं मोक्ष नहीं है, अपितु योगकी उपासनासे मोक्षकी प्राप्ति होती है। योग-प्रवृत्तिसे शारीरिक, मानसिक आरोग्य तो प्राप्त होता ही है, साथ-ही-साथ समाहित-चित्तताकी भी प्राप्ति हो जाती है।

चित्तकी अवस्थाएँ

महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें सत्त्व, रज और तमोगुणके परिणामस्वरूप चित्तकी पाँच अवस्थाएँ बतलायी हैं—(१) मूढ़, (२) क्षिप्त, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र तथा (५) निरुद्ध। जगत्में जो कुछ भी दृश्यमान है अर्थात् जो कुछ भी देखा जाय, सुना जाय, सोचा जाय, इनके आधारपर हमारा आभ्यन्तर चित्त प्रतिक्षण कार्यरत रहता है, यह सारा संसार मनुष्य-मनका मूर्तस्वरूप है। मनुष्यके चिन्तन-मननके परिणामस्वरूप बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कार — रोगोंकी चिकित्सा, ओषधियोंका संशोधन, ग्रहों-उपग्रहोंके परिभ्रमण आदिका ज्ञान हुआ है। दार्शनिक दृष्टिसे विचार करें तो यह चित्त क्षण-क्षणपर सत्त्व-रज और तमोगुणसे युक्त होता रहता है। कभी वह सात्त्विक, कभी रजोगुणी तो कभी तमोगुणयुक्त होता है, तीनों अवस्थाओंमें चित्तमें विभिन्न गुणधर्म होते हैं। चरकसंहिता शारीर-स्थान अध्याय ४ में चित्तके गुणधर्मों एवं प्रकृतियोंका विस्तृत विवेचन किया गया है। वह प्रकरण भारतीय मनोविज्ञानका मूर्धन्य अंश है। चरकमुनिद्वारा विवृत यह मनोविज्ञान उस समय जितना महत्त्वपूर्ण था आज भी उतना ही महत्त्व रखता है।

आज मानवमें रजोगुण और तमोगुणकी वृद्धि हो रही है और सत्त्वगुणका पूर्णतः ह्रास होता चला आ रहा है। परिणाम-स्वरूप लोभ, ईर्ष्या, घृणा, आलस्य, द्वेष, भय, हिंसा, असत्य, क्रोध, असंतोष, अशान्ति आदि दानवीय गुणोंमें अधिक मात्रामें वृद्धि होती चली जा रही है। मनुष्य अपनी शान्ति, मानवता, श्रद्धा, संतोष, प्रेम, विश्वास,प्रसन्नता, सुख, दया, दानशीलता, उत्साह, ज्ञान, उदारता, धैर्य तथा चैतन्य आदि जो सात्त्विक गुण हैं, उन्हें प्रतिदिन भूलता चला जा रहा है। वह केवल भौतिक ही बनता जा रहा है, वास्तवमें यह उसकी प्रगति नहीं है, प्रत्युत यह मानव-जातिका आत्मघात है। वास्तविक सुख प्रेम, शान्ति, दया, करुणा एवं संतोषमें है। भगवान् चरकने शारीर-स्थान-४ में मानव-मनके गुणधर्मोंका जो सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया है, वह सनातन सत्य है, दुनियामें जहाँ अधिक समृद्धि है, वहाँ अधिकाधिक आक्रोश, द्वेष-ईर्ष्या तथा स्पर्धा भी अत्यधिक है।

चरकमें मनका लक्षण

ज्ञानका होना अथवा न होना ही मनका लक्षण है। आत्मा, इन्द्रिय और विषयोंका मनसे सम्पर्क होनेसे विषयका ज्ञान होता है और मनका सम्पर्क नहीं होनेसे विषयका ज्ञान नहीं होता[2]। अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति-प्रक्रियामें मन सेतुका कार्य करता है, मनका इन्द्रियोंके साथ सम्पर्क होते ही इन्द्रियाँ विषयोंको ग्रहण करती हैं। वैशेषिक दर्शनमें भी मनकी सिद्धिके लिये ऐसे ही विचार मिलते हैं।[3]

१- वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः। केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना॥
योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामावर्तनम्। मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः॥ (चरक-शारीर १। ४३-४४)

२- लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च। सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां संनिकर्षे न वर्तते॥
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सांनिध्यात्तु प्रवर्तते॥ (चरक-शारीर १।५)

३- आत्मेन्द्रियार्थे संनिकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्। (वै० द० ३। २। १)

मनके कार्य

वैसे तो मन अचेतन है, अतः उसमें क्रिया सम्भावित नहीं है तथापि आत्माके साथ सम्पर्क होनेसे मनमें क्रियाका अध्यास माना गया है, (वास्तवमें क्रियाएँ आत्माकी ही हैं) मनको अति चञ्चल तथा गतिशील कहा गया है। मन शरीर तथा इन्द्रियोंपर सतत नियन्त्रण रखता है, अतः मनुष्य कभी भी शान्तिका अनुभव नहीं कर पाता, सतत क्रियाशील रहता है। भगवान् चरकने मनके प्रमुख कार्य इस प्रकार गिनाये हैं—इन्द्रियोंके साथ सम्पर्क करके विषयोंको ग्रहण करना, इन्द्रियों तथा शरीरको नियन्त्रित रखना, अपने-आपको नियन्त्रित रखना, विचारना, ध्यान करना, चिन्तन-मनन करना आदि[१] मन अपना कार्य पूरा करता है, बादमें बुद्धि प्रवृत्त करती है, तत्पश्चात् शरीर अपना कार्य प्रारम्भ करता है। भगवान्ने मनके कार्य प्राकृत और विकृत—दो प्रकारके बतलाये हैं। सत्त्वसार पुरुषके जो-जो लक्षण हैं, वे सब प्राकृत मनके ही कार्य हैं तथा विकृत मनके काम, क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या, लोभ, मद, मोह, भय, चिन्ता आदि विकार हैं, वे ही मानस रोगके कारण भी हैं[२]।

मोक्षका मार्ग

भगवान् पतञ्जलिने योगको मोक्षका मार्ग कहा है तथा चित्तवृत्तियोंके निरोधको योग बतलाया है और चित्तवृत्तियोंके निरोधके लिये उन्होंने अष्टाङ्गयोगका उपदेश दिया है। आयुर्वेदके ऋषियोंने भी प्रायः इन्हीं सिद्धान्तोंद्वारा शारीरिक एवं मानसिक रोगोंकी चिकित्साका निर्देश दिया है। योगके उपदेशोंको धारण करनेसे मनुष्यको मोक्षकी प्राप्ति होती है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—ये योगमार्गके अष्टाङ्ग—उत्तरोत्तर आठ सोपान हैं।

भगवान् चरकद्वारा प्रबोधित मोक्षमार्ग

अष्टाङ्गयोगके पालनमें जिस प्रकारका पवित्र आचरण करनेपर मोक्षकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकारके आचरणोंसे मोक्ष-प्राप्तिका विवरण भगवान् चरकने भी दिया है। आयुर्वेदके स्वस्थवृत्तमें तथा दैव-व्यपाश्रय-चिकित्सामें ये बातें विस्तारसे निर्दिष्ट हैं।

चरकसंहितामें कहा गया है कि 'सज्जनोंकी सेवा करना, दुर्जनोंका त्याग करना, शास्त्रोपदिष्ट व्रत, उपवास तथा पवित्र नियमोंका पालन करना, धर्मशास्त्रका निरन्तर अभ्यास करते रहना, आत्मज्ञानमें रुचि रखना, एकान्तप्रियता, विषयोंमें अनासक्ति, मोक्षप्राप्तिके लिये सतत यत्न करते रहना, धैर्य धारण करना, नूतन कर्मोंद्वारा फल-प्राप्ति-रूपी बन्धनमें न फँसना, किये हुए कर्मोंका क्षय करनेका उपाय करना, कर्म निष्काम भावसे (अहंकाररहित) करना, पुनर्जन्मका भय रखना, मन-बुद्धिको आत्मा—ईश्वरमें जोड़ना— यही मोक्षका सरलतम मार्ग है[३]। गीतामें भी मोक्षका मार्ग इसी प्रकारका बतलाया गया है[४]। उपर्युक्त आचरणमें योगके उपदिष्ट अष्टाङ्गोंका समावेश हो जाता है।

चरकसंहिता, चिकित्सास्थानके रसायन-सेवनके प्रकरणमें कहा गया है कि निम्नलिखित गुणोंवाला मनुष्य यदि रसायन-सेवन नहीं करता तो भी उसे रसायन-सेवनके सभी गुण प्राप्त हो जाते हैं। यथा—मातृकाओंके साथ भगवान् शिवके पूजन, विष्णुसहस्रनामके पाठ, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, गङ्गा और इष्टदेवता आदिकी उपासना, माता-पिता, गुरुओंकी भक्तिपूर्वक सेवा, ब्रह्मचर्यादिके नियमतः पालन,

---

१-चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च। यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥
इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसस्त्वस्य निग्रहः। ऊहो विचारश्च ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते॥
(च० शा० १।७-८)

२-चरक, विमान(५।२।१)।

३-सतामुपासनं सम्यगसतां परिवर्जनम्। व्रतचर्योपवासश्च नियमाश्च पृथग्विधाः॥
धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञानं विजने रतिः। विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः परा धृतिः॥
कर्मणामसमारम्भः कृतानां च परिक्षयः। नैष्कर्म्यमनहंकारः संयोगे भयदर्शनम्॥
मनोबुद्धिसमाधानमर्थतत्त्वपरीक्षणम्। तत्त्वं स्मृतेरुपस्थानात् सर्वमेतत्प्रवर्तते॥ (चरक-शारीर १।४७)

४-गीता १५।१—४

जप, होम, वेदोंके श्रवण तथा संतोंके दर्शनसे सभी प्रकारके विषम ज्वरोंसे मुक्ति हो जाती है। ग्राम, नगर एवं जनपद आदिके विध्वंसक रोगोंके शमनके लिये सत्य, दया, देवतार्चन, धर्मशास्त्रोंका श्रवण आदिका भी उपदेश भगवान् चरकने किया है। उनके मूल वचन इस प्रकार हैं—

सोमं सानुचरं देवं समातृगणमीश्वरम्।
पूजयन् प्रयतः शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात्॥
विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम्।
स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वान् व्यपोहति॥
ब्रह्माणमश्विनाविन्द्रं हुतभक्षं हिमाचलम्।
गङ्गां मरुद्गणांश्चेष्टान् पूजयन् जयति ज्वरान्॥
भक्त्या मातुः पितुश्चैव गुरूणां पूजनेन च।
ब्रह्मचर्येण तपसा सत्येन नियमेन च॥
जपहोमप्रदानेन वेदानां श्रवणेन च।
ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च॥

(चरक-चि० ३। १९६—२००)

सत्यं भूते दया दानं बलयो देवतार्चनम्।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः॥
हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम्।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्॥
संकथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम्।
धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसम्मतैः॥

(चरक० निदा० ३। १६-१९)

स्वस्थवृत्तके प्रकरणमें कई स्थलपर योगके इस राजमार्गका विवरण मिलता है।

अभ्यास और वैराग्य

प्रत्येक जीवधारीमें परमात्मा अंश-रूपमें विराजमान हैं। प्राणीके हृदयमें उनका निवास है, इसलिये उनके नाम-गुणोंका मन एवं वचनद्वारा कीर्तन तथा श्रवण करनेसे और शास्त्रोंके अनुशीलनसे एवं पवित्र कर्मोंके आचरणके अभ्याससे, परमात्माके गुणोंको चित्तमें स्थिर करनेसे और मनको विषयोंमें न भटकने देनेसे, साथ ही आत्म-तत्त्वका चिन्तन करते रहनेसे अर्थात् आत्मा पञ्चभूतोंसे भिन्न है, शरीरका नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता, वह शाश्वत सभी प्राणीमें विराजमान है—इस प्रकार सर्वदा चिन्तन-मनन करते रहनेसे साधकमें लेशमात्र भी कर्तापनका अहंकार नहीं रहता, उसे सर्वत्र परमात्मा ही दिखायी देते हैं। ऐसा व्यक्ति जो भी कार्य करता है, वह उसमें अपनेको निमित्त मात्र समझता है, इसीमें परमात्माकी प्रसन्नता बढ़ती है।

इच्छाओंका नाश (इच्छात्याग) ही वैराग्य है। विषयोंका चिन्तन तथा मनन दुःखका कारण है, अतः उन्हें चित्तमेंसे निकाल देना चाहिये। सुखी मनुष्योंसे मैत्री-भावना, दुःखी मनुष्योंसे करुणा तथा पुण्यात्माओंसे मुदिता-प्रसन्नताकी भावना तथा पापियोंमें उपेक्षा-भाव बर्तना चाहिये। इससे चित्तका मल दूर होता है और मन निर्मल बनता है, यह बात चरकसंहिता और योगदर्शन दोनोंमें ही कही गयी है[1]। भगवान् चरकने तो कहा है कि इच्छाएँ ही दुःख और दुःखका कारण हैं। इच्छाओंका त्याग ही दुःखनिवृत्तिका मार्ग है। जिस प्रकार रेशमका कीड़ा अपने-आपको स्वयं फँसाता और नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार विषयोंमें फँसा मनुष्य स्वयंको नष्ट करता है। निष्कामभावसे (अहंकारका त्यागकर) कर्म करनेसे कर्मका बन्धन नहीं होता[2]।

योगदर्शनमें वर्णित योगकी अष्टसिद्धियाँ

योगकी प्रक्रियामें जैसे-जैसे साधक अपनी साधनामें **आगे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसे दिव्य शक्तियों एवं** सिद्धियोंकी उपलब्धि होने लगती है, उनमें आठ मुख्य सिद्धियाँ ये हैं—

१-अणिमा — अणु-समान सूक्ष्मरूप धारण कर लेना, २-लघिमा—शरीरको फूल-सदृश हलका बनाना, ३-महिमा—शरीरको बड़ा बना लेना, ४-गरिमा—शरीरको

१-मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (यो० द० १।३३)
मैत्री कारुण्यमार्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम्। प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधा॥ (च०-सू० ९। १९)

२-उपधा हि परो हेतुर्दुःखदुःखाश्रयप्रदः। त्यागः सर्वोपधानां च सर्वदुःखव्यपोहकः॥
कोषकारो यथा ह्यंशूनुपादत्ते वधप्रदान्। उपादत्ते तथार्थेभ्यस्तृष्णामज्ञः सदातुरः॥
यस्त्वग्निकल्पानर्थान् ज्ञो ज्ञात्वा तेभ्यो निवर्तते। अनारम्भादसंयोगात्तद्दुःखं नोपतिष्ठते॥ (चरक-शारीर १। ३१)

भारी बना लेना, ५-प्राप्ति— संकल्प-बलसे पदार्थोंको प्राप्त कर लेना, ६-प्राकाम्य—इच्छापूर्ति कर लेना, ७-वशित्व—पदार्थों और प्राणियोंको वशमें कर लेना और ८-ईशित्व—प्राणी और पदार्थोंपर शासन-शक्ति जमा लेना। इन आठ सिद्धियोंके अतिरिक्त मनोजवित्व, अप्रतिहत-गतित्व, दूरश्रवण, पशु-पक्षी आदिकी बोलीका ज्ञान आदि अनेक शक्तियाँ भी उसे प्राप्त हो जाती हैं।

चरकसंहितोक्त सिद्धियाँ

भगवान् चरकने यह निर्दिष्ट किया है कि शुद्ध सत्त्व समाधिसे योगियोंको जो अष्टविध ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है, वह इस प्रकार है—

१-आवेश—सूक्ष्म शरीरद्वारा दूसरे शरीरमें प्रवेश करना, २-छन्दतः क्रिया—प्राणी-पदार्थोंको वशमें कर लेना, ३-चेतस-ज्ञान—दूसरोंके विचारको जान लेना, ४-इष्टतः दृष्टि—इच्छानुसार देखना, ५-इष्टतः श्रौत — इच्छानुसार सुनना, ६-इष्टतः स्मृति — इच्छानुसार स्मरण करना, जन्मान्तरोंका स्मरण करना, ७-इष्टतः कान्ति — इच्छानुसार स्वरूप धारण कर लेना और ८-इष्टतः अदर्शन — इच्छानुसार अदृश्य होना[1]।

हठयोगके सिद्धान्त

स्वास्थ्य-रक्षणमें हठयोगकी क्रियाएँ बहुत ही सहायक हैं। हठयोगके आसन तथा धौति, वस्ति, नेति आदि षट्कर्म भी आयुर्वेदके पञ्चकर्मके जनक हैं।

हठयोगका महत्त्वपूर्ण अङ्ग आसन है। आसनोंकी संख्या ८४ बतायी गयी है। आसनोंके माध्यमसे स्वास्थ्य-रक्षा की जा सकती है तथा अङ्गकी स्थूलता दूर की जा सकती है। पवनमुक्तासन, वीरासन, वज्रासन, धनुरासन, मत्स्येन्द्रासन आदि आसनोंसे वातदोष; भुजंगासन, शलभासन एवं वस्ति (कर्म) से पित्तदोष तथा गजकरणी, धौति (कर्म) नेति (कर्म) से कफ-सम्बन्धी दोषोंके अपाकरणमें सहायता प्राप्त होती है।

इसी प्रकार शवासन, प्राणायाम, शीर्षासनसे हृदय; शीर्षासन, सूत्रनेति (क्रिया) त्राटकसे नेत्र; जलनेति (वमन) सूत्रनेति (क्रिया) से नासिका; प्राणायाम, सूर्यनमस्कारसे फुसफुस; मत्स्येन्द्रासनसे प्लीहा; भुजंगासनसे वृक; पद्मासन, वज्रासन आदिसे अंडकोष; मयूरासन, हलासनसे आँत; योगमुद्रा, शीर्षासन, मत्स्यासन आदिसे मस्तिष्क आदि शरीरके विभिन्न अवयवोंके विकार दूर होते हैं।

हठयोगके 'षट्कर्म' तथा आयुर्वेदके पञ्चकर्म

आयुर्वेद-संहिताओंमें वर्णित पञ्चकर्म हठयोगके षट्कर्मोंसे मिलते-जुलते हैं। भगवान् चरकने १-वमन, २-विरेचन, ३-वस्ति, ४-धूमपान, ५-नस्य (सुश्रुत-रक्तमोक्षण) —इन्हें पञ्चकर्म कहा है। हठयोग-प्रदीपिकामें धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभातिको षट्कर्म कहा गया है। इन षट्कर्म और पञ्चकर्मके उद्देश्य तो प्रायः एक ही हैं। त्रिदोषके वैषम्यको सम-अवस्थाओंमें लानेके लिये ही इन कर्मोंका प्रयोग किया जाता है तथा इन कर्मोंसे अनेक रोगोंका शमन होता है।

योगदर्शन और आयुर्वेद—ये दोनों ही वेदोंके व्याख्यान हैं और वेदोंका तात्पर्य परमात्माको जाननेमें है। योग-साधनामें चित्तकी वृत्तियोंको भगवदाकार करनेका उपदेश है तथा आयुर्वेदमें भी शरीर एवं मनके सभी विकारोंको दूरकर स्वच्छ एवं निर्मल अन्तःकरणमें भगवद्दर्शन करनेका निर्देश दिया गया है। मूलतः सभी विद्याएँ, सभी शास्त्र भगवान्‌को ही प्राप्त करानेवाले हैं।

[संकलनकर्ता—डॉ॰ श्री आर॰ वाई॰ शास्त्री, साहित्याचार्य]

उपवास, अल्प भोजन, आजीविकाका नियम, रस-त्याग, सर्दी-गर्मीका समभावसे सहन करना और स्थिर आसनसे रहना—यह छः प्रकारका बाह्य तप है और प्रायश्चित्त, ध्यान, सेवा, विनय, शरीरोत्सर्ग और स्वाध्याय—यह छः प्रकारका आभ्यन्तर तप है।—महावीर तीर्थङ्कर

१-आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया। दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्॥ (चरक-शारीर १।४५)

स्मृति-वाङ्मयमें योग-निरूपण

(डॉ० श्रीबसन्तबल्लभजी भट्ट, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

'स्मृति' शब्द सामान्य स्मरण, चिन्तन, ध्यान और धर्मशास्त्र-ग्रन्थोंका भी वाचक है। ये धर्मशास्त्र मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, वसिष्ठ, गौतम, पराशर, आपस्तम्ब, दक्ष, हारीत, शाण्डिल्य, भरद्वाज तथा विश्वामित्र आदि महान् वेदवेत्ता, धर्मपरायण, अध्यात्मतत्त्वमें पारङ्गत और योगज्ञान-सम्पन्न ऋषि-महर्षियोंके द्वारा श्रुतियोंके आधारपर ही निर्मित हुए हैं। ये ऋषि वेदमन्त्रोंके द्रष्टा भी थे और योग-विद्यामें निष्णात, भूत, भविष्य तथा वर्तमान—तीनों कालोंके ज्ञानसे संयुक्त, अतीन्द्रिय, व्यवहित, सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्म-अनात्म पदार्थोंके ज्ञान और भगवत्साक्षात्कारसे भी सम्पन्न थे। ध्यान-योगके अद्‌भुत प्रभावसे सम्पन्न होकर इन ऋषियोंने अतिनिगूढ़ परमात्म-शक्तिका दर्शनकर महामेधा, महाविद्या तथा महास्मृतिसे सम्पन्न होकर लोककल्याणार्थ जिन ग्रन्थोंका प्रणयन किया वे सभी, उन-उन महर्षियोंके नामसे प्रसिद्ध हुए और वे ही स्मृतिशास्त्र कहलाये। जैसे राजर्षि मनुविरचित मनुस्मृति, महर्षि याज्ञवल्क्यविरचित याज्ञवल्क्यस्मृति आदि। वास्तवमें ये स्मृति-ग्रन्थ विश्वके शाश्वत संविधान हैं। श्रुतियोंकी तरह ही इनका भी प्रबल प्रामाण्य है।

स्मृतियोंका विशाल साहित्य है। निबन्ध ग्रन्थोंके अनुसार इनकी संख्या प्रायः दो सौके आस-पास हैं, किंतु उनमेंसे ७० स्मृतियाँ विशेष प्रसिद्ध हैं और प्रायः प्रकाशित भी हो चुकी हैं। प्राचीन भारतमें इन्हीं स्मृतियोंके आधारपर व्यवहार आदि सभी धर्मकार्योंका निर्णय होता था। इन्हींके वचनोंको लेकर स्मृति-चन्द्रिका (देवन्न भट्ट), स्मृतितत्त्व (रघुनन्दन भट्ट), स्मृति-कौस्तुभ (अनन्तदेव), कृत्यकल्पतरु (लक्ष्मीधर भट्ट), चतुर्वर्गचिन्तामणि (हेमाद्रि), वीरमित्रोदय (वीरमिश्र), निर्णयसिन्धु (कमलाकर भट्ट) तथा धर्मसिन्धु (काशीनाथ उपाध्याय) आदि अतिश्रेष्ठ निबन्ध-ग्रन्थोंका निर्माण हुआ।

स्मृतियोंका प्रतिपाद्य विषय

स्मृतियाँ प्रत्येक स्त्री-पुरुष, परिवार, वर्ण, आश्रम, व्यापार, व्यवहार, राज्य-संचालन तथा विश्व-संचालनके लिये सदा मार्गदर्शक रही हैं और जबतक इनका समादर रहा, तबतक विश्वमें प्रायः कोई क्लेश भी नहीं रहा, क्योंकि ये स्मृतियाँ योग-प्रतिभा और ईश्वरके श्वास-प्रश्वासस्वरूप वेदज्ञानसे समर्थित थीं। स्मृतियोंमें मुख्यरूपसे सम्पूर्ण मानव-जातिके प्रातःकालके उत्थानसे लेकर शयन, स्वप्न और पुनः जागरणतक तथा प्राणीके गर्भमें प्रवेश या गर्भाधानकालसे अन्त्येष्टिपर्यन्त और परलोकसे लेकर पुनर्जन्मतकके विधान दिये गये हैं। मुख्यरूपसे ब्राह्ममुहूर्तमें जागरण, दुःस्वप्नादि दोषोंकी निवृत्तिके लिये प्रातःकालिक भगवत्स्मरण, मङ्गलपाठ, माङ्गलिक पदार्थोंका दर्शन, शौच, स्नान, संध्या, देवर्षि-पितृतर्पण, देवाराधन, स्वाध्याय, पञ्चमहायज्ञोंका सम्पादन, बलिवैश्वदेव, भोजन, योग-क्षेमके लिये स्ववर्णाश्रमोचित अध्ययनादि षट्कर्म, कृषि-व्यापार आदिके उपाय, पुनः सायंकालीन संध्या, सत्सङ्ग, देवाराधन, रात्रि-भोजन एवं शयनके पूर्वके कृत्य एवं विधि-विधान विस्तारसे निर्दिष्ट हैं। इन नित्य कृत्योंके अतिरिक्त गर्भाधान, सीमन्त, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, विद्यारम्भ, यज्ञोपवीत, वेदारम्भ, वेदव्रतोंके पालनपूर्वक वेदस्नान, समावर्तनपूर्वक स्नातक बनकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश तथा गृहस्थ-धर्मका पालन, तदनन्तर वानप्रस्थ एवं संन्यासादि आश्रमोंके नियम-धर्मोंका साङ्गोपाङ्ग प्रतिपादन हुआ है। साथ ही अज्ञान एवं ज्ञानमें हुए पातकों एवं उपपातकोंके निवारणार्थ विस्तारसे प्रायश्चित्तकी विधियाँ भी निर्दिष्ट हैं। इसलिये ये स्मृतियाँ प्रत्येक मनुष्यके लिये सर्वाधिक कल्याणकारिणी और इनके अनुसार आचरण करनेपर स्वर्ग एवं मोक्ष भी प्रदान करानेवाली हैं।

स्मृतियों और योगका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध

वैसे तो संध्या आदि कृत्योंके प्रसङ्गोंमें प्रायः सभी स्मृतियोंमें प्राणायाम, ध्यान आदि योगसम्बन्धी मुख्य प्रकरण आये हैं, किंतु कुछ स्मृतियोंमें योगके सभी अङ्गोंपर प्रकाश डाला गया है और कुछ स्मृतियोंका एकमात्र उद्देश्य ही योग-सिद्धि है, जैसे बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति आदि। मनुस्मृतिमें प्रायः सर्वत्र योगको ही मुख्य तत्त्व मानकर अन्य धर्मोंका विश्लेषण हुआ है। मनुका दशाङ्गधर्म योगके प्रकरणके बीचमें

निर्दिष्ट हुआ है। इसी बातको ध्यानमें रखकर महर्षि याज्ञवल्क्यने अपने मुख्य धर्मशास्त्र याज्ञवल्क्यस्मृतिके प्रारम्भमें ही धर्मकी परिभाषा बतलाते हुए योगके द्वारा आत्मदर्शन अथवा भगवत्प्राप्तिको ही परम धर्म माना है—

'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥'

(१।८)

विचार करनेपर यही बात सभी वेदादि शास्त्रों, पुराणेतिहास-ग्रन्थों, धर्मशास्त्रों तथा सभी योगशास्त्रोंसे भी प्रमाणित होती है कि भगवत्प्राप्ति ही सर्वोपरि योग है। इसी विषयको लेकर सभी स्मृतियोंमें पर्याप्त विचार किया गया है। यहाँ योगविषयक कुछ प्रमुख स्मृतियोंके योगसम्बन्धी मुख्य प्रकरणोंको आधार मानकर उनके विविध पक्षोंको संक्षेपमें प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) दक्षस्मृतिमें योग

प्रजापति दक्षने सृष्टिके आरम्भमें प्रजाके कल्याणके लिये सदाचार आदि सभी नियमोंसे सम्पन्न एक स्मृतिकी रचना की, जो दक्ष-स्मृतिके नामसे प्रसिद्ध हुई। उनकी पुत्री महायोगिनी सतीने शिव-वियोगमें योगाग्निसे ही अपने शरीरको दग्धकर पुनः पार्वती-रूपमें योगीश्वर शिवको प्राप्त किया। दक्ष भगवान् शिवके ससुर बने। इससे महाराज जनककी तरह इनकी भी योगैकप्राणता स्वयं सिद्ध है। उन्होंने अपनी स्मृतिके अन्तमें योगतत्त्वपर स्पष्ट रूपसे प्रकाश डाला है और उसके सभी स्वरूपोंपर विचार किया है, जो संक्षिप्त होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है। योग-निरूपणकी प्रस्तावनामें वे कहते हैं—

लोको वशीकृतो येन येन चात्मा वशीकृतः।
इन्द्रियार्थो जितो येन तं योगं प्रब्रवीम्यहम् ॥

(दक्ष० ७।१)

इसका भाव यह है कि योगसे मनुष्य सम्पूर्ण लोकको वशमें कर सकता है और बिना योगशक्तिके वह किसीको भी पूर्ण वशमें नहीं कर सकता। बिना योगके व्यवहार-ज्ञान भी नहीं होता। केवल योग ही एकमात्र ऐसा साधन है, जिससे मनुष्य स्वयंको भी वशमें कर सकता है। इन्द्रियोंको निवृत्त करनेकी क्षमता भी योगमें ही है, अन्यथा प्रमाथी स्वभाववाली इन्द्रियाँ किसी भी उपायसे वशमें नहीं हो सकतीं।

प्रजापति दक्षने अपनी स्मृतिमें पातञ्जलयोगके अष्टाङ्गसे प्रायः सर्वथा भिन्न षडङ्गयोगका उपदेश किया है, जो प्रायः कई उपनिषदोंमें भी उपदिष्ट है। दक्षद्वारा उपदिष्ट छः अङ्ग हैं— प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा, तर्क एवं समाधि।

योगके अत्यन्त सूक्ष्म और सारस्वरूपपर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि किसीके अरण्यसेवन, अनेक प्रकारके ग्रन्थोंके स्वाध्याय, अति शारीरिक क्लेश, विविध प्रकारके यज्ञ, विभिन्न प्रकारके हठयोग, आसन, नासिकाग्रदृष्टि, विशेष प्रकारके शारीरिक शुद्धियोंके व्यसन, मौन-धारण, अनेक प्रकारके मन्त्रोंके जप तथा पुण्यानुष्ठानों और सांसारिक कार्योंसे भी योगसिद्धि नहीं होती, किंतु किसी पवित्र सात्त्विक पदार्थ अथवा अभीष्ट देवता आदिमें तीव्र ध्यानके अभ्यास और उन साधनोंमें गुरुके उपदेशद्वारा दृढ़ निष्ठा तथा बार-बार संसारकी निस्सारताको ध्यानमें रखते हुए तीव्र वैराग्यके आशयसे ही पूर्णयोगकी सिद्धि होती है—

अभियोगात् तथाभ्यासात् तस्मिन्नेव तु निश्चयात्।
पुनः पुनश्च निर्वेदाद्योगः सिद्ध्यति नान्यथा ॥

(दक्ष० ७।६)

सम्पूर्ण प्राणियोंमें और सर्वत्र एक परमात्माकी विशुद्ध दृष्टि तथा यथासाध्य सभी प्रकारकी पवित्रतासे पूर्णयोगकी सिद्धि होती है, अन्य किसीसे नहीं। जो व्यक्ति शरीरसे भिन्न केवल आत्मतत्त्वका ही चिन्तन, अवलोकन करते हुए आत्मनिष्ठ बना रहता है और आत्मदृष्टिसे सबके साथ सम-व्यवहार करता है, उसीको योग सिद्ध हो सकता है, अन्य किसीको नहीं। जो सोते-जागते, स्वप्नादिमें एक वृत्तिसे ही भगवद्ध्यानमें रत रहता है, वही ब्रह्मवादियोंमें परम योगी है। जो एक आत्मासे भिन्न विश्वमें कुछ भी नहीं देखता, वही योगी ब्रह्मीभूत होकर कृतकृत्य हो जाता है, ऐसा दक्षका अपना अभिमत है—

य आत्मव्यतिरेकेण द्वितीयं नैव पश्यति।
ब्रह्मीभूतः स विज्ञेयो दक्षपक्ष उदाहृतः ॥

(दक्ष० ७।११)

(२) बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृतिका योग-विधान

महर्षि याज्ञवल्क्यने सूर्यकी आराधनाकर वाजसनेयि-संहिता या माध्यन्दिनसंहिता या शुक्लयजुर्वेदको प्राप्त किया था। शतपथ-ब्राह्मण भी उन्हींके द्वारा दृष्ट है। शतपथ-ब्राह्मणके

आरण्यकभाग (बृहदारण्यक) में राजर्षि जनकके दरबारमें कहोड़ आदि विद्वानोंके साथ महायोगी याज्ञवल्क्यका ब्रह्मज्ञानसम्बन्धी शास्त्रार्थ विस्तारसे प्रतिपादित है। शिक्षाके ग्रन्थोंमें उनके द्वारा रचित याज्ञवल्क्य-शिक्षा अत्यन्त प्रसिद्ध है। उन्होंने ही लोकोपकारकी दृष्टिसे अपने योगज्ञानसे तीन स्मृतियोंकी रचना की, जो बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति, ब्रह्मोक्त योगियाज्ञवल्क्यसंहिता तथा याज्ञवल्क्यस्मृतिके नामसे प्रसिद्ध हैं। इन तीनोंमें परस्पर साम्य होते हुए भी याज्ञवल्क्यस्मृतिका विशेष प्रचार-प्रसार है। ब्रह्मोक्त योगि-याज्ञवल्क्यसंहिताके वचन प्रायः उनकी दो स्मृतियोंमें समाहित हो गये हैं । यहाँ क्रमशः बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृतिके योगसार-सम्बन्धी वचनोंका संक्षिप्त विवरण उपस्थापित किया जाता है।

महर्षिने अपने बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृतिमें पहले मन्त्रयोग, प्राणायाम, ध्यान, गायत्रीजपकी विस्तृत विधि, गायत्री-मन्त्रका भाष्य तथा प्रणवके भी भाष्यका विस्तारसे विवेचन किया है और अन्तिम ग्यारहवें-बारहवें अध्यायमें योग एवं वेदान्तका विवरण उपस्थित किया है। आचार्यकी मान्यता है कि अन्य सभी धर्म दोषयुक्त एवं पुनर्जन्म आदिको देनेवाले हैं, किंतु योग थोड़ा भी अभ्यस्त होनेपर परब्रह्मके साक्षात्कारपूर्वक मोक्षको प्रदान करनेवाला है। जिस व्यक्तिने योगका अभ्यास नहीं किया, वह चाहे जितना भी अध्ययन-अध्यापन करता रहे और अहर्निश प्रवचन भी करता रहे, उससे उसे आत्मतुष्टि या परमात्मप्राप्तिकी सम्भावना नहीं है, वह उसका प्रलापमात्र है। इसलिये मुख्य योगशास्त्रोंका अध्ययन कर बुद्धिमान् मनुष्यको योगपरायण होना चाहिये। अन्यथा जैसे पंख होनेपर पक्षी अपने घोंसलेको छोड़ देते हैं, उसी प्रकार अयोगी या ब्रह्मसाक्षात्काररहित व्यक्तिको मरते समय वेद भी छोड़कर किनारे हो जाते हैं—

छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः ॥

(बृहद्यो० ११।२०)

समस्त वेद ओंकारमें ही प्रतिष्ठित हैं, उसके जप-ध्यानसे भी परमात्माका साक्षात्कार होता है। कोई भी विद्वान् केवल विद्या या तपस्यासे मुक्त नहीं हो सकता, जिसमें सदाचार एवं योगकी प्रतिष्ठा हो, वही मुक्तिको प्राप्त होता है। वैसे समस्त प्राणी बुद्धिमान् हैं, उनमें भी मनुष्योंकी बुद्धि सबसे अधिक है, मनुष्योंमें भी जो साङ्गोपाङ्ग वेदादिके ज्ञाता हैं वे अधिक श्रेष्ठ हैं और उनमें भी वे श्रेष्ठ हैं जो अध्ययनके अनुसार आचरण करनेवाले हैं और सबसे श्रेष्ठ वे ही हैं जो योगद्वारा परमात्मज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार परमात्मज्ञानके द्वारा परमात्मप्राप्तिसे बढ़कर और कोई बड़ा लाभ नहीं है। इसीलिये महर्षि ऐसे परमात्मप्राप्त व्यक्तिको वेदसमूहके ज्ञाताओंसे भी श्रेष्ठ मानते हैं—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥

(बृहद्यो० ११।३८)

अतः सम्पूर्ण विश्वके नित्य एकमात्र प्रशास्ता, अतिसूक्ष्म होनेके कारण किसीको भी भासित नहीं होनेवाले और केवल योगके द्वारा समाधिमें ही सम्यक्-रूपसे प्राप्त होनेवाले, प्रतप्त स्वर्णके समान हिरण्मय आभायुक्त परमात्मतत्त्व ही ध्येय, ज्ञेय एवं प्राप्य हैं। जैसे भी हो उन्हें शीघ्र प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। संक्षेपमें महर्षि योगियाज्ञवल्क्यके ज्ञानयोग एवं ध्यानयोगका यही सारांश है।

(३) याज्ञवल्क्यस्मृतिमें योग

स्मृति-वाङ्मयमें याज्ञवल्क्यस्मृतिकी सर्वाधिक महिमा है। महर्षिने यद्यपि यज्ञ, दान, स्वाध्याय, सदाचार, अहिंसा आदि सभी धर्मोंकी स्थान-स्थानपर प्रशंसा की है और उनका आचरण आवश्यक बतलाया है, पर अपनी स्मृतिके आरम्भमें ही उन्होंने योगसाधनाके द्वारा परिपूर्ण रूपसे परमात्म-साक्षात्कारको ही मुख्य ध्येय बताया है। महर्षिका तात्पर्य है कि अन्य धर्मोंका समादर करते हुए योगके आश्रयणसे परमात्म-तत्त्वका दर्शन करना चाहिये, यही परम धर्म है—

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥

(याज्ञ० १।१।८)

वास्तवमें यही सभी उपनिषदों, इतिहास-पुराणों और ऋषियों, मुनियों तथा संतोंके सभी उपदेशोंका सारांश है। आचार्य विज्ञानेश्वरने इस श्लोककी व्याख्यामें कहा है कि बाह्य वृत्तियों एवं सभी इन्द्रियोंपर निग्रह प्राप्तकर पूर्णरूपसे अन्तर्मुख होकर हृदयमें स्थित परमात्माको देखना या देखते रहना ही

सर्वोपरि धर्म है और यह जिस किसी देश-काल या अत्यन्त इष्ट आत्मामें या शुद्ध परमात्माके अवलोकनमें जहाँ विशेष आकर्षण हो वहाँ भी किया जा सकता है। इसमें अन्य धर्मोंकी तरह विशेष देश-कालकी शुद्धिका नियम नहीं है, यह योगका वैशिष्ट्य है।

वैसे तो इस स्मृतिके आचार, व्यवहार, राजधर्म एवं प्रायश्चित्तादि—सभी प्रकरणोंमें सदा अप्रमत्त रहने आदिके नियमोंमें योग ही समाविष्ट है तथापि इसके तृतीय अध्यायमें योगके द्वारा परमात्म-प्राप्तिकी जो प्रतिज्ञा प्रारम्भमें की गयी, उसका सम्यक् विधान निर्दिष्ट किया गया है। महर्षिका कथन है कि चित्तकी वृत्तियोंका सम्यक् निरोधकर ध्यानयोगके द्वारा सूक्ष्म आत्माको अपने हृदयके अन्तर्गत परमात्मामें अवस्थित देखना चाहिये—

'ध्यानयोगेन सम्पश्येत् सूक्ष्म आत्मात्मनि स्थितः ॥'
(३।४।६४)

इसके लिये वेदान्त या आत्मतत्त्वज्ञानका बार-बार श्रवण, मनन, चिन्तन और समाहित होकर ध्यान करना चाहिये। सारांश यह है कि क्षेत्रज्ञके अन्तर्गत परमात्माको स्थित देखना चाहिये। पुनः इसके अधिक सूक्ष्म स्वरूपको स्पष्ट करते हुए महर्षि बतलाते हैं कि मनुष्यके हृदयके अन्तर्गत एक नाडीकन्द है, जहाँसे हिताहितसंज्ञक बहत्तर हजार छोटी-बड़ी नाडियाँ निकलकर मनुष्यके सम्पूर्ण शरीरमें मन, प्राण, रक्त आदिका संचार करती हैं। उस नाडीकन्दके अन्तर्गत चन्द्रमाके समान एक तेजोमय मण्डल है, जिसके अन्तर्गत सूक्ष्म जीवात्मा निर्वात दीपशिखाके समान स्थित होकर सबका संचालन करता है। उस प्रकाशमय ज्योति-पुञ्जका योगीको निरन्तर ध्यान करना चाहिये। इससे धीरे-धीरे धारणा, ध्यान एवं समाधिकी सिद्धि हो जाती है। योग-साधनाद्वारा उसके साक्षात्कार सम्पन्न हो जानेपर जीव क्रमशः जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति और कैवल्य प्राप्तकर सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है और उसका संसारमें पुनः आगमन नहीं होता—

द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयादभिनिःसृताः ।
हिताहिता नाम नाड्यस्तासां मध्ये शशिप्रभम् ॥
मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा दीप इवाचलः ।
स ज्ञेयस्तं विदित्वेह पुनराजायते न तु ॥
(याज्ञ० ३।४।१०८-१०९)

महर्षि याज्ञवल्क्यने योग-साधनाके शारीरिक प्रकारका भी उल्लेख किया है, तदनुसार किसी एकान्त एवं पवित्र स्थानमें कुश, मृगचर्म और उसके ऊपर वस्त्र बिछाकर बद्धपद्मासन लगाकर बैठना चाहिये। ठुड्डीको कण्ठकूपमें स्थिरकर, जिह्वाको उलटकर तालुमें स्थित कर ले तथा ओठोंको बंद कर ले। दाँतोंका परस्पर स्पर्श न करे। इस प्रकार निश्चल बैठकर पैंतालीस बार चुटकी लगानेतक साधकको पूरक, कुम्भक एवं रेचक प्राणायामोंका अभ्यास करना चाहिये। सम्पूर्ण इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे सर्वथा मुक्तकर चित्तको कहीं भी अन्यत्र नहीं जाने देना चाहिये, इससे वह धारणा एवं ध्यान करनेमें सक्षम हो जाता है। साधकको अपने चित्तको शुद्ध आत्मामें स्थित करना चाहिये और हृदयमें दीपशिखाके तुल्य स्थित भगवान्का निश्चलरूपसे ध्यान करना चाहिये।

ध्यान एवं समाधिके सिद्ध हो जानेपर साधक—योगी अन्तर्ध्यानसिद्धि, अतीन्द्रिय एवं पूर्वजन्मोंकी स्मृति प्राप्त कर लेता है। उसका शरीर कमनीय हो जाता है और उसकी दृष्टि अतीत, अनागत एवं अतीन्द्रिय, सूक्ष्म, व्यवहित, दूरस्थ एवं दिव्य अलौकिक शक्तियोंको भी देखनेमें समर्थ हो जाती है, वह दूरश्रवण एवं देवता आदिके भी निर्देशोंको समझनेमें तथा अपने शरीरको छोड़कर दूसरेके शरीरमें भी प्रवेश करनेमें समर्थ हो जाता है। ये सभी योगसिद्धिके लक्षण हैं। जब साधकका योग एवं शरीर सिद्ध हो जाता है तो वह फिर देहपातके बाद सर्वथा मुक्त हो जाता है और उसे पुनः शरीर धारण करनेकी आवश्यकता नहीं रहती—

'सिद्धे योगे त्यजन् देहममृतत्वाय कल्पते ॥'
(याज्ञ० ३।४।२०३)

(४) मनुस्मृतिमें योग-निरूपण

मनुस्मृति आदिराज स्वायम्भुव मनुकी रचना है। इन्हींसे समस्त मानव या स्त्री-पुरुष-संयुक्त—मानवी सृष्टि हुई है। इसीलिये प्रायः सभी भाषाओंके मनुष्य-वाची शब्द मैन, मनुज, मानव आदि मनु शब्दसे ही प्रभावित हैं। आदिकालसे ही महाराज मनुद्वारा निर्दिष्ट मानवधर्मशास्त्र—मनुस्मृति ही विश्वके सच्चे संविधान और सभी धर्म-कर्मोंके निर्णयके लिये सर्वोपरि मान्य है। सभी निबन्धकारों एवं स्मृतिकारोंकी महाराज मनुकी योगज दृष्टिसे उत्पन्न मनुस्मृतिपर अपार श्रद्धा है। वेदोंमें

भी अनेक स्थलोंपर इनका उल्लेख है—

'मनुर्वै यत्किंचिदवदत् तद्भेषजं भेषजतायाः'

अर्थात् महाराज मनुके निर्देश भेषजता अथवा चिकित्सा-विज्ञानकी भी चिकित्साके रूपमें मान्य हैं। तात्पर्य यह है कि मनुके वचन ही सर्वोपरि कल्याणकारी हैं। इसीलिये सर्वज्ञ ऋषियोंने इन्हें अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, प्राण अथवा साक्षात्परमात्माके रूपमें देखा था—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥

(मनु० १२।१२३)

स्वयं मनुस्मृतिमें ही महर्षि भृगुने इन्हें सर्वज्ञानमय कहा है—

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

(मनु० २।७)

अर्थात् उन्हें पर, अवर एवं शब्द—तीनों ब्रह्मोंका पूर्ण साक्षात्कार था।

मनुस्मृतिमें बारह अध्याय हैं। यद्यपि उनके आचार, व्यवहार, राजधर्म, स्त्रीधर्म एवं आपद्धर्म आदिमें योग अनुस्यूत है तथापि दो-तीन स्थानोंमें उन्होंने इसकी विशेष चर्चा की है। छठे अध्यायमें वानप्रस्थ एवं संन्यासी-धर्मप्रकरणमें मुख्य-रूपसे योगकी ही चर्चा हुई है। मनुने इन्द्रिय-निग्रहको ही प्रधान योग कहा है। यदि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ वशमें हो गयीं तो चित्तकी सभी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं और शुद्ध निर्मल हृदयमें भगवान्‌का साक्षात्कार हो जाता है। किंतु पर्याप्त ज्ञान और वैराग्यके अभावमें इन्द्रियोंका संग्रह सम्भव नहीं होता, इसलिये साधकको दूरतक दृष्टि ले जानी चाहिये। सभी लोगोंके शरीरमें अनेक प्रकारकी आधियाँ-व्याधियाँ, विपत्तियाँ प्रत्यक्ष देखनेमें आती हैं, जिनका कोई प्रतीकार सम्भव नहीं दिखायी देता। प्राणी माताके गर्भमें भी अपार यातना सहन करता है और नारकीय यातनाएँ भी असत्य नहीं हैं, शास्त्र एवं योगज ज्ञानसे यह सब प्रत्यक्ष सिद्ध है। इन सब बातोंका जितना ही ध्यानसे चिन्तन किया जाता है, उतना ही वैराग्य तीव्र और ज्ञान भी सुदृढ़ होता जाता है। इस प्रकारकी सूक्ष्म दृष्टि प्राप्तकर योगद्वारा आत्माको ही देखनेका प्रयत्न करना चाहिये—

'सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः।'

(मनु० ६।६५)

राजर्षि मनुके अनुसार प्राणोंका नियमन मुख्य योग है, क्योंकि प्राणायामके द्वारा मन नियन्त्रित हो जाता है और सारी इन्द्रियाँ भी वशीभूत हो जाती हैं। अतः गायत्रीसहित तीन प्राणायाम करनेपर पापकी अपार राशि दग्ध हो जाती है और साधकका महान् तप या योग सिद्ध हो जाता है। जैसे सुवर्णादि धातुओंको अग्निमें तपाये जानेपर उनके सारे मल दूर हो जाते हैं, वैसे ही प्राणोंके निगृहीत करते ही इन्द्रियोंके सारे दोष जलकर भस्म हो जाते हैं। इस प्रकार साधकको प्राणायामोंके द्वारा शारीरिक दोषोंको नष्टकर, धारणाके द्वारा पूर्वजन्मार्जित तथा वर्तमानतकके सारे पापोंको दूर कर देना चाहिये तथा प्रत्याहारके द्वारा संयोग या संसर्ग प्राप्त होनेपर भी उनसे दूर रहकर नवीन दोष या किल्बिष उत्पन्न नहीं होने देना चाहिये और अधिक देरतक धारणा-ध्यान-सम्पन्न हो जानेपर, योगीके अन्तःकरणके सर्वथा शुद्ध हो जानेपर जो जीवके शेष बचे दुर्गुण होते हैं, वे सब नष्ट होकर ऐश्वर अर्थात् ईश्वरके सभी गुण उसे प्राप्त हो जाते हैं—

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥

(मनु० ६।७२)

इस प्रकार उस योगीकी सम्यक् ब्रह्मदृष्टि सम्पन्न हो जाती है और उसे सम्पूर्ण विश्वमें केवल एकमात्र शुद्ध परमात्माका ही निरन्तर दर्शन होने लगता है तथा ज्ञानके द्वारा उसकी कभी विस्मृति नहीं होती और न संसार ही कभी उसे पुनः इस रूपमें दिखलायी पड़ता है। सर्वत्र सम्यक् ब्रह्मदृष्टि-सम्पन्न योगी अपने आगे-पीछेके कर्मोंके बन्धनमें नहीं फँसता, क्योंकि यज्ञ, तप आदि कर्म तथा उसके फल भी उसे ब्रह्मरूपमें दिखलायी पड़ते हैं, किंतु यदि ऐसी दृष्टि नहीं हो पाती और संसार इसी भिन्न रूपमें दीखता रहता है तो फिर वह संसारमें गिर सकता है। इसलिये सम्यक् ब्रह्मज्ञान और निरन्तर एकाकार भगवद्दृष्टि ही सर्वोपरि उपलब्धि है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥

(मनु० ६।७४)

इन्हीं सब बातोंको महाराज मनुने अपनी स्मृतिके अन्तमें भी निरूपित करते हुए कहा है कि सभीको यह बात कदापि नहीं भूलनी चाहिये कि परमात्मा ही समस्त विश्वका एकमात्र सच्चा नियामक है। वही सबको निरन्तर नियमित करता है और अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे अणु-अणुमें व्याप्त है। वह योग, धारणा-ध्यान, समाधि और स्वप्रयुक्त तुरीया आदि अवस्थाओंमें भी उदयकालीन आदित्यकी ज्योतिके समान हिरण्यवर्ण, दीप्तिमयी रक्तिमायुक्त तेजोमय रूपमें प्रतिभासित होता है, उस परम पुरुष परमात्माको सभी योग-साधनाओंके द्वारा अवश्य ही सभी अवस्थामें जानते रहना चाहिये, यही बुद्धिमान् साधकका सर्वोपरि धर्म है—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥

इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमात्माको और परमात्मामें ही सम्पूर्ण प्राणियोंको तथा अपनेको भी देखना चाहिये। इसी प्रकार सभी प्राणियोंमें समदृष्टि रखनेवाला योगी साम्राज्य, श्रेष्ठ स्वाराज्य या आत्माके राज्य और कभी क्षीण न होनेवाली एवं स्वभावतः जो सबको प्राप्त है, उस ब्रह्मस्थितिको अनायास ही प्राप्त कर लेता है—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥

(मनु० १२।९१, १२५)

(क्रमशः)

सूर्यविज्ञान

(महामहोपाध्याय आचार्य पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०)

(क) उपक्रम

बहुत दिनों पहलेकी बात है। जिस दिन महापुरुष परमहंस श्रीविशुद्धानन्दजी महाराजका पता लगा था, तब उनके सम्बन्धमें बहुत-सी अलौकिक शक्तिकी बातें सुनी थीं। बातें इतनी असाधारण थीं कि उनपर सहसा कोई भी विश्वास नहीं कर सकता। अवश्य ही '**अचिन्त्यमहिमानः खलु योगिनः**'—इस शास्त्रवाक्यपर मैं विश्वास करता था और देश-विदेशके प्राचीन तथा नवीन युगोंमें विभिन्न सम्प्रदायोंके जिन विभूतिसम्पन्न योगी और सिद्ध महात्माओंकी कथाएँ ग्रन्थोंमें पढ़ता था, उसके जीवनमें संघटित अनेकों अलौकिक घटनाओंपर भी मेरा विश्वास था। तथापि आज भी हमलोगोंके बीचमें ऐसे कोई योगी महात्मा विद्यमान हैं, यह बात प्रत्यक्षदर्शीके मुखसे सुनकर भी ठीक-ठीक हृदयङ्गम नहीं कर पाता था। इसीलिये एक दिन संदेह-नाश तथा औत्सुक्यकी निवृत्तिके लिये महापुरुषके दर्शनार्थ मैं गया।

उस समय संध्या समीपप्राय थी, सूर्यास्तमें कुछ ही काल अवशिष्ट था। मैंने जाकर देखा, बहुसंख्यक भक्तों और दर्शकोंसे घिरे हुए एक पृथक् आसनपर एक सौम्यमूर्ति महापुरुष व्याघ्र-चर्मपर विराजमान हैं। उनके सुन्दर लम्बी दाढ़ी है, चमकते हुए विशाल नेत्र हैं, पकी हुई उम्र है, गलेमें सफेद जनेऊ है, शरीरपर काषायवस्त्र हैं और चरणोंमें भक्तोंके चढ़ाये हुए पुष्प तथा पुष्पमालाओंके ढेर लगे हैं। पास ही एक स्वच्छ काश्मीरोपलसे बना हुआ गोल यन्त्रविशेष पड़ा है। महात्मा उस समय योगविद्या और प्राचीन आर्षविज्ञानके गूढ़तम रहस्योंकी, उपदेशके बहाने साधारणरूपमें व्याख्या कर रहे थे। कुछ समयतक उनका उपदेश सुननेपर जान पड़ा कि इनमें अनन्यसाधारण विशेषता है। क्योंकि उनकी प्रत्येक बातपर इतना जोर था, मानो वे अपनी अनुभवसिद्ध बात कह रहे हैं, केवल शास्त्रवचनोंकी आवृत्तिमात्र नहीं। इतना ही नहीं, वे प्रसङ्गपर ऐसा भी कहते जाते थे कि शास्त्रकी सभी बातें सत्य हैं, आवश्यकता पड़नेपर किसी भी समय योग्य अधिकारीको मैं दिखला भी सकता हूँ। उस समय 'जात्यन्तर-परिणाम' का विषय चल रहा था। वे समझा रहे थे कि जगत्में सर्वत्र ही सत्तामात्ररूपसे सूक्ष्मभावसे सभी पदार्थ विद्यमान रहते हैं। परंतु जिसकी मात्रा अधिक प्रस्फुटित होती है, वही अभिव्यक्त और इन्द्रियगोचर होता है, जिसका ऐसा नहीं होता,

वह अभिव्यक्त नहीं होता—नहीं हो सकता। अतएव इनकी व्यञ्जनाका कौशल जान लेनेपर जिस किसी भी स्थानसे किसी भी वस्तुका आविर्भाव किया जा सकता है। अभ्यासयोग और साधनाका यही मूल रहस्य है। हम व्यवहार-जगत्में जिस पदार्थको जिस रूपमें पहचानते हैं—वह उसकी आपेक्षिक सत्ता है, वह केवल, हम जिस रूपमें पहचानते हैं, वही है यह बात किसीको नहीं समझनी चाहिये। लोहेका टुकड़ा केवल लोहा ही है सो बात नहीं है, उसमें सारी प्रकृति अव्यक्तरूपमें निहित है, परंतु लौहभावकी प्रधानतासे अन्यान्य समस्त भाव उसमें विलीन होकर अदृश्य हो रहे हैं। किसी भी विलीन भावको (जैसे सोना) प्रबुद्ध करके उसकी मात्रा बढ़ा दी जाय तो पूर्वभाव स्वभावतः ही अव्यक्त हो जायगा और वह सुवर्णादि प्रबुद्धभाव प्रबल हो जानेसे वह वस्तु फिर उसी नाम तथा रूपमें परिचित होगी। सर्वत्र ऐसा ही समझना चाहिये। वस्तुतः लोहा सोना नहीं हुआ—वह अव्यक्त हो गया और सुवर्णभाव अव्यक्तताको हटाकर प्रकाशित हो गया। आपात-दृष्टिसे यही समझमें आवेगा कि लोहा ही सोना हो गया है—परंतु वास्तवमें ऐसा नहीं है। कहना नहीं होगा कि यही योगशास्त्रका 'जात्यन्तरपरिणाम' है। पतञ्जलिजी कहते हैं कि प्रकृतिके आपूरणसे 'जात्यन्तरपरिणाम' होता है, एकजातीय वस्तु अन्यजातीय वस्तुमें परिणत होती है—**'जात्यन्तर-परिणामः प्रकृत्यापूरात्'**। यह कैसे होता है, सो भी योग-शास्त्रमें बतलाया गया है।

कुछ देरतक जिज्ञासुरूपसे मेरे पूछताछ करनेपर उन्होंने मुझसे कहा—'तुम्हें यह करके दिखाता हूँ।' इतना कहकर उन्होंने आसनपरसे एक गुलाबका फूल हाथमें लेकर मुझसे पूछा—'बोलो, इसको किस रूपमें बदल दिया जाय?' वहाँ जवाफूल नहीं था, इसीसे मैंने उसको जवाफूल बना देनेके लिये उनसे कहा। उन्होंने मेरी बात स्वीकार कर ली और बायें हाथमें गुलाबका फूल लेकर दाहिने हाथसे उस स्फटिकयन्त्रके द्वारा उसपर विकीर्ण सूर्यरश्मिको संहत करने लगे। क्रमशः मैंने देखा, उसमें एक स्थूल परिवर्तन हो रहा है। पहले एक लाल आभा प्रस्फुटित हुई, धीरे-धीरे तमाम गुलाबका फूल विलीन होकर अव्यक्त हो गया और उसकी जगह एक ताजा हालका खिला हुआ झूमका जवा प्रकट हो गया। कौतूहलवश इस जवापुष्पको मैं अपने घर ले आया था।

स्वामीजीने कहा—'इसी प्रकार समस्त जगत्में प्रकृतिका खेल हो रहा है, जो इस खेलके तत्त्वको कुछ समझते हैं, वही ज्ञानी हैं। अज्ञानी इस खेलसे मोहित होकर आत्मविस्मृत हो जाता है। योगके बिना इस ज्ञान या विज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार विज्ञानके बिना वास्तविक योगपदपर आरोहण नहीं किया जा सकता।'

मैंने पूछा—'तब तो योगीके लिये सभी कुछ सम्भव है?' उन्होंने कहा—'निश्चय ही है, जो यथार्थ योगी हैं, उनकी सामर्थ्यकी कोई इयत्ता नहीं है, क्या हो सकता है और क्या नहीं, इसकी कोई निर्दिष्ट सीमा-रेखा नहीं है। परमेश्वर ही तो आदर्श योगी हैं, उनके सिवा महाशक्तिका पूरा पता और किसीको प्राप्त नहीं है, न प्राप्त हो ही सकता है। जो निर्मल होकर परमेश्वरकी शक्तिके साथ जितना युक्त हो सकते हैं, उनमें उतनी ही ऐसी शक्तिकी स्फूर्ति होती है। यह युक्त होना एक दिनमें नहीं होता, क्रमशः होता है। इसीलिये शुद्धिके तारतम्यके अनुसार शक्तिका स्फुरण भी न्यूनाधिक होता है। शुद्धि या पवित्रता जब सम्यक्प्रकारसे सिद्ध हो जाती है, तब ईश्वर-सायुज्यकी प्राप्ति होती है। तब योगीकी शक्तिकी कोई सीमा नहीं रहती। उसके लिये असम्भव भी सम्भव हो जाता है। अघटनघटनापटीयसी माया उसकी इच्छाको उत्पन्न होते ही पूर्ण कर दिया करती है।'

मैंने पूछा—'इस फूलका परिवर्तन आपने योगबलसे किया या और किसी उपायसे?' स्वामीजी बोले—'उपायमात्र ही तो योग है। दो वस्तुओंको एकत्र करनेको ही तो योग कहा जाता है। अवश्य ही यथार्थ योग इससे पृथक् है। अभी मैंने यह पुष्प सूर्यविज्ञानद्वारा बनाया है। योगबल या शुद्ध इच्छा-शक्तिसे भी सृष्टि आदि सब कार्य हो सकते हैं, परंतु इच्छा-शक्तिका प्रयोग न करके विज्ञानकौशलसे भी सृष्ट्यादि कार्य किये जा सकते हैं।' मैंने पूछा—'सूर्यविज्ञान क्या है?' उन्होंने कहा—'सूर्य ही जगत्का प्रसविता है। जो पुरुष सूर्यकी रश्मि अथवा वर्णमालाको भलीभाँति पहचान गया है और वर्णोंको शोधित करके परस्पर मिश्रित करना सीख गया है, वह सहज ही सभी पदार्थोंका संघटन या विघटन कर सकता है। वह देखता है कि सभी पदार्थोंका मूल बीज इस

रश्मिमालाके विभिन्न प्रकार—संयोगसे ही उत्पन्न होता है। वर्णभेदसे और विभिन्न वर्णोंके संयोगभेदसे विभिन्न पद उत्पन्न होते हैं, वैसे ही रश्मिभेद और विभिन्न रश्मियोंके मिश्रणभेदसे जगत्‌के नाना पदार्थ उत्पन्न होते हैं। अवश्य ही यह स्थूल-दृष्टिमें बीज-सृष्टिका एक रहस्य है। सूक्ष्मदृष्टिमें अव्यक्त गर्भमें बीज ही रहता है। बीज न होता तो इस प्रकार संस्थानभेदजनक रश्मिविशेषके संयोग-वियोग-विशेषसे और इच्छाशक्ति या सत्यसंकल्पके प्रभावसे भी सृष्टि होनेकी सम्भावना नहीं रहती। इसीलिये योग और विज्ञानके एक होनेपर भी, एक प्रकारसे दोनोंका किञ्चित् पृथक्‌रूपमें व्यवहार होता है। रश्मियोंको शुद्धरूपसे पहचानकर उनकी योजना करना ही सूर्यविज्ञानका प्रतिपाद्य विषय है। जो ऐसा कर सकते हैं, वे सभी स्थूल और सूक्ष्म कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। सुख-दुःख, पाप-पुण्य, काम-क्रोध-लोभ, प्रीति, भक्ति आदि सभी चैतसिक वृत्तियाँ और संस्कार भी रश्मियोंके संयोगसे ही उत्पन्न होते हैं। स्थूल वस्तुके लिये तो कुछ कहना ही नहीं है। अतएव जो इस योजन और वियोजनकी प्रणालीको जानते हैं, वे सभी कुछ कर सकते हैं— निर्माण भी कर सकते हैं और संहार भी, परिवर्तनकी तो कोई बात ही नहीं। यही सूर्यविज्ञान है।'

मैंने पूछा—'आपको यह कहाँसे मिला? मैंने तो कहीं भी इस विज्ञानका नाम नहीं सुना।' उन्होंने हँसकर कहा—'तुमलोग बच्चे हो, तुम लोगोंका ज्ञान ही कितना है? यह विज्ञान भारतकी ही वस्तु है—उच्च कोटिके ऋषिगण इसको जानते थे और उपयुक्त क्षेत्रमें इसका प्रयोग किया करते थे। अब भी इस विज्ञानके पारदर्शी आचार्य अवश्य ही वर्तमान हैं। वे हिमालय और तिब्बतमें गुप्तरूपसे रहते हैं। मैंने स्वयं तिब्बतके उपान्तभागमें ज्ञानगंज नामक बड़े भारी योगाश्रममें रहकर एक योगी और विज्ञानवित् महापुरुषसे दीर्घकालतक कठोर साधना करके इस विद्याको तथा ऐसी ही और भी अनेकों लुप्त विद्याओंको सीखा है। यह अत्यन्त ही जटिल और दुर्गम विषय है—इसका दायित्व भी अत्यन्त अधिक है। इसीलिये आचार्यगण सहसा किसीको यह विषय नहीं सिखाते।'

मैंने पूछा—'क्या इस प्रकारकी और भी विद्याएँ हैं?' उन्होंने कहा—'हैं नहीं तो क्या? चन्द्रविज्ञान, नक्षत्रविज्ञान, वायुविज्ञान, क्षणविज्ञान, शब्दविज्ञान, मनोविज्ञान इत्यादि बहुत विद्याएँ हैं। केवल नाम सुनकर ही तुम क्या समझोगे? तुमलोगोंने शास्त्रोंमें जिन विद्याओंके नाममात्र सुने हैं, वे और उनके अतिरिक्त और भी न मालूम कितना क्या है?'

इस प्रकार बातें होते-होते संध्या हो चली। पास ही घड़ी रखी थी, महापुरुषने देखा, अब समय नहीं है, वे तुरंत नित्यक्रियाके लिये उठ खड़े हुए और क्रियागृहमें प्रविष्ट हो गये। हम सब लोग अपने-अपने स्थानोंको लौट आये।

इसके बाद मैं प्रायः प्रतिदिन ही उनके पास जाता और उनका सङ्ग करता। इस प्रकार क्रमशः अन्तरङ्गता बढ़ गयी। क्रमशः नाना प्रकारकी अलौकिक बातें मैं प्रत्यक्ष देखने लगा। कितनी देखी, उनकी संख्या बतलाना कठिन है। दूरसे, नजदीकसे, स्थूलरूपसे, सूक्ष्मरूपसे, भौतिक जगत्‌में, दिव्य जगत्‌में—यहाँतक कि आत्मिक जगत्‌में भी—मैं उनकी असंख्य प्रकारकी लोकोत्तर शक्तिके खेलको देख-देखकर स्तम्भित होने लगा।

(ख) परमहंसजीकी कुछ बातें

स्वामी श्रीविशुद्धानन्द परमहंसजीने बंगालके बर्दवान जिलेके बंडूल नामक गाँवके प्रसिद्ध चट्टोपाध्यायवंशमें जन्म
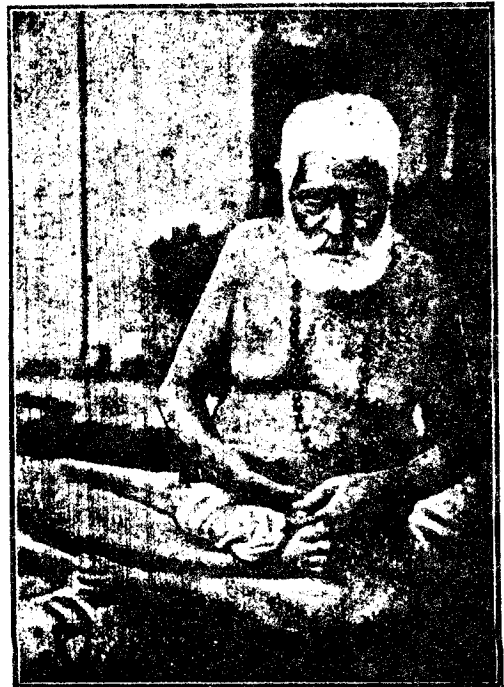
ग्रहण किया था। इनके पिताका नाम अखिलचन्द्र चट्टोपाध्याय

एवं माताका नाम राजराजेश्वरीदेवी था। लड़कपनमें ही इनके जीवनमें बहुत-सी अलौकिक घटनाएँ हुई थीं। चरित्रबल, धैर्य, अध्यवसाय, मानसिक संयम एवं भगवान्‌पर निर्भरता आदि सद्गुणोंके कारण छोटी उम्रमें ये अपने समवयस्क बालकोंमें विशिष्ट बन गये थे। आप लड़कपनमें खेलनेके बहाने भगवान्‌की और देवताओंकी पूजा करते, और मौका मिलते ही निर्जन तथा एकान्त स्थानमें जाकर ध्यानस्थ हो जाना आपको बहुत अच्छा लगता। वाक्‌सिद्धि और अन्यान्य अनेकों प्रकारके ऐश्वर्य बहुत बार इनकी बिना जानकारीमें ही लड़कपनमें इनके चरित्रमें देखे जाते थे। एक बार खेलमें ये मिट्टीके शिवजी बनाकर उनकी पूजा कर रहे थे, उसी समय इनके एक साथीने अशिष्ट आचरण करके पूजामें विघ्न किया, जिससे इनके चित्तमें क्रोध आ गया और अनजानमें ही अकस्मात् इनके मुँहसे निकल गया कि 'शिवजीका अपमान करनेके कारण शिवजीका साँप तुम्हें डसेगा।' वास्तवमें यही हुआ। उसको साँपने डस लिया, परंतु पीछेसे डसे हुए अङ्गपर इनके हाथ फेरते-फेरते देहसे विषकी क्रिया दूर हो गयी और बालक जी उठा।

एक बार इनकी पूजनीया माताजीको हैजा हो गया। चिकित्सकोंने उनके जीवनकी आशा छोड़ दी। ये शिशुपनसे ही असाधारण मातृभक्त थे। स्नेहमयी जननीके परलोक-गमनकी आशङ्कासे बालकका हृदय आच्छन्न हो गया। ये अपने गृहदेवता श्रीश्यामसुन्दरसे माताकी जीवन-रक्षाके लिये प्रार्थना करने लगे। परंतु निरन्तर प्रार्थना करनेपर भी माताकी अवस्था क्रमशः बिगड़ती गयी। तब तो ये रूठकर एक लोहेकी सांबल हाथमें लेकर गोशालाके ऊपरके मचानपर चढ़कर वहीं छिप गये। इन्होंने मनमें संकल्प कर लिया कि यदि श्यामसुन्दर मेरी माताके प्राणोंकी रक्षा नहीं करेंगे तो मैं इस लोहेकी छड़से उनकी मूर्तिको तोड़-फोड़ डालूँगा। भगवान्‌पर अत्यन्त निर्भरता तथा विश्वास होनेके कारण ही बालकके कोमल हृदयमें ऐसा मान पैदा हो गया था। कहना नहीं होगा कि श्यामसुन्दरने अपने इस मानी भक्तको मना लिया। उस अवसरपर इनकी माताजीके प्राण बड़ी ही अलौकिक रीतिसे बच गये।

इस प्रकारकी घटनाएँ इनके बाल्यजीवनमें अनेकों हुईं। छोटी ही उम्रमें इन्हें नाना प्रकारके देवताओंके दर्शन होने लगे। कई बार तो उनके साथ इनकी बातचीत भी होती। उपनयन-संस्कारके बाद इस अवस्थाका विशेष विकास हुआ था। यह सब पूर्वजन्मकी तपस्याका फल था, इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है। परंतु जिस घटनाने इनके जीवनको पलट दिया और इनके असाधारण योगशक्ति तथा ज्ञान-विज्ञानप्राप्तिके अधिकारकी सूचना हुई, वह घटना इनकी किशोरावस्थामें हुई थी। किसी पागल कुत्तेके काट खानेसे इन्हें जलान्तक रोग हो गया था और बहुत तरहके इलाज करनेपर भी अच्छे होनेकी कोई आशा नहीं रह गयी थी। ऐसी अवस्थामें ये भीषण यन्त्रणा भोगते हुए मौतकी बाट देख रहे थे। इसी समय एक महापुरुषने अपने योगबलसे बहुत ही थोड़े समयमें इन्हें आसन्न-मृत्युके मुँहसे बचा लिया। इन महापुरुषका नाम श्रीश्रीनिमानन्द परमहंस था। ये यहाँ किसी निर्दिष्ट आश्रममें नहीं रहते थे। अधिकांश समय हिमालयके ज्ञानगंज नामक विराट् योगाश्रममें ही निवास करते थे। इनकी उम्र इतनी अधिक थी कि आजकलके समयमें साधारण मनुष्य उसपर विश्वास करना नहीं चाहेंगे। कुछ दिनोंके बाद यही महात्मा इन्हें अलौकिक उपायोंसे अपने साथ आकाशमार्गके द्वारा बंगालसे बहुत दूर हिमालयमें ले गये और मानसरोवरके समीप अपने गुरुदेवके चरणोंमें उपस्थित कर दिया। मानसरोवरके समीप निवास करनेवाले श्रीनिमानन्दजीके गुरु हजारसे भी अधिक वर्षोंकी उम्र होनेपर भी आजतक स्थूल शरीरसे विद्यमान हैं। इन्होंने बालकको यथाविधि शक्तिसंचारपूर्वक दीक्षा देकर योगशिक्षा और ब्रह्मचर्यव्रत-पालनके लिये ज्ञानगंज आश्रममें भेज दिया। इस विराट् आश्रममें योगशिक्षाके साथ-ही-साथ नाना प्रकारके प्राकृतिक विज्ञानशिक्षाकी भी व्यवस्था है। 'विज्ञान' शब्दसे साधारणतः हम जो कुछ समझते हैं और जिसका समुन्नत रूप आजकल पाश्चात्त्य जगत्‌में दिखायी पड़ता है, ज्ञानगंज आश्रमका विज्ञान ठीक उसी प्रकारका नहीं है। यहाँ वे विज्ञान हैं जो प्राचीन कालके ऋषियोंको अवगत थे और आवश्यक होनेपर जिनके द्वारा वे अनेकों प्रकारके कार्य-साधन करते थे। ज्ञानगंज आश्रममें श्रीमत् श्यामानन्द परमहंस नामक एक महापुरुष इस विज्ञान-विभागके अधिष्ठाता थे। बाबाजीने महायोगी श्रीभृगुराम परमहंसदेवसे योगके समस्त

अङ्गोंका और विज्ञानविद् श्रीश्यामानन्द परमहंससे प्राकृतिक विज्ञानका रहस्य प्राप्तकर यथासमय ब्रह्मचर्य-व्रतका उद्यापन किया था। ब्रह्मचर्य-अवस्थाके बाद दण्डी और संन्यासी-अवस्थामें तत्तत् साधनभूमिके अनुसार सब साधनोंका अभ्यास करके और नियमपूर्वक परीक्षामें उत्तीर्ण होकर गुरुदेवकी आज्ञासे आपने पुनः लोकालयमें लौटकर जीवोंके कल्याण-साधनका व्रत लिया। दीर्घसमयतक लगातार ज्ञानगंज आश्रममें रहनेके बाद आपने भारतवर्षके बहुत-से तीर्थोंमें पर्यटन किया। यह लम्बी कथा है, यहाँ विस्तारकी आवश्यकता नहीं। यहाँ आकर तीर्थस्वामी-अवस्थामें आपने बर्दवान जिलेके गुष्कारा नामक गाँवमें निवास किया। तदनन्तर अपने गाँव बंडूलमें एक आश्रम बनाया और वहाँ इनके गुरुप्रदत्त शिवलिङ्गकी बंडूलेश्वरके नामसे स्थापना की गयी। इसके अनन्तर बर्दवान, काशी, झालदा, पुरीधाम और कलकत्ता आदि स्थानोंमें भी उन-उन प्रदेशोंके भक्त और साधकोंकी साधनसुकरताके लिये आश्रमोंकी स्थापना की गयी।

परमहंसदेव साधारणतः अशिक्षित और अर्धशिक्षित समाजमें 'गन्धबाबा'के नामसे विख्यात थे। जिनका इनसे बहुत दिनोंका परिचय है वे जानते हैं कि इनके शरीरसे कैसी एक अपूर्व दिव्य गन्ध सदा निकलती रहती थी। यह मूलतः विशुद्ध पद्मगन्धके समान होनेपर भी मर्त्यलोकमें इस गन्धकी कोई उपमा नहीं है। इसी गन्धसे इनके अनजानमें वायु और भावोंके स्पन्दनानुसार कभी चन्दन, कभी खस, कभी गुलाब और कभी अन्य किसी प्रकारकी दिव्य गन्धका आविर्भाव हो जाया करता। ब्रह्मचर्यके परिणामस्वरूप देहके सम्यक् प्रकारसे शुद्ध होनेपर शरीरसे इस प्रकारकी दिव्य गन्ध स्वाभाविक ही निकला करती है। पहले परमहंसदेव जहाँ बैठते, वहाँसे बहुत दूरतक—यहाँतक कि सारे आश्रममें उनके शरीरकी सुबास फैली रहती थी।

इनकी योगशक्ति और विज्ञानशक्तिका वर्णन करना असम्भव है। जिनका इनके साथ थोड़ा-बहुत अन्तरङ्ग सम्बन्ध हुआ है, वे हजारों प्रकारसे इनके अलौकिक ज्ञान, विभूति, करुणा और वात्सल्यगुणोंसे परिचित हैं। इस निबन्धके लेखकने इनसे बहुत दूर रहकर और इनके निकट बैठकर जिन लोकातीत कार्योंको अपनी आँखोंसे देखा है, उनको एक-एक करके लिखनेसे साधारण पाठक उनमेंसे किसीको भी सम्भव नहीं मानेंगे और सहसा उनपर विश्वास करनेमें भी समर्थ नहीं होंगे। ये सारी बातें इतनी अधिक संख्यामें और इतने विचित्र ढंगसे इनके जीवनमें प्रकट हुई हैं कि धीरजके साथ विचार करनेपर अत्यन्त कठोर शुष्क नास्तिक-हृदयमें भी भगवान्‌की मङ्गलमय विभूति और अहैतुकी अपार करुणापर विश्वास हुए बिना नहीं रह सकता। परंतु इन सब व्यक्तिगत बातोंको लेकर लोगोंके सामने प्रकट होना अशोभन मालूम होता है, इसीलिये विशेष विवरण न देकर थोड़ेसेमें कुछ खास-खास बातें लिखी जाती हैं।

परमहंसदेव अपने मस्तकके भीतर शालग्राम और शिवलिङ्गको धारण किये रहते हैं। साथ ही वहाँ १०८ स्फटिक मणियोंकी एक माला भी है। पूजा आदिके समय उक्त शालग्राम और शिवलिङ्गको मुख आदि द्वारोंसे बाहर निकालकर यथाविधि पूजा कर चुकनेपर पुनः यथास्थान उन्हें रख देते हैं। एक बार एक भक्त जमाये हुए पारेसे बना हुआ एक शिवलिङ्ग लाये और उसे बाबाको दिखलाया। बाबाने कहा—'तुम कहो तो मैं इस पारदसे बने हुए शिवलिङ्गको निगल जाऊँ।' शिष्य घबरा उठे। लगभग एक पाव पारा खा लेनेपर कहीं ऐसा न हो कि बाबाका शरीर न रहे। उनको यह डर हो गया। इसीलिये वे इधर-उधर ताकने लगे। आखिर अन्यान्य गुरुभाइयोंके उत्साह दिलानेपर वे राजी हो गये। तब परमहंसजीने सबके सामने उस शिवलिङ्गको मुखमें लेकर मस्तकपर चढ़ा लिया और उसे वहीं स्थापन कर दिया। फिर एक बार उन्होंने इस पारेके शिवलिङ्गको भी मुखसे निकालकर उसकी पूजा-अर्चना करनेके बाद पुनः मस्तकमें चढ़ा लिया था।

इनके शरीरमें इतना अधिक तेज है और बिजलीकी इतनी अधिक क्रिया होती है कि मच्छर, मधुमक्खी, हड्डे, भँवरे आदि जीव दंशन करते ही उसी क्षण मरकर राख हो जाते हैं। अवश्य ही दंशन न करें, हिंसाभाव न दिखलावें तो उनकी कोई हानि नहीं होती। हिंसा करनेपर उसकी प्रतिक्रिया उसी समय होती है। मामूली कीड़ोंकी तो बात ही क्या है, बाबाके शरीरको डसना चाहनेवाले साँप भी उसी क्षण मर जाते हैं। ऐसी घटनाएँ बहुत बार देखी गयी हैं। इस तीक्ष्ण तडित् (बिजली) के प्रभावसे ही बाबा यदि सिंह-बाघोंकी ओर कहीं ताक लेते हैं तो

वे भी उसी क्षण सिर झुकाकर मृदु बन जाते हैं[१]।

परमहंसदेवके शरीरमें बहुत-से स्फटिक-गोलक (Crystal balls) हैं। तीव्र योगक्रियाके प्रभावसे जब शरीरमें बहुत अधिक गरमी बढ़ती है, तब इन स्निग्ध वस्तुओंके संसर्गसे वह बहुत कुछ शान्त हो जाती है। इन स्फटिकोंके अतिरिक्त मोती, हीरा आदि वस्तुएँ भी इनके देहके अंदर स्थानविशेषमें रक्षित हैं। शीतके समय शरीरके संकोच होनेके कारण कभी-कभी दो-एक स्फटिक अपने-आप ही लोमकूपके द्वारा शरीरसे बाहर निकल पड़ते हैं। कई बार प्रसङ्गवश वे स्वयं ही किसी तत्त्वकी व्याख्या करते समय देहसे स्फटिक निकालकर दिखाया करते हैं। रोमछिद्रोंसे स्फटिकोंके बाहर निकलते समय न तो किसी प्रकारका कष्ट होता है और न खून ही निकलता है। शरीरसे निकलते ही स्फटिकोंमें अति पवित्र दिव्य गन्ध आती है। आप शरीरके अंदर भी एक जगहसे दूसरी जगह स्फटिकादिको ले जाते हैं। साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है, देहतत्त्वके पण्डित भी अपने अपूर्व ज्ञानसे इस बातको नहीं समझ सकते कि यह सब कैसे होता है। योगीकी देह बाह्यदृष्टिसे साधारण देहकी तरह प्रतीत होनेपर भी उसमें निश्चय ही एक अचिन्त्य वैशिष्ट्य रहता है। एक बार परमहंसदेवने अपने विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको एक-दूसरेसे अलग करके दिखलाया था और आश्चर्य यह कि उसी समय वे अदृश्यरूपसे शून्यमेंसे बोलते हुए शिष्यको समझा भी रहे थे। फिर किसी अपूर्व शक्तिके प्रभावसे वे सब अलग-अलग हुए अङ्ग-प्रत्यङ्ग पुनः अपने-आप ही परस्पर जुड़ गये और शरीर पूर्वपरिचित आकारमें प्रकट हो गया।

एक दिन कुछ जिज्ञासु भक्तोंको आपने अपने हाथका एक परत चमड़ा अलग करके फिर उसे हाथसे ज्यों-का-त्यों लगाकर समझाया था कि पाश्चात्त्य शारीर-विज्ञानियोंकी लौकिक विद्याके द्वारा योगियोंके स्वरूपका निरूपण सम्भव नहीं है। एक बार आपका शरीर नवजात शिशुके आकारमें बदल गया था। इसको कई लोगोंने अपनी आँखों देखा था।

इस लेखकको एक दिन आप पुराणवर्णित श्रीविष्णु भगवान्‌के नाभिकमलसे ब्रह्माजीके उत्पन्न होनेकी बात समझाते हुए कहने लगे कि 'पुराणोंका यह वर्णन 'रूपक' नहीं है, किंतु अक्षर-अक्षर सत्य है। कुण्डलिनी-शक्तिका विकास होनेपर जब योगके अन्तराकाशमें परमादित्यस्वरूप ज्योतिर्मय तेजपुञ्जका उदय होता है, तब सूर्योदयके समय कमलकी भाँति उसका नाभिकमल अपने-आप ही प्रस्फुटित हो जाता है। जो वास्तवमें योगी हैं, उनको ऐसा अवश्य होता है । हाँ, परंतु जो नाभिधौति आदि दुरूह क्रियाओंमें पूर्णरूपसे निष्णात नहीं हैं, उनके कमलका विकास नहीं हो सकता।' इतना कहकर वे फिर बोले कि 'साधारण बद्ध जीवोंकी नाभिमें ग्रन्थि लगी है, इस ग्रन्थिका मोचन न होनेतक ऊर्ध्वरति असम्भव है।' इसके बाद दोनों हाथोंसे नाभिप्रदेशके दो-चार बार संचालन करते ही नाभिप्रदेश एक गड्हेके रूपमें परिणत हो गया। उपस्थित भक्तगण यह देखकर चकित हो गये। क्रमशः उस गड्हेमेंसे एक अति सुन्दर नालका आविर्भाव हुआ और उसके ऊपर अत्यन्त लावण्ययुक्त दिव्य कमल दिखलायी पड़ा। हालके खिले हुए कमलकी पवित्र गन्धसे सारा घर और आँगन सुगन्धित हो उठा। यहाँतक कि उस समय जो लोग दर्शनके लिये बाहरसे आ रहे थे उनको भी घरमें प्रवेश करनेके पूर्वसे ही सुगन्धि आने लगी। कुछ क्षणोंके बाद नाभिको हिलाते ही कमल नालसहित संकुचित होकर भीतर प्रवेश करके अदृश्य हो गया।

परमहंसदेवकी शक्तिकी तुलना नहीं है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। मनुष्यकी शक्ति कहाँतक विकसित हो सकती है, इस बातको परमहंसजीके साथ अन्तरङ्गभावसे परिचित होनेपर ही जाना जा सकता है। उनके वस्तुनिर्माणकी बात कहनेकी तो विशेष आवश्यकता ही नहीं है। कारण, इस बातको तो बहुत लोग जानते हैं। हमारे अपने घरमें अत्यन्त कठिन रोगके समय, उनको किसी तरहकी खबर न देनेपर भी, बहुत बार उन्होंने स्थूल या सूक्ष्म शरीरसे आविर्भूत होकर

१-इस प्रसङ्गमें यह उल्लेख करना अप्रासङ्गिक नहीं होगा कि बाबाजी जब गुप्कारामें रहते थे, तब कई विषधर सर्पोंको अपने साथ रखते थे। गरमीके दिनोंमें क्रियाके समय साँपोंको शरीरपर लपेटे रहते थे, जिससे इनका शरीर ठंडा रहता था। फिर झालदामें रहनेके समय कुछ दिन बाघ आपके पास रहे थे। भीषण हिंस्र जीव होनेपर भी बाघ आपके समीप शान्त और स्थिरभावसे ही रहते थे। जाड़ेके दिनोंमें रातको कई बार आप बाघसे लिपटे रहते थे, जिससे शरीर खूब गरम रहता था।

रोगीको उपदेश दिया है और औषध देकर भी अथवा न देकर भी तत्काल ही उसे रोगमुक्त कर दिया है। पाँच-सात मील दूरसे क्षणभरमें आविर्भूत होकर स्थूल और पञ्चभूतात्मक औषध प्रदान करना आदि कार्य साधारण बुद्धिके अगोचर हैं। कभी-कभी तो ऐसी घटना हुई है कि एक सेकंड असावधानी की जाती तो भयङ्कर परिणाम हो जाता, परंतु उस एक सेकंडके बीतते-बीतते ही उन्होंने आविर्भूत होकर अपनी मङ्गलमयी रक्षाशक्तिका प्रयोग किया। ऐसी अनेकों घटनाएँ हैं, परंतु यहाँ उनके प्रकट करनेकी आवश्यकता नहीं है।

एक बार मेरी जपकी माला टूट गयी। मैं उसको ठीक शास्त्रीय ढंगसे गूँथ देनेके लिये बिखरे हुए रुद्राक्षके दाने और थोड़े-से रेशमको लेकर बाबाके पास पहुँचा और उनसे मैंने प्रार्थना की। उन्होंने रुद्राक्षके दानोंको और रेशमको गोमुखीमें रखकर उसे अपनी मुट्ठीमें भींच लिया। फिर दो-तीन बार उसपर हाथ फिराकर गोमुखी मुझे दे दी। ऐसा करनेमें तीन-चार सेकंडसे अधिक समय नहीं लगा था। मैं गोमुखीसे निकालकर देखता हूँ तो माला बड़ी सुन्दरतासे गुँथी हुई है। यहाँतक कि सुमेरुतक विधिपूर्वक लगा है। गाँठें भी शास्त्रीय प्रक्रियाके अनुसार ही लगी हैं। पूछनेपर उन्होंने कहा कि 'यह वायुविज्ञानका कार्य है। जिसको तुमलोग अल्पसमय कहते हो, वह वास्तवमें अल्प नहीं है। सूक्ष्म स्तरमें चले जानेपर उसीमें दीर्घकालका भी कार्य हो सकता है।'

परमहंसदेवमें ऐश्वर्य और माधुर्य इन दोनों भावोंका अत्यन्त अपूर्व सम्मिश्रण है। योग अथवा विज्ञान किसी भी दिशामें उनकी शक्तिकी सीमा नहीं बाँधी जा सकती। इसके सिवा योगज्योतिष, देवज्योतिष, स्वरोदय आदि विद्याओंपर पूर्ण अधिकार होनेके कारण वे योग और विज्ञानकी शक्तिके बिना ही एक प्रकारसे सर्वज्ञानशक्तिपर अधिकार किये हुए हैं। परंतु इतनी शक्तियोंके होते हुए भी उनमें जिस अपूर्व संयम और माधुर्यगुणका विकास देखा जाता है, वह अतुलनीय है। ज्ञानका विकास होनेपर पराभक्ति और प्रेमकी गम्भीरतामें द्रुतिमय रसतत्त्वका आविर्भाव होता है, उससे करुणा, स्नेह, वात्सल्य आदि दिव्य गुणोंकी स्फूर्ति होकर अपने-आप ही कार्य होता रहता है। कर्तव्यनिष्ठा, संयमशीलता, उद्यम, अध्यवसाय, गुरुभक्ति और निर्भरता आदि गुणोंके समन्वयसे उनका जीवन योगमार्गमें अप्रविष्ट साधारण मनुष्यके लिये भी आदर्श है।

परमहंसजीका प्रधान उपदेश यह है कि 'प्रेमके बिना भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती, शुद्धा भक्तिकी परिणतिसे ही प्रेमका उदय होता है। जिस भक्तिकी दृष्टि स्वार्थसाधनकी ओर है, जिसकी जड़में कामनाका बीज है वह कभी प्रेमके रूपमें परिणत नहीं होती। वस्तुतः उसको भक्ति कहना ही उचित नहीं है। ऐसी भक्तिसे तो यथासम्भव दूर रहना ही साधकका कर्तव्य है। शुद्धा भक्तिके उदयके लिये ज्ञानका विकास आवश्यक है। केवल ग्रन्थोंके अध्ययनसे जिस ज्ञानकी प्राप्ति होती है, वह तो शुष्क ज्ञान है। उसे असली ज्ञान नहीं कहना चाहिये। यथार्थ ज्ञानका उद्भव चित्तशुद्धि हुए बिना नहीं होता और चित्तशुद्धि कर्मसापेक्ष है। अतएव यथाविधि सद्गुरुके आदेशको सिर चढ़ाकर उनके दिखलाये हुए मार्गसे निष्ठा, संयम और श्रद्धाके साथ अपने चरित्रबलको पवित्र बनाये रखते हुए जो अग्रसर हो सकता है, उसको अवश्य ही असली ज्ञान प्राप्त होता है। इस कर्मको ही योगीगण योग कहते हैं, इसके विपरीत अन्य कर्मोंको योग नहीं कहा जाता और वे चित्तशुद्धिमें सहायक भी नहीं होते। अतएव नीति और चरित्रशुद्धिकी ओर लक्ष्य रखकर सद्गुरुके उपदिष्ट मार्गसे निरन्तर योगाभ्यासरूप दीर्घकालव्यापी कर्म कर सकनेपर ही चित्तशुद्धि और आत्मज्ञानका विकास होता है। तब हृदय-ग्रन्थि खुल जाती है, समस्त संशय छूट जाते हैं और जन्म-जन्मान्तरकी संचित कर्मराशिका क्षय हो जाता है। इस अवस्थामें अविद्याकी आंशिक निवृत्तिके कारण उसीके अनुसार आत्मशक्तिका स्फुरण आरम्भ होता है। यही योग-विभूतिकी सूचना है। इसके बाद परमात्माके अहैतुक नित्य आकर्षणके प्रभावसे विशुद्ध जीव क्रमशः आगे बढ़ता हुआ उनके निकट पहुँचता रहता है और परम मङ्गलमय ऐश्वरिक विभूतिका आस्वादन प्राप्त करता है। ज्ञानका परिपाक अथवा भक्तिका विकास इस एक ही भूमिके नामान्तर हैं। इसके बाद आत्मसमर्पणके पूर्ण होते ही प्रेमका आविर्भाव होता है। इसीसे भगवत्प्राप्तिकी सूचना है। पूर्ण साधनमार्गके किसी भी अंशकी उपेक्षा करनेसे काम नहीं चलता। अवस्था और अधिकारभेदसे सभीकी उपकारिता है। अतएव साधनामात्रका ही मूलमन्त्र कर्म है।

कर्म या पुरुषार्थका आश्रय लेनेपर दैवबल अपने-आप ही आ जाता है। तब फिर भगवान्‌के अनुग्रहके लिये प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। अवश्य ही पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मके फलसे किसी-किसीके प्रथम अवस्थामें ही उन्नत-भावका विकास देखनेमें आता है। परंतु इससे सिद्धान्तमें कोई व्यतिक्रम नहीं होता। इतनी बात याद रखनी चाहिये कि भगवान्‌की इच्छा ही मूल है। अतएव कर्मको मूल बतलानेपर भी प्रकारान्तरसे कर्मके मूलमें भी उन्हींका अनुग्रह होता है, परंतु अज्ञान-अवस्थामें अनुग्रहकी अनुभूति नहीं होती, इसलिये आत्माभिमान प्रबल रहता है, अतएव कर्मके भावको ही प्रबल मानकर चलना पड़ता है। ज्ञानका उदय होनेपर यह बात समझमें आ जाती है कि समस्त विश्व ही उनकी लीला है। अर्थात् उनकी इच्छाशक्तिका खेल है। जीव केवल इस अभिनयका एक निष्क्रिय द्रष्टामात्र है।' (क्रमशः)

मेस्मेरिज्म, हिपनॉटिज्म और योग-विद्या

(डॉ० श्रीदुर्गाशंकरजी नागर)

मेस्मेरिज्मका इतिहास

मेस्मेरिज्मके तत्त्वज्ञानसे हमारे भारतीय ऋषि-महर्षि अपरिचित नहीं थे। पातञ्जलयोगदर्शनके प्रथम सूत्रमें ही यह बतलाया गया है—'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' अर्थात् चित्त-वृत्तियोंके निरोधका नाम ही योग है। मनका स्थिर करना ही इस शक्तिका मूल है। मेस्मेरिज्म और हिपनॉटिज्म भी मनकी एकाग्रताके प्रतीक हैं और एकाग्रतासे ही सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। मेस्मेरिज्म विद्याको दो भागोंमें विभक्त किया गया है—एक रोगनिवारण और दूसरा दिव्य ज्ञान। दोनोंका एक दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध है।

मनुष्यकी जिस शक्तिसे मेस्मेरिज्म क्रिया उत्पन्न की जाती है उसे 'इच्छाशक्ति' (Will-power) कहते हैं। वेदमें मनकी अपूर्व शक्तिका वर्णन है। मनःसंयम करनेका अभ्यास करना या एकाग्रताका अभ्यास करना ही मनोयोग है।

मेस्मेरिज्म विद्याके जन्मदाता आस्ट्रियाके मेस्मर (सन् १७३४ ई०) नामक चिकित्साशास्त्री थे। उन्होंने रोगोंके निवारणके लिये यूरोपमें इस विद्याका प्रचार-प्रसार किया। इन्हींके नामपर इस विद्याका 'मेस्मेरिज्म' नाम प्रचलित हुआ।

मेस्मरकी मृत्युके बाद जर्मनी, फ्रांस तथा इंग्लैंड और विश्वके अन्य देशोंमें भी इस विद्याका खूब प्रचार होता रहा और अमेरिकामें तो इसका और भी अधिक प्रचार हुआ। बादमें क्लोरोफार्मके आविष्कार होनेसे मेस्मेरिज्मका प्रचार कुछ कम हो गया।

ई० सन् १८४१ में मेनचेस्टरके प्रसिद्ध डॉक्टर ब्रेडने मेस्मेरिज्मके सिद्धान्तोंका अध्ययन किया और सिद्ध किया कि मेस्मरका अदृश्य शक्तिके प्रवाह (Animal Magnetism) का सिद्धान्त कल्पना मात्र है। डॉक्टर ब्रेडका अनुभव यह हुआ कि दूसरोंको प्रभावित करना या कृत्रिम निद्रामें लाना सूचनाशक्तिपर निर्भर है। किसी मनुष्यकी कोई चमकीली वस्तुपर दृष्टि जमवाकर नेत्रोंके मज्जातन्तुओंमें थकान ला देनेकी क्रियासे स्वाभाविक निद्राके समान तन्द्रा उत्पन्न होती है। इस कृत्रिम निद्राका नाम हिपनॉसिस है। इसी नामके आधारपर हिपनॉटिज्म शब्द प्रचलित हुआ।

मेस्मेरिज्म और हिपनॉटिज्ममें भेद

मेस्मेरिज्म और हिपनॉटिज्ममें अन्तर यह है कि मेस्मेरिज्ममें हाथ फेरकर और दृष्टि स्थिर करके निद्रा उत्पन्न की जाती है और हिपनॉटिज्ममें सूचना देकर किसी चमकीली वस्तुपर पात्रकी दृष्टि सधाकर कृत्रिम निद्रा लायी जाती है।

मेस्मेरिक और हिपनॉटिक अवस्थाका विवेचन

कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं कि रात्रिको नींदमें ही उठकर विविध कार्य करते हैं—पत्र लिखते हैं—लेख लिखते हैं और प्रातःकाल जाग्रत् होनेपर लेखादि तैयार देखकर आश्चर्य करते हैं कि यह कार्य किसने किया। उनको इस बातका ज्ञान नहीं रहता कि यह कार्य उन्हींका किया हुआ है। इस स्थितिको स्वाप्निक अवस्था कहते हैं। मेस्मेरिक और हिपनॉटिक अवस्थामें बहिर्मन सो जाता है और अन्तर्मन जाग्रत् रहता है। अन्तर्मनपर कृत सूचनासे वह अत्यधिक प्रभावित होता है और अन्तर्मन ही सब कुछ करता है।

हिपनॉटिक अवस्थामें पात्रको कहा जाय कि तू कुत्ता है तो वह भौंकने लगता है और कुत्तेकी-सी चेष्टा करता है। उसे

घासलेट सुँघाकर कहा जाय कि यह गुलाबका इत्र है तो वह बड़े प्रेमसे सूँघता है। उसे आँखें खोलनेकी आज्ञा दी जाय और सूचना दी जाय कि देखो, तुम्हारे सम्मुख समुद्र है, तुम इसमें तैर सकते हो तो वह कपड़े उतारकर तैरने लगता है। हिपनॉटिज्ममें आज्ञा या सूचना देकर ज्ञानेन्द्रियोंको भ्रममें डाल सकते हैं। विरोधी सूचना देकर विविध व्यसन, मानसिक रोग, दुराचार आदिको दूर कर सकते हैं।

मेस्मेरिक सुषुप्ति-अवस्था जब किसी सन्धिवातके रोगीमें उत्पन्न हो जाती है जो जाग्रत्-अवस्थामें जरा भी हाथ-पैर नहीं हिला सकता और उसे उस अवस्थामें जोरदार सूचना दी जाय कि तुमको बिलकुल दर्द नहीं होगा, तुम अपने पैर अच्छी तरह हिला सकते हो, तो जाग्रत् होनेपर वह अपने पैर इसी तरह हिला सकेगा। जाग्रत् होनेपर उसको कोई पीड़ा नहीं मालूम होगी। इसी प्रकार चित्तभ्रम, उन्मादवायु, मज्जाविकार, वातविकार, अर्धाङ्गवायु, हिस्टीरिया, न्यूरस्थेनिया, उन्निद्ररोग, मस्तिष्ककी निर्बलता, पेटके विकार, सन्धिवात, भिन्न-भिन्न प्रकारके दर्द, सामान्य ज्वर और सिरदर्द आदि रोग मेस्मेरिज्मसे दूर किये जा सकते हैं।

मेस्मेरिज्मकी छः अवस्थाएँ होती हैं—१-तन्द्रा, २-निद्रा, ३-प्रगाढ़ सुषुप्ति, ४-अनुवृत्ति, ५-दिव्य दृष्टि और ६-प्रत्यग्दृष्टि (अन्तर्दृष्टि)।

साधारण पात्र तीन अवस्थाओंसे अधिक प्रभावित नहीं होते। कोई-कोई उत्तम पात्र चौथी या पाँचवीं अवस्थामें चले जाते हैं और छठी अवस्था तो किसी विरलेमें ही उत्पन्न होती है।

मेस्मेरिज्म और समाधि

पाँचवीं और छठी अवस्था उत्पन्न होनेपर पात्रको दूरदर्शन और दूरश्रवण होने लगता है। वह भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालका उत्तर दे सकता है, यह समाधि-अवस्था ही है। मेस्मेरिज्मकी इस अन्तर्दृष्टिकी अवस्थामें पहुँचनेपर पात्रके मनका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। रोग-निवारण एवं चमत्कारोंके साथ ही यह विद्या योगाभ्यासका भी दिग्दर्शन कराती है। यदि कोई मनुष्य दूसरोंपर प्रयोग न करके अपने प्राणपर ही प्रयोग करता रहे तो समाधितक पहुँचकर आत्मानुभव कर सकता है। योगके द्वारा इससे अधिक एवं शीघ्र अलौकिक अनुभूति होती है।

मेस्मेरिज्म और प्राणतत्त्व

योगशास्त्रमें प्रसिद्ध प्राण और मेस्मेरिज्म—ये दोनों तत्त्व एक ही हैं, इसलिये मेस्मेरिज्म विद्याको हम प्राण-विनिमयके नामसे कह सकते हैं। प्राण ही शरीरका जीवभूत आधार है। प्राणमें विकृति होनेसे ही रोगादि दोष शरीरमें उत्पन्न होते हैं और प्राणकी शुद्धि ही बल, पराक्रम और शरीरके आरोग्यका आधार है।

प्राण-विनिमय (मेस्मेरिज्म)-से विकृत प्राणको दूर करके शुद्ध प्राणका संचार किया जाता है। जिस मनुष्यका मन पवित्र हो और शरीर स्वस्थ हो वह दूसरोंमें शुद्ध प्राणका संचार कर सकता है। किसी मलिन शरीर और अशुद्ध विचारकी वृत्तिवाले मनुष्यके स्पर्शसे अपने प्राणकी शुद्धता नष्ट होती है। इसीलिये उनका स्पर्श होनेपर स्नानका विधान है। जड और चेतन सब पदार्थोंमेंसे प्राणकी छाया निरन्तर निकला करती है। अतः दूसरोंके पहने हुए वस्त्र, उपयोगमें लायी हुई वस्तुएँ, उच्छिष्ट अन्न-जल आदि भी नहीं ग्रहण करना चाहिये। छूत-छात और भक्ष्याभक्ष्यका विचार इसी सिद्धान्तपर अवलम्बित है। मेस्मेरिज्मका योगशास्त्र, तन्त्रशास्त्र और स्वरशास्त्रसे घनिष्ठतम सम्बन्ध है।

पुराने समयके महापुरुषों तथा देवताओंके चित्र और मूर्तियोंके अवलोकन करनेसे ज्ञात होता है कि हरेकके मस्तकके चारों ओर एक गोलाकार आलोक बना हुआ है। संस्कृतमें इसे तेजस् कहते हैं और अंग्रेजीमें औरा।

हमारे शरीरमेंसे विद्युत्प्रवाह निकलता रहता है और हाथोंकी अंगुलियोंके अग्रभाग तथा नेत्रोंके छोरसे विशेषरूपसे निकलता है। इसीलिये मेस्मेरिज्ममें वेधक दृष्टि और हस्तसंचालन (मार्जन) पर विशेष जोर दिया गया है।

१-लौहचुम्बक (Magnet), २-क्रिस्टल (Crystal), ३-फूल तथा ४-मनुष्यके हाथ और चेहरेसे जो तेजस् निकलता है, उसे ऑडिलिक फोर्स (Odylic force) कहते हैं।

मेस्मेरिक और हिपनॉटिक शक्तिके विकास करनेके नियम

१-आत्मविश्वास, २-दृढ़ संकल्प-बल, ३-परमार्थबुद्धि,

४-वेधक दृष्टि, ५-स्वस्थ शरीर, ६-धैर्य और दृढ़ता, ७-शुद्ध आहार-विहार और ८-शान्त चित्त।

मेस्मेरिज्म और हिपनॉटिज्ममें सिद्धहस्त होनेके लिये उपर्युक्त गुण प्रयोगकर्तामें अवश्य होने चाहिये। बिना आत्मविश्वास और दृढ़ संकल्प-बलके किसी भी कार्यमें सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

आकर्षणशक्ति बढ़ानेका साधन

प्रातःकाल जितना जल्दी हो सके, दृष्टिसाधनका अभ्यास एकान्त कमरेमें अकेले करना चाहिये। शालग्राम, शिवलिङ्ग अथवा दीपककी ज्योतिपर ध्यान और नासिकाग्र अथवा त्रिपुटीदेशमें त्राटक करनेका विधान योगशास्त्रमें बतलाया गया है। दीपककी ज्योतिपर या नासिकाग्रपर दृष्टि स्थिर करनेसे नेत्रविकारवाले व्यक्तियोंको हानि पहुँचती है। शालग्राम और शिवलिङ्गपर त्राटक करनेसे नेत्रज्योति बढ़ती है। इस बातका सदा ध्यान रहे कि दो फुटसे अधिक दूरी न हो और अभ्यास शनैः-शनैः बढ़ाया जाय, एकदम नहीं।

दर्पणत्राटकका अभ्यास

दीवालपर दर्पणको टाँग दिया जाय। उसके मध्यभागमें चवन्नी बराबर सफेद कागज काटकर चिपका दें। दर्पणसे डेढ़ फुट दूरीपर पट्टे या कुर्सीपर स्थिरतासे बैठ जाइये। आँखोंको न अधिक तानना चाहिये और न दृष्टिको ही नीचे गिराना चाहिये। दर्पणके कागजपर दृष्टिको स्थिरकर पलकोंको हिलने नहीं देना चाहिये। एक दृष्टिसे टकटकी बाँधकर देखते रहना चाहिये, वृत्तिको इस तरह स्थिर करना चाहिये कि आपका प्रतिबिम्ब काँचमें न दीखने पावे। प्रथम दिन एक मिनट, दूसरे दिन दो मिनट इस प्रकार कम-से-कम दस-पंद्रह मिनटसे आध घंटेतक अभ्यास बढ़ा सकते हैं। आँखोंको कष्ट मालूम हो तो एक दिनका विश्राम देकर पुनः अभ्यास किया जा सकता है। अभ्यासके बाद नेत्रोंको ठंडे जलसे अच्छी तरह धो डालें। इस अभ्याससे निर्बल नेत्र सबल होंगे और आकर्षणबल बढ़ेगा। त्राटकके अभ्यासके समय इस प्रकारका बार-बार चिन्तन करना चाहिये कि—

'मेरे नेत्रोंके ज्ञानतन्तु बलवान् हो रहे हैं। मेरे नेत्र आकर्षक और प्रभावशाली हो रहे हैं। मैं निर्भय हूँ। मैं सिर ऊँचा करके सबके सम्मुख देख सकता हूँ। मेरी मनःशक्ति प्रबल है।'

दीर्घ श्वास-प्रश्वासका अभ्यास

प्रातःकाल वायुसेवनके लिये जंगलमें किसी ऊँचे टीलेपर या स्थानपर सरलतासे सिर और छाती सीधी करके सुखासनसे मेरुदण्डको सीधा करके बैठ जाइये। मुख बंद करके नासिकासे गहरा श्वास लेकर कुछ देर फेफड़ोंमें कुम्भक कर शनैः-शनैः प्रश्वासद्वारा खींची हुई वायुको बाहर निकालिये। पुनः इसी प्रकार दस-बीस बार कीजिये और यहाँतक अभ्यास बढ़ाइये कि कम-से-कम सौ बार इस श्वासोच्छ्वासक्रियाको आसानीसे कर सकें। पूरक, कुम्भक और रेचक करते समय निम्न विचारोंपर मनन करें—

'मैं सूर्य भगवान्से प्राणशक्तिको श्वसनक्रियाद्वारा शरीरमें खींच रहा हूँ। सूर्यकिरणोंद्वारा प्राणशक्ति मेरे रोम-रोममें प्रविष्ट होकर मुझे बल, उत्साह, जीवनशक्ति और आरोग्य प्रदान कर रही है। मेरे शरीरसे विद्युत्-प्रवाह, प्रकाश और किरण निकल रहे हैं। मैं सूर्यके सदृश तेजस्वी बन रहा हूँ।'

मार्जन करनेकी रीति

मनुष्यके शरीरपर हाथ फेरकर रोग दूर करनेकी प्रथा प्राचीन कालसे चली आ रही है। अपनी शक्तिको दूसरेमें प्रवेश करनेकी क्रियाको मार्जनक्रिया अथवा पास करना कहते हैं। मार्जन दो प्रकारके होते हैं—विधानमार्जन और विसर्जनमार्जन।

हाथोंकी दोनों हथेलियोंको जोरसे रगड़ें जबतक कि वे गर्म न हो जायँ। फिर हाथोंको आगे-पीछे खूब हिलाइये और हाथोंकी मुट्ठियोंको खूब जोरसे बंद करें और खोलें। अब दोनों हाथोंकी हथेलियोंको और अंगुलियोंको मिलाकर तथा अँगूठोंको दूर रखकर एक तकिया रखकर कल्पना करें कि यह मनुष्य है। धीरे-धीरे कपाल, छाती, पेटपरसे उतारते ले जायँ और पैरतक ले जाकर एक तरफ झटक दें। (पास स्त्रीके बायीं ओर और पुरुषके दाहिनी ओर देना चाहिये)। इस तरह हाथोंको झिड़क देना चाहिये कि मानो किसी दूषित द्रव्यको शरीरसे निकालकर बाहर फेंक रहे हों। शरीरसे हाथ चार इंच दूरीपर रखना चाहिये। सिरसे पैरतक एक बार ऐसा करना एक

मार्जन कहलाता है। दूसरा मार्जन प्रारम्भ करते समय हाथोंको झटकनेके बाद तत्काल मुट्ठियाँ बंद करके रोगीके सिरपरसे ले जाना चाहिये और फिर उसी रीतिसे पास देना चाहिये। इस प्रकार पंद्रह मिनटसे आध घंटेतक रोग दूर करनेका अभ्यास कर लेना चाहिये।

कुछ दिनोंके अभ्याससे अभ्यासमें सफलता प्राप्त होनेपर मेस्मेरिज्मसे रोगीकी चिकित्सा की जा सकती है।

मेस्मेरिज्मका प्रयोग

प्रथम विधि

जिस मनुष्य या रोगीपर मेस्मेरिज्म करना हो उसको एक कुर्सीपर बिठा दें। दूसरी कुर्सी उसके सम्मुख एक फुटकी दूरीपर रखकर प्रयोगकर्ता बैठ जाय। जिस पात्रपर प्रयोग किया जाय उसके दाहिने हाथकी अँगुलियोंको अपने बायें हाथसे पकड़कर नजरसे नजर मिलाये और दृढ़ संकल्प करे कि पात्रको निद्रा आ रही है। उसे कहा जाय कि वह टकटकी बाँधकर एक दृष्टिसे पलकोंको बिना झपकाये प्रयोगकर्ताके नेत्रोंकी तरफ देखता रहे। थोड़ी देर बाद जब आँखोंको खुला रखना पात्रके लिये असम्भव हो जाय तब उसे आँखें बंद करनेकी आज्ञा दी जाय। प्रयोगकर्ता पात्रको समझा दे कि जब आँखें भारी होकर बंद होने लगें तब बंद कर ले और स्वस्थतासे सो जाय। पात्रको यह भी समझा दे कि उसपर मार्जन करके शक्तिपात किया जायगा।

इस प्रकार करनेपर थोड़ी देर बाद पात्रकी आँखें भारी हो जायँगी और उसे ऊँघ आने लगेगी। इस समय प्रयोगकर्ताको हाथ धीरेसे छोड़कर विधान-मार्जन देना आरम्भ करना चाहिये। दस-पंद्रह मिनट मार्जन देनेसे पात्र गहरी नींदमें चला जायगा।

मेस्मेरिक अवस्थाकी परीक्षा

जिसपर मेस्मेरिज्म किया गया हो उस पात्रका हाथ ऊँचा उठाकर तुरंत छोड़ दे। यदि लकड़ीके समान एकदम गिर पड़े तो जानो कि उसपर मेस्मेरिज्मका प्रयोग हो गया है। उसकी आँखोंकी पलकें खोलकर देखे। यदि नेत्र ऊपर चढ़े हुए हैं, सफेद दीखने लगे हैं और बीचका तारा घूमने लगे तो समझो कि प्रभाव हो गया है।

यदि पात्र रोगी हो तो जिस अङ्गमें रोग हो उस स्थानपर पाँच-सात मार्जन करके सूचना देनी चाहिये कि तुम्हारे जाग्रत् होनेपर सब दर्द दूर हो जायगा। यदि विश्वदृष्टि उत्पन्न करनी हो तो किसी वस्तुको मुट्ठीमें बंद करके उसके कपालपर हाथको रखकर कहे कि तुम सूक्ष्म शरीरसे मेरे हाथकी वस्तु देख सकते हो—बतला सकते हो। जब वह बतला दे तो कमरेकी अन्य चीजोंके सम्बन्धमें उससे पूछे। फिर अन्य स्थानोंमें भेजकर वहाँके समाचार प्राप्त करे। फिर विसर्जन-मार्जन अर्थात् उलटे पैरसे सिरकी ओरसे कर दे या जोरसे ताली बजाकर जाग्रत् कर दे। मार्जन करनेके बाद हाथोंको ठंडे जलसे अच्छी तरहसे धो डालना चाहिये। मार्जन देते समय हाथ-पैरको धोना नहीं चाहिये।

द्वितीय विधि

पात्रको बिस्तरपर शरीर शिथिल करके लेट जाने दे। सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग ढीले छोड़नेको कहे। फिर नाकसे श्वास-प्रश्वास करनेको कहे और सिरसे छातीतक मार्जन करता रहे, दस-पंद्रह मिनटमें ही वह मेस्मेरिक निद्रामें चला जायगा।

हिपनॉटिज्म

पात्रको सीधा खड़े होनेको कहे। उसे सारे शरीरको बिलकुल शिथिल करनेको कहे। उसके पीछे खड़े होकर दोनों हाथोंको कंधोंपर रख दे और दृष्टिको मस्तकके निचले भागपर गर्दनके ऊपर स्थिर करे। पात्रको समझा दे कि पीछे गिरना मालूम हो तो वह रोकनेका प्रयत्न करे। उसे सँभालकर नीचे लिटा दिया जायगा। अब धीरे-धीरे मृदु और प्रभावशाली भाषामें कहे—'महाशय! तुम गिर रहे हो, गिर रहे हो—पीछे गिर रहे हो—बड़े जोरोंसे पीछेकी तरफ खिंचे चले आ रहे हो, जब मैं अपने हाथोंको तुम्हारे कंधोंसे अलग कर लूँगा, तुरत ही तुम गिर जाओगे। गिर जाओगे—अवश्य गिर जाओ—गिर जाओ—भयभीत मत होओ।'

इस प्रयोगसे पात्र पीछे गिर जायगा। उसे सँभालकर नीचे लिटा दे। इसी प्रकार उसके आगे खड़े होकर अपनी एक अँगुलीपर उसकी दृष्टि जमवाकर तुम आगे झुक रहे हो—आगे झुक रहे हो, यह सूचना बार-बार देकर आगेकी ओर गिरा सकते हैं। इसी प्रकारके अनेकों प्रयोग अपनी इच्छा-शक्तिके आधारपर किये जा सकते हैं।

डॉक्टर ब्रेडका तरीका

किसी चमकीली वस्तुको पात्रकी आँखोंसे जरा ऊपर मस्तकके पास ले जाकर उसे उसपर दृष्टि स्थिर करनेको कहे और कहे कि तुम्हारी आँखें अब भारी हो रही हैं—बहुत भारी हो रही हैं। अब तुम आँखें बंद कर लोगे, आँखें बंद कर लो। अब तुम आँखें नहीं खोल सकते, नहीं खोल सकते—चाहे जितना प्रयत्न करो। सो जाओ, सो जाओ—सो जाओ, गहरी नींदमें चले जाओ—गाढ़ निद्रामें चले जाओ—प्रगाढ़ निद्रा आ रही है—शान्त और मीठी नींद आ रही है। इस प्रकार हिपनॉटिक निद्रा-अवस्थामें आनेपर आप दुर्गुण, दुर्व्यसन, सिरदर्द या अन्य बीमारी या कुटेव तथा अनेक मानसिक रोगोंको हिपनॉटिज्मसे दूर कर सकते हैं।

मनुष्य स्वार्थको भूलकर मानवजातिके हितार्थ जितना अधिक इन शक्तियोंका सदुपयोग करेगा, उतनी ही उसकी आत्मिकशक्ति बढ़ेगी। यह सदा स्मरण रखे कि विश्वशक्तिका मूल वही अनन्य-शक्ति है जो सर्वशक्ति और सत्ताका उद्‌गम है। स्मरण रखें कि सब उस अनन्त शक्तिके अंश हैं। अपने मन और शरीरको शुद्ध करके अपनी अन्तरात्माका उस परम पिता परमात्माके साथ, जो सबके हृदयगुहाके अन्तस्तल-प्रदेशमें विराजमान है, सम्बन्ध स्थापित करे। वही सर्वयथार्थ शक्तिका स्थान है।

नेत्र बंद कर लें, अपने भीतर गहरे उतरें, बाहरकी स्थितिको शनैः-शनैः भूल जायँ। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, अजर, अमर, नित्यशुद्ध, सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप नारायणका ध्यान करें। अत्यन्त गहरेमें चले जाइये जहाँ आनन्दमय प्रकाशके दर्शन होने लगेंगे। यह प्रकाश सारे विश्वका जीवन है। इस प्रकाशसे जीवन-बल-तेज-आरोग्य-दायक शक्ति एवं अनन्त शान्ति प्राप्त होगी। सभी भारतीय शास्त्र अन्तरात्माकी ओर अभिमुख होनेको ही योगकला कहते हैं।

ज्योतिष-शास्त्र और योग

ज्योतिष-शास्त्र एवं योग-शास्त्रका परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। त्रिकालज्ञ महर्षियोंने दुर्लभ योगसाधना एवं योगविज्ञानको सुलभ बनानेकी दृष्टिसे भूत-भविष्यके विज्ञापक ज्योतिष-शास्त्रका निर्माण किया था। ध्यान-समाधिके द्वारा बड़ी कठिनतासे भूत-भविष्यका ज्ञान होता है, किंतु उन्हीं दिव्य शक्ति-सम्पन्न देवता एवं ऋषियोंके द्वारा प्रणीत ज्योतिष-विद्या तथा उनके द्वारा अनुभूत प्रयोगोंको एवं उनके कृपाप्रसूत ज्ञानको सामान्य व्यक्ति भी श्रद्धापूर्वक अध्ययनकर और विश्वासके द्वारा मनन कर भूत-भविष्यका ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जिन भूत-भविष्यकी बातोंका ज्ञान सिद्ध योगी ध्यान-समाधिके माध्यमसे करता है, दैवज्ञ उन्हीं बातोंको ज्योतिषके ज्ञानसे जान जाता है[1]। ज्योतिष-विज्ञानका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। सिद्धान्त, संहिता, होरा—ये तीन इसके प्रमुख स्कन्ध माने गये हैं। इसके साथ ही प्रश्न, शकुन, यात्रा-विज्ञान, देश-कालका ज्ञान, ग्रह-नक्षत्रोंकी स्थितियाँ, भूगर्भ-सम्बन्धी वस्तुओंका ज्ञान आदि सभी बातें इसीकी सीमामें अन्तर्निहित हैं। ज्योतिषके सम्यक् अध्ययनसे व्यक्ति पृथ्वी तथा पृथ्वीतलके अंदरकी वस्तुएँ तथा सुदूर अन्तरिक्षस्थ तारागणों या ज्योतिश्चक्रकी स्थिति, दैवी-भौम आदि उत्पातोंकी जानकारी तथा सुदूर व्यक्तिकी स्थिति और स्वप्न, शकुन, अङ्गस्फुरण और किसी तिथि, नक्षत्र, योग, करण आदिमें प्रारम्भ किये जानेवाले कार्योंका शुभाशुभ फल भी जान जाता है और इसके परिणाम प्रायः रात-दिन एवं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओंमें घटित होते रहते हैं। अतः ज्योतिष-विद्याका जानना अत्यन्त आवश्यक है। इतना ही नहीं, इस विद्यामें श्रद्धा रखनेसे आस्तिक्य-भाव होनेके कारण उन ऋषियों तथा भगवान्‌की भी कृपा हो जाती है।

वैसे तो ज्योतिष-विद्याके सभी अङ्गोंमें योग ही सर्वत्र

१-सेन्टपीटर्स रौजेटने अपने ग्रन्थ 'इन्टरनेशनल थीजरस' में भविष्यकी स्थितियोंको जाननेके लिये प्रायः तीन सौ प्रकारकी वैज्ञानिक एवं दिव्य विद्याओंका उल्लेख किया है, जिनमें सम्पूर्ण विश्वके ज्ञान-विज्ञानकी शाखाओंका संकलन है, किंतु उन सभीमें योग एवं ज्योतिष-विद्या—ये दो प्रमुख हैं, इन दोनोंके अन्तर्गत वे सभी विद्याएँ समन्वित हो जाती हैं।

व्याप्त है तथापि पञ्चाङ्गमें आयुष्मान्, प्रीति, ब्रह्म, शिव, प्रजापति, व्यतीपात आदि योग तथा फिर धूम्र, वज्र, कालदण्डादि योग एवं विभिन्न नक्षत्रादिके संयोगसे बननेवाले अमृतसिद्धि, सर्वार्थसिद्धि, सर्वदोषविनाशक रवियोग, स्थायी योग और जन्मकुण्डली आदिमें पञ्चमहापुरुष-योग, विविध प्रकारके वाणी, केदार, एकावली, माला, पारिजात, गजकेसरी, राजयोग आदि भाग्यसूचक योग एवं द्वादश भावोंसे उत्पन्न होनेवाले हरिहर-ब्रह्मयोग आदि जितने भी योग हैं, जो ज्ञान-विज्ञानकी किसी अन्य शाखामें नहीं मिलते, ये सभी अद्भुत रूपसे भूत-भविष्यका ज्ञान करानेवाले हैं। इन सब बातोंकी सम्यक् जानकारीके लिये ज्योतिष-शास्त्रका ज्ञान रखना आवश्यक है। द्वादश राशियों तथा लग्न आदिसे भी भविष्यका विचार किया जाता है। ये राशियाँ आकाशमें स्थित होनेके साथ ही मनुष्यके शरीरमें भी स्थित होती हैं। इसी प्रकार ग्रहोंके भी दशा-अन्तर्दशाके ज्ञानसे दैवी उपासनाओं, रत्नधारण तथा ओषधिस्नानके द्वारा उनके दुष्प्रभावोंसे मुक्त हुआ जा सकता है।

ज्योतिष-विद्याकी विभिन्न शाखाओंमें स्वप्न-विचार, अङ्गस्फुरण, पल्लीपतन, यात्रा आदिके शकुन पशु-पक्षियोंकी विभिन्न प्रकारकी बोलियों तथा दर्शनसे भविष्यका ज्ञान होता है। इसके साथ ही स्थिर फलोंके निर्देशक जन्माङ्ग-विचार, प्रश्नकुण्डली, ग्रहोंकी दशा-अन्तर्दशाओंका विवरण, ग्रह-गोचरज्योतिष तथा वर्षफल आदि अनेक भविष्य ज्ञानके हेतु होते हैं। इन सबके साथ ही अशुभ फलों तथा अशुभ फलादेशोंकी शान्तिके लिये जप, होम, पूजा-पाठ, हवन-दान, ओषधि-स्नान, रत्नधारण आदिका विधान भी ज्योतिष-ग्रन्थोंमें विस्तारसे निर्दिष्ट है। इन सबका तात्पर्य योग-समाधि एवं अत्यन्त समाहित-भावसे जीवात्माका परमात्माके साथ सम्पर्क करनेमें है। इसीलिये बृहत्पराशर आदि ग्रन्थोंमें बुध, गुरु, शुक्रादिकी दशाओंमें अशुभ फलोंके निवारणके लिये **'तद्दोषशान्त्यर्थं विष्णुसाहस्रकं जपेत्, शिवसाहस्रकं जपेत्, दुर्गादेवीजपं चरेत्, मृत्युञ्जयजपं चरेत्'** आदि विविध देवताओंकी आराधनाका निर्देश किया गया है। यहाँ विष्णु, शिवादि नामान्तर केवल तात्कालिक फलादेशके लिये हैं, क्योंकि ग्रहोंके दैवत, अधिदैवत, प्रत्यधिदैवत भावोंके द्वारा मूल परम दैवत, परब्रह्म परमात्मातक पहुँचनेमें शीघ्रता होती है।

इस तरह ज्योतिष-विद्याके सभी विभाग प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूपसे मूलतः योगसे ही सम्बद्ध हैं। भविष्य जाननेकी भाषा दैवज्ञता कहलाती है। सम्यक् भविष्य-ज्ञानके लिये योग एवं ज्योतिषकी जानकारी आवश्यक है। योगके द्वारा समाधि लगाकर तथा ज्योतिषके द्वारा ग्रह-नक्षत्रादिके विविध संयोगोंके फलादेशोंसे भूत-भविष्यका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ज्योतिषमें न केवल ग्रह-नक्षत्रादिके संयोगोंसे अपितु प्रकृति एवं अन्य जीव-जन्तुओं तथा पशु-पक्षियोंकी बोलियों एवं उनके दर्शनसे भी भूत-भविष्यके ज्ञानकी विधियोंका विस्तारसे विवेचन हुआ है। कौआ, क्षेमकरी तथा नीलकण्ठ आदि पक्षियोंका प्रकृतिसे सीधा सम्बन्ध होता है और निश्छल, निष्कपट होनेके कारण वे अपनी आत्मासे सीधे सम्बद्ध होते हैं तथा भविष्यके ज्ञानको लक्षणोंसे सूचित करते हैं। कपट एवं वासना-जालके कारण मनुष्यका वह ज्ञान तिरोहित रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अङ्ग-स्फुरण, शकुन, स्वप्नादिके द्वारा योगसे सम्बद्ध प्रकृति देवी प्राणीको शुभाशुभ फलकी बातें सूचित करना चाहती है, किंतु अहंकारग्रस्त होनेसे तथा प्रमादके कारण मनुष्य इन बातोंको ठीक-ठीक नहीं समझ पाता और कदाचित् जानकर भी उपेक्षा करता है, फलतः उसका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इसके लिये आवश्यक है कि ज्योतिष-शास्त्रमें निर्दिष्ट इन सभी प्रकरणोंका ध्यानसे तन्मयतापूर्वक अध्ययन-मनन किया जाय। इसीमें कल्याण है। इसीलिये योगज-दृष्टिसम्पन्न ऋषियोंने ज्योतिष-शास्त्रमें इन सभी बातोंका समन्वय किया था। आचार्य वराहमिहिरने अपने बृहत्संहितामें कहा है कि राजाओंको तो सबसे अधिक महत्त्व ज्योतिर्वेत्ताको ही देना चाहिये, क्योंकि वह ज्योतिषके ज्ञानसे त्रिकालज्ञ होता है, इसीलिये दैवज्ञ भी कहलाता है।

सद्योवृष्ट एव अनेक दैवी एवं भौम शुभ योगों तथा अशुभ योगोंके यौगिक लक्षण जिनमें गन्धर्वनगरदर्शन, उल्कापात, ग्रहण, चन्द्र-सूर्य-दर्शन आदि विशेष हैं, ये सभी विषय ज्योतिषके अन्तर्गत हैं तथा शुभाशुभ भविष्यके ज्ञापक हैं। सभी शास्त्रोंमें गौका स्वप्नमें दर्शन अत्यन्त शुभ बताया

गया है। क्योंकि वह सभी धर्म-दर्शन एवं पुरुषार्थोंकी मूल तथा विशुद्ध सत्त्व-सम्पन्न है, इसलिये यात्रा आदिमें भी गौ तथा मृगसमूह आदिका दर्शन मङ्गलजनक है। इसी प्रकार ब्राह्मणों एवं संत-महात्माओंका दर्शन तथा उनके आशीर्वाद-शाप आदि भी प्रत्यक्ष-फलदायक माने गये हैं। ये सब बातें न केवल ज्योतिष-शास्त्रमें ही वर्णित हैं, अपितु रामायण तथा पुराणेतिहास-ग्रन्थों एवं योगशास्त्रमें भी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूपसे स्थान-स्थानपर उल्लिखित हैं।

जिज्ञासु पुरुषको समग्र ज्योतिष-शास्त्रका अध्ययन कर अपने वास्तविक कल्याणके समयका ज्ञान करना चाहिये। इसके अध्ययनसे व्यक्तिके जन्मसमयसे निर्मित होनेवाले ग्रह-नक्षत्रोंके संयोगसे तथा जन्माङ्गके द्वादश भावोंसे भूत-भविष्यका ज्ञान तथा अशुभ समयोंकी शान्तिके उपाय भी ज्ञात होते हैं। जन्म-लग्नसे शरीरके लक्षण, प्रकृति, स्वभाव, आकृति एवं आयुका परिज्ञान होता है। द्वितीय धन-स्थानसे कुटुम्ब, वाणी और आर्थिक स्थितिका ज्ञान होता है, तृतीय स्थानसे भाई-बन्धु, शक्ति तथा भाग्यका भी अवबोध होता है। चतुर्थ स्थानसे माता, मित्र, गृह, क्षेत्र तथा अन्य सुख-संयोगोंका पता चलता है। इसी प्रकार पञ्चम स्थानसे विद्या, बुद्धि, संतान; षष्ठस्थानसे शत्रु, ऋण, रोगादि; सप्तम स्थानसे यात्रा, संतान, कलत्र और अन्य सौख्य पदार्थोंका ज्ञान होता है। इसी प्रकार अष्टम स्थानसे आयु, नवम स्थानसे भाग्य एवं धर्म-कर्मका आचरण, दशम स्थानसे पद-प्रतिष्ठा, स्थिर कार्य-कलाप, पिता आदि, एकादश-स्थानसे विविध प्रकारके आयस्रोत और अन्तिम द्वादश स्थानसे व्यय, अनेक जन्मों, परलोक तथा मोक्षकी स्थितिका भी ज्ञान होता है।

इस प्रकार यहाँ संक्षेपमें योग एवं ज्योतिषके विषयमें लिखा गया है। ज्योतिष एवं योगशास्त्रके सम्यक् सम्बन्धके परिज्ञानके लिये योगशास्त्रका अध्ययन एवं ज्योतिष-शास्त्रके विविध प्रकारके योगों और प्रतिक्षण घटित होनेवाले दैव, भौम और शारीरिक लक्षणोंसे प्रकट होनेवाले निर्देशोंको समझना चाहिये। इसीके साथ ही प्रश्न-विज्ञानके प्रश्नभूषण, षट्पञ्चाशिका आदि ग्रन्थोंके अध्ययन तथा देवताके स्मरणपूर्वक भविष्यका ज्ञान कर तद्वत् आचरण करना चाहिये। भगवान् तो सबके अन्तर्बाह्यमें विद्यमान हैं। उनके शरणागत होनेसे वे सभी सूचनाएँ देते हैं, वे महायोगेश्वर हैं, सभी कुछ करनेमें समर्थ हैं, उनकी कृपाका आश्रय लेकर ज्योतिष-शास्त्र आदिसे लाभ उठाना चाहिये।

महाभारतमें योगकी महिमा और स्वरूप

(मानसमर्मज्ञ पं० श्रीसच्चिदानन्ददासजी रामायणी)

योग यथार्थतः एक दर्शन है, वैदिक षड्दर्शनोंमें इसकी गणना होती है। इसका उद्देश्य स्वरूपस्थितिकी प्राप्ति है। हमारे जीवनका प्रारम्भ प्रायः बहिर्मुखी प्रवृत्तिसे ही होता है, उस प्रवृत्तिको बदलकर अन्तर्मुखी कर लेना ही मूलतः यौगिक प्रक्रिया है। योगका तात्पर्य जोड़से है अर्थात् आत्माका परमात्मासे मिलनका नाम योग है। यह सम्भव भी तभी हो सकता है जब बहिर्मुखी चित्तवृत्तिका पूर्णतः निरोध हो।

जो लोग सम्यक्रूपेण यौगिक क्रियाओंका अभ्यास करते हैं, उनमें अनेक प्रकारकी विलक्षण शक्तियाँ आ जाती हैं। उसे ही विभूति या सिद्धि कहते हैं। व्यक्तिगत विकास और उन्नतिकी दृष्टिसे तो योगका महत्त्व प्रकट ही है, योगसे सब प्रकारकी शारीरिक और मानसिक शक्तियोंकी वृद्धि भी इच्छानुसार हो सकती है। यहाँतक कि योगसे प्रकृति और उसके विकारोंको यथार्थ-रूपमें देखनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

परमभागवत नैष्ठिक ब्रह्मचारी बालयोगी श्रीशुकदेवजीसे महर्षि वेदव्यासजीने महाभारतमें विस्तारपूर्वक यौगिक महिमाका निरूपण किया है। भगवान् व्यासदेवने प्रायः सभी पुराणों, लघु एवं बृहद् व्यास-स्मृतियों और महाभारतके प्रायः सभी पर्वोंमें अनेक ऋषियोंके मतसे योगका अनेक प्रकारसे वर्णन किया है और उनका पातञ्जलयोगदर्शनपर भी व्यासभाष्य प्रसिद्ध है। अतः उन्हें योगैकप्राण कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा। यहाँ केवल महाभारत-शान्ति-पर्व-मोक्षधर्मके योगनिरूपणके एक अंशका संक्षेपमें विचार किया जा रहा है जो इस प्रकार है—पूर्णरूपेण योगक्रिया सम्पन्न करनेहेतु योगके सहायक द्वादश भेदोंका वर्णन करते हुए भगवान्

वेदव्यासजीका कथन है कि—

छिन्नदोषो मुनिर्योगान् युक्तो युञ्जीत द्वादश।
देशकर्मानुरागार्थानुपायापायनिश्चयैः ॥
चक्षुराहारसंहारैर्मनसा दर्शनेन च।

(महा०, शा० २३६। ३-४)

अर्थात् समाहित-चित्त मुनिको चाहिये कि वह हृदयके रागादि दोषोंको नष्ट करके योगमें सहायता पहुँचानेवाले देश, कर्म, अनुराग, अर्थ, उपाय, अपाय, निश्चय, चक्षुष्, आहार, संहार, मन और दर्शन—इन बारह योगोंके आश्रयसे ध्यानयोगका अभ्यास करे।

ध्यानयोगके साधकको ऐसे स्थानपर आसन लगाना चाहिये, जो समतल और पवित्र हो। निर्जन वन, गुफा या ऐसा ही कोई एकान्त स्थान ही ध्यानके लिये उपयोगी होता है। ऐसे स्थानपर आसन लगानेको देशयोग कहते हैं। आहार-विहार, चेष्टा, सोना और जागना—ये सब परिमित और नियमानुकूल होने चाहिये। यही कर्मनामक योग है। परमात्मा एवं उसकी प्राप्तिके साधनोंमें तीव्र अनुराग रखना अनुरागयोग कहलाता है। केवल आवश्यक सामग्रीको ही रखना अर्थयोग है। ध्यानोपयोगी आसनसे बैठना उपाययोग है। संसारके विषयों और सगे-सम्बन्धियोंसे आसक्ति तथा ममता हटा लेनेको अपाययोग कहते हैं। गुरु और वेदशास्त्रके वचनोंपर विश्वास रखनेका नाम निश्चययोग है। चक्षुको नासिकाके अग्रभागपर स्थिर करना चक्षुर्योग है। शुद्ध और सात्त्विक भोजनका नाम है आहारयोग। विषयोंकी ओर होनेवाली मन-इन्द्रियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको रोकना संहारयोग कहलाता है। मनको संकल्प-विकल्पसे रहित करके एकाग्र करना मनोयोग है। जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि होनेके समय महान् दुःख और दोषोंका वैराग्यपूर्वक दर्शन करना दर्शनयोग है। जिसे योगके द्वारा सिद्धि प्राप्त करनी हो, उसे इन बारह योगोंका अवश्य अवलम्बन करना चाहिये।

श्रीकृष्णद्वैपायन भगवान् श्रीवेदव्यासजीने योगका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही कहा है। योगके उपयोगी देश, कालको तथा कर्मानुष्ठानमें सहायक वस्तुओंको भी भगवत्प्राप्तिमें योगात्मक सहयोग प्रदान करनेके कारण योग ही कहा गया है और इनका भी आश्रय और संयोग अवश्य लेना चाहिये। वे कहते हैं कि इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी वृत्तियोंको जगत्से मोड़कर सर्वव्यापी परमात्माके साथ उनकी एकता स्थापित करना ही सर्वोत्तम ज्ञान है। इस उच्च स्थितिको प्राप्त करनेके लिये साधकको सब ओरसे मनको हटाकर शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न होकर आत्मतत्त्वका चिन्तन करते हुए एकमात्र परमात्मामें ही अपनेको समाहित करना चाहिये।

योगतत्त्वका आश्रय लेनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह विषयभोगोंसे दूर रहे। योगसाधनामें अग्रसर होनेपर मोह-भ्रम और आवर्त आदि अनेकों विघ्न आते रहते हैं। फिर सुगन्ध आती है और दिव्य शब्दोंके श्रवण एवं दिव्य रूपोंका साक्षात्कार भी होता है। नाना प्रकारके अद्भुत रस और स्पर्शका अनुभव होने लगता है। इच्छानुकूल सर्दी, गर्मी प्राप्त होती है तथा वायुस्वरूप होकर नभोमण्डलमें चलने-फिरनेकी क्षमता आ जाती है, प्रतिभा बढ़ जाती है और दिव्य भोग भी अपने-आप उपस्थित हो जाते हैं।

इन सब सिद्धियोंको योगबलसे प्राप्त करके भी तत्त्ववेत्ता योगीको चाहिये कि उनका अत्यधिक आदर न करे, क्योंकि ये सब यौगिक विघ्न हैं। अतः मनको उनकी ओरसे मोड़कर परमात्मामें ही एकाग्र करे—

प्रमोहो भ्रम आवर्तो घ्राणं श्रवणदर्शने।
अद्भुतानि रसस्पर्शे शीतोष्णे मारुताकृतिः ॥
प्रतिभामुपसर्गांश्चाप्युपसंगृह्य योगतः।
तांस्तत्त्वविदनादृत्य आत्मन्येव निवर्तयेत् ॥

(महा०, शा० २४०। २३-२४)

ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले यौगिक साधनोंके उपयोग-कालमें भिन्न-भिन्न प्रकारके दृश्य दृष्टिगोचर होनेका वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में भी इस प्रकार प्राप्त होता है—

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥

(श्वेता० २। ११)

तात्पर्य यह कि योगाभ्यास आरम्भ करनेपर पहले अनुभव होनेवाले कुहरे, धूम, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत, विद्युत्, स्फटिकमणि और चन्द्रमादि अनेक दृश्य योगीके समक्ष दिखलायी पड़ते हैं। ये सब लक्षण ब्रह्मप्राप्ति करानेवाले योगके प्रारम्भिक अवस्थामें प्रकट होते हैं।

योगसाधनामें किसी वर्ण-विशेषका ही रहना आवश्यक नहीं है, कोई क्यों न हो, वह योगका आश्रय ले सकता है। भगवान् वेदव्यासने महाभारतमें इसका स्पष्ट निर्देश किया है—

अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकाङ्क्षिणी।
तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम्॥

(महा॰, शा॰ २४० । ३४)

भाव यह कि कोई नीच वर्णका पुरुष और स्त्री ही क्यों न हो, यदि उनके मनमें धर्मसम्पादनकी अभिलाषा है तो इस योगमार्गका सेवन करनेसे उन्हें भी परमगतिकी प्राप्ति हो सकती है।

योग-साधनाके सिद्ध हो जानेपर योगी परमात्माका आत्मासे अनुभव करता है। इस भगवत्प्राप्ति और परमात्म-प्राप्तिकी बात वेदव्यासजीने इस प्रकार बतलायी है—

अजं पुराणमजरं सनातनं यदिन्द्रियैरुपलभेत निश्चलैः।
अणोरणीयो महतो महत्तरं तदात्मना पश्यति मुक्तमात्मवान्॥

(महा॰, शा॰ २४० । ३५)

तात्पर्य यह है कि जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है वही योगी, निश्चल मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा जिसकी उपलब्धि होती है, उस अजन्मा, पुरातन, अजर, सनातन, नित्यमुक्त, अणुसे भी अणु और महान्से भी महान् परमात्माका आत्मासे अनुभव करता है।

इस प्रकार भगवान् श्रीव्यासदेवके इन योगोपदेशोंका मन-ही-मन विचार करके एवं इसे भलीभाँति समझते हुए इसके अनुसार जो आचरण करते हैं, वे मनीषी पुरुष ब्रह्माजीकी समताको प्राप्त करके प्रलयकालपर्यन्त ब्रह्मलोकमें उनके साथ रहकर अन्तमें उन्हींके साथ मुक्त हो जाते हैं। (महा॰, शा॰ २४० । ३६)।

समर्थ रामदास स्वामीके दासबोधके अन्तर्गत योगदर्शन

(श्री ग॰ नी॰ पुरंदरे, बी॰ ए॰, बी॰ एस्॰ सी॰, एल्-एल्॰ बी॰)

समर्थ श्रीरामदास स्वामी छत्रपति शिवाजी महाराजके गुरु थे। एक श्लोकमें कहा गया है—वे शुकदेव मुनिके समान विरक्त, योगेश्वर श्रीवसिष्ठजीके समान ब्रह्मज्ञानी तथा कवि वाल्मीकिके समान पूज्य एवं मान्य थे। दिव्यशक्तिसम्पन्न स्वामी रामदासजी कर्मयोगी, बाल-ब्रह्मचारी, कुशल राजनीतिज्ञ तथा महान् श्रीरामभक्त थे। उन्होंने संसारका त्याग कर दिया था। अखिल भारतकी आसेतु हिमाचलकी तीर्थयात्रा कर, स्थान-स्थानपर अनेक मठोंकी स्थापना की थी। मूलतः वे सिद्ध योगी एवं हठयोगी थे। उनका दैनिक कार्यक्रम युक्ताहार-विहार-जैसा था। सूर्य-नमस्कार, भगवद्भजन, मन्त्रजप और समाधिका अभ्यास करना उनका दैनन्दिन नियम था। वे बड़े ज्ञानी थे। वेद-वेदान्त तथा उपनिषद्का उन्हें गहन अध्ययन था। वे श्रीरामभक्तिके महान् प्रचारक तथा श्रीहनुमानजीके अनन्य उपासक थे। उनका ध्येय वाक्य—'**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**' था। '**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**'—इस श्रुति-वचनपर उनकी अटूट श्रद्धा थी। उन्होंने प्रसङ्गानुसार अनेक चमत्कार भी दिखलाये थे, मृत व्यक्तिको सजीव—सचेतन किया था। स्वामी रामदासजीने श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन प्राप्त किया था।

उन्होंने 'दासबोध' नामक एक पारमार्थिक ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ महाराष्ट्र, कर्नाटकमें अनेक स्थलोंपर दैनिक पाठ-पूजामें स्थान प्राप्त कर चुका है। इस ग्रन्थमें उनके तात्त्विक उपदेशोंका सार है। यह ग्रन्थ आध्यात्मिक, व्यावहारिक और योगमार्गपर आधृत है। इस ग्रन्थमें अनेक पारमार्थिक विषयोंका विवेचन किया गया है। जैसे शुद्ध ज्ञान, आत्मस्थिति, सायुज्य-मुक्ति, मोक्षप्राप्ति, शुद्धस्वरूप, विदेह-स्थिति, तादात्म्य, ब्रह्मज्ञान, मायोद्भव, पञ्चमहाभूत, आत्मप्रतीति, परमार्थ, पिण्ड और ब्रह्माण्ड, देहभाव-निरूपण, नवविधा भक्ति, देहशोधन, विवेक-वैराग्य, आत्मनिवेदन, प्रकृति-पुरुष, अजपा-जप-निरूपण, साधन-चतुष्टय तथा आत्मानुभव। यहाँ कुछ विषयोंका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

ब्रह्म—आदिमें ब्रह्म अकेला ही था। ब्रह्म मूलतः एक तथा निराकार-निर्गुण था। बादमें उसने इच्छा की—'मैं बहुविध हो जाऊँ' '**एकोऽहं बहु स्याम्**' इस प्रकार मायाका उद्भव हुआ। उनकी इच्छाकी पूर्ति होनेपर ब्रह्माण्डकी निर्मिति

हुई। यह माया त्रिगुणात्मिका बनी और तदनुकूल बहुविध सृष्टि बनी। '**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते**' गीतामें भगवान्ने यही तत्त्व स्पष्ट किया है।

ब्रह्म और माया—ब्रह्म और माया—इन दोनोंमें मूलभेद इस प्रकार है—ब्रह्म निर्गुण-निराकार, माया सगुण-साकार, ब्रह्म अनादि एवं निर्विकार है तथा माया विकारयुक्त है। ब्रह्म नामातीत होते हुए भी उसके अनेक नाम-रूप हैं, जैसे निजानन्द, अच्युत, अनन्त, नादरूप, ज्योतीरूप, चैतन्यरूप, सत्तारूप और साक्षीरूप आदि भी हैं।

मायाको दृश्य, सोपाधि, मिथ्या, परिमेय, विनाशी तथा सगुण बताया है और ब्रह्मको अदृश्य, निरुपाधि, सत्य, अपरिमेय, अविनाशी तथा निर्गुण। माया पाञ्चभौतिक है और ब्रह्म शाश्वत, माया असार है और ब्रह्म सार, माया क्षणिक है और ब्रह्म नैरन्तर्य। माया मूलतः ब्रह्ममें पूर्णतया अन्तःस्थ निर्गुण थी। ब्रह्मसे वह समुद्भूत होकर सगुण बनी। प्रथम वह आकाश बनी। आकाश यानी अवकाश, उसमें स्पन्दन हुआ, स्पन्दनसे वायु निर्मित हुआ, वायुमें घर्षण उत्पन्न हुआ और उससे अग्नि उत्पन्न हुआ, अग्निसे जल तथा जलसे सृष्टिका उद्भव हुआ। प्रत्येक सृष्ट पदार्थमें परमात्मा स्थित रहता है, इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

सृष्टि—ब्रह्माण्ड उत्पन्न होनेके पूर्व मूलमें माया त्रिगुणात्मिका बनी थी। तमोगुणसे पञ्चमहाभूतोंकी निर्मिति हुई। जो जड और कठिन है वह पृथ्वीका रूप है तथा जो मृदु और प्रवाही है वह अप्तत्त्वका रूप है। जो उष्ण और प्रकाशी है वह तेजस्तत्त्वका रूप है तथा जिसमें चैतन्य और चाञ्चल्य है वह वायु-तत्त्वका रूप है। शून्यत्व आकाशतत्त्वका रूप है। ब्रह्माण्डके ऊपर मूलमें माया सूक्ष्म-रूप है। सृष्टिमें प्रथम जलचर निर्मित हुए, तत्पश्चात् खेचर (पक्षी) और तत्पश्चात् भूचर निर्मित हुए।

मनुष्यका देह चतुर्विध है—स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण। यह शरीर स्थूल है। मनुष्यकी वासना, कामना और कल्पना सूक्ष्मदेहकी है। बुद्धि कारण-देह है तथा महावाक्यका ज्ञान महाकारण देह है। महावाक्य यानी जीवात्मा परमात्माका अंश है, इस विषयपर चारों वेदोंकी मतैक्यता है—

ऋग्वेद—**अहं ब्रह्माऽस्मि।**

यजुर्वेद—**सोऽहम्।**

सामवेद—**तत्त्वमसि।**

अथर्ववेद—**प्रज्ञानं ब्रह्म।**

स्थूल देह जैसे पञ्चभूतात्मक है, वैसे ही सूक्ष्म देह भी पञ्चभूतात्मक है। इसको निम्नलिखित कोष्ठकमें स्पष्ट किया गया है—

आकाश	वायु	तेज	अप् (जल)	पृथ्वी
काम	चलन	क्षुधा	शुक्र	अस्थि
क्रोध	वलन	तृषा	शोणित	मांस
शोक	प्रसारण	आलस्य	लाला (लार)	त्वचा
मोह	निरोध	दीप्ति	मूत्र	नाडी
भय	आकुञ्चन	शुष्कता	स्वेद	रोम

नाथाचार्य गोरक्षनाथजीने अपने सिद्धसिद्धान्त-पद्धति नामक ग्रन्थमें सूक्ष्मदेहके तत्त्वोंका ऐसा ही विवरण किया है। वह ग्रन्थ गोरक्षोपनिषद् नामसे भी विश्रुत है।

दासबोधमें सिद्ध पुरुषके लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं—(१) स्वरूपानुसंधान, (२) अन्तर्बाह्य-समाधान, (३) दृढ़ अभ्यास, (४) षड्-रिपुओंके ऊपर विजय-प्राप्ति, (५) विश्वात्मक बुद्धि, (६) जीवन्मुक्तावस्था, (७) भूत-भविष्यज्ञान, (८) अन्तर्ज्ञान, (९) परचित्तज्ञान, (१०) अतिमानवत्व और (११) चमत्कार-कर्तृत्व।

मूल मायाके पर्याय-शब्द शिवशक्ति, जगदीश्वरी, प्रकृति, परमेश्वरी, गुणेश्वरी, गुणक्षोभिणी हैं। जब गुणेश्वरी गुणक्षोभिणी बन जाती है, तब वह त्रिगुणात्मिका महत्तत्त्वरूपिणी बुद्धि बन जाती है। अद्वैत-सिद्धान्तमें ब्रह्म सत्य, माया मिथ्या, ब्रह्म निर्गुण, माया सगुण कही गयी है। योगशास्त्रमें इस द्वन्द्वका नाम शिवशक्ति है। परमेश्वरको प्रकृति-पुरुष समझा गया है तथा दासबोधमें उसको अर्धनारी-नरेश्वर कहा गया है। ये दोनों एकत्र वास करते हैं और परस्पर भिन्न हैं, जैसे चन्द्र और चन्द्रिकामें भेद नहीं है, उसी प्रकार शिव और शक्ति—इन

दोनोंमें कुछ भेद नहीं है। योगशास्त्रका यह सिद्धान्त अद्वैत-सिद्धान्तसे भिन्न है। शक्ति ही ईश्वरी तथा परमेश्वरी है। योगशास्त्रमें शक्तिकी उपासनापर प्रबल बल दिया गया है।

मानव-मात्रके चार शरीर होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा महाकारण। मानव-शरीरकी चार अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, निद्रा और तुरीया।

सूक्ष्मदेहके तत्त्व

पञ्चमहाभूत	आकाशका अन्तःकरण-पञ्चक	वायुका प्राणपञ्चक	तेजका ज्ञानेन्द्रिय-पञ्चक	अप् (जल) का कर्मेन्द्रिय-पञ्चक	पृथ्वीका विषय-पञ्चक
आकाश	अन्तभ्रमण प्रथम स्फुरण	व्यान सर्वांशमें	श्रवण	वाचा	शब्द
वायु	मनः-संकल्प	समान नाभिस्थान	त्वचा	हस्त	स्पर्श
तेज	बुद्धि निश्चयात्मिका	उदान कण्ठ	चक्षु	पाद	रूप
अप् (जल)	चित्त-चिन्तन	अपान गुदास्थान	जिह्वा	शिश्न	रस
पृथ्वी	अहंकार	प्राण मुख और मस्तक	घ्राण	गुदा मलोत्सर्ग	गंध

पिण्ड और ब्रह्माण्ड—जिस प्रकार जीवात्मा परमात्माका अंश है, उसी प्रकार पिण्ड ब्रह्माण्डका अतीव सूक्ष्म अंश है। ब्रह्माण्डमें जो कुछ विद्यमान है, वह अत्यन्त सूक्ष्मरूपमें पिण्डमें भी रहता है।

विवेक-वैराग्य—जो विवेकसे वैराग्यको ग्रहण करता है, उसकी संज्ञा विवेक-वैराग्य है। संसारमें रहकर जो परमार्थ करता है, वह विवेक-विरक्त—जीवन्मुक्त है। जो दृश्यको आभास और सूक्ष्मको सत्य समझता है, जो जड जगत्को आभास समझता है, जो उन्मनी-अवस्था पाता है, जो निजानन्दका अनुभव करता है, वह जीवन्मुक्त अनासक्त कर्मयोगी है। उसके प्रधान गुण ऋजुत्व, त्याग, युक्ताहार-विहार, वीतरागत्व आदि हैं। विवेकहीन मनुष्य पशु है। सत्कर्मका फल कभी-न-कभी मिल जाता है यह वह समझ चुका है। वह आत्मामें परम संतुष्ट होनेके कारण दूसरी किसी वस्तुकी वाञ्छा नहीं करता। श्रीमद्भगवद्गीतामें बार-बार इसी बातको कहा गया है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।

अजपाजप-मन्त्र—दासबोधमें अजपाजप-मन्त्रका निर्देश भी है। यह जप मुखसे नहीं केवल भावनासे—मनसे किया जाता है। यह श्वास-प्रश्वासरूप हंस गायत्रीका जप है। यह 'सोऽहं'की साधना है।

शक्तिपातयोग—सद्गुरु अपने शिष्यको केवल स्पर्शसे, दृक्से और मानससे अनुगृहीत कर सकता है और उनके अनुग्रहसे शिष्य गुरुके समान बन जाता है। अतः गुरुकी विलक्षण महिमा बतलायी गयी है।

समर्थ रामदास स्वामीके अनेक शिष्य थे। कल्याण स्वामी, उद्धव स्वामी, दत्तात्रेय स्वामी, वेण्णाबाई, अक्का बाई आदि। सब शिष्य प्रगल्भ और योगीजन थे। छत्रपति शिवाजी इनके परम अनुगृहीत शिष्य थे और इनके आशीर्वादसे तथा इनके निर्देशनमें रहकर ही उन्होंने भारतमें प्राचीन संस्कृति तथा

धर्मके पुनः स्थापनका प्रयत्न किया और मराठा-धार्मिक राज्यकी नींव डाली। इसमें समर्थ गुरुकी ही मूल प्रेरणा थी। उनके ज्ञान तथा योगकी बातें दासबोधमें संगृहीत हैं और उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टिसे तात्कालिक तथा भविष्यकी बातें भी देख ली थीं, जिनका उन्होंने दासबोधमें कलियुगके वर्णनमें अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है। पाठकोंको उनके अमृतमय उपदेशोंके स्वाध्याय एवं मननसे पूर्ण लाभ उठानेका प्रयत्न करना चाहिये।

मानसका भक्तियोग

(डॉ० श्रीमिथिलाप्रसादजी त्रिपाठी, वैष्णवभूषण, डी० लिट्०)

महात्मा तुलसीदासने अपने सम्पूर्ण साहित्यमें भगवत्प्राप्तिके मुख्य हेतुओंमें योग, ध्यान और तल्लीनताको ही प्रधान कारण माना है। ऐसे तो विनयपत्रिका, वैराग्यसंदीपनी, रामाज्ञाप्रश्न, कवितावली आदिमें भी योगपर प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है, पर मानसमें उन्होंने योगकी सुस्पष्ट महिमा वर्णित की है। वे कहते हैं कि संसारमें प्रायः सभी लोग मोहरूपी रात्रिमें सोकर मिथ्या स्वप्नोंमें ही भूले-भटके हैं और अपने जीवनको नष्ट करते हैं। केवल योगी जन ही प्रपञ्चसे अलग होकर केवल परमात्मामें लीन हो सच्चे आनन्दका अनुभव करते हैं और उनका ही जीवन अभिनन्दनीय है—

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥

किंतु मोहरूपी रात्रिसे जागनेका उपाय क्या है? और योगियोंका योग क्या है? इस सम्बन्धमें वे स्पष्ट कहते हैं कि उपांशु या मानस मन्त्रके रूपमें अहंकार या राम-नामका जप ही उनका मुख्य साधन होता है—

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी॥

× × ×

सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिबर बिग्यान बिसारद॥

भगवान् शङ्कर सच्चे एवं महान् योगेश्वर हैं, किंतु सभी शास्त्रोंके अनुसार उनका योगसार-सर्वस्व श्रीराम-नाम ही है। जैसे—

तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती॥

× × ×

नाम प्रसाद संभु अबिनासी। साजु अमंगल मंगल रासी॥

प्रायः ध्रुव, प्रह्लाद, शुक, सनकादि, नारद आदि योगियोंको सभी सिद्धियाँ रामनाम-रूप भक्तियोगके प्रसादसे प्राप्त थीं और वे राम-नामको ही योगसार-सर्वस्व मानते हैं; उनका कहना है कि इसी नामयोगका आश्रय न लेनेके कारण सबके हृदयमें स्थित परमात्मा स्थित रहनेपर भी सभी प्राणी दुःखी रहते हैं, किंतु नामका आश्रय लेकर यदि उन्हें वे बुलाते हैं या उनकी शरणमें जाते हैं तो वे साधकका सम्पूर्ण क्लेश दूर कर देते हैं—

ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी॥
अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥
नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥

(बाल० २२। ६—८)

वैसे ध्यान देनेपर मानसमें पद-पदपर योगकी महिमा ही गायी गयी है। वह चाहे कर्मयोग हो, चाहे ज्ञानयोग हो, चाहे भक्तियोग हो। प्रत्येक व्यक्तिको अपने कल्याणके लिये भगवत्प्राप्तिके इन साधनोंकी निष्ठापूर्वक उपासना करनी चाहिये; क्योंकि योग जीवको भगवान्से जोड़ देनेकी विद्या है। संसारमें आना एक संयोग है, यहाँ भौतिक वस्तुओंसे जुड़ना भी एक योग-विप्रयोग है, तो इन्हें छोड़कर सर्वशक्तिमान्से जुड़ना तो सुयोग ही है। संसारको भ्रम मानकर उसे भूलकर या छोड़कर भगवान्का हो जाना—उन्हें पा जाना ही भक्तियोग कहलाता है।

तुलसीदर्शन भक्तियोगका ही दार्शनिक विस्तार है। यों तो श्रीरामचरितमानसमें सर्वत्र ही परम पवित्र भक्तियोगका वर्णन हुआ है, किंतु यहाँ संक्षेपमें अरण्यकाण्डमें वर्णित भक्तियोगकी चर्चा की गयी है। मानसका अरण्यकाण्ड भगवान् श्रीरामका उदरभाग है, इसीमें ऋषि-मुनियों एवं शूर्पणखा, खर-दूषण आदिके प्रसंग भी हैं। शूर्पणखाके आनेके पूर्व तथा ऋषि-दर्शन-वन्दनके बाद प्रभुसे लक्ष्मणद्वारा पूछे गये प्रश्न भक्तियोगके उत्तरके लिये ही थे—

सुर नर मुनि सचराचर साईं। मैं पूछउँ निज प्रभुकी नाईं॥

मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा॥
कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया॥
ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहहु समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥

श्रीलक्ष्मणजीने भगवान् श्रीरामजीसे ज्ञान-विराग (उपास्य-स्वरूप), भक्ति (फलस्वरूप), माया (विरोधस्वरूप), ईश्वर (परस्वरूप) और जीव (स्वस्वरूप) के विषयमें जिज्ञासा की, इन सभीका समाधान भगवान्‌ने भक्तियोगके रूपमें किया है।

प्रश्नमें ***'कहहु'*** और ***'समुझाइ कहहु'*** दो प्रकारसे पूछा गया है। ज्ञान और वैराग्यके लिये ***'कहहु'*** का प्रयोग हुआ है तथा ***'समुझाइ कहहु'*** के लिये दो बातें कही हैं— ***'सब तजि करौं चरन रज सेवा'*** को समझाकर कहने-हेतु पूछा गया है। ज्ञान एवं विरागकी बात पूछनेके ठीक बाद ही दूसरी बार ***'कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया।'*** पूछा गया है। अब ईश्वर-जीव-विषयक तथा भेद-विषयक बातें इसलिये समझानेको कहा, क्योंकि शोक, मोह और भ्रान्तिको दूर करनेके लिये ज्ञान और वैराग्यकी आवश्यकता है। बिना इनके दूर हुए भक्ति होना सम्भव नहीं।

'चरन रज सेवा', 'कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया' और ***'जाते होइ चरन रति'*** यह तीनों बातें एक पक्षकी ही हैं। तुलसीने भक्तिके दो पक्ष बताये हैं—

के तोहि लागहिं राम प्रिय कै तू प्रभु प्रिय होहि।
दुइ में रुचै जो सुगम सो कीबे तुलसी तोहि॥
(दोहावली ७८)

अर्थात् या तो (१) राम अपनेको प्यारे लगें अथवा (२) रामको हम प्रिय लगने लगें। यह दोनों भक्ति भक्तियोगसे ही सम्भव हैं। लक्ष्मणजीके प्रश्नमें दोनों बातें हैं। ***'चरन रज सेवा'*** और ***'जाते होइ चरन रति'*** दोनों अपनेको राम प्रिय लगें यह पक्ष है, परंतु ***'कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया'*** यह रामको प्रिय लगनेकी बात पूछी है। भगवान्‌ने उत्तरमें मायाका परिचय साधारण शब्दोंमें संक्षिप्तरूपसे दिया—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निजबल ताकें॥

'अहंकार' और तज्जन्य जागतिक सम्बन्ध ही माया है और इसीने समग्र जीवको वशमें कर रखा है। संसारमें द्वन्द्व उत्तम और मध्यम पुरुषमें ही रहता है। उत्तम पुरुषका अहंकार और मध्यम पुरुषका अहंकार ही साद्यन्त संसारमें व्याप्त है। यही 'अविद्या' है जो 'भव-कूप'में डाले रखती है, जनन-मरणके बन्धनमें पड़ी रहती है एवं अतिशय दुःखरूपिणी है। इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ जो भी जागतिक पदार्थ है सब माया ही है, यही विद्या है, क्योंकि सृष्टि यही करती है। त्रिगुण इसके वशीभूत है। यह माया भी प्रभुकी प्रेरणासे ही क्रिया-शक्तिरूपा होकर सिसृक्षा-प्रधान हो जाती है। यही 'उद्भव-स्थिति-संहारकारिणी' है। तुलसीने स्पष्ट शब्दोंमें लिख दिया है कि—

भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥

'ज्ञानवानहम्', 'ज्ञातो मया' 'मैं ज्ञानवान् हूँ' अथवा 'मैं जानता हूँ' इस प्रकारका मान जहाँ नहीं होता है, सर्वत्र व्यापक ब्रह्मकी सत्ता जो स्वीकार करता है वही वैरागी है। वह सिद्धियों और त्रिगुणोत्पादिकाओंको तिनकेके समान त्याग देता है—

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥

माया क्या है? ईश्वर क्या है? स्वयं क्या है? यह न जाननेवाला ही जीव कहा जाता है तथा बन्धन और मोक्षको देनेवाला, मायाको प्रेरित करनेवाला तथा सबसे परे रहनेवाला ही ईश्वर कहलाता है।

धर्माचरणके सदसद्विवेकके दृढ़ हो जानेसे वैराग्य उत्पन्न होता है और योगाचरण ज्ञानकारक है। यह ज्ञान ही मोक्ष देता है। परंतु भक्ति वह है जिससे भगवान् द्रवित होते हैं। अर्थात् धर्माचरण, वैराग्य, योग और ज्ञान तथा मोक्षसे पृथक् भक्तिद्वारा भी ज्ञानादि मिलते हैं।

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥
× × ×
भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥

भगवान्‌को द्रवित करनेवाली भक्ति ही है। यही भक्तको

सुखदायक होती है। यह स्वतन्त्र और अनन्याश्रित होती है, ज्ञान-विज्ञान इसीके अधीन रहते हैं। यह भक्ति तभी मिलती है जब संत-कृपा होती है। अनुकूल (प्रसन्न) हुए संतोंकी कृपासे अनुपम और सुखमूलक भक्ति मिल जाती है।

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि अधीन ग्यान बिग्याना॥
भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥

यह भक्ति सरल साधनोंसे ही प्राप्त हो जाती है। प्रारम्भमें विप्रोंके चरणोंमें प्रीति करके श्रुतिके नियमोंके अनुसार स्वधर्माचरण करना चाहिये। इस प्रकार विषयोंसे वैराग्य हो जाता है। इसके अनन्तर ही भगवद्धर्ममें अनुराग पैदा होता है।

भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥

भागवत-धर्मका आचरण करनेसे ही नवधा भक्ति दृढ़ हो जाती है और प्रभु-लीलामें रति बढ़ जाती है। श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धका दूसरा अध्याय भागवत-धर्मोंका ही निरूपण करता है। भक्त साधक प्रभुको ही सब कुछ सौंप देता है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

यहाँ श्रीरामने कहा है कि भक्ति ही ऐसी है जिसके वे वशीभूत हो जाते हैं—

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥

प्रभुलीलामें रति होनेपर भक्त संत-चरणोंमें बहुत प्रेम करने लगता है। मन, वाणी और कर्मसे दृढ़ नियमपूर्वक भजन करने लगता है। मेरे गुणोंका गान करते हुए शरीरमें पुलक, रोमाञ्च होने लगता है। वाणी गद्गद हो जाती है, आँखोंसे अविरल अश्रुप्रवाह शुरू हो जाते हैं। कामादिक मद, दम्भ नष्ट हो जाते हैं, तब श्रीरामजीका निवास उसके हृदयमें हो जाता है।

संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। नाथ निरंतर बस मैं ताकें॥

भक्त सेवामें ही दृढ़ भावना रखता है, भगवान्‌को ही गुरु, पिता, माता, भाई, स्वामी सब कुछ मान लेता है। मनसा, वाचा, कर्मणा भगवान्‌को ही मानता है और निष्काम भजन करता रहता है, ऐसे भक्तोंके हृदयरूपी कमलमें ही श्रीरामका निवास होता है, यही भक्तियोग है।

योगद्वारा अन्तःकरणकी वृत्तियों और इन्द्रियोंको संयमित करके ज्योति या भगवत्स्वरूपका ध्यान किया जाता है, परंतु भक्तियोगमें निरन्तर भगवद्गुणोंका गायन-मनन, चिन्तन करनेसे सभी अन्तर्वृत्तियाँ भगवन्मय हो जाती हैं तथा अहर्निश भगवच्चिन्तन होता रहता है। संसारके सम्बन्ध भूलकर भक्त भगवन्मय हो जाता है और तभी भगवान् उसके हृदयमें निवास करने लगते हैं। यह भक्तियोग संसार-कूपमें पड़े हुए प्राणियोंके निकलनेका साधन है। इससे जीवकी सद्गति होती है। श्रीलक्ष्मणजीने संक्षेपमें जब यह भक्तियोग सुना तो वे प्रभुके चरणोंमें गिर पड़े और उन्होंने परमानन्द प्राप्त किया।

भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिरु नावा॥

जीवके लिये भगवत्प्रेमावलम्बन ही यथार्थ योग है तथा भगवत्प्रेमकी प्रधानता ही यथार्थमें ज्ञान है, नहीं तो जहाँ भगवान्‌की भक्तिका प्राधान्य नहीं है, वहाँ योग कुयोग है एवं ज्ञान अज्ञान ही माना गया है। यथा—

जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम पेम परधानू॥

जब शान्त और सतोगुणी होकर चित्त आत्मामें लग जाता है, तब धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यकी प्राप्ति आप ही हो जाती है और जब वही शरीर तथा घर आदि मिथ्या पदार्थोंमें लगकर प्रबल रजोगुणी और विषयोंका अनुरागी बन जाता है तब अधर्म, अज्ञान, विषय-लोलुपता और अनैश्वर्यता छा जाती है।—श्रीमद्भागवत
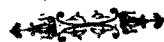
भारतके योग-सम्प्रदाय

(डॉ० श्रीशिवशङ्करजी अवस्थी)

योगरन्धितकर्माणो हृदि योगविभाविते।
योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० ८।३।२७)

'योगके द्वारा कर्म, कर्म-वासना और कर्मफलको भस्म करके योगी लोग योगसे विशुद्ध अपने हृदयमें जिन योगेश्वर भगवान्का दर्शन करते हैं, उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ।'

१-संसारमें योगके आविर्भावका इतिहास

सृष्टिके आदिमें नारायण नामक हिरण्यगर्भ ब्रह्माने एक ही अव्यय योगका उपदेश सबसे पहले सनकादिकोंको, पश्चात् विवस्वान् (सूर्य) को दिया था। समाहित अन्तःकरण एवं व्युत्थित चित्तवाले दो प्रकारके अधिकारियोंके भेदसे यह योग, जिसका फल ब्रह्मप्राप्ति था, दो शाखाओंमें विभक्त हो गया। एक ब्रह्मयोग और दूसरा कर्मयोग। शुद्ध अन्तःकरण होनेसे ब्रह्मयोगपरायण सनकादि ऋषि निवृत्तिमार्गी हुए। यह परम्परा सनक, सनन्दन, सनातन, कपिल, आसुरि, वोढु और पञ्चशिख आदिको तथा नारद-शुकादिकोंकी थी। यह ब्रह्मयोग लोगोंके बीचमें सांख्ययोग, ज्ञानयोग, अध्यात्मयोग—इन अन्य नामोंसे प्रसिद्ध हुआ। यह सम्प्रदाय श्रमण-मार्गकी संज्ञासे भी जाना जाता था।

दूसरी परम्परा विवस्वान् (सूर्य) की है। विवस्वान्ने मनुको, मनुने इक्ष्वाकुको, इक्ष्वाकुने राजर्षियों एवं प्रजाओंको योगका उपदेश दिया (गीता ४।१—३)। इस परम्पराका उल्लेख छान्दोग्योपनिषद्में भी सुलभ है। यथा—

तद् ह एतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः। (८।१५।१)

इसपर शंकराचार्यने लिखा है—

ब्रह्मा हिरण्यगर्भो विराजे प्रजापतये उवाच। सोऽपि मनवे मनुरिक्ष्वाक्वादिभ्यः प्रजाभ्यः प्रोवाच।

इसके अतिरिक्त—

ब्रह्मा हिरण्यगर्भः परमेश्वरो वा तद्द्वारेण प्रजापतये कश्यपायोवाच। असावपि मनवे स्वपुत्राय। मनुः प्रजाभ्यः। (छान्दोग्योपनिषद् भाष्य ८।१५।१)

व्युत्थित अन्तःकरण होनेसे उस प्रकारके अधिकारी लोकशासन करनेवाले सृष्टिचक्रप्रवर्तनमें परायण, आहिताग्नि, राजर्षि मनु आदिकोंकी परम्परा कर्मयोगसे सम्बद्ध हुई।

अन्य कात्यायन[1], गौतम, गार्ग्य, आवट्यायन प्रभृति, जैगीषव्य[2], असित, देवल, केशिध्वज, खाण्डिक्य जनकादि अपर लोग, भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत, बाद्धलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर, पञ्चाधिकरण, पतञ्जलि, वार्षगण्य, कौण्डिन्य और मूकादि मुनि तथा इतर भृगु, वसिष्ठ, कराल-जनक, पराशर, याज्ञवल्क्यादि उस एक ही योगको जानकर गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए यथासमय शुद्धान्तःकरण होनेसे संन्यासी हुए।

२-एकमात्र अव्यययोगका स्वरूप

ब्रह्म अर्थात् अन्तर्यामीमें समस्त कर्मोंको समर्पित करके निरपेक्ष-भावसे भगवदर्थ कार्य करनेवाला व्यक्ति पाप और पुण्यसे वैसे ही लिप्त नहीं होता, जैसे कमलका पत्ता पानी पड़नेपर उससे लिप्त नहीं होता।

इस प्रकार जो लोग फलासंगरहित होकर केवल लोक-संग्रहके लिये कर्म करते हैं, वे कर्मयोगी हैं और प्रवृत्तिमार्गमें आरूढ़ हैं। दोनों मार्ग मोक्षको प्राप्त करानेवाले हैं।

३-साधनरूप अन्य योग

यह सनातन अव्यययोग सुलभ नहीं है। क्योंकि—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।

१-महाभारत, शान्तिपर्व।

२- एतानुत्पाद्य पुत्रांस्तु प्रजासंतानकारणात्। कश्यपः पुत्रकामस्तु चचार सुमहत्तपः॥
तस्यैवं तपतोऽत्यर्थं प्रादुर्भूतौ सुताविमौ। वत्सरश्चासितश्चैव तावुभौ ब्रह्मवादिनौ॥
असितस्यैकपर्णायां ब्रह्मिष्ठः समपद्यत। नाम्ना वै देवलः पुत्रो योगाचार्यो महातपाः॥
(कूर्मपुराण १९।१-२, ५)

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

(कठोपनिषद् २। १। १)

समस्त जन संसारमें स्वभावतः बहिर्मुख ही उत्पन्न होते हैं। उनमें कोई विरला योगी ही अमृतत्वकी कामनासे अन्तर्मुख होकर प्रत्यगात्माको देखता है। इसलिये उक्त योगके साधनभूत अन्य योग प्रचलित हुए। उनमें महामति पतञ्जलिद्वारा अनुशासित दर्शनमें अष्टाङ्गयोग, तपोयोग, स्वाध्याययोग और ईश्वर-प्रणिधानयोग अच्छी तरह उपदिष्ट हुआ है। तपसे हठयोग, स्वाध्यायसे मन्त्रयोग और ईश्वर-प्रणिधानसे भक्तियोग जाना जाता है।

व्यासभाष्यमें समाधिको योग कहा गया है। भोजवृत्तिमें भी लिखा है—'**योगो युक्तिः समाधानम्, युज समाधाविति।**' प्रस्तुत दर्शनके आधारपर 'योग' शब्द '**युज समाधौ**' धातुसे ही निष्पन्न होता है, '**युजिर् योगे**' से नहीं, ऐसा तत्त्ववैशारदीमें भी कहा गया है।

वियोगका तात्पर्य है—चितिशक्ति (पुरुष) का स्वरूपमें प्रतिष्ठित होना ही योगका फल है। स्वरूपको ढकनेवाले जो अविद्यादिक विकार हैं तथा उनका आधारभूत जो चित्त या व्यष्टि प्रकृति है, उसके प्रलीन हो जानेपर उसमें विद्यमान क्लेश-बीज दग्ध हो जाते हैं और वह सर्वकर्तृत्वाभिमानके निवृत्त हो जानेसे अपने कारण अव्यक्त या समष्टि प्रकृतिमें लीन हो जाती है। अथवा आत्मा या पुरुषके समान शुद्ध रूपमें वर्तमान होती है और तब उपचरित भोगोंके अभावसे शुद्ध होकर पुरुष, स्वरूपमात्र ज्योति अमल और केवली-व्यष्टि प्रकृतिसे वियुक्त हो जाता है। योगदर्शनमें कहा है—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्। (३। १। ५५)

योग या समाधिके द्वारा चित्तसत्त्वका दग्ध-क्लेश-बीज होनेसे कर्तृत्वाभिमान निवृत्त होना ही उसकी शुद्धि है और पुरुष तो प्रकृत्या निःसङ्ग है, चित्तसत्त्वके सङ्गसे उसमें औपचारिक भोगोंका प्रादुर्भाव होता है। जब योगद्वारा सत्त्व शुद्ध हो जाता है तो औपचारिक भोगोंका पुरुषमें अभाव हो जाता है, यही पुरुषकी शुद्धि है। तब शुद्ध सत्त्व रहे या न रहे पुरुषके कैवल्यमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, यही पतञ्जलिका आशय है।

४-अस्पर्श-योग

गौडपादाचार्यने कहा है—

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥

(गौडपादकारिका ३। ४९)

समस्त सम्बन्धोंके स्पर्शसे रहित होनेके कारण उपनिषदोंमें प्रतिपादित अस्पर्श-योग वेदान्तविहित विज्ञानसे रहित योगकर्मीकी वाणियोंको कठिनतासे प्राप्त होता है। भयसे वर्जित होनेपर भी इस योगको आत्मनाश-रूप माननेवाले अविवेकी इससे भयभीत होते हैं।

उक्त कारिकासे सूचित योग भी वियोग-रूप ही है। इसका स्वरूप वहीं इस प्रकारसे उपन्यस्त है—

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः॥

(गौ०कारिका, तृतीय प्रक० ३७)

वह सभी प्रकारके वागादि व्यवहारसे रहित, चिन्तनादि मनोव्यापारसे परे, अत्यन्त प्रशान्त, नित्य प्रकाशात्मक अचल और अभय समाधिरूप है।

सम्पूर्ण शब्द स्मृतिसे परे, समस्त विचारोंसे '**स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्**' इस गीतोक्त नीतिसे समग्र विषयोंसे वियुक्त हो जानेपर मनकी अमनीभाव दशामें प्रशान्त कल्लोलवाले सागरके सदृश निखिल अज्ञानरूप, अन्धकारको ध्वस्त करनेवाली प्रभासे भास्वर, सुषुम्ना नाड़ीमें प्राण और अपान प्रवाहके सम हो जानेपर स्वर्ण-स्तम्भके समान विद्यमान, निमेष और उन्मेषसे वर्जित, निर्वात-निष्कम्प दीपशिखाकार योगी जिससे अभय हो जाता है, वह समाधि अस्पर्श-योग है।

५-शब्दपूर्वयोग

यह योग व्याकरण-दर्शनमें प्रसिद्ध है। ओङ्कारका जप और तेजका ध्यान ही इसका आशय जान पड़ता है। वाक्यपदीय (व्याकरण-दर्शन) ब्रह्मकाण्डकी वृत्तिमें लिखा है—

इस लोकमें दो प्रकारके शब्द सुने जाते हैं। एक नित्य तथा दूसरा कार्यरूप अनित्य। जो शब्द सुना जाता है या उच्चरित होता है, वह लोक-व्यवहारके लिये प्रवृत्त वैखरी-रूप कार्यात्मक अनित्य है। पश्यन्ती-रूप शब्द ब्रह्मात्मक बिम्बके ही वर्ण, पद और वाक्य प्रतिबिम्ब हैं। पश्यन्तीरूप नित्य

शब्दात्मा समस्त साध्य-साधनात्मक पद और पदार्थ-भेद-रूप व्यवहारका उपादान कारण है। अकार-ककारादि क्रमका वहाँ उपसंहार हो जाता है। समस्त कर्मोंका आश्रय, सुख-दुःखका अधिष्ठान, सर्वगामी, घटके अंदर रखे हुए दीपकके प्रकाशकी भाँति भोगायतन शरीरमात्रका प्रकाशक समग्र वर्ण, पद और वाक्यात्मक मूर्तियों तथा पदार्थोंकी अक्षय प्रकृति पर्जन्य (मेघ) के सदृश दावाग्निके समान प्रसव (उत्पत्ति) और उच्छेदशक्तिसे युक्त, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिशाली महान् शब्दवृषभ (शब्दब्रह्म), उच्चारण करनेवाले जनोंके हृदयमें विद्यमान रहता है। वाग्योगवेत्तागण उसीके साथ सायुज्यकी कामना करते हैं। कहा भी है—

अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते॥

(वाक्यपदीय, ब्र॰ का॰ १२२, पूना सं॰)

शब्द पूर्वयोगसे युक्त योगी जैसे लिपिके चिह्न अक्षरों—अकारादिकोंके निमित्त बनते हैं, वैसे ही जिस प्रकाशमें (अभिन्न दर्पण-रूप ब्रह्ममें) नित्य शब्दकी अभिव्यञ्जक तीनों वैखर्यादि वाणियोंको प्रतिबिम्बके समान देखता है—

यत्र वाचो निमित्तानि चिह्नानीवाक्षरस्मृतेः।
शब्दपूर्वेण योगेन भासन्ते प्रतिबिम्बवत्॥

(वा॰प॰ब्र॰काण्ड)

यहीं क्रमसंहारयोगकी भी चर्चा आयी है, जो शब्द पूर्वयोगका साधक है। भर्तृहरि लिखते हैं—

शब्दस्वरूपके साथ अभेद समझनेवाला व्यक्ति क्रमसंहारद्वारा शब्दपूर्वयोगको उपलब्ध करता है। साधु शब्दोंके प्रयोगसे उसके अन्तःकरणमें पहलेसे ही धर्मविशेष अभिव्यक्त हो चुका है, ऐसा योगी शब्द-तत्त्व-स्वरूप महानात्माके साथ ऐक्यलाभ करता हुआ वैकरण्यको[1] प्राप्त करता है।

६-राजयोग

'राजविद्या राजगुह्यम्' इस गीतोक्त वचनसे इस योगकी सूचना मिलती है। पतञ्जलिके योगका नाम 'राजयोग' है। इसमें 'ध्यानयोग' ही मुख्य है, जिसमें जन्मान्तरमें सिद्ध साधकोंके लिये चित्तवृत्तियोंका निरोध एवं सामान्य साधकोंके लिये यम-नियम आदिसे स्पष्ट किया गया है। इस विषयपर इसी अङ्कमें अन्य स्थानोंपर विवेचन किया गया है।

७-हठयोग

'तप' शब्दके द्वारा पातञ्जलदर्शनमें 'हठ' शब्दकी सूचना मिलती है। इसके अतिरिक्त **'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'** (योग॰ २।५२)—इस सूत्रके भाष्य **'तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य'** के पञ्चशिखाचार्योक्त प्रमाणसे प्राणायाम ही परम तप है, यह जाना जाता है। हठयोगमें प्राणायाम ही आधारभूत है—

हठिनामधिकस्त्वेकः प्राणायामपरिश्रमः।
प्राणायामे मनः स्थैर्यं स तु कस्य न सम्मतः॥

और इस हठयोगके दो भेद हैं—(१) मार्कण्डेय हठयोग और (२) नाथपंथी हठयोग। इस हठयोग-विद्याके घेरण्डसंहिता, गोरक्षसंहिता आदि ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं, जिनके स्वाध्याय आदिसे एवं किसी योगीके सहयोगसे नेति, धौति, वस्ति, नौली, गजकरणी आदिकी साधना एवं अन्य यौगिक नियमोंके पालनसे योग-समाधि सिद्ध की जा सकती है।

८-लययोग

यह योग नादयोगके नामसे भी कहा जाता है। दक्षिण कर्णमें अनाहत नादको साधक सुनता है। अभ्यास करनेपर क्रमशः घण्टा-वादन, मेघ-गर्जन एवं ताल-वादन आदिके दस प्रकारके नाद सुनायी पड़ते हैं। अन्तिम नाद ओङ्कार है, उसीमें मनका लय करना चाहिये, तभी स्वरूपस्थिति प्राप्त होती है।

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय वैष्णवीम्।
शृणुयाद् दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा॥

(नादबिन्दूपनिषद्)

इन्द्रियाणां मनोनाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः॥

(हठयोगप्र॰ ४।२९)

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्।
पक्षाद् विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत्॥

१-वैकरण्यके विषयमें 'पाशुपतसूत्र' नामक ग्रन्थमें सूत्र पठित है—'विकरणः' (२५)। कौण्डिन्यकृत पञ्चार्थभाष्यमें इसकी व्याख्या दी गयी है—'करणप्रतिषेधात् कार्यप्रतिषेधः कृतो भवति। कस्मात्? विशिष्टत्वात् ग्राहकत्वात् सूक्ष्मत्वाच्च कारणानाम्। तस्माद्विकरण इति कैवल्यम्।

कर्पूरमनले यद्वत् सैन्धवं सलिले यथा।
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते॥

(ह० प्र० ४। ८३,५९)

कुछ लोग इस योगको प्रस्तुत रूपमें समझते हैं— शरीरमें मेरुदण्डके नीचे मूलाधारके नामसे प्रसिद्ध एक कन्द है। बहत्तर हजार नाडियाँ उससे निकलकर सम्पूर्ण देहमें व्याप्त रहती हैं। उनमें इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नामक तीन नाडियाँ मुख्य हैं। मेरुदण्डके वाम भागमें चन्द्ररूपिणी इडाका, दक्षिण भागमें सूर्यरूपिणी पिङ्गलाका और मध्य छिद्रमें सुषुम्नाका मार्ग है। भ्रूमध्यमें सङ्गम प्राप्त करके ये नाडियाँ सिरमें ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त जाती हैं। मूलाधारमें महाशक्ति कुलकुण्डलिनी सोती रहती है। ध्यान और जपसे उसे जगाकर सहस्रार-चक्रमें विराजमान परमेश्वरमें लीन करना ही लययोग या कुण्डलिनी-योग है।

लयक्रियासाधनेन सुप्ता सा कुलकुण्डली।
प्रबुद्ध्य तस्मिन् पुरुषे लीयते नात्र संशयः॥
शिवत्वमाप्नोति तया साहाय्यादस्य साधकः।

९-मन्त्रयोग और भक्तियोग

भगवन्नाम आदिका जप भगवच्चरित्र एवं भगवान्‌के द्वारा कहे गये गीता, उपनिषद् आदिका अध्ययन 'स्वाध्याय' शब्दसे निर्दिष्ट हुआ है। उक्त स्वाध्यायसे सभी प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। और भी कहा है—

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात्।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः॥

(मन्त्रयोगसंहिता)

यह सृष्टि नाम-रूपात्मक है, अतः उसी नामका एवं भगवद्रूपका आलम्बन लेकर साधक बन्धनसे मुक्त होकर मुक्ति-लाभ करता है। पातञ्जलयोगदर्शनमें भक्तियोग ईश्वरप्रणिधानके नामसे कहा गया है। इससे शरणागतियोग अथवा प्रपत्तियोग लक्षित होता है।

फल न चाहते हुए कार्यरत रहना यही फल-संन्यासका तात्पर्य है। शरणागति या प्रपत्ति अनुरक्तिके बिना सम्भव नहीं।

१०-शिवयोग और पाशुपतयोग

इस सम्बन्धमें स्कन्दपुराण, शिवपुराण, लिङ्गपुराण, सर्वदर्शन-संग्रह आदि तथा काश्मीरी शैव-दर्शनके ग्रन्थोंमें निर्दिष्ट गम्भीर शिवात्मज्ञानके साधनों, शिवयोगीके चरित्रों, पाशुपत-सूत्र एवं नकुलीश पाशुपत-दर्शन एवं वेदान्तके श्रीकरभाष्य और श्रीकण्ठीय भाष्यका अध्ययन करना चाहिये।

इसी प्रकार जैन, बौद्ध, ईसाई, सूफी, पारसी, इस्लाम आदि धर्मोंमें भी योगके विविध स्वरूपोंपर विस्तारसे वर्णन मिलता है। इसी अङ्कमें विभिन्न स्थानोंपर कुछ योगोंपर निबन्ध प्रकाशित हैं। उन्हें वहीं देखकर समझनेका यत्न करना चाहिये।

भगवन्नाम और जपयोग

(डॉ० श्रीराकेशमणिजी त्रिपाठी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

शास्त्रोंमें प्रणवको एकाक्षर ब्रह्म कहा गया है। प्राणी जिन शब्दोंका उच्चारण करता है, वे उसी क्षण अपने विशिष्ट ध्वनि-संकेतोंको प्रवर्तित करते हुए तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं, किंतु वे ही यदि भगवान्‌के नाम या भगवान्‌की स्तुति आदिसे सम्पन्न हों तो उनका प्रभाव चिरस्थायी हो सकता है। मन्त्ररूपमें शब्दोंकी अद्भुत सामर्थ्य आज भी श्रद्धावान् साधकों, भक्तों आदिके द्वारा देखी जाती है। परंतु जीवनको धन्य तथा कल्याणकारी बनानेवाले शब्द वही हैं, जो जगन्नियन्ता श्रीहरिकी प्राप्तिमें सहायक हो सकें; क्योंकि मानव-जीवनका चरम एवं परम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही है। ऐसे शब्द भगवान्‌के दिव्य एवं पावन नाम हैं।

योग-विषयक ग्रन्थोंमें योगकी विविध परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं, जिनपर विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि जिस साधनाके द्वारा जीव अपना सम्बन्ध ईश्वरसे स्थापित कर उन्हें प्राप्त करता है, वही योग है। शास्त्रोंके अनुसार योगकी सार्थकता यही है कि काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर— इन षड्‌रिपुओंपर विजय प्राप्त कर ली जाय अथवा पाँचों इन्द्रिय और मन— ये छः वशमें हो जायँ। ऐसा होनेपर भी यदि उन नियमोंके द्वारा भगवान्‌के ध्यान-चिन्तन आदिकी प्राप्ति नहीं होती तो वह योग केवल परिश्रममात्र ही सिद्ध हुआ—

षड्वर्गसंयमैकान्ताः सर्वा नियमचोदनाः ।
तदन्ता यदि नो योगानावहेयुः श्रमावहाः ॥

(श्रीमद्भा० ७ । १५ । २८)

संतोंकी दृष्टिमें सभी दोषोंका उन्मूलन कर तत्काल भगवदुन्मुख करनेवाला भगवत्प्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ साधन भगवन्नाम है। यह समस्त योग-साधनाओंका सारतत्त्व है। इसका जप सभी प्रकारसे कल्याण करनेवाला है।

अग्निपुराणमें जपकी परिभाषा देते हुए कहा गया है कि जपमें 'ज' अक्षर जन्मविच्छेदक तथा 'प' अक्षर पापनाशक है। तात्पर्य यह कि जप करनेसे पापोंका नाश होता है तथा पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता—

जकारो जन्मविच्छेदः पकारः पापनाशकः ।
तस्माज्जप इति प्रोक्तो जन्मपापविनाशकः ॥

नित्य जपनीय एक सर्वशक्तिमान् सर्वनियन्ता ईश्वर ही कल्पनानुरूप अनेक देव-रूपोंमें व्याप्त दिखायी पड़ते हैं। **'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति'** (ऋग्वेद १० । ११४ । ५), **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'** (ऋग्वेद ६ । ४७ । १८) एवं **'स वरुणः ···· मध्यतो दिवम्'** (अथर्ववेद १३ । ३ । १३) आदिके अनुसार वह अद्वितीय तत्त्व, सत्य पदार्थ एक ही है। निरुक्त दैवतकाण्ड (यास्क) के अनुसार इस जगत्के मूलमें एक महत्त्वशालिनी शक्ति विद्यमान है, जो निरतिशय ऐश्वर्यशालिनी होनेसे ईश्वर कहलाती है, उसी एक देवता (दिव्यतत्त्व) की बहुत रूपोंमें स्तुति की जाती है—

महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते ।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ।

(७ । ४ । ८-९)

परंतु भगवती श्रुतिके अनुसार ईश्वरके विविध नामों, रूपोंका पर्यवसान 'ॐ' में है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाँसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥

(कठोपनिषद् २ । १५)

अर्थात् सभी वेद जिस पदका मनन करते हैं, सभी तपस्वी जिसकी चर्चा करते हैं, जिसकी इच्छासे ही ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन किया करते हैं, उस पदको मैं तुमसे संक्षेपमें कहता हूँ—यह 'ॐ' है। इस ॐके जपका निर्देश योगाचार्य महर्षि पतञ्जलि भी अपने 'योगदर्शन' के **'तस्य वाचकः प्रणवः'** (१ । २७) एवं **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** आदि सूत्रोंसे निर्दिष्ट करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार जो पुरुष 'ॐ' ऐसे इस एक अक्षररूप ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थ-स्वरूप परमात्माका चिन्तन करता हुआ—शरीरको त्यागकर परलोक जाता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

(८ । १३)

'ॐ' साक्षात् परमात्माका ही स्वरूप है। भगवान् श्रीकृष्णने गीता (१० । २५) में **'गिरामस्म्येकमक्षरम्'** कहकर इसे सुस्पष्ट किया है। इसी जपयोगकी महत्ताको **'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'** से निर्दिष्ट करते हुए वे उसे अपनी विभूति बतलाते हैं। इस 'ॐ'के जपयोगकी साधनाका विवेचन प्रायः सभी उपनिषदों एवं अन्य आध्यात्मिक योगसाधनात्मक ग्रन्थोंमें किया गया है। मुण्डकोपनिषद्में कहा गया है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

(२ । २ । ४)

अर्थात् प्रणवको धनुष एवं आत्माको तीर बनाकर ब्रह्मरूपी लक्ष्यको प्रमादरहित होकर वेधना चाहिये। जिस प्रकार तीर अपने लक्ष्यके साथ तन्मय हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी ब्रह्मके साथ तन्मय हो जाता है। इस प्रकार पूर्ण तन्मयतापूर्वक किया जानेवाला प्रणवका जपयोग साधकको ईश्वर-सांनिध्य प्रदान करनेवाला है।

जपयोगकी साधनाके लिये योग-ग्रन्थोंमें अनेक विशिष्ट विधान बतलाये गये हैं। परंतु आजकल जप-विधिका पालन करना अशक्य-सा है, इसलिये हरि-नाम—भगवन्नाम-जप करना विशेष सुगम और कल्याणकारी है, क्योंकि इसके लिये किसी विशिष्ट विधानकी आवश्यकता नहीं बतलायी गयी है।

यह मानसिक, वाचिक, उपांशु[1] किसी भी रूपमें किये जानेपर भगवत्प्राप्तिमें सहायक हो जाता है। इस नानाविध आधि-व्याधि-संकुल कलिकालमें हरिनाम-जपके अतिरिक्त संसार-सागरसे पार होनेका अन्य कोई साधन नहीं है। भगवान् वेदव्यास कहते हैं—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(बृ० ना० पु० ३८।१२७)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजके विचारमें अच्छे भावसे, बुरे भावसे, क्रोध अथवा आलस्यसे किसी भी प्रकार भगवन्नामका जप करनेसे व्यक्तिको दसों दिशाओंमें कल्याण-ही-कल्याण प्राप्त होता है। यह कल्पवृक्षस्वरूप भगवन्नाम स्मरण करनेसे ही संसारके सब जंजालोंको नष्ट कर देनेवाला है। यह कलिकालमें मनोवाञ्छित फलोंको देनेवाला, परलोकका परम हितैषी एवं इस संसारमें व्यक्तिका माता-पिताके समान सब प्रकारसे पालन एवं रक्षण करनेवाला है—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

(मानस १।२८।१)

तथा—

नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥
राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥

(मानस १।२७।५-६)

इस भगवन्नाम-जपयोगके आध्यात्मिक एवं लौकिक पक्षका सुन्दर समन्वय करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि ब्रह्माजीके बनाये हुए इस प्रपञ्चात्मक दृश्यजगत्‌से भलीभाँति छूटे हुए वैराग्यवान् मुक्त योगी पुरुष इस नामको ही जीभसे जपते हुए तत्त्वज्ञानरूप दिनमें जागते हैं । और नाम तथा रूपसे रहित अनुपम, अनिर्वचनीय, अनामय ब्रह्मसुखका अनुभव करते हैं। जो परमात्माके गूढ़ रहस्यको जानना चाहते हैं, वे भगवन्नामका जिह्वाद्वारा जप करके उसे जान लेते हैं। लौकिक सिद्धियोंके आकाङ्क्षी साधक लययोगद्वारा भगवन्नाम जपकर अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त कर सिद्ध हो जाया करते हैं। इसी प्रकार जब संकटसे घबराये हुए आर्तभक्त नामजप करते हैं तो उनके बड़े-बड़े संकट मिट जाते हैं और वे सुखी हो जाते हैं—

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी॥
ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा॥
जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीहँ जपि जानहिं तेऊ॥
साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥
जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥

(मानस १।२२।१-५)

इस भगवन्नाम-जपकी महिमा अनन्त है। इस जपके प्रसादसे शिवजी अविनाशी हैं एवं अमङ्गल वेशवाले होनेपर भी मङ्गलकी राशि हैं। परम योगी शुकदेवजी, सनकादि सिद्धगण, मुनिजन एवं समस्त योगिजन इस दिव्य नाम-जपके प्रसादसे ही ब्रह्मानन्दका भोग करते हैं। भक्तशिरोमणि श्रीनारदजी, भक्त प्रह्लाद, ध्रुव, अम्बरीष, परम भागवत श्रीहनुमान्‌जी, अजामिल, गणिका, गीध, केवट, भीलनी शबरी—सभीने इस भगवन्नामजपके द्वारा भगवत्प्राप्ति की है। मध्यकालीन भक्त एवं संत-कवि सूर, तुलसी, कबीर, दादू, नानक, रैदास, पीपा, सुन्दरदास, मीराबाई, सहजोबाई आदि संतोंने इसी जपयोगकी साधना करके सम्पूर्ण संसारको विश्वकल्याणका संदेश दिया है। सच ही है—जिस भगवन्नामका मात्र उलटा जप करनेसे क्रूरकर्मा दस्यु रत्नाकर महर्षि वाल्मीकि बन सकते हैं, उस हितकारी एवं परमात्म-प्राप्तिमें सहायक भगवन्नामका आश्रय ग्रहण करना सभीके लिये परम कल्याणकारी है।

१-मनुस्मृति (२।८५) के अनुसार विधियज्ञकी अपेक्षा वाचिक जपका प्रभाव दस गुना, उपांशु-जपका सौ गुना एवं मानसिक जपका प्रभाव हजार गुना होता है— विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः। उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

स्पष्ट उच्चारणपूर्वक किया जानेवाला जप वाचिक, जिसे समीपस्थ व्यक्ति भी न सुन सके केवल होठ ही हिलते हों वह उपांशु एवं जिसको मनमें जपा जाय वह मानसिक जप कहलाता है।

व्याकरणमें योग

(आचार्य पं० श्रीआद्याचरणजी झा)

महर्षि पाणिनिके धातुपाठमें तीन 'युज' धातु हैं। दिवादिगणके 'युज' धातुका अर्थ 'समाधि', रुधादिगणके 'युज' धातुका अर्थ 'संयोग' तथा चुरादिगणके 'युज' धातुका अर्थ 'संयमन' है।

उपर्युक्त तीनों 'युज' धातुका अर्थ साक्षात् तथा परम्परया 'समाधि'—मनःसंयोग या मनोनिरोध है। **'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः'**—यह भगवान् पतञ्जलिके सूत्रमें समाधि-अर्थमें अन्तर्निहित है। रुधादिगणस्थ 'युज' धातुका संयोग-अर्थ श्रीमद्भगवद्गीताके **'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्'** से सिद्ध है।

योगके अनेक अङ्ग हैं, किंतु पतञ्जलिके अनुसार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ अङ्ग प्रमुख हैं तथा सभी प्रकारके योगों—कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, हठयोग आदिमें इनका उपयोग होता है।

भगवान् पतञ्जलिका व्याकरण महाभाष्यद्वारा प्रतिपादित नियम ही व्याकरणशास्त्रीय चरम सिद्धान्त माना गया है। वे ही पतञ्जलि अपने 'पातञ्जल योगदर्शन' में **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** को योग शब्दका सारभूत अर्थ बतलाते हैं। चित्तवृत्तिको कर्ममें, भक्तिमें, ज्ञानमें, चिन्तनमें, प्राणायाममें, पठन-पाठनमें, हठमें, ईश्वर-चिन्तनमें जहाँ-कहीं भी एकाग्रतासे संलग्न किया जाता है, उसे कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि कहते हैं। योगवित्, योगवित्तम, अन्वययोग, व्यतिरेकयोग, राजयोग, मोक्षसंन्यास-योग शब्द भी इसी योगसे निर्मित हैं।

यह 'योग' ईश्वर, जीव और प्रकृतिकी पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार करता है। वेदमें ईश्वरको **'वाचि व्याहृतायाम्'** (यजुर्वेद ८। ५४) कहा गया है। इस तरह ईश्वररूपी वाच्यके वाचक **'भूर्भुवः स्वः'** हैं। यहाँ **'भू सत्तायाम्'** धातुसे भूः अर्थात् सत् **'भुवः अवचिन्तने'** धातुसे 'भुवः' अर्थात् 'चित्' तथा 'स्वः' अर्थात् आनन्द—इस तरह यह व्यवहार-त्रितय 'भूर्भुवः स्वः' सच्चिदानन्द है, यही गूढ़ रहस्य है।

व्याकरणशास्त्रका गूढ़तम तत्त्व 'स्फोट' शब्द है, जिसे मध्यमा नादव्यङ्ग्य कहते हैं। अर्थकी स्फुट—स्पष्ट प्रतीति वहीं होती है, वहीं 'स्फोट' वैखरी-ध्वनिमें सर्वजनसंवेद्य हो जाता है। परा, पश्यन्ती—ये दोनों वाक् तो योगियोंके द्वारा ही गम्य हैं। वहाँतक पहुँचनेके लिये भी एकमात्र योग ही साधन है।

चार प्रकारकी वाणीका वर्णन वेदोंमें भी आया है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

(ऋग्वेद १। १६४। ४५)

आचार्य सायणने इस मन्त्रके वेदपरक, यज्ञपरक, व्याकरणपरक, पशु-पक्षी एवं सर्पादिके वाणीपरक अर्थ करनेके बाद योग एवं कुण्डलिनीपरक अर्थ भी किये हैं, जिसका संक्षिप्त भाव इस प्रकार है—

'चत्वारि वाक्' इस पदकी व्याख्या करते हुए आचार्य सायण कहते हैं कि मान्त्रिक लोग वाणीको परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन चार सूक्ष्म भागोंमें विभक्त करते हैं यद्यपि मूलतः यह वाक् एक ही है। इनमें आकाशस्वरूपिणी परा वाणी वह है जो अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे मूलाधारसे उठकर नाद-रूपसे नाभितक व्याप्त रहती है और यह मूल परा वाणी नादरूप होनेसे तथा अत्यन्त सूक्ष्मरूप होनेसे दुर्निरूपिणी कही गयी है अर्थात् इसका किसी प्रकार वर्णन नहीं हो सकता है। पर यही वाणी नाभिसे उठकर हृदयकी ओर चलती है तो योगियोंके द्वारा दृष्ट होती है अर्थात् अनुमित होने लगती है, अतः पश्यन्ती कही जाती है। फिर वह बुद्धि-रूपमें व्याप्त होकर 'अब मैं इसे इस प्रकार कहूँगा'—ऐसा सोचे जानेके कारण मध्यम स्थिति एवं मध्यम स्थानमें आकर मध्यमा नामसे व्यवहृत होती है। चूँकि मध्य हृदयमें यह प्रकट होती है, इसलिये भी इसका नाम मध्यमा है। इससे ऊपर उठकर जब वही वाणी बाहर कण्ठ, तालु और ओष्ठ आदिके द्वारा सुस्पष्ट-रूपसे उच्चरित होती है तो वैखरी नामसे अभिव्यक्त होती है। इन वाणियोंके सूक्ष्मतम रहस्यको योगीजन ही जानते हैं। भगवान्ने गीतामें भी इसी बातको कहा है—

'यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।'

(१५। ११)

व्याकरण, आगम तथा सभी दर्शन शास्त्रोंके भी मूलभूत ये चारों प्रकारके वाक् 'कुण्डलिनी-तत्त्व'के आधारपर ही आधृत हैं। शास्त्रका वचन है—

'मूलाधारात् कुण्डलिनीमुत्थाय सुषुम्नामार्गेण हृदयस्थजीवात्मना सह संयोज्य कण्ठदेशेन मस्तकान्तःस्थिते सहस्रारकमले परमशिवे (परब्रह्मणि) संयोजयेत्, तदैवामृतक्षरणं जायते।' (तन्त्रसार)

इसका भाव है कि कुण्डलिनीको मूलाधारसे उठाकर सुषुम्नाके मार्गसे ले जाते हुए हृदयस्थ आत्माके साथ संयुक्त कर कण्ठदेशसे होते हुए शिरोभागमें स्थित सहस्रारकमलमें परमशिव परमात्मा (जो व्याकरणका शब्दब्रह्म अर्थात् ओंकार है)-से जोड़ दे, उसी समय अमृतका क्षरण होता है। इससे साधकको अमरत्व प्राप्त होता है और परा वाणीका रहस्य भी अवगत हो जाता है।

'योग'जीवनका एक नया अर्थ

(डॉ॰ श्रीराजेन्द्ररंजनजी चतुर्वेदी, डी॰ लिट्॰)

मनुष्यके रूपमें प्रकृतिके क्रम-विकासकी अभिव्यक्ति होती है। जडतत्त्वसे प्राण और फिर प्राणसे मन और मनसे परे विज्ञान और फिर सच्चिदानन्दकी पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। योग उस दिशामें मानवताको ले जानेवाला एक प्रशस्त मार्ग है। योगमार्ग इतिहासकी बीती हुई बात नहीं है, वह उससे अधिक भविष्यकालकी बात है। विश्वके अनेक देशोंमें भारतके योगका संदेश पहुँचा है तो उन देशोंमें योगके प्रति अभूतपूर्व आकर्षण पैदा हुआ है। अवश्य ही योग-साधना वैयक्तिक है, परंतु उसका परिणाम सार्वजनिक होगा; क्योंकि मनुष्यके पूर्ण विकासका यह मार्ग मनोमय मनुष्यको अतिमानसिक या आध्यात्मिक मनुष्यतक उठानेका मार्ग है। महर्षि अरविन्दके शब्दोंमें कहें तो 'योग'का उद्देश्य है पृथ्वीपर अतिमानसिक चेतनाको उतार लाना, उसे यहाँ स्थापित करना, अतिमानसिक चेतनाकी सहायतासे व्यक्ति और समष्टिके आन्तरिक और बाह्य जीवनको व्यवस्थित—शासित करके एक नवीन जातिकी सृष्टि करना। निश्चित ही मनुष्यका यह स्वरूप चेतनाके स्तरपर अधिक विकसित होगा।

पूर्ण विकसित चेतना विद्यमान तो पहलेसे ही है, किंतु सामान्यतया अविकसित मन उच्चतर मानसकी चेतनाकी उपस्थितिका अनुभव नहीं कर सकता। जो ज्ञानी, तत्त्वदर्शी, भक्त, योगी और साधक हुए हैं, उन्होंने उसकी अनुभूति की थी और हम उसी अनुभूतिका सूत्र पकड़कर योगमार्गपर आगे बढ़ सकते हैं। उन तत्त्वदर्शियोंकी आध्यात्मिक अनुभूति जीवनका सत्य है और जो जीवन हमारे चारों ओर बिखरा हुआ है, उसके पीछे वह अन्तःसलिला गङ्गाकी तरह विद्यमान है। वह अनुभूति आत्मान्वेषण तथा विश्वान्वेषणका एक उच्चतम क्षेत्र है। यह अनुभूति केवल एक शक्तिका बोधमात्र नहीं है, अपितु उस शक्तिको—आन्तरिक शक्तिको ग्रहण करना है जो मनको बदल सकती है, उसकी शक्तियोंको विकसित कर सकती है, मनुष्य-स्वभावको बदल सकती है तथा शारीरिक क्रियाओंपर नियन्त्रण कर सकती है।

चेतनाकी इस शक्तिकी सही पहचानके लिये 'यूरोपीय मनोविज्ञान'का मार्ग पर्याप्त और सर्वथा परिपूर्ण नहीं है। योगके द्वारा मनकी विविध क्रियाओं, अवस्थाओं, स्तरों और विस्तारको अधिक स्पष्टरूपमें जाना-समझा जा सकता है। मनुष्यकी चेतनाका आज जो विकसित रूप है, चेतनाका विस्तार उससे आगे और बहुत आगे भी है, यह बात हमें योग बतलाता है। अतिमानसिक शक्ति हमारे मन, प्राण और शरीरको रूपान्तरित कर सकती है। अतिमानस सच्चिदानन्दकी आत्मज्ञान और विश्वज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति है। आत्म और विश्वके बीच जो सीधा प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, योगसे उस सम्बन्धको प्रत्यक्ष करना सम्भव है।

माण्डूक्य उपनिषद्में जिसे विश्व, तैजस और प्राज्ञ कहा है, वह बाह्य चेतना, आन्तरिक चेतना और अति चेतना है। मनुष्यकी सामान्य चेतनामें केवल बाह्य ही जागरित है, आन्तरिक सत्ताका धुँधला-सा बोध स्वप्नोंमें होता है। उपनिषदोंमें मन, प्राण और अन्न; सूक्ष्म, स्थूल और कारण तथा जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्तिका विवेचन करते हुए आन्तरिक सत्ताका जो उद्घाटन किया है, यूरोपीय मनोवैज्ञानिक 'परामनोविज्ञान'-जैसी विधाके द्वारा वहाँ पहुँचनेका प्रयास कर

रहे हैं। भारतीय योगने तो विश्व, विश्वात्मा और विश्वप्रकृतिकी चेतनाको आत्म-चेतनासे सम्बद्ध देख लिया था। चेतनाका वह स्तर जो भौतिक रूपसे अपना प्रभाव प्रकट करता है, जो विचारको प्रेरित कर सकता है, वह विराट् चेतना जहाँ शरीर बहुत छोटी, आश्रित और अन्तर्विष्ट वस्तु होती है, 'योग' चेतनाकी उसी विराट् अनुभूतिकी खोज करता है तथा मानवजातिका गुणात्मक परिवर्तन भी कर सकता है, इसमें संदेह नहीं। भौतिक विज्ञानके विकासको योग-चेतनाके नियन्त्रणमें होना चाहिये, यह विश्व-कल्याणका मार्ग है और यही जीवनका नया अर्थ है।

भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम्

(म० म० डॉ० श्रीभागीरथप्रसादजी त्रिपाठी, 'वागीश शास्त्री')

यह संसार दो तत्त्वोंसे निर्मित है—जड तथा चेतन, असत् एवं सत्, अज्ञान और ज्ञान अथवा स्थूल और सूक्ष्म। आद्य शंकराचार्य ब्रह्मसूत्रके शांकर-भाष्यमें प्रतिपादित करते हैं—**'सत्यानृते मिथुनीकृत्य नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः'**—सत्य और असत्य परस्पर मिलकर संसारके स्वाभाविक व्यवहारका निर्वाह करते हैं।

जो वस्तु उत्पन्न होकर अस्तित्व रखती है, उसमें परिवर्तन या परिणाम अवश्य होता है। परिवर्तन होनेके कारण ही किसी व्यक्ति या पदार्थमें वृद्धि तथा विकास होता है; किंतु किसी पदार्थमें होनेवाली यह वृद्धि एक निश्चित बिन्दुतक जाकर रुक जाती है और उसमें वहींसे क्षीणता प्रारम्भ होने लगती है। जब यह क्षीणता अपनी पराकाष्ठापर पहुँच जाती है, तब उस वस्तु या व्यक्तिका अभाव हो जाता है। इसी अभावको व्यावहारिक भाषामें विनाश कहते हैं। परिवर्तन आदि उक्त विकारोंको षड्भाव-विकार कहते हैं। ये जड, असत् अथवा स्थूल पदार्थोंमें होते हैं। यह संसार (ब्रह्माण्ड) तथा प्रत्येक प्राणीका शरीर (पिण्ड) जड, असत् अथवा स्थूल होनेके कारण परिवर्तनशील (उत्पत्ति-विनाशशील) अथवा विकारयुक्त है।

यह सम्पूर्ण जगत् (ब्रह्माण्ड) तथा प्राणिजगत् (पिण्ड) जो जड होनेपर भी स्पन्दनशील और गतिशील दृष्टिगोचर हो रहा है, इसका कारण है असीमित चेतन-तत्त्वकी संनिधिका प्रभाव। उस परम चेतन-तत्त्वने इस ब्रह्माण्डकी रचना की और फिर उसके अंदर प्रविष्ट हो गया। अतः उस परम चेतन-तत्त्वसे प्रेरित होकर ही इस जड-तत्त्वमें स्पन्दन होता है और स्पन्दनक्रिया होनेके कारण ही उक्त छः क्रियाविकार होते हैं।

लोहेके कणोंको चुम्बकके सामने ले जाइये। उनमें हलचल मच जायगी। उन लौहकणोंमें हलचल थी नहीं, फिर आ कहाँसे गयी? किंतु ज्यों ही आप उन लौहकणोंको चुम्बककी शक्तिसीमासे परे हटा लेते हैं, पुनः वे निःस्पन्द हो जाते हैं। आप पुनः उन्हें चुम्बककी शक्तिसीमाकी परिधिमें रख देते हैं, तो या तो वे नर्तन करने लगते हैं या फिर उसमें आत्मसात् होना चाहते हैं।

असीमित शक्ति अथवा चेतन-तत्त्वके आगार उस परमतत्त्वकी शक्तिसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जिस प्रकार आकृष्ट है, बँधा है और नर्तन कर रहा है, स्पन्दित हो रहा है उसी प्रकार पिण्ड भी उस परम तत्त्वकी प्रतिनिधि शक्तिके कारण स्फुरित हो रहा है। उत्पत्ति, सत्ता, परिणाम, वृद्धि, क्षीणता तथा विनाशकी अवधि ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनोंकी निश्चित है। ब्रह्माण्डकी यह अवधि पिण्डकी अपेक्षा अधिक लम्बी है। इसलिये ये पिण्ड अन्य पिण्डोंके प्रतिदिन होनेवाले विलयनोंकी भाँति ब्रह्माण्डोंका विलयन नहीं देख पाते हैं। पर उनकी भी आयु-सीमा निश्चित है। वहाँ वह बिन्दु है, जहाँसे क्षरण या क्षीणता प्रारम्भ होती है और अन्तमें शक्ति समाप्त हो जानेके कारण इनको निःस्पन्द हो जाना है। यह जड-तत्त्व केवल उपकरण है चेतन-तत्त्वका। वह चेतन-तत्त्व ही सत् (अपरिवर्तनशील) चित्—चेतनाशील तथा आनन्दमय है।

इस जड या स्थूल तत्त्वको प्रकृति तथा चेतन-तत्त्वको पुरुष भी कहते हैं। प्रकृतिमें विकृति होती है। वह पुरुषको रिझानेके लिये स्पन्दनशील होती रहती है। पर अन्तमें उसमें समाहित होनेपर वह परा प्रकृतिमें अवस्थित हो जाती है।

अव्यक्तसे व्यक्त—इस परा प्रकृतिको 'अव्यक्त' कहते हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके रूपमें व्यक्त होनेपर यह अव्यक्त प्रकृति त्रिगुणात्मिका (व्यक्त) बन जाती है। वस्तुतः इसी त्रिगुणात्मिका शक्तिका नाम प्रकृति है, क्योंकि विकृति

इसीमें होनी है, 'अव्यक्त' में नहीं। यह 'अव्यक्त' प्रकृति उस परम शक्तिशाली सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म परम चेतनके सहकारसे स्पन्दित होती है और त्रिगुणात्मक होकर हमारी अनुभूतिमें आनेवाले सूक्ष्मतम तत्त्व आकाशको उत्पन्न करती है। पुनः आकाशसे वायु, वायुसे तेजोमय अग्नि और अग्निसे रसयुक्त जल और जलसे गन्धादियुक्त पृथ्वीकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह संसार अव्यक्त या शून्यसे उत्पन्न हुआ है। इसकी विपरीत क्रियासे पृथ्वी वृष्टि आदिसे जलमय और फिर सूर्यकी किरणोंसे जल सूखकर केवल तेजोमय हो जाता है और वह तेज पुनः वायु बनकर और आधार न पाकर धीरे-धीरे आकाशका रूप धारण कर लेता है। आकाश शब्द-गुणसे शून्य होकर अव्यक्त या मूल प्रकृतिमें लीन हो जाता है। इसे ही सर्ग या प्रतिसर्ग, उद्भव या आप्यय अथवा सृष्टि एवं प्रलय संज्ञासे अभिहित किया गया है।

जीवात्माकी व्यग्रता—उस परम चेतनके प्रतिनिधि चेतन आत्माकी संनिधिके कारण पिण्ड प्रकृति (शरीर) उस प्रकार स्पन्दित है, जिस प्रकार परमचेतनके कारण ब्रह्माण्ड स्पन्दित है। यह प्रतिनिधि चेतन आत्मा यद्यपि सत्-चित्-आनन्दमय है तथापि प्रकृतिके प्रतिनिधिभूत देहका आश्रय लेनेके कारण, प्रकृतिके विकृतिमय चौबीस तत्त्वोंसे घिरा रहनेसे प्रकृतिकी विकृतियोंको अपनेमें प्रतिबिम्बित पाकर अपनेको स्वयं विकारोंसे युक्त समझने लगता है। इस प्रकार जब उसका आनन्दमय स्वरूप बाधित होने लगता है, तब उसकी व्याकुलता बढ़ने लगती है। वह अपने आनन्दमय स्वरूपमें अवस्थित होनेके लिये व्यग्र होने लगता है।

आनन्दमय स्वरूपमें स्थित होनेका उपाय— योग

अपने इस आनन्दमय स्वरूपमें स्थित रहनेके लिये अर्थात् प्रकृतिकी विकृतियोंको अपनेमें आरोपित करनेसे बचनेके लिये अथवा प्रकृतिमें विकृतियोंको न होने देनेके लिये तत्त्ववेत्ता अनादिकालसे उपाय करते चले आ रहे हैं।

इस विकृतिशील देह-पिण्डमें स्थूल-रूपसे जल (कफ), अग्नि (पित्त) तथा वायु-तत्त्व (वात) यदि समान अवस्थामें रहते हैं तो यह विकारी देह दीर्घकालतक विकारोंसे रहित रह सकता है। आयुर्वेदशास्त्रका आविर्भाव उक्त तीनों विकारोंको समानावस्थामें ला देनेके लिये हुआ। ताकि जीवात्मा अपने आनन्दमय स्वरूपमें सदा अवस्थित रह सके। किंतु विकृतियोंकी पराकाष्ठा होनेपर आयुर्वेदकी सहायतासे भी धर्मके साधन—इस शरीरकी रक्षा नहीं की जा सकती। परंतु योगमार्गका अवलम्बन कर मानव-शरीरको सिद्धदेहके रूपमें परिवर्तित कर अजर-अमर बनाया जा सकता है और साधक चिरयोगाभ्याससे अपने आनन्दमय स्वरूपमें अवस्थित हो सकता है।

योगकी दीर्घ परम्परा—योगकी दो मुख्य शाखाएँ हैं—हठयोग तथा राजयोग । हठयोगका आश्रय लेकर व्यक्ति अपनेको शारीरिक विकृतियोंसे मुक्त रख सकता है। किंतु राजयोगकी सहायतासे शरीर तथा अन्तःकरण—इन दोनोंके विकारोंसे परे रहकर अपने आनन्दमय स्वरूपमें स्थित रह सकता है। राजयोग समन्वयात्मक योग है। इसे 'अष्टाङ्गयोग' के नामसे भी जाना जाता है। योगविद्याकी अतिदीर्घ परम्परा रही है। योगशास्त्रके आदिवक्ता 'हिरण्यगर्भ' माने गये हैं—

'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।'

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रकृतिकी विकृतियोंपर विजय प्राप्त करनेके साधन योगशास्त्रको अनादि-कालसे प्रवृत्त बताया है। उन्होंने अर्जुनसे कहा कि इस 'योगशास्त्र' का उपदेश मैंने ही सबसे पहले सृष्टिके प्रकाशक सूर्यको दिया था। सूर्यने मनुको और मनुने अपने पुत्र इक्ष्वाकुको तथा इक्ष्वाकुने राजर्षियोंको इसका उपदेश दिया। इस प्रकार यह योगकी परम्परा क्रमशः सभी सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी राजाओंमें चली आयी और जनक आदि राजा राजर्षि नामसे अलङ्कृत होते थे। इसी तरह महर्षि दत्तात्रेय, महर्षि मार्कण्डेय, महर्षि घेरण्ड आदिकी भी अनेक योगपद्धतियाँ हैं।

विकृतियोंसे मुक्ति—योगारुरुक्षु व्यक्ति प्रकृति (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, चित्त, बुद्धि) रूपी घोड़ेको विकृतियों (शारीरिक, ऐन्द्रियिक, मानसिक, चैत्तिक तथा बौद्धिक रोगों) से दूर रखनेके लिये योगासनोंका आश्रय लेता है। भगवान् श्रीकृष्णने गीता (६। ५)-में अर्जुनसे स्पष्ट कह दिया कि मैं मानव-प्रकृतिकी विकृतियोंसे मुक्त होनेके साधन बतलाता हूँ। विकृतियोंसे अपनेको मुक्त रखना प्रत्येक मानवका आवश्यक कर्तव्य है। जीवात्माको स्वयं प्रकृतिके

क्लेशोंमें नहीं फँसना चाहिये।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

पूर्वजन्मकी वासना और संस्कारोंके कारण संचित कर्मोंके रूपमें मनुष्य इस जन्ममें भले ही प्रारब्धके अनुसार चल रहा हो, पर इस समय जो कर्म वह कर रहा है, वह भविष्यमें संचित कर्मके रूपमें परिवर्तित हो जायगा और प्रारब्ध बन जायगा। वर्तमानके अधिकांश कर्म कर्ताके अधीन हैं। इस शुभ अवसरको खोकर आत्मोद्धारके लिये प्रयत्न न करना वस्तुतः आत्मघात-सा ही है।

स्थूल अथवा जड प्रकृतिको अनुकूल, साधनायोग्य बनानेके लिये साधकका उपयुक्त आहार-विहार करना सफलताकी दिशामें उन्मुख होना है। उचित आहार-विहारके साथ योगसाधना करनेपर वह क्लेशोंको दूर करेगी। यदि आहार-विहारके द्वारा प्रकृतिको अनुकूल न बनाया गया तो योगसाधना क्लेशोंको हटा नहीं सकेगी—(गीता ६। १७)।

योगसाधना—परम औषध

वह परम चेतन सम्पूर्ण द्वन्द्वों (राग-द्वेष, शत्रुता-मित्रता आदि) से परे है, उसमें परम शान्तिका सागर हिलोरें ले रहा है। जब आप योगसाधनाद्वारा अनुकूल बनाये गये शरीर और इन्द्रियोंको अन्तःकरणमें समर्पित कर देते हैं, तब उस परम चेतनकी शान्तिकी कुछ झलक दिखायी देने लगती है। जब अन्तःकरणको आत्मामें समर्पित कर दिया जाता है, तब व्यक्तिको शाश्वत शान्तिका दर्शन होने लगता है और जब आत्माको परमात्मा (परम चेतन) में समर्पित कर दिया जाता है, तब पराशान्ति प्राप्त हो जाती है। योगकी ये तीन भूमिकाएँ हैं। शान्तिका अर्थ है—सम्पूर्ण क्लेशोंसे सर्वथा मुक्ति। अपनी इसी जीवितावस्थामें जो व्यक्ति पूर्ण शान्ति प्राप्त कर लेता है, उसे 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। इसीलिये योगकी उपादेयताके विषयमें स्कन्दमहापुराणमें कहा गया है कि 'संसारके क्लेशोंसे संतप्त प्राणियोंके लिये योगकी साधना ही परमौषध है'—

'भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम्।'

वियोग

(आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी)

'सङ्गमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः।' प्रेम और ममत्वका ऐसा जोड़ा है कि ये कभी अलग नहीं किये जा सकते। जहाँ प्रेम है वहाँ ममत्व है। जो जिससे प्रेम करता है, उसे अपना ही बनाकर रखना चाहता है। यदि वह उसे अपना नहीं बना पाता तो कलपता है, रोता है। उसका कलपना-रोना ममताकी मात्रा बढ़नेसे होता है। वह आये और गये, उनके आनेमें संयोग, जानेमें वियोग है। दोके मिलनको संयोग अथवा योग कहते हैं—**'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।'** किंतु उक्त योगकी विशेषता विशुद्ध प्रेममें ही है और वह अनिर्वचनीय है—**'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।'** वियोगीके हृदयकी कसक, मधुर स्मृतिकी रूपरेखा और तन्मयताकी झलक 'गोपिकागीत'में है—**'त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते।'**

प्रेमयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, लययोग, हठयोग आदि सभी योगोंके सम्पुटसे 'वियोग' रस परिपक्व होकर सिद्ध होता है—***'ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।'***

जहाँ संयोगमें मनकी प्रफुल्लता और आनन्द है, वहाँ वियोगमें प्राणोंकी विकलता, तन्मयता, उत्सुकता एवं दुःखदायिनी मधुर स्मृतिमें अकथनीय आह्लाद है। प्रेमके शुद्ध स्वरूपका प्रतिबिम्ब विरहीके विकल हृदयपटलपर रहता है—

परिपुष्टे परिपुष्टं क्षीणे क्षीणं समे समं चैव। माधव तस्या अङ्गं तवैव स्नेहेन घटितमिव॥

प्रेमी अपने प्यारे प्रभुको कभी भी भुला नहीं सकता। प्रेमकी अटूट धाराकी लहर वियोगीके निर्मल हृदय-सरोवरमें सदा लहराती रहती है—

क्वचित् क्वचिदयं यातु स्थातुं प्रेमवशंवदः। न विस्मरति तत्रापि राजीवं भ्रमरो हृदि॥

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें योग-विद्याका स्थान

(शास्त्री श्रीमाधवप्रियदासजी वेदान्ताचार्य)

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदाय भक्तियोग-प्रधान सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदायकी दृष्टिसे योगका अर्थ है भगवान्‌के स्वरूपमें चित्तकी वृत्तियोंका लय हो जाना। आचार्य स्वामिनारायण कहते हैं—

'भगवान्‌के स्वरूपमें तैलधारावत् अविच्छिन्न अखण्ड-वृत्ति रखना सबसे कठिन साधन है। जिस मनुष्यके मनकी वृत्ति भगवान्‌के स्वरूपमें अखण्ड रहने लगती है, उसके लिये इससे अधिक कोई प्राप्ति भी शास्त्रमें नहीं कही है; क्योंकि भगवान्‌की मूर्ति चिन्तामणि-तुल्य है। जिस पुरुषको चिन्तामणि मिल जाती है, उसको सभी सम्पत्तियाँ मिल जाती हैं।' (वचनामृतम् भाग १)।

जैसे लोभीका धनमें, कामी पुरुषका स्त्रीमें प्रवेश होता है, वैसे ही सच्चे साधक भक्तकी मनोवृत्तियाँ भी भगवत्स्वरूपमें लीन हो जाती हैं।

भगवान् स्वामिनारायण स्वयं अनेक योग-कलाओंके स्वामी और अलौकिक योगशक्तियोंसे सम्पन्न थे। ग्यारह वर्षकी छोटी आयुमें उन्होंने गृहत्याग किया था। सात वर्षतक हिमालय आदि पर्वतों एवं बीहड़ वनोंमें घूमते-फिरते उन्होंने पूरे भारतवर्षमें भ्रमण किया था। तप एवं तीर्थाटन करते हुए उनकी कई बड़े-बड़े योगियोंसे भेंट हुई थी। हिमालयके बहुत बड़े सिद्धयोगी स्वामी श्रीगोपालयोगीसे उन्होंने अष्टाङ्गयोगकी सम्पूर्ण शिक्षा पायी थी।

यद्यपि भगवान् स्वामिनारायणको हठयोगकी सारी कलाएँ सहज सिद्ध थीं फिर भी उन्होंने सामान्य जनसमाजको लक्ष्यमें रखकर राजयोगपर विशेष बल दिया। हठयोगकी प्रक्रियामें प्रथम प्राणोंका लय होता है। बादमें चित्तका लय होता है, जब कि राजयोगमें प्राणोंको लीन किये बिना भी चित्तकी वृत्तियोंका लय होता है और चित्तकी लीनता होनेपर प्राण आप-ही-आप स्थिरताको प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् श्रीस्वामिनारायण कहते हैं—

प्राण रूंधि समाधिमां जाय, हठयोग तेने कहेवाय।
प्राण रुंध्या विना हरि ध्यान, जन प्रेमी प्रेमातुरवान्॥
हरिमूर्ति समाधिमां देखे, राजयोग मुनी तेने लेखे।
एतो उत्तम योग छे जाणो हठयोग थी अधिक प्रमाणो॥

(हरिलीलामृतम्)

इन दोनों योगोंके विषयमें आचार्यका कहना है कि 'तप, निवृत्तिधर्म एवं वैराग्यसे युक्त जो योगाभ्यास करता है अर्थात् हठयोगका अभ्यास करता है, उसके इन्द्रियोंकी शक्तियोंमें अद्भुत वृद्धि होती है, उसे कई प्रकारकी सिद्धियाँ मिलती हैं। उसको शुकदेवजी-जैसी सिद्ध-दशा प्राप्त होती है। जो प्रवृत्तिमार्गमें रहकर योगाभ्यास करता है अर्थात् राजयोगका अभ्यास करता है, उसके अन्तरमें महाराज जनकजीकी तरह सिर्फ ज्ञानकी वृद्धि होती है लेकिन नारद, सनक, शुक-जैसी सिद्ध-दशा नहीं मिलती।' (ग०म०२०)।

योगी यदि सावधान न रहा तो वह अपने लक्ष्यसे भटक जाता है। अपने शरीरको हजारों सालतक टिकाये रखना, पानीमें चलना, हवामें तैरना, अणिमादि अनेक दुर्लभ सिद्धियोंके स्वामी होना या अनेक आश्चर्यकारी शक्तियोंको प्राप्त करना योगका लक्ष्य नहीं है। योगका सर्वोत्तम लक्ष्य तो है भगवत्स्वरूपमें लीन होना। लेकिन हठयोगकी साधना करते-करते जब सिद्धियाँ सामने आती हैं तो योगी इनके मोहमें फँस जाता है। चमत्कारोंके चक्करमें पड़कर अपने ध्येयको भूल जाता है। इसीलिये तो भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजीसे श्रीमद्भागवत (११।१५।३३) में कहते हैं—

अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम्।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः॥

उत्तम योगके अनुष्ठानद्वारा मेरे स्वरूपमें लीन होनेवाले योगीके लिये सुविज्ञ पुरुषोंने ये सभी सिद्धियाँ अन्तराय-रूपमें कही हैं। क्योंकि इन सिद्धियोंके चक्करमें योगीके समयका व्यर्थ दुरुपयोग ही होता है।

योग-सिद्धिके उपाय

भगवान् स्वामिनारायणने उत्तम राजयोगकी सफल-सिद्धिके लिये साधनाकी प्रक्रियाके कुछ उपाय बताये हैं, जो योग-साधकके लिये उपयोगी हैं। वे इस प्रकार हैं—

पूर्ण योग-सिद्धिके लिये हमारे जीवनमें यम एवं नियमोंका अनुष्ठान परमावश्यक है। साथ-ही-साथ आसन सिद्ध करना भी आवश्यक है। कुछ मात्रामें प्राणायामके अभ्याससे प्राणोंकी गतिमें समत्व लाना भी जरूरी है।

जिसका आहार विकृत होता है, उसके प्राण भी विकृत एवं कुपित हो जाते हैं। जिनके प्राण विकृत हैं, उनका मन **कभी** एकाग्र नहीं होता। इसलिये प्राणोंकी स्थिरताके लिये आहारकी शुद्धि परम आवश्यक होती है।

प्रत्याहार—प्रत्याहार योगका महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। बिना प्रत्याहारके धारणा, ध्यान एवं समाधि नहीं हो पाते। प्रत्याहारका अर्थ है चित्तकी वृत्तियोंको विषयोंकी ओरसे हटाकर परमात्मसम्मुख करना। विषयोंमेंसे मनको हटाना बड़ा दुष्कर है। लेकिन विषयोंमें दोष-दर्शन, विनाशित्वदर्शन एवं तुच्छत्वके दर्शनसे विषयोंका मोह छूट जाता है। जो साधक परमात्माकी अलौकिक महिमा एवं उनके निरवधिक आनन्दरूपका चिन्तन करता है, उसको प्रत्याहार बिना प्रयास सिद्ध होता है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(२। ५९)

'निराहारी पुरुषके विषय तो छूट जाते हैं, लेकिन विषयोंकी वासना तो ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। वह वासना तो परम आनन्द एवं परमरसस्वरूप भगवान्के दर्शनसे ही छूटती है।'

धारणा—वैराग्य एवं भगवान्के माहात्म्यज्ञानके बलसे प्रत्याहार सिद्ध करके अर्थात् मनको विषयोंमेंसे हटाकर परमात्माके दिव्य-मङ्गल श्रीविग्रहमें स्थिर करनेका, एकाग्र करनेका अभ्यास करना चाहिये। इसीको धारणा कहते हैं। शुकदेवजी महाराज परीक्षित्से कहते हैं—

मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद् धिया।

(श्रीमद्भा० २। १। १८)

'सांसारिक विषय एवं व्यवहारोंसे मनको हटाकर शुभ तत्त्वमें उसकी धारणा करनी चाहिये।'

हमारी धारणा एवं ध्यानके मूल ध्येय तत्त्व सर्वकारणके कारण नारायण हैं। वही सबसे श्रेष्ठ मङ्गलकारी भी हैं। अतः अनन्त शुभगुणोंके भण्डार भगवान् नारायणका दिव्य मङ्गल-विग्रह ही हमारे ध्यान एवं धारणाका अवलम्बन हो सकता है। भगवान् व्यास भी कहते हैं—**'ध्येयो नारायणो हरिः'**—सर्वदुःखोंको हरनेवाले नारायण ही ध्येय हैं।

भगवान् नारायणके दो रूप हैं—व्यक्त एवं अव्यक्त। अन्तर्यामी एवं व्यापकरूपसे वे अव्यक्त हैं। भगवान्का यह अव्यक्त स्वरूप हमारे इन्द्रियों एवं अन्तःकरणसे अगोचर होनेके कारण वह हमारी धारणाका स्पष्ट अवलम्बन नहीं बन सकता। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(१२। ५)

'भगवान्के अव्यक्त रूपमें आसक्त चित्तवाले पुरुषोंको धारणामें अत्यधिक कष्ट होता है, क्योंकि परिमित शक्तियुक्त शरीरधारी लोगोंके लिये अव्यक्त तत्त्वका मार्ग दुःसाध्य है।'

इसलिये ध्येयतत्त्वके रूपमें भगवान्का व्यक्त रूप विशेष सुगम है। नारायणका व्यक्त रूप तीन प्रकारका माना गया है—पररूप, अर्चारूप एवं अवतार-रूप।

यद्यपि भगवान्का अपने दिव्य अक्षर धाममें विराजमान पररूप व्यक्त होनेसे ध्येय है, किंतु वह दिव्य मङ्गल-स्वरूप मायिक जगत्में रहनेवालोंके लिये तो अगोचरप्राय ही है। अतः हमारे ध्यान एवं धारणाके अवलम्बन तो भगवान्के अवतारस्वरूप एवं अर्चास्वरूप ही हो सकते हैं। इसीलिये भगवान् स्वामिनारायण कहते हैं—

कृष्णस्तदवताराश्च ध्येयाः तत्प्रतिमापि च।
न तु जीवा नृदेवाद्या भक्ता ब्रह्मविदोऽपि च॥

(शिक्षापत्री श्लोक० ११५)

भगवान् श्रीकृष्ण एवं उनके अवतार ध्यान करने योग्य हैं। उनकी प्रतिमा भी ध्यान करने योग्य है। अतः उनका ध्यान करें।

धारणाका श्रेष्ठ साधन मानसी पूजा—भगवान् स्वामिनारायणने धारणाकी सिद्धिके लिये मानसी पूजाकी शिक्षा दी है; मानसी पूजा ध्यानका प्रारम्भिक रूप है। मनको वश करनेमें मानसी पूजा बड़ी उपयोगी सिद्ध होती है। मानसी पूजाका अर्थ है मानस उपचारोंसे भगवान्का पूजन। मन बड़ा चञ्चल है, वह किसीकी पकड़में नहीं आता।

मन संकल्प-विकल्प-रूप होनेसे मनकी विचार-शृङ्खलाको आप बिलकुल बंद नहीं कर सकते, लेकिन उस विचारधाराकी दिशाको बदल अवश्य सकते हैं। भगवान् स्वामिनारायणने मनको मारनेकी नहीं, किंतु मनको मोड़नेकी शिक्षा दी है। जैसे-जैसे मन परमात्माके परमानन्दका अनुभव करने लगता है, वैसे-वैसे उसका विषयोंके प्रति जो राग है, वह समाप्त होने लगता है। तब उसकी वृत्ति भगवद्विषयक हो जाती है और इस तरह उसका सच्चा कल्याण हो जाता है।

मानसी पूजा दिनमें पाँच बार होती है—प्रातः, मध्याह्न, अपराह्न, सायंकाल एवं रात्रि। प्रातःकालीन मानसी पूजामें भगवान्को जगाया जाता है एवं श्रेष्ठ प्रसाधनोंसे स्नान, शृङ्गार नीराजनादि होता है। मध्याह्नकालीन पूजामें मानस-सामग्रीसे भगवान्को भोग लगाया जाता है। अपराह्नमें भगवान्की स्नान-लीला एवं वनविहारादि लीलाओंका चिन्तन होता है और भगवान्को फल एवं फूल अर्पित किये जाते हैं। सायंकालमें भगवान्को सायंकालीन भोग अर्पित किये जाते हैं। सायं-नीराजन होता है। श्रेष्ठतम नृत्य, गीत, कीर्तन आदिका निवेदन किया जाता है। रातकी मानसी पूजामें भगवान्को शयन करवाया जाता है।

नियमितरूपसे मानसी पूजा करनेसे भगवत्स्वरूपमें मनकी धारणा सिद्ध होने लगती है और यही धारणा ध्यानमें परिणत हो जाती है।

ध्यान—ध्यानका अर्थ है भगवत्स्वरूपका तैलधारावत् अखण्डचिन्तन। स्वामिनारायण-सम्प्रदायमें ध्यानके चार भेद माने गये हैं। सलील ध्यान, सपार्षद ध्यान, साङ्ग ध्यान और उपाङ्ग ध्यान।

सलील ध्यानमें भगवान् एवं उनके अवतारोंकी दिव्य मानुषी लीलाओंका चिन्तन होता है। सपार्षद ध्यानमें दिव्य पार्षद एवं सेवकोंके साथ भगवान्का ध्यान किया जाता है। उपाङ्ग ध्यानमें वस्त्र-आभूषणोंके साथ भगवान्के दिव्य-मङ्गल श्रीविग्रहका ध्यान किया जाता है। साङ्ग ध्यानमें भगवान्के श्रीविग्रहमें विद्यमान श्रीवत्सादि दिव्य चिह्नोंका ध्यान होता है।

समाधि—उत्कृष्ट अनुरागवान् चित्त ध्यान करते-करते भगवत्स्वरूपमें पूर्णरूपेण लीन हो जाता है। लीनताकी यह एक ऐसी अवस्था है, जहाँपर न ध्यान करनेवाला बचता है न ध्यानका साधन मन। ये दोनों भगवत्स्वरूपमें इतने डूब जाते हैं कि उनका अलग अस्तित्व दिखायी ही नहीं देता। यही समाधिकी श्रेष्ठ दशा है। इसीको प्रेमाद्वैत भी कहा जाता है। व्रजकी गोपियाँ, शुकदेवजी महाराज, मीराबाई, सूरदास, नरसी मेहता आदिको ऐसी समाधि सहज सिद्ध थी। ध्यानमें भगवान्के प्रति पूर्ण अनुराग एवं अहोभाव होना चाहिये। इन दोनोंके प्रभावसे चित्तका लय सहजतासे होता है। अनुराग एवं अहोभाव—इन दोनोंका उदय भगवान्के माहात्म्य-ज्ञानसे होता है। माहात्म्यज्ञानका उदय भगवान्के परम ऐकान्तिक संतोंके समागमसे होता है और बिना सत्संगके ध्यान एवं समाधि भी सिद्ध नहीं होते हैं।

बौद्धधर्ममें योगकी महत्ता

(प्रो॰ श्रीलालमोहरजी उपाध्याय, एम॰ ए॰)

भगवान् बुद्धने साधनाके जो आठ मार्ग बताये हैं, उनमें एक मार्ग 'सम्यक्-समाधि' भी है। यौगिक क्रियाओंके आदर्श भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न हैं। उपनिषदोंमें इसे ब्रह्मके साथ योग अथवा ब्रह्मके साथ साक्षात्कारके रूपमें प्रतिपादित किया गया है। महर्षि पतञ्जलिके योगदर्शनमें योग सत्यका अन्तर्निरीक्षण है। बौद्धधर्म बोधिसत्त्वकी प्राप्ति अथवा जगत्की निःसारताका द्योतक है।

पतञ्जलिने चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहा है। यहाँ

योगका अर्थ 'समाधि' ही होता है। चित्तवृत्तिके निरोधद्वारा योग सम्पन्न होता है। चित्तवृत्तिके निरोधके सम्पन्न हो जानेपर व्यक्ति मुक्त हो जाता है। यही कैवल्यकी अवस्था है। पतञ्जलिकी ही तरह भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें चित्तवृत्ति या मनकी स्थिरताके लिये अभ्यास और वैराग्यको आवश्यक बताया है।

बुद्ध एक यथार्थ सत्ताके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार उच्चतम श्रेणीके चिन्तनका नाम 'ध्यान' है। बौद्धधर्ममें प्रार्थना-उपासनाका स्थान इसी ध्यानने ले लिया है। 'ध्यान'की चार सीढ़ियाँ हैं—पहली सीढ़ी प्रसन्नता एवं आह्लाद है, जिसकी प्राप्ति एकान्त-सेवासे होती है। इस एकान्तताके साथ-साथ अन्तर्दृष्टि, चिन्तन, गूढ़ विचार एवं जिज्ञासाका विकास होता है एवं साधकको इन्द्रिययोगके बन्धन आदिसे मुक्ति मिलती है। दूसरी सीढ़ी उल्लास एवं चाञ्चल्यराहित्यकी है। तीसरी सीढ़ी वासनाओं एवं पक्षपातोंका अभाव है, जहाँ आत्ममोह सर्वथा समाप्त हो जाता है। चौथी सीढ़ी आत्मसंयम एवं पूर्ण शान्त मुद्राकी है, जिसमें न कोई चिन्ता है और न आह्लाद, क्योंकि जो आह्लाद एवं चिन्ताको उत्पन्न करते हैं, उन्हें एक ओर छोड़ दिया जाता है अर्थात् आह्लाद एवं विषाद—इन दोनोंकी मध्यवर्ती सम-अवस्थामें रहनेका प्रयत्न किया जाता है। यही योगरूप है।

बौद्धदर्शनके अनुसार ध्यानमें मनको सभी विद्यमान वस्तुओंके साथ समतामें लानेका एक सतत प्रयास करना है। बौद्ध-संघके सदस्योंके दैनिक जीवनका मुख्य भाग ध्यानका अभ्यास करना है। शरीरको वशमें करना, ज्ञान-प्राप्तिकी पूर्व भूमिका है। बौद्धधर्मके ध्यान एवं योग-सम्बन्धी दोनों ही सिद्धान्त इस बातपर बल देते हैं कि मानसिक प्रशिक्षणके लिये शारीरिक एवं स्वास्थ्य-सम्बन्धी अवस्थाओंका अनुकूल होना आवश्यक है।

बुद्ध 'प्रज्ञा' को सर्वोत्तम स्थान प्रदान करते हैं। उनका कहना है कि 'प्रज्ञा' बिना प्रेम और परोपकार-भावके सम्भव नहीं है और यदि ऐसा हो भी तो वह प्रज्ञा-स्थिति नहीं होती। जीवनमें सदाचारका अत्यन्त महत्त्व है। यदि जीवनमें सदाचारका अभाव है तो ध्यानकी कोई सार्थकता नहीं। बौद्धधर्मके अनुसार मानसिक अवस्थाओंका नियन्त्रण होनेपर जब इन्द्रियोंके अनुभव समाप्त होकर उसके परे हो जाते हैं तो 'प्रज्ञा' (प्रज्ञा-पारमिता) प्रकट हो जाती है।

गौतम बुद्धकी 'सम्यक्-समाधि' जीवनके दुःखमय संसारको समाप्त करनेका सबसे कठिन मार्ग है। भोगविलास तथा भौतिकतासे ग्रस्त होनेके कारण व्यक्तिका जीवन दुःखमय है, क्योंकि भौतिक वस्तुओंका कोई अन्त नहीं है। वस्तुओंका आकर्षण प्रायः समाप्त नहीं होता। व्यक्ति जितना ही पाता है उतना ही पानेका प्रयास करता है। जब उसमें असफलता मिलती है तो वह दुःखी होता है। ध्यान और योग तभी जीवनके लिये उपयोगी हैं जब भोग-विलाससे अपनेको दूर रखा जाय। इस प्रकार बौद्धदर्शनका यह योग गीताके निष्काम-कर्मको ही प्रतिपादित करता है।

बौद्धधर्म मूलतः प्रेमका धर्म है। मानवीय सहृदयतामें विश्वासका धर्म है। इन तत्त्वोंका विकास तभी होगा, जब जीवनकी मूल चेतनाका स्तर शुद्ध चेतनाकी स्थिति प्राप्त कर सकेगा। शुद्ध चेतना इन्द्रियोंके निग्रह और संयमसे होती है। संयम ध्यानसे तथा ध्यानकी स्थिति और ध्यानमें उस प्रज्ञाकी अनुभूतिका साक्षात्कार होता है जो प्रेम और परमार्थके उदात्त तत्त्वोंको जाग्रत् करता है। तत्त्वावबोध या अखण्ड समाधिमें महात्मा बुद्धको जो कुछ भी अनुभव हुआ वह तुरीयावस्था है। तुरीयावस्थाको ही बौद्धदर्शनमें विशुद्ध प्रज्ञाकी स्थिति माना गया है।

आजकी प्रासङ्गिकतामें जब बौद्धधर्मके ध्यानकी प्रासङ्गिकतापर विचार करते हैं तो इस प्रज्ञा-स्थितिका विशुद्ध लाभ होनेकी पूरी सम्भावना सुस्पष्ट दीखती है। बौद्धाचार्य नागार्जुन जिस स्थिति और सुखको अनिर्वचनीयकी संज्ञा देते हैं, वह भी एक प्रकारसे तुरीयावस्था—ध्यानकी ही स्थिति है।

ध्यानका प्रयोग बौद्धधर्ममें संसारसे विरक्तिके लिये किया गया है, किंतु ध्यानके द्वारा प्राप्त शुद्ध चेतनासे जीवनको समरस रूपमें जीनेकी शक्ति भी आती है। तुरीयावस्था-ध्यानमें जीवन-पलायन नहीं है, वरन् जीवनको सार्थक रूपमें जीनेकी प्रज्ञा है।

इस प्रकार अधिकांश बातोंमें जैन-बौद्ध और पतञ्जलि, मार्कण्डेय आदिके योग भी निर्बीज समाधितक पहुँचते हैं और एक ही ढंगकी साधना और सिद्धावस्था तथा शान्ति, प्रेमके

रूपमें परिणत होते दीखते हैं। कपिल, आसुरि, स्यूमरश्मि, गौतम आदिके भाव भी अहिंसासे आरम्भ होकर समाधितक एक ही रूपमें पहुँचते हैं। इस योगमें सूफी, ईसाई और यहूदी तथा पारसियों आदिका कोई मतभेद नहीं दिखायी देता। सभी धर्मोंमें समस्त प्राणियोंके प्रति प्रेमभावना, धारणा, ध्यान और लययोगके द्वारा समाधिमें पहुँचनेकी एक ही प्रक्रिया दीखती है। वास्तवमें योग एक ऐसा धर्म है जिसमें कोई विवादका अवसर नहीं दिखायी पड़ता। इसलिये यह संसारके सभी धर्मोंमें व्याप्त है। बौद्धधर्मकी सभी शाखाओंमें प्रायः योग ही प्राधान्येन अनुप्राणित है।

जैनधर्ममें योगविद्या

(मुनि श्रीहिमांशुविजयजी न्यायसाहित्यतीर्थ)

भारतीय दर्शन-परम्परामें वैदिक, बौद्ध और जैन—ये तीन मुख्य दर्शन हैं। ये तीनों दर्शन आत्मा, पुण्य-पाप, परलोक और मोक्ष—इन तत्त्वोंको मानते हैं, इसीलिये ये आस्तिक दर्शन हैं। इस लेखमें जैनदृष्टिसे योगके विषयमें कुछ विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

'योग' शब्द 'युज' धातुसे बना है। संस्कृतमें 'युज' धातु तीन हैं। एकका अर्थ है जोड़ना और दूसरेका है 'समाधि' तथा तीसरेका 'संयमन।' इनमेंसे 'जोड़नेके अर्थवाले' युज धातुको जैनाचार्योंने प्रस्तुत योगार्थमें स्वीकार किया है।

मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुध्यते।

(श्रीयशोविजयकृता द्वात्रिंशिका १०। १)

मुक्खेण जोयणाओ जोगो।

(श्रीहरिभद्रसूरिकृता योगविंशका १)

तात्पर्य यह कि जिन-जिन साधनोंसे आत्माकी शुद्धि और मोक्षका योग होता है, उन सब साधनोंको योग कह सकते हैं।

पातञ्जल योगदर्शनमें योगका लक्षण **'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः'** कहा गया है। इसी लक्षणको श्रीयशोविजयजीने इस प्रकार और भी विशद किया है—

'समितिगुप्तिधारणं धर्मव्यापारत्वमेव योगत्वम्।'

(पातञ्जलयोगदर्शनवृत्ति)

यतः समितिगुप्तीनां प्रपञ्चो योग उत्तमः।

(योगभेदद्वात्रिंशिका ३०)

अर्थात् मन, वचन, शरीरादिको संयत करनेवाला धर्मव्यापार ही योग है, क्योंकि यही आत्माको उसके साध्य-मोक्षके साथ जोड़ता है।

योगका शुद्ध अङ्ग

सामान्यतः सभी धार्मिक अनुष्ठान योगके अङ्ग हैं तथापि विशेषरूपसे तो मोक्षप्राप्तिके समीपतमवर्ति पूर्वकालका ध्यान ही अव्यवहित उत्कृष्ट योग है। आचार्य भगवान् श्रीहरिभद्र सूरिने 'योगदृष्टिसमुच्चय'में कहा है—

अतस्तु योगो योगानां योगः पर उदाहृतः।
मोक्षयोजनभावेन सर्वसंन्यासलक्षणः॥

केवल उन ज्ञानी योगियोंको जिन्हें जीवन्मुक्त कहते हैं, मोक्षस्थिति प्राप्त करनेके पूर्व मन, वाणी और शरीरकी समस्त क्रियाओंका निरोध[१] (संक्षय) करना पड़ता है, सभी बाह्य पदार्थोंका त्याग अर्थात् सर्वसंन्यास करना पड़ता है। मोक्ष प्राप्त करनेमें जब अ इ उ ऋ ऌ पञ्चह्रस्वाक्षर उच्चार-प्रमित-काल शेष रहता है उस समयका जो शुक्ल ध्यान[२] है वही सच्चा मोक्षसाधन अर्थात् योग है[३]। इस अवस्थामें स्थित योगी ही सच्चा शुद्ध योगी है। उसके संकल्प-विकल्प विलीन हो जाते हैं। उसके विचारोंका रज, तम या सत्त्वगुणसे भी स्पर्श नहीं होता। अति अल्प समयमें ही शुक्ल ध्यानके द्वारा वह मुक्त हो जाता है। मुक्तको ही सिद्ध कहते हैं। यहाँ सम्पूर्ण कृतकृत्यता हो जाती है।

१-तत्रानिवृत्तिशब्दान्तं समुच्छिन्नक्रियात्मकम्। चतुर्थं भवति ध्यानमयोगिपरमेष्ठिनः॥
समुच्छिन्ना क्रिया यत्र सूक्ष्मयोगात्मिकापि च। समुच्छिन्नक्रियं प्रोक्तं तद्द्वारं मुक्तिवेश्मनः॥ (गुणस्थान क्रमारोह)

२-अथायोगिगुणस्थाने तिष्ठतोऽस्य जिनेशितुः। लघुपञ्चाक्षरोच्चारप्रमितैव स्थितिर्भवेत्॥

३-मन, वाणी और शरीरकी वृत्तियोंको भी जैनपरिभाषामें 'योग' कहते हैं—'कायवाङ्मनःकर्मयोगः' (तत्त्वार्थसूत्र ६। १)। इसी अर्थसे परकोटिको प्राप्त शुद्ध योगीको 'अयोगी' कहा है। 'अयोगी योगानां योगः पर उदाहृतः' यह भी इसी दृष्टिसे कहा गया है।

योगकी विशेष व्याख्या

जैन आगमोंमें योगका अर्थ मुख्यतया 'ध्यान' लिखा है। ध्यान मूलतः चार प्रकारका है— (१) आर्त, (२) रौद्र, (३) धर्म और (४) शुक्ल। इनमें आदिके दो ध्यान तम और रजोगुणविशिष्ट होनेके कारण योगमें अनुपयुक्त और प्रत्यूहकारी हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान योगोपयोगी हैं। इनमें भी शुक्लध्यान अत्यन्त परिशुद्ध और अव्यवहित मोक्षसाधन है। इसके द्वारा दुःखरूप काष्ठके सहस्रों अरण्य क्षणमात्रमें सर्वथा भस्म हो जाते हैं। इस विषयमें समाधिशतक, ध्यानशतक, ध्यानविचार, ध्यानदीपिका, आवश्यक निर्युक्ति, अध्यात्मकल्पद्रुमटीका प्रभृति अनेक ग्रन्थ हैं।

त्रिविध योग

किसी भी वस्तुकी प्राप्तिके लिये उसपर अटल श्रद्धा होनी चाहिये। योगके लिये जो कुछ आवश्यक है उसपर तथा जो पूर्णयोगी हैं उनपर परीक्षापूर्वक श्रद्धा रखना योगका आवश्यक अङ्ग है। इसको जैनदर्शनमें 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं— **'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।'** (तत्त्वार्थसूत्र १।२)। केवल विश्वास रखकर बैठे रहनेसे कुछ नहीं होता। विश्वासके साथ सम्प्रदायका रहस्यज्ञान भी परिपूर्ण रीतिसे होना चाहिये, इसको 'सम्यक्श्रुत' होना कहते हैं। विश्वास और ज्ञान तो है, पर यदि चरित्रशुद्धि नहीं है—राग, द्वेष-मोहादिसे आत्मा व्याप्त है तो करोड़ों वर्षोंमें भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये 'सम्यक्-चरित्र' होना चाहिये। यह ज्ञानदर्शन चरित्रात्मक 'त्रिविध योग' है। इसके पालनसे योग परिपुष्ट होता है और आत्माका आध्यात्मिक उत्कर्ष होता जाता है। योगकी पूर्णता ही मोक्षप्राप्ति कराती है। वैदिक दर्शनोंमें जैसे ब्रह्मसूत्र, गौतमसूत्र, कणादसूत्र आदि मौलिक ग्रन्थ हैं, वैसे ही जैनदर्शनमें उमास्वातिकृत 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' है, उसका प्रथम सूत्र इसी त्रिविध योगके विषयमें है—**'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।'** इसी सूत्रपर आगे सम्पूर्ण ग्रन्थ है, जिसे 'मोक्षशास्त्र' भी कहते हैं।

चौदह गुणस्थान

जब आत्मा विकासकी दिशामें प्रयाण करता है, तबसे मोक्ष प्राप्त होनेकी अवस्थातककी योग्यताके चौदह गुण जैन-आगमोंमें बताये हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) सास्वादन, (३) मिश्र, (४) सम्यग्दर्शन, (५) देशविरति, (६) प्रमत्त-श्रमणत्व, (७) अप्रमत्तश्रमणत्व, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्ति, (१०) सूक्ष्म लोभ, (११) उपशान्तमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगी केवली और (१४) अयोगी केवली। पातञ्जलयोगकी आठ भूमिकाओंमें प्रथम भूमिका यम है। इस 'यम' से भी पूर्व सूक्ष्मरीत्या योगकी जो भूमिकाएँ होती हैं वे भी इन चौदह गुणस्थानोंमेंसे पूर्वके चार गुणस्थानोंमें परिगणित हुई हैं। 'गुणस्थानक्रमारोह' तथा 'कर्मग्रन्थ', 'कर्मप्रकृति' और 'गोमटसार' आदि ग्रन्थोंमें इस विषयका सूक्ष्म विवेचन है।

अष्ट दृष्टि

आचार्य हरिभद्र सूरिने योगकी आठ दृष्टियाँ बतायी हैं—

मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा।
नामानि योगदृष्टीनां .... ॥

पातञ्जलयोगके जो आठ अङ्ग हैं, उनसे इन दृष्टियोंका सादृश्य है।

पञ्चविध योग

अर्वाचीन जैनन्याय-योग-साहित्यके अग्रणी उपाध्याय श्रीयशोविजयजीने पाँच प्रकारका एक अवान्तर योग भी बताया है—

अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
योगः पञ्चविधः प्रोक्तः योगमार्गविशारदैः॥

(योगभेदद्वात्रिंशिका)

योगभेदद्वात्रिंशिकाके अतिरिक्त 'जैन दृष्टियोग' नामक गुजराती ग्रन्थमें भी इन पाँचों भेदोंका विशद विवेचन है।

त्रिविध योग

एक त्रिविध योग और है जो श्रीहरिभद्रयशोविजय आदिके ग्रन्थोंमें मिलता है—

इच्छां शास्त्रं च सामर्थ्यमाश्रित्य त्रिविधोऽप्ययम्।
गीयते योगशास्त्रज्ञैर्निर्व्याजं यो विधीयते॥

अष्टविध योग

महर्षि पतञ्जलि योगविद्याके महाप्राज्ञ आचार्य हुए। उन्होंने योगदर्शनमें योगके जो अङ्ग, लक्षण, परिभाषा तथा

प्रकारादि कहे हैं, उन्हें अनेक धर्मोंके विद्वानोंने माना और अपनाया है। पीछेके योगसाहित्यपर उन्हींके सूत्रोंकी गहरी छाप लगी हुई है। जैनाचार्योंने भी अपनी संस्कृतिके अनुकूल योगसूत्रोक्त नाम, भेद, स्वरूप आदि ग्रहण किये हैं। आचार्य श्रीहेमचन्द्र सूरिकृत योगशास्त्रमें पातञ्जलयोग-दर्शनके यम-नियमादि अङ्गोंको ही क्रमसे गृहस्थधर्म, साधु-धर्म आदि कहा है। श्रीयशोविजयजीने भी आठ अङ्गोंका उल्लेख किया है। जैनयोगी श्रीआनन्दघनने भी अपने पदोंमें आठों अङ्गोंका वर्णन किया है।

प्राणायाम

पतञ्जलि प्रभृति योगाचार्योंने प्राणायामको योगका चौथा आवश्यक अङ्ग माना है। परंतु जैनाचार्योंने इसे आवश्यक नहीं माना है। श्रीहेमचन्द्र प्रभृति विद्वानोंने तो इसका निषेध भी किया है—

तन्नाप्नोति मनः स्वास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितम्।
प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्याच्चित्तविप्लवः॥

(हैमयोगशास्त्र)

प्राणायाम हठयोग है और हठयोगको जैनाचार्योंने योगमार्गमें अनावश्यक माना है। हरिभद्र सूरिने कहा है कि ध्यानमें बलात्कारसे श्वासोच्छ्वासका निरोध नहीं करना चाहिये। पातञ्जलयोगसूत्रकी वृत्तिमें **'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'** (योगसूत्र १। ३४)—इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए श्रीयशोविजयजी लिखते हैं—

अनैकान्तिकमेतत्। प्रसह्य ताभ्यां मनोव्याकुलीभावात्। ऊसासं ण णिरुं भइ।' (आवश्यकनिर्युक्ति)

तथा—

इत्यादिपारमर्षेण तन्निषेधाच्च।

तात्पर्य यह है कि किसी साधकको इससे लाभ हो तो वह प्राणायाम करे, इसमें कोई निषेध नहीं है, परंतु सबके लिये प्राणायामको आवश्यक अङ्ग जैन आचार्य नहीं मानते।

त्रिविध आत्मा

यों तो चैतन्यादि गुणोपेतत्वेन आत्मा एक ही लक्षणका है, परंतु तद्गताभावोंके तारतम्यसे जैन विद्वानोंने तीन प्रकारका आत्मा माना है—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। तीनोंके लक्षण इस प्रकार हैं—

आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात्।
बहिरात्मा स विज्ञेयो मोहनिद्रास्तचेतनः॥
बहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः।
सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञैर्विभ्रमध्वान्तभास्करैः॥
निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः।
निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्णितः॥

शरीर-धनादि बाह्य पदार्थोंमें मूढ़ होकर उन्हींमें जो आत्मबुद्धि धारण करता है, वह रजस्तमोगुणी बहिरात्मा है।' आत्मामें ही जो आत्मभाव धारण करता और यम-नियमादिको समझता और करता है वह अन्तरात्मा है। मोहादि कर्ममलोंको सर्वथा धोकर जो मुक्तपदको प्राप्त होता है वह परमात्मा है। उसी परमात्मपदको प्राप्त करनेका साधन योग कहलाता है।

श्रीरामकृष्णकी साधना-पद्धति

(डॉ० श्रीसुरेशचन्द्रजी शर्मा)

योगीके नेत्र—एक दिन श्रीरामकृष्ण परमहंसजीने अपने भक्त महेन्द्रनाथ गुप्तसे कहा—'क्या तुम ऐसा चित्र ला सकते हो जिसमें अपने अंडोंको सेते हुए पक्षीकी आँखें दिखायी देती हों।' श्रीमहेन्द्रनाथने कहा—'यदि कहीं मिला तो लानेकी कोशिश करूँगा।' पुनः उन्होंने कहा—'योगीकी आँखें कैसी होती हैं, जानते हो? नहीं, तो आज जान लो कि योगीके नेत्र वैसे ही होते हैं, जैसे अंडा सेते हुए पक्षीके। अंडा सेते समय पक्षीका पूरा मन अंडोंकी तरफ ही हो जाता है। यही बात एक सच्चे योग-साधकके सम्बन्धमें भी है।' श्रीरामकृष्ण सभी साधकोंको ऐसा ही अन्तर्मुखी जीवन बनानेका उपदेश देते थे।

व्याकुलता—श्रीरामकृष्णदेव कहते थे कि साधनामें सबसे पहली बात है—'ईश्वर-प्राप्तिके लिये सच्ची व्याकुलता।' यदि हमारे भीतर व्याकुलता है तो समझो कि

हमें योगकी कुंजी प्राप्त हो गयी। योग-साधनामें व्याकुलताकी ऐसी बात है जो हमें चैनसे बैठने नहीं देती । जितने भी साधन हैं, वे हमारे द्वारा स्वतः ही होते जाते हैं। और यदि साधनमें सिद्धि नहीं मिलती तो उससे 'ईश्वर-निर्भरता' हमारे जीवनमें आ जाती है। और यदि यह व्याकुलता नहीं है तो फिर हम चाहे जो भी साधन करें, उसमें सहजता नहीं रहती। थोड़े ही समयमें हम उन साधनाओंसे ऊब जाते हैं, हमारे जीवनमें भटकाव आ सकता है तथा हम अपने पथ और लक्ष्यको छोड़ भी सकते हैं।

व्याकुलता बिना ईश्वरके दर्शन नहीं होते। भक्तोंसे वे बार-बार कहते थे कि काम और काञ्चन ही संसार है। ईश्वर-दर्शनमें ये दो बाधाएँ हैं। जीव मानो एक लोहेका टुकड़ा है और ईश्वर एक चुम्बक है। जीवमें लोहेके समान ही चुम्बक ईश्वरके प्रति सहज आकर्षण है, परंतु सांसारिक आसक्तियोंके सुख-भोगने उसे दबा रखा है। अतः इसे छोड़ना होगा।

नित्यानित्य-विवेक—आसक्तिरूप बाधाको दूर करनेके लिये श्रीरामकृष्ण साधकोंको नित्य-अनित्यका विचार करते रहनेका परामर्श देते थे। ईश्वर ही एकमात्र नित्य है और सब कुछ अनित्य। मानव-जीवनका लक्ष्य संसार-सुख कदापि नहीं हो सकता। जगत्में कुछ भी स्थायी नहीं है, सब कुछ परिवर्तनशील है। ईश्वर-दर्शन ही जीवनका एकमात्र लक्ष्य है। ऐसा करनेसे मनुष्यका विवेक जाग्रत् हो जाता है और उसमें ईश्वर-दर्शनकी तीव्र इच्छा उत्पन्न हो जाती है। गृहस्थ साधकोंको वे सर्वस्व-त्यागकी बात न कहकर विवेकपूर्ण एवं मर्यादित जीवन जीते हुए साधना करनेका उपदेश देते थे।

साधु-संग—साधकोंको वे साधु-संग करनेके लिये बहुत प्रेरित करते थे। वे कहते थे—'देखो रे! काम-काञ्चनका रोग लगा ही है, इसलिये साधु-संग करना चाहिये।' साधु भक्तोंको देखकर ईश्वरकी याद आती है और संसारकी विस्मृति होने लगती है। जिन्होंने सांसारिक आसक्तिका त्याग किया है तथा जो ईश्वर-प्राप्तिके लिये व्याकुल हैं, वे ही साधु हैं।

निर्जनवास और प्रार्थना—इसके साथ ही वे भक्तोंको निर्जनवास करने और व्याकुल होकर प्रार्थना करनेका साधन बतलाते थे। उनका कहना था कि संसारी लोगोंके साथ अधिक रहोगे तो फँसते ही जाओगे, निकलना मुश्किल हो जायगा। इसलिये बीच-बीचमें निर्जनवास करना चाहिये और उनको पुकारना चाहिये। संसाररूपी समुद्रमें काम-क्रोधरूपी बहुतसे घड़ियाल हैं। इसलिये पहले शरीरमें विवेक-वैराग्यकी हल्दी लगा लो और फिर संसारमें रहो। हल्दीकी गंधसे वे तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेंगे। एकान्तमें रहकर कुछ विवेक प्राप्त कर लो, वैराग्य लाओ। संसार एक कटहलके समान है। काटोगे तो उसका दूध हाथोंमें लग जायगा। इसलिये पहले अनासक्तिका तेल मलो और फिर संसाररूपी कटहलको काटो। प्रेमपूर्वक विश्वाससे ईश्वरकी प्रार्थना करो। वे तुम्हारी करुण प्रार्थनाको अवश्य सुनेंगे। मनमें ही सारा बन्धन है। इस मनको भटकने न दो। उसे साधनापूर्वक ईश्वरकी ओर लगाये रखो।

नाम-जप और ईश्वर-गुणगान—वे कहते थे कि संसार अथवा निर्जनमें ईश्वरका नाम लेने, उनका ध्यान करने तथा उनके लीला-चरित्रोंका गुणगान करनेसे आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है। उनका कहना था कि साधक स्वयंको कभी दुर्बल न समझे। साधकको स्वयंमें तथा अपने ईश्वर (इष्ट) में दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। उनकी कृपापर निर्भर रहनेसे साधकमें बल आ जाता है। वे कहते थे कि लंका पार करनेके लिये स्वयं रामको सेतुका निर्माण करना पड़ा था, परंतु उनके भक्त हनुमान् 'जय श्रीराम' कहकर सागरको लाँघ गये। समुद्रमें जब मछुए मछली पकड़ने जाते हैं तो साथमें एक दिशा-बोध करानेवाला 'कम्पास' ले जाते हैं। 'कम्पास' की सुई उनको उत्तर-दक्षिण बतलाती रहती है। ठीक उसी प्रकार इस संसार-समुद्रमें नाम-जप, ध्यान, प्रार्थना साधकके लिये दिशाबोधक कम्पासका काम करेंगे और उस दिशामें यदि प्रयत्नपूर्वक आगे बढ़ते रहें तो शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति हो जायगी।

सांसारिक कर्तव्य और साधना—साधकको जगत्के कर्तव्योंका पालन करना चाहिये, परंतु अपना ममत्व केवल ईश्वरमें ही रखना चाहिये। वे कहते थे कि भगवान्से अपना सम्बन्ध जोड़ लो और उनपर निर्भरता लाओ तथा सभी काम उन्हींके मानकर साधना करते रहो। तुम्हारे कल्याणके सभी सुयोग वे स्वयं जुटा देंगे।

तीर्थ-भ्रमण—परमहंसदेव कहते थे कि तीर्थस्थलों और मन्दिरोंको देखकर, अवतारोंके चित्र देखकर, गङ्गाके दर्शनकर, कथा सुनकर, भक्ति-संगीत सुनकर साधकके मनमें एक सात्त्विक उद्दीपना उद्दीप्त होती है और साधकका जीवन सबल, सरस बना रहता है तथा साधनामें ऊब नहीं आती। इसी प्रकार निरन्तर प्रयत्नपूर्वक आसक्तिरहित साधनाका अभ्यास करते-करते अन्तमें साधकको स्वरूपावस्थितितककी प्राप्ति हो जाती है और फिर कुछ प्राप्त-प्राप्तव्य, ज्ञात-ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता।

सूफी-सम्प्रदायमें हठयोग

(डॉ॰ श्रीरामस्वरूपजी आर्य, एम्॰ए॰, पी-एच्॰डी॰)

सूफी-सम्प्रदायमें हठयोगका विशेष महत्त्व है। राजयोग अर्थात् ईश्वर-प्राप्तितक पहुँचनेमें इसे परम सहायक माना गया है। 'सिद्धसिद्धान्त-पद्धति' में 'ह' का अर्थ सूर्य तथा 'ठ' का अर्थ चन्द्र बतलाया गया है। इस प्रकार सूर्य और चन्द्रके योगको हठयोग कहते हैं।

हकारः कथितः सूर्यः ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते॥

—इस श्लोकके सूर्य तथा चन्द्र शब्दोंकी व्याख्या विभिन्न प्रकारसे की गयी है। एक व्याख्याके अनुसार सूर्यसे तात्पर्य प्राणवायु तथा चन्द्रका अपान वायुसे है। अतः प्राणायामद्वारा उक्त दोनों प्रकारकी वायुका निरोध हठयोग है। दूसरे मतके अनुसार सूर्य इडा तथा चन्द्र पिङ्गला नाडियोंका प्रतीक है। इसपर नियन्त्रण करके सुषुम्ना-मार्गसे प्राणवायुको संचरित करना हठयोग कहलाता है। सूर्य और चन्द्रमाको नामान्तरसे गङ्गा-यमुना भी कहा गया है, जो क्रमशः इडा और पिङ्गलाके प्रतीक हैं।

सूफी-सम्प्रदायके सुमेरु-मणि मलिक मुहम्मद जायसी-द्वारा रचित 'पद्मावत' यद्यपि एक प्रेम-काव्य है तथापि उसमें हठयोगका सम्यक् प्रतिपादन हुआ है। नागमती-पद्मावती-विवादके प्रसङ्गमें राजा रत्नसेन उन्हें समझाता है—

तुम्ह गंगा जमुना दुइ नारी लिखा मुहम्मद जोग।
सेव करहु मिलि दूनहुँ औ मानहु सुख भोग॥

(पद्मावत, दोहा ४५)

सूफी कवि उसमानके अनुसार जबतक उस परम तत्त्वका ध्यान नहीं किया जाता, तबतक उसके दर्शन नहीं हो सकते। उस परम रूपका प्रतिबिम्ब हृदयमें ही है। उसके बिना तो संसारमें जीवन ही नहीं है। गुरुके वचनोंको अञ्जनके रूपमें आँखोंमें आँज लो, हृदयरूपी दर्पणको माँज लो, सांसारिक माया-जालको भस्म कर दो, तभी उस परम तत्त्वके प्रतिबिम्बके दर्शन हो सकेंगे—

जौलौं ध्यान धरै नहिं कोई। तौलौं दरस न प्रापत होई॥
घटमें परम रूप परछाहीं। जा बिनु जग महँ जीवन नाहीं॥
गुरू वचन चषु अंजन देहु। हिया मुकुर मज्जन करि लेहु॥
माया जारि भसम कै डारौ। परम रूप प्रतिबिंब निहारौ॥

(चित्रावली, पृष्ठ ९१)

संत नूर मुहम्मद उस परम ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये अहं-भावके त्यागको आवश्यक मानते हैं। वे कहते हैं कि योगसाधक निजको भुलाकर ध्यानमग्न हो तपस्या करे, अभिमान त्यागकर हृदयसे समर्पण करे तथा एकाकी रहकर स्नेह-गुरुका शिष्यत्व ग्रहण कर अपने अन्तःकरणको निर्मल करे, तभी सोलह कलाओंवाले सूर्यका उदय होगा—

जब लगि है आपा महँ कोई। तब लगि ताको दरस न होई॥
ध्यान लगावै करै तपस्या। तजै दर्प, चित देइ नमस्या॥
ध्यान दिये नित्त रहै अकेला। होइ सनेह गुरूपका चेला॥
अन्तःकरन करै निरमला। उवै तबै रवि सोरह कला॥

(अनुराग बाँसुरी, पृ॰ १४)

मलिक मुहम्मद जायसीने भी परम प्रभुसे एकत्व-प्राप्ति-हेतु द्वैत-भाव त्यागनेकी बात कही है—

एकहिं तें दुइ होइ, दुइ सों राज न चलि सकै।
बीच तें आपुहि खोइ, मुहमद एकहि होइ रहु॥

(अखरावट, सोरठा १५)

पद्मावतमें नव इन्द्रिय-द्वारोंके साथ दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्रका भी विस्तृत वर्णन मिलता है। पद्मावतीके प्रेममें अनुरक्त योगी रतनसेनको साक्षात् भगवान् शिव इस प्रकार उपदेश देते हैं—

गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया। पुरुष देखु ओही कै छाया॥
पाइय नाहिं जूझ हठि कीन्हे। जेइ पावा तेइ आपुहि चीन्हे॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मझिआरा। औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा॥
दसवँ दुआर गुपुत एक ताका। अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँका॥
भेदै जाइ सोइ वहि घाटी। जो लहि भेद चढ़ै होइ चाँटी॥
गढ़ तर कुंड सुरंग तेहि माहाँ। तेहि मँह पंथ कहौं तोहि पाहाँ॥
चोर बैठ जस सेंध सँवारी। जुआ पैंत जस लाव जुआरी॥

जस मरजिया समुद धँस, हाथ आव तब सीप।
ढूँढ़ि लेइ सरग-दुबारी चढ़ै सो सिंहल दीप॥

(पद्मावत, दोहा २१५)

यहाँ सिंहलद्वीपकी तुलना शरीरसे की गयी है, जिसमें नव इन्द्रिय-द्वार हैं। दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र गुप्त है, जिसकी चढ़ाई अगम्य है। उसको वही भेद पाता है, जो उसका रहस्य प्राप्त करके उसपर पिपीलिका-गति (चींटीकी चाल) से चढ़ता है। गढ़के नीचे एक कुण्ड (कुण्डलिनीका स्थान) है। उसीसे गढ़के ऊपर जानेका मार्ग है। जैसे चोर सावधानीपूर्वक सेंध लगाता है, जुआरी दाँव लगाता है, गोताखोर सागरमें डुबकी लगाता है, उसी प्रकार साधकको भी ब्रह्मरन्ध्रतक पहुँचनेके लिये एकाग्रचित्त होना पड़ता है।

जायसीने सिंहलद्वीपके वर्णनमें सात खण्डोंकी चढ़ाईका वर्णन किया है। ये सात खण्ड शरीरस्थ सात चक्र हैं। उस 'सरग-पंथ' पर पैर बढ़ाकर जीते-जी कोई नहीं लौटा—

कहौं सो तोहि सिंहलगढ़, है खंड सात चढ़ाव।
फिरा न कोई जियत जिउ, सरग-पंथ देइ पाँव॥

(पद्मावत, दोहा २१४)

हठयोगके काय-साधनमें कठोर साधनाओंके क्रममें गगन-दृष्टि अथवा उलटी दृष्टिका भी उल्लेख किया गया है। जायसीने दशम द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) को ताड़के सदृश ऊँचा बताया है। वे कहते हैं कि जो दृष्टिको उलट कर देखता है, वही उसे सम्यक् रूपेण देख पाता है। वहाँ वही पहुँच पाता है, जो साँसको रोककर (प्राणायाम साधकर) जाता है—

दसवँ दुआर ताल कै लेखा। उलटि दिस्ट जो लाव सो देखा॥
जाइ सो तहाँ साँस मन बँधी। जस धँसि लीन्ह कान्ह कालिंदी॥

(पद्मावत, दोहा २१६। १-२)

ज्ञानका उदय होनेपर साधककी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है और वह आत्म-चिन्तनमें लीन हो जाता है।

छान्दोग्योपनिषद्के अनुसार—'**अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्य-दन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति।**' अर्थात् उस ब्रह्मकी इस नगरीमें एक सूक्ष्म कमलाकार-स्थान है, उसके भीतर जो छोटा-सा आकाश है, उसमें जो है, उसे उसका अन्वेषण करना चाहिये और उसीकी जिज्ञासा करनी चाहिये। जायसीका वर्णन भी प्रायः इससे मिलता-जुलता है। उनके विचारमें साढ़े तीन हाथका यह शरीर-रूपी सरोवर है। उसीमें हृदयरूपी कमल विद्यमान है। वह नेत्रोंके समीप है, किंतु हाथोंकी पहुँचसे दूर है—

अहुठ हाथ तन सरवर हिया कँवल तेहि माँह।
नैनन्हि जानहु निअरें कह पहुँचत अवगाह॥

(पद्मावत, दोहा १२१)

सूफी-साधनाके अनुसार लक्ष्यकी प्राप्तिके मार्गमें चार पड़ावोंका उल्लेख मिलता है। ये चार पड़ाव हैं—(१) नासूत, (२) मलकूत, (३) जबरूत और (४) लाहूत। जायसीने 'चारि बसेरे' द्वारा इनकी ओर संकेत किया है—

नवौं खंड नव पौरी औ तहँ वज्र केवार।
चारि बसेरे सों चढ़ै सत सों उतरै पार॥

(पद्मावत, दोहा ४१)

वे इन्हें ही '***करम धरम सत नेम***' से भी स्पष्ट करते हैं—

दस महँ एक जाइ कोइ, करम धरम सत नेम।

(पद्मावत, दोहा १४८)

सूफी-साधनाका चरम लक्ष्य है मोक्षकी प्राप्ति। जहाँ सदैव सुखका वास है, जहाँ मृत्युका भय नहीं रहता। महान् साधक ही इसे प्राप्त करते हैं—

तेहिं पावा उत्तिम कैलासू। जहाँ न मीचु सदा सुखवासू।

(पद्मावत, दोहा १४६। ६)

जायसी आगे कहते हैं कि प्रभु-प्रेमके मार्गमें जबतक कोई स्वयंको चून (चक्कीमें पिसे आटे)के समान नहीं बना लेता, तबतक रंगमें चमक नहीं आ सकती। ठीक उसी प्रकार जैसे पानमें सुपारी और कत्था डाल दिया जाय, किंतु जबतक उसमें चूना नहीं पड़ता तबतक रंग नहीं रचता—

पान सुपारी खैर जिमि मेरइ करै चकचून।

तब लगि रंग न राचै, जब लगि होइ न चून ॥

(पद्मावत, दोहा ३०८)

सूफी-सम्प्रदायमें आत्मलयको 'फना' तथा ईश्वरीय व्यक्तित्वकी प्राप्तिको 'बका' कहा गया है। ये दोनों अभाव और भावरूप एक ही अवस्थाके दो स्वरूप हैं। अपना वास्तविक परिचय प्राप्त होनेपर यह आत्मा मौन-रूप हो जाता है। यह मौनरूपता ही अभाव है। साथ ही वह एक ऐसा यन्त्र-रूप धारण कर लेती है, जिसका निनादी वही परम रूप है, जिसमें लीन होनेपर वह मौन-रूप हो गयी है। यह भावरूपताकी उच्च स्थिति है। इसे 'पुराने लोय' (अनुभवी साधक) ही जानते हैं—

'तालू कल्ल' दोऊ कहै, ब्यौरा बूझे कोय।
एक 'बका' एक 'फना' है, पेम पुराने लोय ॥

(शाह बरकतुल्ला—प्रेम प्रकाश, पृष्ठ २९)

दिव्य जीवनका योग

[श्रीअरविन्दके पूर्णयोगका विहङ्गम परिचय]

(श्रीदेवदत्तजी)

श्रीअरविन्दने योगको समग्र अर्थमें लिया है। उनके लिये सम्पूर्ण जीवन ही योग है। जीवन और जगत् किसी मिथ्या या अनित्यकी अभिव्यक्ति नहीं, परात्परका ही अभिव्यक्त स्वरूप है।

यहींपर परात्परकी जिज्ञासा प्रारम्भ होती है। श्रीअरविन्द यह बताते हैं कि पृथ्वी और मानव अन्धकारके किसी निरुद्देश्य बन्धनमें नहीं जकड़े हैं जिससे मुक्त होना ही परम पुरुषार्थ हो बल्कि इस जडत्वके सचेत होनेकी प्रक्रियामें प्रकृतिने अपने विकासके वर्तमान स्तरपर उस सचेत सत्ताको अभिव्यक्त किया है जो मध्यवर्ती है। उसका आवरण तो जडका है, व्यवहारकी इन्द्रियाँ उसके अधिकारमें नहीं हैं, किंतु आत्माके स्तरपर वह अभीप्सु है कि आत्मज्ञानकी डोर पकड़कर दिव्यत्वकी ओर पग बढ़ा सके ? यही अभीप्सा उत्क्रान्तिकी जननी है। यही मानवको चुनावका अधिकार देती है कि आत्मज्ञानके बिना क्या वह संतुष्ट हो सकता है ? अभीप्सा ही वह गुण है जिसके आधारपर मानव सचेतन रूपसे दिव्यत्वकी दिशाका चुनाव करता है, उसकी ओर कदम बढ़ाता है और प्रारम्भ होती है योगकी साधना।

श्रीअरविन्द योगके साधन बताते हुए कहते हैं कि आत्मामें स्थित भगवान् ही साधकके गुरु हैं। आत्मा ही शास्त्र है और अनन्ततक यात्रा ही पाथेय है। भगवान्के प्रति समर्पण ही वह कुंजी है जिससे साधककी अभीप्सा भगवान्की इच्छाशक्तिको जीवनमें उतारनेका मार्ग खोलती है। एकमेवाद्वितीयम्‌का लीलासहचर बनना ही जहाँ सार्थकता है, वहाँ साधकका व्यक्तिगत मोक्ष बहुत पीछे छूट जाता है।

इन सभी सत्योंके साथ तादात्म्यके लिये मनुष्यको भगवान्ने चुनावकी शक्ति दी है। मानव-देहमें ही आकर चेतनाने सभी क्षेत्रोंमें विवेकके आधारपर चुनावकी क्षमता पायी है और उसे अधिकार भी है कि वह इसका उपयोग इन्द्रियोंके साथ उपादानोंके सम्बन्धको जोड़नेमें लगाये अथवा भगवान्के साथ लगाये। अभीप्सा तब प्रारम्भ होती है जब भगवान्की प्राप्ति और जीवनमें अभिव्यक्ति ही रसका एकमेव स्रोत बच जाय, बाकी सभी सूख जाय। फिर अभीप्सा योगपथका पाथेय बनकर चेतनाका मार्गदर्शन करती है कि वह भगवत्कृपाको ही देखे, सुने और चुने।

इस अभीप्साका सम्बल लेकर प्रथम पग उठाते ही प्रारम्भ होता है भगवान्के प्रति समर्पण। कोटि-कोटि योनियोंसे विकासके पथपर चलती हुई चेतना मानवदेहमें पहुँचते-पहुँचते उनके संस्कारोंको भी साथ लाती है और मानवदेह पाशविक शक्तियोंके अधीन होनेके कारण ये संस्कार ही अहंकारके रूपमें अपनेको अभिव्यक्त करते हैं। सामान्य जीवन जीनेवालोंके लिये यह तत्त्व इसलिये उपयोगी है कि वह उन्हें केन्द्रित रखता है, किंतु योग-पथपर केन्द्र जब भागवत-चेतना हो जाती है तो यह अहंकार मार्गकी बाधा बनकर खड़ा होता है। अतः अहंका समर्पण पूर्णयोगकी साधनामें महत्त्वपूर्ण बन जाता है। पूर्णयोगमें पूर्णसमर्पणका अर्थ है अपनी सत्ताके प्रत्येक भागसे अहंकी ग्रन्थिको काट डालना और उसे मुक्त कर पूर्णरूपेण भगवान्को समर्पित कर देना। यह समर्पण

किसी एक स्तर या सत्ताके विशेष भागमें होनेसे आगेका मार्ग नहीं मिलता। इसे मन, प्राण, शरीर—इनके प्रत्येक भागको समर्पित करना होगा और इनकी प्रणालीको दिव्य जीवनकी प्रणालीमें परिवर्तित करना होगा। अकुण्ठ-समर्पण और अन्तिम रूपसे अपनी चेतनाके सर्वोच्च शिखरसे लेकर अचेतनाके सारे कलुष, देहके कोषोंमें छिपी सारी पशुता सभीको भगवान्‌को समर्पित करना होगा।

आत्मार्पणके लिये प्रणिपात, समस्त सत्ताका उद्घाटन और प्रभुका अकुण्ठ प्रेमाश्रय—ये सहायक सोपान हैं, जो चेतनाके परिवर्तनमें परम सहायक हैं। इस कार्यमें अनेक जीवन भी लग सकते हैं और एक क्षणमें भी यह सिद्ध हो सकता है, किंतु इस क्षणका चुनाव भगवान् करते हैं, साधक नहीं। साधकको अनन्त कालतक प्रतीक्षाके लिये तैयार होना होगा। श्रीमाँने इस पथके विषयमें स्पष्ट किया है—इस पथपर चलनेके लिये तुम्हारे पास होनी चाहिये आतङ्करहित वीरता, भय नामक जो हीन, तुच्छ, घृण्य वृत्ति है, उसके कारण तुम्हें कभी पीठ नहीं दिखानी चाहिये।

तुम्हारे अंदर होना चाहिये दुर्दमनीय साहस, पूर्ण निष्ठा, ऐसा सर्वाङ्गपूर्ण आत्मदान जिसमें तुम हिसाब-किताब नहीं लगाते या मोल-भाव नहीं करते, तुम पानेकी भावनाका साथ नहीं देते, सुरक्षित रखे जानेके उद्देश्यसे अपनेको अर्पित नहीं करते, तुम ऐसी श्रद्धा नहीं रखते जिसे प्रमाणकी आवश्यकता हो। बस यही इस पथपर अग्रसर होनेके लिये अनिवार्य है। केवल यही समस्त विपत्तियोंसे तुम्हारी रक्षा कर सकती है।

सच्ची अभीप्सा, समर्पण और परित्याग—ये त्रिविध कवच साधकको आवश्यक हैं। इस आधारके निर्माणमें चाहे जितना समय लगे, चाहे जो समस्याएँ आयें, किंतु इनके बिना श्रीअरविन्दके पूर्णयोगकी साधना और रूपान्तरको लक्ष्य बनाकर दिव्य जीवनके हेतु किये गये सारे प्रयास निष्फल ही होंगे।

विचारोंकी चञ्चलता साधकोंके लिये आवेगोंके समान ही कष्ट देती है, अतः मनको उनसे निर्लिप्त रख उनका निरीक्षण करना और इस सत्यका साक्षात्कार करके कि विचार मनमें पैदा नहीं होते, बल्कि बाहरसे आते हैं, उनका उचित उपयोग करते हुए उनसे व्यवहार करना मानसिक आधारको साधनाके लिये तैयार करनेमें सहायक हैं।

श्रीअरविन्दका योग चेतनाको मनसे उठाकर अतिमनमें प्रतिष्ठित करना चाहता है। अतः इसे मानसिक स्तरकी सारी सिद्धियों और सम्पदाओंको अपना लक्ष्य नहीं मानना होगा। चेतनाके विकासके साथ जैसे चेतनाके आधार अर्थात् शरीरका विकास होता है, उसी तरह मनका भी विकास होता है और मानव-शरीरमें निवास करनेवाली चेतनामें प्रायः यह क्षमता सहज हो जाती है कि वह आत्माकी कल्पना कर सके। मनुष्येतर प्राणियोंके मनके विकासकी स्थितिमें आत्माके ज्ञान या कल्पनाका प्रायः प्रश्न ही नहीं उठता। आत्माके विषयमें कल्पनाकी क्षमता ही मनको संकल्पकी शक्ति देती है। आत्मज्ञानके लक्ष्यका चुनाव, आत्माकी प्राप्तिहेतु संकल्प ही साधकको साधनाकी क्षमता प्रदान करता है।

यही संकल्प जब भगवान्‌के प्रति निष्ठामें विकसित होता है तो श्रद्धा, निष्ठा और समर्पणमय अन्तःकरणका प्रादुर्भाव होता है, जहाँ परमाशक्ति अदिति अपना निवास बनाकर साधकको संचालित कर सके।

साधनाके इस अधिष्ठानसे साधना जिस लक्ष्यके लिये आगे बढ़ती है, वह लक्ष्य है अतिमानस। यह लक्ष्य इतना व्यापक है कि श्रीअरविन्दके योगको अतिमानसिक योग भी कहा जाता है। अतिमानस उत्क्रान्ति या विकासकी प्रक्रियामें अवतरित होनेवाला वह तत्त्व है जो मनसे उत्पन्न होनेवाली सारी समस्याओंका समाधान है। किंतु आज आत्माके प्रकाशके कारण हम उसका झलक मात्र प्राप्त कर सकते हैं। जैसे लाखों वर्ष पूर्व कुछ बंदर एकत्र होकर सोचते हैं कि मानव क्या-क्या कर सकता है, तो उनकी कल्पना मानसिक जगत्‌के निर्माणसे एकदम भिन्न होती, उसी प्रकार मानव भी अतिमानसिक चेतनाकी कल्पना नहीं कर सकता। वहीं भागवत प्रकृतिकी पूर्ण चेतना अवस्थित है, जिसमें विभाजन और अज्ञानके लिये कोई स्थान नहीं रह सकता। वह है पूर्ण ज्योति जो सच्चिदानन्दके आलोकसे प्रकाशित है। पशुत्व और विकासके सभी संस्कार उससे छूट गये हैं। वह ज्ञान तादात्म्यसे प्राप्त करता है। उसकी देह अतिमानसिक स्थितिमें वह दिव्यत्व प्राप्त कर लेती है, जहाँ जरा और मरण छूट जाते हैं, किंतु देह बंदीगृह नहीं होती। भगवान्‌की लीलामें इसका

परिवर्तन सचेत-रूपसे सम्भव होता है।

श्रीअरविन्दके योगमें यह ज्ञान भी स्पष्ट है कि अतिमानस अगला कदम है, किंतु अन्तिम नहीं है। अतिमानसमें भी चार सोपान हैं—१-सरभा, २-सरस्वती, ३-इला और ४-दक्षिणा। नित्य लीलामय सच्चिदानन्द तो इन सबमें लीलाओंका प्रकाश करते हुए भी और आगे हैं।

लक्ष्यका ज्ञान या ज्ञानकी कल्पना पानेके बाद साधकको स्पष्ट होना चाहिये कि वह कहाँ है। आत्म-प्रवञ्चना और साधना दोनों विपरीत तत्त्व हैं। योग जीवनसे ही प्रारम्भ करना होगा, कुछ घंटे जप-तप, ध्यान और बाकी समय अहंकारकी गतिविधियोंमें डूबे रहना अर्थात् जीवनको भगवान्‌से बचाये रखना, श्रीअरविन्दके योगमें काम नहीं आता। जीवनका सच्चा उद्देश्य है भगवान्‌के लिये जीवन-यापन, सत्य और अन्तरात्माके लिये जीवन-यापन। यथार्थ सचाई है कि भगवान्‌के लिये जीवन अर्पितकर इसे भागवतजीवन बनाना, बदलेमें उनसे कभी भी लाभकी आशा नहीं करनी चाहिये।

भागवत-जीवनका आधार है मन। यही वह इन्द्रिय है, जहाँसे भगवान्‌की ओर सबसे अधिक सचेत और अन्य इन्द्रियोंपर संयम और रूपान्तरकी साधना हो सकती है। अतः इसके विकास और दिव्य होनेके साथ-साथ न केवल इन्द्रियोंपर प्रभाव पड़ेगा बल्कि अवचेतन और अचेतनतामें जहाँ भगवान्‌के प्रभावका विस्तार होगा, वहीं भूततत्त्वकी मूलाधार चेतना भी परिवर्तित होगी। इस परिवर्तनका प्रभाव है मनका उत्तरोत्तर आरोहण।

साधककी सत्ताके प्रत्येक स्तर भौतिक, प्राणिक एवं मानसिक सभी स्तरोंकी परस्पर सम्बन्ध चेतनाके कारण जब साधक मनसे उठकर उच्चतर मनमें प्रतिष्ठित होता है तो वह वृत्तियों और आवेशोंसे अलग होकर विशुद्ध ज्ञानके प्रभावसे जीवनको संचालित करना प्रारम्भ कर देता है, वह साक्षी भी होता है और भोक्ता भी। वह मन, प्राण, अन्नके कोषोंका स्वामी हो जाता है।

फिर आरोहण होता है प्रकाशित मनमें। साधनाके इस स्तरपर मन अज्ञानसे विभाजित ज्ञान और फिर अखण्ड ज्ञानकी ओर नहीं जाता, बल्कि वह ज्ञानको चेतनाके स्तरपर ही प्राप्त कर लेता है। सत्य उसके लिये मूर्त है, आविष्कारकी आवश्यकता नहीं है। प्रकृति यहाँ दिव्य हो उठती है। अवचेतन तथा अचेतनतक दिव्य ज्योतिसे उद्भासित हो उठते हैं।

इसके बाद मनका विकास होता है सम्बोधि मानसमें, जहाँसे सच्चिदानन्दकी झलक चेतनामें कौंध उठती है। मन विश्वमानससे एकाकार हो उठता है, भगवदानन्दका स्वाद मन चख लेता है। प्रकृतिकी निश्चेतनामें भी अनन्तका ज्ञान प्रेम रिसने लगता है और साधनाकी यात्रा अज्ञानसे ज्ञानकी ओर नहीं बल्कि ज्ञानसे विज्ञानकी ओर प्रयाण करती है।

इस प्रयाणका अगला कदम है अधिमानस जो वर्तमानमें विकसित हो रहे विश्वको धारण करता है। इसीसे दिव्यत्व इस परार्धमें शतधा विभक्त रहता है। यहीं एकत्व बहुत्वमें बदल जाता है फिर भी सामञ्जस्य बना रहता है। यहाँ पूर्णता प्रकट हो जाती है, विश्वका विज्ञान साधकको करतलगत हो जाता है। साधना देहके कोषोंमें भी भागवत-रूपान्तर प्रारम्भ होनेकी आशा जगाती है। यहींपर मृत्यु, अज्ञान तथा अन्धकारपर विजयका मार्ग खुलता है और वह सब कुछ सम्भव दिखायी देने लगता है जो अतिमानसमें है अर्थात् मृत्युपर विजय, सचेत रूपसे दिव्य देहमें परिवर्तनकी क्षमता, सच्चिदानन्दका सृष्टिमें यन्त्र बननेकी क्षमता और दिव्य जीवनका देहजीवनमें पूर्णावतरण।

चक्रोंका उद्घाटन पूर्णयोगमें अवतरण करती हुई भगवत्-शक्तिसे होता है और अतिमानसिक चेतना अभीतक शरीरमें अवस्थित नहीं है, अतः सहस्रारचक्रका उद्घाटन अधिमानसिक चेतनाकी प्राप्तिमें स्वयं होता है। इस प्रक्रियामें इन चक्रोंमें दिव्य चेतनाके अवतरणकी ही प्रधानता है।

संक्षेपमें श्री अरविन्द-योगका लक्ष्य जडका दिव्य जीवनमें रूपान्तरण है तथा परा और अपरा प्रकृतिके भेदको समाप्त कर दिव्य प्रकृति, दिव्य मन और दिव्य जीवनकी प्रतिष्ठा प्राप्त करना है।

वेदोंके प्रवचनसे, अच्छी धारणासे और बहुत शास्त्रोंके ज्ञानसे ही परमात्मा नहीं मिलता, वह जिसपर कृपा करता है, उसीके सामने अपना रूप प्रकट करता है।—उपनिषद्

ईसाई-धर्ममें योगका स्थान

(रेवरेंड एड्विन ग्रीव्ज)

'योग' शब्दका प्रचलित अर्थ ईश्वरके साथ एकता प्राप्त करना ही नहीं है, अपितु उससे उन साधनोंका भी बोध होता है जो उक्त ध्येयकी प्राप्तिमें उपयोगी माने जाते हैं।

परमात्माके साथ एकता करनेके कई अर्थ हो सकते हैं और विचारकके मनमें परमात्माका जो स्वरूप होगा, उसीके अनुसार उसकी एकताका स्वरूप भी होगा।

कुछ लोगोंके मतमें 'एकता' का अर्थ लीन हो जाना है अर्थात् वह अवस्था जिसमें अपना कोई भिन्नत्व रह ही नहीं जाता, वह उस परमात्माका ही एक अङ्ग बन जाता है जिसमें वह लीन हो जाता है—वह परमात्मासे अभिन्न ही नहीं हो जाता बल्कि उसके साथ ऐसा घुल-मिल जाता है कि फिर उसका पृथक् अस्तित्व ढूँढ़नेपर भी ध्यानमें नहीं आता। इसे हम एकताकी पराकाष्ठा कह सकते हैं। इससे नीचे उतरकर लोगोंने एकताकी कई श्रेणियाँ मानी हैं। परंतु कदाचित् उन सभी श्रेणियोंमें योग करनेवालेकी पृथक् सत्ता किसी-न-किसी अंशमें अवश्य रह जाती है—वहाँ एकताका स्वरूप अभिन्नता न होकर अविसंवाद अथवा मेल ही होता है। एकताका अर्थ है परमात्माके साथ एकमन हो जाना—परमात्माके संकल्पके साथ अपने संकल्पको मिला देना। साधक परमात्माकी प्रभुता और सुहृदताको समझकर अपनी दृष्टिको बदलनेकी, अपने भावको परिवर्तित करनेकी तथा अपनी निजी कल्पनाओं और जनसमाजकी युक्तियों और योजनाओंको परित्यागकर, जिनका साधारण जनता अनुगमन करती है, परमात्माके संकल्पों और अभिसन्धिका अनुसरण करनेकी चेष्टा करता है। हम परमात्माके संकल्पोंके अनुसरण करनेकी बात हेतुपूर्वक कह रहे हैं, न केवल किसी मत-विशेषका उपन्यास कर रहे हैं, न किसी ऐसे सिद्धान्त-वाक्यको दोहरा रहे हैं जिसका अर्थ तो हम न जानते हों और केवल इसलिये ठीक समझते हों कि वह भगवद्वाक्य है। एकताका अर्थ है परमात्माके प्रति इस प्रकार प्रेमपूर्वक आत्मसमर्पण करना कि जिससे हमारा चित्त उनकी दिव्य ज्योतिसे जगमगा उठे, हम हृदयसे वही चाहें जो उन्हें प्रिय हो और प्रतिदिन हर घड़ी अपना आचरण एवं व्यवहार ऐसा प्रशस्त एवं परिष्कृत बनानेकी चेष्टा करें कि जिससे मनुष्यका मनुष्यके साथ कैसा बर्ताव होना चाहिये, इसका ईश्वरीय आदर्श हमारे सामने मूर्तिमान् होकर खड़ा हो जाय।

एक सच्चे ईसाईका अपने भगवान्के साथ किस प्रकारका सम्बन्ध होना चाहिये, इस विषयमें ईसामसीहके उपदेशोंका स्थूल आशय स्पष्ट ही है। स्वयं उनका अपने परमपिताके साथ जो सम्बन्ध है, उसमें कई बातें बिलकुल निराली हैं, जिनके कारण उस सम्बन्धके स्वरूप और लक्षणोंके निर्देश करनेमें बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ता है। जहाँ हमारे प्रभुने 'मैं और मेरे पिता एक ही हैं।' (I and my Father are one.) इस प्रकारके वाक्य कहे हैं, वहाँ तो यह कठिनाई और भी सुस्पष्ट हो जाती है, एक तरफ तो उनका सम्बन्ध हमें इतना घनिष्ठ प्रतीत होता है कि उसे समझानेके लिये हमें मानव-जगत्में कोई उदाहरण ढूँढ़नेपर भी नहीं मिलता। किन्हीं दो मनुष्योंमें मन और हृदयकी कैसी ही एकता, अभिन्नता क्यों न हो, वह उसकी तुलनामें नहीं ठहर सकती। दूसरी ओर हम उपर्युक्त वाक्यका अद्वैतपरक अर्थ भी नहीं कर सकते, क्योंकि उस हालतमें 'मैं और मेरे पिता' इस प्रकारका द्वैत नहीं रह सकता। यह एक ऐसा सम्बन्ध है जिसका निर्देश हो सकता है अर्थात् अद्वैत नहीं है, दोनोंमें घनिष्ठ संयोग है, किंतु सर्वथा अभेद नहीं।

अब रही परमात्माके साथ हमारे सम्बन्धकी बात, इस विषयमें ईसामसीहका सिद्धान्त सुतरां स्पष्ट है। बाइबिलमें एक भी वाक्य ऐसा नहीं मिलेगा जिसमें अस्पष्टरूपसे भी यह संकेत किया गया हो कि ईसाइयोंका ध्येय परमात्मामें मिल जाना है। बाइबिलमें एकताका जो वर्णन मिलता है उसका अर्थ है परमात्माकी इच्छाको जीवनका संचालक एवं पथप्रदर्शक मानना, अपने-आपको ईश्वरके मन तथा अभिसंधिमें मिला देना और मनमें इस बातका निश्चय रखना कि मनुष्यका परम ध्येय यही है और उसीमें आनन्दित होना। महात्मा पॉलके पत्रोंमें इस प्रकारके वाक्य मिलते हैं जिनका भाव है—मैं जीता हूँ पर अब मैं नहीं, मेरे अंदर ईसामसीह जीते हैं। (I live and yet no longer I, but christ liveth in me.) परंतु इस प्रकारके वाक्यका सम्भवतः कोई भी इससे

अधिक अर्थ नहीं लगायेगा कि यह कहनेवाला पुरुष ईसामसीहको अपना गुरु मानकर उनकी सर्वतोभावेन वश्यता स्वीकार करता है, अपनेको ईसामसीहके संचालनमें रखकर उन्हींसे शक्तिसंचार, योगक्षेम एवं अनुग्रहकी आशा रखता है। उसीके आगे ये शब्द मिलते हैं—'और अब जो जीवन इस शरीरमें है वह उन्हीं ईश-पुत्रमें विश्वासका जीवन है, जिन्होंने मुझे प्यार किया और मेरे लिये अपने-आपको दे दिया।' 'and that life which I now live in the flesh, I live in faith, The faith which is in the son of God, who loved me and gave Himself for'. रहस्यवादियों (Mystics) में कुछ लोग अवश्य ऐसे मिलते हैं जो परमात्मामें लीन हो जानेको ही ईसाईजीवनका एकमात्र परमपुरुषार्थ मानते हैं। परंतु यह सिद्धान्त अपवादस्वरूप ही है, बहुसंख्यक ईसाई स्त्री-पुरुषोंके साधारण विचार इस प्रकारके नहीं हैं। एक ईसाईके जीवनकी चरितार्थता परमात्माके साथ एक हो जानेमें नहीं है, बल्कि उनके साथ पूर्ण साहचर्यमें है।

प्रस्तुत लेखके आलोच्य विषयका दूसरा अंश है 'वे साधन जिनके द्वारा ईश्वरका साहचर्य प्राप्त हो सके।' इस सम्बन्धमें लोगोंने समय-समयपर कई तरहके विचार प्रकट किये हैं, परंतु इस विषयमें कोई ऐसा सिद्धान्त सामने नहीं रखा जा सकता जो सर्वमान्य हो।

अधिक ध्यान देनेयोग्य बात तो यह है कि बाइबिलमें प्रभुका जो जीवनवृत्तान्त तथा उपदेशोंका संग्रह है, उसमें ऐसी किसी बातका उल्लेख बहुत ही कम है जिसका योगसम्बन्धी साधनाओंसे निकट सम्बन्ध हो। उपदेश-कार्य आरम्भ करते समय ईसामसीहने चालीस दिनका उपवास किया था, ऐसा वर्णन मिलता है, किंतु उन्होंने इस तपको किसी साधनके रूपमें किया हो ऐसा नहीं मालूम होता, बल्कि कुछ समयतक वे अकेले जंगलमें रहे थे और वहाँ वे अपने भावी उपदेश-कार्यको सोचनेमें इतने तल्लीन हुए कि उन्हें खाने-पीनेकी सुध भी न रही। एकाध जगह अवश्य 'प्रार्थना और उपवास' का उल्लेख आता है और ऐसा भी वर्णन मिलता है कि प्रभु कभी-कभी एकान्तमें बैठकर प्रार्थना तथा ध्यानके लिये समय निकाला करते थे, परंतु साधारण तौरपर हमारे प्रभुके जीवनमें तथा उनके उपदेशोंमें योग-साधनाकी आवश्यकताके सम्बन्धमें एक भी प्रमाण नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि वे सादा एवं साधारण मनुष्योंका-सा जीवन व्यतीत करते थे तथा सामान्य कोटिके स्त्री-पुरुषोंसे निःसंकोच होकर मिलते थे, यहाँतक कि उन्हें सामाजिक उत्सवोंमें भी सम्मिलित होनेमें किसी प्रकारका संकोच नहीं होता था। उनकी दृष्टिमें ध्यान कोई बाह्य साधन नहीं है, अपितु मनकी वृत्तिको अनवरतरूपसे भगवान्‌की ओर लगानेका नाम है जिससे कि जीवनमें अव्यक्त जगत्‌के सनातन सत्य तत्त्वोंकी संनिधिका अनुभव होने लगे। 'वसुन्धरा भगवान्‌की है और भगवान्‌की साङ्गता है।' भगवान्‌ने मनुष्यके ही उपयोग एवं भोगके लिये सारे भौतिक पदार्थोंकी रचना की है। इसलिये उनका परित्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है केवल इस बातको ध्यानमें रखनेकी कि कहीं ये पदार्थ हमारे सिरपर सवार होकर हमें अपने अधीन एवं वशवर्ती न कर लें, हमें अपना गुलाम न बना लें। मनुष्यको चाहिये कि वह वस्तुओंका यथार्थ मूल्य आँकना, उनके गुण-दोषोंका विवेचन करना सीखे, आध्यात्मिक एवं सनातन तत्त्वोंका आधिभौतिक एवं जागतिक तत्त्वोंके द्वारा पराभव न होने दे। प्रार्थना, निर्भयता, वश्यता, (ईश्वर एवं मनुष्यमात्रके प्रति) प्रेम—ये ही योगसाधनाएँ हैं, जिन्हें ईसामसीहने परमात्माके अधिकाधिक साहचर्यमें सहायक बताया है।

प्रभु ईसामसीहके कालसे लेकर अबतक ईसाइयोंने जिन-जिन योगसाधनाओंका अभ्यास किया है उनकी कथा बहुत लंबी-चौड़ी और वैचित्र्यपूर्ण है। ईस्वी सन्‌की प्रारम्भिक शताब्दियोंमें उपवासादि कठोर व्रतचर्याओंको कई लोग बहुत उपयोगी मानते थे और उसके बाद भी भिन्न-भिन्न युगोंमें कुछ सम्प्रदायोंकी ऐसी ही धारणा रही है। परंतु इस प्रकारकी धारणा अधिकसंख्यक ईसाइयोंमें न तो सर्वमान्य ही रही है, न सामान्य ही। ईसाइयोंको बराबर चेतावनी दी जाती रही है कि वे भोगविलासकी ओर अग्रसर न हों, इन्द्रियोंके दास न बनें। उन्हें यह भी शिक्षा दी जाती रही है कि वे अपनी सम्पत्ति और अपनी सारी शक्तियोंको परमात्माकी सौंपी हुई पवित्र धरोहर समझें, उनका विवेकपूर्वक उपयोग करें और उदारतापूर्वक उनका दूसरोंको भी उपभोग एवं उपयोग करने दें। उनको इस सम्बन्धमें सतर्क रहनेका उपदेश दिया जाता रहा है कि भौतिक

सुख उनकी आध्यात्मिक दृष्टिको आवृत न कर दें, वे लोग इस जगत्‌को सराय-सा समझकर उसमें मुसाफिरोंकी तरह रहें तथा इस बातको सदा स्मरण रखें कि हमारा वास्तविक और सनातन घर आगे है, किंतु साथ-ही-साथ जो ईश्वरप्रदत्त वस्तुएँ हमें रास्तेमें पड़ी हुई मिलें उनका धर्माविरुद्ध उपभोग भी करते रहें।

कदाचित् योगका सर्वसुलभ रूप उपवास है। रोमन कैथॅलिक तथा प्रॉटेस्टंट दोनों मतोंके अनेक अनुयायी उपवासको बहुत अधिक उपयोगी मानते हैं और खास-खास अवसरोंपर अवश्य उपोषित रहते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो नियमितरूपसे उपवास तो नहीं रखते, किंतु उसे आत्मोन्नतिका एक वास्तवमें उपयोगी साधन अवश्य स्वीकार करते हैं। वे यह समझते हैं कि ऐसे समयमें जब भौतिक सुखोंकी आत्मापर विजय होती दीखती है, उपवाससे मनुष्यको बड़ा साहस एवं बल मिलता है। इस वर्गके लोग उपवासको प्रायश्चित्तके रूपमें न देखकर आत्मोन्नतिका एक उपकारी साधन मानते हैं और यह समझते हैं कि उपवास जीवनमें आत्माके प्रभुत्वका द्योतक है और इस बातको भी सूचित करता है कि हम भौतिक जगत्‌के आधिपत्यको स्वीकार करनेके लिये तैयार नहीं हैं।

ईसाईधर्मका क्षेत्र बहुत व्यापक है, उसके अंदर ईसाई-जीवनकी अभिव्यक्तिके भिन्न-भिन्न स्वरूपों तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके अनुभवोंके लिये गुंजाइश है। सबसे मुख्य बात तो है ईश्वरके सम्बन्धमें क्रमशः अधिकाधिक जानना और उन्हें जानकर उनसे प्रीति करना, उनपर भरोसा करना और उनकी इच्छाके अनुकूल आचरण करना। ईश्वरको जाननेका उपाय है ईसामसीहकी शरणमें आना और उन्हींको एकमात्र गति मानना और प्रार्थना, निर्भरता तथा वश्यताके द्वारा जीवनकी पूर्णताको प्राप्त करना।

जरथोस्ती धर्ममें तीन मार्ग

(श्रीएरच जहाँगीर तारापोरवाला)

ईश्वर-प्राप्तिके लिये सभी धर्मोंमें तीन मार्ग दिखलाये गये हैं—ज्ञान, भक्ति और कर्म। इन तीनों योगमार्गोंके साधनसे मुक्ति मिलती है, ऐसा शास्त्रोंका वचन है। हिन्दूशास्त्रोंमें इन तीनोंका बहुत स्पष्ट और सविस्तर वर्णन है, दूसरे धर्मोंमें भी न्यूनाधिक रूपसे ये तीनों स्पष्ट प्राप्त होते हैं। कदाचित् 'योग' शब्दके अभावके कारण हम लोग सरलतापूर्वक यह बात न समझ सकें, परंतु मूल वस्तु तो यही है कि मुक्तिका मार्ग तीन प्रकारका है और प्रत्येक व्यक्तिके स्वभावके अनुसार इन तीनोंमेंसे एक उसके अनुकूल होता है।

जरथोस्ती धर्ममें भी इन तीनों मार्गोंका उल्लेख है। दुर्भाग्यवश जरथोस्ती धार्मिक साहित्य थोड़ा-बहुत ही आज उपलब्ध है, उसमें यह बात इतनी सरलतासे नहीं प्राप्त हो सकती है तो भी मननपूर्वक अध्ययन करनेसे और दूसरे धर्मोंके साथ तुलना करनेसे यह मूल सत्य प्राप्त हो सकता है। सौभाग्यवश जरथोस्ती धर्मके मूलस्थापक ऋषि जरथुस्त्रके कुछ मूल श्लोक अभीतक सुरक्षित हैं और वे ही धर्मकी भित्तिस्वरूप माने जाते हैं। वे मूल श्लोक जरथुस्त्रकी 'गाथा' के नामसे विख्यात हैं और पाँच विभागोंमें बँटे हुए हैं। उन पाँचोंमेंसे प्रथम गाथा सर्वश्रेष्ठ गिनी जाती है और उसका नाम 'अहुन व इति गाथा' है। सम्पूर्ण गाथाके २३८ श्लोकोंमेंसे इस प्रथम गाथामें १०० श्लोक आ गये हैं। इस 'अहुन व इति गाथा' नामका मूल अहुन-वर [अहुन-वइर्य] शब्द है, जो जरथोस्ती धर्मका मूल मन्त्र माना जाता है और जिसके लिये इन शास्त्रोंमें कहा गया है कि सृष्टि पैदा करनेसे पूर्व स्वयं ईश्वरने इसका उच्चारण किया था और इसीमेंसे सृष्टि उत्पन्न हुई है। जरथुस्त्रकी 'अहुन व इति गाथा'को इस 'अहुन-वइर्य'की टीका समझें तो कोई भूल नहीं है।

दूसरी बातोंको अलग रखकर यदि केवल अहुनवरके गूढ़ अर्थका मनन किया जाय तो इसीमेंसे योगके तीनों मार्ग निकल आते हैं। इन तीनों मार्गोंको पीछेसे गाथामें विशेष विस्तारसे समझाया गया है। अहुनवरका रहस्य बहुत ही गहन है और उसका ज्यों-ज्यों मनन किया जाता है, त्यों-ही-त्यों उसका अधिकाधिक आध्यात्मिक रहस्य प्रकट होता रहता है और इसी कारणवश हमारे शास्त्रोंमें कहा गया है कि 'अहुनम्-वइरीम् तनूम् पाइति' अर्थात् 'अहुन-वइर्य' तनका (आत्माका) रक्षण करता है।

अहुनवरके अनेक अनुवाद हो चुके हैं। इसपर प्राचीन अवेस्ता साहित्यमें भी एक टीका लिखी हुई है। इसके अतिरिक्त सासानी कालमें[१] इस मन्त्रका पहेलवी भाषामें अनुवाद हुआ था, उसमें इस मन्त्रमें समाये हुए तीन नामोंकी ओर संकेत किया गया है। ये तीन नाम 'अमर-पवित्र-शक्ति' (अमेषा-स्पेन्ता) के हैं और ये ही तीनों मार्गोंका सूचन करते हैं।

सर्वप्रथम 'अहुनवर' इस मन्त्रको देखें। इस मन्त्रमें तीन पंक्तियाँ हैं जो प्रत्येक एक-एक वाक्य हैं और प्रत्येकमें एक महान् सत्य समाहित है।

(१) यथा अहू वइर्यो अथा रतुश अषात्-चित् ह चा।

(२) वङ्‌हेउश् दज्दा मनङ्‌हो श्योथननाम् अङ्‌हेउश् मज्दाइ।

(३) क्षथ्रमे-चा अहुराइ आ यिम् द्रिगुन्यो ददत् वास्तारेम्॥

इनका अनुवाद इस प्रकार है—

(१) जैसे राजा सर्वोपरि (है) उसी प्रकार ऋषि (भी) अपने अषके कारण (हैं)।

(२) 'वोहु-मनो'का पुरस्कार जीवनके प्रभुके कार्य करनेवालोंको (मिलता है)।

(३) ईश्वरका 'क्षथ्र' उसको (मिलता है) जो लाचारोंका रक्षक बनता है।

१-प्रथम सत्य यह है कि राजा अथवा इस स्थूल भुवनका जो अधिपति है, उसके ही समान उतना ही महान् ऋषि भी गिना जाय। दूसरे शब्दोंमें कहें तो जिस प्रकार राजाका बड़प्पन इस खाकी जहान्में है, इसी प्रकार ऋषिका बड़प्पन आत्मिक जगत्पर है। किस कारणसे ऐसा है? केवल 'अष'के ही कारण। अब इस 'अष'को हमलोग जरा गम्भीरता-पूर्वक समझें। जरथोस्तियोंमें बोलचालमें 'अषोई' शब्दका व्यवहार होता है और उसका अर्थ साधारणतः पवित्रता होता है। परंतु एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि ज्यों-ज्यों हम प्राचीन समयकी ओर लक्ष्य करते हुए इसके अर्थको देखते जाते हैं त्यों-ही-त्यों वह अधिकाधिक गहरा होता जाता है। वास्तवमें इसका अर्थ अत्यन्त ही गहन है। अवेस्ताका यह 'अष' शब्द वेदका 'ऋत' शब्द है। यह बात भाषाशास्त्रसे सिद्ध हो चुकी है[२]। जिस प्रकार ऋत शब्दका वेदमें प्रयोग हुआ है, उसी प्रकार हमारे शास्त्रोंमें अषका उपयोग हुआ है। जिस प्रकार देवता ऋतके अधिपति माने जाते हैं, उसी प्रकार हमारे यजद (देवता) 'अषके सरदार' हैं। ईश्वरको प्राप्त करनेका एकमात्र मार्ग है 'अष हे पन्ताओ' **(ऋतस्य पन्थाः)।**

एक स्थानपर स्पष्ट लिखा हुआ है कि 'सर्वोत्तम अषकी सहायतासे, सर्वश्रेष्ठ अषकी सहायतासे हे ईश्वर! हम तुझको देखें, तेरे पास पहुँचें, तेरे साथ मिल जायँ। यह अष (ऋत) जरथुस्त्रके धर्मका मूल आधार है और इस ऋतको जो समझता है उसको हमारे यहाँ रतु (ऋषि) के नामसे कहते हैं। यह ज्ञानमार्ग है। रतु अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानप्राप्त पुरुष। और ऐसे 'रतुओंके रतु' जगद्‌गुरु जरथुस्त्र हैं। जिस प्रकार गीतामें कहा गया है कि **'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'** उसी प्रकार यह अषका मार्ग (ज्ञानमार्ग) इस जरथोस्ती धर्मका मार्ग है।

२-परंतु बिना भक्तिके केवल ज्ञान मनुष्यको अहङ्कारके गड्ढेमें ढकेल देता है और इसलिये उस अहङ्कारको जीतनेके लिये प्रेम-भक्तिकी आवश्यकता है। उस भक्तिका एक स्वरूप (या सर्वोत्तम स्वरूप) सम्पूर्ण कर्म ईश्वरके प्रति समर्पण करना है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९। २७)

इसी प्रकार अहुनवरमें भी कहा गया है कि मनुष्यको 'जीवनके प्रभुका कार्य करनेवाला' बनना चाहिये और ऐसा करनेसे 'वोहु-मनो' (अच्छे मन) का पुरस्कार उसे प्राप्त होता है। 'वोहु-मनो' (अच्छा मन) मनकी विशुद्धि प्रदर्शित करता है। मनमेंसे अहङ्कार (मैं-तूँका भाव) दूर करनेके लिये 'वोहु-मनो' प्रकट होता है और उसके होनेपर सब जीवोंके प्रति प्रेमका उद्भव होता है। 'वोहु-मनो' प्रेमशक्ति प्रकट करता है और वह प्रेम केवल मनुष्योंके लिये ही नहीं, प्रत्युत सारे जीवोंके लिये है। 'वोहु-मनो' प्राणिमात्रके अधिष्ठाता हैं, खास करके गौ—पशु-रक्षा उनका प्रधान कर्तव्य माना जाता है।

३-उपर्युक्त ज्ञान तथा भक्ति दोनों मार्ग तो मनुष्यकी

१- ई०स० २२८—६५१ तक।

२-'अष'का एक रूप 'अर्त' भी है। वह 'ऋत' के साथ मिलता है, यह तो स्पष्ट ही है।

अपनी सिद्धिके काम आते हैं। दोनों साधनोंसे मनुष्य अपना जीवन सार्थक कर सकता है, परंतु फिर भी पूर्ण मोक्ष तो उसे नहीं प्राप्त होता। पूर्ण मोक्षकी प्राप्तिके लिये तो ईश्वर (अहुरमजद)का सम्पूर्ण प्रभाव प्राप्त करना चाहिये। उसकी समानता प्राप्त करनी चाहिये। इसके लिये अहुरमजदका क्षथ्र (क्षत्र) साधन करना चाहिये। यह साधना गरीब, लाचारोंका रक्षक बननेसे प्राप्त होती है। इसमें कर्ममार्ग स्पष्ट दिखायी देता है। हमारा धर्म इस मार्गपर विशेष जोर देता है और आज भी जरथोस्ती लोग (पारसी जाति) कर्म-योगमें आगे बढ़े हुए दिखायी देते हैं।

इस प्रकार ईश्वर-प्राप्तिके तीनों मार्ग—ज्ञान, भक्ति और कर्मका समानतापूर्वक साधन करनेसे ही मनुष्य मोक्षका अधिकारी बनता है, ऐसी अहुनवरकी शिक्षा है। इसी कारणसे यह मन्त्र परम पवित्र माना जाता है। ईश्वरने सृष्टिरचनासे पूर्व ही यह मन्त्र उच्चारण किया,ऐसा कहा जाता है अर्थात् इन नियमोंके आधारपर सृष्टिकी उत्पत्ति हुई और उनकी प्रगतिके लिये ये ही तीनों मार्ग नियत हुए।

एक जगह ऐसा लिखा है कि यदि कोई मनुष्य अहुनवरके मन्त्रका शुद्ध उच्चारण करके पाठ करे और उसका भावार्थ सम्पूर्णरूपसे समझे तो उसे दूसरे सब मन्त्रोंके पाठ करनेके समान ही पुण्यप्राप्ति हो। जिस प्रकारकी त्रिविध योगसाधना इस मन्त्रमें समाहित है उसे देखते हुए इस कथनमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है।

शाक्तागमोंमें योग

(श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी 'व्रजेश')

शक्तिकी उपासना करनेवालोंको शाक्त और उनके धर्म या मतको शाक्तमत कहा जाता है। इस मतमें सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी चिच्छक्तिको शक्तिके नामसे अभिहित किया गया है। इनकी काली, षोडशी, ललिता, भुवनेश्वरी, तारा आदि दशमहाविद्या एवं सीता, सावित्री, गायत्री आदि रूपोंमें भी उपासना की जाती है। शक्तिकी उपासना कई प्रकारसे होती है, इनमें अहिंसात्मक पद्धति, जिसमें किसी तामसी या अपवित्र वस्तुओंका प्रयोग नहीं होता, सर्वोत्तम है। जैसे सीता, राधा, ललिता आदिकी उपासना सर्वोत्तम पवित्र भावना एवं शुद्ध पदार्थोंसे होती है। इसी पद्धतिसे काली, तारा, त्रिपुरा आदिकी उपासना भी विशेष फलवती होती है। यह अहिंसात्मक पद्धति समयाचारके नामसे प्रसिद्ध है। वैष्णवोंकी शक्ति-उपासना-पद्धति भी श्रेष्ठ है। इन्हीं दोनोंका अनुसरण करना चाहिये। इसके विपरीत भावसे शक्ति-उपासना करनेपर भयंकर हानि होती है।

योगमार्गमें शक्ति-उपासना कुण्डलिनी-जागरणके नामसे प्रसिद्ध है। इसमें शिव-शक्तिका अद्भुत सामरस्य होता है। कुण्डलिनीको ही महाशक्ति, महादेवी माना गया है। यह जाग्रत् होनेपर ऋतम्भरा शक्ति या दिव्य ज्ञानको प्रकट कर देती है। उसकी दिव्य क्रीडा साधकको दिव्य ज्ञानसे सम्पन्न कर देती है और लोकोत्तर दिव्य आनन्द प्रदान करती है। देवी-देवताओंके सभी निर्देश परोक्षपूर्ण होते हैं और वे साधककी बड़े प्रयत्नसे सँभाल करते हैं। कुण्डलिनीकी सात्त्विक उपासना-विधि शारदातिलक, रुद्रयामलतन्त्र आदिमें दी गयी है। कुण्डलिनी-शतनाम, सहस्रनाम, स्तोत्र, कवच आदिके पाठसे साधक देवताओंके समान बन जाता है। विशेष उपासनाकी जानकारीके लिये उन ग्रन्थोंको देखना चाहिये और तदनुसार ही सात्त्विक एवं विनीतभावसे शक्ति-उपासनारूप योग-साधनमें प्रवृत्त होना चाहिये। कारुण्यका आधिक्य होनेसे माता अति शीघ्र ही पुत्रवत् साधकों एवं भक्तोंका परम कल्याण कर देती हैं।

वह परब्रह्म सबके मुखरूप, मस्तकरूप तथा ग्रीवारूप है, वह प्राणिमात्रकी हृदयरूपी गुहामें रहता है। वह सब वस्तुओंमें व्याप्त है, सबकी समृद्धिका दाता है।—उपनिषद्

उस परमपुरुष परमात्माको कुछ लोग विशुद्ध सूक्ष्म बुद्धिसे, कुछ ध्यानके द्वारा हृदयमें, कुछ ज्ञानयोगके द्वारा और कुछ लोग निष्कामकर्मयोगके द्वारा देखते हैं।—श्रीमद्भगवद्गीता
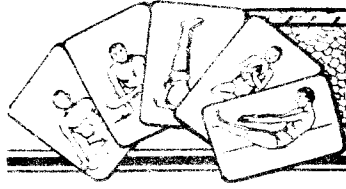
मुख्य आसन और उनसे लाभ

(स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी)

आर्य महर्षियोंने मानवके कल्याणके लिये अधिकारिभेदसे ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, मन्त्रयोग, राजयोग, हठयोग, लययोग प्रभृति अनेक मार्ग प्रवर्तित किये हैं। इन सब मार्गोंमें हठयोगके आसनादि साधनोंका किसी-न-किसी रूपमें प्रयोग करना ही पड़ता है। अतएव हठयोग सब प्रकारके योगोंका सहयोगी है। हठयोगके चार अङ्ग हैं—आसन, प्राणायाम, मुद्रा और नादानुसंधान। आसन ही प्रथम अङ्ग है। इसके अनेक प्रकार हैं। आसनोंके अभ्याससे नाडीसमूहकी मृदुता, सहनशीलताकी वृद्धि, शरीरकी लघुता, मनकी एकाग्रता और प्राणतत्त्वका ऊर्ध्वगमन होता है तथा शरीरके अनेक रोगोंकी निवृत्ति होती है।

विभिन्न आसनोंके विभिन्न परिणाम होते हैं। साधककी प्रकृतिके अनुसार उसके लिये जो आसन अनुकूल हो, उसे मुख्य और दूसरोंको गौण जानना चाहिये। मुख्य आसनोंका अभ्यास तो सदाके लिये किया जाता है, परंतु गौण आसन मलादि दोषोंकी निवृत्तिके लिये किसी अवधिविशेषतक ही किये जाते हैं। आसनोंसे जहाँतक रोग-निवृत्तिका सम्बन्ध है वहाँतक बाल, वृद्ध, युवा, स्त्री-पुरुष सभी इनके अधिकारी हैं। परंतु यदि प्राणायाम आदिके द्वारा राजयोगमें प्रवेश करना हो तो वैसी स्थितिमें आसनके अधिकारी केवल मुमुक्षु ही हो सकते हैं। प्रथम कोटिके अधिकारीकी अपेक्षा मुमुक्षुको आसनोंके अभ्यासमें अधिक दृढ़ता तथा नियमबद्धताका पालन करना पड़ता है।

योगाभ्यास एकान्त और पवित्र स्थानोंमें करना चाहिये, जहाँ किन्हीं जीव-जन्तुओंका उपद्रव तथा कोलाहल न हो। योगाभ्यासके समय प्रबल वायुके झोंकेसे बचना चाहिये और निश्चल मनसे पहले आसनकी क्रिया करनी चाहिये। आसनोंके अनेक प्रकार हैं, परंतु यहाँ शास्त्रानुसार कुछ अत्यन्त उपयोगी आसनोंका वर्णन किया जाता है।

१-सिद्धासन—८४ आसनोंमें सिद्धासन सर्वोत्तम माना जाता है। योनिस्थान (गुदा और मूत्रेन्द्रियके मध्यभाग) में वाम पादकी एड़ीको रखे और दाहिने पादको इस प्रकार सावधानीसे मूत्रेन्द्रियपर रखे कि मूत्रेन्द्रिय और वृषणको बाधा न पहुँचे और दोनों पैरोंके अग्रभाग जानु और ऊरुके मध्यमें रखे। इसे ही सिद्धासन कहते हैं। इस आसनका अभ्यास करते समय हनु (ठोढ़ी) को कण्ठके नीचेके भागमें लगाये। इसे जालन्धरबन्ध कहते हैं। गुदाके ऊपर आधारचक्रसे अपानतत्त्वका आकर्षण करे—इसे मूलबन्धकी क्रिया कहते हैं। दृष्टि भ्रू-स्थानमें रखे, परंतु आसनका अभ्यास एक घंटेसे अधिक बढ़नेपर ही इस अभ्यासको करे, अन्यथा दृष्टि विकृत हो जायगी। दोनों हाथोंको सीधा जानुओंपर रखे। परंतु तर्जनीको मोड़कर अंगुष्ठमूलमें लगाये, शेष तीन अँगुलियोंको भी थोड़ा मोड़ दे। इससे प्राणतत्त्व हाथोंसे बाहर नहीं जा सकेगा।

प्राणायामादि अन्य साधनोंका अभ्यास न करके भी साधक यदि बारह वर्षतक नियमपूर्वक आत्मानुसंधानके साथ मौन रहकर सिद्धासनका अभ्यास करे तो वह चित्तवृत्ति-निरोधरूप योगसिद्धि प्राप्त कर सकता है। प्रातः-सायं दोनों कालमें इस आसनका साधन किया जा सकता है और बढ़ाते-बढ़ाते एक वर्षमें बारह घंटेतक लगातार बैठनेका अभ्यास हो जाता है। इस आसनपर बैठनेपर सुषुम्ना नाडी स्वभावतः सीधी रहती है और प्राणापानकी क्रिया नियमित हो जाती है और नाड़ी-मलका शोधन होता है। प्राणतत्त्व सहज ही ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होने लगता है, जिससे मनके निरोधमें सफलता मिलती है।

इस आसनसे फुफ्फुस और हृदयको बलवान् बनाते हुए स्वयं ही श्वास-प्रश्वासकी क्रिया दीर्घ होने लगती है और आन्त्रगति भी वृद्धिको प्राप्त होती है। पाचनक्रिया नियमित हो जाती है और कास, श्वास, प्रतिश्याय (जुकाम), हृदयरोग, प्लीहावृद्धिजनित ज्वर, जीर्ण ज्वर, अजीर्ण, अतिसार, प्रवाहिका (पेचिश), स्वप्नदोष, शुक्रनिर्गमन, बहुमूत्र, मूत्रकृच्छ्र आदि रोग नष्ट हो जाते हैं। संन्यासियों और त्यागियोंके लिये यह आसन बहुत ही कल्याण करता है।

२-गुप्तासन—जिस साधकका वृषणस्थान दोषपूर्ण हो, जिसे कटिवात या भगंदर रोग हो और इस कारण जो सिद्धासन न कर सके, उसके लिये गुप्तासन बहुत ही उपयोगी होता है। इसके गुण सिद्धासनके समान ही होते हैं। क्रिया इस प्रकार है—लिङ्गके ऊपर वाम पादके गुल्फको रखे और उसके ऊपर दक्षिण गुल्फको रखकर स्थिर बैठ जाय। पादके अग्रभाग, ठोडी, दृष्टि, हाथ आदि अङ्गोंको सिद्धासनके ही अनुसार रखे। इसे ही गुप्तासन कहते हैं। दाहिने पैरको स्वाधिष्ठानचक्रपर रखनेसे उड्डीयानबन्ध हो जाता है और उड्डीयानबन्धका साधन सिद्धासनकी अपेक्षा गुप्तासनमें कहीं अधिक अनुकूल होता है। परंतु आधारचक्रपर बाहरसे दबाव न पड़नेके कारण सुषुम्नाके नीचेके भागका जहाँसे कुण्डलिनीशक्ति ऊपर उठती है, शोधन नहीं होता। सिद्धासनके अन्य सभी फल इस आसनद्वारा प्राप्त होते हैं।

३-मुक्तासन—दक्षिण और वाम दोनों पैरोंकी एड़ियोंको मिलाकर वृषण और गुदाके मध्यमें रखे और दृष्टि, जालन्धरबन्ध, हाथोंकी स्थिति आदि सिद्धासनके समान ही रखे। यही मुक्तासन कहलाता है। इस आसनका अभ्यास करते समय प्रारम्भमें पैरोंकी नसें खिंचती हैं और पैर भलीभाँति जमीनपर नहीं बैठते। परंतु थोड़े दिनोंके अभ्याससे यह कठिनाई दूर हो जाती है। मुक्तासनका अभ्यास कर लेनेके बाद सिंहासन, भद्रासन और पश्चिमतानासनके अभ्यासमें सरलता होती है। इस आसनसे नाड़ियाँ मुलायम होती हैं। मूलबन्धके प्रारम्भिक साधनमें यह आसन बहुत हितकर होता है।

४-भद्रासन—योनिस्थानके दोनों ओर दोनों पैरोंकी एड़ियोंको रखे, दक्षिण भागमें दक्षिण एड़ी और वाम भागमें वाम एड़ी, यही भद्रासन है। मुक्तासनमें पैरोंका अग्रभाग आगे रहता है परंतु इस आसनमें वह पीछेकी ओर मुड़ा रहता है। इस आसनको गोरक्षासन भी कहते हैं। इस आसनमें स्थित होकर दोनों हाथोंसे पीठकी ओर निकले हुए पैरोंके अग्रभागको पकड़े और दृष्टि नासिकाके अग्रभागपर रखे।

इस आसनसे पैरोंकी नसें शीघ्र मुलायम हो जाती हैं और मूलबन्ध सहज ही लग जाता है। इसके अभ्याससे मलावरोधसे उत्पन्न व्याधियाँ तथा वातव्याधि दूर होती है। आम, कफ और मेदवृद्धिके रोगियोंको भी इससे बहुत लाभ होता है। अपान-तत्त्वको ऊर्ध्वगामी बनानेमें भी यह आसन सहायक होता है।

५-सिंहासन—योनिस्थानमें दक्षिण तरफ वाम गुल्फको रखे और उसके ऊपर वाम पार्श्वमें दक्षिण गुल्फको रखे, दोनों हाथोंकी अँगुलियोंको फैलाकर घुटनेपर रखे और मुख खुला रखे। दृष्टि भ्रूमध्यमें रखे। इसे सिंहासन कहते हैं।

इस आसनके अभ्याससे उपर्युक्त तीनों बन्धोंकी सहज ही सिद्धि होती है। जालन्धरबन्ध बिगड़नेपर इस आसनका अभ्यास बहुत ही हितकर होता है। नाड़ियोंको मुलायम करके कुण्डलिनीके जाग्रत् करनेमें यह आसन सहायता पहुँचाता है। शरीरके ज्ञानतन्तुको बलवान् करता है, उदरवातका शमन करता है। इससे आन्त्रकी निर्बलता दूर होती है, पाचनशक्ति बलवान् होती है और मलावरोधजनित रोग दूर होते हैं।

६-स्वस्तिकासन—दोनों ओरके जानु और जंघाके बीचमें दोनों पादतलोंको रखकर स्थिर बैठनेको स्वस्तिकासन कहते हैं। इस आसनमें बायाँ पैर नीचे रखे और दाहिना पैर ऊपर। शारीरिक अस्वस्थतामें दूसरे आसनोंके अनुपयोगी होनेपर यही आसन लाभप्रद होता है। निर्बल मनुष्य इस आसनपर अधिक देरतक आसानीसे बैठ सकता है।

७-पद्मासन—पहले बायीं जाँघके ऊपर दाहिने पैरको रखे, फिर बायें पैरको दाहिनी जाँघपर रखे। यही पद्मासन है। परंतु प्राचीन सम्प्रदायके अनुसार पहले बायाँ पैर रखे और उसके ऊपर दाहिना पैर रखे। इन दोनोंमेंसे अपनी प्रकृतिके अनुसार जैसा ठीक हो वैसा करे। दोनों एड़ियोंको नाभिके दोनों पार्श्वोंमें अच्छी रीतिसे लगा ले और दोनों जानु जमीनसे लगे रहें तथा पृष्ठभागसे दोनों हाथोंको ले जाकर बायें हाथसे बायें पैरके अँगूठेको और दाहिने हाथसे दाहिने पैरके अँगूठेको पकड़े। जालन्धरबन्ध लगाकर दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखे।

इस आसनके अभ्यासके साथ जिह्वाग्रको उलटकर जिह्वामूलमें ले जाय, इससे खेचरीमुद्रा सिद्ध होती है तथा मूलबन्ध भी स्वभावतः ही लग जाता है, और आधारचक्रका शान्तिपूर्वक संकोच-विकास करते हुए अपानतत्त्वको ऊपर आकर्षित करनेसे वह दृढ़ हो जाता है। इससे कुण्डलिनीशक्ति जाग्रत् होती है।

इस आसनसे सुषुम्ना नाडी सीधी रहती है, फुफ्फुसोंकी

श्वासोच्छ्वासक्रिया नियमित रीतिसे होने लगती है। इसी कारण प्राणायामके अभ्यासमें अन्य आसनोंकी अपेक्षा यह आसन श्रेष्ठ माना जाता है। इसके अभ्याससे हृदय और फुफ्फुसकी निर्बलता, उदररोग, मलावरोधजनित रोग, रक्त-विकार, चर्मरोग, कटिवात, उदरवात, गृध्रसी, आमवात, कास, श्वास, जीर्णज्वर, यकृत्-विकृति, प्लीहा-विकृति आदि रोग दूर होते हैं। इस आसनके अभ्यासमें अधिक चलना हानिकर होता है।

८-कुक्कुटासन—पद्मासन लगाकर दोनों हाथोंको घुटनों और जंघाओंके मध्यसे नीचेकी ओर निकालकर जमीनपर रखे और हाथोंके दोनों तलोंके आधारपर पद्मासन लगे हुए शरीरको ऊपर उठाये। इस कुक्कुटके समान स्थितिको ही कुक्कुटासन कहते हैं।

अन्त्रकी निर्बलताके कारण दुष्ट अपान वायु जो अन्त्रमें उत्पन्न होकर उदरको फुलाता और मलावरोध करके स्वप्नदोष कराता है, उसकी उत्पत्ति इस आसनके अभ्याससे रुक जाती है। लघु अन्त्र बलवान् हो जाते हैं, बृहद् अन्त्रमें भी मलको शीघ्र गति मिलती है। बाहुकी नसें और मांसग्रन्थि दृढ़ होती हैं। सुषुम्नाका मुख खुल जाता है और अपानतत्त्व ऊर्ध्वगमन करने लगता है।

९-पश्चिमतानासन—दोनों पैरोंको दण्डके समान सीधा फैला दे और दोनों एड़ियोंको एक साथ मिला ले। फिर दोनों हाथोंकी तर्जनीके द्वारा पैरोंके अँगूठोंको पकड़कर ललाटको घुटनोंपर रखे। घुटनोंको जमीनसे उठने न दे। इस आसनके अभ्यासमें पहले पैरोंको फैलाकर हाथको लम्बा करके शरीरको बार-बार पैरोंकी ओर झुकाना पड़ता है। प्रतिदिन आधा घंटा अभ्यास करनेसे आठ-दस दिनोंमें आसन लग जाता है। पीछे धीरे-धीरे इस आसनकी अवधिको बढ़ाना चाहिये।

इस आसनसे नसें मलरहित होकर मृदु बनती हैं, जठराग्नि प्रदीप्त होती है। कफ, आम और मेद जल जाता है। नौलिक्रिया करनेमें बहुत सहायता मिलती है। मन्दाग्नि, मलावरोध, अजीर्ण, उदररोग, कृमिविकार, प्रतिश्याय, वातविकार आदि रोग इससे दूर होते हैं। इसके अभ्याससे सुषुम्ना नाडीमेंसे प्राणतत्त्व मस्तिष्कमें पीछेकी ओरसे आने लगता है। यही पश्चिममार्गगमन कहलाता है और इसी कारण इसे पश्चिमतानासन कहते हैं। सिद्धासन, पद्मासनादि आसनोंमें पूर्व-पश्चिम दोनों मार्गोंपर समान असर पड़ता है। भ्रूमध्यसे होकर प्राणतत्त्वके ऊर्ध्व सहस्रदलकमलमें गति करनेको पूर्वमार्ग कहते हैं। दोनों मार्गोंकी अपेक्षा एक ही मार्गपर सारी शक्तिका प्रयोग होनेसे सफलता शीघ्र मिलती है। इसी कारण यह आसन योगमार्गमें बहुत ही लाभदायक माना जाता है।

१०-मयूरासन—दोनों हाथोंके तलोंको एक साथ जमीनपर रखे और दोनों कूर्पर (केहुनी) को नाभिके पास लगाकर दण्डके समान शरीरको धारणकर ऊपर उठा ले, इस आसनको मयूरासन कहते हैं। अन्य आसनोंके अभ्याससे नाड़ी-समूहके मुलायम होनेपर ही इस आसनका अभ्यास करना चाहिये। अन्त्रके कठोर होनेपर मयूरासनका अभ्यास करनेसे उदरमें दर्द होने लगता है और वह बढ़कर अन्त्रमें शोथ उत्पन्न करके नाना रोगोंको पैदा करता है।

इस आसनसे गुल्म, उदररोग, त्वचादोष, कटिवात, कफवृद्धि, कास, श्वास आदि रोग दूर होते हैं। वस्तिक्रिया करनेके पूर्व पाँच-सात मिनटतक इस आसनका कर लेना बहुत ही हितकर होता है।

११-शीर्षासन—पहले जमीनपर एक मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रखकर उसपर अपने मस्तकको रखे, फिर दोनों हाथोंके तलोंको मस्तकके पीछे लगाकर शरीरको उलटा ऊपर उठाकर सीधा खड़ा कर दे। इसे शीर्षासन कहते हैं। इसमें सिर नीचे और पैर ऊपर होता है, अतः इसे विपरीत-करणीमुद्रा भी कहते हैं। कोई-कोई शीर्षासनको कपाली नामसे भी पुकारते हैं। इस आसनको पहले एक-दो मिनट करे, फिर बढ़ाते-बढ़ाते एक घंटातक कर ले। जिस साधकके शरीरमें त्रिधातु सम हो, जो बलवान् और युवा हो, उसके लिये शास्त्रकारोंने इस आसनका अभ्यास बढ़ाकर तीन घंटेतक करनेको लिखा है। परंतु यह अवधि जिज्ञासुओंके लिये ही है। आरोग्यता प्राप्त करनेके लिये एक घंटेसे अधिक यह आसन करना ठीक नहीं होता।

इस आसनमें पैरोंकी ओरसे रक्तका प्रवाह मस्तिष्ककी ओर होने लगता है। इसलिये इस आसनकी क्रिया समाप्त होनेपर आध घंटेतक शवासन करना चाहिये, जिससे रक्तकी गति सम हो जायगी। इस प्रकारके रक्तके आवागमनसे

रक्ताभिसरणकी क्रिया बलवान् होती है। मलदोष नष्ट होता है, प्राणतत्त्व सुषुम्नाके द्वारा मूलाधारचक्रकी ओर जानेके लिये प्रयत्न करता है और पुनः रक्ताभिसरणके द्वारा मस्तिष्कमें जानेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार बिना प्राणायामके ही कुण्डलिनीशक्ति जाग्रत् हो जाती है। नाद जोरसे उठने लगता है और मनको एकाग्रता प्राप्त होती है।

इस आसनका तीन घंटेतक नियमपूर्वक छः मासपर्यन्त अभ्यास करनेसे वात, पित्त और कफदोषसे उत्पन्न सब रोग, ज्वर, कास, श्वास, उदररोग, कटिवात, अर्धाङ्ग, ऊरुस्तम्भ, वृषणवृद्धि, नाडीव्रण, भगंदर, कुष्ठ, पाण्डु, कामला, प्रमेह, अन्त्रवृद्धि आदि रोग दूर हो जाते हैं। परंतु इस आसनका अभ्यास करते हुए घी और दूधका पर्याप्त सेवन करना चाहिये, अन्यथा इस विपरीतकरणी-मुद्रासे विपरीत ही फलकी प्राप्ति होती है।

जिनका मस्तिष्क निर्बल और उष्ण रहता है, नेत्र सदा लाल रहते हैं, जिन्हें उरःक्षत, क्षय, हृदयकी गतिवृद्धि, नवज्वर, श्वास-रोगका तीक्ष्ण प्रकोप, ऊर्ध्व रक्त-पित्त, वमन, हिक्का, उन्माद, निद्रानाश आदि रोग हों, उन्हें शीर्षासन बहुत ही हानिकर होता है। शीर्षासनका अभ्यास प्रातःकाल भोजन करनेके पहले ही करना चाहिये। भोजनके पश्चात् या रात्रिमें इसका अभ्यास करना हानिकर होता है। प्रातःकाल भी एक समय दो बार अभ्यास नहीं करना चाहिये। इस आसनमें मस्तिष्क बहुत तप जाता है, इसलिये सात्त्विक आहारद्वारा मस्तिष्ककी उष्णताको दूर करना चाहिये। इस आसनके करनेके बाद आधे घंटेतक विश्राम करना चाहिये। तुरंत ही मुख-हाथ धोना, शीतल जलसे स्नान करना, खुली वायुमें घूमना बहुत ही हानिकारक होता है। केवल शवासनमें लेटकर नादानुसंधान करना चाहिये। शौच जानेके पहले और स्नानके बाद शीर्षासन नहीं करना चाहिये। प्राणायामके अभ्यासके बाद भी शीर्षासन हानिकर होता है। हाँ, शीर्षासनके पहले अन्य आसनोंका अभ्यास किया जा सकता है।

शीर्षासनके अभ्यासमें यदि उष्णताकी वृद्धि होकर ताप आ जाय, तो अभ्यास बंद करके केवल दूध और घीका सेवन करे, और कुछ न खाय। ओषधिका सेवन नहीं करना चाहिये। क्योंकि ज्वरकी ओषधि यकृत् और हृदयकी क्रियाको शिथिल करती है तथा रक्त-संचयको दूर करनेमें बाधा डालती है। इसमें शवासन लगाना या शरीरको शिथिल करके आराम-कुर्सीपर पड़े रहना अधिक लाभदायक होता है। ऐसे तापके समय भोजन करनेसे वह कुपित होकर विशेष संकटमय हो जाता है।

इस आसनका अभ्यास करते समय बार-बार मस्तकका ऊपर उठाना भी बहुत हानिकर होता है, क्योंकि इससे कभी मस्तिष्ककी शिराओंके फट जानेका भय रहता है। शिराओंके फटनेसे मृत्युतककी आशङ्का हो जाती है। अतः सिरमें रक्तके संचित हो जानेपर ऐसी कोई भी क्रिया नहीं करनी चाहिये जो मस्तिष्ककी शिराको आघात पहुँचाये।

यदि कोई बूढ़ा जिज्ञासु भी शीर्षासनका नियमपूर्वक अभ्यास करे तो एक वर्षके बाद उसके सिरके सफेद बाल काले होने लगेंगे। शारीरिक निर्बलता दूर होने लगेगी, शरीर नीरोग और तेजस्वी हो उठेगा। जो साधक प्राणायामका अधिकारी न हो वह यदि शीर्षासनका नियमित अभ्यास करे तो वह भी सहज ही राजयोगमें प्रवेश कर सकेगा।

इस आसनसे स्वभावतः ही तीनों बन्ध लग जाते हैं, अपानतत्त्व पश्चिममार्गसे मस्तिष्कमें गमन करने लगता है।

१२-मत्स्येन्द्रासन—बायीं जंघाके मूलमें दाहिने पैरको रखे। दाहिनी एड़ीको नाभिस्थानमें या उससे कुछ दाहिनी ओर लगाये। पैरका अग्रभाग जंघापर रखे। पीछे पीठकी ओरसे बायें हाथको लाकर एड़ीसे तीन इंच आगे ऊपरकी ओर पकड़े। हाथका अँगूठा जानुकी ओर रहेगा और कनिष्ठिका एड़ीकी ओर रहेगी। पीछे बायें पैरको दक्षिण जानुसे आगे बाहर निकाले। तब बायें पैरका घुटना हृदयके समीप खड़ा-सा प्रतीत होगा तथा बायें पैरके तलका अग्रभाग थोड़ा-सा दाहिने घुटनेके नीचे लगता रहेगा। मुखको दाहिनी ओर फिरा ले और दृष्टिको भ्रूमध्यमें स्थिर रखे। इस आसनको मत्स्येन्द्रपीठ कहते हैं।

इस आसनका दूसरे प्रकारसे भी अभ्यास किया जाता है। पहले दाहिनी जंघापर बायें पैरके अग्रभागको रखे। पीछे दाहिने हाथको पीठकी ओरसे निकालकर उससे बायें पैरको ऊपरसे पकड़े। पीछे दाहिने पैरको बायें घुटनेसे बाहर निकाले

और बायें हाथको दाहिने पैरके पीछेसे निकालकर दाहिने पैरके अँगूठेको पकड़े। मुखको बायीं ओर घुमा ले, दृष्टि भ्रूमध्यमें रखे। इसकी सारी क्रियाएँ पहली रीतिके विपरीत होती हैं।

उपर्युक्त दोनों रीतियोंसे समान समयतक अभ्यास करे। केवल एक ही रीतिसे अभ्यास करना हानिकर होता है। पश्चिमतान, मयूरासन आदि आसनोंसे नाडी-समूहको मुलायम बनानेके बाद इस आसनका अभ्यास करना चाहिये। इसका अभ्यास बहुत कठिन है, परंतु फल भी बहुत ही दिव्य होता है। प्रातः-सायं एक-एक घंटेतक नित्य अभ्यास करनेसे एक ही वर्षमें नाडियोंके सम्पूर्ण मलदोष और त्रिधातुजनित सारे रोग जलकर भस्म हो जाते हैं और दसवें समुद्रनादके खुल जानेसे मनोवृत्ति एकाग्र हो जाती है। इस आसनके अभ्याससे बिना प्राणायामके ही कुण्डलिनी जाग्रत् हो उठती है और जठराग्नि प्रदीप्त होती है। अन्त्र, पार्श्वभाग और मूत्राशयका संकोच होता है और ज्ञानतन्तु अधिकाधिक बलवान् होने लगते हैं। इससे अतिसार, ग्रहणी, मलावरोध, रक्तविकार, कृमि, श्वास, कास, वातरोग, मेदवृद्धि, अन्त्रवृद्धि तथा रस-रक्तादि सप्त धातुओंकी विक्रिया दूर होकर स्वास्थ्यकी प्राप्ति होती है।

३०-शवासन—भूमिपर शवके समान चित लेटे रहना, दोनों पैरोंके अग्रभागको मिलाकर ऊपर रखना, पैरकी अँगुलियोंको ऊपर सीधा रखना और हाथोंको सीधा पैरोंकी ओर बढ़ाकर छोड़ देना तथा सारे अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको शिथिल कर देना शवासन कहलाता है।

आसन अथवा प्राणायामके पश्चात् नाडियोंके क्षोभको शमन करके शान्त करनेके लिये इस आसनका उपयोग होता है। साधकको प्रतिदिन अभ्यासके पश्चात् शवासनके द्वारा आधा घंटा विश्राम करना चाहिये। शवासनमें नसें सीधी रहती हैं और रक्ताभिसरणक्रिया प्रकृतिके अनुकूल होने लगती है। प्राणतत्त्व मस्तिष्ककी ओर गति करने लगता है, जिससे मन शान्त हो जाता है।

यौगिक व्यायाम एवं कुछ सामान्य नियम

[मुख्य योगासन]

१-स्वस्तिकासन—बायाँ पाँव बायीं जंघाकी ओर फेरकर एड़ीको सीवनीकी दायीं ओर इस प्रकारसे रखे कि बायें पाँवकी तली दायीं जाँघके साथ लगी रहे। पश्चात् दायाँ पाँव दायीं जंघाकी ओर फेरकर एड़ीको सीवनीकी बायीं ओर इस प्रकारसे रखे कि दायें पाँवकी तली बायीं जाँघके साथ लगी रहे। दायें पाँवकी अँगुलियाँ बायीं जंघा तथा पिंडलीके बीच अच्छी प्रकारसे डाल दे । उसी प्रकार बायें पाँवोंकी अंगुलियाँ दायीं जंघा तथा पिंडलीके बीच अच्छी प्रकारसे डाल दे। हाथोंको उलट कर घुटनोंपर रखे। अथवा ज्ञानमुद्रा करे, जिसकी विधि इस प्रकार है—दोनों हाथोंकी कलाईको दोनों घुटनोंपर रखकर तर्जनी अर्थात् अँगूठेके पासकी अंगुली तथा अँगूठेको एक दूसरेकी ओर फेरकर दोनोंके सिरे आपसमें मिला दे और शेष अँगुलियाँ सीधी फैलाकर रखे। अथवा बायाँ हाथ एड़ियोंके ऊपर सीधा रखकर उसी प्रकार दायाँ हाथ उसके ऊपर रखे। आँखें बंद कर ले अथवा यदि नासाग्रदृष्टिका अभ्यास करना हो तो नासिकाके अग्रभागपर दृष्टिको स्थिर करे और यदि भ्रूमध्यदृष्टिका अभ्यास करना हो तो भ्रूमध्यमें दृष्टिको स्थिर करे। इसका नाम स्वस्तिकासन है। इस आसनकी विधिमें दायें पाँवके स्थानपर बायें पाँवका तथा बायें पाँवके स्थानपर दायें पाँवका उपयोग भी किया जाता है।

२-समासन—बायाँ पाँव बायीं जंघाकी ओर ले जाकर उसकी एड़ी उपस्थेन्द्रियके ऊपर अर्थात् जंघास्थिपर रखे। पश्चात् दायाँ पाँव दायीं जंघाकी ओर ले जाकर उसकी एड़ी बायें पाँवकी एड़ीके ऊपर जंघास्थिके साथ इस प्रकार लगाकर रखे कि बायें पाँवकी अँगुलियाँ दायें पाँवकी पिंडली तथा जंघाके बीच आ जायँ, पश्चात् उसी प्रकार दायें पाँवकी अँगुलियाँ बायें पाँवकी पिंडली तथा जंघाके बीच डाले। हाथ और नेत्र स्वस्तिकासनके समान रखे। इस आसनमें भी दायें-बायें पाँवका हेर-फेर किया जा सकता है।

३-पद्मासन—दायाँ पाँव दायीं जंघाकी ओर ले जाकर उसको इस प्रकार दायीं जंघापर रखे कि उसकी एड़ी पेटके बायें भागके मध्य कोनेको स्पर्श करे। उसी प्रकार बायें पाँवको

उसीकी जंघाकी ओर ले जाकर उसकी एड़ीको दायीं जंघापर इस प्रकारसे रखे कि पेटके दायें भागके निचले कोनेको स्पर्श करे। इसको पदबन्ध कहते हैं। पश्चात् हाथोंको स्वस्तिकासनके समान एड़ियोंपर सीधे रखने, नासाग्रदृष्टि करने, ठोड़ीको छातीके ऊपरके हिस्सेमें दबाकर जालन्धरबन्ध करने तथा गुदाका संकोचकर मूलबन्ध करनेसे पद्मासन होता है।

४-सिद्धासन—बायाँ पाँव उसकी जंघाकी ओर ले जाकर एड़ीको सीवनी अर्थात् गुदा और उपस्थेन्द्रियके बीच इस प्रकारसे दबाकर रखे कि बायें पाँवका तल दायें पाँवकी जंघाको स्पर्श करे। इसी प्रकार दायाँ पाँव उसी जंघाकी ओर ले जाकर एड़ीको जंघास्थि अर्थात् उपस्थेन्द्रियके ऊपर इस प्रकारसे दबाकर रखे कि दायें पाँवकी अँगुलियाँ बायें पाँवकी पिंडली तथा जंघाके बीच आ जायँ। पश्चात् उसी प्रकार बायें पाँवकी अँगुलियाँ दायें पाँवकी पिंडली तथा जंघाके बीच अच्छी प्रकार डाले और उपस्थेन्द्रिय तथा अण्डकोशोंको दायें पाँवके नीचे ठीक प्रकारसे रखे। ज्ञानमुद्रा तथा जालन्धरबन्ध करे, भ्रूमध्यदृष्टि रखे। इसका नाम सिद्धासन है।

५-उड्डीयान (खड़े होकर)—दोनों पाँवोंके बीच अन्तर छोड़कर खड़ा हो जाय, थोड़ा-सा आगे झुके और घुटनोंको भी थोड़ा टेढ़ा करे, हाथ जाँघोंपर रखे, पेटकी (स्नायुओं) नसोंको अच्छी प्रकार अंदर सिकोड़कर पूर्ण रेचक करे अर्थात् सब श्वासको पूर्णतया बाहर निकाल दे तथा बाह्य कुम्भक करे अर्थात् श्वासको अंदर मत ले। अब ऐसी अवस्थामें ही जिस प्रकार श्वास लेते समय पसलियाँ ऊपर उठती हैं तथा पेटकी (स्नायु) नसें शिथिल पड़ जाती है, उसी प्रकार श्वास अंदर न लेते हुए पसलियोंको ऊपर उठाये तथा पेटकी (स्नायुओं) नसोंको ढीला छोड़ दे। ऐसी अवस्थामें पेट अंदरकी ओर सिकुड़कर गोलाकार हो जायगा। यही खड़े होकर उड्डीयान करनेकी विधि है।

६-उड्डीयान (बैठकर)—पद्मासनमें बताये-अनुसार पदबन्ध करे तथा हाथ घुटनोंपर रखकर थोड़ा आगे झुके और पेटके स्नायुओंको अंदर सिकोड़कर पूर्ण रेचक करे तथा पश्चात् बाह्य कुम्भक करे और इसके पश्चात् श्वास अंदर न लेते हुए अंदर लेनेके समान ही पसलियोंको ऊपर उठाये और पेटके स्नायुओंको ढीला छोड़े। ऐसी अवस्थामें उड्डीयानके समान पेट अंदरकी ओर सिकुड़कर गोलाकार हो जायगा। यह बैठकर उड्डीयान करनेकी विधि है।

७-नौलि (मध्यम)—खड़े होकर उड्डीयानकी अवस्थामें ही तत्काल जंघास्थिके ऊपरी भागको (पेटके निचले हिस्सेको) नीचे दबानेवाला तथा आगे ले जानेवाला इस प्रकारका धक्का दे कि जिससे पेटके आस-पासके स्नायु अंदर सिकुड़कर मध्यके स्नायु अर्थात् नल बाहर निकल आयें, इसी समय हाथोंसे घुटनोंपर जोर डाले। ऐसी अवस्थामें पेटके मध्यके स्नायु अर्थात् नल इकट्ठे होकर आस-पासके स्नायुओंसे अलग हुए दीखेंगे, इसीका नाम मध्यम नौलि है।

८-दक्षिणनौलि—मध्यम नौलिकी अवस्थामें ही सब शरीरको दायीं ओर अधिक परिमाणमें आगे फेर दायें हाथसे दायीं जंघापर अधिक जोर डाले तथा उसी समय पेटके बायें भागको ढीला छोड़े। ऐसा करनेसे पेटका दायाँ स्नायु अर्थात् नल सिकुड़कर आगे तथा दायीं ओरके कोनेमें चला जायगा तथा पेटका बायाँ स्नायु अर्थात् नल ढीला पड़ जायगा। इसीको दक्षिणनौलि कहते हैं।

९-वामनौलि—मध्यम नौलिकी अवस्थामें ही सारे शरीरको बायीं ओर अधिक परिमाणमें आगे फेरकर बायें हाथसे बायीं जंघापर अधिक जोर डाले तथा उसी समय पेटके दायें भागको ढीला छोड़े, ऐसा करनेसे पेटका बायाँ स्नायु अर्थात् नल सिकुड़कर आगे तथा बायीं तरफके कोनेमें चला जायगा और पेटका दायाँ स्नायु ढीला पड़ जायगा। इसका नाम वामनौलि है।

१०-सिंहासन—पाँवोंको लंबा करके एक दूसरेसे मिलाकर बैठे। बायाँ पाँव उसी जंघाकी ओर फेरकर दायें नितम्बके नीचे इस प्रकारसे रखे कि उसका तला ऊपरकी ओर रहे। इसी प्रकार दायाँ पाँव उसी जंघाकी ओर फेरकर बायें पाँवके नितम्बके नीचे इस प्रकारसे रखे कि उसका तला ऊपरकी ओर रहे। इतना हो जानेपर आपको यह प्रतीत होगा कि हम पाँवोंकी एड़ियोंके ऊपर बैठे हैं। हाथोंकी अँगुलियाँ लंबी तथा फैलाकर घुटनोंपर उलटी रखे और सब शरीरका भार हाथोंपर जोर देकर घुटनोंपर डाले तथा सिंहके समान मुखको खूब फाड़कर जीभको जितना भी बाहर निकाल सके निकाले। भ्रूमध्यदृष्टि तथा जालन्धरबन्ध करे। इसका नाम
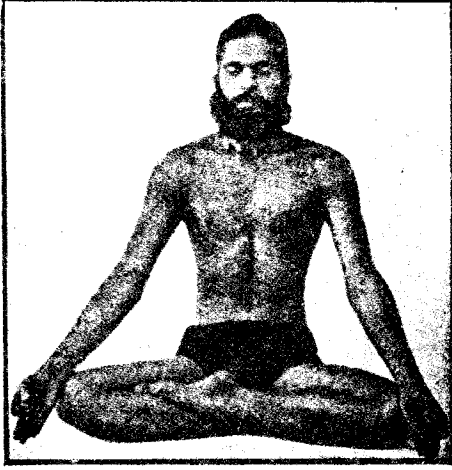
(१) स्वस्तिकासन
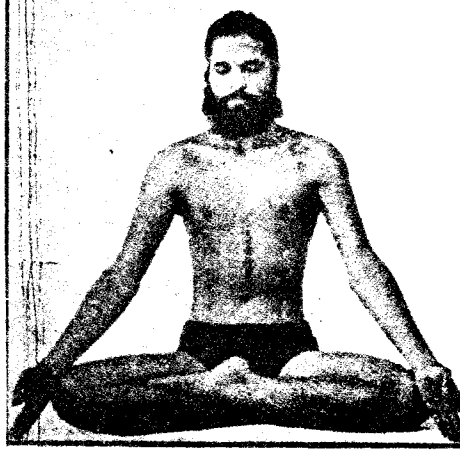
(२) समासन
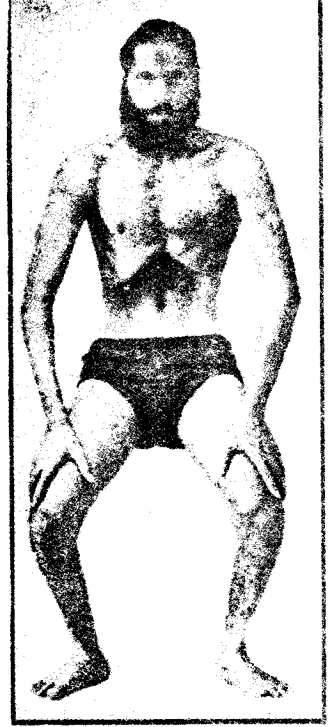
(३) पद्मासन

(४) सिद्धासन

(५) खड़े होकर उड्डीयान
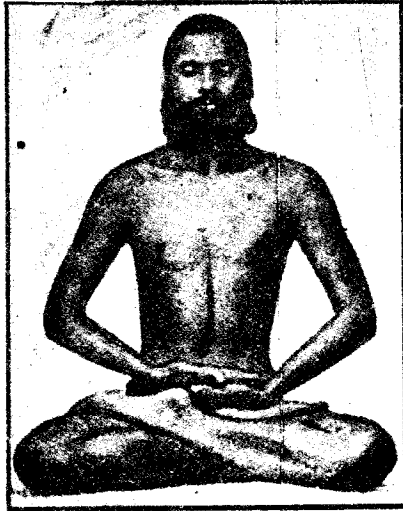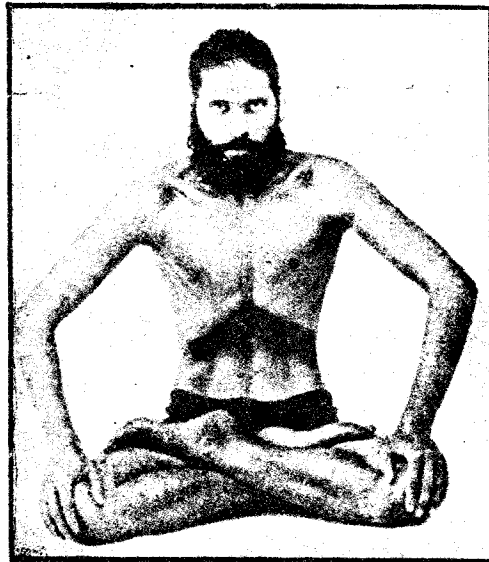
(६) बैठकर उड्डीयान

(७) नौलि (मध्यम)
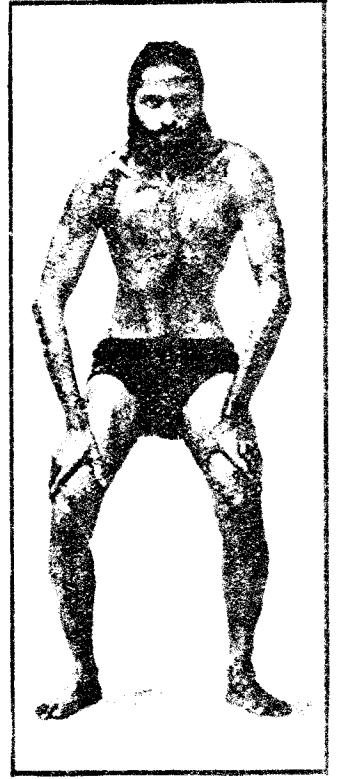
(८) दक्षिणनौलि

सिंहासन है। इस आसनमें पाँवका अदल-बदल भी किया जा सकता है।

११-वज्रासन—पाँवोंको लंबाकर परस्पर मिलाकर बैठे, पश्चात् दोनों पाँवोंको घुटनोंमें फिराकर नितम्बके दोनों ओर इस प्रकारसे लगाकर रखे कि उनकी तलियाँ ऊपरकी ओर रहें। पश्चात् घुटनोंको एक दूसरेके समीप ले जाकर उनपर हाथोंको उलटा करके रखे। आँखें बंद कर ले। इसे वज्रासन कहते हैं।

१२-शीर्षासन—दोनों पाँवोंको अँगुलियोंके भार भूमिपर टेककर उनकी एड़ियोंके ऊपर नितम्बोंको रख दे तथा घुटने टेककर बैठ जाय। अब दायें हाथकी अँगुलियाँ बायें हाथकी अंगुलियोंमें डालकर अंगुलिबन्ध करे और अंगुलिबन्धको 'शीर्ष' की कल्पना कर दोनों हाथोंके मध्य साठ अंशका कोण बनाये, अंगुलिबन्धके बिलकुल सामने सिरके ऊर्ध्व भागके पिछले हिस्सेको टेके। अब घुटनोंको ऊपर उठाते हुए पाँवोंकी अँगुलियों और जाँघोंको शरीरके पास ले जाय। पश्चात् पाँवोंको जंघाओंके साथ लगाकर तथा जंघाओंको पेट और छातीके साथ लगाकर सब शरीरको सिरके भार उठाये। अब जंघाओंको ऊपर उठाकर सिरसे लेकर जाँघोंतक सब शरीरको एक सीधमें ले आये। अब पाँवोंको ऊँचा करे तथा सारे शरीरको लंबी रेखामें सीधा ले जाय। यही शीर्षासन कहलाता है।

१३-सर्वाङ्गासन—चित लेट जाय तथा हाथोंको शरीरके साथ लगाकर लंबा रखे। पाँवोंको तीस अंशका कोण बननेतक ऊपर उठाये। ऐसी स्थितिमें कुछ क्षण रुककर पाँवोंको फिर उठाये और साठ अंशका कोण बनाये। फिर कुछ क्षण रुककर और ऊपर उठाये तथा नब्बे अंशका कोण बनाये। पुनः रुककर धीरे-धीरे बाहु तथा कोहनियोंका सहारा लेकर सिरके अतिरिक्त बाकी सब शरीरको लंबी सीधमें खड़ा रहनेतक ऊपर उठाये। अब कोहनीपर्यन्त हाथोंको ऊपर उठाये तथा पीठकी ओरसे सहारा देकर उनको सारे शरीरका आधार बनाये। इसे सर्वाङ्गासन कहते हैं।

१४-१५-अर्धमत्स्येन्द्रासन—पाँवोंको परस्पर मिलाकर तथा लंबा करके बैठे। दायाँ पाँव घुटनोंमें मोड़कर उसकी एड़ी सीवनीके बीच लगाकर रखे, अब बायें पाँवको घुटनेमें मोड़कर दायें पाँवकी जंघाके साथ बाहरकी ओर खड़ा रखे। शरीरको बायीं ओर फिराये तथा दायें हाथको बायें घुटनेके बाहरसे ले जाकर उससे बायें पाँवको पकड़े। अब शरीरको और अधिक बायीं ओर फिराये तथा सिरको भी ठोड़ीके बायें कंधेपर आनेतक बायीं ओर ले जाय और बायाँ हाथ पीठके पीछेसे ले जाकर उससे दायीं जंघाको पकड़े। यह चित्र-संख्या १४ में दर्शाये-अनुसार अर्धमत्स्येन्द्रासनकी विधि है। यही आसन दायें पाँव तथा दायें हाथका काम बायें पाँव तथा बायें हाथसे लेनेपर और बायें पाँव तथा बायें हाथका काम दायें पाँव तथा दायें हाथसे लेनेपर चित्र-संख्या १५ में दर्शाये-अनुसार बन जाता है।

१६-विपरीतकरणी—चित लेट जाय। हाथोंको शरीरके साथ लंबा करके रखे। पाँवोंद्वारा तीस अंशका कोण बननेतक उन्हें ऊपर उठाये। कुछ क्षण रुककर पुनः ऊपर उठाये तथा साठ अंशका कोण बनाये। फिर कुछ देर रुककर और ऊपर उठाये तथा अस्सी अंशका कोण बनाये और इसी अवस्थामें रुक जाय। इसको अर्धविपरीतकरणी कहते हैं।

अब बाहु तथा कोहनियोंकी सहायतासे शरीरके निचले भागको ऊपर उठाये और नितम्बोंके नीचे हाथोंको लगाकर उनका आधार बनाये। यह क्रिया विपरीतकरणी कहलाती है।

१७-१८-हलासन—हाथोंको शरीरके साथ लंबा करके चित लेट जाय। पाँवोंको तीस अंशका कोण बनाकर ऊपर उठाये, कुछ क्षण रुककर और ऊपर उठाये तथा साठ अंशका कोण बनने दे। पुनः रुककर और ऊपर उठाकर नब्बे अंशका कोण बनने दे और रुक जाय। यह अर्धहलासन हुआ। अब चित्र-संख्या १७ में दर्शाये-अनुसार पाँवोंको सिरकी ओर अधिक झुकाकर उनकी अँगुलियाँ सिरके पीछे जमीनपर टिका दे (यह हलासनकी प्रथमावस्था है)। कुछ देर रुककर अब पाँवोंकी अँगुलियाँ सिरसे और दूर ले जाय (यह हलासनकी द्वितीयावस्था है)। फिर रुककर धीरे-धीरे पाँवकी अँगुलियाँ सिरसे जहाँतक हो सके वहाँतक दूर ले जाय। (यह हलासनकी तृतीयावस्था है)। थोड़ी देर रुक जाय, अब दोनों हाथोंको सिरकी ओर फिराकर अंगुलिबन्ध करे तथा सिरके पिछले भागके साथ लगा दे। अब इसके पश्चात् चित्र-संख्या १८ में दर्शाये-अनुसार पाँवोंकी अँगुलियाँ जितनी भी पीछे
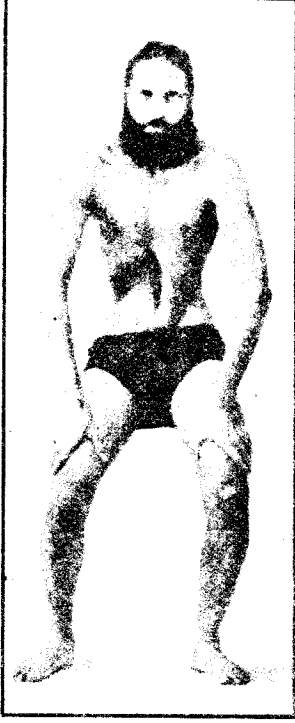
(९) वामनौलि
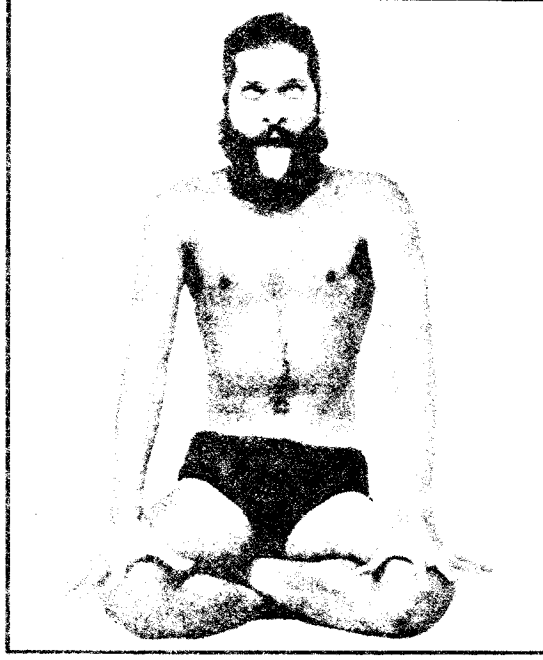
(१०) सिंहासन

(११) वज्रासन

(१२) शीर्षासन
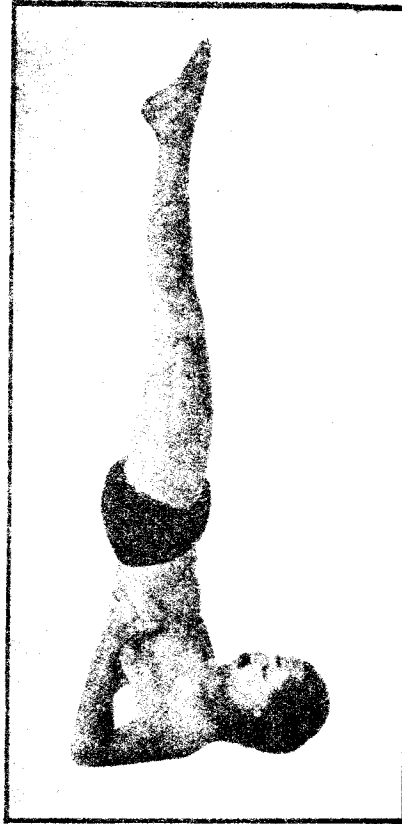
(१३) सर्वाङ्गासन
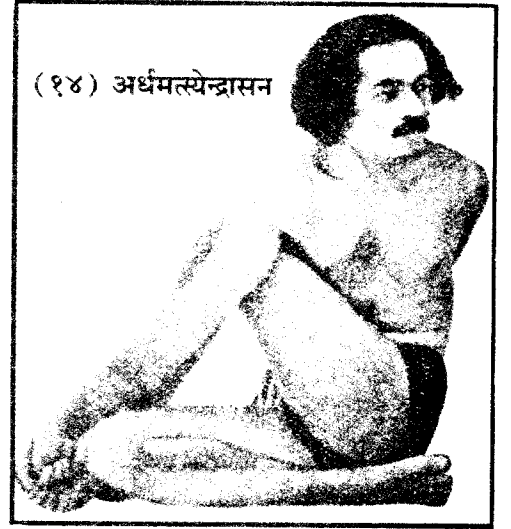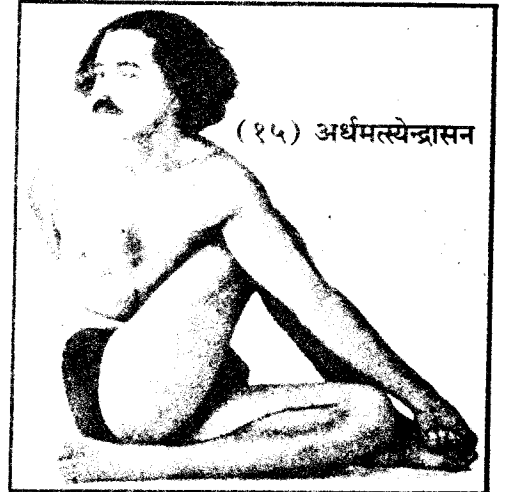
(१४) अर्धमत्स्येन्द्रासन

(१५) अर्धमत्स्येन्द्रासन

(१६) विपरीतकरणी
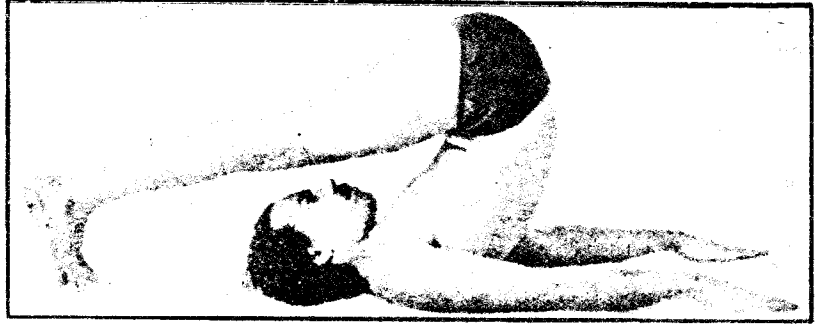
(१७) हलासन (प्रथमावस्था)
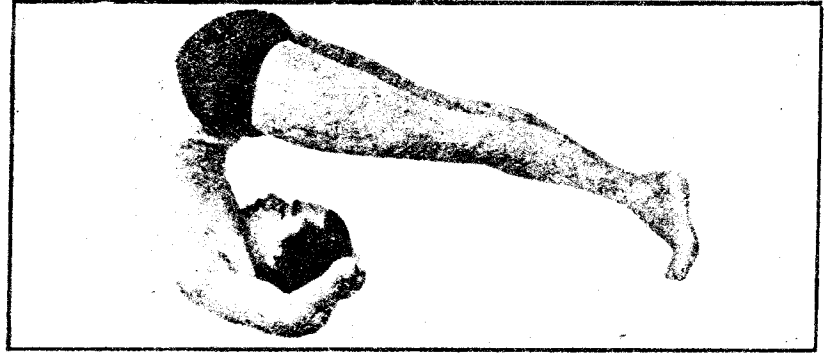
(१८) हलासन (चतुर्थावस्था)
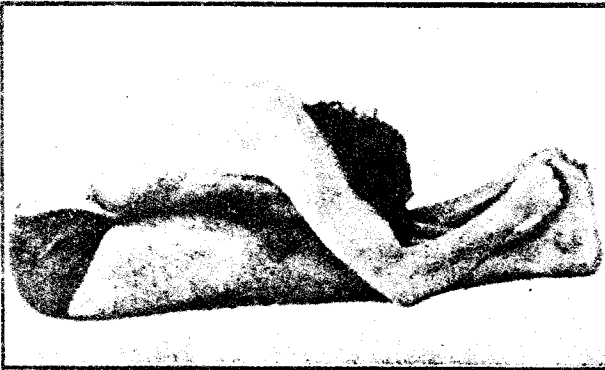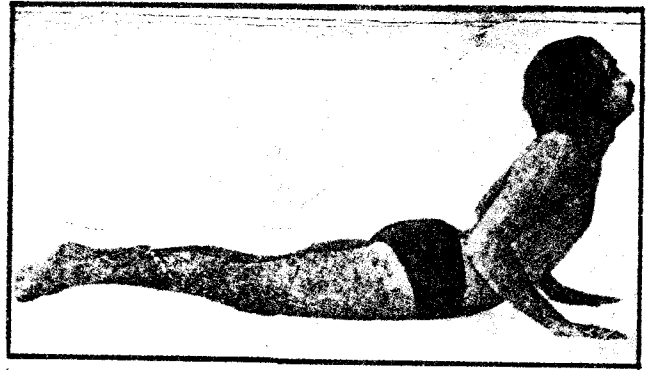
(१९) पश्चिमतानासन

(२०) भुजङ्गासन
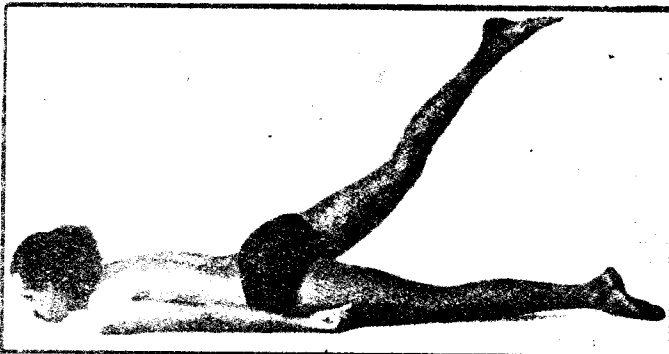
(२१) अर्धशलभासन
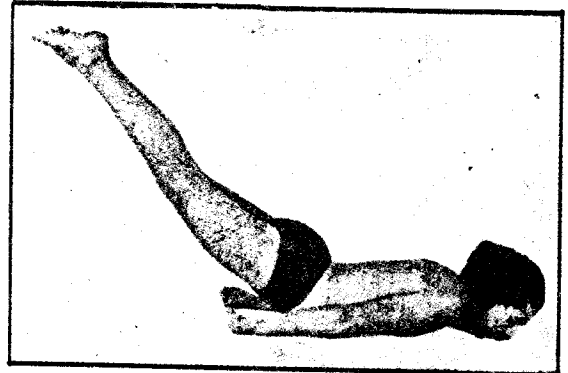
(२२) शलभासन

(२३) सुप्तवज्रासन

(२५) योगमुद्रा
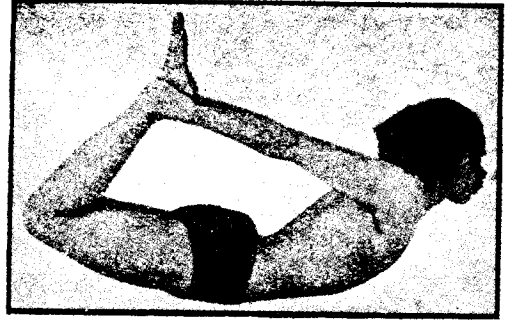
(२४) धनुरासन
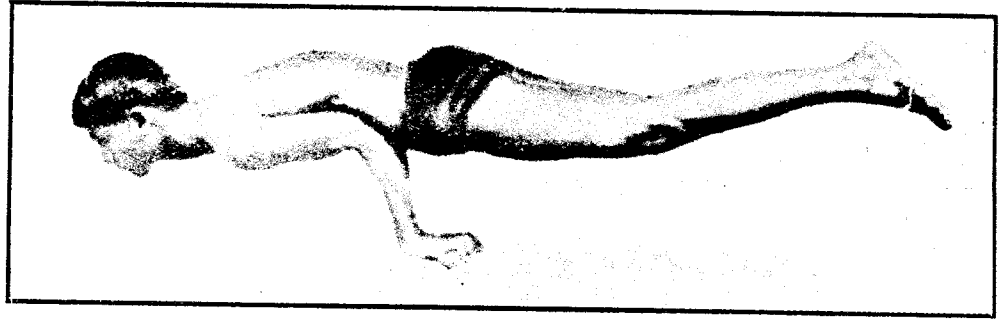
(२६) मयूरासन

(२७) मत्स्यासन
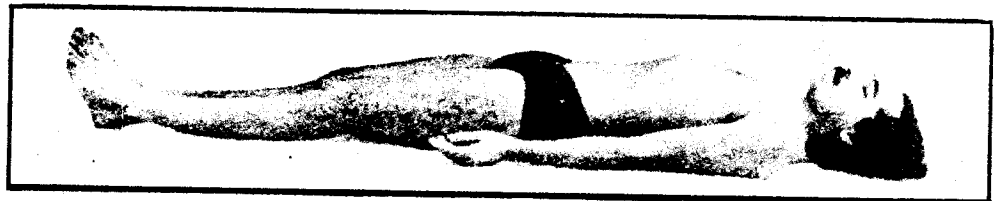
(२८) शवासन

सरका सके, सरकाये (यह हलासनकी चतुर्थावस्था है)। ऐसी स्थितिमें थोड़ी देर रुककर पुनः यथावत् स्थितिमें आ जाय, यह हलासनकी चतुर्विध प्रक्रिया है।

१९-पश्चिमतानासन—पाँवोंको लंबा करके आपसमें मिलाकर बैठे। तर्जनी अँगुलीको टेढ़ा करके दायीं अँगुलीसे दायें पाँवका तथा बायीं अँगुलीसे बायें पाँवका अँगूठा पकड़े। शरीरको आगे झुकाकर मस्तकको पाँवोंके साथ लगा दे। यह पश्चिमतानासन कहलाता है।

२०-भुजंगासन—पेटके बल सोकर माथेको भूमिपर लगा दे। दोनों हाथोंकी तलियोंको छातीके दोनों ओर भूमिपर टेक दे। अब सिरको जहाँतक हो सके धीरे-धीरे पीछे ले जाय, पश्चात् छातीको धीरे-धीरे ऊपर उठाये तथा इसी प्रकार पेटको भी शनैः-शनैः ऊपर उठाये। इसे भुजंगासन कहते हैं।

२१-२२-अर्धशलभासन-शलभासन—पेटके बल लेटकर ठोड़ीको जमीनपर लगा दे। हाथोंको शरीरके साथ लंबे तथा उलटे करके मुट्ठियाँ बंद कर ले। श्वासको पूर्णतया अंदर लेकर अर्थात् पूरक करके कुम्भक करे। दायाँ पाँव पीछेसे ऊपर उठाकर पैंतालीस अंशका कोण बनाये। पुनः उसे नीचे ले आकर पूर्वके समान रख दे। इसी प्रकार बायाँ पाँव ऊपर उठाये तथा पहले पाँवके समान पैंतालीस अंशतक ऊँचा ले जाय। पुनः पूर्ववत् नीचे ले जाय। इसे अर्धशलभासन कहते हैं। यह शलभासनका बनाया हुआ सुगम प्रकार है। अर्धशलभासनके समान पूरक-कुम्भकतककी क्रियाएँ यथावत् रूपमें सम्पन्न कर शरीरको कड़ा करके तथा बाहुओंपर भार डालकर दोनों पाँवोंको पीछेसे जहाँतक हो सके उठाये। इसे शलभासन कहते हैं।

२३-सुप्तवज्रासन—पाँवोंको लंबा करके परस्पर मिलाकर बैठे। दोनों पाँवोंको घुटनोंमें मोड़कर तलियोंको ऊपर करके नितम्बके दोनों ओर लगाकर रखे, घुटने एक दूसरेके समीप ले जाय और ऐसी अवस्थामें ही चित लेट जाय। पश्चात् दोनों हाथोंके प्रकोष्ठों (कोहनीतकके भागों)को एक दूसरेपर रखकर उनको सिरके नीचे इस प्रकारसे रखे कि वे सिरका सिरहाना बन जायँ। पश्चात् हाथोंसे एक दूसरे कंधेको पकड़ ले। आँखें बंद कर ले। यही सुप्तवज्रासन है। सुप्तवज्रासन वज्रासनकी अगली सीढ़ी है।

२४-धनुरासन—पेटके बल लेटकर ठोड़ीको जमीनपर टेक दे। हाथोंको शरीरके साथ लंबा करके रखे। सिरको ऊपर उठाये तथा पाँवोंको घुटनोंकी ओर फेरकर उनके गिट्टोंको हाथोंसे पकड़ ले और शरीरका सारा भार पेटपर डालकर छाती और जाँघोंके पिछले भागको ऊपर उठाकर ताने। यही धनुरासनकी विधि है।

२५-योगमुद्रा—पद्मासनमें दर्शाये-अनुसार पदबन्ध करे। हाथोंको पीठके पीछे ले जाकर बायें हाथसे दायें हाथकी कलाईको पकड़ ले और शरीरको आगे झुकाकर पेटके अंदर एड़ियोंको दबाते हुए सिरको जमीनपर लगा दे। इसे योगमुद्रा कहते हैं।

२६-मयूरासन—घुटने टेककर तथा उनमें पर्याप्त अन्तर छोड़कर बैठे। दोनों हाथोंको कोहनीतक मिलाकर उनकी तलियाँ इस प्रकारसे भूमिपर टेके कि अँगुलियाँ पाँवोंकी ओर रहें। अब जुड़ी हुई दोनों कोहनियोंपर पेटके बिचले हिस्सेके मध्य भागको टेके तथा शरीरको लंबा करके कोहनियोंके ऊपर इस प्रकारसे तोले कि वह भूमिके समान अन्तरपर रहे। इसका नाम मयूरासन है।

२७-मत्स्यासन—पद्मासनके समान पदबन्ध करके चित लेट जाय। सिर तथा पीठको पीछेसे टेढ़ा करके पृष्ठवंश (रीढ़की हड्डी) को कमानके सदृश बनाये तथा तर्जनीको टेढ़ा करके दोनों हाथोंसे दोनों पाँवोंके अँगूठेको पकड़े। इसे मत्स्यासन कहते हैं।

२८-शवासन—चित लेट जाय। हाथ शरीरके साथ लंबे रखे। आँखें बंद कर ले तथा शरीरकी सम्पूर्ण नसों (स्नायुओं) को ढीला छोड़ दे। इसे शवासन कहते हैं।

यौगिक अभ्यास-सम्बन्धी कुछ सामान्य नियम

जिनके कानमें, आँखमें तथा (हृदय निर्बल होनेके कारण) छातीमें पीड़ा होती हो, उनको शीर्षासन नहीं करना चाहिये। जिनकी नाक सदा कफसे बंद रहती हो, उनको शीर्षासन तथा सर्वाङ्गासन अत्यन्त सावधानतापूर्वक करने चाहिये। जिनका पचनेन्द्रिय अर्थात् मेदा बहुत कमजोर हो तथा जिनकी तिल्ली (प्लीहा) बहुत बढ़ गयी हो, उनको भुजङ्गासन, शलभासन तथा धनुरासन नहीं करने चाहिये।

जिनको कब्ज अर्थात् मलबद्धताकी शिकायत रहती हो, उनको योगमुद्रा तथा पश्चिमतान बहुत देरतक करना उचित नहीं। साधारण हृदयकी निर्बलतावालोंको उड्डीयान, नौलि तथा कपालभाति नहीं करनी चाहिये। जिनके फेफड़े निर्बल हों, उनको कपालभाति, भस्त्रिका तथा उज्जायी कुम्भक करना उचित नहीं। किंतु केवल रेचक तथा पूरक उज्जायी करनेमें कुछ हानि नहीं। जिनके रक्तका दबाव सदा १५० से अधिक अथवा १०० से कम रहता हो, उन्हें अपने भरोसे अर्थात् बिना किसी योगानुभवीसे परामर्श लिये किसी प्रकारका भी यौगिक व्यायाम नहीं करना चाहिये।

बहुत दिनोंतक रोगग्रस्त रहनेके पश्चात् शरीरमें पुनः अभ्यास करने योग्य पर्याप्त शक्ति आ जानेपर ही अभ्यास आरम्भ करना चाहिये। ऐसे अवसरपर अर्थात् अभ्यास आरम्भ करनेसे पहले अभ्याससे किसी प्रकारके दुष्परिणामकी सम्भावना न रहे, इसलिये एक सप्ताहपर्यन्त प्रतिदिन (सुगमतासे जितना भी दूर जाया जा सके) भ्रमण करते रहनेसे पुनः अभ्यास आरम्भ करनेमें बहुत सुगमता होगी।

भोजनके बाद तथा दूध-पानी आदि पेय पदार्थोंके पर्याप्त सेवनके बाद यौगिक व्यायाम नहीं करने चाहिये।

योगाभ्यास स्वच्छ हवावाले एवं पवित्र किसी भी स्थानमें किया जा सकता है। इस विषयमें केवल इतनी सावधानी रखनी चाहिये कि वायुका झोंका शरीरपर न लगने पाये।

योगाभ्यासी सज्जनको अभ्यासके समय अपने मापकी एक दरी ले लेना उचित है। आरोग्यकी दृष्टिसे यह उचित होगा कि प्रतिदिन धोये हुए खद्दरका एक कपड़ा उस दरीपर बिछा दिया जाय। यदि जमीन स्वच्छ तथा न बहुत ठंडी न बहुत गरम हो तो ऐसी अवस्थामें बिना दरीके भी अभ्यास किया जा सकता है।

उड्डीयान, नौलि, कपालभाति अथवा भस्त्रिका तथा उज्जायी प्राणायाम प्रातःकाल करने चाहिये। जिनको कोष्ठबद्धता अर्थात् कब्जकी शिकायत हो वे उड्डीयान तथा नौलि शौच होनेसे पहले कर सकते हैं। नौलि करनेसे पहले पाँचसे लेकर दस छटाँकतक गरम पानीमें पाँचसे दस रत्तीतक सेंधा नमक डालकर पी लेनेसे शौच शीघ्र होनेमें बहुत सहायता मिलती है।

कपालभाति, भस्त्रिका तथा उज्जायी करनेसे पहले शौचादिसे तो निवृत्त हो ही जाना चाहिये, किंतु यदि हो सके तो स्नान भी पहले ही कर लेना चाहिये। कपालभाति, भस्त्रिका तथा उज्जायी—इन तीनोंका अभ्यास पद्मासन अथवा सिद्धासनपर बैठकर करनेसे बहुत सुगमता होती है। इन दोनोंमेंसे भी कपालभाति तथा भस्त्रिकाके लिये तो पद्मासन ही अधिक लाभदायक है। प्रातःकालकी अपेक्षा सायंकालमें शरीरके स्नायु अधिक नरम होते हैं, अतः सायंकालमें आसन करनेमें अधिक सुगमता रहती है। योगमुद्रा, उज्जायी तथा कपालभाति अथवा भस्त्रिकाको सायंकाल भी किया जा सकता है।

सायं तथा प्रातः दोनों समयमें अभ्यासका क्रम इस प्रकारसे रखना चाहिये—सबसे प्रथम आसन तथा योगमुद्रा, तत्पश्चात् बन्ध तथा क्रिया और अन्तमें प्राणायाम। कपालभातिको प्राणायामका ही भाग समझना चाहिये। योगाभ्यासीको जो पदार्थ अपने स्वास्थ्यके अनुकूल हों, उनके ही सेवनका नियम रखना चाहिये। कभी आवश्यकतासे अधिक खाना उचित नहीं। प्रत्येक ग्रास अच्छी प्रकारसे चबा-चबाकर खाना चाहिये। इससे ग्रासके अंदर उचित परिमाणमें मुखकी लार मिल जानेसे भोजन पचनेमें बहुत सुगमता होती है। जिनकी पाचनशक्ति अच्छी न हो, उनको सदा हलके पदार्थ ही खानेका नियम रखना चाहिये और केवल दो ही समय भोजन करना चाहिये। यदि एक ही समय भोजन किया जाय तो और भी अच्छा हो। दूसरे समयके भोजनके स्थानपर पचनेमें हलका दुग्धादि अल्पाहार करना चाहिये। अग्निमान्द्य, कोष्ठबद्धता तथा मूत्राम्लका रोग होनेपर किसी प्रकारकी भी दाल नहीं खानी चाहिये और आलू, बैगन आदिका भी सेवन नहीं करना चाहिये। भोजन करनेके आधे घंटे पश्चात् जल पीना सब प्रकारकी प्रकृतिवालोंको अनुकूल पड़ता है। जिनकी पाचनशक्ति ठीक है वे यदि भोजन करते समय भी जल पी लें तो कुछ हानि नहीं। मदिरा, चाय, काफी एवं तंबाकू-जैसे उत्तेजक पदार्थोंका सर्वथा सेवन न करना ही उत्तम है।

बारह वर्षसे नीचेके बालक-बालिकाओंको प्रारम्भमें भुजङ्गासन, अर्धशलभासन, धनुरासन, पश्चिमतानासन, हलासन तथा योगमुद्राका विशेषरूपसे अभ्यास करना चाहिये।

उदर-सम्बन्धी यौगिक व्यायाम

(राजरत्न प्रो० श्रीमाणिकरावजी)

भारतीय शास्त्रोंमें तथा लोकपरम्पराओंके अनुसार रोग मनुष्यके पूर्वजनित कर्मोंके परिपाकस्वरूप होते हैं और उनके संकेत जन्मकुण्डलीकी ग्रह-दशा, ग्रहोंकी स्थिति और गोचरफलसे भी प्राप्त होते हैं। ये बातें योगियोंको स्वप्नादि या अङ्गस्फुरण आदि दुःशकुनोंसे सूचित होती हैं। प्रायः इनमें अनियमित आहार-विहार ही हेतु बनते हैं। सर्वप्रथम उनसे प्रतिश्याय, मन्दाग्नि, उदरशूल, अतिसार आदि उदरव्याधियाँ उत्पन्न होती हैं और उनके अधिक दिन रह जानेपर स्थिर व्याधियाँ हो जाती हैं, जो शरीरको क्षीण करती हुई मन, बुद्धि, धारणाशक्ति और आत्माको भी दुःखित करती हैं और समयपर समुचित उपाय न किया जाय तो आयु भी घटने लगती है। इसलिये समुचित आहार-विहार, जप-तप आदि अनुष्ठान, मणि, मन्त्र, सामान्य ओषधि-सेवन तथा जलवायु-परिवर्तनके द्वारा आरम्भमें ही उसे रोक लेना चाहिये और किसी भी व्याधिकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि बढ़ जानेपर वे दुश्चिकित्स्य हो जाती हैं। यदि आरम्भमें ही उपवास तथा अन्य सामान्य योगासनोंका सहारा लिया जाय तो ये तत्काल शान्त हो जाती हैं। इसलिये एकादशी आदि उपवासके योगसम्मत नियम शास्त्रकारोंने पहलेसे ही निर्धारित कर रखे हैं। उपवासादि धर्म-कर्म न करनेसे आज व्याधियाँ विश्वमें अत्यधिक रूपमें व्याप्त हो गयी हैं, जिनमें अनुचित आहार-विहारसे उत्पन्न उदर-विकार ही सबका मूल होते हैं। यहाँ उनके उपशमनके लिये सर्वसामान्यके उपयोगी कुछ यौगिक व्यायामोंका वर्णन किया जा रहा है। इनके यथोचित यथासमय अभ्याससे व्यक्ति रोगमुक्त होकर स्वस्थ एवं सबल हो जाता है।

व्यायामके भेद

उदर-सम्बन्धी व्यायामोंकी अनेक विधियाँ हैं। उनमेंसे कुछ मुख्य विधियाँ यहाँपर दी जा रही हैं—

(१) भूमिपर स्वच्छ आसन फैलाकर उसपर बैठ जाय और घुटनोंको सामने करके पैरोंके तलवोंको पीछे ले जाकर चित्र (१) के अनुसार आसन लगाकर और घुटनोंको एक दूसरेसे मिलाये। दोनों हाथ घुटनोंके दोनों ओर, हाथकी अंगुलियोंको मिलाकर जमीनपर सीधा रखे, छातीको उभारे और पूर्ण श्वास लेकर छातीको धीरे-धीरे नीचे उतारकर जाँघोंसे मिलाये और नाक जमीनमें लगाये। इस समय हाथ केहुनियोंके आगे मुड़े हुए हों। पार्श्वभाग पैरके तलवोंसे हिलने न पायें। इतना करके फिर धीरे-धीरे पूर्ववत् हो जाय। यह एक डंड हुआ।

(२) प्रथम विधिके समान आसन लगानेपर दोनों हाथ घुटनोंके समीप न रखकर कमरपर पीछे रखे और दाहिने हाथके पंजेसे बायें हाथका पंजा पकड़कर छाती ऊपरकी ओर करे। फिर छातीको धीरे-धीरे घुटनोंसे और नाकको जमीनसे लगानेका अभ्यास करे। इतना करके फिर धीर-धीरे पूर्व-स्थितिमें आ जाय।

(३) सामने पैर फैलाकर और जहाँतक हो सके उन्हें चौड़ा और सीधा रखकर बैठे। दोनों हाथोंसे पैरोंके अँगूठोंको पकड़े, अनन्तर घुटनोंको बिना टेढ़ा किये कमरसे झुककर नाक जमीनसे लगानेका यत्न करे। ऐसा करते हुए हाथोंको केहुनियोंसे मोड़े। तब धीरे-धीरे पुनः पूर्व-स्थितिमें आये।

(४) प्रथम विधिके अनुसार बैठकर पहले दायाँ पैर वहाँसे निकालकर बायीं ओर बायें पैरकी जाँघसे समकोण मिलाकर सीधा रखे। हाथ पहलेकी ही स्थितिमें रहें। फिर उस पैरको पहलेकी स्थितिमें लाकर रखे और एक डंड करे अर्थात् प्रथम विधिमें जो दूसरी स्थिति है, उसमें आ जाय। इसके बाद दायें पैरकी तरह अब बायाँ पैर चटसे निकालकर दायीं ओर दायें पैरसे समकोण मिलाकर सीधा रखे। अनन्तर फिर पहलेकी स्थितिमें ले आये। यह अभ्यास कई बार करे।

(५) चौथी विधिकी ही सब क्रिया करे, पर हाथ घुटनोंकी ओर न रखकर जिस ओर पैर फैलाया हो, उस ओर घुमाकर सीधा करे और छातीको आगेकी ओर झुकाते हुए हाथोंको पाँवके आगे जितना बढ़ा सके, बढ़ाये और सिरको घुटनोंपर रखे। इस तरह दोनों तरफकी क्रिया करे।

(६) तीसरी विधिमें बताये-अनुसार पैर चौड़े फैलाकर सीधा बैठे। अनन्तर पूर्ण श्वास लेते हुए हाथोंको कंधोंकी

प्रकार १]　　[चित्र नं० १

प्रकार ३]　　[चित्र नं० ३
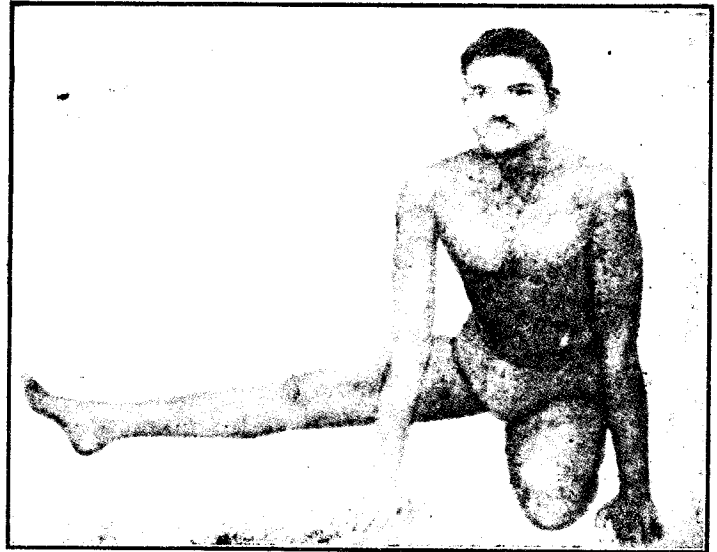
प्रकार ४]　　[चित्र नं० ४

प्रकार २]　　[चित्र नं० २
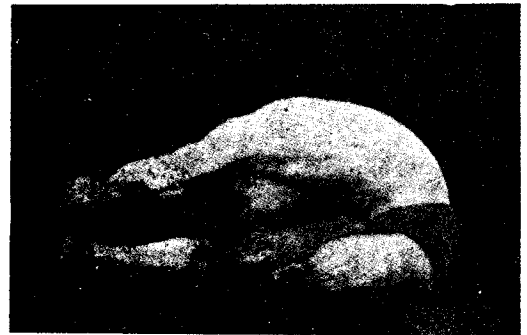
प्रकार ५]　　[चित्र नं० ५

प्रकार ५] [चित्र नं० ६

प्रकार ७] [चित्र नं० ७
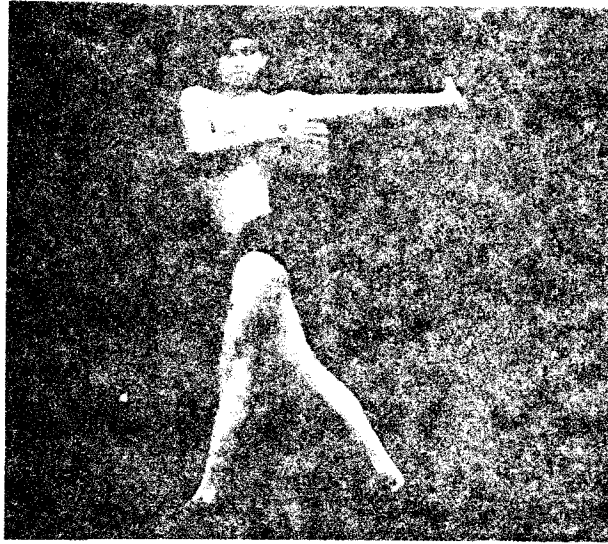
प्रकार ७] [चित्र नं० ८

प्रकार ८] [चित्र नं० ९

प्रकार ९] [चित्र नं० १०
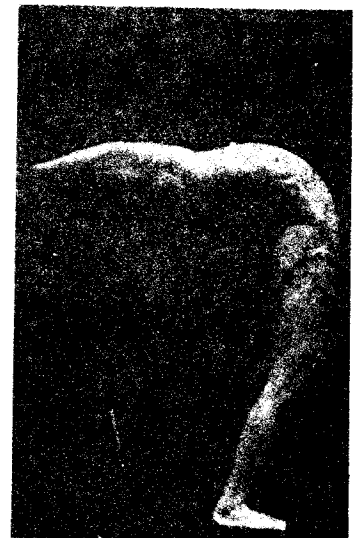
प्रकार १०] [चित्र नं० ११

प्रकार ११] [चित्र नं० १२
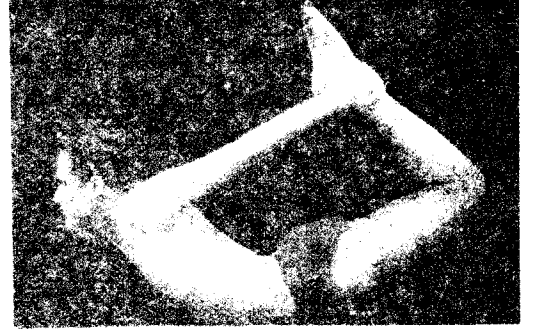
प्रकार १२] [चित्र नं० १३
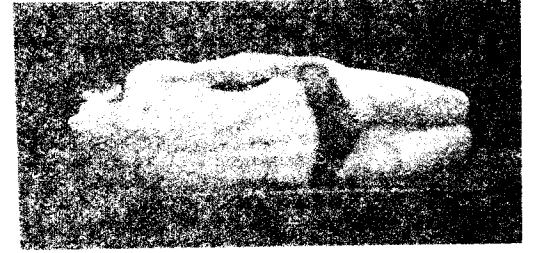
प्रकार १२] [चित्र नं० १४
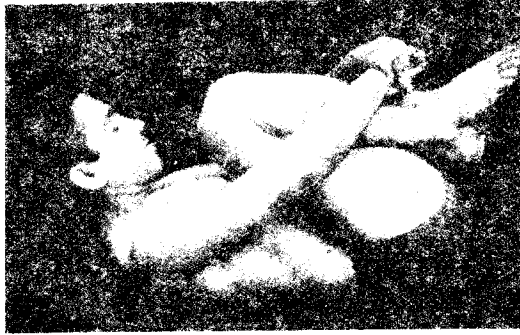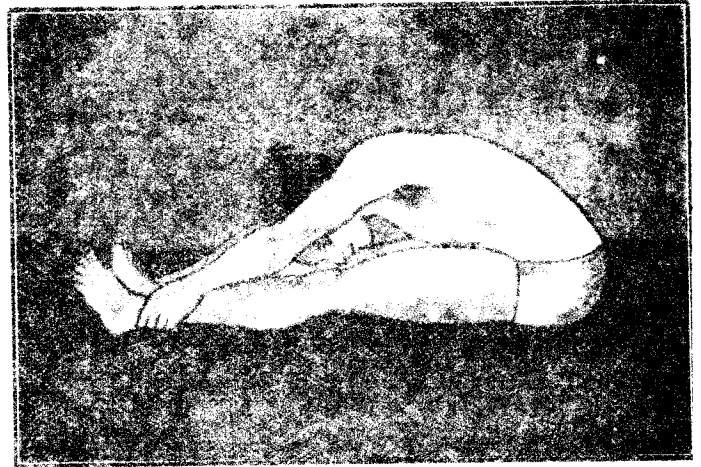
प्रकार १३] [चित्र नं० १५

प्रकार १४] [चित्र नं० १७

प्रकार १३] [चित्र नं० १६
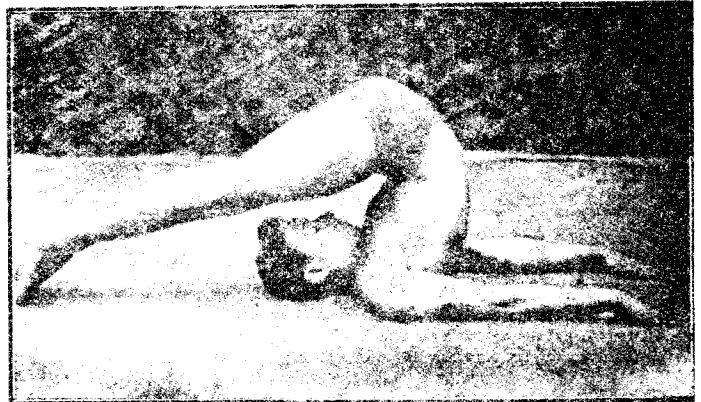
प्रकार १५] [चित्र नं० १८

सीधमें सीधा करे और हाथोंके साथ दायीं ओर शरीरको घुमाये, इतना घुमाये कि पेटको मुड़नेकी वेदना हो। शरीरका घुमाना हो चुकनेपर, जिस ओर हाथ मुड़े हैं, उसी ओर जमीनपर हाथ टेककर जोर दे। यह करते हुए पैर बिलकुल न हिलें, ज्यों-के-त्यों रहें। इसके अनन्तर हाथ निकालकर शरीरको बायीं ओर इतना घुमाये कि पेटमें मुड़नेकी वेदना हो और जमीनपर हाथ टेककर जोर दे। ऐसा कई बार करे।

(७) पैर चौड़े रखकर सीधा खड़ा रहे। दोनों पैरोंके बीच डेढ़ फुट फासला हो। पूर्ण श्वसन करते हुए दोनों हाथ कंधोंसे सीधी रेखामें ताने (चित्र नं० ७)। अनन्तर कटिके ऊपरका अङ्ग दाहिनी ओर इस तरह घुमाये कि दाहिना हाथ बायीं ओर कंधेकी सीधी रेखामें आ जाय, और बायाँ हाथ केहुनीसे मोड़कर (समकोण करके) पंजा दाहिने कंधेमें लगाये (चित्र नं० ८)। केहुनी कंधेकी रेखामें हो। तब फिर पहलेकी तरह सब अङ्ग करके बायीं ओर घुमाये।

(८) सातवें प्रकारमें कहे-अनुसार खड़े होकर हाथोंको ऊपर सीधा खड़ा करे। अनन्तर पूर्ण श्वसन करते हुए धीरे-धीरे पहले दायीं ओर झुककर दाहिने पाँवके पास जमीनपर हाथ रखे (चित्र नं० ९) और बायाँ हाथ ऊपर वैसे ही खड़ा रखे। घुटनोंके जोड़ न हिलें। इतना करके पूर्व-स्थितिमें आकर यही क्रिया दूसरी तरफसे करे।

(९) हाथोंको ऊपर खड़ा रखकर सीधा खड़ा रहे। तब हाथ नीचे सीधे सामने लाकर आगेकी ओर कमरके बल झुककर सिरको घुटनोंके बीचमें लानेका यत्न करे और हाथोंसे जमीन छूए, ऐसा करते हुए घुटने न झुकें। फिर पूर्व-स्थितिमें आ जाय। ऐसा दस-बारह बार करे।

(१०) आठवीं विधिमें कहे-अनुसार हाथ सिरके ऊपर सीधे रखकर खड़ा रहे, फिर शरीरको कमरके बल झुकाकर अपने भरसक पीछेकी ओर ले जाय। हाथोंको भी साथ ही पीछे ले जाय (चित्र नं० ११)। इस प्रकार आठ-दस बार करे।

(११) दरीपर सीधा चित लेट जाय। हाथ दोनों ओर सीधे—सीधा रखे। पूर्ण श्वसन करते हुए बायाँ पैर और दाहिना हाथ एक साथ उठाकर पेटकी मध्य रेखामें ले आये और (चित्र नं० १२ के अनुसार) हाथसे पैरको स्पर्श करे। अनन्तर पुनः पूर्वस्थितिमें आकर दायाँ पैर और बायाँ हाथ उठाकर वैसी ही क्रिया करे। ऐसा करते हुए घुटने टेढ़े न होने पायें।

(१२) चित न लेटकर पेटके बल लेटे और पीछेकी ओरसे घुटनोंको झुकाकर उनके टखने दोनों हाथोंके पंजोंसे पकड़े (चित्र नं० १३)। इस समय गर्दन और छाती इतनी ऊपर उठी रहे कि शरीर धनुषाकार हो जाय, इससे पेटके नल तन जायँगे। इसी स्थितिमें दोनों ओर आधे-आध लोटे (चित्र नं० १४)। ध्यान रहे कि इस समय शरीरमें किसी प्रकारका झटका न लगे।

(१३) सीधा चित लेटे। घुटना और जाँघ दोनोंको झुकाकर दोनों हाथोंसे (दाहिने हाथके पंजेसे बायें हाथकी कलाईको) घुटनोंके समीप पकड़े। इस समय पार्श्वभाग उठा हुआ हो (चित्र नं० १५)। अनन्तर चित्र नं० १६ की स्थितिमें आ जाय।

(१४) ग्यारहवीं विधिके अनुसार चित लेटे। हाथोंके अँगूठोंको मिलाकर दोनों हाथ सिरकी ओर सीधे रखे। अनन्तर धीरे-धीरे श्वास लेते हुए घुटनोंको बिना झुकाये और शरीरको बिना झटका दिये उठे तथा हाथ वैसे ही लाकर पैरोंके पंजे छुए (चित्र नं १७) फिर कमरके बल झुककर घुटनोंको बिना मोड़े, घुटनोंमें नाक लगाये। ऐसा करते हुए पैरोंको जमीनसे न उठाये और न किसी प्रकार ऊपर-नीचे करे। इतना कर चुकनेपर अङ्गमें झटका दिये बिना पूर्वस्थितिमें आ जाय।

(१५) सीधा चित लेटे। हाथ-पैर एक दिशामें सीधा रखे। पैरोंको घुटनोंपर मोड़े बिना सीधे ऊपर उठाये और धीरे-धीरे सिरकी ओर इतना ले जाय कि पेट मुड़े और सिरकी ओर जमीनमें लगे (चित्र नं० १८)। ऐसा करते हुए हाथ अपनी जगहसे न हिलें। फिर जितनी धीमी गतिसे पैर ऊपर लाये हों उतनी ही धीमी गतिसे उन्हें पूर्वस्थितिमें ले आवें।

विरागकी प्राप्तिसे ही मनुष्य विरक्त होता है, विरक्त होनेपर ज्ञान होता है, तभी उसका जन्म-क्षय होता है, तभी उसे ब्रह्मचर्यका फल मिलता है, तब उसका कर्तव्य समाप्त हो जाता है, फिर उसे यहाँ आकर जन्म नहीं लेना पड़ता।

—भगवान् बुद्धदेव

उदर-सम्बन्धी आसन और उनसे लाभ

१-सोड्डीयान पद्मासन—यह आसन योगासनोंमें अत्यन्त प्रसिद्ध है। चित्रके अनुसार पद्मासन लगाकर (दायाँ पैर घुटनेसे घुमाकर बायें ऊरुपर और बायाँ पैर दायें ऊरुपर घुमाकर रखे और एड़ियाँ ऊरुमूलमें आकर लगें) बैठे और हथेलियोंको घुटनोंपर रखे। अनन्तर पूर्ण उच्छ्वास करके, खाली पेटकी स्थितिमें पेटको बार-बार अंदर-बाहर करे। दम पूरा हो तब पुनः श्वास लेकर उच्छ्वास करे और पेटको पूर्ववत् अंदर-बाहर करे। इससे पेटका बढ़ा हुआ मेद समाप्त हो जाता है, यकृत-प्लीहादिके विकार दूर होते हैं, पेटके प्रायः सब रोग इसी एक आसनके नित्याभ्याससे अच्छे हो जाते हैं।

२-बद्धपद्मासन—पद्मासन लगाकर बैठे और पीछेसे दायें हाथसे दायें पैरका अँगूठा और बायें हाथसे बायें पैरका अँगूठा पकड़े। आरम्भमें यह कठिन है, पीछे अभ्याससे सध जाता है। इससे पीठमें कूबड़ निकालकर बैठनेकी बुरी आदत छूट जाती है, कमरके दोष दूर होते हैं, पेट पचकता है और श्वासोच्छ्वास सरल होकर आरोग्य और आयुकी वृद्धि होती है। इस आसनको करते समय मेरुदण्ड सीधा रखना चाहिये और बिना जलपान किये इस आसनका अभ्यास प्रातःकाल करनेसे अत्यधिक लाभ होता है।

३-बद्धासन—पाँवोंको मिलाकर नितम्बपर बैठे और दोनों हाथ टाँगोंके नीचे डालकर पाँवोंके पंजोंको दोनों हाथोंकी पकड़से पकड़कर यथासम्भव नितम्बके समीप खींचे और सीधे बैठे। इससे पेट, कमर और प्रकोष्ठके स्नायु तनकर विकाररहित और बलवान् होते हैं।

४-वक्रबद्धासन—बद्धासनके समान ही करके एक ओर लेट जाय और दोनों घुटनोंके बीचका अन्तर बढ़ाये। फिर दूसरी ओर लेटे। इससे पेट, ऊरु और कमर विकाररहित और बलवान् बनते हैं।

५-अर्धगर्भासन—पद्मासन लगाकर दोनों हाथ टाँगोंके नीचेसे बाहर निकालकर आगे बढ़ाये। इससे पेटके स्नायु बलवान् होते हैं और उदरवात नष्ट होता है।

६-गर्भासन—अर्धगर्भासन ही करे, पर इस अन्तरके साथ कि हाथ केहुनियोंसे घुमाकर मुट्ठियोंको कानोंके समीप रखे। इससे पेटके स्नायु, ऊरुमूल, कमर, यकृत्, प्लीहा, हृदय, छाती आदि अङ्ग विकाररहित होते हैं।

७-एकपादकन्धरासन—एक पैर नीचे घुटनेसे घुमाकर रखे और दूसरा गर्दनपर रखकर दोनों हाथोंसे पकड़ रखे। गर्दन और दृष्टि सीधी रखे। एक बार एक पैर ऐसा करके दूसरी बार दूसरा पैर ऐसा करे। इससे गर्भासनके सब लाभ होते हैं और साथ ही गर्दन, ऊरु और पेटके विकार दूर होते हैं। अन्त्रवृद्धि (हर्निया) और अपेंडिस-जैसे प्राणघातक रोग भी इस आसनके अभ्याससे नष्ट होते हैं।

८-लोलासन—पाँवोंको जुटाकर नितम्बपर बैठे और सामने हथेलियोंको टेककर सारा शरीर चित्रानुसार ऊपर उठाकर हाथोंपर तौले। इससे एकपादकन्धरासनके सब लाभ होकर हाथके पंजे, कलाई और भुजदण्ड बलवान् होते हैं।

९-भूनमनपद्मासन—पद्मासन करके पीठपर हाथ बाँधे सीधे बैठे और फिर सामने झुककर भूमिमें सिर लगाये। इस प्रकार पुनः-पुनः सीधे होकर पुनः-पुनः झुके। इससे कमर मजबूत होती है और बढ़ा हुआ पेट पचकता है। इसे 'योगमुद्रा' भी कहते हैं।

१०-कर्णस्पृष्टजानुपद्मासन—ऊपर कहे-अनुसार पद्मासनसे बैठ दायें घुटनेमें दायाँ और बायाँ कान लगाये और फिर बायें घुटनेमें बायाँ और दायाँ कान लगाये। इससे पीठ, पेट, पसली और गर्दन विकाररहित होते हैं।

११-पार्श्वभूनमनासन—पैरोंके पंजोंके पृष्ठभाग जमीनमें टिकाकर घुटनोंको मिलाये। अनन्तर एक तरफ भरसक झुककर दोनों हाथोंके तलवे पास जमीनमें टिकाकर दोनों हाथोंके बीच जमीनमें सिर टिकाये। इसी प्रकार दूसरी बगल करे। इस आसनसे पसलियोंके निचले हिस्से तथा पेट और पीठके नल निर्दोष होते हैं।

१२-एकपादपश्चिमतानासन—एक पैर घुटनेसे पूरा घुमाकर और दूसरा सामने फैलाकर बैठे तथा फैलाये हुए पैरका अँगूठा दोनों हाथोंसे पकड़कर सिर घुटनोंमें लगाये। पैर बदलकर फिर ऐसा ही करे। इससे पेट, पीठ, कमर और टाँगें निर्दोष होती हैं।
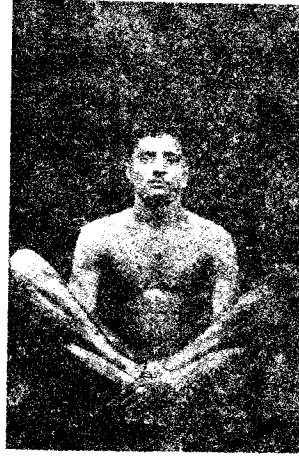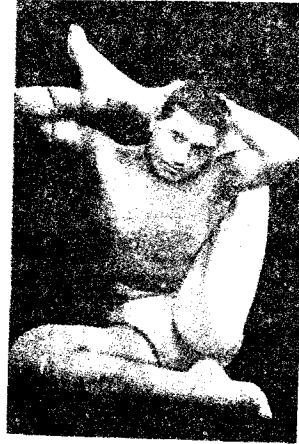
१-सोड्डीयान पद्मासन
२-बद्धपद्मासन
३-बद्धासन
४-वक्रबद्धासन
५-अर्धगर्भासन
६-गर्भासन
७-एकपादकन्धरासन
८-लोलासन
९-भूनमनपद्मासन
१०-कर्णस्पृष्टजानुपद्मासन
११-पार्श्वभूनमनासन
१२-एकपादपश्चिमतानासन
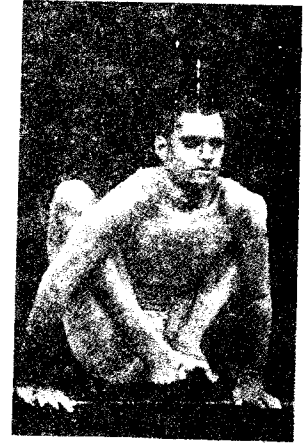
१३-ऊर्ध्वहस्तपश्चिमतानासन—जुटे हुए दोनों पैर सामने फैलाकर बैठे और सिर घुटनोंमें लगाये और बायाँ हाथ सामने तथा दायाँ पीछे फैलाकर दोनों हाथ यथाशक्य ऊपर करे। फिर हाथ बदलकर ऐसा ही करे। इससे उपर्युक्त आसनोंके लाभ होनेके अतिरिक्त छाती और बाहुमूल दृढ़ होते हैं।

१४-विस्तृतपाद भूनमनासन—बैठकर पैर भरसक दूर फैलाये। अनन्तर पैरोंके अँगूठे हाथोंसे पकड़कर सिर भूमिमें टिकाये। इससे ऊरु और जंघाप्रदेश तन जाते हैं तथा टाँगें, कमर, पीठ और पेट निर्दोष होकर वीर्य स्थिर होता है।

१५-विस्तृतपाद पार्श्वभूनमनासन—पूर्ववत् पैर फैलाकर बैठे। अनन्तर एक पैरके पार्श्वमें हथेलियोंको भूमिमें टिकाकर, दोनों हाथोंके बीचो-बीच, धरतीपर सिर रखे। इसी प्रकार दूसरे पार्श्वमें करे। इससे दोनों पसली, छाती, पेट, कमर और बाहु दोषरहित होते हैं।

१६-विस्तृतपाद हस्तपार्श्वचालनासन—पूर्ववत् पैर फैलाकर शरीरके एक-एक पार्श्वसे, एक साथ दोनों हाथ भरसक चारों ओर घुमाये। इससे बाहु, पेट, कमर, फेफड़े और हृदय निर्दोष होते हैं।

१७-पृष्ठासन—पीठके बल लेटकर घुटनोंको मोड़कर छातीमें लगाये और पैरोंके टखनोंके पास हाथोंकी पकड़ बाँधकर, आगे-पीछे झोंका खाकर, बैठा-जैसा हो जाय और फिर पीठके बल लेट जाय। इससे कमर निर्दोष होकर पीठ और पेटके शूल, मोच आदि दुरुस्त होते हैं तथा बढ़ा हुआ पेट बहुत कुछ पचकता है।

१८-उत्थितपृष्ठासन—पद्मासन लगाकर पीठके बल लेटे। हाथोंको कमरकी दोनों तरफ सीधे फैलाकर भूमिपर चित रखे और पद्मासनकी बैठक तथा सिर भरसक ऊपर उठाये। इससे मुख्यतः छाती और पेटको हितकर व्यायाम मिलता है।

१९-मत्स्यासन—पद्मासन लगाकर पीठके बल लेटे। पैरोंके अँगूठे हाथोंसे पकड़े। ऊरु भूमिपर अच्छी तरहसे टिकाये। अनन्तर इस रीतिसे कि छाती भरसक ऊपर उठे और पीठके नीचेका अङ्ग पोला हो, सिरपर भार डालकर सिर नीचेसे कमरकी ओर ले जाय। दृष्टि बिलकुल सामने रखे (चित्र देखिये)। इससे ऊरु, कमर, मेरुदण्ड, गर्दन, छाती तथा पेट विकाररहित होते हैं और आयु बढ़ती है।

२०-द्विपादचक्रासन—हाथोंके पंजे नितम्बके नीचे रख पीठके बल लेटे और एक पैर घुटनेमें मोड़कर घुटनेको पेटके पास लाकर तथा दूसरा पैर जरा ऊपर उठाकर बिलकुल सीधा रखे और साइकलपर जैसे पैर चलाते हैं वैसे चलाये। इससे नितम्ब, कमर, पेट और टाँगें निर्दोष होकर वीर्य शुद्ध, पुष्ट तथा स्थिर होता है।

२१-उत्थित द्विपादासन—पीठके बल लेटकर दोनों पैर ४५ डिग्रीतक ऊपर उठाकर, जमीनसे बिना लगे धीरे-धीरे ऊपर-नीचे करे। इससे पेटके स्नायु मजबूत होते हैं और मलोत्सर्गक्रिया ठीक होती है।

२२-उत्थित एकैकपादासन—पीठके बल लेटकर दोनों पैर (एक पैर २० डिग्रीमें और दूसरा ४५ डिग्रीमें) अधरमें रखकर जमीनसे बेलाग ऊपर-नीचे करे। इससे कमरके स्नायु बहुत मजबूत होते हैं, मलोत्सर्गक्रिया ठीक होती है तथा वीर्य शुद्ध और स्थिर होता है। स्वप्नदोष नहीं होता।

२३-उत्थितहस्त मेरुदण्डासन—हाथ-पैर एक रेखामें सीधे फैलाकर पीठके बल लेटे। अनन्तर दोनों हाथ उठाकर पैरोंकी ओर ले जाय। इस प्रकार पुनः-पुनः पीठके बल लेटकर पुनः-पुनः उठे। इससे कमर, छाती, रीढ़ और पेट निर्दोष होते हैं।

२४-शीर्षबद्धहस्त मेरुदण्डासन—पूर्ववत् सर्वथा पीठके बल लेटकर सिरके पीछे हाथ बाँधे, कमरसे शरीर ऊपर उठाये। पैर न उठें। इससे पेट, छाती, गर्दन, पीठ और रीढ़के दोष दूर होते हैं।

२५-जानुस्पृष्टभाल मेरुदण्डासन—उपर्युक्त आसन करके घुटना मोड़कर, बारी-बारी, धीरे-धीरे भालमें लगाये। नीचेका पैर भूमिपर टिका सीधा रहे। इससे यकृत्, प्लीहा, फेफड़े आदि नीरोग होकर पेट, गर्दन, कमर, रीढ़ तथा ऊरु बलवान् और निर्विकार होते हैं।

२६-उत्थितहस्तपाद मेरुदण्डासन—पूर्ववत् पीठके बल लेटकर हाथ-पैर दोनों एक साथ ऊपर उठाये और पुनः पूर्ववत् एक रेखामें ले आये। चार-पाँच बार ऐसा करे। इससे पेट, छाती, कमर और ऊरु दोषरहित होते हैं।

१३-ऊर्ध्वहस्तपश्चिमतानासन

१४-विस्तृतपाद भूनमनासन

१५-विस्तृतपाद पार्श्वभूनमनासन

१६-विस्तृतपाद हस्तपार्श्वचालनासन

१७-पृष्ठासन

१८-उत्थितपृष्ठासन

१९-मत्स्यासन

२०-द्विपादचक्रासन
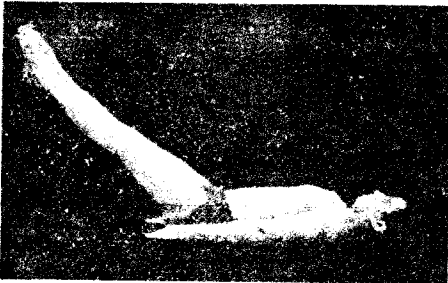
२१-उत्थित द्विपादासन
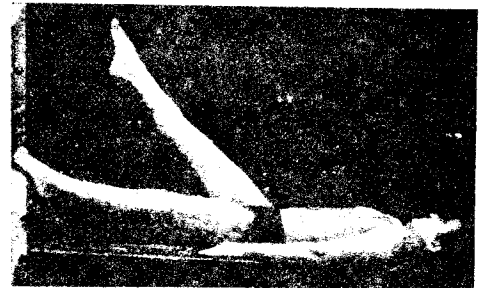
२२-उत्थित एकैकपादासन

२३-उत्थितहस्त मेरुदण्डासन

२४-शीर्षबद्धहस्त मेरुदण्डासन

२५-जानुस्पृष्टभाल मेरुदण्डासन

२६-उत्थितहस्तपाद मेरुदण्डासन

२७-उत्थितपाद मेरुदण्डासन

२८-भालस्पृष्टजानु मेरुदण्डासन

२९-पादपार्श्वचालनासन

३०-भूस्पृष्टपाद सर्वाङ्गासन

३१-विपरीत दण्डासन
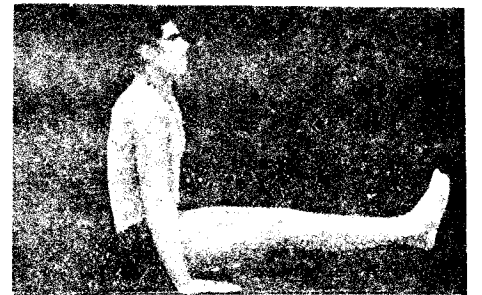
३२-उत्थित समकोणासन

२७-उत्थितपाद मेरुदण्डासन—पैर सामने फैलाकर हाथोंको कुहनियोंके बल खड़े उठाये। अनन्तर पैर ४५ डिग्रीतक ऊपर उठाकर ऊपर-नीचे करे। इससे कमर, गर्दन और पेट निर्दोष होते हैं।

२८-भालस्पृष्टद्विजानु मेरुदण्डासन—ऊपर कहे-अनुसार ही करे, पर इसके अतिरिक्त सिर दोनों घुटनोंमें लगाये। इससे पेट, पीठ, छाती, रीढ़, गर्दन और कमरके सब विकार दूर होते हैं।

२९-पादपार्श्वचालनासन—पीठके बल सीधा लेट जाय। सिरके दोनों ओर एक रेखामें हाथ फैलाये। हाथके तलवे जमीनपर टिकाये। अनन्तर पैरोंको कमरसे उठाकर समकोण रखे और उसी स्थितिमें पहले बायें और पीछे दायें पार्श्वमें ले जाय। हाथ न उठे। इससे कमर और पेटकी अँतड़ियाँ शुद्ध होती हैं, स्नायु मजबूत होते है, मलोत्सर्गक्रिया ठीक होती है और फेफड़े सुधरते हैं।

३०-भूस्पृष्टपाद सर्वाङ्गासन—पीठके बल लेटकर पैरोंको ऊपर उठा भरसक सिरके सामने सीधे फैलाकर भूमिपर टिकाये। पीठको दोनों हाथोंका सहारा दे। इससे पेट, पीठ, रीढ़, कमर, वीर्याशय, पैर और गर्दनके सब दोष दूर होते हैं, स्वप्नदोष नहीं होता। आयु बढ़ती है।

३१-विपरीत दण्डासन—यह उलटा डंड है। पहले सामने पैर फैलाकर और हाथ पीछे टिकाकर बैठे। कमरसे एक बित्ता फासलेपर, पीछेकी ओर, हाथोंके तलवे भूमिपर उलटी ओरसे टिके हुए हों। अनन्तर कमरको एकदम ऊपर उठाकर और पैरोंके तलवे भूमिपर टिकाकर दण्डवत् सीधा हो। इस प्रकार चार-पाँच बार नीचे-ऊपर हो। इससे पेट और टाँगें दुरुस्त होती हैं।

३२-उत्थित समकोणासन—सामने पैर फैलाकर नितम्बपर सीधे बैठे और पाँवसहित समूचा शरीर हाथोंपर समकोण उठाकर तोल रखे। कुछ देर इस स्थितिमें रहकर फिर नीचे बैठे और फिर शरीर ऊपर उठाकर तोले। इससे पेटके स्नायु बहुत बलवान् और कंधे तथा बाहु बहुत पुष्ट होते हैं।

३३-उत्थितैकपाद भुजङ्गासन—पेटके बल लेटकर हाथ छातीके दोनों ओरसे केहुनियोंमेंसे घुमाकर भूमिपर टिकाये। भुजङ्गकी तरह छाती ऊपर उठाकर दृष्टि सामने रखे और एक पैर भूमिपर टिका रखकर, दूसरा पैर घुटनेको बिना मोड़े, भरसक ऊपर उठाये। इस प्रकार बारी-बारीसे पैरोंको नीचे-ऊपर करे। इससे कटिदोष और यकृत् प्लीहादिके विकार दूर होते हैं।

३४-भुजङ्गासन—पैरोंके पंजे उलटी ओरसे जमीनपर टिकाकर और हाथोंको भी भूमिपर जरा टेढ़े रखकर धड़का कमरसे भरसक भुजङ्गाकार पुनः-पुनः नीचे-ऊपर करे। इससे पेट, छाती, कमर, ऊरु, मेरुदण्ड आदि दोषरहित होते हैं।

३५-सरलहस्त भुजङ्गासन—हाथोंको जमीनपर सीधे रखकर और पैरोंको पीछेकी ओर ले जाकर दोनों हाथोंके बीच कमर आ जाय इस रीतिसे कमर झुकाकर छाती और गर्दन भरसक ऊपर उठाकर, सीधे आकाशकी ओर देखे। इससे पेटकी चरबी निकल जाती है और पेट, कमर तथा गर्दनके सब विकार दूर होते हैं।

३६-नौकासन—पेटके बल लेटकर और दोनों पैर भरसक ऊपर उठाकर नीचे-ऊपर करे। दोनों हाथ नितम्बपर नीचेकी ओर बँधे रखे। इससे हृदय, फेफड़े, छाती, मेरुदण्ड, ऊरु, टाँगें, गर्दन और पेट निर्दोष होते हैं।

३७-दोलासन—हाथ-पैर फैलाकर पेटके बल सीधे लेटे। हाथ-पैर भरसक ऊपर उठाकर शरीर ऐसा बना ले जैसी झोली हो। कुछ देर उसी स्थितिमें रहकर पुनः सीधा हो और पुनः वही क्रिया करे। इससे पेट, कमर, छाती, पीठ, रीढ़, ऊरु और बाहुमूल तनकर विकाररहित होते हैं।

३८-शलभासन—हाथ कमरके दोनों ओर रखकर पेटके बल सीधे लेटे, ठोड़ी जमीनपर टिकाये और कमरसे दोनों पैर भरसक ऊपर उठा रखे। पश्चात् पैरोंको नीचे लाकर पुनः ऊपर उठाये। इससे पेट, छाती, गर्दन और पैरोंके विकार दूर होंगे।

३९-पार्श्वासन—इसे बगलमार डंड भी कहते हैं। डंडके समान पहले कमर ऊँची रखकर दोनों हाथों और दोनों पैरोंके बीच एक-एक हाथका फासला रखे। अनन्तर शरीर जमीनमें बिना टिकाये, एक तरफसे सारा शरीर नीचे लाकर, सिरको जरा दूसरी ओर झुकाये। इसी प्रकार दूसरी तरफसे भी करे। इससे यकृत्-प्लीहादिके दोष नष्ट होते हैं।

४०-नासिकास्पृष्टजानु पार्श्वासन—ऊपर कहे-

३३-उत्थितैकपाद भुजङ्गासन

३४-भुजङ्गासन

३५-सरलहस्त भुजङ्गासन
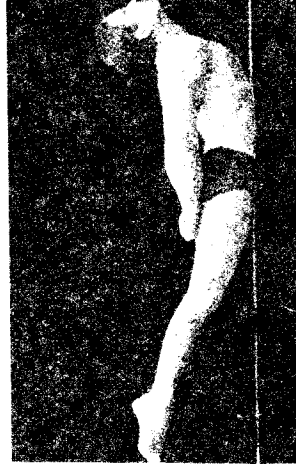
३६-नौकासन
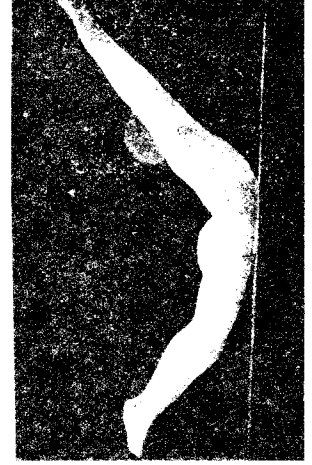
३७-दोलासन
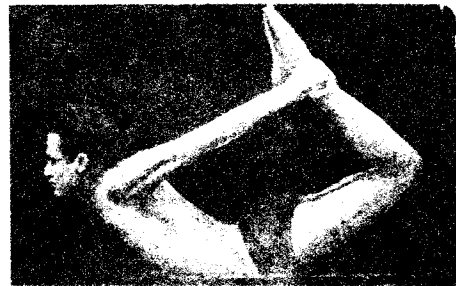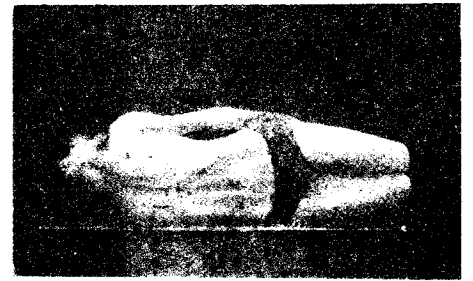
३८-शलभासन

३९-पार्श्वासन

४०-नासिकास्पृष्टजानु पार्श्वासन
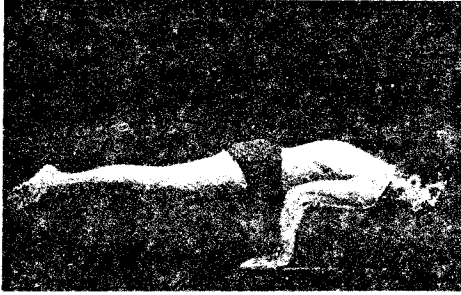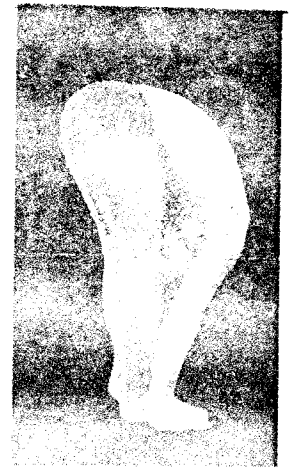
४१-धनुरासन

४२-पार्श्वचालित धनुरासन

अनुसार, पर घुटनेको मोड़कर उसमें ललाट या नाक लगाये। एक तरफसे करके दूसरी तरफसे भी करे। इससे पेट, छाती, गर्दन आदि निर्दोष होते हैं।

४१-धनुरासन—पेटके बल लेटकर पीछेसे पैरोंके टखने पकड़कर खिंची कमानके समान बने। घुटने शुरू-शुरूमें नहीं जुटेंगे, इसलिये पहले घुटनोंको दूर रखकर ही यह आसन करना चाहिये। पीछे घुटने जोड़कर किया जा सकेगा। इससे पेट, कमर, रीढ़, छाती, गर्दन तथा ऊरुप्रदेश तनकर शुद्ध और बलवान् होते हैं।

४२-पार्श्वचलित धनुरासन—धनुरासनकी स्थितिमें ही दोनों ओर बार-बार लटकना। इससे बढ़ा हुआ पेट पचकता है।

४३-आकर्णधनुरासन—दोनों पैर फैलाकर बैठे। दायें हाथसे बायें पैरका और बायें हाथसे दायें पैरका अँगूठा पकड़कर, बायें पैरका अँगूठा दायें कानतक ले जाय। कुछ देर इसी स्थितिमें रहकर दायें पैरका अँगूठा बायें कानतक ले जाय। इससे पेट, पीठ और छातीके रोग दूर होते हैं।

४४-चतुष्पादासन—बंदरकी तरह हाथ-पैर सीधे रखकर चतुष्पाद होकर चले। नित्य पाँच मिनट ऐसा करनेसे कोष्ठकी बद्धता नष्ट होती है। पशुओंके जो मलोत्सर्गकी कोई शिकायत नहीं रहती, इसका कारण उनकी यही नैसर्गिक स्थिति है।

४५-मयूरासन—पहले पैरोंके अग्रभागोंपर, दोनों घुटने एक हाथके फासलेपर जमीनपर टिकाकर बैठे। अनन्तर हथेलियोंको जमीनपर टिकाकर केहुनियोंतक दोनों हाथ जुटाकर, केहुनियोंको नाभिसे जरा नीचे लगाये और पैर उठाकर सारा शरीर केहुनियोंपर तौले। शुरू-शुरूमें यह तौल रखना बहुत कठिन होगा, पर पीछे अभ्याससे सध जायगा। इससे कैसा भी अग्निमान्द्य हो नष्ट हो जाता है। भूख लगती है और मलोत्सर्गको भी कोई शिकायत नहीं रहती।

४६-शीर्षबद्धहस्त हलासन—पीठके बल लेटे, तब दोनों पैर उठाकर भरसक सिरके पीछे ले जाकर जमीनपर टिकाये। हाथ सिरपर बँधे रखे। इससे गर्दन, पीठ और पेटके सब विकार नष्ट होकर आयु बढ़ती है।

४७-शीर्षस्पृष्टपद्म हलासन—उपर्युक्त स्थितिमें, पर पद्मासन लगाकर घुटने भरसक ऊपर लाकर और मोड़कर सिरपर रखे। यह बहुत कठिन आसन है। इससे गले और छातीके सब रोग दूर होते हैं, कमर निर्दोष होती है और आयु भी बढ़ती है।

४८-प्रसृतहस्त वृश्चिकासन—जमीनपर पेटके बल लेटकर दोनों पैर भरसक ऊपर लाकर और मोड़कर सिरपर रखे। यह आसन बहुत कठिन है। इससे गले, छाती और कमरके सब रोग दूर होते हैं और आयु बढ़ती है।

४९-वलितपाद सर्वाङ्गासन—सारा शरीर पीछेसे गर्दनतक ऊपर उठाये। पीठको दोनों हाथोंका सहारा देकर पैरोंको भरसक घुमा ले। इससे गर्दन, छाती, कमर, पेट और हृदय शुद्ध तथा बलवान् बनते हैं। आयु-वृद्धि होती है।

५०-विवृत्तत्रिकासन—दोनों पाँवोंके बीच एक हाथका फासला रखकर खड़ा रहे और केहुनियोंसे मुड़े हुए दोनों हाथ कमरके दोनों ओरसे एक साथ आगे-पीछे घुमाये। इससे कमर और पेट शुद्ध होते हैं।

५१-प्रसृतहस्त विवृत्तत्रिकासन—ऊपर कहे-अनुसार ही पैर फैलाये हुए दोनों हाथ शरीरके दोनों ओरसे भरसक पीछेकी ओर मोड़े।

५२-शीर्षबद्धहस्त विवृत्तत्रिकासन—ऊपरकी तरह ही, पर सिरके पीछे हाथ बाँधे, कमरके ऊपरका भाग दोनों ओरसे घुमाये।

५३-ऊर्ध्वहस्त जानुभालासन—पाँव जोड़कर सीधा खड़ा रहे और घुटनोंको बिना झुकाये घुटनोंमें ललाट लगाये और दोनों जुटे हुए हाथ पीछेसे सिरकी ओर भरसक ले जाय।

५४-भूस्पृष्टहस्त जानुभालासन—खड़े होकर और कमरसे झुककर दोनों हथेलियाँ जुटे हुए पैरोंकी दोनों ओर भूमिपर टिकाये और घुटनोंको बिना झुकाये, सिर घुटनोंमें लगाये। इससे टाँगें, कमर, पीठ और ऊरु विकाररहित होते हैं।

५५-पृष्ठबद्धहस्त जानुभालासन—कमरपर पूर्ववत् हाथ जुटे हुए हों और सिर घुटनोंमें लगे। इससे भी पैर, कमर और पीठ विकाररहित होते हैं।

५६-ऊर्ध्वस्थित पृष्ठवक्रासन—उपर्युक्त स्थितिमें ही, ऊपर उठकर पीछेकी ओर भरसक झोंका खाय। इस प्रकार आगे-पीछे झोंका ले। इससे पेट, पीठ, छाती, कमर, गर्दन, पैर आदिके विकार दूर होते हैं।

५५-पृष्ठबद्धहस्त जानुभालासन ५६-ऊर्ध्वस्थित पृष्ठवक्रासन

५७-शुण्डासन

५८-अर्धचक्रासन

५९-चक्रासन

६०-भूस्पृष्टहस्त वृक्षासन

६१-पृष्ठवलित वृक्षासन

६२-पार्श्ववलित वृक्षासन
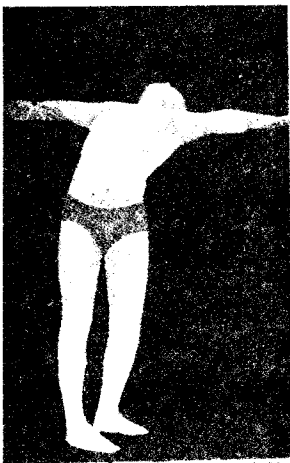
६३-पार्श्वपृष्ठवलित वृक्षासन

६४-मध्यम नौलि

६५-दक्षिण नौलि

६६-वाम नौलि

५७-शुण्डासन—सीधा खड़ा रहे और दोनों हाथ जोड़े हाथीकी सूँड़के समान दोनों पैरोंके बीच भरसक ले जाय। इससे पेट, पीठ, छाती, कटि, ग्रीवा और पैरोंके विकार दूर होते हैं।

५८-अर्धचक्रासन—उपर्युक्त स्थितिमें ही हाथ ऊपर उठाकर, कमरसे झुककर, उन्हें भरसक पीछे ले जाय। इसी प्रकार हाथोंको शुण्डासनवत् फिर सामने लाकर पैरोंके बीच ले आये और ऊँचा करके फिर पीछे ले जाय। इससे कमरका विकार दूर होता है और पेट साफ होता है।

५९-चक्रासन—अर्धचक्रासनकी स्थितिमें ही पीछे जमीनतक झोंका देकर हाथ जमीनपर टिकाये और दोनों पैरोंको छूकर शरीरको एक पूरा चक्र बना दे। आसन कठिन है। इससे कमरका विकार दूर और पेट साफ होता है।

६०-भूस्पृष्टहस्त वृक्षासन—दोनों पाँवोंके बीच दो हाथोंका फासला रखे। सामनेसे एक हाथ झुकाकर पैरमें लगाये और दूसरा हाथ ऊपर सिरकी ओर ले जाकर उसकी ओर देखे। इसी प्रकार दूसरी तरफसे करे। इससे कमर, पेट, टाँगें और पसलियाँ शुद्ध होती हैं।

६१-पृष्ठवलित वृक्षासन—दोनों हाथ दो तरफ फैलाकर एक तरफसे ही शरीरको मोड़कर पीछेकी ओर झुके। इसी प्रकार दूसरी तरफसे शरीरको मोड़कर पीछेकी ओर झुके। इससे भी उपर्युक्त लाभ होते हैं।

६२-पार्श्ववलित वृक्षासन—सिरपर सीधे हाथ जोड़कर खड़ा रहे और दायें-बायें यथाशक्य झुके। इससे कमर और पसलियाँ शुद्ध होती हैं।

६३-पार्श्वपृष्ठवलित वृक्षासन—पीछेकी ओर झोंकसे एक हाथ जमीनमें लगानेका प्रयास करना और दूसरा हाथ ऊपर रखना। इसी प्रकार फिर हाथ बदलकर करना। इससे भी उपर्युक्त लाभ होते हैं।

६४-मध्यम नौलि—कमरसे झुककर दोनों घुटनोंपर दोनों हाथ रख, पेट अंदरकी ओर खींचकर, पीठके नल नीचे ढकेले माफिक करनेसे पेटके नल आप ही आगेको आते हैं। स्थूल शरीरसे, बिना पेटको पचकाये, यह क्रिया नहीं बन सकती। पेट पचकानेके लिये 'उड्डीयान' नितान्त आवश्यक है।

६५-दक्षिण नौलि—आगे आये हुए पेटके नल बायीं ओरका पेट अंदर खींचकर दायीं ओर ले जाय और तुरंत—

६६-वाम नौलि—दायीं ओरका पेट अंदर खींचकर वे ही नल दायीं ओरसे बायीं ओर ले आये। इस प्रकार पेटके नल दायीं ओरसे बायीं ओर कुछ देर एक-रंग चलाये जैसे मन्थनमें मथनी चलायी जाती है। इसी प्रकार फिर बायीं ओरसे दायीं ओर चलाये। जो नौलि करना जानता है उसे पेटका कोई रोग कभी नहीं हो सकता और जो रोग पहलेसे हों वे भी दो-चार महीनोंमें ही इससे बिना औषधके दूर हो जाते हैं। यह पूर्ण आनुभविक सत्य है।

कुछ उपयोगी बन्ध एवं मुद्राएँ

योग-साधनामें बन्धों एवं मुद्राओंका विशेषरूपसे उल्लेख आया है। इनमेंसे कुछ उपयोगी बन्धों एवं मुद्राओंका यहाँ संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

बन्ध

१-मूलबन्ध—मूल गुदा एवं लिङ्ग-स्थानके रन्ध्रको बंद करनेका नाम मूलबन्ध है। वाम पादकी एड़ीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें दृढ़ लगाकर गुदाको सिकोड़कर योनिस्थान अर्थात् गुदा और लिङ्ग एवं कन्दके बीचके भागको दृढ़तापूर्वक संकोचनद्वारा अधोगत अपानवायुको बलके साथ धीरे-धीरे ऊपरकी ओर खींचनेको मूलबन्ध कहते हैं। सिद्धासनके साथ यह बन्ध अच्छा लगता है। अन्य आसनोंके साथ एड़ीको सीवनीपर बिना लगाये हुए भी मूलबन्ध लगाया जा सकता है।

फल—इससे अपानवायुका ऊर्ध्व-गमन होकर प्राणके साथ एकता होती है। कुण्डलिनी-शक्ति सीधी होकर ऊपरकी ओर चढ़ती है। कोष्ठबद्ध दूर करने, जठराग्निको प्रदीप्त करने और वीर्यको ऊर्ध्वरेतस् बनानेमें यह बन्ध अति उत्तम है। साधकोंको न केवल भजनके अवसरपर किंतु हर समय मूल-

बन्धको लगाये रखनेका अभ्यास करना चाहिये।

२-उड्डीयान-बन्ध—दोनों जानुओंको मोड़कर पैरोंके तलुओंको परस्पर भिड़ाकर पेटके नाभिसे नीचे और ऊपरके आठ अंगुल हिस्सेको बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड (रीढ़की हड्डीसे) ऐसा लगा दे जिससे कि पेटके स्थानपर गड्ढा-सा दीखने लगे। पेटको अंदरकी ओर जितना अधिक खींचा जायगा, उतना ही अच्छा होगा। इसमें प्राण पक्षीके सदृश सुषुम्नाकी ओर उड़ने लगता है, इसलिये यह बन्ध उड्डीयान कहलाता है। इसे पैरोंके तलुओंको बिना भिड़ाये हुए भी किया जा सकता है।

फल—प्राण और वीर्यका ऊपरकी ओर दौड़ना, मन्दाग्निका नाश, क्षुधाकी वृद्धि, जठराग्निका प्रदीप्त और फेफड़ेका शक्तिशाली होना है।

३-जालन्धर-बन्ध—कण्ठको सिकोड़कर ठोड़ीको दृढ़तापूर्वक कण्ठकूपमें इस प्रकार स्थापित करे कि हृदयसे ठोडीका अन्तर केवल चार अंगुलका रहे, सीना आगेकी ओर तना रहे। यह बन्ध कण्ठस्थानके नाड़ी-जालके समूहको बाँधे रखता है, इसलिये इसका नाम जालन्धर-बन्ध है।

फल—कण्ठका सुरीला, मधुर और आकर्षक होना, कण्ठके संकोचद्वारा इडा, पिङ्गला नाडियोंके बंद होनेपर प्राणका सुषुम्नामें प्रवेश करना है।

लगभग सभी आसन, मुद्राएँ और प्राणायाम मूलबन्ध और उड्डीयान-बन्धके साथ किये जाते हैं। राजयोगमें ध्यानावस्थामें जालन्धर-बन्ध लगानेकी बहुत कम आवश्यकता होती है।

४-महाबन्ध—महाबन्धकी दो विधियोंमें पहली विधि इस प्रकार है— बायें पैरकी एड़ीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें जमाकर बायीं जंघाके ऊपर दाहिने पैरको रख, समसूत्रमें हो, वाम अथवा जिस नासारन्ध्रसे वायु चल रहा हो उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगाये। फिर मूलद्वारसे वायुका ऊपरकी ओर आकर्षण करके मूलबन्ध लगाये। मनको मध्य नाड़ीमें लगाये हुए यथाशक्ति कुम्भक करे। तत्पश्चात् पूरकके विपरीतवाली नासिकासे धीरे-धीरे रेचन करे। इस प्रकार दोनों नासिकासे अनुलोम-विलोम-रीतिसे समान प्राणायाम करे। तथा दूसरी विधि इस प्रकार है—पद्म अथवा सिद्धासनसे बैठ, योनि और गुह्यप्रवेश सिकोड़, अपानवायुको ऊर्ध्वगामी कर, नाभिस्थ समान-वायुके साथ मिलाकर और हृदयस्थ प्राणवायुको अधोमुख करके प्राण और अपानवायुओंके साथ नाभिस्थलपर दृढ़रूपसे कुम्भक करे।

फल—प्राणका ऊर्ध्वगामी होना—वीर्यकी शुद्धि, इडा, पिङ्गला और सुषुम्नाका सङ्गम प्राप्त होना, बलकी वृद्धि आदि है।

५-महावेध—यह दो प्रकारसे किया जाता है, इसकी पहली विधि इस प्रकार है—महाबन्धकी प्रथम विधिके अनुसार मूलबन्धपूर्वक कुम्भक करके दोनों हाथोंकी हथेली भूमिमें दृढ़ स्थिर करके, हाथोंके बल ऊपर उठकर दोनों नितम्बोंको शनैः-शनैः ताड़ना दे और ऐसा ध्यान करे कि प्राण इडा, पिङ्गलाको छोड़कर कुण्डलिनी-शक्तिको जगाता हुआ सुषुम्नामें प्रवेश कर रहा है। तत्पश्चात् वायुको शनैः-शनैः महाबन्धकी विधिके अनुसार रेचन करे तथा दूसरी विधि इस प्रकार है—मूलबन्धके साथ पद्मासनसे बैठे, अपान और प्राणवायुको नाभिस्थानपर एक करके (मिलाकर) दोनों हाथोंको तानकर नितम्बोंसे मिलते हुए भूमिपर जमाकर नितम्बको आसनसहित उठा-उठाकर भूमिपर ताड़ित करते रहें।

फल—कुण्डलिनी-शक्तिका जाग्रत् होना, प्राणका सुषुम्नामें प्रवेश करना है। महाबन्ध, महावेध और महामुद्रा—तीनोंको मिलाकर करना अधिक फलदायक है।

मुद्रा

१-खेचरी मुद्रा—जीभको ऊपरकी ओर उलटी ले जाकर तालु-कुहर (जीभके ऊपर तालुके बीचका गढ़ा) में लगाये रखनेका नाम खेचरी-मुद्रा है। इसके निमित्त जिह्वाको बढ़ानेके तीन साधन किये जाते हैं—छेदन, चालन और दोहन।

(१) छेदन—जीभके नीचेके भागमें सूताकारवाली एक नाड़ी नीचेवाले दाँतोंकी जड़के साथ जीभको खींचे रखती है। इसलिये जीभको ऊपर चढ़ाना कठिन होता है। प्रथम इस नाड़ीके दाँतोंके निकटवाले एक ही स्थानपर स्फटिक (बिल्लौर) का धारवाला टुकड़ा प्रतिदिन प्रातःकाल चार-पाँच बार फेरते रहें। कुछ दिनोंतक ऐसा करनेके पश्चात् वह नाड़ी उस स्थानमें पूर्ण कट जायगी। इसी प्रकार क्रमशः उससे ऊपर-ऊपर एक-एक स्थानको जिह्वामूलतक काटते चले

जायँ। स्फटिक फेरनेके पश्चात् माजूफलका कपड़छान चूर्ण (टेरिन ऐसिड) जीभके ऊपर-नीचे तथा दाँतोंपर मलें और उन सब स्थानोंसे दूषित पानी निकलने दें। माजूफल-चूर्णके अभावमें अकरकरा, नून, हरीतकी और कत्थेका चूर्ण छेदन किये हुए स्थानपर लगाये। यह छेदन-विधि सबसे सुगम है और इससे किसी प्रकारकी हानि पहुँचनेकी सम्भावना नहीं है, यद्यपि इसमें समय अधिक लगेगा। साधारणतया छेदनका कार्य किसी धातुके तीक्ष्ण यन्त्रसे प्रति आठवें दिन उस शिराको बालके बराबर छेदकर घावपर कत्था और हरड़का चूर्ण लगाकर करते हैं। इसके छेदनके लिये नाखून काटनेवाला-जैसा एक तीक्ष्ण यन्त्र और खाल छीलनेके लिये एक दूसरे यन्त्रकी आवश्यकता होती है, जिससे कटा हुआ भाग फिर न जुड़ने पावे। इसमें नाड़ीके सम्पूर्ण अंशके एक साथ कट जानेसे वाक् तथा आस्वादन-शक्तिके नष्ट हो जानेका भय रहता है। इसलिये इसे किसी अभिज्ञ पुरुषकी सहायतासे करना चाहिये। छेदनकी आवश्यकता केवल उनको होती है, जिनकी जीभ और यह नाड़ी मोटी होती है। जिनकी जीभ लंबी और यह नाड़ी पतली होती है, उन्हें छेदनकी अधिक आवश्यकता नहीं है।

(२-३) चालन व दोहन—अँगूठे और तर्जनी अँगुलीसे अथवा बारीक वस्त्रसे जीभको पकड़कर चारों तरफ उलट-फेरकर हिलाने और खींचनेको चालन कहते हैं। मक्खन अथवा घी लगाकर दोनों हाथोंकी अँगुलियोंसे जीभका गायके स्तनदोहन-जैसे पुनः-पुनः धीरे-धीरे आकर्षण करनेकी क्रियाका नाम दोहन है।

निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे अन्तिम अवस्थामें जीभ इतनी लम्बी हो सकती है कि नासिकाके ऊपर भ्रूमध्यतक पहुँच जाय। इस मुद्राका बड़ा महत्त्व बतलाया गया है, इससे ध्यानकी अवस्था परिपक्व करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। जिह्वाओंके भी नाना प्रकारके भेद देखनेमें आये हैं। किसी जिह्वामें सूताकार नाड़ीके स्थानमें मोटा मांस होता है, जिसके काटनेमें अधिक कठिनाई होती है। किसी-किसी जिह्वामें न यह नाड़ी होती है, न मांस। उसमें छेदनकी आवश्यकता नहीं है। केवल चालन एवं दोहन होना चाहिये।

२-महामुद्रा—इसकी पहली विधि इस प्रकार है—मूलबन्ध लगाकर बायें पैरकी एड़ीसे सीवन (गुदा और अण्डकोषके मध्यका चार अँगुल स्थान) दबाये और दाहिने पैरको फैलाकर उसकी अँगुलियोंको दोनों हाथोंसे पकड़े। पाँच घर्षण करके बायीं नासिकासे पूरक करे और जालन्धर-बन्ध लगाये। फिर जालन्धर-बन्ध खोलकर दाहिनी नासिकासे रेचक करे। यह वामाङ्गकी मुद्रा समाप्त हुई। इसी प्रकार दक्षिणाङ्गमें इस मुद्राको करना चाहिये तथा दूसरी विधि इस प्रकार है—बायें पैरकी एड़ीको सीवन (गुदा और उपस्थके मध्यके चार अङ्गुल-भाग) में बलपूर्वक जमाकर दायें पैरको लम्बा फैलाये। फिर शनैः-शनैः पूरकके साथ मूल तथा जालन्धर-बन्ध लगाते हुए दायें पैरका अँगूठा पकड़कर मस्तकको दायें पैरके घुटनेपर जमाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भकके समय पूरक की हुई वायुको कोष्ठमें शनैः-शनैः फुलावे और ऐसी भावना करे कि प्राण कुण्डलिनीको जाग्रत् करके सुषुम्नामें प्रवेश कर रहा है, तत्पश्चात् मस्तकको घुटनेसे शनैः-शनैः रेचक करते हुए उठाकर यथास्थितिमें बैठ जाय। इसी प्रकार दूसरे अङ्गसे करना चाहिये। प्राणायामकी संख्या एवं समय बढ़ाता रहे।

फल—मन्दाग्नि, अजीर्ण आदि उदरके रोगों तथा प्रमेहका नाश, क्षुधाकी वृद्धि और कुण्डलिनीका जाग्रत् होना है।

३-अश्विनी-मुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर योनिमण्डलको अश्वके सदृश पुनः-पुनः सिकोड़ना अश्विनीमुद्रा कहलाती है।

फल—यह मुद्रा प्राणके उत्थान और कुण्डलिनी-शक्तिके जाग्रत् करनेमें सहायक होती है। अपानवायुको शुद्ध और वीर्यवाही स्नायुओंको मजबूत करती है।

४-शक्तिचालिनी-मुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर हाथोंकी हथेलियाँ पृथ्वीपर जमा दे। बीस-पचीस बार शनैः-शनैः दोनों नितम्बोंको पृथ्वीसे उठा-उठाकर ताड़न करे। तत्पश्चात् मूलबन्ध लगाकर दोनों नासिकाओंसे अथवा वामसे अथवा जो स्वर चल रहा हो उस नासिकासे पूरक करके प्राणवायुको अपानवायुसे संयुक्त करके जालन्धर-बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भकके समय अश्विनीमुद्रा करे अर्थात् गुह्य-प्रदेशका आकर्षण-विकर्षण करता रहे। तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर यदि दोनों नासिकापुटसे पूरक किया हो तो दोनोंसे अथवा पूरकसे विपरीत

नासिकापुटसे रेचक करे और निर्विकार होकर एकाग्रतापूर्वक बैठ जाय।

घेरण्डसंहितामें इस मुद्राको करते समय वालिश्त-भर चौड़ा, चार अङ्गुल लंबा, कोमल, श्वेत और सूक्ष्म वस्त्र नाभिपर कटिसूत्रसे बाँधकर सारे शरीरपर भस्म मलकर करना बतलाया है।

फल—सर्वरोग-नाशक और स्वास्थ्यवर्धक होनेके अतिरिक्त कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत् करनेमें अत्यन्त सहायक है। इससे साधक अवश्य लाभ प्राप्त करे।

५-योनिमुद्रा—सिद्धासनसे बैठ सम-सूत्र हो षण्मुखी मुद्रा लगाकर अर्थात् दोनों अँगूठोंसे दोनों कानोंको, दोनों तर्जनियोंसे दोनों नेत्रोंको, दोनों मध्यमाओंसे नाकके छिद्रोंको बंद करके और दोनों अनामिका एवं कनिष्ठिकाओंको दोनों ओठोंके पास रखकर काकी मुद्राद्वारा अर्थात् जिह्वाको कौएकी चोंचके सदृश बनाकर उसके द्वारा प्राणवायुको खींचकर अधोगत अपानवायुके साथ मिलाये। तत्पश्चात् ओ३मका जाप करता हुआ ऐसी भावना करे कि उसकी ध्वनिके साथ परस्पर मिली हुई वायु कुण्डलिनीको जाग्रत् करके षट्चक्रोंका भेदन करते हुए सहस्रदल-कमलमें जा रही है। इससे अन्तर्ज्योतिका साक्षात्कार होता है।

६-योगमुद्रा—मूलबन्धके साथ पद्मासनसे बैठकर प्रथम दोनों नासिकापुटोंसे पूरक करके जालन्धरबन्ध लगाये, तत्पश्चात् दोनों हाथोंको पीठके पीछे ले जाकर बायें हाथसे दायें हाथकी और दायें हाथसे बायें हाथकी कलाईको पकड़े, शरीरको आगे झुकाकर पेटके अंदर एड़ियोंको दबाते हुए सिरको जमीनपर लगा दे। इस प्रकार यथाशक्ति कुम्भक करनेके पश्चात् सिरको जमीनसे उठाकर जालन्धर-बन्ध खोलकर दोनों नासिकाओंसे रेचन करे।

फल—पेटके रोगोंको दूर करने और कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत् करनेमें सहायक होती है।

७-शाम्भवी मुद्रा—मूल और उड्डीयानबन्धके साथ सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर नासिकाके अग्रभाग अथवा भ्रूमध्यमें दृष्टिको स्थिर करके ध्यान जमाना शाम्भवी मुद्रा कहलाती है

८-तड़ागी मुद्रा—तड़ाग (तालाब) के सदृश कोष्ठको वायुसे भरनेको तड़ागी मुद्रा कहते हैं। शवासनसे चित्त लेटकर जिस नासिकाका स्वर चल रहा हो, उससे पूरक करके तालाबके समान पेटको फैलाकर वायुसे भर ले। तत्पश्चात् कुम्भक करते हुए वायुको पेटमें इस प्रकार हिलावे जिस प्रकार तालाबका जल हिलता है। कुम्भकके पश्चात् सावधानीसे वायुका शनैः-शनैः रेचन कर दे, इससे पेटके सर्वरोग समूल नष्ट होते हैं।

९-विपरीतकरणीमुद्रा—शीर्षासन-कपालासन—पहिले जमीनपर मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रखकर उसपर अपने मस्तकको रखे फिर दोनों हाथोंके तलोंको मस्तकके पीछे लगाकर शरीरको उलटा ऊपर उठाकर सीधा खड़ा कर दे। थोड़े ही प्रयत्नसे मूल और उड्डीयान स्वयं लग जाता है। यह मुद्रा पद्मासनके साथ भी की जा सकती है। इसको ऊर्ध्व-पद्मासन कहते हैं। आरम्भमें इसको दीवारके सहारे करनेमें आसानी होगी।

फल—वीर्यरक्षा, मस्तिष्क, नेत्र, हृदय तथा जठराग्निका बलवान् होना, प्राणकी गति स्थिर और शान्त होना, कब्ज, जुकाम, सिरदर्द आदिका दूर होना, रक्तका शुद्ध होना और कफके विकारका दूर होना है।

१०-उन्मनी मुद्रा—किसी सुख-आसनसे बैठकर आधी खुली हुई और आधी बंद आँखोंसे नासिकाके अग्रभागपर एकटकी लगाकर देखते रहना यह उन्मनी मुद्रा कहलाती है। इससे मन एकाग्र होता है।

जिनके राग, भय और क्रोधका नाश हो गया है और जो वेदके तत्त्वको समझ गये हैं ऐसे ही मननशील मुनिगण कल्पनासे और समस्त प्रपञ्चोंसे रहित अद्वय आत्माका दर्शन पाते हैं।—उपनिषद्

भगवान् श्रीविष्णुको प्रसन्न करना वास्तवमें बहुत कठिन कार्य नहीं है, क्योंकि वह सब भूतप्राणियोंका आत्मा और सर्वव्यापी है।—प्रह्लाद

प्राणायाम और उससे लाभ

(कविराज श्रीदाऊदयालजी गुप्त)

प्राणायामसे मनुष्य स्वस्थ एवं नीरोग रहकर दीर्घायु तथा मन और शक्तियोंपर विजय प्राप्त कर सकता है। मनका प्राणसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनको रोकना अति कठिन है, पर प्राणके निरोध तथा वशीकारसे मनका निरोध एवं वशीकार सुगम हो जाता है, इसलिये प्राणायाम योगका आवश्यक साधन है। प्राणायाम सब दोषोंका नाशक है। जैसे अग्निके संयोगसे धातुओंके मल नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही इन्द्रियोंके समस्त दोष भी प्राणके नियमनसे नष्ट हो जाते हैं। चित्तकी वृत्तियाँ दोषोंसे ही विक्षिप्त होती हैं। प्राणायाम अन्तर्बाह्य सभी दोषोंको दूर करके चित्तको एकाग्र करनेमें समर्थ होता है।

प्राणायाम शरीरमें स्थित वायुओं-प्राणोंको नियन्त्रित करनेमें हितकर है। मनुष्य-शरीरमें वृत्तिके कार्य-भेदसे प्राणको मुख्यतया दस भिन्न-भिन्न नामोंसे विभक्त किया गया है। शरीरमें पाँच प्रधान प्राण—वायु हैं—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। पाँच ही उपवायु भी हैं—नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय। हृदयमें प्राण, गुदामें अपान, नाभिमें समान, कण्ठमें उदान और सम्पूर्ण शरीरमें व्यान-वायुकी स्थिति है। जो वायु जिस स्थानमें रहती है, वह उस स्थानका पूर्णरूपसे नियन्त्रण करती है। पाँच उपवायुओंमें नागका कार्य उद्गार (छींक आदि लाना) और कूर्मका उन्मीलन अथवा पलकोंको बंद करना है। कृकर क्षुधा-तृष्णादिमें और देवदत्त निद्रा-तन्द्रामें सहायक होता है। धनञ्जय वायु पोषणादि कार्य करते हुए सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त है।

शरीरमें बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं। उनमें बहत्तर प्रधान हैं और उनमें भी इडा, पिंगला, सुषुम्रा, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी नामकी दस विशेष नाड़ियाँ हैं। इन दसोंके केन्द्र-स्थानको नाड़ियोंका महाचक्र कहा जाता है। इन नाड़ियोंमें इडा बायीं ओर, पिंगला दायीं ओर तथा सुषुम्ना इन दोनोंके मध्यमें रहती है। बायें नेत्रमें गान्धारी, दायें नेत्रमें हस्तिजिह्वाका स्थान है। पूषा दायें कानमें और यशस्विनी बायें कानमें स्थित है। अलम्बुषा मुखमें, कुहू उपस्थमें और शंखिनी मूल (गुह्य) स्थानमें रहती है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियोंकी स्थिति प्राणमार्गमें है, ये प्राणायामकी प्रक्रियामें पूर्णरूपसे सहायक होती हैं। जीवात्मा शरीरकी सभी नाड़ियोंमें व्याप्त रहता हुआ भ्रमण करता है।

योगिजन प्राणायामका अभ्यास आरोग्यवृद्धि, मानसिक विकास, आत्मिक प्रगति और अनेक प्रकारकी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये तो करते ही हैं, उससे मनोनिग्रह भी होता है। षट्चक्रों, सूक्ष्म ग्रन्थियों और उपत्यकाओंका जागरण होनेसे शरीरमें दिव्यताका समावेश होने लगता है। प्राणायामसे भूख-प्यासपर विजय और गर्मी-सर्दीपर नियन्त्रण होता है। परकाय-प्रवेश, आकाश-गमन, जलपर चलने, अग्निकी ज्वालाओंके मध्यसे निकलने तथा पूर्णतम सिद्धि प्राप्त करनेमें प्राणायामपूर्वक ध्यान-समाधिका प्रभाव स्पष्ट है।

प्राणायामकी प्रक्रियाद्वारा वायुतत्त्वसे विपुल शक्ति ग्रहण की जा सकती है। अनेक लोगोंकी मान्यता है कि वायुमें ऐसे सूक्ष्म जीवाणु भी होते हैं, जो दीर्घश्वासके समय शरीरमें प्रविष्ट होकर वहीं रह जाते हैं और वायुसे नाइट्रोजन खींचकर प्रोटीनके रूपमें परिवर्तित कर देते हैं। उनके अनुसार वायुके स्वस्थ वातावरणमें समाविष्ट वे जीवाणु ही प्राण हैं। कुछ अन्य मतमें श्वासके द्वारा जीवाणु ही ग्रहण नहीं होते, वरन् वायुमें स्थित कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, कैल्शियम, मैग्नेशियम, पोटाशियम, सोडियम, फासफोरस, सल्फर, लौह, आयोडीन, क्लोरीन और सिल्कमके सूक्ष्म परमाणुओंके रूपमें उपयोगी खनिजों और रसायनोंकी तन्मात्राओंको भी ग्रहण करते हैं, जिनके द्वारा हमारे शरीरका पूर्ण पोषण होता है। उनके अनुसार उक्त शरीरोपयोगी द्रव्योंको ही प्राण समझना चाहिये।

अनेक वैज्ञानिक नलिकाविहीन अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंके हारमोनको ही प्राणशक्ति मानते हैं। इनसे भिन्न वैज्ञानिकोंके मतमें प्राणायाम गहरे और लम्बे श्वासका व्यायाममात्र है, जिसके द्वारा विपुल आक्सीजन शोषित होती है। हमारे आचार्योंने प्राणको आक्सीजन, जीवाणु या रसायन नहीं माना है, क्योंकि उनके मतमें मनुष्य भौतिक, रासायनिक तत्त्वोंका पुतला मात्र न होकर मन, बुद्धि और चेतनायुक्त पञ्च भूतोंका संघात है। इस प्रकार प्राण विश्वव्यापी चेतन-शक्ति-विशेष है।

वेदोंने प्राणोंको मूल चेतना कहा है। अथर्ववेदके अनुसार प्राण ही विराट् और सबका प्रेरक है, इसलिये सभी प्राणायामके द्वारा उसकी उपासना करते हैं। वही सूर्य, चन्द्रमा, प्रजापति और सभी शक्तियोंका संचालक है। वही बल, वीर्य, उत्साह, प्रतिभा, तेज आदि सद्गुण और आयु है। प्राणके बिना जीवन नहीं रहता। बृहदारण्यक-उपनिषद्के अनुसार भी प्राण ही बल, अमृत, आयु तथा जीवन है। प्राणायामसे शरीरका कल्प (कायाकल्प) होकर उसके सभी विकार और मलिनता आदि दूर होकर तेजस्विताका समावेश होने लगता है। ऐसा मनुष्य मृत्युको जीत लेता है अर्थात् वह तभी मरता है, जब उसकी इच्छा होती है।

प्राणके विभिन्न भेद—

कुछ लोग प्राणको तीन प्रकारका मानते हैं—मन्द, मध्यम और गहन। जिन व्यक्तियोंमें मन्द प्राण होता है—उनके विचार टूटे-फूटे और अस्पष्ट होते हैं तथा शरीर भी निर्बल और रोगग्रस्त होता है। मन्द प्राणवाले व्यक्तियोंके मन-बुद्धि और शरीरमें सामान्यता होती है। वे किसीको अधिक प्रभावित करनेमें असमर्थ रहते हैं। इसके विपरीत गहन प्राणवाले व्यक्ति उत्कृष्ट विचारोंके होते हैं। उनका शरीर, मन, बुद्धि सभी कुछ स्वस्थ, सबल और तेजोयुक्त होता है। उनके व्यक्तित्वसे सभी प्रभावित होते हैं और अनुयायी बन जाते हैं। यह असम्भव नहीं है कि प्राणकी मन्दता या मध्यमताको बदला न जा सके। प्राणायामकी विभिन्न प्रक्रियाओं और उसके दीर्घकालीन अभ्याससे यह सब सम्भव है। प्राणकी गति अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी होती है। जब बाह्य प्राणका प्राणमय शरीर या ज्ञानेन्द्रियके द्वारा आकर्षण किया जाता है, तब बाहरसे खींचा हुआ नवीन प्राण शरीरमें प्रविष्ट होता है। वह उसकी अन्तर्मुखी गति है। वही प्राण जब निःश्वास आदिके द्वारा कर्मेन्द्रियके मार्गसे बाहर निकलता है, तब उसकी गति बहिर्मुखी कहलाती है। ज्ञानेन्द्रियद्वारा उसके अन्तर्मुखी प्रवाहका और कर्मेन्द्रियद्वारा बहिर्मुखी प्रवाहका सम्पादन होता है। अन्तर्मुखी प्रवाह सुषुम्नामें पहुँचता है और नाड़ी-केन्द्रोंमें संचित रहता है। जैसे ग्रहण किये गये अन्नका सार भाग शरीरमें रक्षित रहता है और निःसार भाग निःश्वासादिके द्वारा बाहर हो जाता है, वैसे ही प्राणका सार भाग प्राणमय शरीरमें एकत्र होता है, निःसार भाग निःश्वासादिके द्वारा बाहर हो जाता है। इन गतियोंमें गड़बड़ी होनेसे ही शरीर और मनकी अवस्थामें परिवर्तन आ जाता है, जिसे प्राणायामके द्वारा नियमित करना सहज कार्य है।

प्राणायामके रोगनाशक प्रभाव—

अनेक उपनिषदोंमें प्राणायामके रोगनाशक प्रभावोंपर प्रकाश डाला गया है। प्राणायामके अभ्याससे सभी रोग दूर हो जाते हैं। योगचूडामणि उपनिषद्में वर्णन आता है कि प्राणायामसे हिक्का, कास, श्वासरोग, सिर, नेत्र और कानकी वेदना तथा वायुके विकार नष्ट हो जाते हैं। अमृतनादोपनिषद्में प्राणायामके साधकको मृत्युसे परे कहा गया है। योगकुण्डल्युपनिषद्का कथन है कि उज्जायी प्राणायाम मस्तककी उष्णता, कण्ठमें स्थित कफ तथा अन्यान्य रोगोंको दूर करता है। शीतली प्राणायाम गुल्म, प्लीहा, पित्त, ज्वर, तृषादि विकारोंको दूर करता है। भस्त्रिका प्राणायाम कण्ठके दाहको दूर कर अग्नि बढ़ाता है, कुण्डलिनी जगाता है, पाप नष्ट करता है।

प्राणायामके अभ्यासका भेद—

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्में वर्णन है कि प्राणायामका साधक वायुजित्, इन्द्रियजित्, अल्पाहारी, स्वल्प निद्रावाला, तेजस्वी और शक्तिमान् होता है। नाभि-केन्द्रमें प्राणके धारणसे कुक्षिके रोगोंका नाश हो जाता है। लघु, मध्यम और दीर्घके भेदसे भी प्राणायामके तीन भेद होते हैं। लघु प्राणायामसे स्वेद, मध्यमसे कम्प और दीर्घसे विषादि दोष दूर होते हैं। इनके द्वारा प्राण वशमें हो जाते हैं। योगदर्शनके अनुसार प्राणायामकी तीन वृत्तियाँ होती हैं—बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्ति। देश, काल और संख्याके अनुसार उसे लंबा या हलका किया जा सकता है। श्वासको बाहर निकालकर वहीं रोके रखना और ध्यान रखना कि बाहर कितने समयतक ठहरता है, बाह्यवृत्ति है। इसमें वायुको रेचक करके बाहर रोकते हैं, इसलिये इसे रेचक भी कहते हैं।

स्वस्थ पुरुष सामान्यतः प्रति मिनट पंद्रह बार श्वास लेता है। उसे नियमित और स्वाभाविक रखनेसे ही मनुष्य अनेक प्रकारके दुर्विचारोंसे बचा रह सकता है। प्राणवायुका इस प्रकार नियमित और स्वाभाविक रहना अभ्यासकी ही दृढ़तापर

निर्भर है।

योगिजनोंने रेचक, पूरक और कुम्भकके भेदसे जो प्राणायाम कहे हैं, उन सबमें अधिक प्रभावशाली कुम्भक माना जाता है। कुम्भक दो प्रकारका होता है—बाह्य और आभ्यन्तर। कुम्भकके जो आठ प्रमुख भेद हैं, उनके नाम हैं—१-सहित, २-सूर्यभेदी, ३-उज्जायी, ४-शीतली, ५-भस्त्रिका, ६-भ्रामरी, ७-मूर्छा और ८-केवली। यदि इनका सम्यक् अभ्यास सिद्ध हो जाय तो फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। यहाँ संक्षेपमें इनका वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है—

१-सहित कुम्भक—रेचक और पूरकके साथ कुम्भक प्राणायामका अभ्यास सहित 'कुम्भक' कहा जाता है। रेचक-पूरकका अभ्यास सिद्ध होनेपर कुम्भकके सिद्ध होनेमें कठिनाई नहीं होती। प्रारम्भमें बायीं नासासे पूरक, फिर कुम्भक और फिर दायीं नासासे रेचक करे। इसके बाद दायीं नासासे पूरक-कुम्भक और बायीं नासासे रेचक करे। इस अनुलोम-विलोमके अभ्याससे शरीरकी सभी नाड़ियोंका शोधन हो जाता है और वायुकी गति नियमित हो जाती है। जब इसका ठीक तरह अभ्यास हो जाता है, तब नासाके छिद्रोंको ढकनेके लिये अँगुलियाँ लगाना अपेक्षित नहीं रहता, उस स्थितिमें केवल कुम्भक ही किया जा सकता है। जबतक ऐसा न हो, तबतक बायीं नासाको कनिष्ठिका और अनामिकासे तथा दायीं नासाको अँगूठा मात्रसे ढकना चाहिये। प्राणायामके साथ प्रणवके जपका प्रभाव भी दूरगामी होता है। जो श्वास-प्रश्वास-क्रिया मन्त्रजपके साथ की जाती है, उसे 'सगर्भ कुम्भक' कहते हैं और बिना मन्त्रजपके की जानेवाली क्रिया 'निगर्भ कुम्भक' है।

२-सूर्यभेदी कुम्भक—योगशास्त्रोंमें सूर्यभेदी कुम्भकका निर्देश करते हुए कहा गया है कि सूर्यनाड़ी—दायीं नासाके श्वासको यथाशक्ति खींचकर भीतर भरे और जालन्धरबन्धके साथ कुम्भक करे। जबतक पैरसे केशपर्यन्त पसीना न आ जाय, तबतक कुम्भकके द्वारा वायु धारण किये रहे और फिर बायीं नासासे उसे धीरे-धीरे निकाल दे। जालन्धरबन्धमें कण्ठका संकोच कर ठोडी हृदयमें लगाया जाता है। सूर्यभेदी कुम्भकका अभ्यास इस प्रकार कर सकते हैं कि किसी सरल आसनसे बैठकर दायीं नासासे धीरे-धीरे श्वास खींचे, श्वास खींचनेमें दसतक गिनती गिने और गर्दनको आगेकी ओर इतना झुकाये कि ठोडी हृदयपर जा लगे। ऐसा करनेसे कण्ठ संकुचित हो जायगा, बीसतक गिनती गिने, फिर दसतक गिनते हुए श्वास बायीं नासासे बाहर निकाले। धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ानेसे शरीरसे पसीना निकलने लगेगा। इससे शरीरकी सभी नाड़ियोंका शोधन होता है। यह वातदोषों और कृमिजन्य विकारोंको नष्ट करती है, इससे जराका नाश होता है, मृत्युका भय मिट जाता है। इसके अभ्याससे प्राण सुषुम्नामें रहता है। इससे शरीरके पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश-तत्त्व सम-अवस्थामें आ जाते हैं।

३-उज्जायी कुम्भक—उज्जायी कुम्भकका अभ्यास सभी लोग आसानीसे कर सकते हैं। इसकी विधि यह है कि आसन लगाकर बैठे और दोनों नासा-छिद्रोंसे धीरे-धीरे वायु भीतर खींचे। इस तरह वायु खींचकर और भीतरी वायुको हृदय और कण्ठसे खींचकर मुखमें रोके। मुखका प्रक्षालन कर कुम्भक किये रहे। जालन्धरबन्ध भी लगाये। इससे क्रूर वायु, अग्निमान्द्य, कफजन्य रोग, श्वास, कास, क्षय, ज्वर, प्लीहा तथा आमवात आदि रोग नष्ट होते हैं। क्योंकि प्रमेह-रोगमें भी यह प्राणायाम लाभकारी है। आन्तरिक वायु हृदय और कण्ठसे खींचनेकी विधि कठिन है, पर अभ्याससे यह सरल हो जाती है। नये साधकोंको आन्तरिक वायु न खींचते हुए इसका अभ्यास करना चाहिये। इसकी दूसरी विधि यह भी है कि मुख बंद कर दोनों नासा-छिद्रोंसे श्वास इस तरह खींचे कि वह शब्द करता हुआ हृदयसे कण्ठपर्यन्त भर जाय। इसमें भी गर्दन झुकाकर जालन्धरबन्ध करना चाहिये। बायीं नासासे वायु बाहर निकाले। यह अभ्यास चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-लेटते भी किया जाता है। इससे मस्तिष्ककी उष्णता दूर होकर शान्ति आती है। विचार-शक्ति दृढ़ होती है। कण्ठका कफ दूर होनेसे श्वास, कास, गलेकी खरखराहट, स्वरभङ्ग आदिमें लाभ होता है। इससे पुरुषत्ववृद्धि भी होती है।

४-शीतली कुम्भक—शीतली कुम्भक प्राणायामके अभ्यासमें मुखको बंद करके होठोंको इस प्रकार संकुचित किया जाता है कि उनका आकार पक्षीकी चोंचके समान दिखायी दे और होठोंके मध्यमें जीभको इस प्रकार लगा लिया

जाता है कि उनके द्वारा जानेवाली वायु छन-छन कर प्रविष्ट हो सके। सरल आसनसे बैठकर इसका अभ्यास किया जाता है। बाहरसे खींची गयी वायुको उदरमें भरकर कुछ समयतक रोककर दोनों नासाछिद्रोंसे बाहर निकाले। देरतक वायु भरनेकी क्रियाको अभ्याससे सिद्ध किया जाता है। इस कुम्भक प्राणायामके सिद्ध होनेपर शरीर स्वस्थ और रोगरहित हो जाता है। उदररोग नष्ट हो जाते हैं। अजीर्ण, उदरशूल, गुल्म आदिका इसके अभ्याससे शमन होता है। पित्तके विकार और पित्तज्वर नष्ट होते हैं। शरीरकी कान्ति बढ़ती है।

५-भस्त्रिका कुम्भक—यह बड़ा महत्त्वपूर्ण प्राणायाम है। सभी योगाचार्योंने इसका वर्णन किया है। इसमें बाहरी वायुको नासिकाके द्वारा लोहारकी धौंकनीके समान खींचकर उदरतक भरा जाता है। इस प्रकार प्राणायाममें पद्मासन लगाकर बैठे; गर्दन, कमर, मेरुदण्ड एक सीधमें रहें। तब मुखको बंदकर भीतर भरी वायु नासिकासे बाहर निकाले। फिर शब्द करते हुए वायु इस प्रकार खींचे कि कण्ठ-तालु और कपाल तथा हृदयको उसके स्पर्शका अनुभव हो। कुछ देर भीतर वायु रोककर बाहर निकाले। भीतर् वायुके भरनेपर उसे धीरे-धीरे चलानेका अभ्यास करना चाहिये। इसमें दायीं नासासे वायु खींचकर पूरक करे और बायीं नासासे रेचककी विधिसे निकाले। इस क्रियामें आन्तरिक कुम्भक किया जाता है, बाहरी कुम्भक न करे। धीरे-धीरे श्वासकी गति बढ़नेपर यह लोहारकी धौंकनीके समान हो जाती है। इसलिये इसका नाम भस्त्रिका है। इसमें रेचक, पूरक दोनोंके वेगकी समानताका ध्यान रखना चाहिये। जितनी देरतक सुखपूर्वक हो सके, फेफड़ेको बाहरी वायुसे रहित करे। इससे श्वास-प्रश्वासकी स्वाभाविक स्थिति हो जाती है। भस्त्रिका कुम्भक तीन बार करे, जाड़ेकी ऋतुमें तीन बार और गर्मीकी ऋतुमें एक बार करे, क्योंकि इससे उष्णता बढ़ती है। यह प्राणायाम फुफ्फुसोंको शक्ति देता है, क्षयरोगका नाश करता है।

६-भ्रामरी कुम्भक—भ्रामरी कुम्भक प्राणायामका अभ्यास सरल है। इसके द्वारा कण्ठ और कानोंके अनेक रोग दूर होते हैं। श्रवणशक्तिको रोकनेमें इसका उल्लेखनीय उपयोग है। योगशास्त्रियोंने इसके अभ्यासका समय अर्धरात्रिको बताया है। घेरण्डसंहिताके अनुसार आधी रात बीत जानेपर जब किसी जीव-जन्तुका भी शब्द सुनायी न दे तब एकान्त स्थानमें जाकर इसका अभ्यास करना चाहिये। कानोंको अपने दोनों हाथोंसे बंद कर पूरकद्वारा बाह्य वायुको खींचकर रोके तो कानोंमें अनेक प्रकारके शब्द सुनायी देने लगेंगे। संहिताकारके अनुसार पहले झींगुरका शब्द, उसके बाद वंशीध्वनि फिर उत्तरोत्तर मेघगर्जन, बाजोंके बजनेकी झर्झर-ध्वनि, भौंरोंका गुंजन, घंटा-घड़ियाल, तुरही, भेरी, मृदंग, दुन्दुभी आदिका नाद सुनायी देता है। इन शब्दोंके श्रवणकी सिद्धि होनेपर अन्तमें अनाहत शब्द अपने अस्तित्वको मनमें विलीन कर एक प्रकारकी अद्भुत शान्ति उत्पन्न करनेमें समर्थ है। भ्रामरी कुम्भक प्राणायामके अभ्यासके लिये चित्तको एकाग्र और शान्तकर बैठना चाहिये। नेत्र बंदकर कानोंके छिद्रोंको रोक ले, जिससे बाहरका शब्द भीतर न प्रविष्ट हो। यदि कानके निचले लवको अंगुलीसे कानकी ओर दाब लिया जाय तो भी छिद्र आसानीसे बंद हो जाता है। अब नासिकासे धीरे-धीरे गहरा श्वास खींचकर उसे भीतर रोके, कुछ सेकेंड बाद बाहर निकाल दे। बार-बार करनेसे शब्द-श्रवणकी शक्ति बढ़ने लगती है। इसकी विधि यह भी है कि कानोंको बंदकर श्वास खींचे और कुम्भकके समय गलेसे गुंजनकी ध्वनि करते हुए ही श्वासको बाहर निकाल दे। इस पूरी क्रियामें मुखका बंद रहना आवश्यक है। चित्तको गुंजनकी ध्वनिपर केन्द्रित रखे, इस विधिसे भौंरोंके गूँजने-जैसी ध्वनि सुनायी देती है।

७-मूर्च्छा कुम्भक—मूर्च्छाका तात्पर्य है चैतन्यराहित्य। इस कुम्भक प्राणायामके द्वारा मनको विषय-विशेषमें विलीन कर दिया जाता है। इससे उसे बाह्य विषयोंका ज्ञान नहीं रहता। मुखके द्वारा साँस भीतर खींचे। पक्षीकी चोंच-जैसा आकार बना लिया जाता है। जिह्वाके द्वारा बाहरी वायु भीतर खींचा जाता है। वायुको यथासमय भीतर रोककर मन आत्मतत्त्वमें लीन किया जाता है। इस प्राणायामके अभ्याससे भोग और योग दोनोंकी सिद्धि होती है। पुरुष-रोगोंके रोगी इससे यथाशीघ्र स्वास्थ्यलाभ करते हैं। धातुरोग, प्रमेह, नपुंसकत्व आदि इससे ठीक होते हैं। भौंहोंके मध्य आज्ञाचक्रमें मनको तल्लीनकर परमात्म-चिन्तन करनेमें सुगमता होती है।

८-केवली कुम्भक—केवली कुम्भक प्राणायाममें दोनों

नासा-छिद्रोंसे वायु भीतर खींचकर उसे रोका जाता है, जितने समयतक रोकनेकी सामर्थ्य हो, उतनी देरतक वायुको रोकना चाहिये, फिर बाहर निकाल देना चाहिये। सबेरे, दोपहर, शामको और रातमें इसका अभ्यास किया जाता है। इस अभ्यासको तीन घंटेके अन्तरसे दिन-रातमें आठ बार भी किया जा सकता है। इसमें अजपागायत्रीका भी जप हो सकता है। श्वास-प्रश्वासमें 'ह' और 'स' की ध्वनि ही 'हंस'-मन्त्ररूप अजपागायत्रीका जप है। इससे प्राणकी गति नियन्त्रित रहती है। केवली कुम्भक प्राणायामसे शरीर स्वस्थ रहता है, आत्मानन्दकी प्राप्ति होती है। इससे साधकको इच्छित कामना सिद्ध होती है, क्योंकि प्राणशक्ति वशमें रहनेसे मनपर नियन्त्रण रहता है और साधक मोक्षानन्द प्राप्त करता है।

प्राणायामकी महत्ता और उसका प्रभाव

(स्वामी श्रीकुवलयानन्दजी कैवल्यधाम)

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत्कर्म न सम्मतम्॥

'कुछ योगाचार्योंको प्राणायामके सिवा कोई दूसरा मलशोधक साधन अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि उनके मतमें प्राणायामसे ही शरीरके सारे मल सूख जाते हैं।'

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

(पा० यो० सू० २। ५२)

'इससे (प्राणायामके साधनसे) ज्ञानरूप प्रकाशको रोक रखनेवाला आवरण नष्ट हो जाता है।'

तपो न परं प्राणायामात्, ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य। (व्यासभाष्य) 'प्राणायामसे बढ़कर कोई दूसरा तप नहीं है। इससे सारे मल धुल जाते हैं और ज्ञानरूप दीपशिखा प्रदीप्त हो जाती है।'

योगसाधनाके आठ अङ्ग हैं, जिनमें प्राणायाम चौथा सोपान है। आसन इसके पहले आता है और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि पीछे। योगका उद्देश्य है शारीरिक एवं मानसिक समता* स्थापित करना, जिससे आत्मा शरीर और मनके दासत्वसे छूटकर अपनी अपरिच्छिन्न आनन्दमयी स्थितिको प्राप्त हो जाय। आसन शारीरिक क्रिया है और प्रत्याहार, धारणा आदि मानसिक साधन हैं। प्राणायामकी क्रिया उक्त दोनों प्रकारके साधनोंके बीचका साधन है। यह शारीरिक भी है और मानसिक भी, क्योंकि इससे शरीर और मन दोनोंका निग्रह होता है।

योगसाधनामें प्राणायामका विशेष महत्त्व है। शारीरिक दृष्टिसे प्राचीन कालके योगियोंने प्राणायामको इतना गौरव दिया है कि उनमेंसे कुछ लोगोंके मतमें तो शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये तथा उसमें जितने प्रकारके मल इकट्ठे हो सकते हैं उनको निकाल बाहर करनेके लिये किसी और मलशोधक क्रियाकी आवश्यकता ही नहीं है। उनके मतमें योगसाधनाके लिये जिस शारीरिक समताकी आवश्यकता है वह अकेले प्राणायामसे ही स्थापित हो सकती है। यदि प्राणायामपर आधुनिक दृष्टिसे विचार किया जाय तो हमें पता लगेगा कि प्राणायामसे हमारा सारा शरीर ओजस्वी हो सकता है और इस प्रकार हम शारीरिक समता प्राप्त करने तथा उसे कायम रखनेमें समर्थ हो सकते हैं। मानसिक समता स्थापित करनेमें भी प्राणायामको सहायक माना गया है। आधुनिक मानस-शास्त्रकोविदोंका मत है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, शोक, अनुताप आदि मनोविकार ही मानसिक शान्तिको भङ्ग करनेमें प्रबल हेतु हैं। ये विकार हमारे मनके उस स्तरमें उत्पन्न होते हैं जहाँ चेतनता अथवा ज्ञान अर्धजाग्रत् रहता है। प्राणायामके द्वारा हमारे मस्तिष्कके स्नायुजालपर तथा हमारे मनके बोधपूर्वक व्यापारोंपर ही हमारा अधिकार नहीं हो जाता, बल्कि उससे उपर्युक्त स्तरके भी द्वार खुल जाते हैं, जहाँ हमारा ज्ञान अर्धजाग्रत् रहता है, और उस स्तरपर हमारा अधिकार हो जाता है। यही कारण है कि प्राणायामका साधक अपने मनोविकारोंको दबाकर मानसिक

* श्रीमद्भगवद्गीतामें इस शारीरिक एवं मानसिक समताके लिये 'साम्य' एवं 'समता' शब्दोंका प्रयोग किया गया है। उदाहरणतः—
'योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।' (६। ३३)
—यहाँ 'योग' और 'साम्य'-ये दो शब्द स्पष्टरूपसे पातञ्जलयोगकी ही ओर संकेत करते हैं।

समता स्थापित करनेमें समर्थ होता है। ऊपरके उद्धरणोंमें इस मानसिक साम्यमें हलचल पैदा करनेवाले कारणोंको 'मल' कहा गया है, क्योंकि वे प्रकाशरूप आत्माको आच्छन्न कर देते हैं। इन मनोमलोंको धोने तथा आत्माको अपने निज स्वरूपमें स्थित करनेके लिये भगवान् पतञ्जलिने प्राणायामको ही साधन बतलाया है और भाष्यकार व्यासजीने भी उनका समर्थन किया है।

प्राणायामकी प्रक्रिया

शारीरिक दृष्टिसे प्राणायाममें केवल श्वासोपयोगी अङ्गोंका ही संचालन एवं व्यापार होता है। प्राणायामका अर्थ है श्वासकी गतिको कुछ कालके लिये रोक लेना। साधारण स्थितिमें श्वासोंकी चाल दस प्रकारकी होती है—पहले श्वासका भीतर जाना, फिर रुकना, फिर बाहर निकलना; फिर रुकना, फिर भीतर जाना, फिर रुकना, फिर बाहर निकलना इत्यादि। प्राणायाममें श्वास लेनेका यह सामान्य क्रम टूट जाता है। श्वास (वायुके भीतर जानेकी क्रिया) और प्रश्वास (बाहर जानेकी क्रिया) दोनों ही गहरे और लम्बे होते हैं और श्वासोंका विराम अर्थात् रुकना तो इतनी अधिक देरतक होता है कि उसके सामने सामान्य स्थितिमें हम जितने कालतक रुकते हैं वह तो नहींके समान और नगण्य ही है। योगकी भाषामें श्वास खींचनेको 'पूरक', बाहर निकालनेको 'रेचक' और रोक रखनेको 'कुम्भक' कहते है। प्राणायाम कई प्रकारके होते हैं और जितने प्रकारके प्राणायाम हैं,उन सबमें पूरक, रेचक और कुम्भक भी भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। पूरक नासिकासे करनेमें हम दाहिने छिद्रका अथवा बायेंका अथवा दोनोंका ही उपयोग कर सकते हैं। रेचक दोनों नासारन्ध्रोंसे अथवा एकसे ही करना चाहिये। कुम्भक पूरकके भी पीछे हो सकता है और रेचकके भी, अथवा दोनोंके ही पीछे न हो तो भी कोई आपत्ति नहीं। पूरक, कुम्भक और रेचकके इन्हीं भेदोंको लेकर प्राणायामके अनेक प्रकार हो गये हैं।

पूरक, कुम्भक और रेचक कितनी-कितनी देरतक होना चाहिये, इसका भी हिसाब रखा गया है। यह आवश्यक माना गया है कि जितनी देरतक पूरक किया जाय उससे चौगुना समय कुम्भकमें लगाना चाहिये और दूना समय रेचकमें अथवा दूसरा हिसाब यह है कि जितना समय पूरकमें लगाया जाय उससे दूना कुम्भकमें और उतना ही रेचकमें लगाया जाय। प्राणायामकी सामान्य प्रक्रियाका दिग्दर्शन कराकर अब हम प्राणायामसम्बन्धी उन खास बातोंपर विचार करेंगे जिनसे हम यह समझ सकेंगे कि प्राणायामका हमारे शरीरपर कैसा प्रभाव पड़ता है।

पूरक करते समय जब कि साँस अधिक-से-अधिक गहराईके साथ भीतर खींची जाती है तथा कुम्भकके समय भी, जिसमें बहुधा साँसको भीतर रोकना होता है, आगेकी पेटकी नसोंको सिकोड़कर रखा जाता है। उन्हें कभी फुलाकर आगेकी ओर नहीं बढ़ाया जाता। रेचक भी जिसमें साँसको अधिक-से-अधिक गहराईके साथ बाहर निकालना होता है, पेट और छातीको जोरसे सिकोड़नेसे ही बनता है। कुम्भक करते समय मूलबन्ध साधनेके लिये तो गुदाको सिकोड़ना पड़ता है और उड्डीयानबन्धके लिये पेटको भीतरकी ओर खींचा जाता है तथा जालन्धरबन्धके लिये ठोडीसे छातीको दबाया जाता है। प्राणायामके अभ्यासके लिये कोई-सा उपयुक्त आसन चुन लिया जाता है जिसमें सुखपूर्वक पालथी मारी जा सके और मेरुदण्ड सीधा रह सके।

एक विशेष प्रकारका प्राणायाम होता है जिसे भस्त्रिका प्राणायाम कहते हैं। उसके दो भाग होते हैं, जिनमेंसे दूसरे भागकी प्रक्रिया वही है जो ऊपर कही गयी है। पहले भागमें साँसको जल्दी-जल्दी बाहर निकालना होता है, यहाँतक कि एक मिनटमें २४० साँस बाहर आ जाते हैं। योगमें एक श्वासकी क्रिया होती है जिसे कपालभाति कहते हैं। भस्त्रिकाके पहले भागमें ठीक वैसी ही क्रिया की जाती है।

प्राणायामका शरीरपर प्रभाव

सामान्य शरीरविज्ञानमें मानवशरीरके अंदर काम करनेवाले भिन्न-भिन्न अङ्गसमूह हैं। इन अङ्गसमूहोंमें प्रधान ये हैं—स्नायुजाल (Nervous system), ग्रन्थिसमूह (Glandular system), श्वासोपयोगी अङ्गसमूह (Pespiratory system) रक्तवाह, अङ्गसमूह (Circulatory system) और आहारका परिपाक करनेवाला अङ्गसमूह (Digestive system)। इन सभीपर प्राणायामका गहरा प्रभाव पड़ता है। मलको बाहर निकालनेवाले अङ्गोंमें हम देखते हैं कि आँतें और गुर्दा तो पेटके अंदर हैं और फेफड़े

छातीके अंदर। साधारण तौरपर साँस लेनेमें उदरकी मांसपेशियाँ क्रमशः ऊपर और नीचेकी ओर जाती हैं, जिससे आँतों और गुर्देमें भी निरन्तर हलचल और हलकी-हलकी मालिश होती रहती है। प्राणायाममें पूरक एवं रेचक तथा कुम्भक करते समय यह हलचल और मालिश और भी स्पष्टरूपसे होने लगती है। इससे यदि कहीं रक्त जमा हो गया हो तो इस हलचलके कारण उसपर जोर पड़नेसे वह हट सकता है। यही नहीं, आँतों और गुर्देके व्यापारको नियन्त्रणमें रखनेवाले स्नायु और मांसपेशियाँ भी सुदृढ़ हो जाती हैं। इस प्रकार आँतों और गुर्देको प्राणायाम करते समय ही नहीं, बल्कि शेष समयमें भी लाभ पहुँचता है। स्नायु और मांसपेशियाँ जो एक बार मजबूत हो जाती हैं, वे फिर चिरकालतक मजबूत ही बनी रहती हैं और प्राणायामसे अधिक स्वस्थ हो जानेपर आँतें और गुर्दे अपना कार्य और भी सफलताके साथ करने लगते हैं।

यही हाल फेफड़ोंका है। श्वासकी क्रिया ठीक तरहसे चलती रहे, इसके लिये आवश्यकता है श्वासोपयोगी मांस-पेशियोंके सुदृढ़ होनेकी और फेफड़ोंके लचकदार होनेकी। शारीरिक दृष्टिसे प्राणायामके द्वारा इन मांसपेशियों और फेफड़ोंका संस्कार होता है। और कार्बनडाई आक्साइड नामक दूषित गैसका भी भलीभाँति निराकरण हो जाता है। इस प्रकार प्राणायाम आँतों, गुर्दे तथा फेफड़ोंके लिये, जो शरीरसे मलको निकाल बाहर करनेके तीन प्रधान अङ्ग हैं, बड़ी मूल्यवान् कसरत है।

आहारका परिपाक करनेवाले और रस बनानेवाले अङ्गोंपर भी प्राणायामका अच्छा असर पड़ता है। अन्न-जलके परिपाकमें आमाशय, उसके पृष्ठभागमें स्थित Pancreas नामक ग्रन्थि और यकृत् मुख्यरूपसे कार्य करते हैं। और प्राणायाममें इन सबकी कसरत होती है। क्योंकि प्राणायाममें उदर और वक्षःस्थलके बीचका स्नायु, जिसे अंग्रेजीमें Diaphragm कहते हैं और पेटकी मांसपेशियाँ, ये दोनों ही बारी-बारीसे खूब सिकुड़ते हैं और फिर ढीले पड़ जाते हैं, जिससे उपर्युक्त पाकोपयोगी अङ्गोंकी एक प्रकारसे मालिश हो जाती है। जिन्हें अग्निमान्द्य और बद्धकोष्ठताकी शिकायत रहती है, उनमेंसे अधिक लोगोंके जिगरमें सदा ही रक्त जमा रहता है और फलतः उसकी क्रिया दोषयुक्त होती है। इस रक्तसंचयको हटानेके लिये प्राणायाम एक उत्तम साधन है।

किसी भी मनुष्यके स्वास्थ्यके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसकी नाड़ियोंमें प्रवाहित होनेवाले रक्तको ऑक्सिजन प्रचुर मात्रामें मिलता रहे। योगशास्त्रमें बतायी हुई पद्धतिके अनुसार प्राणायाम करनेसे रक्तको जितना अधिक ऑक्सिजन मिल सकता है, उतना अन्य किसी व्यायामसे नहीं मिल सकता। इसका कारण यह नहीं कि प्राणायाम करते समय मनुष्य बहुत-सा ऑक्सिजन पचा लेता है, बल्कि उसके श्वासोपयोगी अङ्गसमूहका अच्छा व्यायाम हो जाता है।

जो लोग अपने श्वासकी क्रियाको ठीक करनेके लिये किसी प्रकारका अभ्यास नहीं करते, वे अपने फेफड़ोंके कुछ अंशोंसे ही साँस लेते हैं, शेष अंश निकम्मे रहते हैं। इस प्रकार निकम्मे रहनेवाले अंश बहुधा फेफड़ोंके अग्रभाग होते हैं। इन अग्रभागोंमें ही जो निकम्मे रहते हैं और जिनमें वायुका संचार अच्छी तरहसे नहीं होता, राजयक्ष्माके भयङ्कर कीटाणु बहुधा आश्रय पाकर बढ़ जाते हैं। यदि प्राणायामके द्वारा फेफड़ोंके प्रत्येक अंशसे काम लिया जाने लगे और उनका प्रत्येक छिद्र दिनमें कई बार शुद्ध हवासे धुल जाया करे तो फिर इन कीटाणुओंका आक्रमण असम्भव हो जायगा और श्वास-सम्बन्धी इन भयंकर रोगोंसे बचा जा सकता है।

प्राणायामके कारण पाकोपयोगी, श्वासोपयोगी एवं मलको बाहर निकालनेवाले अङ्गोंकी क्रिया ठीक होनेसे रक्त अच्छा बना रहेगा। यही रक्त विभक्त होकर शरीरके भिन्न-भिन्न अङ्गोंमें पहुँच जायगा। यह कार्य रक्तवाहक अङ्गोंका खासकर हृदयका है। रक्तसंचारसे सम्बन्ध रखनेवाला प्रधान अङ्ग हृदय है और प्राणायामके द्वारा उसके अधिक स्वस्थ हो जानेसे समस्त रक्तवाहक अङ्ग अच्छी तरहसे काम करने लगते हैं।

परंतु बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। भस्त्रिका प्राणायाममें, खासकर उस हिस्सेमें जो कपालभातिसे मिलता-जुलता है, वायवीय स्पन्दन प्रारम्भ होकर मानव-शरीरके प्रायः प्रत्येक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अङ्गको, यहाँतक कि नाड़ियों एवं सूक्ष्म शिराओंतकको हिला देते हैं। इस प्रकार प्राणायामसे सारे रक्तवाहक अङ्गसमूहकी कसरत एवं मालिश हो जाती है और वह ठीक तरहसे काम करनेके योग्य बन जाता है।

रक्तकी उत्तमता और उसके समस्त स्नायुओं और ग्रन्थियोंमें उचित मात्रामें विभक्त होनेपर ही इनकी स्वस्थता निर्भर है। प्राणायाममें विशेषकर भस्त्रिका प्राणायाममें रक्तकी गति बहुत तेज हो जाती है और रक्त भी उत्तम हो जाता है। इस प्रकार प्राणायामसे Endocrine ग्रन्थिसमूहको भी उत्तम और पहलेकी अपेक्षा प्रचुर रक्त मिलने लगता है, जिससे वे पहलेकी अपेक्षा अधिक स्वस्थ हो जाती हैं। इसी रीतिसे हम मस्तिष्क, मेरुदण्ड और इनकी नाड़ियों तथा अन्य सम्बन्धित नाड़ियोंको स्वस्थ बना सकते हैं।

सभी शरीरविज्ञानविशारदोंका इस विषयमें एक मत है कि साँस लेते समय मस्तिष्कमेंसे दूषित रक्त प्रवाहित होता है और शुद्ध रक्त उसमें संचरित होता है। यदि साँस गहरी हो तो दूषित रक्त एक साथ बह निकलता है और हृदयसे जो शुद्ध रक्त वहाँ आता है वह और भी सुन्दर आने लगे। प्राणायामकी यह विधि है कि उसमें साँस गहरे-से-गहरा लिया जाय, इसका परिणाम यह होता है कि मस्तिष्कसे सारा दूषित रक्त बह जाता है और हृदयका शुद्ध रक्त उसे अधिक मात्रामें मिलता है। योग उड्डीयानबन्धको हमारे सामने प्रस्तुत कर इस स्थितिको और भी स्पष्ट कर देनेकी चेष्टा करता है। इस उड्डीयानबन्धसे हमें इतना अधिक शुद्ध रक्त मिलता है,जितना किसी श्वास-सम्बन्धी व्यायामसे हमें नहीं मिल सकता। प्राणायामसे जो हमें तुरंत बल और नवीनता प्राप्त होती है उसका यही वैज्ञानिक कारण है।

मेरुदण्ड एवं उससे सम्बन्धित स्नायुओंके सम्बन्धमें हम देखते हैं कि इन अङ्गोंके चारों ओर रक्तकी गति साधारणतया मन्द होती है। प्राणायामसे इन अङ्गोंमें रक्तकी गति बढ़ जाती है और इस प्रकार इन अङ्गोंको स्वस्थ रखनेमें प्राणायाम सहायक होता है।

योगमें कुम्भक करते समय मूल, उड्डीयान और जालन्धर—तीन प्रकारके बन्ध करनेका उपदेश दिया गया है। इन बन्धोंका एक कालमें अभ्यास करनेसे पृष्ठवंशका, जिसके अंदर मेरुदण्ड स्थित है तथा तत्सम्बन्धित स्नायुओंका उत्तम रीतिसे व्यायाम हो जाता है। इन बन्धोंके करनेसे पृष्ठवंशको यथास्थान रखनेवाली मांसपेशियाँ, जिनमें तत्सम्बन्धित स्नायु भी रहते हैं, क्रमशः फैलती हैं और फिर सिमट जाती हैं, जिससे इन पेशियों तथा मेरुदण्ड एवं तत्सम्बन्धित स्नायुओंमें रक्तकी गति बढ़ जाती है। बन्ध यदि न किये जायँ तो भी प्राणायामकी सामान्य प्रक्रिया ही ऐसी है कि उससे पृष्ठवंशपर ऊपरकी ओर हलका-सा खिंचाव पड़ता है, जिससे मेरुदण्ड तथा तत्सम्बन्धित स्नायुओंको स्वस्थ रखनेमें सहायता मिलती है।

स्नायुजालके स्वास्थ्यपर अच्छा प्रभाव डालनेके लिये तो सबसे उत्तम प्राणायाम भस्त्रिका है। इस प्राणायाममें श्वासकी गति तेज होनेसे शरीरके प्रत्येक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अङ्गकी मालिश हो जाती है और इसका स्नायुजालपर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है।

निष्कर्षरूपमें कहा जा सकता है कि प्राणायाम हमारे शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये सर्वोत्तम व्यायाम है। इसीलिये भारतके प्राचीन योगाचार्य प्राणायामको शरीरकी प्रत्येक आभ्यन्तर क्रियाको स्वस्थ रखनेका एकमात्र साधन मानते थे। उनमेंसे कुछ तो प्राणायामको शरीरका स्वास्थ्य ठीक रखनेमें इतना सहायक मानते हैं कि वे इसके लिये अन्य किसी साधनकी आवश्यकता ही नहीं समझते। प्राणायामसे शरीरकी आभ्यन्तर क्रियाओंका नियन्त्रण ही नहीं होता, अपितु इस शरीरयन्त्रको जीवन देनेवाले प्रत्येक व्यापारपर अधिकार हो जाता है।

श्वाससम्बन्धी व्यायामोंसे श्वासोपयोगी अङ्गसमूहको तो लाभ होता ही है, किंतु उनका असली महत्त्व तो इस बातको लेकर है कि उनसे अन्य अङ्गसमूहोंको भी, खासकर स्नायुजालको विशेष लाभ पहुँचता है।

आध्यात्मिक शास्त्रोंके श्रवण, भगवान्‌के नाम-कीर्तन, मनकी सरलता, सत्पुरुषोंका समागम, देहाभिमानके त्यागका अभ्यास—इन भागवत-धर्मोंके आचरणसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, फिर वह अनायास ही भगवान्‌में आसक्त हो जाता है।—श्रीमद्भागवत

योगासन और व्यायाममें अन्तर

(डॉ॰ श्री आर॰ सी॰ वर्मा)

प्रायः सामान्य लोग योगासनोंको शारीरिक व्यायामका ही एक अङ्ग मानते हैं और उन्हें शरीरको पुष्ट करनेका साधनमात्र समझते हैं, किंतु योगासन और व्यायामके परिणाममें पर्याप्त अन्तर दीखता है।

योगासन मानसिक और शारीरिक विकास करते हैं, इनसे मानसिक और शारीरिक स्थिरता प्राप्त होती है। परंतु व्यायामसे केवल शरीरके विशेष अङ्गोंका ही विकास होता है और व्यायामके अभ्यासके व्यतिक्रमसे विपरीत परिणाम भी प्राप्त होते हैं। आसनोंके अभ्याससे सम्पूर्ण मस्तिष्कके केन्द्र (हायर एन्ड लोवर सेन्टर्स आफ ब्रेन) का उपयोग तल्लीनता और एकाग्रताके लिये किया जाता है। आसन धीरे-धीरे बड़ी सावधानीसे ध्यानपूर्वक, बिना झटकेके कम-से-कम शक्तिका उपयोग करते हुए किये जाते हैं और उनके अभ्यासके द्वारा पूर्ण एकाग्रताके लिये प्रयत्न किया जाता है। चित्तकी यही एकाग्रता प्राणायाम, धारणा एवं ध्यानको दृढ़ करती हुई समाधिके द्वारा सहज स्वरूपावस्थातक पहुँचा देती है। व्यायाममें मस्तिष्कके सूक्ष्म केन्द्र (हायर सेन्टर्स) निरुपयोगी रहते हैं, व्यायाम जल्दी-जल्दी झटकेके साथ बार-बार किये जाते हैं और उनमें शक्तिका उपयोग भी अधिक होता है तथा स्थितिके अनेक आवर्तन होते हैं। व्यायाममें यद्यपि बलवृद्धि तथा स्वास्थ्य दृढ़ होता है, किंतु चित्त एकाग्र तथा सात्त्विकताकी ओर उन्मुख न होकर संसारकी ओर प्रवृत्त होता है। इसके विपरीत योगासनोंसे शरीर-स्वास्थ्यके साथ-ही-साथ साधककी प्रवृत्ति भी अन्तर्मुखी हो जाती है।

आसनोंका अभ्यास करनेके पहले शरीर और मनकी शुद्धि बहुत आवश्यक है, शरीरको शौच-स्नान आदिसे शुद्ध और स्फूर्तिमय किया जाता है। आसनोंका अभ्यास करते समय शरीरके भीतर होनेवाली गतिविधियोंपर ध्यान एकाग्र किया जाता है, इससे मनको स्थिर और निर्दोष बनानेमें बड़ी सहायता मिलती है। इसके विपरीत व्यायामके लिये शरीरकी शुद्धिपर विशेष बल नहीं दिया जाता। मन और ध्यानकी स्थिरता और एकाग्रताके अभावमें भी व्यायामोंका अभ्यास किया जाता है। शरीर स्वचालित यन्त्रकी भाँति व्यायाममें तत्पर रहता है।

योगासनोंके अभ्याससे शरीरमें लोच बढ़ती है। शरीरकी ग्रन्थियों और जोड़ोंमें विशेष गतिशीलता आती है, मांसपेशियोंका विकास आवश्यकतासे अधिक नहीं होता है, न उनमें ऐसी विशेष ताकत आती है और न मजबूती ही, जिससे कि शरीरका विकास अवरुद्ध हो जाय, परंतु व्यायामसे शरीरमें कठोरता बढ़ती है, कड़ापन आता है, शरीरके जोड़ोंकी स्वाभाविक गतिशीलतामें क्षीणता उत्पन्न होती है, शरीरकी मांसपेशियाँ अधिक परिपक्व और कठोर होती हैं तथा मानसिक शक्तिके स्थानपर विशेषरूपसे शरीरका बल अधिक बढ़ता है।

योगासनोंके द्वारा शरीरमें प्राण-शक्तिका संचय होता है। शरीरमें स्फूर्ति बढ़ती है, ओज एवं कान्तिकी अभिवृद्धि होती है। दैनिक कार्योंको पूरा करनेमें शरीर स्वस्थ और समर्थ होता है, आलस्य दूर होता है। किंतु व्यायाममें प्राणशक्तिकी विशेष अभिवृद्धि न होकर ह्रासकी सम्भावना रहती है, जिससे शरीरमें शैथिल्य आ जाता है और बहुत देरतक विश्राम करनेकी इच्छा होती है, आलस्य बढ़ता है।

आसनोंका अभ्यास करनेवालोंके लिये यह आवश्यक है कि उनका आहार अल्प एवं सात्त्विक हो; क्योंकि सात्त्विक आहार-विहारसे योगसाधनामें विशेष लाभ होता है। योगासनोंका अभ्यास बालक, युवक, प्रौढ़ और वृद्ध सभी कर सकते हैं। किंतु व्यायाममें शक्तिकी अधिक अपेक्षा होनेसे विशेषरूपसे युवक ही कर सकते हैं। चूँकि व्यायाममें शारीरिक पुष्टतापर अधिक ध्यान दिया जाता है, अतः भोज्य पदार्थोंका कोई विशेष विधि-निषेध नहीं देखा जाता।

योगासनोंके अभ्यासके बाद शान्ति, संतोष तथा सुखका अनुभव होने लगता है और साधककी आध्यात्मिक शक्ति बढ़ती है। हृदयमें उच्च रक्तचाप और फेफड़ों आदिकी गतिमें संतुलन, समभाव प्राप्त होता है। प्रचुर मात्रामें प्राणवायुकी प्राप्ति होती है। इन योगासनोंके अभ्यासके लिये न किन्हीं बाह्य साधनोंकी विशेष आवश्यकता होती है और न अर्थकी अपेक्षा होती है। अतः ये सबके लिये सुलभ हैं, इसके विपरीत व्यायाममे शारीरिक परिश्रम अधिक होता है। अतः शैथिल्य आने लगता है, व्यायामके द्वारा हृदय और फेफड़ोंकी गतिमें तथा रक्तकी गतिमें असंतुलन-सा प्रतीत होता है। प्राणवायुकी

क्षीणता बढ़ती है और व्यायाम करनेवाला हाँफने लगता है। भारतीय पद्धतिके व्यायामोंमें तो कम पर अन्य पाश्चात्त्य पद्धतिके व्यायामोंमें बाह्य साधन आवश्यक होते हैं। वे अर्थसाध्य भी होते हैं। संगीत आदिकी धुनोंपर किये जानेवाले व्यायामोंसे लाभकी अपेक्षा हानिकी ही अधिक सम्भावना रहती है।

भारतीय योगपद्धतिका लक्ष्य चित्तकी वृत्तियोंको सर्वथा निरुद्धकर साधकको परमात्मलाभकी स्थितिमें पहुँचाना है। इस साधना-मार्गमें आसनोंके माध्यमसे स्थैर्य प्राप्त कर, प्राणायामसे प्राणशक्तिका नियमन कर इष्टकी धारणापूर्वक ध्यान-समाधिमें स्थित होना और अन्तमें सहजावस्था-प्राप्तितकका क्रम निर्दिष्ट है। इस क्रम-मार्गमें योगासन ही मूलभूत साधन है। केवल शारीरिक शक्तिकी अभिवृद्धिमें सहयोगी व्यायामोंका इस साधनापद्धतिमें कोई विशिष्ट स्थान नहीं है।

कल्याणकारी साधकको यथासाध्य अपनी प्रकृति एवं शारीरिक क्षमताके आधारपर किसी योग्य कर्मठ सिद्ध योगसाधकका आश्रयण लेकर योगासनोंके अभ्यासपूर्वक स्वाभीष्टदेवका निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये।

रोगोंका यौगिक निदान एवं चिकित्सा

(श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव)

आरोग्य मनुष्य-जीवनमें प्राप्तव्य चारों पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका मूल है। योग-साधनामें भी व्याधिको योगका सर्वप्रमुख विघ्न माना गया है। अतएव लौकिक या अलौकिक पुरुषार्थके सम्पादनमें समर्थ बने रहनेके लिये आरोग्यवान्—आधि-व्याधिशून्य बने रहना अत्यन्त आवश्यक है। आयुर्वेदके अनुसार स्वस्थ पुरुषका लक्षण है आत्मा, मन एवं इन्द्रियोंके प्रसन्न रहनेके साथ-साथ शरीरस्थित दोष—अग्नि, धातु, मल एवं क्रियाओंका सम-अवस्थामें रहना।

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

समत्व ही योगका एवं सृष्टिव्यवस्थाका मूल आधार है। विषमतासे ही विकारकी उत्पत्ति होती है। सूक्ष्मदृष्टि रखनेवाले ऋषि एवं योगिगण केवल शारीरिक रोग एवं बाह्य वैषम्यपर ही नहीं; अपितु इनके उत्पादक सूक्ष्म शरीरके वैषम्यको भी दृष्टिमें रखते थे तथा उस विषमताको भी उत्पन्न करनेवाले कारणोंको दूरकर शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक तीनों प्रकारके स्वास्थ्य-लाभका उपदेश देते रहे हैं। स्वास्थ्यके विकार कर्मदोष, दुर्वृत्त, प्रज्ञाविकार, रजोगुण एवं तमोगुणका प्रभाव, शरीरगत पञ्चभूतोंमेंसे किन्हींका क्षय, श्वास-प्रक्रियामें विपर्यय, वातादिदोषोंकी वृद्धि, अपथ्य-भोजन आदि कारणोंसे होते हैं। आयुर्वेदिक दृष्टिसे व्यक्ति या जनपदमें होनेवाले व्याधि—दुःखका कारण प्रज्ञाविकार है। बुद्धि शरीर-सत्ताकी संचालिका है। बुद्धिमें लोभ, मोह, क्रोध, अभिमान आदिकी उत्पत्ति होनेसे व्यक्ति अधर्माचरण करने लगता है। अतः उस अधर्माचरणके फलस्वरूप नाना प्रकारकी व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे सभी व्यक्ति दुःखी होते हैं। व्यक्तिगत अधर्माचरणका फल व्यक्तिको व्याधिके रूपमें मिलता है एवं समूहरूपमें किये गये अधर्मका फल जाति, समुदाय, ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र एवं विश्वको व्यापक व्याधियों एवं अन्य उपद्रवोंके रूपमें मिलता है। मनुष्य मन्द, मध्य, तीव्र मात्रामें जैसी भावनासे जिन-जिन अङ्गोंसे दुष्टाचरण करता है या करवाता है, उसी मात्रामें उसी भावनाके अनुकूल उन-उन अङ्गोंमें उसे दुःखोंकी प्राप्ति होती है, यह दुःख इस जन्ममें अनुष्ठित या पूर्वजन्ममें कृत दोनों प्रकारके कर्मोंके फलके रूपमें प्राप्त होता है। भगवान् मनुने दुराचारको सततव्याधि, अल्पायु एवं दुःखका कारण माना है तथा जडत्व, मूकत्व, अन्धत्व, बधिरत्व, विकृत आकृति आदिको कर्मविशेषका दुष्परिणाम कहा है। उनका यह भी कहना है कि असत्यवादी, हिंसाप्रेमी एवं निन्दित कर्मका आचरण करनेवाले अधार्मिक जन कभी सुखी नहीं रहते । स्वाध्यायका परित्याग कर ज्ञानानुकूल आचरण न करनेसे, सदाचारका त्याग करनेसे, आलस्य एवं प्रमादयुक्त रहनेसे तथा अन्न-दोषके कारण मृत्यु प्राणियोंका संहार करती है।

अतएव सुखी एवं स्वस्थ रहनेके लिये यह आवश्यक है

कि बुद्धिको दोषोंके मूलकारण लोभ, मोह, क्रोधसे रहित बनाया जाय। शास्त्राभ्यास, गायत्रीजप एवं ब्रह्म-ध्यानके द्वारा बुद्धिको निर्मल, पवित्र एवं ज्ञानयुक्त बनाया जाय। बुद्धिके पवित्र एवं सत्यज्ञानयुक्त होनेपर आचरण भी ज्ञानानुकूल, उत्तम, शास्त्रानुमोदित एवं पवित्र ही होगा। कर्मको ही दुःखका हेतु जानकर धर्मशास्त्रोंमें सदाचार एवं दुराचारकी—उत्तम कर्म एवं निन्दित कर्मकी विस्तारपूर्वक विवेचना की गयी है तथा सुखप्राप्तिके हेतु सदैव शास्त्रविहित मङ्गलकर्मोंको ही अनुष्ठित करनेका उपदेश दिया गया है। मनुष्योंको तीव्र दुःख देनेवाले निन्दित कर्मोंका स्पष्ट ज्ञान हो, इसीलिये विस्तारके साथ महापातकों एवं उपपातकोंकी गणना की गयी है तथा भूलकर भी इन पाप-कर्मोंका चिन्तन और अनुष्ठान न करनेका विधान किया गया है। यहाँतक कि इन पापकर्म करनेवालोंके संसर्गसे भी बचनेका उपदेश दिया गया है। यदि कभी प्रमादसे निन्दित आचरण हो भी जाय तो उसके प्रभावसे मुक्त होनेके लिये तथा उक्त पापकर्मजनित संस्कारोंको दूर करनेके लिये तत्काल प्रायश्चित्त कर्म करनेका विधान किया गया है। इन्द्रियभोगोंमें अधिक प्रसक्तिको भी मनुने प्रायश्चित्तके योग्य कर्म माना है—

अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः॥

(११। ४४)

अतः व्याधि आदिके दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये यह आवश्यक है कि आसक्ति एवं फलाकाङ्क्षाका त्यागकर सदैव शास्त्रविहित कर्म किये जायँ। योगियोंके कर्म सदैव शुभाशुभकी वासना, फलकी कामना एवं आसक्तिसे रहित होते हैं, अतएव वे कर्माशयसे रहित होनेके कारण भविष्यमें सुख-दुःखरूप फलको उत्पन्न नहीं करते। पातञ्जल योगसूत्रमें योगियोंके कर्मको अशुक्ल-अकृष्ण कहा गया है। इसके साथ ही शास्त्राभ्यास, सत्सङ्ग, श्रवण एवं मननके द्वारा सम्यग्दृष्टि प्राप्त करनी चाहिये, जिससे संसारमें पाप-कर्मके फलस्वरूप नाना प्रकारके रोगों एवं दुःखोंसे पीड़ित प्राणियोंको दुःखकर पापकर्मकी चेष्टा एवं वासनासे विरक्त रखा जा सके।

दार्शनिक दृष्टिसे विचार करनेपर व्याधि एवं दुःखोंका कारण रजोगुण एवं तमोगुण है। सत्त्वगुणका स्वभाव ज्ञान, प्रकाश, लघुता एवं आमय (रोग) रहित होता है। अतः योगी सत्त्वगुणमें स्थित होकर ही व्याधि एवं अन्य त्रिविध तापों तथा योगविघ्नोंपर विजय प्राप्त करता है। तमोगुणका दमन रजोगुणात्मक ध्यानसे एवं रजोगुणका शमन सत्त्वगुणात्मक ध्यानसे होता है।

वराहोपनिषद्ने पञ्चभूतोंकी दृष्टिसे जीवनका वर्णन किया है तथा देह-क्षयका निवारण करनेके लिये 'भूतधारणा' की विधिका उपदेश दिया है। इस उपनिषद्का कहना है कि इस पाञ्चभौतिक शरीरमें काठिन्य पृथ्वीका, द्रवत्व जलका, तेज एवं दीपन अग्निका, गति एवं प्रसार वायुका और सत्त्व आकाशका गुण है। पृथ्वीतत्त्वके क्षीण होनेपर शरीरके मांस आदि कठिन अंश क्षीण हो जाते हैं एवं शरीरपर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। जलतत्त्व क्षीण होनेपर शुष्कता आती है एवं केश सफेद हो जाते हैं। अग्नितत्त्वके क्षीण होनेपर क्षुधा और कान्तिका नाश हो जाता है। वायुतत्त्वके क्षीण होनेपर शरीरमें वेपथु (कम्पन) होता है तथा आकाश-तत्त्वके क्षीण होनेपर मृत्यु हो जाती है। भूत-धारणाका अभ्यास करनेपर प्रत्येक भूतके सूक्ष्म अंश शरीरमें निवास करते हैं, जिससे शरीर सदैव स्वस्थ वलीपलितरहित तथा तेज, शक्ति, पुष्टि, कान्ति एवं सत्त्वसे युक्त रहता है। पञ्चभूतोंकी धारणा सभी प्राचीन योग-विधियोंका आवश्यक अङ्ग थी।

इस विश्वके स्रष्टा एवं नियन्ता ईश्वर स्वयं इस पिण्डरूप लघु ब्रह्माण्डके हृदयमें अन्तर्यामी-रूपसे अवस्थित होकर इसे नियन्त्रित कर रहे हैं। शरीरके विभिन्न अङ्गोंमें तथा मन, प्राण एवं इन्द्रियोंमें भी तत्तत् स्थानों एवं उनकी शक्तियोंके स्वामी देवगण उन-उन स्थानोंमें निवास करते हुए सतत अप्रमत्त रहकर अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। अतएव स्वस्थ एवं सुखी रहनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य सृष्टिमें सभीके साथ आत्मभाव स्थापित करे तथा परब्रह्म एवं देवोंकी विशेषरूपसे आराधना करे। इसके लिये उसे ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ एवं भूतयज्ञ—इन पाँच महायज्ञोंका नित्य अनुष्ठान करना चाहिये। राजर्षि मनुका कथन है कि जो लोग मङ्गलाचारसे युक्त हैं, जिनका चित्त, बुद्धि और आचार शुद्ध एवं पवित्र हैं, जो नित्य ओंकार या महाव्याहृतिपूर्वक गायत्री आदि मन्त्रोंका जप करनेवाले हैं तथा नित्य होमकर्म-द्वारा देवताओंको प्रसन्न करनेवाले हैं, उन्हें कभी कोई रोग,

विपत्ति आदि विघ्न नहीं होते—

मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम्।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥

(मनु० ४। १४६)

हठयोगके अनुसार भौतिक शरीरके दोषोंको दूर करनेके लिये एवं स्वस्थ बने रहनेके लिये षट्कर्म, आसन, प्राणायाम, मुद्रा, धारणा एवं ध्यानका आलम्बन लेना चाहिये। षट्कर्मका उपयोग प्रवृद्ध कफ-दोषको दूर करके वात, पित्त एवं कफ—इन तीनों दोषोंको समभावमें स्थापित करनेके लिये होता है। यदि कफ-दोष बढ़ा न हो तो, जिस अङ्गमें विकार या अशक्ति प्रतीत हो, उसी अङ्गको बलवान् बनाने या उक्त अङ्गसे विकारको दूर करनेके लिये षट्कर्मोंमेंसे यथावश्यक दो या तीन या चार कर्मोंका अभ्यास करना चाहिये। धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलिक एवं कपालभाति—इन छः क्रियाओंको षट्कर्म कहते हैं। धौति कर्म कण्ठसे आमाशयतकके मार्गको स्वच्छ करके सभी प्रकारके कफ-रोगोंका नाश कर देता है। यह विशेषरूपसे कफप्रधान कास, श्वास, प्लीहा एवं कुष्ठरोगमें लाभकारी है। वस्ति-कर्मद्वारा गुदामार्ग एवं छोटी आँतके निचले हिस्सेकी सफाई हो जाती है। इससे अपानवायु एवं मलान्त्रके विकारसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंका शमन हो जाता है। आँतोंकी गर्मी शान्त होती है, कोष्ठबद्धता दूर होती है। आँतोंमें स्थित—संचित दोष नष्ट होते हैं। जठराग्निकी वृद्धि होती है। अनेक उदररोग नष्ट होते हैं। वस्तिकर्म करनेसे वात-पित्त एवं कफसे उत्पन्न अनेक रोग तथा गुल्म, प्लीहा और जलोदर दूर होते हैं। नेतिकर्म नासिकामार्गको स्वच्छ कर कपाल-शोधनका कार्य करता है। यह विशेषरूपसे नेत्रोंको उत्तम दृष्टि प्रदान करता है और गलेसे ऊपर होनेवाले दाँत, मुख, जिह्वा, कर्ण एवं शिरोरोगोंको नष्ट करता है। त्राटक-कर्मद्वारा नेत्रोंके अनेक रोग नष्ट होते हैं एवं तन्द्रा, आलस्य आदि दोष नष्ट होते हैं। उदर-रोग एवं अन्य सभी दोषोंका नाश करनेके लिये नेति प्रमुख है। यह मन्दाग्निको नष्टकर जठराग्निकी वृद्धि करता है तथा भुक्तान्नको सुन्दर प्रकारसे पचानेकी शक्ति प्रदान करता है। इसका अभ्यास करनेसे वातादि दोषोंका शमन होनेसे चित्त सदा प्रसन्न रहता है। कपालभाति विशेषरूपसे कफ-दोषका शोषण करनेवाली है। षट्कर्मोंका अभ्यास करनेसे जब शरीरान्तर्गत कफ-दोष—मलादिक क्षीण हो जाते हैं, तब प्राणायामका अभ्यास करनेसे अधिक शीघ्र सफलता मिलती है।

जिन्हें पित्तकी अधिक शिकायत रहती है, उनके लिये गजकर्णी या कुंजल-क्रिया लाभदायक रहती है। इस क्रियामें प्रातःकाल शौचादिसे निवृत्त होनेके बाद पर्याप्त मात्रामें नमकमिश्रित कुनकुना जल पीकर फिर वमन कर दिया जाता है। इससे आमाशयस्थ पित्तका शोधन होता है। जिन्हें मन्दाग्निकी शिकायत है या जिनका स्वास्थ्य उत्तम भोजन करनेपर भी सुधरता नहीं है, उन्हें अग्निसार नामक क्रियाका अभ्यास करना चाहिये। इस क्रियामें नाभिग्रन्थिको बार-बार मेरु-पृष्ठमें लगाना होता है। एक सौ बार लगा सकनेका अभ्यास हो जानेपर समझना चाहिये कि इस क्रियामें परिपक्वता प्राप्त हो गयी है, यह सभी प्रकारके उदर-रोगोंको दूर करनेमें सहायक है।

आसनका अभ्यास शरीरसे जडता, आलस्य एवं चञ्चलताको दूर कर सम्पूर्ण स्नायु-संस्थान एवं प्रत्येक अङ्गको पुष्ट बनानेके लिये होता है। इसके अभ्याससे शरीरके अङ्गोंके सभी भागोंमें एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाड़ियोंमें रक्त पहुँचता है, सभी ग्रन्थियाँ सुचारुरूपसे कार्य करती हैं। स्नायु-संस्थान बलवान् हो जानेपर साधक काम, क्रोध, भय आदिके आवेगोंको सहनेमें समर्थ होता है। वह मानस-रोगी नहीं बनता। शरीरका स्वास्थ्य मस्तिष्क, मेरुदण्ड, स्नायु-संस्थान हृदय एवं फेफड़े तथा उदरके बलवान् होनेपर निर्भर है। अतः आसनोंका चुनाव इनपर पड़नेवाले प्रभावोंको दृष्टिमें रखकर करना चाहिये। जिसका जो अङ्ग कमजोर हो उसे सार्वाङ्गिक व्यायामके आसनोंका अभ्यास करनेके साथ-साथ उन दुर्बल अङ्गोंको पुष्ट करनेवाले आसनोंका अभ्यास विशेषरूपसे करना चाहिये। ध्यानके उपयोगी पद्मासन आदिको सर्वरोगनाशक इसलिये कहा जाता है कि इन आसनोंसे ध्यान या जपमें बैठनेपर शरीरमें साम्यभाव, निश्चलता, शान्ति आदि गुण आ जाते हैं, जो भौतिक स्तरपर सत्त्वगुणकी वृद्धि करनेमें सहायक होते हैं। आरोग्यकी दृष्टिसे किये जानेवाले आसनोंमें पश्चिमोत्तान, मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, सर्वाङ्ग, मयूर, भुजंग, शलभ, धनु, कुक्कुट, आकर्षणधनु एवं पद्म-आसन मुख्य हैं।

आसनोंको शनैः-शनैः किया जाय, जिससे अङ्गों एवं

नाड़ियोंमें तनाव, स्थिरता, संतुलन, सहनशीलता एवं शिथिलता आ सके। अपनी पूर्ववत् स्थितिमें भी धीरे-धीरे ही आना चाहिये। जो अङ्ग रोगी हो, उस अङ्गपर बोझ डालनेवाले आसनोंका अभ्यास अधिक नहीं करना चाहिये। जैसे जिनके पेटमें घाव है या जो स्त्रियाँ मासिक-धर्मसे युक्त हैं, उन्हें उन दिनों पेटके आसन नहीं करने चाहिये। जिस आसनका प्रभाव जिस ग्लैंड्स या नाड़ी-चक्रपर पड़ता है—आसन करते समय वहीं ध्यान केन्द्रित करना चाहिये तथा गायत्री आदि मन्त्रोंका या तेज, बल, शक्ति देनेवाले मन्त्रोंका यथाशक्ति स्मरण करना चाहिये। एक आसनके बाद उसका प्रतियोगी आसन भी करना चाहिये। यथा—पश्चिमोत्तान आसनका प्रतियोगी भुजंगासन और शलभासन है। हस्तपादासनका प्रतियोगी चक्रासन है। सर्वाङ्गासनका अभ्यास आवश्यक है। सूर्यनमस्कारको अन्य आसनोंके अभ्यासके पूर्व कर लेना लाभकारी है।

प्राणायामका अभ्यास शरीरस्थ सभी दोषोंका निराकरण कर प्राणमयकोष एवं सूक्ष्म शरीरको नीरोग तथा पुष्ट बनाता है। नाड़ी-शोधनका अभ्यास करनेके बाद ही कुम्भक प्राणायामोंका अभ्यास करना चाहिये। प्राणायामके सभी अभ्यास युक्तिपूर्वक शनैः-शनैः ही करने चाहिये तथा भस्त्रिका प्राणायामको छोड़कर सभी शेष प्राणायामोंमें रेचक एवं पूरक, दोनोंकी क्रियाएँ बहुत धीरे-धीरे करनी चाहिये। प्रत्येक कुम्भककी अपनी-अपनी दोषनाशक विशेष शक्ति है। अतः प्रवृद्ध दोषका विचार करके ही उसके दोषनाशक कुम्भकका अभ्यास करना चाहिये। सूर्यभेद प्राणायाम पित्तवर्धक, जरादोषनाशक, वातहर, कपालदोष एवं कृमिदोषको नष्ट करनेवाला है। उज्जायी कफ-रोग, क्रूरवायु, अजीर्ण, जलोदर, आमवात, क्षय, कास, ज्वर एवं प्लीहाको नष्ट करता है। स्वास्थ्य एवं पुष्टिकी प्राप्तिके लिये उज्जायी प्राणायामका विशेष रूपसे अभ्यास करना चाहिये। शीतली प्राणायाम अजीर्ण, कफ, पित्त, तृषा, गुल्म, प्लीहा एवं ज्वरको नष्ट करता है। भस्त्रिका प्राणायाम वात-पित्त-कफ-हर, शरीराग्निवर्धक एवं सर्वरोगहर है। व्यवहारमें संध्योपासनाके उपरान्त एवं जपसे पूर्व नाड़ी-शोधन, उज्जायी एवं भस्त्रिका प्राणायामका नित्य अभ्यास करनेका प्रचलन है।

रोग-निवारणके लिये स्वर-योगका आश्रय भी लिया जाता है। नीरोगताके लिये भोजन सदा दाहिना स्वर (श्वास) चलनेपर करना चाहिये। वामस्वर शीतल एवं दक्षिणस्वर उष्ण माना जाता है। इसके अनुसार ही वात एवं कफ-प्रधान रोगोंमें दक्षिण नासिकासे श्वासको चलाया जाता है एवं पित्तप्रधान रोगमें वाम-स्वरसे श्वासको चलाया जाता है। सामान्य नियम यह है कि रोगके प्रारम्भकालमें जिस नासिकासे श्वास चल रहा होता है, उसे बंद करके दूसरी नासिकासे श्वास रोग-शमन होनेतक चलाया जाता है। इस स्वर-परिवर्तनसे प्रवृद्ध दोषका संशमन हो जाता है। स्वरयोगकी जानकारीके लिये शिव-स्वरोदय एवं स्वर-चिन्तामणि नामक ग्रन्थोंका अवलोकन करना चाहिये।

मुद्राओंके अभ्यासमें महामुद्रा, विपरीतकरणी, खेचरी, मूलबन्ध, उड्डीयानबन्ध एवं जालन्धरबन्ध मुख्य हैं। महामुद्रा क्षय, कुष्ठ, आवर्त, गुल्म, अजीर्ण आदि रोगों एवं सभी दोषोंको नष्ट करती है। इसके अभ्याससे पाचन-शक्तिकी प्रचण्ड वृद्धि होकर विषको भी पचानेकी क्षमता प्राप्त होती है। महामुद्राके साथ महाबन्ध एवं महावेधका भी अभ्यास किया जाता है। इन तीनोंके अभ्याससे वृद्धत्व दूर होता है एवं अनेक शारीरिक सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है। खेचरी मुद्राके अभ्याससे शरीरमें अमृतत्व-धर्मकी वृद्धि होती है। सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है। शरीरकी सोमकलाका विकास होता है तथा देह-क्षयकी प्रक्रिया रुक जाती है। उड्डीयानका अभ्यास उदर एवं नाभिसे नीचे स्थित अङ्गोंके रोगोंको दूरकर पुरुषत्वकी अभिवृद्धि करता है। जननाङ्ग एवं प्रजननाङ्गके रोगोंसे पीड़ित नर-नारियोंको उड्डीयानबन्धका विशेष अभ्यास करना चाहिये। जालन्धरबन्धसे कण्ठ-रोगों एवं शिरोरोगोंका नाश होता है तथा मूलबन्धका अभ्यास गुदा एवं जननेन्द्रियपर,प्राण एवं अपानपर नियन्त्रण प्रदान करता है। उड्डीयान एवं जालन्धरबन्धका अभ्यास तो प्राणायामके समय ही किया जाता है, परंतु मूलबन्धका अभ्यास सतत करना चाहिये। विपरीतकरणी मुद्राका ठीक-ठीक अभ्यास वलीपलितको दूर कर युवावस्था प्रदान करता है।

उपर्युक्त मुद्राओंके अतिरिक्त घेरण्डसंहिताप्रोक्त कुछ अन्य मुद्राओंका अभ्यास भी रोगनाश, वलीपलितविनाश एवं

स्वास्थ्य-लाभके लिये उपयोगी है। इनमेंसे नभोमुद्रा एवं माण्डूकीमुद्रा तालुस्थित अमृतपानमें सहायक होनेके कारण सभी रोगोंका नाश करनेवाली है। आश्विनी मुद्रा गुह्यरोगोंका नाश करनेवाली, अकालमृत्युको दूर करनेवाली तथा बल एवं पुष्टिको प्रदान करनेवाली है। पाशिनी मुद्रासे बल एवं पुष्टिकी प्राप्ति होती है। तड़ागी मुद्रा एवं भुजंगिनी मुद्रा—ये दोनों ही उदरके अजीर्णादि रोगोंको नष्टकर दीर्घ जीवन प्रदान करती हैं।

रोगोंको दूर करनेमें ध्यान अथवा चिन्तनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। ध्यानसे शरीर, प्राण, मन, हृदय एवं बुद्धिमें शान्ति, पवित्रता एवं निर्मलता आती है। 'सदा प्राणिमात्रके कल्याणका विचार करनेसे एवं सभी सुखी हों, नीरोग हों, शान्त हों'—इस प्रकारकी भावनाओंकी तरंगोंको सभी दिशाओंमें प्रसारित करनेसे स्वयंको सुख तथा शान्तिकी प्राप्ति होती है। व्यक्ति जैसा चिन्तन करता है, प्रायः वह वैसा बन जाता है। 'मैं नीरोग हूँ, स्वस्थ हूँ'—ऐसा चिन्तन निरन्तर दृढ़तापूर्वक करते रहनेसे आरोग्य बना रहता है। इसे आत्मसम्मोहन 'ऑटो सजेशन' की विधि कहते हैं। इसी प्रकार प्रबल संकल्पशक्तिके द्वारा अपने या दूसरेके रोगोंको भी दूर किया जाता है। रोगनिवारणके लिये प्रमुख बात यह है कि रोग होनेपर उसका चिन्तन ही न करे, उसकी परवाह ही न करे। रोगका चिन्तन करनेसे रोग बद्धमूल हो जाता है एवं व्यक्तिका मनोबल दुर्बल हो जाता है। मानसिक रोगोंका संकल्पशक्ति एवं प्रज्ञाबलसे निवारण करना चाहिये एवं शारीरिक रोगोंका औषधोंसे। इन रोगोंके उन्मूलनमें यौगिक साधनोंका अद्भुत योगदान रहा है।

शारीरिक एवं मानसिक रोगोंसे मुक्ति चाहनेवालोंको योग-क्रियाओंका अभ्यास करनेके साथ-साथ रोगोत्पादक सभी मूल कारणोंका त्याग करना चाहिये तथा अपने लिये अनुकूल एवं चिकित्साशास्त्रद्वारा निर्दिष्ट सात्त्विक पथ्य, सदाचार एवं सत्कर्मका सेवन करना चाहिये। यथासम्भव अनिष्ट-चिन्तनसे बचना चाहिये तथा चित्तको राग-द्वेष-मोहादि दोषोंसे दूर करना चाहिये। सम्पूर्ण दुःखोंका मूल कारण तमोगुणजनित अज्ञान, लोभ, क्रोध तथा मोह है। त्रिगुणके प्रभाव तथा अज्ञानके बन्धनसे मुक्त होनेका एकमात्र उपाय योग है तथा योग-बलसे भी बड़ी शक्ति है भगवान्‌की अनुग्रह शक्ति।

अतएव अहंता-ममताका त्याग करके भगवच्चरणोंका एकमात्र आश्रय लेकर योगसाधना करनेसे शारीरिक व्याधिके साथ-साथ त्रिविध ताप एवं भवव्याधि भी कट जाती है। और ऐसा साधक पूर्णतम आनन्दको प्राप्त करनेमें सर्वथा समर्थ हो जाता है।

योगसाधनाका प्राण ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य अथवा इन्द्रियनिग्रह योगसाधनाका अपर पर्याय या प्राण है। विवेकके साम्राज्यमें अथवा साधना-क्षेत्रमें इसीका नाम प्रथम आता है। ब्रह्म या भगवान्‌की प्राप्तिकी ओर चलनेसे ही इसका नाम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचारी अमर होता है और उसे ही भगवत्प्राप्ति होती है। अतः भगवद्दर्शन या स्वरूपस्थितितक विशुद्ध ब्रह्मचर्यका पालन आवश्यक है। ब्रह्मचर्याश्रम सबसे प्रथम एवं सभी आश्रमोंकी आधारभित्ति भी माना गया है। पूर्ण ब्रह्मचर्यकी सिद्धि तभी है जब ईश्वरका साक्षात्कार हो जाय—

'परं दृष्ट्वा निवर्तते।' (गीता)

काम और उसके साधनभूत स्त्री आदि इसमें सर्वाधिक बाधक तत्त्व हैं। कामका मूल संकल्प है। महाभारत शान्तिपर्वके मङ्कि-आख्यानमें महर्षि मङ्कि कामसे कहते हैं—हे काम! मैं तुम्हारा मूल जानता हूँ। तुम संकल्पसे ही उत्पन्न होते हो। अब मैं संकल्प ही नहीं करूँगा, तब तुम उत्पन्न कहाँसे होगे?—

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।
संकल्पं न करिष्यामि ततस्त्वं न भविष्यसि॥

कामने शिव-विजयके लिये जब अपनी मायाका विस्तार किया, तब विवेककी सेना भाग खड़ी हुई। वहाँ ब्रह्मचर्यको ही विवेककी सेनाका प्रधान सेनापति कहा गया है—

ब्रह्मचर्ज ब्रत संजम नाना। धीरज धरम ग्यान बिग्याना॥
सदाचार जप जोग बिरागा। सभय बिबेक कटकु सबु भागा॥

(मानस)

ब्रह्मचर्यके आठ अङ्ग हैं—स्त्रियोंके दर्शनसे दूर रहना, उनके स्पर्शसे बचना, उन्हें स्मरण न करना, उनसे कभी सरस

वार्तालाप न करना, उनसे मनोविनोद न करना, उनके विषयमें ध्यानपूर्वक चिन्तन न करना, एकान्तमें न मिलना और उनसे शारीरिक सम्बन्ध स्थापित न करना। इसके विपरीत भगवान्से सभी प्रकारका सम्पर्क स्थापित करना ही सभी दृष्टियोंसे हितकर है।

ब्रह्मचर्यकी महिमापर श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणादिमें पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। वैदिक साहित्यमें ब्रह्मचर्यका अद्भुत महत्त्व दृष्टिगत होता है। ऋग्वेदमें दो सूक्त तथा अथर्ववेदके ग्यारहवें काण्डका पाँचवाँ सूक्त ब्रह्मचर्य-सूक्त है। इसमें अनेक मन्त्रोंमें ब्रह्मचारीकी अद्भुत महिमा है। वहाँ ब्रह्मचर्यको ही जगत् एवं विश्व-सञ्चालन कार्यका आधार माना गया है—

'ब्रह्मचारी···· स दाधार पृथिवीं दिवं च।'

(अथर्व० ११।५।१)

इसी सूक्तके पाँचवें मन्त्रमें ब्रह्मचारीको राजासे भी श्रेष्ठ कहा गया है। राजा ब्रह्मचर्यके द्वारा राष्ट्रका संरक्षण-संवर्धन करता है और ब्रह्मचर्यसे देवोंने अमरत्व प्राप्त कर मृत्युको जीत लिया है—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत॥

(११।५।१७—१९)

शतपथब्राह्मण (११।३।३) तथा गोपथब्राह्मण (२।६) ब्रह्मचारी ब्राह्मण ही हैं। इनमें बतलाया गया है कि ब्रह्माने मृत्युके हाथ सारी प्रजाको दे दिया, किंतु एक ब्रह्मचारीको नहीं दिया—

'ब्रह्म वै मृत्यवे प्रजाः प्रायच्छत्, तस्मै ब्रह्मचारिणमेव न प्रायच्छत्।'

(शतपथब्रा० ११।३।३।१, गोपथ०)

ब्रह्मचारीको निरालस्य तथा नृत्य-गीतादिका परित्यागी होना चाहिये—

'न गायनो न नर्तनो न सरणः।'

(गोपथ० २।७)

छान्दोग्य० (२।२३।१) में ब्रह्मचारीको अमर कहा गया है—**'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।'** इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद्में ब्रह्मचर्यसे भगवत्प्राप्ति एवं परमात्म-साक्षात्कार होनेकी स्थिति स्पष्ट है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

योगदर्शनमें ब्रह्मचर्यसे समस्त सिद्धियोंकी प्राप्तिकी बात कही गयी है। योगवार्तिककार श्रीविज्ञानभिक्षुने इसकी अत्यन्त विस्तृत व्याख्या की है। वाचस्पति मिश्रने केवल ब्रह्मचर्यसे अणिमा, महिमा आदि सिद्धियों एवं तारादि अष्टसिद्धियोंके मिलनेकी बात लिखी है—

'अणिमादीनुपचिनोति, सिद्धश्च तारादिभिरष्टाभिः सिद्धिभिरूह्याद्यपर नामभिरुपेतः।'

(तत्त्ववैशारदीव्याख्या-योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३८)

इसी प्रकार सांख्यकारिका २३के माठरभाष्यमें ब्रह्मचर्य शब्दकी सर्वोत्तम व्याख्या मिलती है।

ब्रह्मचर्य-महिमा एवं उसकी उपयोगिताका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, स्कन्दपुराण, श्रीमद्भागवत, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत आदिके अतिरिक्त विविध स्मृतियों, नीतिग्रन्थों तथा भावप्रकाश, अष्टाङ्गहृदय आदि आयुर्वेद-ग्रन्थोंमें भी ब्रह्मचर्यकी महिमापर अनेकों वचन मिलते हैं। पाश्चात्त्य साहित्यमें कई जगह तथा विशेष रूपसे श्री वी० ए० स्मिथके 'इनसाईक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एंड एथिक्स' आदिमें भी इसके महत्त्वको प्रदर्शित करनेवाले कई उदाहरण हैं। मनुष्यके दैनिक जीवनमें भी इसका महत्त्व सर्वविदित है। अतः योगसाधकोंको एवं सर्व-साधारणको इस ब्रह्मचर्यका पालनकर आत्मकल्याण एवं परमात्म-साक्षात्कारकी दिशामें अग्रसर होना चाहिये।

संतोष हुए बिना कामनाका नाश नहीं होता और कामना रहते कभी स्वप्नमें भी सुख नहीं हो सकता, कामना श्रीरामके भजन बिना नहीं मिटती।—गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

मनके अहंकारको छोड़कर ऐसी जबान बोलनी चाहिये, जिससे दूसरोंको भी शान्ति पहुँचे और अपनेको भी शान्ति मिले।—संत कबीर जी

स्वर-विज्ञान और बिना औषध रोगनाशके उपाय

(परिव्राजकाचार्य परमहंस श्रीमत्स्वामी निगमानन्दजी सरस्वती)

विश्वपिता विधाताने मनुष्यके जन्मके समयमें ही देहके साथ एक ऐसा आश्चर्यजनक कौशलपूर्ण अपूर्व उपाय रच दिया है, जिसे जान लेनेपर सांसारिक, वैषयिक किसी भी कार्यमें असफलताका दुःख नहीं हो सकता। हम इस अपूर्व कौशलको नहीं जानते, इसी कारण हमारा कार्य असफल हो जाता है, आशा भङ्ग हो जाती है, हमें मनस्ताप और रोग भोगना पड़ता है। यह विषय जिस शास्त्रमें है, उसे स्वरोदय-शास्त्र कहते हैं। यह स्वरशास्त्र जैसा दुर्लभ है, स्वरज्ञ गुरुका भी उतना ही अभाव है। स्वरशास्त्र प्रत्यक्ष फल देनेवाला है। मुझे पद-पदपर इसका प्रत्यक्ष फल देखकर आश्चर्यचकित होना पड़ा है। समग्र स्वरशास्त्रको ठीक-ठीक लिपिबद्ध करना बिलकुल असम्भव है। केवल साधकोंके कामकी कुछ बातें यहाँ संक्षेपमें दी जा रही हैं।

स्वरशास्त्र सीखनेके लिये श्वास-प्रश्वासकी गतिके सम्बन्धमें सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

कायानगरमध्ये तु मारुतः क्षितिपालकः।

'देहरूपी नगरमें वायु राजाके समान है।' प्राणवायु 'निःश्वास' और 'प्रश्वास'—इन दो नामोंसे पुकारा जाता है। वायु ग्रहण करनेका नाम 'निःश्वास' और वायुके परित्याग करनेका नाम 'प्रश्वास' है। जीवके जन्मसे मृत्युके अन्तिम क्षणतक निरन्तर श्वास-प्रश्वासकी क्रिया होती रहती है। यह निःश्वास नासिकाके दोनों छेदोंसे एक ही समय एक साथ समानरूपसे नहीं चला करता, कभी बायें और कभी दाहिने पुटसे चलता है। कभी-कभी एकाध घड़ीतक एक ही समय दोनों नाकोंसे समानभावसे श्वास प्रवाहित होता है।

बायें नासापुटके श्वासको इडामें चलना, दाहिनी नासिकाके श्वासको पिंगलामें चलना और दोनों पुटोंसे एक समान चलनेपर उसे सुषुम्नामें चलना कहते हैं। एक नासापुटको दबाकर दूसरेके द्वारा श्वासको बाहर निकालनेपर यह साफ मालूम हो जाता है कि एक नासिकासे सरलतापूर्वक श्वास-प्रवाह चल रहा है और दूसरा नासापुट मानो बंद है, अर्थात् उससे दूसरी नासिकाकी तरह सरलतापूर्वक श्वास बाहर नहीं निकलता। जिस नासिकासे सरलतापूर्वक श्वास बाहर निकलता हो, उस समय उसी नासिकाका श्वास कहना चाहिये। किस नासिकासे श्वास बाहर निकल रहा है, इसको पाठक उपर्युक्त प्रकारसे समझ सकते हैं। क्रमशः अभ्यास होनेपर बहुत आसानीसे मालूम होने लगता है कि किस नासिकासे निःश्वास प्रवाहित होता है। प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदयके समयसे ढाई-ढाई घड़ीके हिसाबसे एक-एक नासिकासे श्वास चलता है। इस प्रकार रात-दिनमें बारह बार बायीं और बारह बार दाहिनी नासिकासे क्रमानुसार श्वास चलता है। किस दिन किस नासिकासे पहले श्वास-क्रिया होती है, इसका एक निर्दिष्ट नियम है। यथा—

आदौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करस्तु सितेतरे।
प्रतिपत्तो दिनान्याहुस्त्रीणि त्रीणि क्रमोदये॥

(पवनविजयस्वरोदय)

शुक्लपक्षकी प्रतिपदा तिथिसे तीन-तीन दिनकी बारीसे चन्द्र अर्थात् बायीं नासिकासे तथा कृष्णपक्षकी प्रतिपदा तिथिसे तीन-तीन दिनकी बारीसे सूर्यनाड़ी अर्थात् दाहिनी नासिकासे पहले श्वास प्रवाहित होता है। अर्थात् शुक्लपक्षकी प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा—इन नौ दिनोंमें प्रातःकाल सूर्योदयके समय पहले बायीं नासिकासे तथा चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, दशमी, एकादशी, द्वादशी—इन छः दिनोंको प्रातःकाल पहले दाहिनी नासिकासे श्वास चलना आरम्भ होता है और वह ढाई घड़ीतक रहता है। उसके बाद दूसरी नासिकासे श्वास जारी होता है। कृष्णपक्षकी प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, अमावास्या—इन नौ दिनोंमें सूर्योदयके समय पहले दाहिनी नासिकासे तथा चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, दशमी, एकादशी, द्वादशी—इन छः दिनोंमें सूर्यके उदयकालमें पहले बायीं नासिकासे श्वास आरम्भ होता है और ढाई घड़ीके बाद दूसरी नासिकासे चलता है। इस प्रकार नियमपूर्वक ढाई-ढाई घड़ीतक एक-एक नासिकासे श्वास चलता है। यही मनुष्य-जीवनमें श्वासकी गतिका स्वाभाविक नियम है।

वहेत्तावद् घटीमध्ये पञ्चतत्त्वानि निर्दिशेत्। (स्वरशास्त्र)

प्रतिदिन रात-दिनकी ६० घड़ियोंमें ढाई-ढाई घड़ीके हिसाबसे एक-एक नासिकासे निर्दिष्ट क्रमसे श्वास चलनेके समय क्रमशः पञ्चतत्त्वोंका उदय होता है। इस श्वास-प्रश्वासकी गतिको समझकर कार्य करनेपर शरीर स्वस्थ रहता है और मनुष्य दीर्घजीवी होता है, फलस्वरूप सांसारिक, वैषयिक— सब कार्योंमें सफलता मिलनेके कारण सुखपूर्वक संसार-यात्रा पूरी होती है।

वाम नासिकाका श्वासफल

जिस समय इडा नाडीसे अर्थात् बायीं नासिकासे श्वास चलता हो, उस समय स्थिर कर्मोंको करना चाहिये। जैसे— अलंकारधारण, दूरकी यात्रा, आश्रममें प्रवेश, राजमन्दिर तथा महल बनाना एवं द्रव्यादिका ग्रहण करना। तालाब, कुआँ आदि जलाशय तथा देवस्तम्भ आदिकी प्रतिष्ठा करना। इसी समय यात्रा, दान, विवाह, नया कपड़ा पहनना, शान्तिकर्म, पौष्टिक कर्म, दिव्यौषधसेवन, रसायनकार्य, प्रभुदर्शन, मित्रता-स्थापन एवं बाहर जाना आदि शुभ कार्य करने चाहिये। बायीं नाकसे श्वास चलनेके समय शुभ कार्य करनेपर उन सब कार्योंमें सिद्धि मिलती है। परंतु वायु, अग्नि और आकाश-तत्त्वके उदयके समय उक्त कार्य नहीं करने चाहिये।

दक्षिण नासिकाका श्वासफल

जिस समय पिंगला नाडी अर्थात् दाहिनी नाकसे श्वास चलता हो, उस समय कठिन कर्म करने चाहिये। जैसे— कठिन क्रूर विद्याका अध्ययन और अध्यापन, स्त्रीसंसर्ग, नौकादि आरोहण, तान्त्रिकमतानुसार वीरमन्त्रादिसम्मत उपासना, वैरीको दण्ड, शस्त्राभ्यास, गमन, पशुविक्रय, ईंट, पत्थर, काठ तथा रत्नादिका घिसना और छीलना, संगीत-अभ्यास, यन्त्र-तन्त्र बनाना, किले और पहाड़पर चढ़ना, हाथी-घोड़ा तथा रथ आदिकी सवारी सीखना, व्यायाम, षट्कर्मसाधन, यक्षिणी-बेताल तथा भूतादिसाधन, औषध-सेवन, लिपि-लेखन, दान, क्रय-विक्रय, युद्ध, भोग, राजदर्शन, स्नानाहार आदि।

सुषुम्नाका श्वासफल

दोनों नाकोंसे श्वास चलनेके समय किसी प्रकारका शुभ या अशुभ कार्य नहीं करना चाहिये। उस समय कोई भी काम करनेसे वह निष्फल होगा। उस समय योगाभ्यास और ध्यान-धारणादिके द्वारा केवल भगवान्‌को स्मरण करना उचित है। सुषुम्ना नाडीसे श्वास चलनेके समय किसीको भी शाप या वरप्रदान करनेपर वह सफल होता है।

श्वास-प्रश्वासकी गति जानकर, तत्त्वज्ञानके अनुसार, तिथि-नक्षत्रके अनुसार, ठीक-ठीक नियमपूर्वक सब कर्मोंको करनेपर आशाभङ्गजनित मनस्ताप आदि नहीं भोगना पड़ता।

रोगोत्पत्तिका पूर्ण ज्ञान और उसका प्रतिकार

प्रतिपदा आदि तिथियोंको यदि निश्चित नियमके विरुद्ध श्वास चले तो समझना चाहिये कि निस्संदेह कुछ अमङ्गल होगा। जैसे, शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको सबेरे नींद टूटनेपर सूर्योदयके समय पहले यदि दाहिनी नाकसे श्वास चलना आरम्भ हो तो उस दिनसे पूर्णिमातकके बीच गर्मीके कारण कोई पीड़ा होगी और कृष्णपक्षकी प्रतिपदा तिथिको सूर्योदयके समय पहले बायीं नाकसे श्वास चलना आरम्भ हो तो उस दिनसे अमावास्यातकके अंदर कफ या सर्दीके कारण कोई पीड़ा होगी, इसमें संदेह नहीं।

दो पखवाड़ोंतक इसी प्रकार विपरीत ढंगसे सूर्योदयके समय निःश्वास चलता रहे तो किसी आत्मीय स्वजनको भारी बीमारी होगी अथवा मृत्यु होगी या और किसी प्रकारकी विपत्ति आयेगी। तीन पखवाड़ोंसे ऊपर लगातार गड़बड़ होनेपर निश्चय ही अपनी मृत्यु हो जायगी।

शुक्ल अथवा कृष्णपक्षकी प्रतिपदाके दिन प्रातःकाल यदि इस प्रकार विपरीत ढंगसे निःश्वास चलनेका पता लग जाय तो उस नासिकाको कई दिनोंतक बंद रखनेसे रोग उत्पन्न होनेकी सम्भावना नहीं रहती। उस नासिकाको इस तरह बंद रखना चाहिये, जिसमें उससे निःश्वास न चले। इस प्रकार कुछ दिनोंतक दिन-रात निरन्तर (स्नान और भोजनका समय छोड़कर) नाक बंद रखनेसे उक्त तिथियोंके भीतर बिलकुल ही कोई रोग नहीं होगा।

यदि असावधानीके कारण निःश्वासमें गड़बड़ीसे कोई रोग उत्पन्न हो जाय तो जबतक रोग दूर न हो जाय, तबतक ऐसा करना चाहिये कि जिससे शुक्लपक्षमें दाहिनी और कृष्णपक्षमें बायीं नासिकासे श्वास न चले। ऐसा करनेसे रोग शीघ्र दूर हो जायगा। और यदि कोई भारी रोग होनेकी

सम्भावना होगी तो वह भारी न होकर बहुत सामान्य रूपमें होगा और फिर थोड़े ही दिनोंमें दूर हो जायगा। ऐसा करनेसे न तो रोगजनित कष्ट भोगना पड़ेगा और न चिकित्सकको धन ही देना पड़ेगा।

नासिका बंद करनेका नियम

नाकके छेदमें घुस सके इतनी-सी पुरानी साफ रूई लेकर उसकी गोल पोटली-सी बना ले और उसे साफ बारीक कपड़ेसे लपेटकर सी ले। फिर इस पोटलीको नाकके छिद्रमें घुसाकर छिद्रको इस प्रकार बंद कर दे जिसमें उस नाकसे श्वास-प्रश्वासका कार्य बिलकुल ही न हो। जिन लोगोंको कोई शिरोरोग है अथवा जिनका मस्तक दुर्बल हो, उन्हें रूईसे नाक बंद न कर, सिर्फ साफ पतले कपड़ेकी पोटली बनाकर उसीसे नाक बंद करनी चाहिये।

किसी भी कारणसे हो, जितने क्षण या जितने दिन नासिका बंद रखनेकी आवश्यकता हो उतने क्षण या उतने दिनोंतक अधिक परिश्रमका कार्य, धूमपान, जोरसे चिल्लाना, दौड़ना आदि नहीं करना चाहिये। जब जिस-किसी कारणसे नाक बंद रखनेकी आवश्यकता हो, तभी इन नियमोंका पालन अवश्य करना चाहिये। नयी अथवा बिना साफ की हुई मैली रूई नाकमें कभी नहीं डालनी चाहिये।

निःश्वास बदलनेका तरीका

कार्यभेदसे तथा अन्यान्य अनेक कारणोंसे एक नासिकासे दूसरी नासिकामें वायुकी गति बदलनेकी भी आवश्यकता हुआ करती है। कार्यके अनुकूल नासिकासे श्वास चलना आरम्भ होनेतक, उस कार्यको न करके चुपचाप बैठे रहना किसीके लिये भी सम्भव नहीं। अतएव अपनी इच्छानुसार श्वासकी गति बदलनेकी क्रिया सीख लेना नितान्त आवश्यक है। इसकी क्रिया अत्यन्त सहज है, सामान्य चेष्टासे ही श्वासकी गति बदली जा सकती है

जिस नासिकासे श्वास चलता हो, उसके विपरीत दूसरी नासिकाको अँगूठेसे दबा देना चाहिये और जिससे श्वास चलता हो उसके द्वारा वायु खींचना चाहिये। फिर उसको दबाकर दूसरी नासिकासे वायुको निकालना चाहिये। कुछ देरतक इसी तरह एकसे श्वास लेकर दूसरीसे निकालते रहनेसे अवश्य श्वासकी गति बदल जायगी। जिस नासिकासे श्वास चलता हो उसी करवट सोकर यह क्रिया करनेसे बहुत जल्द श्वासकी गति बदल जाती है और दूसरी नासिकासे श्वास प्रवाहित होने लगता है। इस क्रियाके बिना भी जिस नाकसे श्वास चलता है, केवल उस करवट कुछ समयतक सोये रहनेसे भी श्वासकी गति पलट जाती है।

इस लेखमें जहाँ-जहाँ निःश्वास बदलनेकी बात लिखी जायगी, वहाँ-वहाँ पाठकोंको इसी कौशलसे श्वासकी गति बदलनेकी बात समझनी चाहिये। जो अपनी इच्छानुसार वायुको रोक सकता है और निकाल सकता है वही पवनपर विजय प्राप्त करता है।

बिना औषधके रोगनिवारण

अनियमित क्रियाके कारण जिस तरह मानव-देहमें रोग उत्पन्न होते हैं, उसी तरह औषधके बिना ही भीतरी क्रियाओंके द्वारा नीरोग होनेके उपाय भगवान्‌के बनाये हुए हैं। हमलोग उस भगवत्प्रदत्त सहज कौशलको नहीं जानते, इसी कारण दीर्घकालतक रोगका दुःख भोगते हैं। यहाँ रोगोंके निदानके लिये स्वरशास्त्रोक्त कुछ यौगिक उपायोंका उल्लेख किया गया है। इनके प्रयोगसे विशेष लाभ हो सकता है—

ज्वर—ज्वरका आक्रमण होनेपर अथवा आक्रमणकी आशङ्का होनेपर जिस नासिकासे श्वास चलता हो, उस नासिकाको बंद कर देना चाहिये। जबतक ज्वर न उतरे और शरीर स्वस्थ न हो जाय, तबतक उस नासिकाको बंद ही रखना चाहिये। ऐसा करनेसे दस-पंद्रह दिनोंमें उतरनेवाला ज्वर पाँच ही सात दिनोंमें अवश्य ही उतर जायगा। ज्वरकालमें मन-ही-मन सदा चाँदीके समान श्वेत वर्णका ध्यान करनेसे और भी शीघ्र लाभ होता है।

सिन्दुवारकी जड़ रोगीके हाथमें बाँध देनेसे सब प्रकारके ज्वर निश्चय ही दूर हो जाते हैं।

अँतरिया ज्वर—श्वेत अपराजिता अथवा पलाशके कुछ पत्तोंको हाथसे मलकर, कपड़ेसे लपेटकर एक पोटली बना लेनी चाहिये और जिस दिन ज्वरकी बारी हो उस दिन सबेरेसे ही उसे सूँघते रहना चाहिये। अँतरिया ज्वर बंद हो जायगा।

सिरदर्द—सिरदर्द होनेपर दोनों हाथोंकी केहुनीके ऊपर धोतीके किनारे अथवा रस्सीसे खूब कसकर बाँध देना

चाहिये। इससे पाँच-सात मिनटमें ही सिरदर्द जाता रहेगा। केहुनीपर इतने जोरसे बाँधना चाहिये कि रोगीको हाथमें अत्यन्त दर्द मालूम हो। सिरदर्द अच्छा होते ही बाँहें खोल देनी चाहिये।

एक दूसरे प्रकारका सिरदर्द होता है, जिसे साधारणतः 'अधकपाली' या 'आधासीसी' कहते हैं। कपालके मध्यसे बायीं या दाहिनी ओर आधे कपाल और मस्तकमें अत्यन्त पीड़ा मालूम होती है। प्रायः यह पीड़ा सूर्योदयके समय आरम्भ होती है और दिन चढ़नेके साथ-साथ यह भी बढ़ती जाती है। दोपहरके बाद घटनी शुरू होती है और शामतक प्रायः नहीं ही रहती। इस रोगका आक्रमण होनेपर जिस तरफके कपालमें दर्द हो, ऊपर लिखे-अनुसार उसी तरफकी केहुनीके ऊपर जोरसे रस्सी बाँध देनी चाहिये। थोड़ी ही देरमें दर्द शान्त हो जायगा और रोग जाता रहेगा। दूसरे दिन यदि फिर दर्द शुरू हो और रोज एक ही नासिकासे श्वास चलते समय शुरू होता हो तो सिरदर्द मालूम होते ही उस नाकको बंद कर देना चाहिये और हाथको भी बाँध रखना चाहिये। 'अधकपाली' सिरदर्दमें इस क्रियासे होनेवाले आश्चर्यजनक फलको देखकर आप चकित रह जायँगे।

शिर:पीडा—शिर:पीडाग्रस्त रोगीको प्रातःकाल शय्यासे उठते ही नासापुटसे शीतल जल पीना चाहिये। इससे मस्तिष्क शीतल रहेगा, सिर भारी नहीं होगा और सर्दी नहीं लगेगी। यह क्रिया विशेष कठिन भी नहीं है। एक बरतनमें ठंडा जल भरकर उसमें नाक डुबाकर धीरे-धीरे गलेके भीतर जल खींचना चाहिये। क्रमशः अभ्याससे यह क्रिया सहज हो जायगी। शिर:पीडा होनेपर चिकित्सक रोगीके आरोग्य होनेकी आशा छोड़ देता है, रोगीको भी भीषण कष्ट होता है, परंतु इस उपायसे काम लेनेपर निश्चय ही आशातीत लाभ पहुँचेगा।

उदरामय, अजीर्णादि—भोजन, जलपान आदि जब जो कुछ खाना हो वह दाहिनी नाकसे श्वास चलते समय खाना चाहिये। प्रतिदिन इस नियमसे आहार करनेसे वह बहुत आसानीसे पच जायगा और कभी अजीर्णका रोग नहीं होगा। जो लोग इस रोगसे कष्ट पा रहे हैं, वे भी यदि इस नियमके अनुसार रोज भोजन करें तो खायी हुई चीज पच जायगी और धीरे-धीरे उनका रोग दूर हो जायगा। भोजनके बाद थोड़ी देर बायीं करवट सोना चाहिये। जिन्हें समय न हो उन्हें ऐसा उपाय करना चाहिये कि जिससे भोजनके बाद दस-पंद्रह मिनटतक दाहिनी नाकसे श्वास चले। अर्थात् पूर्वोक्त नियमके अनुसार रूईद्वारा बायीं नाक बंद कर देनी चाहिये। गुरुपाक (भारी) भोजन होनेपर भी इस नियमसे वह शीघ्र पच जाता है।

स्थिरताके साथ बैठकर एकटक नाभिमण्डलमें दृष्टि जमाकर नाभिकन्दका ध्यान करनेसे एक सप्ताहमें उदरामय रोग दूर हो जाता है।

श्वास रोककर नाभिको खींचकर नाभिकी ग्रन्थिको एक सौ बार मेरुदण्डसे मिलानेसे आमादि उदरामयजनित सब तरहकी पीड़ाएँ दूर हो जाती हैं और जठराग्नि तथा पाचनशक्ति बढ़ जाती है।

प्लीहा—रातको बिछौनेपर सोकर और सबेरे शय्या-त्यागके समय हाथ और पैरोंको सिकोड़कर छोड़ देना चाहिये। फिर कभी इस करवट कभी उस करवट टेढ़ा-मेढ़ा शरीर करके सारे शरीरको सिकोड़ना और फैलाना चाहिये। प्रतिदिन चार-पाँच मिनट ऐसा करनेसे प्लीहा-यकृत् (तिल्ली, लीवर) रोग दूर हो जायगा। सर्वदा इसका अभ्यास करनेसे प्लीहा-यकृत् रोगकी पीड़ा कभी नहीं भोगनी पड़ेगी।

दन्तरोग—प्रतिदिन जितनी बार मल-मूत्रका त्याग करे, उतनी बार दाँतोंकी दोनों पंक्तियोंको मिलाकर जरा जोरसे दबाये रखे। जबतक मल या मूत्र निकलता रहे तबतक दाँतोंसे दाँत मिलाकर इस प्रकार दबाये रहना चाहिये। दो-चार दिन ऐसा करनेसे कमजोर दाँतोंकी जड़ मजबूत हो जायगी। सदा इसका अभ्यास करनेसे दन्तमूल दृढ़ हो जाता है और दाँत दीर्घ कालतक काम देते हैं तथा दाँतोंमें किसी प्रकारकी बीमारी होनेका कोई डर नहीं रहता।

स्नायविक वेदना—छाती,पीठ या बगलमें—चाहे जिस स्थानमें स्नायविक वेदना या अन्य किसी प्रकारकी वेदना हो, वेदना मालूम होते ही जिस नासिकासे श्वास चलता हो उसे बंद कर देना चाहिये, दो-चार मिनट बाद अवश्य ही वेदना शान्त हो जायगी।

दमा या श्वासरोग—जब दमेका जोरका दौरा हो तब जिस नासिकासे निःश्वास चलता हो, उसे बंद करके दूसरी

नासिकासे श्वास चला देना चाहिये। दस-पंद्रह मिनटमें दमेका जोर कम हो जायगा। प्रतिदिन इस प्रकार करनेसे महीनेभरमें पीड़ा शान्त हो जायगी। दिनमें जितने ही अधिक समयतक यह क्रिया की जायगी, उतना ही शीघ्र यह रोग दूर होगा। दमाके समान कष्टदायक कोई रोग नहीं, दमाका जोर होनेपर यह क्रिया करनेसे बिना किसी दवाके बीमारी अच्छी हो जाती है।

वात—प्रतिदिन भोजनके बाद कंघीसे सिर वाहना चाहिये। कंघी इस प्रकार चलानी चाहिये जिसमें उसके काँटे सिरको स्पर्श करें। उसके बाद वीरासन लगाकर अर्थात् दोनों पैर पीछेकी ओर मोड़कर उनके ऊपर दबाकर १५ मिनट बैठना चाहिये। प्रतिदिन दोनों समय भोजनके बाद इस प्रकार बैठनेसे कितना भी पुराना वात क्यों न हो निश्चय ही अच्छा हो जायगा। अगर स्वस्थ आदमी इस नियमका पालन करे तो उसके वातरोग होनेकी कोई आशङ्का नहीं रहेगी। कहना न होगा कि रबड़की कंघीका व्यवहार नहीं करना चाहिये।

नेत्ररोग—प्रतिदिन सबेरे बिछौनेसे उठते ही सबसे पहले मुँहमें जितना पानी भरा जा सके, उतना भरकर दूसरे जलसे आँखोंको बीस बार झपटा मारकर धोना चाहिये।

प्रतिदिन दोनों समय भोजनके बाद हाथ-मुँह धोते समय कम-से-कम सात बार आँखोंमें जलका झपटा देना चाहिये।

जितनी बार मुँहमें जल डाले, उतनी बार आँख और मुँहको धोना न भूले।

प्रतिदिन स्नानके वक्त तेल मालिश करते समय सबसे पहले दोनों पैरोंके अँगूठोंके नखोंको तेलसे भर देना चाहिये और फिर तेल लगाना चाहिये।

ये कुछ नियम नेत्रोंके लिये विशेष लाभदायक हैं। इनसे दृष्टिशक्ति सतेज होती है, आँखें स्निग्ध रहती हैं और आँखोंमें कोई बीमारी होनेकी सम्भावना नहीं रहती। नेत्र मनुष्यके परमधन हैं। अतएव प्रतिदिन नियम-पालनमें कभी आलस्य नहीं करना चाहिये। (क्रमशः)

हठयोगके षट्कर्म

(श्रीकमलाप्रसाद सिंह)

इस परिदृश्यमान चराचर विश्वप्रपञ्चका उपादान कारण प्रकृति है। मूल प्रकृति त्रिगुणात्मक होनेसे प्राणिमात्रके शरीर वात, पित्त, कफ—इन त्रिधातुओंके नाना प्रकारके रूपान्तरोंके सम्मिश्रण हैं। अतः अनेक शरीर वातप्रधान, अनेक पित्तप्रधान और अनेक कफप्रधान होते हैं। वातप्रधान शरीरोंमें आहार-विहारके दोषसे तथा देश-कालादि हेतुसे प्रायः वातवृद्धि हो जाती है। पित्तप्रधान शरीरोंमें पित्तविकृति और कफोल्वण-शरीरोंमें प्रायः कफ-प्रकोप हो जाता है। कफ-धातुके विकृत होनेपर दूषित श्लेष्म, आमवृद्धि या मेदका संग्रह हो जाता है। पश्चात् इन मलोंके प्रकुपित होनेसे नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होने लगते हैं। इन व्याधियोंको उत्पन्न न होने देनेके लिये और हो गये तो उन्हें दूर करके पुनः देहको पूर्ववत् स्वस्थ बनानेके लिये जैसे आयुर्वेदके प्राचीन आचार्योंने स्नेहपान, स्वेदन, वमन, विरेचन और वस्ति—ये पञ्चकर्म कहे हैं, वैसे ही हठयोगके प्रवर्तक महर्षियोंने साधकोंके कफप्रधान शरीरकी शुद्धिके लिये षट्कर्म निश्चित किये हैं। ये षट्कर्म सब साधकोंको करने ही चाहिये, ऐसा आग्रह नहीं है।

हठयोगके ग्रन्थोंमें षट्कर्मके कर्तव्याकर्तव्यपर विचार किया गया है। हठयोगके षट्कर्मसे जो लाभ होते हैं वे प्राणायामसे भी प्राप्त होते हैं। अन्तर केवल समयका है। परंतु जिस घरमें गंदगी इतनी फैल गयी हो कि साधारण झाड़ूसे न हटायी जा सके, उसमें कुदाल और टोकरीकी आवश्यकता आ पड़ेगी । इसी प्रकार शरीरके एकत्रित मलको शीघ्र हटानेके लिये षट्कर्मकी आवश्यकता है। इसी कारण—

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट् कर्माणि समाचरेत्।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् जिस पुरुषके मेद और श्लेष्मा अधिक हों वह पुरुष प्राणायामसे पहले इन छः कर्मोंको करे और इनके न होनेसे दोषोंकी समानताके कारण न करे। इतना ही नहीं, योगीन्द्र स्वात्माराम आगे चलकर षट्कर्मोंको 'घटशोधनकारकम्' अर्थात् देहको शुद्ध करनेवाले और 'विचित्रगुणसंधायि' अर्थात् विचित्र गुणोंका संधान करनेवाले भी कहते हैं।

यह बात सत्य है कि षट्कर्मोंके बिना ही पहले योगसाधन किया जाता था। समय और अनुभवने दिखाया कि प्राणायामसे जितने समयमें मल दूर किया जाता था, उससे कम समयमें षट्कर्मोंद्वारा मल दूर किया जा सकता है। इन कर्मोंकी उन्नति होती गयी। और छःसे ये कर्म दस हो गये। पीछे गुरुपरम्परासे प्राप्त गुप्तविद्या लुप्त होने लगी। तब तो ये कर्म पूरे जाँचे हुए षट्कर्मतक ही परिमित रह गये। इन षट्कर्मोंसे लाभ है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। यह बात दूसरी है कि सबकी इधर प्रवृत्ति न हो और सब इन्हें न कर सकते हों।

एक बात और है। वर्तमान समयमें अनेक योगाभ्यासी मूल उद्देश्यको न समझनेके कारण शरीरमें त्रिधातु सम होनेपर भी नित्य षट्कर्म करते रहते हैं और अपने शिष्योंको भी जीवनपर्यन्त नियमित रीतिसे करते रहनेका उपदेश देते हैं। यदि शरीरशुद्धिके लिये अथवा इन क्रियाओंपर अपना अधिकार रखनेके लिये प्रारम्भमें सिखाया जाय तो कोई आपत्ति नहीं। कारण, भविष्यमें कदाचित् देश-कालपरिवर्तन, प्रमाद या आहार-विहारमें भूलसे वातादि धातु विकृत हो जायँ तो शीघ्र क्रियाद्वारा उनका शमन किया जा सकता है। परंतु आवश्यकता न होनेपर भी नित्य करते रहनेसे समयका अपव्यय, शारीरिक निर्बलता और मानसिक प्रगतिमें शिथिलता आ जाती है। चरणदासने इसपर तर्क-वितर्क किये बिना ही अपना अन्तिम निर्णय इस प्रकार दे दिया है—

पहले ये सब साधिये, काया होवे शुद्धि।
रोग न लागे देहको उज्ज्वल होवे बुद्धि॥

षट्कर्मके नाम

'हठयोगप्रदीपिका' ग्रन्थके कर्ता स्वात्माराम योगीने १-धौति, २-वस्ति, ३-नेति, ४-नौलि, ५-कपालभाति और ६-त्राटकको षट्कर्म कहा है। आगे चलकर गजकरणीका भी वर्णन किया है। परंतु 'भक्तिसागर' ग्रन्थके रचयिता चरणदासजीने १-नेति, २-धौति, ३-वस्ति, ४-गजकर्म, ५-न्योली और ६-त्राटकको षट्कर्म कहा है। फिर १-कपालभाति, २-धौंकनी, ३-बाघी और ४-शंखपषाल— इन चार कर्मोंका नाम लेकर उन्हें षट्कर्मोंके अन्तर्गत कर दिया है। दोनोंमें गजकर्म और कपालभातिको षट्कर्मके अंदर रखनेमें अन्तर पड़ता है। चूँकि ये षट्कर्मके शाखामात्र हैं, अतएव इस विभेदका कोई वास्तविक अर्थ नहीं होता।

नियम

षट्कर्म-साधकको हठयोगमें दर्शाये हुए स्थान, भोजन, आचार-विचार आदि नियमोंको मानना परमावश्यक है। यहाँ यही कहा जा सकता है कि स्थान रमणीक और निरापद, भोजन सात्त्विक तथा परिमित होना चाहिये। एकान्तसेवन, कम बोलना, वैराग्य, साहस इत्यादि बातें आचार-विचारसे समझनी चाहिये।

नौलि, नौलिक, नलक्रिया या न्योली

अमन्दावर्त्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् कन्धोंको नवाये हुए अत्यन्त वेगके साथ, जलभ्रमरके समान अपनी तुन्दको दक्षिण-वाम भागोंसे भ्रमानेको सिद्धोंने नौलि-कर्म कहा है।

न्योली पद्मासन सों करे। दोनों पग घुटनोंपर धरे॥
पेट रु पीठ बराबर होय। दहने बायें नलै बिलोय॥
जो गुरु करके ताहि दिखावे। न्योली कर्म सुगम करि पावे॥

(भक्तिसागर)

वास्तवमें दायें-बायें घुमानेका रहस्य किताबोंसे पढ़कर मालूम करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। पद्मासन (सिद्धासन या उत्कटासन) लगाकर, जब शौच-स्नान, प्रातः-सन्ध्या आदिसे निवृत्त हो लिये हों और पेट साफ तथा हलका हो गया हो, तब रेचक कर वायुको बाहर रोक बिना देह हिलाये, केवल मनोबलसे पेटको दायेंसे बायें और बायेंसे दायें चलाना सोचे और तदनुकूल प्रयास करे। इसी प्रकार सायं-प्रातः स्वेद आने पर्यन्त प्रतिदिन अभ्यास करते-करते पेटकी स्थूलता जाती रहती है। तदनन्तर यह सोचना चाहिये कि दोनों कुक्षियाँ दब गयीं और बीचमें दोनों ओरसे दो नल जुटकर मूलाधारसे हृदयतक एक गोलाकार खम्भ खड़ा हो गया। यही खम्भा जब बँध जाय तब नौलि सुगम हो जाती है। मनोबल और प्रयासपूर्वक अभ्यास बढ़ानेसे दायें-बायें घूमने लगती है। इसी चलानेमें छातीके समीप, कण्ठपर और ललाटपर भी नाडियोंका द्वन्द्व मालूम पड़ता है। एक बार

न्योली चल जानेपर चलती रहती है। पहले-पहल चलनेके समय दस्त ढीला होता है। जिसका पेट हलका है तथा जो प्रयासपूर्वक अभ्यास करता है उसको एक महीनेके भीतर ही न्योली सिद्ध हो जायगी।

इस क्रियाका आरम्भ करनेसे पहले पश्चिमतानासन और और मयूरासनका थोड़ा अभ्यास कर लिया हो तो यह क्रिया शीघ्र सिद्ध हो जाती है। जबतक आँत पीठके अवयवोंसे भलीभाँति पृथक् न हो तबतक आँत उठानेकी क्रिया सावधानीके साथ करे, अन्यथा आँतें निर्बल हो जायँगी। किसी-किसी समय आघात पहुँचकर उदर रोग, शोथ, आमवात, कटिवात, गृध्रसी, कुब्जवात, शुक्रदोष या अन्य कोई रोग हो जाता है। अतः इस क्रियाको शान्तिपूर्वक करना चाहिये। अँतड़ीमें शोथ, क्षतादि दोष या पित्तप्रकोपजनित अतिसारप्रवाहिका (पेचिश), संग्रहणी आदि रोगोंमें नौलि-क्रिया हानिकारक है।

मैल पेटमें रहन न पावे। अपान वायु तासों वश आवे॥
तापतिली अरु गोला शूल। रहन न पावैं नेक न मूल॥
और उदरके रोग कहावें। सो भी वे रहने नहिं पावैं॥

(भक्तिसागर)

मन्दाग्निसंदीपनपाचनादि संधापिकानन्दकरी सदैव।
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः॥

(हठयोगप्रदीपिका)

यह नौलि मन्दाग्निका भली प्रकार दीपन और अन्नादिका पाचन और सर्वदा आनन्द करती है तथा समस्त वात आदि दोष और रोगका शोषण करती है। यह नौलि हठयोगकी सारी क्रियाओंमें उत्तम है।

अँतड़ियोंके नौलिके वश होनेसे पाचन और मलका बाहर होना स्वाभाविक है। नौलि करते समय साँसकी क्रिया तो रुक ही जाती है। नौलि कर चुकनेपर कण्ठके समीप एक सुन्दर अकथनीय स्वाद मिलता है। यह हठयोगकी सारी क्रियाओंसे श्रेष्ठ इसलिये है कि नौलि जान जानेपर तीनों बन्ध सुगम हो जाते हैं। अतएव यह प्राणायामकी सीढ़ी है। धौति, वस्तिमें भी नौलिकी आवश्यकता होती है। शंखपषाली क्रियामें भी, जिसमें मुखसे जल ले अँतड़ियोंमें घुमाते हुए पायु-द्वारा ठीक उसी प्रकार निकाल दिया जाता है जैसे शंखमें एक ओरसे जल देनेपर घूमकर जल दूसरी राहसे निकल जाता है, नौलि सहायक है।

वस्तिकर्म

वस्ति मूलाधारके समीप है। रंग लाल है और इसके देवता गणेश हैं। वस्तिको साफ करनेवाले कर्मको 'वस्तिकर्म' कहते हैं। 'योगसार' पुस्तकमें पुराने गुड़ ,त्रिफला और चीतेकी छालके रससे बनी गोली देकर अपानवायुको वश करनेको कहा है। फिर वस्तिकर्मका अभ्यास करना कहा है।

वस्तिकर्म दो प्रकारका है। १-पवनवस्ति, २-जलवस्ति। नौलिकर्मद्वारा अपानवायुको ऊपर खींच पुनः मयूरासनसे त्यागनेको 'वस्तिकर्म' कहते हैं। पवनवस्ति पूरी सध जानेपर जलवस्ति सुगम हो जाती है, क्योंकि जलको खींचनेका कारण पवन ही होता है। जब जलमें डूबे हुए पेटसे न्योली हो जाय तब नौलिसे जल ऊपर खिंच जायगा।

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात् क्षालनं वस्तिकर्म तत्॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् गुदाके मध्यमें छः अंगुल लंबी बाँसकी नलीको रखे जिसका छिद्र कनिष्ठिका अँगुलीके प्रवेश योग्य हो, उसे घी अथवा तेल लगाकर सावधानीके साथ चार अंगुल गुदामें प्रवेश करे और दो अंगुल बाहर रखे। पश्चात् बैठनेपर नाभितक जल आ जाय, इतने जलसे भरे हुए टबमें उत्कटासनसे बैठे अर्थात् दोनों पार्ष्णियों—पैरकी एड़ियोंको मिलाकर खड़ी रखकर उनपर अपने स्फिच (नितम्बों) को रखे और पैरोंके अग्रभागपर बैठे और उक्त आसनसे बैठकर आधाराकुञ्चन करे जिससे बृहद् अन्त्रमें अपने-आप जल चढ़ने लगेगा। बादमें भीतर प्रविष्ट हुए जलको नौलिक्रमसे चलाकर त्याग दे। इस जलके साथ अन्त्रस्थित मल, आँव, कृमि, अन्त्रोत्पन्न सेन्द्रियविष आदि बाहर निकल आते हैं। इस उदरके क्षालन (धोने) को वस्तिकर्म कहते हैं। धौति, वस्ति दोनों कर्म भोजनसे पूर्व ही करने चाहिये और इनके करनेके अनन्तर हलका भोजन शीघ्र कर लेना चाहिये, उसमें विलम्ब नहीं करना चाहिये। वस्तिक्रिया करनेसे जलका कुछ अंश बृहद् अन्त्रमें शेष रह जाता है, वह धीरे-धीरे मूत्रद्वारा बाहर आयेगा। यदि भोजन नहीं किया जायगा तो वह दूषित जल अन्त्रोंसे सम्बद्ध सूक्ष्म नाडियोंद्वारा शोषित होकर रक्तमें मिल

जायगा। कुछ लोग पहले मूलाधारसे प्राणवायुके आकर्षणका अभ्यास करके और जलमें स्थित होकर गुदामें नालप्रवेशके बिना ही वस्तिकर्मका अभ्यास करते हैं। उस प्रकार वस्तिकर्म करनेसे उदरमें प्रविष्ट हुआ सम्पूर्ण जल बाहर नहीं आ सकता और उसके न आनेसे धातुक्षय आदि नाना दोष होते हैं। इससे उस प्रकार वस्तिकर्म नहीं करना चाहिये, अन्यथा '**न्यस्तनालः**' (अपनी गुदामें नाल रखकर) ऐसा पद स्वात्माराम क्यों देते? यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि छोटे-छोटे जलजन्तुओंका नलद्वारा पेटमें प्रविष्ट हो जानेका भय रहता है। अतएव नलके मुखपर महीन वस्त्र देकर आकुञ्चन करना चाहिये और जलको बाहर निकालनेके लिये खड़ा पश्चिमतान आसन करना चाहिये।

वसिकर्ममें मूलाधारके पीड़ित और प्रक्षालित होनेसे लिङ्ग और गुदाके रोगोंका नाश होना स्वाभाविक है।

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः।
वस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयन्ते सकलामयाः॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् वस्तिकर्मके प्रभावसे गुल्म, प्लीहा, उदर (जलोदर) और वात, पित्त, कफ इनके द्वन्द्व वा एकसे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं।

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं
दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम्।
अशेषदोषोपचयं निहन्या-
दभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अभ्यास किया हुआ यह वस्तिकर्म साधकके सप्त धातुओं, दस इन्द्रियों और अन्तःकरणको प्रसन्न करता है। मुखपर सात्त्विक कान्ति छा जाती है। जठराग्नि उद्दीप्त होती है। वात, पित्त, कफ आदि दोषोंकी वृद्धि और न्यूनता दोनोंको नष्ट कर साम्यरूप आरोग्यताको प्राप्त करता है। एक बात इस सम्बन्धमें अवश्य ध्यान देनेकी है कि वस्तिक्रिया करनेवालोंको पहले नेति और धौतिक्रिया करनी ही चाहिये, जिसका वर्णन नीचे दिया जाता है। अन्य क्रियाओंके लिये ऐसा नियम नहीं है।

राजयक्ष्मा (क्षय), संग्रहणी, प्रवाहिका, अधोरक्तपित्त, भगंदर, मलाशय और गुदामें शोथ, संततज्वर, आन्त्रसंनिपात, आन्त्रशोथ, आन्त्रव्रण, कफवृद्धिजनित तीक्ष्ण श्वासप्रकोप इत्यादि रोगोंमें वस्तिक्रिया नहीं करनी चाहिये।

यह वस्तिक्रिया भी प्राणायामका अभ्यास चालू होनेके बाद नित्य करनेकी नहीं है। नित्य करनेसे आन्त्रशक्ति परावलम्बिनी और निर्बल हो जायगी, जिससे बिना वस्तिक्रियाके भविष्यमें मलशुद्धि नहीं होगी। जैसे तंबाकू और चायके व्यसनीको तंबाकू और चाय लिये बिना शौच नहीं होता, वैसे ही नित्य वस्तिकर्म अथवा षट्कर्म करनेवालेकी स्वाभाविक आन्तरिक शक्तिके बलसे शरीरशुद्धि नहीं होती।

धौतिकर्म

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम्।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत्॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत्।

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् चार अंगुल चौड़े और पंद्रह हाथ लंबे महीन वस्त्रको गरम जलमें भिगोकर थोड़ा निचोड़ ले। फिर गुरूपदिष्ट मार्गसे धीरे-धीरे प्रतिदिन एक-एक हाथ उत्तरोत्तर निगलनेका अभ्यास बढ़ाता जाय। आठ-दस दिनमें पूरी धोती निगलनेका अभ्यास हो सकता है। करीब एक हाथ कपड़ा बाहर रहने दिया जाय। मुखमें जो प्रान्त रहे उसे दाढ़ोंसे भली प्रकार दबा नौलिकर्म करे। फिर धीरे-धीरे वस्त्र निकाले। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि वस्त्र निगलनेके पहले पूरा जल पी लेना चाहिये। इससे कपड़ेके निगलनेमें सुभीता तथा कफ-पित्तका उसमें सटना आसान हो जाता है और कपड़ेको बाहर निकलनेमें भी सहायता मिलती है। धौतिको रोज स्वच्छ रखना चाहिये। अन्यथा धौतिमें लगे हुए दूषित कफरूप विजातीय द्रव्यके परमाणु पुनः दूसरे दिन भीतर जाकर हानि पहुँचायेंगे।

पाश्चात्योंने स्टॉमक ट्यूब बनाया है। कोई एक सवा हाथकी रबरकी नली रहती है, जिसका एक मुख खुला रहता है और दूसरे सिरेके कुछ ऊपर हटकर बगलमें एक छेद होता है। जल पीकर खुला सिरा ऊपर रखकर दूसरा सिरा निगला जाता है और जल रबरकी नलिकाद्वारा गिर जाता है।

चाहे किसी प्रकारकी धौति क्यों न हो, उससे कफ, पित्त और रंग-बिरंगे पदार्थ बाहर गिरते हैं। ऊपरकी नाडीमें रहा

हुआ एकाध अन्नका दाना भी गिरता है। दाँत खट्टा-सा हो जाता है। परंतु मन शान्त और प्रसन्न हो जाता है। वसन्त या ग्रीष्मकालमें इसका साधन अच्छा होता है।

घटिका, कण्ठनलिका या श्वासनलिकामें शोथ, शुष्क काश, हिक्का, वमन, आमाशयमें शोथ, ग्रहणी, तीक्ष्ण अतिसार, ऊर्ध्व रक्तपित्त (मुँहसे रक्त गिरना) इत्यादि कोई रोग हो तब धौतिक्रिया लाभदायक नहीं होती।

नेतिकर्म

नेति दो प्रकारकी होती है—जलनेति और सूत्रनेति। पहले जलनेति करनी चाहिये। प्रातःकाल दन्तधावनके पश्चात् जो साँस चलती हो, उसीसे चुल्लूमें जल ले और दूसरी साँस बंदकर जल नाकद्वारा खींचे। जल मुखमें चला जायगा। सिरके पिछले सारे हिस्सेमें, जहाँ मस्तिष्कका स्थान है, उस कर्मके प्रभावसे गुदगुदाहट और सनसनाहट या गिनगिनाहट पैदा होगी। अभ्यास बढ़नेपर आगे ऐसा नहीं होगा। कुछ लोग नासिकाके एक छिद्रसे जल खींचकर दूसरे छिद्रसे निकालनेकी क्रियाको 'जलनेति' कहते हैं। एक समयमें आध सेरसे एक सेरतक जल एक नासापुटसे चढ़ाकर दूसरे नासापुटसे निकाला जा सकता है। एक समय एक तरफसे जल चढ़ाकर दूसरे समय दूसरी तरफसे चढ़ाना चाहिये। जलनेतिसे नेत्रज्योति बलवान् होती है। स्कूल और कॉलेजके विद्यार्थियोंके लिये भी हितकर है। तीक्ष्ण नेत्ररोग, तीक्ष्ण अम्लपित्त और नये ज्वरमें जलनेति नहीं करनी चाहिये। अनेक मनुष्य रोज सुबह नासापुटसे जल पीते हैं। यह क्रिया हितकर नहीं है। कारण, जो दोष नासिकामें संचित होंगे वे आमाशयमें चले जायँगे। अतः उषापान तो मुँहसे ही करना चाहिये। जलनेतिके अनन्तर सूत्र लेना चाहिये। महीन सूतकी दस-पंद्रह तारकी एक हाथ लंबी बिना बटी डोर, जिसका छः-सात इंच लंबा एक प्रान्त बटकर क्रमशः पतला बना दिया गया हो, पिघले हुए मोमसे चिकना बनाकर जलमें भिगो लेना उचित है। फिर इस स्निग्ध भागको भी इस रीतिसे थोड़ा मोड़कर जिस छिद्रसे वायु चलती हो उस छिद्रमें लगाकर और नाकका दूसरा छेद अँगुलीसे बंदकर, खूब जोरसे बारंबार पूरक करनेसे सूतका भाग मुखमें आ जाता है। तब उसे तर्जनी और अङ्गुष्ठसे पकड़कर बाहर निकाल ले। पुनः नेतिको धोकर दूसरे छिद्रमें डालकर मुँहमेंसे निकाल ले। कुछ दिनके अभ्यासके बाद एक हाथसे सूतको मुखसे खींचकर और दूसरेसे नाकवाला प्रान्त पकड़कर धीरे-धीरे चालन करे। इस क्रियाको 'घर्षणनेति' कहते हैं। इस प्रकार नाकके दूसरे रन्ध्रसे भी, जब वायु उस रन्ध्रसे चल रहा हो, अभ्यास करे। इससे भीतर लगा हुआ कफ पृथक् होकर नेतिके साथ बाहर आ जाता है। नाकके एक छिद्रसे दूसरे छिद्रमें भी सूत चलाया जाता है, यद्यपि कुछ लोग इसे दोषयुक्त मानकर इसकी उपेक्षा करते हैं। उसका क्रम यह है कि सूत नाकके एक छिद्रसे पूरकद्वारा जब खींचा जाता है तो रेचक मुखद्वारा न कर दूसरे रन्ध्रद्वारा करना चाहिये। इस प्रकार सूत एक छिद्रसे दूसरे छिद्रमें आ जाता है। इस क्रियाके करनेमें किसी प्रकारका भय नहीं है। सध जानेपर तीसरे दिन करना चाहिये। जलनेति प्रतिदिन कर सकते हैं। नेति डालनेमें किसी-किसीको छींक आने लगती है, इसलिये एक-दो सेकंड श्वासोच्छ्वासकी क्रियाको बंद करके नेति डालनी चाहिये।

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च॥

(हठयोगप्रदीपिका)

'नेति कपालको शुद्ध करती है, दिव्य दृष्टि देती है। स्कन्ध, भुजा और सिरकी संधिके ऊपरके सारे रोगोंको नेति शीघ्र नष्ट करती है।'

त्राटककर्म

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्॥

(हठयोगप्रदीपिका)

'समाहित अर्थात् एकाग्रचित्त हुआ मनुष्य निश्चल दृष्टिसे सूक्ष्म लक्ष्यको अर्थात् लघु पदार्थको तबतक देखे, जबतक अश्रुपात न होवे। इसे मत्स्येन्द्र आदि आचार्योंने 'त्राटककर्म' कहा है।'

त्राटक कर्म टकटकी लागे। पलक-पलक सो मिलै न तागे॥
नैन उघारे ही नित रहै। होय दृष्टि फिर शुकदेव कहै॥
आँख उलटि त्रिपुटीमें आनो। यह भी त्राटक कर्म पिछानो॥
जैसे ध्यान नैनके होई। चरणदास पूरण हो सोई॥

सफेद दिवालपर सरसों-बराबर काला चिह्न दे उसीपर दृष्टि ठहराते-ठहराते चित्त समाहित और दृष्टि शक्तिसम्पन्न हो

जाती है। मैस्मेरिज्ममें जो शक्ति आ जाती है वही शक्ति त्राटकसे भी प्राप्य है।

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम्।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम्।

(हठयोगप्रदीपिका)

'त्राटक नेत्ररोगनाशक है। तन्द्रा-आलस्यादिको भीतर नहीं आने देता। त्राटककर्म संसारमें इस प्रकार गुप्त रखनेयोग्य है जैसे सुवर्णकी पेटी संसारमें गुप्त रखी जाती है।' क्योंकि—

'भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता।'

उपनिषदोंमें त्राटकके आन्तर, बाह्य और मध्य—इस प्रकार तीन भेद किये गये हैं। हठयोगके ग्रन्थोंमें प्रकार-भेद नहीं है।

पाश्चात्त्योंका अनुकरण करनेवाले कुछ लोग मद्यपान, मांसाहार तथा अम्ल-पदार्थादि अपथ्य-सेवन करते हुए भी 'मैस्मेरिज्म' विद्याकी सिद्धिके लिये त्राटक किया करते हैं। परंतु ऐसे लोगोंका अभ्यास पूर्ण नहीं होता। अनेकोंके नेत्र चले जाते हैं और अनेक पागल हो जाते हैं। जिन्होंने पथ्यका पालन किया है वही सिद्धि प्राप्त कर सके हैं।

यम-नियमपूर्वक आसनोंके अभ्याससे नाडीसमूह मृदु हो जानेपर ही त्राटक करना चाहिये। कठोर नाडियोंको आघात पहुँचते देरी नहीं लगती। त्राटकके जिज्ञासुओंको आसनोंके अभ्यासके परिपाककालमें नेत्रके व्यायामका अभ्यास करना विशेष लाभदायक है। प्रातःकालमें शान्तिपूर्वक दृष्टिको शनैः-शनैः बायें, दायें, नीचेकी ओर, ऊपरकी ओर चलानेकी क्रियाको नेत्रका व्यायाम कहते हैं। इस व्यायामसे नेत्रकी नसें दृढ़ होती हैं। इसके अनन्तर त्राटक करनेसे नेत्रको हानि पहुँचनेकी भीति कम हो जाती है।

त्राटकके अभ्याससे नेत्र और मस्तिष्कमें उष्णता बढ़ जाती है। अतः नित्य जलनेति करनी चाहिये तथा रोज सुबह त्रिफलाके जलसे अथवा गुलाबजलसे नेत्रोंको धोना चाहिये। भोजनमें पित्तवर्धक और मलावरोध (कब्ज) करनेवाले पदार्थोंका सेवन न करे। नेत्रमें आँसू आ जानेके बाद फिर उस दिन दूसरी बार त्राटक न करे। केवल एक ही बार प्रातःकालमें करे। वास्तवमें त्राटकका अनुकूल समय रात्रिके दोसे पाँच बजेतक है। शान्तिके समयमें चित्तकी एकाग्रता बहुत शीघ्र होने लगती है। एकाध वर्षपर्यन्त नियमितरूपसे त्राटक करनेसे साधकके संकल्प सिद्ध होने लगते हैं, दूसरे मनुष्योंके हृदयका भाव मालूम होने लगता है, सुदूर स्थानमें स्थित पदार्थ अथवा घटनाका सम्यक्प्रकारसे बोध हो जाता है।

गजकर्म या गजकरणी

गजकर्म यहि जानिये, पिये पेट भरि नीर।
फेरि युक्तिसों काढ़िये, रोग न होय शरीर॥

हाथी जैसे सूँडसे जल खींच फिर फेंक देता है, वैसे गजकर्ममें किया जाता है। अतः इसका नाम गजकर्म या गजकरणी हुआ। यह कर्म भोजनसे पहले करना चाहिये। विषयुक्त या दूषित भोजन करनेमें आ गया हो तो भोजनके पीछे भी किया जा सकता है। प्रतिदिन दन्तधावनके पश्चात् इच्छाभर जल पीकर अँगुली मुखमें दे उलटी कर दे। क्रमशः बढ़ा हुआ अभ्यास इच्छामात्रसे जल बाहर फेंक देगा। भीतर गये जलको न्योलीकर्मसे भ्रमाकर फेंकना और अच्छा होता है। जब जल स्वच्छ आ जाय तब जानना चाहिये कि अब मैल मुखकी राह नहीं है। पित्तप्रधान पुरुषोंके लिये यह क्रिया हितकर है।

कपालभातिकर्म

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससम्भ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् लोहकारकी भस्त्रा (भाथी) के समान अत्यन्त शीघ्रतासे क्रमशः रेचक-पूरक प्राणायामको शान्तिपूर्वक करना योगशास्त्रमें कफदोषका नाशक कहा गया है तथा यह क्रिया 'कपालभाति' नामसे विख्यात है।

जब सुषुम्नामेंसे अथवा फुफ्फुसमेंसे श्वासनलिकाद्वारा कफ बार-बार ऊपर आता हो अथवा प्रतिश्याय (जुकाम) हो गया हो तब सूत्रनेति और धौतिक्रियासे इच्छित शोधन नहीं होता। ऐसे समयपर यह कपालभाति लाभदायक है। इस क्रियासे फुफ्फुस और समस्त कफवहा नाडियोंमें इकट्ठा हुआ कफ कुछ जल जाता है और कुछ प्रस्वेदद्वारा बाहर निकल जाता है, जिससे फुफ्फुस-कोशोंकी शुद्धि होकर फुफ्फुस बलवान् होते हैं। साथ-साथ सुषुम्ना, मस्तिष्क और आमाशयकी शुद्धि होकर

पाचनशक्ति प्रदीप्त होती है। परंतु उरःक्षत, हृदयकी निर्बलता, वमनरोग, हुलास (उबाक), हिक्का, स्वरभङ्ग, मनकी भ्रमित अवस्था, तीक्ष्ण ज्वर, निद्रानाश, ऊर्ध्वरक्तपित्त, अम्लपित्त इत्यादि दोषोंके समय, यात्रामें और वर्षा हो रही हो, ऐसे समयपर इस क्रियाको न करे।

अजीर्ण, धूपमें भ्रमणसे पित्तवृद्धि, पित्तप्रकोपजन्य रोग, जीर्ण कफ-व्याधि, कृमि, रक्तविकार, आमवात, विषविकार और त्वचारोगादि व्याधियोंको दूर करनेके लिये यह क्रिया गुणकारी है। शरद् ऋतुमें स्वाभाविक पित्तवृद्धि होती रहती है। ऐसे समयपर आवश्यकतानुसार यह क्रिया की जा सकती है।

कर्मयोग

(कविसम्राट् पं० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध')

(१)

नयन मनुजके सदा सफलता-मुख अवलोकें।
दोनों कर बन परम कान्त सुरतरु-फल लोकें॥
उसको बहती मिले मरु-अवनिमें रसधारा।
वह पाता ही रहे अमर पुरका सुख सारा॥
कैसे? किस साधनके किये? तो उत्तर होगा यही।
सब दिनों कर्मरत जो रहा सिद्धि पा सका है वही॥

(२)

उषा-रागको लसित कर्म-अनुराग बनाता।
कर्म-सूत्रमें बँधा दिवाकर है दिखलाता॥
रजनी-रंजन कर्म-कान्त बन है छवि पाता।
अवनीतलपर सरस सुधा-रस है बरसाता॥
है करती रहती विश्वको विदित कर्मकी माधुरी।
हो तारकावलीसे कलित प्रतिदिन रजनी सुन्दरी॥

(३)

परम पविहृदय मेरु प्रवाहित निर्झर द्वारा।
प्रस्तर-संकुल अवनि-मध्यगत सरिता-धारा॥
फलसे बिलसे बिटप रंग लातीं लतिकाएँ।
सौरभ भरे प्रसून विकच बनतीं कलिकाएँ॥
देती हैं भवको कर्मकी अनुपमताकी सूचना।
है कर्म परम पावन सरस सुन्दर भावोंसे सना॥

(४)

कैसे मिलते रत्न उदधि-मंथन क्यों होता।
कैसे कार्य-कलाप बीज फल-कृतिके बोता॥
कैसे जड़ता मध्य जीवनीधारा बहती।
कैसे बांछित-सिद्धि साधना-करमें रहती।
कैसे हो वारिद-वृन्द वर वारि बरस पाते कहीं।
जो कर्म न होता तो रसा सरसा हो पाती नहीं॥

(५)

गृहका त्याग न त्याग कर्मका है कहलाता।
बुरे भावका त्याग त्याग है माना जाता॥
किसी कालमें कर्मत्याग तब होगा कैसे।
बने रहेंगे जब दृगादि जैसे के तैसे॥
तबतक थीं बातें त्यागकी जबतक मल धोती नहीं।
भव-कर्मरता सब इन्द्रियाँ कर्मरहित होती नहीं॥

(६)

कर्महीनता मरण कर्म-कौशल है जीवन।
सौरभरहित सुमन समान है कर्महीन जन॥
तिमिर-भरित अपुनीत इन्द्रियोंका वर रवि है।
कर्म परम पाषाणभूत मानसका पवि है॥
है कर्म-त्यागकी रगोंमें परिपूरित निर्जीवता।
है कर्मयोगके सूत्रमें बँधी समस्त सजीवता॥
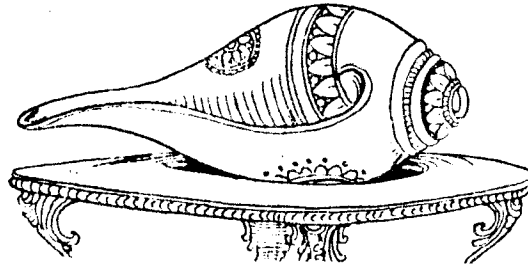
योगमूर्ति योगीश्वर भगवान् शिव

प्राचीन कालसे ही योगियोंकी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ चलती आ रही हैं। जैसे मार्कण्डेययोग, पातञ्जलयोग, नाथयोग (हठयोग), मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग आदि। योगवासिष्ठ-जैसे प्राचीन योगवेदान्तके ग्रन्थमें भी हठयोग, लययोग, राजयोग आदिका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें अधिकांश योग-परम्पराएँ भगवान् शङ्करसे ही प्रारम्भ हुई हैं। गुरु गोरखनाथजीके सम्प्रदायके सिद्ध महात्मा अपने आद्याचार्यके रूपमें भगवान् शङ्करको ही आदिनाथके रूपमें प्रतिष्ठित कर उनकी आराधना करते हैं। भगवान् शङ्करके ध्यान-स्वरूपोंमें भी प्रायः उन्हें सर्वत्र योगमुद्रा, ज्ञानमुद्रा और पद्मासन आदिसे युक्त बतलाया गया है। वे प्रायः योग-समाधि एवं तपश्चर्यामें ही स्थित रहते हैं। श्रीमद्भागवतके चतुर्थ स्कन्धमें कहा गया है कि जब ब्रह्मादि देवगण भगवान् शङ्करके दर्शनोंके लिये उनके नित्यनिवास कैलास पर्वतपर स्थित वटवृक्षके नीचे, जिसे स्वयं महायोगमय और समस्त सिद्ध मुमुक्षुजनोंका आश्रयभूत निवास-स्थान कहा है, पहुँचे तो वहाँ उन सभीने उन्हें विचित्र योगमुद्रामें देखा, जिसका श्रीमद्भागवतकारने इस प्रकार वर्णन किया है—

कृत्वोरौ दक्षिणे सव्यं पादपद्मं च जानुनि।
बाहुं प्रकोष्ठेऽक्षमालामासीनं तर्कमुद्रया॥
तं ब्रह्मनिर्वाणसमाधिमाश्रितं
व्युपाश्रितं गिरिशं योगकक्षाम्।
सलोकपाला मुनयो मनूना-
माद्यं मनुं प्राञ्जलयः प्रणेमुः॥

(श्रीमद्भा० ४।६।३८-३९)

भगवान् शङ्कर अपना बायाँ चरण दायीं जाँघपर रखे थे। वे बायाँ हाथ बायें घुटनेपर रखे, कलाईमें रुद्राक्षकी माला डाले तर्कमुद्रासे विराजमान थे। वे योगपट्ट (काठकी बनी हुई टेकनी) का सहारा लिये एकाग्र-चित्तसे ब्रह्मानन्दका अनुभव कर रहे थे। लोकपालोंके सहित समस्त मुनियोंने मननशीलोंमें सर्वश्रेष्ठ भगवान् शङ्करको हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

प्रायः इतिहास-पुराणोंमें सर्वाधिक योगसाधना और दीर्घकालीन समाधिके लिये भगवान् शङ्कर ही सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं, यह बात शिवपुराण, लिङ्गपुराणादिमें बार-बार कही गयी है। उन्हींके आधारपर गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने भगवान् शङ्करके स्व-स्वरूपमें स्थित होकर दीर्घकालतक समाधिमें स्थित होनेकी कई बार चर्चा की है। वे कहते हैं कि भगवान् शङ्करने अपने सहज-स्वरूपका स्मरण किया और उनकी तत्काल निर्विकल्प-समाधि अनन्तकालके लिये लग गयी—

संकर सहज सरूपु सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥

इसी प्रकार एक दूसरी जगह वे लिखते हैं कि भगवान् शङ्करको समाधि लगाये हुए पूरे दिव्य ८७ हजार वर्ष व्यतीत हो गये, तब उन्होंने अपनी सहज समाधिका परित्याग किया—

बीतें संबत सहस सतासी। तजी समाधि संभु अबिनासी॥

इस प्रकारकी अवस्था प्रायः अन्य देवता या सिद्ध मुनियोंकी कम ही देखी जाती है, पर भगवान् शङ्करकी यह सहजावस्था है।

भगवान् शङ्करके आगमों तथा पुराणोंमें अनेक शतनाम तथा सहस्रनाम भी प्राप्त होते हैं, जिनमें उनके प्रायः अधिकांश नाम योगसे ही सम्बद्ध हैं। यथा—सर्वयोगी, योगाध्यक्ष, सिद्धयोगी, सिद्धसाधक, मोक्षद्वार आदि। (महाभा०, अनु०, अ० १७का शिवसहस्रनाम)।

शास्त्रोंमें योगका परम फल ज्ञान बतलाया गया है और योग तथा ज्ञानको भी साक्षात् भगवान्का स्वरूप बतलाया गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(श्रीमद्भा० १।२।११)

'तत्त्ववेत्तालोग ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित अखण्ड अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप ज्ञानको ही तत्त्व कहते हैं। उसीको कोई ब्रह्म, कोई परमात्मा और कोई भगवान्‌के नामसे पुकारते हैं।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी स्पष्ट-रूपसे कहा गया है कि विशुद्ध ज्ञानके सदृश अन्य कोई भी कल्याणकारी पवित्र पदार्थ नहीं है और योगसिद्ध योगी इसे यथासमय अवश्य प्राप्त कर लेता है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(४।३८)

ज्ञानरूपी नौकाके सहारे संसारका सर्वाधिक पापी प्राणी भी पाप-तापसे मुक्त होकर परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार भगवान् शङ्कर विशुद्ध विज्ञानमय कैवल्य-स्वरूप और सभी विद्या एवं विज्ञानोंके मूल प्रवर्तक तथा परमकारण कहे गये हैं, अतः तीनों लोकोंमें वे परम गुरु भी हैं—

'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।'
'तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना॥'

इसीलिये आचार्य सायणने अपने सभी वेदोंके भाष्यमें एक ही श्लोकसे त्रिभुवनगुरु भगवान् शङ्करकी वन्दना की है और कहा है कि वेद जिनके निःश्वासभूत हैं और जो वेदोंके अनुसार ही नाम-रूप जगत्‌का विस्तार करते हैं तथा समस्त विद्याओंके मूलस्रोत विज्ञानमय हैं, उन भगवान् शङ्करकी मैं वन्दना करता हूँ—

यस्य निःश्वसितं वेदा···· विद्यातीर्थं महेश्वरम्।

इस प्रकार भगवान् शिव, भगवान् विष्णु, विशुद्ध विज्ञान और अखण्ड पूर्ण महायोग—ये सब एक ही आनन्दमय तत्त्वके भिन्न-भिन्न नाम-रूप हैं और साधनोंके द्वारा इनकी प्राप्तिमें परमतत्त्व, पराशान्ति, समाधिसिद्धि और कृतकृत्यता हो जाती है। अतः किसी भी प्रकार इनका समाश्रयण, ध्यान, प्रणिधान, निदिध्यासन आदि अवश्य करते रहना चाहिये।

महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण नारायणके षोडशकलायुक्त साक्षात् पूर्णावतार कहे गये हैं और उनके द्वारा महाभारत-युद्धके समय उपदिष्ट श्रीमद्भगवद्गीता शास्त्र सर्वोत्तम योगशास्त्र है। इसके अठारह अध्यायोंमें सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञानकर्म-संन्यासयोग, कर्मसंन्यासयोग, आत्मसंयमयोग, ज्ञानविज्ञानयोग, अक्षरब्रह्मयोग, राजविद्याराजगुह्ययोग, विभूतियोग, विश्वरूपदर्शनयोग, भक्तियोग, क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विभागयोग, गुणत्रयविभागयोग, पुरुषोत्तमयोग तथा मोक्षसंन्यासयोग आदिके नामसे प्रायः सभी योगोंका कथन किया गया है और बीच-बीचमें ध्यानयोग, ज्ञानयोग, बुद्धियोग, ब्रह्मयोग आदि और भी अनेक योगोंकी चर्चा हुई है। वैसे भगवान् श्रीकृष्ण योगमायाका आश्रय लेकर सदा ही अचिन्त्य, अलौकिक और दिव्य लीलाएँ सम्पादित करते रहते हैं। भागवत आदिके अनुसार देवकीके गर्भसे प्रकट होनेके समय वे चतुर्भुज विष्णुरूपमें अवतीर्ण हुए और देवकी-वसुदेवकी प्रार्थनापर पुनः बालक-रूपमें परिणत हुए और नन्दके घर पहुँचानेकी बात भी उनसे कही। बादमें माता यशोदाको पुनः विश्वरूप दिखाया और अपने मुखमें ही सम्पूर्ण नक्षत्र-मण्डल, चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डलसहित समस्त विश्वको दिखाया। इसी प्रकार वत्सापहरणके समय ब्रह्माजीको, यमुनामें स्नान करते हुए अक्रूरजीको, युद्धक्षेत्रमें अर्जुनको तथा उससे पूर्व कौरवोंकी सभामें दुर्योधनादिको भी अपना विश्वरूप दिखलाया। रासलीलामें वे गोपियोंकी संख्याके अनुसार ही उतनी संख्यामें परिणत हो गये थे, साथ ही सोलह हजार रानियोंके घरमें भी उतने ही रूप धारणकर विराजित होते थे। यह सब उनकी दिव्य योग-शक्तिका ही प्रभाव था। इस बातको उन्होंने गीतामें स्वयं अपने मुखसे कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

श्रीमद्भागवतमें रास आदि प्रकरणोंमें बार-बार स्पष्टरूपसे कहा गया है कि उन्होंने योगमायाका आश्रय लेकर रास करनेका विचार किया—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(१०।२९।१)

—और दुर्गासप्तशतीमें भी योगमायाको भगवान्‌की योग-शक्ति और महामाया कहा गया है, जो तीनों लोकोंको उत्पन्न कर धारण किये रहती हैं और समस्त प्राणियोंको मोहमें भी डाले रहती हैं—'**महामाया हरेश्चैषा तया सम्मोह्यते जगत्।**'

योगेश्वर कृपालु भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव लोककल्याणके लिये ही हुआ था और उनके द्वारा कथित गीताशास्त्र जो उनका ही दूसरा स्वरूप है और उनकी भास्वती भगवतीकी अनुकम्पासे प्रसूत सर्वाधिक चमत्कृत वस्तु है, वह समस्त अज्ञान एवं मोहपटलको ध्वस्त कर प्रतिपद अब भी उनका प्रत्यक्ष रूपसे दर्शन करानेमें सक्षम है। आवश्यकता है केवल अत्यन्त मनोयोगसे तल्लीन होकर उसके भावोंको हृदयङ्गम करनेकी। उनके केवल एक वचनको देखा जाय, जिसमें योगके सर्वाधिक गुह्यतम रहस्यको प्रकट करते हुए एक ही वाक्यमें उनके द्वारा कहा गया है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

(गीता २।६९)

भाव यह है कि सामान्य जन जिस संसाररूपी दिनमें जागते हैं, उसे योगी रात समझकर, वहाँ केवल एकमात्र भगवान्‌को ही देखता है, संसारके किसी अन्य रूपको वह कभी नहीं देखता। उसके लिये भूत-भविष्य-वर्तमान, सत्ययुग, त्रेता, द्वापर आदि सदा ही केवल एक भगवान्‌के रूपमें ही रहता है और रहेगा। दूसरी ओर घोर संसारी प्राणियों, भौतिकवादियों, अज्ञानी जनोंके लिये जो परमात्मा किसी प्रकार अनुभूत, दृष्ट और ज्ञात नहीं होता, रात्रिके समान दुर्ज्ञेय लगता है, उसी परमात्माको अहर्निश देखता हुआ और परमानन्दको अनुभूत करता हुआ योगी सदा जाग्रत् और चैतन्य रहता है। अर्थात् योगीके लिये भगवान् तो नित्य दृष्टिगोचर हैं और संसार कभी नहीं। यही योगीकी स्थिति है। इस प्रकार योगात्मा भगवान् श्रीकृष्ण योग एवं योगीके सार-तत्त्वको इसी रूपमें प्रायः सर्वत्र बतलाते हुए अपनेको साधकके द्वारा तत्काल प्राप्त होनेका मार्ग निर्दिष्ट करते हैं, अतः वे योग-साधकोंसे कभी तिरोहित नहीं होते।

प्रायः गीताके ही भावोंको उन्होंने कुछ सरल और मधुरतम शब्दोंमें अपने भक्त उद्धवको भागवतके एकादश स्कन्धमें उपदिष्ट किया, जो भागवत ग्रन्थका सर्वोत्तम उत्कृष्ट अङ्ग है और गीताके अर्थोंसे ही अनुस्यूत है। इसी प्रकार महाभारतका अनुगीतापर्व भी पुनः अर्जुनको गीताका स्मरण दिलानेके लिये ही उपदिष्ट है।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके अमृतमय वचनों, अनेकों महत्त्वपूर्ण प्रसङ्गोंको जिनमें योगका ही मुख्यरूपसे उपदेश हुआ है, योगामृत-सार भी कहा जा सकता है। भगवान् व्यासदेवने हरिवंशसहित महाभारत और अष्टादश पुराणोंकी मुख्यरूपसे भगवान् श्रीकृष्णके चरित्र एवं उनकी योगचर्या तथा योगोपदेशके वचनोंके संग्रहकी दृष्टिसे रचना की थी।

इस प्रकार अपनी प्राप्तिके साधनभूत योगसारसर्वस्वको सर्वसामान्यको सुलभ करानेवाले योगमूर्ति पूर्णतम पुरुषोत्तमके पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्णको समस्त भावोंसे तीव्र संवेगके द्वारा, योगसाधनाद्वारा प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये और अपने जीवनको सफल बनाना चाहिये।

योगके आदिप्रवर्तक भगवान् हिरण्यगर्भ

पातञ्जलयोगदर्शनकी व्याख्याओंकी प्रस्तावनामें प्रायः सभी आचार्योंने एक स्वरसे कहा है कि योगमार्गके आदिप्रवर्तक एवं मूल योगसंहिताके आदि प्रवक्ता भगवान् हिरण्यगर्भ ही हैं और कोई दूसरा नहीं। महाभारत तथा याज्ञवल्क्यस्मृतिमें कुछ वचन इस प्रकार मिलते हैं—

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।

अर्थात् 'हिरण्यगर्भ ही योगके वक्ता हैं, इनसे पुरातन और कोई वक्ता नहीं है।'

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एष च्छन्दसि स्तुतः।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं स च लोके विभुः स्मृतः॥

(महाभा०, शान्ति० ३४२।९६)

'यह द्युतिमान् हिरण्यगर्भ वही है, जिनकी वेदमें स्तुति की गयी है। इनकी योगी लोग नित्य पूजा करते हैं और संसारमें इन्हें विभु कहा गया है।' इसी प्रकार—

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः।
महानिति च योगेषु विरञ्चिरिति चाप्यजः॥

'इन हिरण्यगर्भ भगवान्‌को (समष्टि) बुद्धि कहते हैं, इन्हींको योगी लोग महान् तथा विरिञ्चि और अज भी कहते हैं।' श्रीमद्भागवत (५। १९। १३) में कहा गया है—

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं
हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत्।

'हे योगेश्वर ! यह योगकौशल वही है, जिसे भगवान् हिरण्यगर्भने कहा था।'

उपर्युक्त सभी वचनोंका तात्पर्य यही है कि वेदोंमें जिनकी स्तुति की गयी है, जो योगिजनोंसे पूजित हैं, वेदोंमें जो विभु, विरिञ्चि, अज, चतुर्मुख तथा जगदन्तरात्मा आदि शब्दवाच्य हैं, उन्हींसे सर्वप्रथम योगविद्या या पराविद्याका प्रादुर्भाव हुआ, अतः निर्विवाद-रूपसे भगवान् हिरण्यगर्भ ही योगके परम आचार्य हैं। सभी ऋषि, महर्षि, राजर्षि, देवता, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर एवं योगी महात्माजनोंने उनकी ही उपासना की है और उन्हींकी बातोंको अपने शास्त्रोंमें न्यूनाधिक रूपसे विस्तारित किया है; वैसे योगके आचार्योंमें कपिल, पञ्चशिख, वोढु, आसुरि, सनत्कुमार तथा सनत्सुजात आदि सिद्धविद्याधीश योगीश्वर भी हैं, तथापि ये भगवान् हिरण्यगर्भ कौन हैं ? यह एक विचारणीय विषय है। इसका मूल कारण है 'हिरण्यगर्भ' शब्दके विभिन्न अर्थ और फिर कहीं इनके चरित्रका स्पष्ट उल्लेख न मिलना।

'हिरण्यगर्भ' शब्द प्रायः प्रजापति ब्रह्माजीके लिये और कई स्थानोंपर भगवान् विष्णु तथा सूर्यके लिये भी प्रयुक्त हुआ है। जहाँ हिरण्यगर्भ शब्दका ब्रह्मापरक अर्थ है, वहाँ मनुस्मृति आदिके **'तदण्डमभवद्धैमम्'**—इस वचनके अनुसार जलके सुवर्णवर्णके अण्डाकार-रूपमें विवर्तित होने और पुनः उसके दो खण्डों—द्यावा-पृथ्वीरूपमें विभक्त होने तथा उसके मध्यभागसे प्रजापति ब्रह्माके प्रसूत होनेके कारण उसकी सार्थकता होती है, किंतु मूल वैदिक संहिताओं तथा पुराणों आदिमें उस अण्डेके मूल कारण और नाभिपद्मसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्माजीके भी उद्भवकर्ता भगवान् विष्णुको हिरण्यगर्भ कहा गया है।

परम्परासे अनुसंधान करनेपर योगका मूल सम्बन्ध, विश्वके आदिप्रवर्तक परमात्मा भगवान् नारायणसे ही स्पष्ट-रूपसे दीखता है। इसलिये विष्णुसहस्रनाममें **'हिरण्यगर्भो भूगर्भो॰'** के साथ-साथ **'योगो योगविदां नेता प्रधानपुरुषेश्वरः'** कहकर भगवान् विष्णुको ही उस जलरूप हिरण्यमय अण्डेके मूल होनेसे तथा साक्षात् योगमूर्ति होनेके कारण भी उन्हें ही योगरूप और हिरण्यगर्भ कहा गया है। अन्य सभी शास्त्रोंमें भी उन्हें ही योगिजनोंके द्वारा ध्येय, योगियोंके आदिगुरु, विशुद्ध योगात्मस्वरूप, योगमायाके स्वामी और योगनिद्राके आश्रयभूत भी कहा गया है—

'ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो॰'
'योगिभिर्ध्यानगम्यम्'
'महामाया हरेश्चैषा तया सम्मोह्यते जगत्।'
'योगनिद्रां यदा विष्णुर्जगत्येकार्णवीकृते ॥

प्रायः सभी शास्त्रोंमें एकमात्र नारायणको मूल योगाचार्य, समस्त योगियोंके गुरु , गुरुओंके गुरु और योगमार्गके द्वारा एकमात्र प्राप्यतत्त्व बतलाया गया है। योगके द्वारा समस्त कर्मबीजोंको नष्टकर और हृदयकी समस्त वृत्तियोंको योग-भावनासे योगाकार बनाकर योगीलोग एकमात्र उन्हींको देखते हैं और वे ही समस्त योगोंके द्वारा अधिगम्य भी कहे गये हैं। श्रीमद्भागवतमें गजेन्द्र-स्तुतिमें कहा गया है—

तमक्षरं ब्रह्म परं परेश-
मव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगम्यम् ।
अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूर-
मनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे ॥

(८। ३। २१)

'जो अविनाशी, सर्वशक्तिमान्, अव्यक्त, इन्द्रियातीत और अत्यन्त सूक्ष्म हैं, जो अत्यन्त निकट रहनेपर भी बहुत दूर जान पड़ते हैं, जो आध्यात्मिक योग अर्थात् ज्ञानयोग या भक्तियोगके द्वारा प्राप्त होते हैं—उन्हीं आदिपुरुष, अनन्त एवं परिपूर्ण परब्रह्म परमात्माकी मैं स्तुति करता हूँ।'

पुनः आगे कहा गया है—

योगरन्धितकर्माणो हृदि योगविभाविते।
योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम् ॥

(८। ३। २७)

'योगीलोग योगके द्वारा कर्म, कर्म-वासना और कर्म-फलको भस्म करके अपने योगशुद्ध हृदयमें जिन योगेश्वर भगवान्‌का साक्षात्कार करते हैं—उन प्रभुको मैं नमस्कार

करता हूँ।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी उसके वक्ता साक्षात् नारायण भगवान् श्रीकृष्णने भी अपनेको ही योगमार्गका आदिप्रवर्तक बतलाया है। वहाँ चतुर्थ अध्यायके प्रथमसे लेकर छठे श्लोकतक इस रहस्यको स्पष्टरूपसे व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है कि सर्वप्रथम इस मुख्य योगमार्गको मैंने ही भगवान् सूर्यदेवको बतलाया था और फिर उन्होंने अपने पुत्र वैवस्वत मनुको तथा फिर उन्होंने अपने पुत्र इक्ष्वाकुको बतलाया—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

इस प्रकार यह परम्परासे सूर्यवंशी आदि सभी राजर्षियोंको क्रमशः प्राप्त होता रहा। गीताकी 'गूढार्थदीपिका' नाम्नी टीकामें श्रीस्वामी मधुसूदन सरस्वतीजीने यह स्पष्ट किया है कि यहाँ वैवस्वत मनुका उल्लेख केवल संकेतात्मक है। यह बात नहीं है कि स्वायम्भुव मनुसे लेकर रैवत मन्वन्तरतकके राजर्षियों और योगियोंको यह योग ज्ञात नहीं हो सका, अपितु भगवान् नारायण—हिरण्यगर्भके द्वारा ब्रह्मा आदिकी परम्परासे स्वायम्भुवादि मनु आदि तक रही और फिर यह योग-परम्परा आगे भी प्राप्त होती चली गयी। वैवस्वतमनुका निर्देश केवल इस बातको द्योतित करनेके लिये कहा गया है कि इस योगविद्याकी परम्पराका उपदेश प्रत्येक मन्वन्तरके आदिमें साक्षात् नारायण भगवान् हिरण्यगर्भके द्वारा प्रजापतियों और मनुओंकी वंशपरम्परामें बहुत दूरतक चलता आता है और भगवान् नारायण ही इसके आदि उपदेष्टा होते हैं। साथ ही अन्य विशिष्ट योगिजन भी उन्हींकी कृपासे 'योगैकगम्य' उन्हें प्राप्त करते हैं। यदि कालके व्यवधानसे वह परम्परा उच्छिन्न होने लगती है और सामान्य जनता यहाँतक कि देवादि भी संकटमें पड़ जाते हैं तो पुनः वे ही कृपाकर किसी उपासकके द्वारा उस परम्पराको पुनर्जीवित करा देते हैं, जैसे उन्होंने द्वापरमें अपने प्रिय भक्त एवं योगी अर्जुनको पुनः उज्जीवित कराया था—

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

(गीता ४।३)

वे बार-बार समझाते हुए अर्जुनको योगी बननेके लिये प्रेरित करते हैं— '**तस्माद्योगी भवार्जुन।**'

इस प्रकार सभी शास्त्रोंके अनुसार साक्षात् भगवान् नारायण समस्त योगमार्गोंके आदिप्रवर्तकके रूपमें सिद्ध होते हैं, क्योंकि ब्रह्माजीके भी हृदयमें प्रेरणाकर उनके मुखोंसे वेदादि सभी शास्त्रोंके उच्चारण एवं ज्ञान करानेवाले भी वे ही कहे गये हैं—

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यतः
स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम्॥

(श्रीमद्भा० २।४।२२)

'जिन्होंने सृष्टिके समय ब्रह्माके हृदयमें पूर्वकल्पकी स्मृति जागरित करनेके लिये ज्ञानकी अधिष्ठात्री देवीको प्रेरित किया और वे अपने अङ्गोंके सहित वेदके रूपमें उनके मुखसे प्रकट हुई, वे ज्ञानके मूलकारण भगवान् मुझपर कृपा करें, मेरे हृदयमें प्रकट हों।'

सभी योगशास्त्रियोंका भी प्रायः उपर्युक्त ही आशय है और वे 'हिरण्यगर्भ' शब्दसे उन्हीं परमात्माको व्यक्त करना चाहते हैं और योगशास्त्रका सार-सर्वस्व-तत्त्व प्रणव भी उन्हींका वाचक है। महर्षि पतञ्जलि महाराजने भी योगसूत्रमें कहा है—'**तस्य वाचकः प्रणवः।**' समस्त योग आदि साधनोंके द्वारा प्राप्य भी वे ही हैं और उन्हींकी प्राप्तिमें सभी प्राप्य तत्त्वोंकी प्राप्ति और परम नैष्ठिकी शान्तिकी भी प्राप्ति हो जाती है। वे अहैतुकी कृपाके कारण भक्तों और साधकोंके कल्याणके लिये अनेक अवतारोंको भी धारण करते हैं और योग-साधनके द्वारा अपने स्वरूपको प्राप्त कराकर विश्वका परम उपकार करते हैं। यहाँतक कि उनके चरित्रों और नामोंका श्रद्धापूर्वक गान करके भी साधक योगमार्गको प्राप्तकर उनके चरणोंतक पहुँच जाते हैं और कृतकृत्य हो जाते हैं।

मन, वाणी और कर्मसे प्राणिमात्रके साथ अद्रोह, सबपर कृपा और दान, यही साधु पुरुषोंका सनातन धर्म है।—महाभारत

सनकादि योगीश्वर

सृष्टिके प्रारम्भमें लोकपितामह ब्रह्माजीने विविध लोकोंको रचनेकी इच्छासे तपस्या की। स्रष्टाके उस अखण्ड तपसे प्रसन्न होकर विश्वाधार परम प्रभु नारायणने तप अर्थवाले 'सन' नामसे युक्त होकर ब्रह्माजीके मानस-पुत्रके रूपमें—सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चार निवृत्ति-परायण ऊर्ध्वरेता मुनियोंके रूपमें अवतार ग्रहण किया। ये प्राकट्यकालसे ही योगमार्गपरायण, ब्रह्मज्ञानी, नित्यसिद्ध, विरक्त और साक्षात् पूर्णतम परमात्माके अवतार हैं। ये चारों प्रायः एक ही साथ रहते हैं तथा एक ही साथ **'हरिः शरणम्'** का हरिनामकीर्तन करते हुए, लोककल्याण करते हुए सर्वत्र विचरण करते रहते हैं। इनकी अवस्था सदा पाँच वर्षकी ही रहती है। काम-रागादिसे सदा दूर रहनेके लिये इन्होंने योगमय शिशुका शरीर धारण कर रखा है और ये सदा योग एवं ब्रह्मज्ञानके प्रभावसे ब्रह्मानन्दमें लीन रहा करते हैं—

ब्रह्मानंद सदा लयलीना। देखत बालक बहु कालीना॥
रूप धरें जनु चारिउ बेदा। समदरसी मुनि बिगत बिभेदा॥

(रा० च० मा० ७। ३२। ४-५)

ये चारों कुमार सदा ही श्रीमद्भगवद्गीताके **'समत्वं योग उच्यते'**, **'पण्डिताः समदर्शिनः'**, **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** तथा **'येषां साम्ये स्थितं मनः'** इत्यादि नियमोंके मूर्तिमान् स्वरूप, भेददृष्टिसे शून्य केवल एक ब्रह्मदृष्टि होकर योगानन्दसे संतृप्त रहते हैं।

ये चारों कुमार न केवल योगमार्गके अपितु भक्तिमार्गके भी मुख्य आचार्य हैं। कुमारोंकी जन्मजात रुचि भगवान्के नाम तथा गुणका कीर्तन करने, भगवान्की लीलाओंका वर्णन करने एवं उन पावन लीलाओंको सुननेमें थी। भगवान्को छोड़कर एक क्षणके लिये भी उनका चित्त संसारके किसी विषयकी ओर जाता ही नहीं। ये चारों भगवान्के दिव्य गुण एवं मङ्गलमय चरित सुननेके लिये सदा उत्कण्ठित रहते हैं। स्वयं भी ये परस्पर एकको वक्ता बनाकर अन्य तीनों श्रोता बनकर सत्सङ्ग करते रहते हैं। ये पातालमें भगवान् शेष तथा कैलासमें भगवान् शङ्करजीके पास जा-जाकर उनके मुखसे भगवान्की लीलाओंका आस्वादन करते रहते हैं।

इनके उपदेशोंसे अनेकों व्यक्तियोंका कल्याण-साधन हुआ है। आदिराज महाराज पृथु, जिनके नामपर यह पृथ्वी है, को उन्होंने अद्भुत योगज्ञानका उपदेश दिया । महात्मा शुकदेव और भीष्मजीको इन्होंने अध्यात्मविद्याका सदुपदेश प्रदान किया। इन्होंने देवर्षि नारदजीकी शङ्काओंके उत्तरके रूपमें सम्पूर्ण नारदपुराणका वर्णन किया, जो राजयोग, मन्त्रयोग, लययोग तथा भक्तियोगसे परिपूर्ण है। इन्हींसे सम्पूर्ण भागवत-माहात्म्यका उपदेश नारदजीको प्राप्त हुआ। अनेक उपनिषदोंमें भी नारदजीके प्रश्न करनेपर कुमारोंने उन्हें योग, भक्ति एवं ब्रह्मज्ञानका रहस्य समझाया है।

इस प्रकार ज्ञान, योग, वैराग्य, नाम-जप एवं भगवच्चरित्र सुननेकी अबाध उत्कण्ठा और विश्वके कल्याणकी कामनाका आदर्श ही इन योगीश्वरोंका स्वरूप है। ये अजर-अमर हैं और अधिकारी भक्तों, साधु-संतों एवं साधकोंको आज भी दर्शन देकर कृतार्थ करते रहते हैं।

महायोगी महर्षि मार्कण्डेय

भृगुकुलमें उत्पन्न हुए महायोगी मार्कण्डेय महर्षि मृकण्डुके पुत्र हैं। यज्ञोपवीत-संस्कार हो जानेपर ये अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत धारणकर वेदाध्ययन करने लगे और वेद-पारङ्गत होकर तप, योग-साधना और स्वाध्यायमें लग गये। इन्होंने दस करोड़ वर्षकी दीर्घकालीन तपस्या एवं योगचर्याके द्वारा श्रीहरिकी आराधना करके दुर्जेय कालको भी जीत लिया। उनके इस प्रकार मृत्युको जीत लेनेपर ब्रह्मा, शिव, भृगु, दक्ष और नारदादिको बड़ा आश्चर्य हुआ। इस प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत एवं योगमार्गका आश्रयण कर भगवान् अधोक्षजका ध्यान करते हुए महायोगीको छः मन्वन्तरका काल बीत गया। वैवस्वत नामके सातवें मन्वन्तरमें पुरन्दर नामके इन्द्रको उनकी यौगिक तपश्चर्यासे भय होने लगा कि कहीं ये मेरे ऐन्द्र-पदको छीन न लें, इसलिये उन्होंने मुनिको योगमार्गसे डिगानेके लिये गन्धर्व तथा अप्सराओंका सहयोग

लिया, किंतु वे निष्फल रहे। भगवान् नारायण प्रसन्न होकर वर देनेके लिये मुनिके पास आये और वर माँगनेके लिये कहा। इसपर गद्‌गद हो मार्कण्डेयजी बोले—'भगवन्! आपने कृपा करके मुझे अपने दर्शनसे कृतार्थ किया, इससे बढ़कर मैं कौन-सा वर आपसे माँगू? तथापि मेरी इच्छा है कि आपकी जिस मायासे यह सत्-वस्तु भेदयुक्त प्रतीत होती है, उस मायाको मैं देखना चाहता हूँ।' नर-नारायण 'तथास्तु' कहकर बदरिकाश्रम चले गये।

सहसा एक दिन ऋषिने देखा कि आकाशमण्डलमें काले-काले मेघ उमड़ आये हैं। थोड़ी ही देरमें मूसलाधार वर्षा शुरू हो गयी। प्रलयकालीन वर्षासे सर्वत्र पृथ्वी जलसे ढक गयी। चारों ओर जल-ही-जल हो गया। मार्कण्डेयजी उस महासमुद्रमें विक्षिप्त-से तैरने लगे। उस अनन्त महार्णवमें वे भयंकर जीव-जन्तुओंसे पीड़ित होने लगे। वायु और जलके थपेड़ोंसे उनका शरीर जर्जरित हो गया। उन्हें भूख-प्यास सताने लगी। इस प्रकार भगवान्‌की मायासे मोहित मार्कण्डेयजीको उस प्रलय-पयोधिमें दीर्घ समय व्यतीत हो गया। मायाके वशीभूत वे कुछ समझ ही नहीं पा रहे थे। जब उन्हें भगवान्‌का स्मरण हुआ, तो उसी समय उन्होंने देखा कि उस महाप्रलय-समुद्रमें एक महावटवृक्षके पत्तेके दोनेमें भगवान् बालमुकुन्द अपने हाथोंकी अँगुलियोंसे दाहिने चरणको पकड़कर उसके अँगूठेको मुखमें लिये चूस रहे हैं, उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, वे उनकी स्तुति करने लगे—

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं शिरसा नमामि ॥

—उन्हें गोदमें लेनेके लिये वे लालायित हो उठे और ज्यों ही उनके पासमें पहुँचे त्यों ही बालमुकुन्दके श्वास खींचते समय उनकी नासिकाके छिद्रसे उदरमें प्रविष्ट हो गये। भगवान्‌की लीलावश उन्हें उदरमें ही सारा ब्रह्माण्ड तथा अपना आश्रम आदि सभी कुछ दिखायी पड़ा। यह सब देखकर वे चकित हो गये, उन्होंने नेत्र बंद कर लिये। भगवान्‌की मायासे पुनः वे श्वासके साथ बाहर निकल पड़े और उसी प्रलय-पयोधिमें तैरने लगे। उन्हें वही वटवृक्ष और वही अद्‌भुत सौन्दर्यघन शिशु दिखलायी पड़े। अब मुनिने उन्हींसे इस आश्चर्यके विषयमें पूछना चाहा, परंतु लीलापुरुषोत्तम भगवान् बालमुकुन्द अन्तर्धान हो गये। उनके अन्तर्धान होते ही वह प्रलय-समुद्र भी क्षणभरमें विलीन हो गया और मुनिने देखा कि वे तो अपने आश्रमके पास ही पूर्ववत् स्थित हैं। उन्होंने मन-ही-मन भगवान् योगेश्वरकी मायाशक्तिको प्रणाम किया और पुनः भगवान्‌की भक्ति और तपश्चर्यामें लग गये।

महायोगी मार्कण्डेयपर भगवान् शङ्करकी अद्भुत कृपा थी। उन्होंने मृत्युञ्जय-स्तोत्रके पाठद्वारा भगवान् शङ्करको प्रसन्न कर कालपर विजय प्राप्त कर ली थी।

मार्कण्डेयजी भगवान्‌की कृपासे ब्रह्माजीकी आयुके बराबर दीर्घायु-प्राप्त पूर्ण सिद्ध महायोगी हैं। इसलिये दीर्घ आयुकी कामनाके लिये जन्मोत्सव—वर्धापन आदि संस्कारोंमें इनका विशेष पूजन होता है। योगियोंके अन्तर्गत उनका सम्प्रदाय 'मार्कण्डेयी योग' के नामसे विशेष रूपसे प्रसिद्ध है। मार्कण्डेयपुराणमें इनके द्वारा वर्णित योगका स्वरूप प्रायः ज्ञानयोगसे सम्बद्ध है और उसकी प्रक्रिया राजयोगसे मिलती है।

महामुनि मार्कण्डेयजीने हजार-हजार युगोंके अन्तमें होनेवाले अनेक महाप्रलयोंके दृश्य देखे हैं। जब यह संसार देवता, दानव तथा अन्तरिक्ष आदिसे शून्य हो जाता है, उस प्रलयकालमें केवल ये अपनी यौगिक साधनाके प्रभावसे ब्रह्माजीके पास रहकर उनकी उपासना करते हैं। इन्होंने तत्परतापूर्वक चित्तवृत्तियोंका निरोध करके ब्रह्माजीकी आराधना की है और घोर तपस्या एवं योग-साधनाद्वारा मरीचि आदि प्रजापतियोंको भी जीत लिया है। ये भगवान् नारायणके समीप रहनेवाले भक्तोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं। परलोकमें इनकी महिमाका सर्वत्र गान होता है। इन्होंने सर्वव्यापक परब्रह्मकी उपलब्धिके स्थानभूत हृदयकमलकी कर्णिकाका यौगिक कलासे अलौकिक उद्‌घाटन कर वैराग्य और अभ्याससे प्राप्त हुई दिव्य दृष्टिद्वारा भगवान्‌का अनेक बार साक्षात्कार किया है। इसलिये सबको मारनेवाली मृत्यु तथा शरीरको जर्जर बना देनेवाली जरा इनका स्पर्श नहीं करती। ऐसे अमर महायोगीजीकी जितनी महिमा गायी जाय वह कम ही है।

योग-वेदान्तके उपदेष्टा महर्षि वसिष्ठ

ब्रह्मशक्तिके मूर्तिमान्-स्वरूप तपोनिधि महर्षि वसिष्ठजीके कल्याणकारी दिव्य चरित्रों, उनकी योगचर्चाओं एवं सदुपदेशोंसे पुराणेतिहास तथा धर्मशास्त्रादि ग्रन्थ भरे पड़े हैं। पुराणोंमें इनके आविर्भावकी अनेक कथाएँ हैं। सृष्टिके आरम्भमें प्रथम कल्पमें ये ब्रह्माजीके मानस-पुत्रके रूपमें उद्भूत हुए। कहीं-कहीं ये मित्रावरुणके पुत्र मैत्रावारुणि तथा कहीं अग्निके पुत्र आग्नेय कहे गये हैं। कल्पभेदसे ये सभी बातें ठीक हैं। महर्षि वसिष्ठ सप्तर्षियोंमेंसे एक हैं और इनकी पत्नी अरुन्धतीदेवी पतिव्रताओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, उनका इनसे कभी वियोग नहीं होता और सप्तर्षि-मण्डलमें वसिष्ठजीके साथ माता अरुन्धती भी नित्य विद्यमान रहती हैं।

सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीद्वारा यह ज्ञात होनेपर कि आगे चलकर सूर्यवंशमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम अवतरित होंगे, इन्होंने सूर्यवंशका पौरोहित्य कर्म करना स्वीकार कर लिया। जब कभी अनावृष्टि-अतिवृष्टि होती, तब ये अपने योगबलसे, तपोबलसे उसको दूर कर देते। निराश राजा भगीरथ आपकी ही कृपासे गङ्गाको लानेमें समर्थ हो सके। महाराज दिलीपके कोई संतान नहीं होती थी, आपने ही उन्हें संतान-प्राप्तिके लिये गो-सेवाका व्रत बतलाया था। राजा दशरथके पुत्रेष्टि-यज्ञ तथा भगवान् श्रीरामादिके अवतारोंमें आप सहयोगी बने थे।

महर्षि वसिष्ठजीका योगबल अत्यन्त अद्भुत था। एक दिन महातपस्वी एवं महान् शक्तिसम्पन्न महाराज विश्वामित्र ससैन्य इनके आश्रममें पधारे। महर्षिने ससैन्य इनका आतिथ्य किया। वहाँ 'सरला' गौका अद्भुत प्रभाव देखकर विश्वामित्रजी लोभमें आकर उसका अपहरण कर ले जानेकी चेष्टा करने लगे। पर तब भी ये शान्त बने रहे। इनकी आज्ञा पाकर 'सरला'ने अपने शरीरसे असंख्य खसों, शकों, पुलिन्दों तथा वर्वरोंको उत्पन्न किया, उन्होंने इनकी सेनाको ध्वस्त कर डाला। लज्जित होकर विश्वामित्रजी हिमालयपर जाकर घोर तपस्यामें लग गये। भगवान् शङ्कर एवं ब्रह्माजीके वरसे विश्वामित्रजीने दिव्य धनुर्वेद-विद्याके ज्ञानके साथ ही अद्भुत बल-पराक्रम और रौद्रास्त्र, आग्नेयास्त्र, पर्वतास्त्र तथा पर्जन्यास्त्र आदि अनेक अस्त्र-शस्त्रोंको प्राप्त किया।

विश्वामित्र ऐसी शक्ति प्राप्तकर वसिष्ठजीके आश्रममें आये और उत्पात करने लगे, किंतु वसिष्ठजीने क्षमाके मार्गका आश्रयणकर अपने योगबलसे अपने ब्रह्मदण्डको पृथ्वीपर गाड़ दिया, जिसपर विश्वामित्रजीके सभी अस्त्र-शस्त्र समा गये। तब वे क्षत्रियबलको धिक्कृत करते हुए कह उठे—

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे॥

अन्ततः लज्जित होकर ये ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेके लिये तपस्या करने लगे। एक बार विश्वामित्रजीने इनके सौ पुत्रोंका नाश कर डाला, तब भी इन्हें तनिक रोष न आया। क्योंकि महर्षि वसिष्ठजी क्षमा एवं तपकी प्रतिमूर्ति तो थे ही। एक दिन रात्रिमें छिपकर विश्वामित्र जब इनके अनिष्टकी इच्छासे इनके पास आये तो इन्हें अपनी पत्नीसे अपने तपकी प्रशंसा करते हुए सुनकर अत्यन्त पश्चात्ताप करने लगे और वे शस्त्र फेंककर महर्षिके चरणोंपर गिर पड़े। वसिष्ठजीने उन्हें क्षमा कर हृदयसे लगा लिया और 'ब्रह्मर्षि' स्वीकार किया।

इस प्रकार अपने घोर प्रतिद्वन्द्वीके साथ अपूर्व क्षमा एवं उपकारका भाव इनके अद्भुत योगज्ञानका ही प्रभाव था। इन्हीं सब पुण्यों एवं साधनाओंका प्रभाव था कि ये समस्त रघुकुलमें उत्पन्न रघु, दिलीप आदि धर्मात्मा राजाओंके कुलगुरु बने रहे और पूर्ण ब्रह्मके अवतार भगवान् श्रीराम तथा साक्षात् लक्ष्मीस्वरूपा भगवती सीता एवं उनके अंशभूत भाइयों तथा महाराज जनक-जैसे योगियोंके भी आराध्य बन गये। महर्षि वसिष्ठ मनुष्यों तथा सभी देवता, ऋषि-महर्षि एवं योगिजनोंके परम उपास्य हैं। अरुन्धतीके साथ सप्तर्षि-मण्डलमें स्थित होकर ये आज भी सारे जगत्के कल्याणमें लगे हुए हैं।

भगवान् श्रीरामको महर्षि वसिष्ठद्वारा उपदिष्ट 'योगवासिष्ठ' नामक ग्रन्थ योग-वेदान्तका विशिष्ट ग्रन्थ है। इसमें वैराग्य, मुमुक्षु-व्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम तथा निर्वाण—ये छः प्रकरण हैं। इस ग्रन्थमें प्रायः सर्वत्र ब्रह्मस्वरूपावस्थितिकी ही बातें वर्णित हैं और ज्ञानकी सात भूमिकाएँ विचाररूपमें निर्दिष्ट हैं तथा प्राणायाम आदि क्रियाओंको भी बार-बार सरल ढंगोंसे समझाकर साधकोंको

योगसिद्धितक पहुँचनेके लिये सुगम मार्ग बताया गया है। इस ग्रन्थकी यह विशेषता है कि इसके कई बार आलोडन-मनन करनेसे मनुष्यको सारी योग-सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं और वह ब्रह्मका साक्षात्कारतक करनेमें समर्थ हो जाता है।

महर्षि वसिष्ठजीके उपदेशोंका सार यह है कि हृदयसे वासनाजालके सर्वथा उच्छिन्न हो जानेपर प्राण अपने-आप नियमित और शान्त होकर समाधिकी ओर प्रवृत्त हो जाते हैं अथवा यदि विधिपूर्वक प्राणायाम किया जाय तो वासनाजाल क्षीण होकर समाधि तथा ब्रह्म-साक्षात्कारकी स्थिति होने लगती है। विचार और मननके द्वारा संसार ब्रह्मरूपमें परिवर्तित दिखायी देता है। यदि मन मनन करना छोड़ दे और मनोरथोंसे सर्वथा दूर हट जाय तो मोक्ष अपने-आप उपस्थित हो जाता है। मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन-मनन ही महान् क्लेश है। अतः आत्माके अवलोकनके लिये प्राणायाम और मनो-निरोधका आश्रय ग्रहणकर वासना-जालका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये।

योगशास्त्रके प्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि

महर्षि पतञ्जलि योगदर्शनके आद्य प्रवर्तक हैं। इनका विस्तृत चरित्र 'पतञ्जलिचरित' तथा 'लघुमुनित्रिकल्पतरु' में प्राप्त होता है। ऋषियोंके नामोंके अन्तर्गत महर्षि पतञ्जलिका नाम भी बड़े आदरसे लिया जाता है। व्याकरणके ग्रन्थोंके अनुसार ये अपने पिताकी अञ्जलिमें अर्घ्यदान करते समय दिव्य रूपसे ऊर्ध्वलोकसे आ गिरे, अतः इनका नाम पतञ्जलि पड़ा। यह इनके योगके प्रभावका ही मूर्त रूप था। इनकी कृतियाँ यद्यपि अनेक हैं, पर योगदर्शन सबसे मुख्य है। योगका यह आधारभूत ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ सूत्रात्मक है। यह चार पादोंमें विभक्त है। प्रथम समाधिपादमें ५१, द्वितीय साधनपादमें ५५, तृतीय विभूतिपादमें ५५ तथा अन्तिम कैवल्यपादमें ३४—इस प्रकार कुल ११५ सूत्र हैं। व्याकरण महाभाष्य सबसे बड़ा ग्रन्थ है। वैदिक उपनिदानसूत्र तथा आयुर्वेदकी चरकसंहिता भी इन्हींकी रचनाके रूपमें विद्वत्परम्परामें मान्य है—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

इनके योगदर्शनमें स्वयं भगवान् वेदव्यासका भाष्य प्राप्त होता है, जो सांख्य-प्रवचन-भाष्यके नामसे प्रसिद्ध है। परवर्ती टीकाएँ तो अनेक हैं। जब भगवान् वेदव्यासजीको भाष्यसे संतोष नहीं हुआ तो उन्होंने पुराणोंमें भी इस योगका संनिवेश किया। लिङ्गादि पुराणोंमें योगदर्शनका पद्यबद्ध अनुवाद प्राप्त होता है। इससे इनकी योगाचार्यता और आदि प्रवक्ताके रूपमें प्रतिष्ठापित होना प्राचीन कालसे ही सर्वमान्य रहा है।

योगदर्शन अत्यन्त प्राचीन दर्शन है और इससे सभी प्रकारके आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक सिद्धियोंके लाभ प्राप्त होते हैं। साधक सरलतासे देवताओंका सांनिध्य प्राप्तकर उनसे पूरा लाभ उठा सकता है—

'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः'

(योग० सू० २।४४)

साधक थोड़ी तन्मयतासे भी अपने सभी पूर्वजन्मों तथा आगे आनेवाली अवस्थाओं एवं मुक्तितकका ज्ञान प्राप्त कर लेता है—**'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः'** (योग० सू० २।३९) और विधिपूर्वक साधनासे देवताओंके बीचमें विचरने तथा आकाशगमन आदिकी सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं। जाग्रत्-अवस्थाओंकी साधनाओंका स्वप्नादि-अवस्थाओंपर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। यदि शान्त मन और विवेकके द्वारा उन स्वप्नोंकी गुत्थियोंको समझ सकें अथवा स्वप्नमें दीखे हुए देवता-पितर, ऋषि-मुनि, संतों या देवियोंका श्रद्धापूर्वक ध्यान-आराधना करें तो वे उसे अपार सहायता पहुँचाते हैं और उसे सभी प्रकारका दिव्य ज्ञान और मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है—**'स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा'** (यो० सू० १।३८)।

संक्षेपमें महर्षि पतञ्जलिने साधकको स्वरूपमें स्थिति होनेकी युक्ति बतलायी है और अन्तःसाक्ष्यसे अर्थात् उनके ग्रन्थोंके प्रमाणोंसे स्पष्ट होता है कि वे अजर-अमर और सभी सिद्धियोंसे समायुक्त थे। केवल लोकोपकारके लिये ही उन्होंने ग्रन्थका प्रणयन किया, जिससे व्यास, शुकदेव, गौडपादाचार्य और शंकराचार्य एवं अन्य आचार्य भी अत्यन्त प्रभावित हुए। आचार्य व्यासने पुराणोंके अतिरिक्त ब्रह्मसूत्रके चौथे अध्यायमें योगपादका संनिवेश किया है, जो योगदर्शनपर ही आधृत है।

जैसे '**स्थिरसुखमासनम्**' के स्थानपर '**आसीनः सम्भवात्**' आदि सूत्र ठीक उसी प्रक्रियामें सभी साधनोंको निर्दिष्ट करते हुए मोक्षतक ले जाते हैं, जिसपर शंकराचार्य आदिके विलक्षण भाष्य हैं।

महर्षि पतञ्जलिद्वारा निर्दिष्ट यम-नियमादि कोई एक भी साधन ठीक ढंगसे आरम्भ करनेपर भगवत्कृपासे योगकी स्वयं साधकमें प्रवृत्ति हो जाती है। योग-प्रवृत्तियोंके प्रथम लक्षणमें भगवान् पतञ्जलिने स्वयं ज्योतिष्मती, गन्धवती, स्पर्शवती, रूपवती एवं रसवती—इन पाँच योगप्रवृत्तियोंमेंसे किसी एकका लक्षण प्रकट हो जानेसे योगशक्तिमें उसके प्रवेशका लक्षण बतलाया तथा उसे सभी देवी-देवता, दिव्य पदार्थ, शास्त्र आदिके वचनोंमें, परलोकमें पूर्ण विश्वास हो जाता है। इससे उसका शीघ्र कल्याण हो जाता है। इसीलिये थोड़ा भी इस योगचर्यामें चलना महान् कल्याणकारी बतलाया गया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् योगेश्वरका कथन है—'**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥**' इस योगका प्रभाव भारत ही नहीं, सम्पूर्ण विश्वमें शनैः-शनैः प्रचलित हो गया, जिसका मूलतः श्रेय महर्षि पतञ्जलिको है। योगदर्शनमें कोई अनुचित तथा हानिकारक वस्तु है ही नहीं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, त्यागकी वृत्ति, पवित्रता, स्वाध्यायका अभ्यास तथा विश्वप्रेमकी बात सभी धर्मोंमें मिलती है और वही योगका प्रारम्भिक उपदेश है यह सभीको मान्य है। हम सभीका यह पुनीत कर्तव्य है कि महर्षि पतञ्जलिके बताये योगमार्गका आश्रयण कर हम अखण्ड शान्ति एवं परम आनन्द-प्राप्तिकी ओर अग्रसर हों। इसीमें मनुष्य-जन्मकी सच्ची सार्थकता है।

योगके परम आचार्य ऋषिवर घेरण्ड

योगाचार्योंकी परम्परामें घेरण्ड ऋषि अत्यन्त प्राचीन योगी माने गये हैं। चण्डकपालि नामक एक धर्मात्मा राजाके प्रश्न करनेपर उन्होंने ज्ञान-विज्ञानमिश्रित हठयोगशास्त्रका उन्हें उपदेश किया था। उनके उपदेशोंके ही संग्रहका नाम घेरण्डसंहिता है। यह योगशास्त्र मुख्यतः हठयोगविद्याका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके आरम्भमें ही इन ऋषिवर घेरण्डजीका कथन है कि सामान्य प्राणी घटी-यन्त्रकी भाँति अपने कर्मानुसार ऊर्ध्व एवं अधःलोकोंमें निरन्तर भ्रमण करता रहता है और उसे कहीं भी शान्ति नहीं मिलती, किंतु जब योगसाधनाके द्वारा वह कभी परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है, तब उसे सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-दर्शन प्राप्त होनेसे पराशान्ति-लक्षणा कैवल्यमुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

तथा योगं समासाद्य तत्त्वज्ञानं च लभ्यते ॥

(घेरण्ड० १।५)

इसके लिये उसे हठयोगकी प्रक्रियाके अभ्यासद्वारा घटरूपी शरीरको शुद्ध करना पड़ता है। योगाभ्याससद्वारा इस घटकी शुद्धिके लिये उन्होंने सात मुख्य साधन बतलाये हैं—

शोधनं दृढता चैव स्थैर्यं धैर्यं च लाघवम्।
प्रत्यक्षं च निर्लिप्तं च घटस्थसप्तसाधनम् ॥

(घेरण्ड० १।९)

१-शोधन—देहको शुद्ध करना, २-दृढ़ता, ३-स्थैर्य—एक-समान सदा देहका स्थिर रहना, ४-धैर्य—कभी घबड़ाना नहीं, ५-लाघव—हलकापन, ६-प्रत्यक्ष—आँख आदि इन्द्रियोंसे देखना, छूना आदि तथा ७-निर्लिप्त—आसक्तिरहित होना—ये सात साधन हैं।

इन सातोंकी सिद्धिके लिये भी वे पुनः सात प्रक्रियाएँ बतलाते हुए कहते हैं कि षट्कर्मों (धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक एवं कपालभाति) से शोधन, आसनसे दृढ़ता, मुद्रासे स्थिरता और प्रत्याहारके द्वारा धीरता होती है। प्राणायामसे लाघव और ध्यान तथा समाधिसे परमात्माका दर्शन होता है, पुनः इससे पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होकर जीवन्मुक्ति या पूर्ण शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

अपने ग्रन्थमें आचार्य घेरण्ड इन्हीं षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायामकी विस्तृत विधि बताते हैं और उनकी दृष्टि योगभक्ति तथा वेदान्त-शास्त्रकी उपलब्धियोंका चरम फल—सर्वत्र भगवद्दर्शनमें पर्यवसित होती है। वे कहते हैं कि सिद्ध योगीको योग-सिद्धावस्थामें सम्पूर्ण विश्वमें और अपने शरीरके अंदर-बाहर सर्वत्र विष्णुका ही दर्शन होने लगता है। वस्तुतः जलमें, स्थलमें, पर्वतकी चोटियों तथा ज्वालामालाओंमें एवं सर्वत्र विष्णु ही व्याप्त हैं। अतः सम्पूर्ण

विश्वको ब्रह्ममय और उसे अपनी आत्मामें भी स्थित देखना चाहिये। यही आचार्य घेरण्डकी योगचर्याओं और योगोपदेशोंका सारांश है। उनके मूल वचन इस प्रकार हैं—

जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके।
ज्वालामालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत्॥
सर्वं ब्रह्म विजानीयात् सर्वं पश्यति चात्मनि॥

योगशक्ति-स्वरूपा सती माता

पतिव्रता स्त्रियोंमें सबसे पहले दक्ष-कन्या सतीका नाम लिया जाता है। वे साध्वी स्त्रियोंकी आदर्श हैं।

ब्रह्माजीके नौ मानसपुत्रोंमें प्रजापति दक्ष बहुत प्रसिद्ध हैं। इनकी उत्पत्ति ब्रह्माजीके दाहिने अँगूठेसे हुई थी। ब्रह्माजीके आदेशासे दक्षने आराधना करके भगवती सतीको पुत्रीरूपमें प्राप्त किया। सतीका हृदय बचपनसे ही भगवान् शङ्करकी ओर आकृष्ट था। वह नियमपूर्वक महादेवजीकी आराधना करने लगी। यहाँतक कि उसके मन-प्राण भगवान् शङ्करके लिये व्याकुल रहने लगे। सतीकी यह साधना आगे चलकर कठोर तपस्याके रूपमें परिणत हो गयी।

उधर ब्रह्मा आदि देवता भगवान् शङ्करके पास गये और उनसे असुर-विनाशक पुत्रकी प्राप्तिके लिये दक्षकन्या सतीके साथ विवाह करनेका अनुरोध करने लगे। शिवने 'तथास्तु' कहकर देवताओंको विदा कर दिया।

सतीकी अखण्ड तपस्या देखकर भगवान् शङ्कर प्रसन्न होकर प्रकट-रूपसे उसके पास आये और कहने लगे—'दक्षकुमारी! मैं तुम्हारी आराधनासे बहुत संतुष्ट हूँ। बताओ, किसलिये तुमने इस कठोर योग-साधनाका व्रत लिया है?'

सती बोलीं—देवाधिदेव! आप घट-घटवासी हैं, मेरी अभिलाषा आपसे छिपी नहीं है। आप स्वयं ही आज्ञा दें, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? सतीका यह अलौकिक प्रेम देखकर भगवान् शङ्करने उसके अभीष्टको सहर्ष स्वीकृति दे दी और यथासमय दक्ष प्रजापतिने ब्रह्माजी आदि देवताओंके सांनिध्यमें समारोहपूर्वक सतीका विवाह शिवजीके साथ कर दिया।

विवाहके पश्चात् सती माता-पितासे विदा हो पतिके साथ कैलासधाम चली गयीं। सतीके तन-मन और प्राण केवल शिवकी आराधनामें लगे रहते थे। उनके पति, प्राणेश और देवता सब कुछ भगवान् शिव ही थे।

एक बार त्रेतायुग आनेपर पृथ्वीका भार उतारनेके लिये श्रीहरिने रघुवंशमें अवतार लिया था। उस समय वे पिताके वचनसे राज्य त्याग करके तापस-वेषमें दण्डकवनमें विचरण कर रहे थे। इसी समय रावणने मारीचको कपटमृग बनाकर भेजा था और सूने आश्रमसे सीताको हर लिया था एवं श्रीरामजी साधारण मनुष्यकी भाँति विरहसे व्याकुल होकर लक्ष्मणजीके साथ वनमें सीताकी खोज कर रहे थे।

इसी अवसरपर भगवान् शङ्कर सतीदेवीको साथ लिये अगस्त्यके आश्रमसे रामकथाका आनन्द लेकर कैलासको लौट रहे थे। उन्होंने अपने आराध्यदेव श्रीरघुनाथजीको प्रणाम किया। उन्हें प्रणाम करते देख माता सतीके मनमें संदेह उत्पन्न हो गया कि शङ्करजी तो देवोंके भी देव महादेव हैं फिर भी सांसारिक प्राणियोंकी भाँति स्त्रीके लिये व्याकुल रामको ये अपना परम आराध्य कैसे मान रहे हैं? राम परमदेव नहीं हो सकते। सतीके मनोभावोंको समझकर भगवान् शङ्करने उन्हें बहुत समझाया। किंतु वह उपदेश उनके मनमें नहीं बैठा, तब शङ्करजी बोले—'यदि ऐसा नहीं है तो परीक्षा करके देख लो।' भोली-भाली सतीपर भगवान्‌की योगमायाका प्रभाव पड़ चुका था। सतीने खूब सोच-समझकर सीताका रूप धारण किया और आगे बढ़कर उस मार्गपर चलने लगीं जिधरसे श्रीरामचन्द्रजी आ रहे थे। सर्वज्ञ श्रीरामचन्द्रजीने सारी बात जानकर सीतारूपिणी सतीको प्रणाम किया। अपना और अपने पिताका नाम बतलाया तथा हँसकर पूछा—'देवि! शिवजी कहाँ हैं? आप वनमें अकेली क्यों विचर रही हैं?' अब तो सतीजी संकोचमें पड़ गयीं। वे भयभीत होकर शङ्करजीके पास लौट चलीं। उनके हृदयमें बड़ी चिन्ता हो गयी थी, वे सोचने लगीं—'हाय! मैंने स्वामीका कहना नहीं माना, अपना अज्ञान श्रीरामचन्द्रजीपर आरोपित किया। अब मैं उनको क्या उत्तर दूँगी।'

फिर वे बारंबार श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें प्रणाम करके उस स्थानकी ओर चलीं जहाँ शिवजी उनकी प्रतीक्षामें बैठे थे। निकट जानेपर शिवजीने हँसकर कुशल-समाचार पूछा और

कहा—'सच-सच बताओ, किस प्रकार परीक्षा ली ?' सतीने श्रीरघुनाथजीके प्रभावको समझकर भयके मारे अपने सीतारूप-धारण करनेकी बात छिपा ली। शङ्करजीने ध्यान लगाकर,सतीने जो कुछ किया था, वह सब जान लिया। फिर उन्होंने श्रीरामजीकी मायाको मस्तक झुकाया।

'सतीने सीताका वेष बना लिया,' यह जानकर शिवजीके मनमें बड़ा विषाद हुआ। उन्होंने सोचा—'अब यदि मैं सतीसे पत्नीकी भाँति प्रीति करता हूँ तो भक्तिमार्गका लोप हो जाता है और बड़ा अन्याय होता है। सती परम पवित्र हैं, अतः इन्हें छोड़ते भी नहीं बनता और प्रेम करनेमें बड़ा पाप है।' महादेवजी प्रकटरूपसे कुछ नहीं कह सके, किंतु उनके हृदयमें बड़ा संताप था। तब उन्होंने श्रीरामको मन-ही-मन प्रणाम किया। भगवान्‌की याद आते ही उनके हृदयमें यह संकल्प उदित हुआ—***'एहिं तन सतिहि भेट मोहि नाहीं।'*** ऐसा निश्चय करके उन्होंने अखण्ड-समाधि लगा ली और सतीदेवीका परित्याग कर दिया। इसी बीच सतीके पिता दक्ष 'प्रजापति'के पदपर अभिषिक्त हुए। यह महान् अधिकार पाकर दक्षके हृदयमें बड़ा भारी अभिमान पैदा हो गया। उन्होंने ब्रह्मनिष्ठ महात्माओंको, जिनमें शङ्करजी भी थे, उपेक्षाकी दृष्टिसे देखना आरम्भ किया। यहाँतक कि शिवजीसे सम्बन्ध रखनेवाली अपनी पुत्री सतीके प्रति भी उनका भाव अच्छा नहीं रह गया। कुछ समय बाद एक बार प्रजापति दक्षने 'बृहस्पति-सव' नामक यज्ञका आयोजन किया। इस उत्सवमें प्रायः सभी ब्रह्मर्षि, देवर्षि, पितर, देवता आदि आमन्त्रित थे। सबने अपनी-अपनी पत्नीके साथ जाकर यज्ञोत्सवमें भाग लिया। सतीने देखा—कैलासशिखरके ऊपर आकाशमार्गसे विमानोंकी श्रेणियाँ चली जा रही हैं। उनमें देवता, यक्ष, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर, किन्नर आदि बैठे हैं। उनके साथ उनकी स्त्रियाँ भी हैं।

सतीने पूछा—'भगवन्! यह सब क्या है ? ये लोग कहाँ जा रहे हैं।' भगवान् शिवने मुसकराते हुए कहा—'तुम्हारे पिताके यहाँ बड़ा भारी यज्ञ हो रहा है। उसीमें ये लोग निमन्त्रित हैं।' पिताके यज्ञकी बात सुनकर सतीको कुछ हर्ष हुआ। उन्होंने सोचा—'यदि स्वामीकी आज्ञा हो तो यज्ञके ही बहाने कुछ दिन वहीं चलकर रहूँ।' यह विचारकर वे बोलीं—'देव ! पिताजीके घर यज्ञ हो रहा है तो उसमें मेरी अन्य बहनें भी अवश्य पधारेंगी। माता और पितासे मिले मुझे युग बीत गये। इस अवसरपर आपकी आज्ञा हो तो आप और मैं दोनों वहाँ चलें।'

शिवजी बोले—'यद्यपि वहाँ तुम्हारे माता-पिता हैं, परंतु बिना आमन्त्रणके वहाँ जाना ठीक नहीं है। यदि तुम मेरी बात न मानकर वहाँ जाओगी तो इसका परिणाम अच्छा न होगा।'

शङ्करजीने बहुत प्रकारसे समझाया-बुझाया, पर सतीका मन जानेको उद्यत था। तब महादेवजीने अपने प्रधान-प्रधान पार्षदोंको साथ देकर सतीको अकेली ही विदा कर दिया। सती पिताकी यज्ञशालामें पहुँचीं। किंतु वहाँ पिता-माताने सतीका किञ्चित् भी सत्कार नहीं किया, अपितु तिरस्कार ही किया। तब सतीको स्वामीकी कही हुई बातें याद आने लगीं।

उस यज्ञमें शिवजीके लिये कोई भाग न देखकर उनके मनमें बड़ा क्रोध हुआ। उनकी भौंहें तन गयीं, आँखें लाल हो गयीं और ऐसा जान पड़ा मानो वे सम्पूर्ण जगत्‌को भस्म कर डालेंगी। उन्होंने अनेक प्रकारसे पिताकी भर्त्सना की और शिवजीकी महत्ताका वर्णन करते हुए योगबलसे अपने शरीरको भस्म कर देना ठीक समझा।

यज्ञमण्डपमें देवी सती मौन हो उत्तरदिशामें योग-साधनामें बैठ गयीं। वे नेत्र बंद किये योगमार्गमें स्थित हो गयीं। पहले उन्होंने आसनको स्थिर किया, फिर प्राण और अपानवायुको एकरूप करके नाभिचक्रमें स्थापित किया। तदनन्तर उदानवायुको नाभि-चक्रसे धीरे-धीरे ऊपर उठाया और बुद्धिसहित हृदयमें स्थापित कर दिया, फिर हृदयस्थित वायुको वे कण्ठमार्गसे भृकुटियोंके बीच ले गयीं। उन्होंने अपने सम्पूर्ण अङ्गोंमें अग्नि और वायुकी धारणा की। इसके बाद वे अपने स्वामी जगद्गुरु भगवान् शिवके चरणारविन्द-मकरन्दका चिन्तन करने लगीं, उसके सिवा दूसरी वस्तुका उन्हें भान न रहा। उस समय उनका वह दिव्य देह, जो स्वभावसे ही निष्पाप था, तत्काल योगाग्निसे जलकर भस्म हो गया[१]।

१-ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम्। ददर्श देहो हतकल्मषः सती सद्यः प्रजज्वाल समाधिजाग्निना॥
(श्रीमद्भा० ४।४।२७)

इस प्रकार पतिप्राणा सतीकी ऐहलौकिक लीला पूर्ण हुई। उन्होंने जीवनभर सदा ही तन, मन, प्राणसे अपने पति भगवान् शिवकी सेवा और समाराधना की तथा अन्तमें भी उन्हींका चिन्तन करते-करते प्राण-त्याग किया। अन्त समय भी उन्होंने भगवान्‌से यही वर माँगा था कि 'प्रत्येक जन्ममें मेरा भगवान् शिवके ही चरणोंमें अनुराग हो।'[१] इसीलिये वे पुनः गिरिराज हिमालयके यहाँ पार्वतीके रूपमें प्रकट हुईं और भगवान् शङ्करको ही उन्होंने पतिरूपमें प्राप्त किया।

परमयोगी जगद्गुरु श्रीआदिशंकराचार्यजी

शङ्करावतार भगवान् श्रीशंकराचार्यके जन्म-समयके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद है। ईसासे पूर्व छठी शताब्दीसे लेकर नवीं शताब्दीपर्यन्त किसी भी समय इनका आविर्भाव हुआ था। कुछ विद्वानोंने यह प्रमाणित किया है कि आचार्यपादका जन्मसमय ईसासे लगभग चार सौ वर्ष पूर्व है। मठोंकी परम्परासे भी यही बात प्रमाणित होती है। केरल प्रदेशके पूर्णा नदीके तटवर्ती कालडी नामक गाँवमें बड़े विद्वान् और धर्मनिष्ठ ब्राह्मण श्रीशिवगुरुकी धर्मपत्नी श्रीसुभद्रामाताके गर्भसे वैशाख शुक्ल पञ्चमीके दिन इनका आविर्भाव हुआ था। इनके माता-पिता संतानहीन थे। उन्होंने बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे भगवान् शङ्करकी आराधना की। फलस्वरूप आशुतोष देवाधिदेव भगवान् शङ्कर प्रकट हुए और उन्हें एक सर्वगुणसम्पन्न पुत्ररत्न होनेका वरदान दिया। अन्ततः स्वयं भगवान् शङ्करको ही इन्होंने पुत्ररूपमें प्राप्त किया। नाम भी उनका शंकर ही रखा गया।

बालक शंकरके रूपमें कोई महान् विभूति अवतरित हुई है, इसका प्रमाण बचपनसे ही मिलने लगा। एक वर्षकी अवस्था होते-होते बालक शंकर अपनी मातृभाषामें अपने भाव प्रकट करने लगे और दो वर्षकी अवस्थामें मातासे पुराणादिकी कथा सुनकर कण्ठस्थ करने लगे। तीन वर्षकी अवस्थामें उनका चूडाकर्म करके उनके पिता स्वर्गवासी हो गये। पाँचवें वर्षमें यज्ञोपवीत करके उन्हें गुरुके घर पढ़नेके लिये भेजा गया और केवल सात वर्षकी अवस्थामें ही वे वेद, वेदान्त और वेदाङ्गोंका पूर्ण अध्ययन करके घर वापस आ गये। उनकी असाधारण प्रतिभा देखकर उनके गुरुजन दंग रह गये।

विद्याध्ययन समाप्त कर शंकरने संन्यास लेना चाहा, परंतु जब उन्होंने मातासे आज्ञा माँगी तो उन्होंने नहीं कर दी। शंकर माताके बड़े भक्त थे, उन्हें कष्ट देकर संन्यास लेना नहीं चाहते थे। एक दिन माताके साथ वे नदीमें स्नान करने गये। उन्हें एक मगरने पकड़ लिया। इस प्रकार पुत्रको संकटमें देख माताके होश उड़ गये। वह बेचैन होकर हाहाकार मचाने लगी। शंकरने मातासे कहा—'माँ! मुझे संन्यास लेनेकी यदि आज्ञा दे दो तो मगर मुझे छोड़ देगा।' माताने तुरंत आज्ञा दे दी और मगरने शंकरको छोड़ दिया। इस तरह माताकी आज्ञा प्राप्तकर वे आठ वर्षकी उम्रमें ही घरसे निकल पड़े। जाते समय माताकी इच्छाके अनुसार वह वचन दे गये कि तुम्हारी मृत्युके समय मैं घरपर उपस्थित रहूँगा।

घरसे चलकर शंकर नर्मदातटपर आये और वहाँ स्वामी गोविन्द भगवत्पादसे दीक्षा ली। गुरुने इनका नाम भगवत्पूज्य पादाचार्य रखा। इन्होंने गुरूपदिष्ट मार्गसे साधना आरम्भ कर दी और अल्पकालमें ही बहुत बड़े योगसिद्ध महात्मा हो गये। इनकी सिद्धिसे प्रसन्न होकर गुरुने इन्हें काशी जाकर वेदान्तसूत्रका भाष्य लिखनेकी आज्ञा दी और तदनुसार ये काशी आ गये। काशी आनेपर इनकी ख्याति बढ़ने लगी और लोग आकर्षित होकर इनका शिष्यत्व भी ग्रहण करने लगे। इनके सर्वप्रथम शिष्य सनन्दनके अवतार पद्मपादाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। काशीमें शिष्योंको पढ़ानेके साथ-साथ ये ग्रन्थ भी लिखते जाते थे। कहते हैं, एक दिन भगवान् विश्वनाथने चाण्डालके रूपमें इन्हें दर्शन दिये। ये इन्हें पहचान गये और फिर उन्हें प्रणाम किया, तदनन्तर भगवान् शङ्करने इन्हें ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखने और धर्मके प्रचार करनेका आदेश दिया। जब आप वेदान्तसूत्रपर भाष्य लिख चुके, तो एक दिन एक ब्राह्मणने गङ्गातटपर इनसे एक सूत्रका अर्थ पूछा। उस सूत्रपर ब्राह्मणके साथ इनका आठ दिनतक शास्त्रार्थ हुआ। पीछे इन्हें मालूम हुआ कि स्वयं भगवान् वेदव्यास ही ब्राह्मणके

१-सतीं मरत हरि सन बरु मागा। जनम जनम सिव पद अनुरागा॥ (श्रीरामचरितमानस)

रूपमें प्रकट होकर उनके साथ विवाद कर रहे हैं। तब इन्होंने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और अपनी धृष्टताके लिये क्षमा माँगी। फिर भगवान् वेदव्यासने इन्हें अद्वैतवादका प्रचार करनेकी आज्ञा दी और इनकी सोलह वर्षकी आयु बत्तीस वर्षकी कर दी।

इसके बाद इन्होंने काशी, कुरुक्षेत्र, बदरिकाश्रम आदिकी यात्रा की, विभिन्न मतवादियोंको परास्त किया और बहुतसे ग्रन्थ लिखे। प्रयाग आकर कुमारिलभट्टसे उनके अन्तिम समयमें भेंट की और उनकी सलाहसे माहिष्मतीमें मण्डनमिश्रके पास जाकर शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थमें मण्डनकी पत्नी भारती मध्यस्था थीं। अन्तमें मण्डनने शंकराचार्यका शिष्यत्व ग्रहण किया और उनका नाम सुरेश्वराचार्य पड़ा। तत्पश्चात् आचार्यने विभिन्न मठोंकी स्थापना की और उनके द्वारा औपनिषद सिद्धान्तकी शिक्षा-दीक्षा होने लगी।

एक बार एक कापालिकने आचार्यसे एकान्तमें प्रार्थना की कि 'आप तत्त्वज्ञ हैं, आपको शरीरका मोह नहीं, मैं एक ऐसी साधना कर रहा हूँ, जिसमें मुझे एक तत्त्वज्ञके सिरकी आवश्यकता है, यदि आप देना स्वीकार करें तो मेरा मनोरथ पूर्ण हो जाय।' आचार्यने कहा—'भाई! किसीको मालूम न होने पावे, मैं अभी समाधि लगा लेता हूँ, तुम सिर काट ले जाना।' आचार्यने समाधि लगायी और वह सिर काटनेवाला ही था कि पद्मपादाचार्यके इष्टदेव नृसिंह भगवान्ने ध्यान करते समय उन्हें सूचना दे दी और पद्मपादने आवेशमें आकर उसे मार डाला।

आचार्यने अनेकों मन्दिर बनवाये, अनेकोंको सन्मार्गमें लगाया और कुमार्गका खण्डन करके भगवान्के वास्तविक स्वरूपको प्रकट किया। इन्होंने मार्गमें सभी मतोंकी उपयोगिता यथास्थान स्वीकार की है और सभी साधनोंसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, ऐसा माना है। अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर ही वास्तविकताका बोध हो सकता है। अशुद्ध बुद्धि और मनके निश्चय एवं संकल्प भ्रमात्मक ही होते हैं, अतः इनके सिद्धान्तमें सच्चा ज्ञान प्राप्त करना ही परम कल्याण है और उसके लिये अपने धर्मानुसार कर्म, भक्ति अथवा और भी किसी मार्गसे अन्तःकरणको शुद्ध बनाते हुए वहाँतक पहुँचना चाहिये।

इनके बनाये हुए ग्रन्थोंकी बड़ी लंबी सूची है—ब्रह्मसूत्र शारीरक भाष्य, ईश, केन आदि उपनिषदोंके भाष्य, गीता, विष्णुसहस्रनामके भाष्य, ललितात्रिशती-भाष्य, पञ्चीकरण, आनन्दलहरी तथा विविध स्तोत्र-साहित्य इत्यादि। इनका सिद्धान्त अद्वैतवाद भी बड़ा ऊँचा तथा अधिकारी पुरुषोंके ही समझनेकी चीज है। भारतवर्षके सभी सम्प्रदाय इनके सिद्धान्तसे प्रभावित हैं। सभी विचारशीलोंने मुक्त स्वरसे इनके सिद्धान्तकी महत्ता गायी है। आज भी इनके अनुयायियोंमें बहुत-से सच्चे विरक्त योगी एवं ज्ञानी पाये जाते हैं।

योगिराज श्रीगोरखनाथ

एक बार गुरु मत्स्येन्द्रनाथ घूमते-घूमते अयोध्याके पास 'जयश्री' नामक नगरमें गये। वहाँ वह भिक्षा माँगते हुए एक ब्राह्मणके घर पहुँचे। ब्राह्मणीने बड़े आदरके साथ उनकी झोलीमें भिक्षा डाल दी। ब्राह्मणीके मुखपर पातिव्रतका अपूर्व तेज था। उसे देखकर मत्स्येन्द्रनाथको बड़ी प्रसन्नता हुई। परंतु साथ ही उन्हें उस सतीके चेहरेपर उदासीकी भी एक क्षीण रेखा दिखायी पड़ी। जब उन्होंने इसका कारण पूछा तो उस सतीने निस्संकोच-भावसे उत्तर दिया कि संतान न होनेसे संसार फीका जान पड़ता है। मत्स्येन्द्रनाथने तुरंत झोलीसे थोड़ी-सी भभूत निकाली और ब्राह्मणीके हाथपर उसे रखते हुए कहा—'इसे खा लो, तुम्हें पुत्र प्राप्त होगा।' इतना कह वे तो वहाँसे चले गये। इधर ब्राह्मणीकी एक पड़ोसिन स्त्रीने जब यह बात सुनी तो उसने कई तरहके डर दिखलाकर उसे भभूत खानेसे मना कर दिया। फलस्वरूप उसने भभूत एक गड्ढेमें फेंक दी। बारह वर्ष बाद मत्स्येन्द्रनाथ उधर पुनः वापस आये और उन्होंने उस घरके द्वारपर जाकर 'अलख' जगाया। ब्राह्मणीके बाहर आनेपर उन्होंने कहा कि अब तो तेरा बेटा बारह वर्षका हो गया होगा, देखूँ तो, वह कहाँ है? यह सुनते ही वह स्त्री घबरा गयी और उसने सब हाल कह दिया। मत्स्येन्द्रनाथ उसे साथ ले उस गड्ढेके पास गये और वहाँ 'अलख' शब्द किया। उसे सुनते ही बारह वर्षका एक तेजपुंज बालक वहाँ प्रकट हो गया और मत्स्येन्द्रनाथके चरणोंपर सिर रखकर प्रणाम करने लगा।

यही बालक आगे चलकर गोरक्षनाथके नामसे प्रसिद्ध हुआ। मत्स्येन्द्रनाथने उस समयसे बालकको साथ ही रखा और योगकी पूरी शिक्षा दी। गोरखनाथने गुरूपदिष्ट मार्गसे साधना पूरी की और स्वानुभवसे योगमार्गमें और भी उन्नति की। योगसाधन और वैराग्यमें वे गुरुसे भी आगे बढ़ गये। योगबलसे उन्होंने चिरञ्जीव-स्थितिको प्राप्त किया।

गोरखनाथके दो प्रधान शिष्य हुए—गैनीनाथ या गैबीनाथ और चर्पटीनाथ। इनके नाथ-सम्प्रदायमें निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर आदि और भी कई सिद्ध महात्मा हो गये हैं।

गोरखनाथ केवल योगी ही नहीं थे, वरं बड़े विद्वान् और कवि भी थे। उनके गोरक्षकल्प, गोरक्षसंहिता, गोरक्षसहस्रनाम, गोरक्षशतक, गोरक्षपिष्टिका, गोरक्षगीता तथा विवेकमार्तण्ड आदि अनेक ग्रन्थ संस्कृत-भाषामें मिलते हैं। हिन्दीमें भी उनकी बहुत-सी कविताएँ मिलती हैं।

महायोगी गोरखनाथने अपने ग्रन्थोंमें आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधिका सम्यक् प्रतिपादन किया है। विशेषरूपसे षडङ्ग-योग और उसके अन्तर्गत कुण्डलिनी-जागरण, मुद्रा-बन्ध, अभ्यास, आसन, प्राणायाम, षट्चक्रभेदन, नाडी-शोधन, नादानुसंधान तथा नाद-विन्दु-उपासनापर प्रकाश डाला है तथा शिवपद—अलख निरञ्जन, निष्कल शून्य पदकी प्राप्तिके साधनोंका विस्तारसे वर्णन किया है।

श्रीमत्स्येन्द्रनाथकी तरह श्रीगोरखनाथको भी नेपालके लोग बड़े आदरकी दृष्टिसे देखते हैं और इन्हें श्रीपशुपतिनाथजीका अवतार मानते हैं। गोरखनाथजीके शिष्य होनेके कारण ही नेपाली 'गोरखा' कहलाते हैं।

प्रायः सम्पूर्ण भारतमें नाथ सिद्ध योगी बाबा गोरखनाथजीके आश्रम, टीला आदि मिलते हैं। उनमेंसे गोरखपुर महासिद्ध हठयोगी बाबा गोरखनाथकी प्रसिद्ध तपःस्थली एवं साधना-स्थली रही है। आज भी उस स्थानपर योगसिद्ध बाबा गोरखनाथका एक विशाल एवं भव्य मन्दिर सुप्रतिष्ठित है।

बिश्नोई-मतके मूल आचार्य सिद्धेश्वर जाम्भोजी

(माँगीलाल बिश्नोई 'अज्ञात', एम्० ए०)

राजपूतानेके सिद्ध योगियोंमें जाम्भोजीका विशेष स्थान है। इनका जन्म सं० १५०८ भाद्रकृष्ण अष्टमीको पीपासर (जोधपुर) नामक स्थानमें हुआ। ये जन्मसे ही योगी थे और अपनी अलौकिक स्थितिमें मस्त रहते थे। इन्होंने वि० सं० १५४२ कार्तिक अमावास्याके दिन सम्भराथल नामक रेतके टीलेपर पवित्र मृत्तिका-कलशको स्थापित कर बिश्नोई (वैष्णव)-पन्थका प्रवर्तन किया। इस पन्थके माननेवाले पंजाब, राजस्थान आदि कई स्थानोंमें पाये जाते हैं। इस पन्थके भक्तोंकी यह आस्था है कि जाम्भोजी साक्षात् विष्णुके ही अवतार थे। ये प्रायः सत्ताईस वर्षतक किसीसे कुछ बोले नहीं, मौन-साधना करते रहे। बराबर गाय चरानेका पुण्यकर्म करते रहे। लोग समझते थे कि ये गूँगे हैं, परंतु वास्तवमें ये गूँगे नहीं थे। इनकी योगचर्या अत्यन्त विलक्षण थी। गाय चराते समय, मेवाड़के महाराणा दूदाजीको, जो राज्यसे निकाल दिये गये थे, एक लकड़ी देते हुए आशीर्वाद दिया कि 'तुम अपने राज्यमें वापस जाओ, तुम्हारा राज्य वापस मिल जायगा। इस लकड़ीको पवित्र स्थानमें सुरक्षित रखना।' कहते हैं इनकी वाणी सत्य हुई। सं० १५४२ में इनके पिता नागोरकी देवीकी पूजा एक ब्राह्मणसे इसलिये कराने लगे कि जाम्भोजीका गूँगापन दूर हो जाय। ब्राह्मणने बारह दीपक देवीके सामने जलाये। यहींपर जाम्भोजीने पहले-पहल ब्राह्मणको उपदेश दिया और दीपकोंको बुझाकर उनमें बिना बत्तीके जलसे दीपक जला दिया।

विचित्र यौगिक साधनाओंको सम्पन्न करते हुए तथा साधकोंका मार्ग-प्रदर्शन करते हुए और कल्याणकारी उपदेश देते हुए अन्तमें इन्होंने तालवा (बीकानेर) में समाधि ली थी।

जाम्भोजीद्वारा उपदिष्ट शिक्षा 'सबद वाणी' के नामसे जानी जाती है, जिसमें उनके श्रीमुखसे निःसृत १२० सबद संगृहीत हैं, उनमें योगका अनूठा निरूपण हुआ है।

जाम्भोजीने अपने सबदोंमें गोरखनाथजीको योगी गुरुके रूपमें 'अपार' की संज्ञासे अभिहित किया है—

मेरे गुरु जो दीन्हीं शिक्षा, सरब अलिंगण फेरी दीक्षा।

जुगाँ-जुगाँ को जोगी आयो, सतगुरु सिद्ध बतायो ॥

(सबद ९१-९२)

योगाङ्ग-प्रसङ्ग

जाम्भोजीके सबदोंमें यत्र-तत्र-सर्वत्र चित्तकी चञ्चलताको रोकनेके लिये अष्टाङ्गयोगका साङ्गोपाङ्ग उल्लेख मिलता है, जिसका अन्तिम उद्देश्य 'मोक्ष' है।

प्राणायाम—

'पूरक पूर पूर लै पौण। भूख नहीं अन्न जीमत कौण ॥'

(सबद ५१)

अर्थात् प्राण-अपानको प्राणायामके पूरकसे सुषुम्नामें स्थापित करनेसे भूख-प्यास नहीं लगती, अतः अन्न कौन खाये ? पुनश्च—

भाठी अंदर लोह तपीलो, तंतक सोना छड़ैं कसारूँ ॥

(सबद ९८)

और—

बस कर पवणा, बस कर पाणी, बस कर हाट-पटणा दरवाजों।
दसे दवारे ताला कूँची, भीतर पोल बणाई ॥

(सबद ९९)

यहाँ शरीरको भट्ठीमें प्राणायामरूपी अग्निसे मलरूपी लोहेको तपायमान करने एवं सुषुम्नामें प्राण-निरोधको सोना गढ़नेकी संज्ञा दी है। इसके साथ ही प्राणवायु, सहस्रारसे स्रावित अमृत एवं नौ द्वारोंको वशमें कर दसवें द्वारमें खेचरी मुद्रारूपी ताला लगानेको कहा है।

इसी प्रकार खेचरीमुद्रा, उन्मनीमुद्रा आदि मुद्राओंके साथ ही षट्चक्रवेधन एवं कुण्डलिनीके जागरणका भी वर्णन किया है। चित्तवृत्तिनिरोधको उन्होंने एक सुन्दर रूपकद्वारा इस प्रकार समझाया है—

ओउम् काया कंथा, मन जोगूँटो, सींगी श्वास, उश्वासूँ।
मन मृग राखले कर किरसावी, यों म्हे भया उदासूँ ॥
हम ही जोगी, हम ही सती, हम ही राखिबा चिहूँ।
पाँच पटण नव थानक साधले, आदिनाथ का भगहूँ ॥

(सबद ४७)

यहाँ शरीरको गुदड़ी, मनको कौपीन (लंगोट) एवं श्वास-प्रश्वासको प्राणायाम-निरोधजन्य सींगी बताया गया है। चञ्चल मनको चित्तवृत्तिके निरोधसे वशमें कर उपासनारूपी खेती करनेको कहा गया है।

जाम्भोजी महाराजने इस बातपर विशेष बल दिया कि भूलने योग्य छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेषको तुम्हारा मन चाहता है। इस प्रकार केवल बाह्य वेशजन्य साधुतासे क्या ? अतः अन्तःकरणको विवेक एवं वैराग्यसे युक्त कर मनको स्वच्छ करो—

देखत भूली को मन चैवे, भीतर कोरा, बाहर भेवै।

(सबद १०९)

उन्होंने नाम-जपको कल्याण-प्राप्तिका मार्ग बताते हुए कहा है—

ओउम् विष्णु विष्णु तूँ भण रे प्राणी पैंके लाख उपाजूँ।
रतन कया बैकुण्ठे बासो, तेरा जरा-मरण भय भाजूँ ॥

(सबद ११९)

अर्थात् हे प्राणी! श्रद्धापूर्वक तू नित्य 'ओ३म् विष्णु' मन्त्रका जप कर। कलियुगमें लाखों अन्य उपायोंसे केवल 'नाम-जप' ही भवसागर तरानेवाला है। इससे तुम्हारा जन्म-मरणरूपी भय नष्ट होकर वैकुण्ठवास होगा।

दक्षिणके महायोगी संत तिरुमूलर

(डॉ० श्रीमती राधाकृष्णमूर्ति)

दक्षिण भारतकी शैव संत-परम्परामें परम योगी संत तिरुमूलरका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वे ईसाकी छठी शताब्दीमें विद्यमान थे। उनकी अनुपम तमिल-कृति 'तिरुमन्दिरम्' (तिरुमन्त्रम्) आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्त्वोंसे ओतप्रोत एक बृहदाकार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अपने ग्रन्थमें उन्होंने अपनेको भगवान् नन्दीके सनक, सनातन आदि आठ शिष्योंकी परम्परामें माना है। वे तमिल-प्रदेशके आदिगुरु एवं दक्षिणके शैव-सिद्धान्तके प्रथम प्रतिपादक माने जाते हैं।

तमिल शैव-संतोंके जीवन-चरितके लेखक संत सेक्किलारने अपने 'पेरियपुराणम्' (बृहत्पुराण) में योगी तिरुमूलरके जीवनका वर्णन करते हुए कहा है कि 'तिरुमूलर'

कैलास-स्थित नन्दिकेश्वरकी कृपासे अनुगृहीत योगीश्वरोंमेंसे एक थे।' अष्ट सिद्धियोंको प्राप्त करनेके बाद वे अगस्त्य ऋषिके दर्शनार्थ दक्षिणकी ओर निकल पड़े। मार्गमें केदारनाथ, नेपालके पशुपतीश्वर, काशीके विश्वनाथ तथा श्रीपर्वत, विन्ध्यपर्वत, कालहस्ती आदि तीर्थोंमें स्थित शिवलिङ्गोंके दर्शन करते हुए वे काञ्चीनगरी और चिदम्बरम्से होकर तिरुवावडुतुरै नामक पुण्यक्षेत्र पहुँचे। वहाँके पशुपतीश्वरको देखकर उनका मन आनन्द-विभोर हो गया। उस दिव्य क्षेत्रको छोड़कर जब वे कावेरी नदीके तटपर जा रहे थे, तब उन्होंने एक करुणाजनक दृश्य देखा। वहाँ मार्गमें मूलन नामक एक ग्वाला सर्प-दंशसे मरा पड़ा था और उसकी अनाथ गायें रो रही थीं। परदुःखको मिटानेमें सदा तत्पर रहनेवाले उन योगीश्वरने निःसहाय गायोंके दुःखको दूर करनेके लिये अपनी योगशक्तिसे मूलनके मृत शरीरमें प्रवेश किया और उसी रूपमें गायोंको लेकर गाँव लौटे। दूसरे दिन उन्होंने अपने शरीरमें प्रवेश करना चाहा, परंतु जहाँ वे अपना शरीर छोड़ आये थे, वहाँसे वह अदृश्य हो गया था। इस घटनाको ईश्वरकी इच्छा समझकर वे मूलनके ही शरीरमें समाविष्ट रहकर तिरुवावडुतुरैके मन्दिरमें रहने लगे। यहीं रहकर वे शैवागमोंके गूढ़ तत्त्वोंको तमिल भाषामें पद्यबद्ध करने लगे। उनका मूल नाम 'सुन्दर' था, परंतु ग्वाले 'मूलन' के शरीरमें प्रवेश करनेके कारण वे 'तिरुमूलर' नामसे प्रसिद्ध हुए। इस घटनाका उल्लेख उन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थ 'तिरुमन्दिरम्'में किया है।

तीन हजार पद्योंसे युक्त और नौ तन्त्रों (अध्यायों) में विभाजित 'तिरुमन्दिरम्' दक्षिणके समस्त 'शैव-सिद्धान्त' वाङ्मयमें सर्वप्रथम और तमिल भाषाके द्वादश 'तिरुमुरै' ग्रन्थोंमें दशम ग्रन्थ माना जाता है। इसको 'तिरुमन्दिरमाला' भी कहते हैं। कहा जाता है कि महायोगी तिरुमूलरने तीन हजार वर्षोंतक कठोर तपस्या करते हुए प्रत्येक वर्षमें एक-एक पद्यकी रचना की थी। कारण , कासिक, वीर, सिद्धि, वातुल, व्यामल, कालोत्तर, सुप्रभेद और मुकुट—इन नौ शैवागमोंका प्रतिपादन तिरुमूलरने अपने इस ग्रन्थके नौ तन्त्रोंमें किया है।

गहन आत्म-चिन्तनसे अनुप्राणित इस ग्रन्थमें सर्वत्र शिव-शक्तिकी उपासनाका महत्त्व बताया गया है। उनका उपदेश है कि चाहे वैष्णव हो या शैव, ईश्वरके सामने सब समान हैं और विभिन्न मत या धर्म तो केवल साधनमात्र हैं।

परमात्मा शिव मुक्ति प्रदान करनेवाला ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानका प्रदाता वेदस्वरूप भी वही है। वही सृष्टिकर्ता है। वह सभी पाशोंसे विमुक्त है, विशुद्ध है और स्वयं ज्ञान-ज्योति है। वही सगुण रूपमें प्रकट होकर भक्तोंके लिये पूज्य बनता है। वह भक्तोंके लिये जलसे भी शीतल है। दुष्टोंके लिये अग्निसे भी तेज है। उमापतिका रूप धारण करके वह मन्दिरोंमें विराजमान होता है। उसकी कृपामयी दृष्टि अद्वितीय है। जब जीवात्मा और परमात्माका मिलन हो जाता है, तब सब पाश अपने-आप दूर हो जाते हैं।

प्रेम ही शिव है और समस्त ही शिव है। उनका यह अमर संदेश देश, काल, जाति-कुल आदिके भेदको पार करके मानवमात्रके लिये उपयोगी है।

अप्परस्वामी, तिरुज्ञान सम्बन्धर-जैसे परवर्ती संतोंके लिये उनकी अमृतोपम वाणी और उत्कृष्ट आध्यात्मिक विचार मार्गदर्शक सिद्ध हुए। दक्षिण भारतमें योगी, सिद्ध और संत तिरुमूलरके प्रति इतना पूज्यभाव प्रदर्शित किया गया है कि तिरुवावडुतुरै नामक पुण्य स्थलके शिवमन्दिरमें उनकी मूर्तिको प्रतिष्ठापित करके भक्तगण उनकी परमयोगी और गुरुरूपमें पूजा और आराधना करते हैं तथा उनके योगमय परम कल्याणकारी उपदेशोंसे लाभ उठाकर अपनेको कृतार्थ समझते हैं।

महात्मा जरथुस्त्र

महात्मा जरथुस्त्र पारसी धर्मके आदिसंस्थापक थे। पारसी धर्ममें इन्हें असाधारण देवातीत गुणसम्पन्न ईश्वरतुल्य व्यक्ति बतलाया गया है। ईसासे एक हजार वर्षपूर्व इनका जन्म माना जाता है। महात्मा जरथुस्त्र एकेश्वरवादी थे। जन्दाअवस्ता पारसियोंका आदि धर्मग्रन्थ है। पवित्र चिन्तन, पवित्र वाक्य और पवित्र कार्य—इन तीन नियमोंका ये दृढ़तासे पालन करते हैं।

सौराष्ट्रकी योग-विभूति—महात्मा मस्तरामजी

(डॉ॰ श्रीकमलपुंजाणी, एम्॰ ए॰, पी-एच्॰ डी॰)

सौराष्ट्रकी धरती सदासे ही संत-महात्माओंकी सेवा-साधनासे परिपूर्ण रही है। ये सभी संत-भक्त योगकी अलौकिक शक्तिसे विभूषित थे। इसी परम्परामें भावनगरके ध्यानयोगी महात्मा मस्तरामजी भी अपने नामके अनुसार एक मस्तमौला सिद्ध पुरुष थे। उनका अपना कोई निश्चित निवास-स्थान नहीं था। नदीकी रेत या मरघटकी धूलिपर वे जितनी सहजतासे समाधिस्थ हो जाते थे, उतनी ही सरलतासे शहरके कोलाहलपूर्ण वातावरणमें भी आत्मलीन हो जाते।

महात्मा मस्तरामजी सादगी, संतोष और संयमकी जीवन्त मूर्ति थे। वे निर्लिप्त एवं निर्मोही संत थे। भावनगरमें लगभग सौ वर्ष पहले मस्तरामजी एक पीपलके पुराने पेड़की शीतल छायामें प्रायः पड़े रहते थे।

एक दिन महाराजा तख्तसिंहका रथ पीपलके पेड़के पाससे गुजरा। सहसा महाराजाकी दृष्टि ध्यानस्थ महात्मा मस्तरामजीपर पड़ी। वे रथसे नीचे उतर गये और संतके सम्मुख हाथ जोड़कर बोले—'महात्मन्! आप इस पेड़के नीचे क्यों रहते हैं? हमारे महलमें पधारिये। कभी हमें भी अपनी सेवाका अवसर दीजिये।'

'राजन्! हम साधु-संतोंको महलसे क्या मतलब ? यह पेड़ ही हमारा महल है।' इतना कहकर मस्तरामजी पुनः ध्यानस्थ हो गये।

महाराजा तख्तसिंहजी संतकी निर्लिप्ततासे बहुत प्रभावित हुए और उन्हें प्रणाम करके वे अपने राजमहलकी ओर चल पड़े।

× × ×

एक बार जाड़ेकी कड़ाकेकी सर्दीमें मस्तरामजी तालाबमें स्नान कर रहे थे। इसी समय महाराजा तख्तसिंहजी अपने दीवानके साथ प्रातःकालीन भ्रमणके लिये निकले। दो सिपाही भी उनके साथ आगे-पीछे चल रहे थे।

महाराजाको देखनेपर प्रतीत हुआ कि मस्तरामजीके हाथ-पैर ठंडके मारे काँप रहे हैं। उन्होंने तुरंत अपनी ऊनी शाल शरीरसे उतारकर सिपाहीको दी और कहा—'इसे चुपचाप महात्माजीके शरीरपर डाल दो।'

सिपाहीने मस्तरामजीके निकट पहुँचकर धीरेसे पीछेसे शाल उनके कंधेपर डाल दी, किंतु वह अपने-आप तुरंत नीचे सरक पड़ी। महाराजाने फिरसे सिपाहीको भेजा और शाल उठाकर महात्माजीको ओढ़ानेका आदेश दिया। सिपाहीने दूसरी बार सँभालकर मस्तरामजीके कंधेपर शाल डाल दी। मस्तरामजी निर्विकार-भावसे खड़े रहे। वह शाल पुनः धरतीपर गिर पड़ी।

महाराजाके संकेतसे सिपाहीने शालको पुनः उठाया और महात्माजीके शरीरपर लपेटनेकी कोशिश की, परंतु मस्तरामजी इधर-उधर देखे बिना चुपचाप वहाँसे चलने लगे और शाल वहीं पड़ी रही। उनकी विरक्ति और सुख-दुःख, शीत-उष्णादि द्वन्द्वोंको जीत लेनेकी शक्तिसे प्रभावित होकर महाराजाके मनमें इनके प्रति और अधिक आदर एवं श्रद्धा बढ़ गयी। ऐसी अनेकों घटनाएँ उनके योगमय जीवनमें देखी जाती थीं। इस प्रकारके प्रसंगोंकी चर्चा शनैः-शनैः सारे भावनगर तथा आस-पासके प्रदेशोंमें फैल गयी, किंतु उन्हें इस चर्चासे कोई लगाव नहीं था।

× × ×

महात्मा मस्तरामजी मानो सहनशीलताकी प्रतिमूर्ति ही थे। वे बाह्य विपत्तियों तथा विघ्नोंसे कभी विचलित नहीं हुए। उनके जीवन-चरित्रमें सहनशीलताके अनेक रोचक रम्य प्रसंग भरे पड़े हैं। एक प्रेरक प्रसंग उदाहरणार्थ यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

एक बार रातके समय महात्मा मस्तरामजी नदीकी रेतमें ध्यानस्थ मुद्रामें बैठे थे। इतनेमें कुछ मनचले युवक वहाँसे निकले और मस्तरामजीको देखकर आपसमें बातें करने लगे।

'अरे! यह तो वही साधु है, जिन्हें महाराजा तख्तसिंहजी अपना गुरु मानते हैं।' एक युवकने कहा।

'नहीं भाई! यह तो ढोंगी लगता है। देखो न, खा-पीकर कितना तगड़ा हो गया है।' दूसरे युवकने अपना मत व्यक्त किया।

'चलो, इसीसे पूछ लेते हैं' कहकर तीसरा युवक मस्तरामजीकी ओर मुड़ा। अन्य युवक भी उसके पीछे-पीछे

चलने लगे।

'साधु महाराज! आप महाराजा तख्तसिंहके गुरुदेव हैं?' युवकने मस्तरामजीके पास जाकर पूछा।

मस्तरामजीने कोई उत्तर नहीं दिया। वे ध्यानावस्थामें बैठे रहे। युवकने उनके कानोंके पास अपना मुँह ले जाकर फिरसे पूछा, किंतु उसे कोई जवाब नहीं मिला। तब युवक जोरसे चिल्लाया—'अरे ढोंगी! बोलते क्यों नहीं? क्या बहरे हो?' इतनेपर भी जब उनका ध्यान विचलित नहीं हुआ तो उनमेंसे एक युवकने एक जलता हुआ बड़ा अंगारा मस्तरामजीकी जाँघपर रख दिया। उसने सोचा कि अंगारेका स्पर्श होते ही साधुकी समाधि टूट जायगी, किंतु मस्तरामजी अविचलित ध्यान-मुद्रामें लीन रहे। इसपर युवकका मन आत्मग्लानिसे भर आया।

ऐसी अनेकों चमत्कारपूर्ण घटनाएँ मस्तरामजीके जीवनसे जुड़ी हुई कही-सुनी जाती हैं। अपनी चिर-साधनाके पश्चात् अन्तमें सं० १९५७ की कृष्णा एकादशीको भावनगरके बोटाद गाँवमें ये चिर-समाधिमें लीन हो गये। वास्तवमें एक सच्चे योगी एवं साधकके लिये प्रायः कुछ भी असम्भव नहीं होता, वह अपनी साधनाके बलपर ध्यान-समाधिके द्वारा भगवान्‌का साक्षात् करनेमें समर्थ हो जाता है।

मिथिलाके सिद्ध योगी परमहंस श्रीलक्ष्मीनाथ गोस्वामी

(आचार्य डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र)

परमहंस श्रीलक्ष्मीनाथ गोस्वामीका जन्म मिथिलाके एक अवदात ब्राह्मण-वंशमें विक्रमाब्द १८५० सन् १७९३ ई० में परसरमा गाँवमें हुआ था। पिता पं० श्रीबच्चाजी झा संस्कृतके अच्छे विद्वान् थे। बचपनसे ही उनके व्यवहारमें परिवार आदि सांसारिक जनोंके प्रति अनासक्तिका भाव देखकर पिताने उन्हें जयनगर पं० श्रीरत्तेजी झाके निकट पढ़नेके लिये भेज दिया। वहाँ उन्होंने व्याकरण, ज्योतिष, वेदान्त तथा तन्त्र-विद्याका गहन अध्ययन किया। घर वापस आनेपर उनकी इच्छाके प्रतिकूल भी माता-पिताने उनका विवाह कर दिया, किंतु सांसारिक बन्धनसे विमुक्त होनेके लिये और योग-सिद्धिकी प्रबल अभिलाषासे वे घर छोड़कर बाहर निकल गये तथा—

चलिये कन्त ओहि देश जहाँपर निज घर अपना।
पँच रँग महल देखि मत भूलहु यह सुख जानहु निसि सपना॥
यह संसार फूल सीमरके अंदर रुइया रे समना।
सुत बित नारि भवन कुल परिजन यह सब चमकत चारि दिना॥

—इन पंक्तियोंको लिखकर बिछावनपर छोड़ दिया और चुपचाप घरसे चल पड़े। कुछ दिनोंके बाद लोगोंने उन्हें सिंहेश्वर महादेवके मन्दिरमें ध्याननिमग्न देखा। घरवाले किसी तरह उन्हें समझाकर घर वापस ले आये। उनकी पत्नी बड़ी ही सती-साध्वी तपोनिष्ठ थी। उसकी सेवासे प्रसन्न हो इन्होंने उसे पुत्र-प्राप्तिका आशीर्वाद दिया और इनके आशीर्वादके प्रभावसे उसे यथासमय एक पुत्र प्राप्त हुआ। इसके बाद परमहंसजी पशुपतिनाथकी यात्रापर निकल पड़े। वहाँ गोरखनाथके शिष्य स्वामी लम्बनाथसे इन्होंने योगकी शिक्षा ली और कठिन साधनाकर पूर्ण सिद्धि प्राप्त की। वहाँसे वे पुनः मिथिला आये और घूम-घूमकर भागवत-धर्मका प्रचार किया। उसी प्रसङ्गमें एक दिन उन्होंने शकरपूरा राजघरानेके राय लक्ष्मीनारायण सिंहका आतिथ्य स्वीकार किया। निःसंतान होनेके कारण राय दम्पतिको अत्यन्त दुःखी देखकर गोस्वामीजीने पुत्ररत्न प्राप्त करनेका आशीर्वाद दिया। उनके आशीर्वादसे राय साहेबको दो पुत्र हुए। इस बातकी ख्याति चारों ओर फैल गयी और गोस्वामीजी एक सिद्ध पुरुषके रूपमें माने जाने लगे।

उनकी जीवनकालीन विभिन्न अलौकिक घटनाओंकी चर्चा आज भी मिथिलाञ्चलमें होती है। जैसे मृत गायको पुनर्जीवित करना, पादुका पहनकर विशाल नदीके प्रवाहमें चलकर उसे पार करना, आशीर्वादके अनुसार फल मिलना आदि।

गोस्वामीजीने श्रीमद्भागवतका गम्भीर स्वाध्याय किया था। उन्होंने व्रजभाषामें अनेक विशिष्ट रचनाएँ भी कीं, जिनमें—१-प्रश्नोत्तरीमाला, २-अकारादि दोहावली, ३-भाषा-तत्त्वबोध, ४-श्रीरामरत्नावली, ५-गुरुचौबिसी—ये पाँच ग्रन्थ 'विवेक-पञ्चरत्न' के नामसे प्रसिद्ध हैं।

प्रश्नोत्तरमाला श्रीशंकराचार्यके प्रश्नोत्तरात्मक संस्कृत ग्रन्थका अनुवाद है। गुरु-शिष्यके प्रश्नोत्तररूपमें ६४ दोहात्मक पद्योंकी इस रचनामें विशेषतः आध्यात्मिक विवेचन किया गया

है। यथा—

घोर नरक काको कहत? नरक आपनो देह।
जाकी तृष्णा क्षय भई, ताहि स्वर्ग सुख गेह॥
परम सुखी को होत है? जो नर मूढ़ सुजान।
सेवा काको कीजिये? देव वृद्ध गुरु ज्ञान॥
बन्ध्यो है को जगतमें? जाहि विषय अनुराग।
मुक्ति कौन को होत है? जाको विषय विराग॥

'अ' से 'क्ष' तक प्रत्येक वर्णसे आरम्भकर रचित ५४ दोहोंकी 'अकारादि दोहावली' में प्रत्येक दोहा उपदेशप्रद है। इनमें 'क-ख' का चमत्कार देखिये—

काया कामिनि काल-गति, कबहूँ लखी न जाय।
काहे कातर होत है, कृष्ण रिझाओ जाय॥
खेत खराबी करत क्यों, खबरदार ह्वै खोज।
खरचा खामिन्द देहिंगे जासे खाते रोज॥

श्रीशंकराचार्य-विरचित 'तत्त्वबोध' के अनुवादात्मक ९९ दोहे 'भाषा-तत्त्वबोध' में हैं, जिनमें अध्यात्मविद्याका तात्त्विक निरूपण किया गया है। 'श्रीरामरत्नावली'में श्रीराम-नामके महत्त्वका प्रतिपादन हुआ है। इसमें १११ दोहोंका संग्रह है। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें यदु और ब्राह्मणके संवाद-रूपमें वर्णित २४ गुरुओंकी शिक्षाके आधारपर श्रीगोस्वामीजीने 'गुरुचौबिसी' की रचना की। इसमें छब्बीस दोहोंका संग्रह है। जिनमें पृथ्वी, वायु, आकाश, मृग आदि चौबीस गुरुओंसे प्राप्त शिक्षाका प्रतिपादन किया गया है।

'विवेक-पञ्चरत्न'के अतिरिक्त श्रीपरमहंसजीकी रचनाओंमें 'श्रीकृष्णरत्नावली', 'श्रीरामगीतावली', 'श्रीकृष्णगीतावली', आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णके रूप, गुण, धाम, ऐश्वर्य, माहात्म्य आदिका रोचक वर्णन है।

इस प्रकार गोस्वामी परमहंसजीने अपने उपदेशोंमें संसारकी नश्वरताको समझते हुए भगवान्‌की ओर उन्मुख होनेपर ही विशेष बल दिया है। वे इसके लिये विरागी या संन्यासी होना आवश्यक नहीं समझते थे। उनका मानना था कि संसारमें अनासक्त-भावसे रहते हुए अपने कर्तव्य कर्मोंको करते हुए भगवान्‌की विस्मृति न हो तो इससे शीघ्र ही परम कल्याण हो जाता है।

श्रीअच्युतमुनिजी

श्रीअच्युतमुनिजीका पंजाबी शरीर था। आप संस्कृतके उद्भट विद्वान् थे और पहले लाहौरमें अध्यापन-कार्य करते थे। आपने शास्त्रोंका बड़ा गहरा अध्ययन किया था। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र आदि ग्रन्थ तो आपको कण्ठस्थ हो गये थे। स्वभावसे ही आपके अंदर वैराग्यकी भावना वर्तमान थी। अध्यापन-कार्य करते समय भी आप प्रायः संसारसे निर्लिप्त रहा करते थे। आपका अधिकांश समय एकान्तमें, विशेषतः रावी नदीके तटपर बीता करता था। नाम-जपपर आपकी बड़ी श्रद्धा थी। आपने स्वयं एक बार कहा था कि ***'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'*** इस तारकमन्त्रका पाँच करोड़ जप मैंने उन्हीं दिनों किया था। आखिर, आप सब कुछ छोड़-छाड़कर संन्यासी हो गये। बहुत दिनोंतक अनूपशहरके पास श्रीभृगुक्षेत्रमें रहे। वहाँ आप श्रीगङ्गाजीके बीच एक नावपर रहा करते। आपकी प्रकृति अत्यन्त सरल और स्वभाव बालकके समान था। आपका प्रेमभरा मृदु भाषण सुनकर कोई भी आदमी आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता था। आपकी विद्वत्तासे आकर्षित होकर बहुतसे लोग आपके पास सत्संग और शास्त्रचर्चाके लिये आया करते

थे। आप वेदान्तादि अत्यन्त गूढ़ विषयोंका विवेचन बड़ी गम्भीरता तथा सरलताके साथ किया करते थे। आपके द्वारा शिक्षाप्राप्त कितने ही महानुभाव आज सन्मार्गपर चलकर आपका गौरव बढ़ा रहे हैं।

आप कुछ समयतक काशीके समीप रामेश्वर नामक स्थानमें रहे और समय-समयपर अपने उपदेशोंसे लोगोंका कल्याण-साधन किया करते रहे। आपने १२ दिसम्बर, सन् १९३५को काशीधाममें भगवान् श्रीविश्वनाथके मन्दिरके सामने श्रीगौरीशंकरजी गोयनकाके मकानमें इहलीला समाप्त की।

कर्म, ज्ञान और भक्तिकी त्रिवेणी—स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज

अनन्तश्री स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजका जीवन कर्म, ज्ञान और भक्तियोगकी त्रिवेणीका एक संगम था। यद्यपि वे ज्ञानयोगी थे, परंतु उनके कार्यक्रमोंको देखते हुए ऐसा लगता था कि वे किसी कर्मयोगीसे कम नहीं हैं। उनकी भक्ति

भी इतनी प्रगाढ़ थी, जिसकी तुलना किसी सामान्य भक्तसे नहीं की जा सकती। वे एक महान् योगी थे। उन्होंने प्रायः योगके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको धारण करते हुए सम्पूर्ण यौगिक साधनाओंको जीवनमें उतारा। हठयोग, राजयोग, लययोग एवं मन्त्रयोग आदिकी साधना उनके जीवनमें निरन्तर अपने क्रमानुसार चलती रहती थी, जिनका दिग्दर्शन उनकी दैनिक-चर्या एवं जीवनचर्यासे होता था। एक बार उनसे पूछनेपर कि 'महाराज ! आप नयी-नयी यौगिक क्रियाओंका अवलम्बन क्यों लेते हैं ?' तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'कुछ क्रियाएँ कौतूहलवश भी करता हूँ।' पर ऐसा लगता है कि उनके सम्पूर्ण कर्म लोक-संग्रहार्थ ही थे। कारण, वे शास्त्र-मर्यादित कर्मोंके सम्पादनमें पूर्ण तत्परताका निर्वाह करते थे।

वास्तवमें महाराजश्री जन्मतः स्वभावसे ही साधु और त्याग वैराग्यकी प्रतिमूर्ति थे। अपने जीवनमें उन्होंने गृहस्थीसे लेकर विरक्तितक जितना कार्य सम्पन्न किया, उतना कार्य अन्य कोई शायद ही कर सके। जीवनके पूर्वार्धमें उनके तीव्र त्याग और तपस्याकी प्रशस्ति तो सर्वविदित ही है, पर जीवनके उत्तरार्धमें लोकहितार्थ एवं धर्मकी रक्षाके लिये उनके द्वारा जो कार्य सम्पन्न हुए वे कम महत्त्वके नहीं। शास्त्रानुसार धर्मकी संस्थापना और उसकी रक्षा—यह महाराजके जीवनका सत्संकल्प था।

उनकी दिनचर्या अत्यन्त विलक्षण थी, जिसे उनके भक्तगण भी नहीं जान पाते थे। स्वामीजी प्रायः रात्रिमें एक बजे प्रतिदिन उठ जाते और तत्काल स्नान कर जप, ध्यान एवं समाधिमें बैठ जाते। साढ़े तीन बजेसे पाँच बजेतक प्रातः एकाकी भ्रमण—चार-पाँच मील पैदल घूमनेका कार्यक्रम चलता। भ्रमणके समय स्तोत्र-पाठ तथा जप चलता रहता। तदनन्तर प्रातः पाँच बजेसे आठ बजेतक अर्चन-पूजन एवं देवोपासनाका कार्यक्रम चलता। चातुर्मास्यके समय महाराजकी दिनचर्याका पूर्णावलोकन होता था। इन दिनों वे दो मास काशीमें ही निवास करते थे। प्रातः आठ बजेसे बारह बजेतक ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, गीता एवं अन्य सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय एवं उपदेश होता, जिसमें देशके विभिन्न क्षेत्रोंसे समागत संत-महात्मा, साधक एवं विद्वान् पधारकर उससे

लाभान्वित होते। वेदान्त, न्याय, सांख्य, मीमांसा तथा तन्त्रादि और वेद-वेदाङ्गोंसे सम्बद्ध भारतीय संस्कृतिका कोई भी प्राचीनतम ग्रन्थ जो दूसरी जगह समझनेमें कठिन होता, उसे लोग महाराजश्रीके सामने रखते, जिसके पढ़ानेमें महाराजको विशेष रुचि होती थी। वे अपनी पूजा एवं साधनाके अतिरिक्त अन्य कार्योंको करनेकी अपेक्षा स्वाध्याय एवं सत्सङ्गको प्राथमिकता देते। सायंकाल डेढ़ या दो घंटे कथा-सत्सङ्गका कार्यक्रम चलता।

स्वामीजी महाराजकी एक विशेषता थी कि स्वाध्याय एवं सत्सङ्गके समय वे समाधि-जैसी स्थितिमें इतने तल्लीन हो जाते थे कि सामने कौन आया और कौन गया, इसका उन्हें भान भी नहीं होता था। दिनमें प्रायः एकसे पाँच बजेतक महाराजकी एकान्त-साधना चलती। इस अन्तरालमें कुछ समय तो वे लेखन-कार्यमें बिताते थे, पर अधिकांश समय योगासन तथा यौगिक साधनाओंमें बीतता। योगासनोंके साथ-साथ लगभग तीन घंटे लगातार महाराजका शीर्षासनका कार्यक्रम चलता। शीर्षासनमें ही वे श्रीदुर्गासप्तशतीका पाठ तथा अधिकांश पूजा सम्पन्न करते।

एक बार प्रसंगवश उन्होंने यह बताया कि योगासन करते समय भगवदाराधन, पाठ और जप अवश्य करना चाहिये, तभी इसके सम्पादनकी सार्थकता है। उदाहरणरूपमें उन्होंने कहा कि समुद्रमें सीप खोजनेके लिये मछुवे भी प्राणायाम करते हैं तथा दूसरी ओर देवाराधन आदिके निमित्त भी प्राणायाम किया जाता है। इन दोनोंमें कितना अन्तर है। मात्र नश्वर शरीरकी रक्षाके लिये योगासन करना बुद्धिमत्ता नहीं है। शारीरिक स्वस्थता तो योगासन करनेपर प्राप्त होगी ही, किंतु योगासनका उद्देश्य तो देवाराधन ही होना चाहिये, जिससे आध्यात्मिक लाभ मिल सके और समयका पूर्ण सदुपयोग हो सके।

चौबीस घंटेमें एक बार सायंकाल पाँच बजे सूर्यास्तसे पूर्व महाराजकी नमक एवं चीनीसे रहित भिक्षा होती थी, जिसमें उपलब्ध होनेपर गो-दुग्ध भी स्वीकार करते थे। यह बात प्रसिद्ध थी कि महाराजको भिक्षा करनेमें समय नहीं लगता, केवल तीनसे पाँच मिनटमें ही भिक्षा हो जाती। जो कुछ समय लगता, वह भगवान्‌को भोग लगानेमें ही लगता। एक बारकी भिक्षाके अतिरिक्त अन्य किसी समय फल इत्यादि भी वे ग्रहण नहीं करते थे। चातुर्मास्यके दिनोंमें तो उन्हें प्रातःकालसे रात्रिके नौ बजेतक अन्न-जल लेनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। सभी कार्योंसे निवृत्त होकर रात्रिमें नौ बजेके बाद केवल फल और दूध भिक्षाके रूपमें ग्रहण करते। यह क्रम दो मासपर्यन्त प्रायः एक ही प्रकारसे चलता।

स्वामीजी महाराज नियमके अटल थे। प्रत्येक एकादशीको उनका निर्जल व्रत रहता। भीषण-से-भीषण गर्मीमें भी वे एकादशीको जल नहीं ग्रहण करते थे। कई बार पूर्वके दिनोंमें अपने तप और साधनाके क्रममें वे सात दिनतक श्रीमद्भागवतका सप्ताह पाठ करते और अन्तमें सातवें दिन दूधकी भिक्षा लेते। यह क्रम कई दिनों, कई महीनोंतक चलता रहता। तुलसीप्रसादमें महाराजकी अनन्य आस्था थी। एकादशीके निर्जल व्रतमें भी वे तुलसीदल ग्रहण करनेका निषेध नहीं करते थे।

महाराजके जीवनमें नियमकी प्रतिबद्धता थी। अधिक मात्रामें ज्वर आदिके रहनेपर भी वे प्रातः तीन बजेसे पूर्व उठकर एक बार स्नान कर अपनी साधनामें अवश्य बैठ जाते। भले ही अस्वस्थताके कारण कुछ क्षणोंके बाद उन्हें विश्राम करना पड़ता। जाड़े-गर्मी तथा बरसात सभी समय प्रायः वे एक चादर ओढ़कर ही सोते दिखायी पड़ते।

काशीमें महाराजकी अटूट श्रद्धा थी। वे यह मानते थे कि जन्म-जन्मान्तरकी साधनाओंके बाद भी त्याग, वैराग्य और तपसे साधन-सम्पन्न मुक्त योगियोंको जो वस्तु दुर्लभ है, वह मोक्ष-पद काशीमें शरीर त्यागनेमात्रसे सुलभ हो जाता है। इसलिये वे सदा काशीके लिये कहा करते—**'मङ्गलं मरणं यत्र'** अर्थात् जहाँका मरण भी मङ्गलमय है। इसलिये प्रारम्भसे ही उनका यह संकल्प था कि शरीर काशीमें ही त्यागना है। और अपने इस सत्संकल्पके अनुसार उन्होंने काशी-स्थित केदारघाटपर केदारेश्वर-मन्दिरके निकट गङ्गातटपर ७ फरवरी, १९८१ ई० तदनुसार माघ शुक्ला चतुर्दशी, रविवारको इस पार्थिव शरीरका परित्याग किया और वे पूर्ण ब्रह्ममें लीन हो गये।

महाराज सबके कल्याणके लिये शास्त्रको ही परम प्रमाण मानते थे, इसलिये उनके जीवनका लक्ष्य था शास्त्रीय

सिद्धान्तोंकी रक्षा और जीवनपर्यन्त निर्भीकतापूर्वक उन्होंने इसका निर्वाह भी किया। उनके जीवनमें ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग—इन तीनोंकी अजस्र धारा समानरूपसे प्रवाहित होती रही।

ज्ञानयोगी स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज

ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज (श्रीमदनमोहनजी) स्थितप्रज्ञ और जीवन्मुक्त महात्मा थे। आत्माके ज्ञानको प्राप्त करने और अविद्याके पापसे बचनेके लिये २० वर्षकी अवस्थामें घरसे चले गये और फैजाबादसे अपने पत्रमें अपने पिता तथा बाबाको लिखा····'मैं इस बातका दावा भी नहीं कर सकता कि मैं इसी जन्ममें उस मार्गको ढूँढ़ लूँगा, परंतु कम-से-कम नींव तो पड़ जानी चाहिये, आगे ईश्वरकी इच्छा

है·····**प्रेम-स्वरूप परमात्मा मुझको अविद्याके बन्धनसे** हटाकर विद्याके सूर्यमें लावें····अविद्यामें पड़े जीना भी मरेके समान है····संसारमें दुःखों एवं अविद्याको देखकर मेरा हृदय काँप जाता है और यही समझता है कि या तो शीघ्र ही ईश्वरकी शरणमें जाओ, नहीं तो कल्याण नहीं है। जंगलमें रूखी-सूखी रोटी खाकर जीवन बिता दूँगा······ मुझे मृत्यु स्वीकार है; परंतु अविद्यामें रहकर धनवान् होना स्वीकार नहीं है। उसी अविद्याको हटानेके उपायमें मैं अपने जीवनको व्यतीत करना चाहता हूँ।'

दृढनिश्चयी, ईश्वरकृपाप्राप्त, परम विरक्त मदनमोहन, कालान्तरमें अपने प्रयाससे श्रीस्वामी कृष्णबोधाश्रम हुए और उन्होंने अपने इसी जन्ममें अविद्याको हटाने और विद्याको प्राप्त करनेका लक्ष्य प्राप्त कर लिया। वे जीवन्मुक्त और स्थितप्रज्ञ महात्मा हो गये। बादमें उन्होंने श्रीज्योतिष्पीठके आचार्य-पदका गौरव बढ़ाया और अपने कल्याणके साथ सहस्रों मानवोंका कल्याण किया।

परब्रह्म परमात्माको जो महापुरुष प्रिय हैं, उसका लक्षण गीतामें स्वयं उन्होंने अपने श्रीमुखसे वर्णन किया है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(गीता १२। १३-१४)

ब्रह्मलीन जगद्गुरुजी ऐसे ही संत-कोटिके महापुरुष थे। वे एक महान् वीतराग, विवेकी, ब्रह्मनिष्ठ तथा ज्ञानयोगी तो थे ही, साथ ही सर्वभूतहितैषी होते हुए उनकी ब्रह्मात्म-दृष्टि थी। ध्यानयोगमें उनकी मुख्य निष्ठा थी। वे लगातार तीन घंटेसे छः घंटेतक ध्यानमें बैठे रहते। जिन लोगोंने उनका दर्शन किया, उनको मालूम है कि जब वे ध्यानमें बैठते तो उन्हें बाह्य जगत्का ध्यान नहीं रहता। ढोल-नगाड़े, गाजे-बाजे और सांसारिक शोर-गुल भी उनके ध्यानमें व्यवधान नहीं डाल पाते, कारण कि उन्हें इनका आभास ही नहीं होता। उनके ध्यानकी यह विशेषता थी कि बिना घड़ी देखे निर्धारित समयपर ध्यान पूरा हो जाता। उन्होंने दण्ड-संन्यास ले रखा था। वे प्रायः पैदल यात्राके अभ्यासी थे। गङ्गा-किनारे रहने और घूमनेका उनका अभ्यास था।

स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजका जन्म वि०-सं० १९४९ (ई० सन् १८९२) में मथुरा जिलान्तर्गत भाण्डीर-वनस्थ ग्राममें एक प्रतिष्ठित सनाढ्य ब्राह्मण पं० श्रीटीकारामजीके घरमें हुआ। आपने सेंटजांस कालेज

आगरामें उच्च शिक्षा प्राप्त की। संस्कृतका भी आपको प्रगाढ़ ज्ञान था। आप परम विरक्त तथा संसारसे विमुख थे। बाल्यावस्थासे ही संसारमें कोई रुचि नहीं थी। प्रारम्भसे ही ये स्वभावसे दयालु एवं परोपकारी थे। बीस वर्षकी अवस्थामें जुलाई १९१३ ई० के श्रावण मासमें आपने गृहका परित्याग कर दिया और गङ्गा-यमुना तथा सरयू आदि पवित्र नदियोंके तटपर एवं विभिन्न तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए आप सर्वप्रथम अयोध्या पहुँचे। १९१६ ई० में श्रीस्वामी चैतन्याश्रम महाराजसे दीक्षा ली और दण्ड ग्रहण किया। इस समय आपकी अवस्था चौबीस वर्षकी थी।

आपने आद्य श्रीशंकराचार्यजीके इस निर्देशको—'संन्यासीको चाहिये कि वह सदा घूमता रहे एवं धर्म-प्रचारमें निरत रहे' अक्षरशः अपने जीवनमें उतार लिया। फलतः आप अधिकांशतः गङ्गा-यमुनाके मध्य देशमें पैदल ही विचरण करते रहे। इन दिनों प्रायः आप गढ़मुक्तेश्वर एवं बागपत (मेरठ क्षेत्र) में ही विचरते हुए साधनारत रहे। इसी साधनाके मध्य आपने समस्त वेदान्त, धर्म-शास्त्रों, रामायण, महाभारत एवं अठारहों पुराणोंका गम्भीर अध्ययन किया तथा विशेष पारायण किये।

कठिन-से-कठिनतर व्रतोंका अनुष्ठान करते हुए गङ्गा-यमुनाके तटपर पैदल विचरते अपने धर्माचरणसे अनेक व्यक्तियोंको स्वधर्मनिष्ठ बनाते हुए, श्री १००८ स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराजने इस भारतवर्षकी पावन भूमिपर न जाने कितनी पैदल यात्राएँ की हैं। एक समय अल्पाहार, त्रिकाल-स्नान, गङ्गाजल-पानपूर्वक आप जप-यज्ञ एवं ध्यानमें तल्लीन रहते। दृष्टि सदा नीची रखते या आँख बंद कर लेते थे। शास्त्रका यह वचन है कि **'न नेत्रचपलो यतिः।'** संन्यासीको नेत्रोंको पृथ्वीकी ओर झुकाकर चलना चाहिये, इसे आपने अपने जीवनमें उतार रखा था। ये कभी भी न नगरकी भीड़भाड़के क्षेत्रमें प्रवेश करते, न किसी स्त्रीको देखते, न पैर ही छुआते थे। यदि कभी कोई स्त्री भूलसे चरण छू लेती तो तीन दिवसका कठोर व्रत, अन्न-जल-त्याग आदि विभिन्न कठिन व्रत धारण करते। स्वादके नामपर कुछ नहीं लेते। प्रातःकालके तीन बजेसे पुनः रात्रिके दस बजेतककी जिन्होंने आपकी दिनचर्या देखी है, उनका कहना है कि ध्यान, जप, अध्ययन, सत्संग, उपदेश, धर्म-प्रचार—इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रसंगको वहाँ स्थान नहीं।

'शिखा-सूत्र धारण करो', 'संध्या-वन्दन, बलिवैश्वदेव करो', 'अतिथि-सत्कार करो', 'भारतीय वेष-भूषा धारण करो', 'शास्त्रोंका अध्ययन करो', 'रामायणका पाठ करो', 'मादक द्रव्योंका सेवन न करो'—प्रायः इन्हीं बातोंपर आप अधिक जोर देते थे। आपकी दृष्टिमें थोड़ेसे भी धर्मके आचरणका बड़ा महत्त्व रहता। धनके सामने धर्मको आपने सदासे महत्त्व दिया। यही कारण है कि आपके कृपापात्रों, भक्तों—अनुयायियोंमें साधारण कोटिकी जनता ही अधिक है, जिनमें अनपढ़ किसान, जाट, गूजर, गरीब ब्राह्मण, छोटे-छोटे व्यापारी वैश्य, दफ्तरोंके साधारण कर्मचारीगण अधिक हैं। आप प्रायः कहा करते थे कि 'यह वर्ग ही समाजकी रीढ़ है, यदि यह 'शिखा-सूत्र'को धारण किये रहे, संध्या-वन्दनादि, नित्य-नैमित्तिक स्वकर्मोंमें वर्णाश्रमानुसार लगे रहे तो फिर संसारमें कलियुग लाख आये, कुछ बिगड़नेवाला नहीं।' अतः आपका अधिक-से-अधिक बल स्वधर्माचरणपर ही रहता था।

धर्मोपदेश

महाराजश्री स्वयं भी धर्मकी साक्षात् मूर्ति थे। कठोर-से-कठोर व्रतोंका आचरण करते-करते आपने तरुणावस्थामें ही सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली। तंबाकू पीनेवालेके यहाँ आप भिक्षा पानेका सदैव निषेध करते थे। आप जीवनमें शौचाचारको प्रमुख स्थान देते थे। आपकी स्मरण-शक्ति अद्वितीय थी, जिसे एक बार देख लिया तथा परिचय हो गया, वह व्यक्ति यदि बीस वर्ष बाद भी मिला तो प्रथम परिचयमें ही उसकी कुशल-क्षेम स्वयं ही न पूछी तो बात ही क्या रही।

पाक-शुद्धि तथा आहार-शुद्धिको आप बहुत महत्त्व देते थे। उनका कहना था कि 'जैसा खाओगे अन्न वैसा बनेगा मन'—अतः जो भी जहाँ भी मिल जाय उसे जिस-तिस प्रकारसे खड़े-खड़े उलटा-सीधा खानेकी आप तीव्र भर्त्सना करते थे। आप कहते थे कि 'भक्ष्याभक्ष्य-विवेक'की आज सर्वाधिक आवश्यकता है, अभक्ष्य-भक्षण सब प्रकारकी बीमारियोंका मूल है, बाजारमें बने पदार्थोंके सेवनका आप निषेध करते थे। आपका कथन था कि 'शुद्ध-सात्त्विक पदार्थ अपने घरमें ही

चौका-आसन लगाकर मौन होकर अतिथि, गौ, श्वान, कौवा, पिपीलिका आदिका भाग निकाल कर पञ्चमहायज्ञ एवं बलिवैश्वदेव आदि करनेके उपरान्त ग्रहण करना चाहिये। ऐसा करनेपर ही मन शुद्ध बनेगा तथा शुद्ध विचार, शिव-संकल्प मनुष्यके हृदयमें आयेंगे और तभी परोपकार, दया, अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि धर्मके लक्षणोंका पालन करनेमें सक्षम हुआ जा सकेगा तथा सच्चरित्र बना जा सकेगा और तभी प्रत्येक व्यक्ति एवं समस्त समाज सुखी रह सकेगा, अन्यथा घावको न धोकर, केवल पट्टीको धोने-जैसा आपका प्रयास होगा। सच्चा सुख सदाचरणमें ही है जिसका मूल है शुद्ध आहार—सात्त्विक भोजन, भक्ष्याभक्ष्य-विवेक।'

उपर्युक्त विचारधाराको जीवनमें उतारनेकी प्रेरणा प्रदान करते हुए, आपने अहर्निश उत्तरी भारतकी अनेक तीर्थयात्राएँ पैदल गाँव-गाँव, नगर-नगर घूम-घूमकर सम्पन्न कीं। देशके एक छोरसे दूसरे छोरतक आपके त्याग, तपस्या-विद्वत्ता, सिद्धि एवं सादगीका वर्णन फैलने लगा।

सनातनधर्मके पुनःस्थापन एवं उसके प्रचार-प्रसारमें अनन्तश्री स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजके साथ आपका प्रगाढ़ स्नेह, सहयोग और सम्बन्ध था। उनके विशेष आग्रहपर ही इन्होंने ज्योतिष्पीठ बदरिकाश्रममें शंकराचार्य-पदको ग्रहण किया। इस पदको स्वीकार करनेके पूर्व इन्होंने स्पष्टरूपसे तीन शर्तें रख दी थीं—

(१) खादीके मोटे वस्त्रोंको छोड़कर कौशेय वस्त्र धारण नहीं करूँगा, (२) मिट्टीका कमण्डलु जो सदा साथ रहता है, उसे नहीं छोड़ूँगा तथा (३) सिंहासनपर बैठनेकी बाध्यता नहीं रहेगी और कभी भी किसी सामान्य आसनोंपर बैठ सकता हूँ।

इस प्रकार स्वामीजी महाराज त्याग और सरलताकी प्रतिमूर्ति थे। इनका जीवन सनातन जगत्के लिये अनुकरणीय तथा शिक्षाप्रद रहा है। ८१ वर्षकी अवस्थामें भाद्रशुक्ला त्रयोदशी, तदनुसार १० सितम्बर १९७३ ई० के सायंकालकी प्रदोष-वेलामें आप इस पाञ्चभौतिक शरीरको छोड़कर ब्रह्ममें लीन हो गये।

योगी गुरु परमहंस श्रीमत्स्वामी निगमानन्दजी सरस्वतीदेव

(श्रीदुर्योधन प्रधानजी)

परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमत्स्वामी निगमानन्दजी सरस्वतीदेवका जन्म अविभाजित बंगालके नदिया जिलेमें
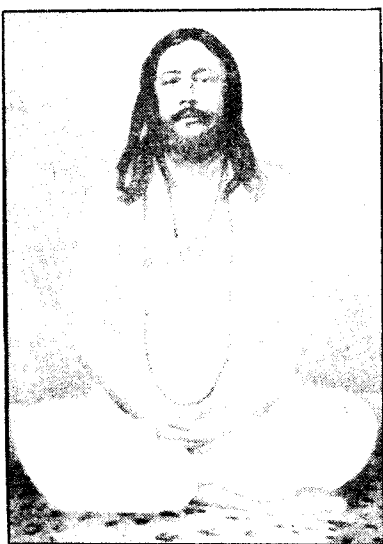
कुतुबपुर नामक एक छोटेसे गाँवमें सन् १८८० ई० के श्रावण पूर्णिमाके दिन हुआ था। उनके बचपनका नाम नलिनीकान्त था। पिता भुवनमोहन भट्टाचार्य और माता माणिक्यसुन्दरी-देवीकी वे प्रथम संतान थे। बालक नलिनीकान्त प्रारम्भमें नास्तिक थे, उन्हें ईश्वर, देवी-देवताओं और परलोकपर विश्वास नहीं था। परंतु उनके जीवनमें धीरे-धीरे ऐसी घटनाएँ होने लगीं कि उनकी योग-साधना एवं तत्त्व-विचारपर दृढ़ आस्था हो गयी और वे क्रम-क्रमसे अनेक यौगिक साधनाओंका अभ्यास करने लगे।

नलिनीकान्त जब मात्र बारह वर्षके थे, अचानक उनकी माँका स्वर्गवास हो गया, उसके बाद जब वे अठारह वर्षके थे तो उनकी प्रियतमा पत्नी देवी सुधांशुबालाका भी देहान्त हो गया। मृत्युके बाद देवीने उन्हें तीन बार छायामूर्तिमें दर्शन दिये और उन्हें विश्वास दिलाया कि परलोक सत्य है। उन्हीं देवीकी अशरीरी प्रेरणासे नलिनीकान्त परलोक-तत्त्वकी खोज करने लगे। पहले उन्होंने मद्रासमें महात्मा लेडबिटरके सांनिध्यमें थियोसोफीकी शिक्षा ली। इसी बीच पूर्णानन्द सरस्वती नामक साधुसे उनकी भेंट हुई। उन्होंने इन्हें महाशक्तिकी साधनाकी प्रेरणा दी और किसी सच्चे सद्गुरुकी शरण लेनेको कहा।

अब नलिनीकान्त उपयुक्त गुरु प्राप्त करनेके लिये व्याकुल हो उठे। इस बीच एक अशरीरी महापुरुषने उनकी अर्ध-निद्रावस्थामें दर्शन देकर उन्हें महाशक्ति ताराका बधू-बीजमन्त्र प्रदान किया। वीरभूमि जिलेके तारापीठमें तत्कालीन महाभैरव-साधक वामाक्षेपाने महाशक्तिकी साधनामें उनकी सहायता की। फलस्वरूप मात्र एक ही रात्रिकी साधनामें उन्होंने महाशक्ति ताराका अपनी पत्नीके रूपमें दर्शन किया।

इसके बाद उन्होंने पुष्कर तीर्थके सावित्री-आश्रममें वेदान्ती साधु स्वामी श्रीसच्चिदानन्दजी सरस्वतीके सांनिध्यमें योग-ज्ञानकी साधना की। यहींपर संन्यासकी दीक्षा देकर गुरुने उनका नाम निगमानन्द रखा। यहींसे श्रीगुरुके निर्देशसे निगमानन्दजी आत्मतत्त्वकी जिज्ञासासे योगी गुरुकी खोजमें निकल पड़े। भ्रमण करते हुए वे अरुणाचल प्रदेशमें पहुँचे। वहाँ एक विजन-वन-क्षेत्रमें योगाचार्य स्वामी सुमेरुदासजीसे उनकी भेंट हुई। स्वामीजी उन्हें अपनी गुफामें ले गये और उन्हें योगकी शिक्षा देने लगे। निगमानन्द गुरुके निर्देशसे योग-साधनाके लिये लोक-समाजमें आये। उन्होंने मेदिनीपुर जिलेमें एक जमींदारके गृहमें रहकर योग-साधना आरम्भ की। सर्वप्रथम शरीरको साधनाके उपयोगी बनानेके लिये उन्होंने हठयोगकी षट्-साधनासे शरीर-शोधनका अभ्यास किया। उसके बाद उन्होंने 'लय' योगकी साधनासे अनेक दिव्य समाधिलाभोंको प्राप्त किया। पुनः उन्होंने ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने-हेतु प्रेमसिद्धा योगिनी माँ गौरादेवीसे प्रेमतत्त्वकी शिक्षा ली तथा भावसमाधिमें निमग्न हुए। इस प्रकार अनेक साधनाओंका अभ्यास करते हुए उन्होंने १९३५ ई० में महासमाधि ली। अनेक सारस्वत संघोंके द्वारा आज भी उनके उपदेशों और सिद्धान्तोंका प्रचार-प्रसार हो रहा है।

स्वामी श्रीमहेश्वरानन्दजी सरस्वती महाराज

काशी सुमेरुपीठाधीश्वर स्वामी श्रीमहेश्वरानन्द सरस्वतीजी पूर्वाश्रममें पं० महादेव शास्त्रीके नामसे विख्यात थे। न्याय,

व्याकरण, साहित्य, मीमांसा तथा वेदान्तादि शास्त्रोंके वे प्राचीन पद्धतिके निष्णात पण्डित थे। वे संयम, त्याग एवं वैराग्यकी प्रतिमूर्ति थे। उनके जीवनका एक ही लक्ष्य था कि छात्रों एवं बालकोंको संस्कृत-साहित्यका प्रौढ ज्ञान कराया जाय, जिससे उनमें भारतीय संस्कृतिके अमूल्य ग्रन्थोंके स्वाध्यायकी क्षमता आ सके और वे अपने जीवनको सार्थक बना सकें। ग्रन्थोंके गूढ़तम रहस्योंके उद्घाटन तथा उनके पठन-पाठनकी विलक्षण युक्तियाँ उन्हें प्राप्त थीं। पं० महामना मदनमोहन मालवीयजीने उनकी योग्यता एवं प्रखर बुद्धिका आकलन कर उन्हें हिन्दूविश्वविद्यालयमें संस्कृत-महाविद्यालयका अधिभार सौंपा। वहाँसे मुक्त होनेके पश्चात् उन्होंने स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजसे दण्ड-संन्यास ग्रहण किया तथा बादमें वे काशीस्थ सुमेरुपीठमें शंकराचार्यके पदपर भी अभिषिक्त किये गये। संन्यास ग्रहण करनेके बाद भी उनका अधिकांश समय सत्-शास्त्रोंके अध्ययन एवं अध्यापनमें ही बीता। देवोपासना, आराधना और जनता-जनार्दनमें सात्त्विक विचारोंका प्रचार-प्रसार ही उनकी मुख्य दैनिक चर्या थी। वे एक महान् योगी थे। काशीमें, आश्विन मासकी अमावास्याके दिन आजसे प्रायः १६ वर्ष पूर्व सन् १९७५ ई० में उन्होंने अपनी इहलौकिक लीला पूर्ण की।

वाराणसीके हरिहर बाबा

[योगी स्वामी श्रीहरिहरानन्दजी]

वाराणसी नगरीके दक्षिण भागमें गङ्गाके किनारे 'बनपुरवा'के पास काशीके प्रख्यात संत स्वामी श्रीवीतरागानन्दजी और योगी श्रीहरिहरानन्दजीका साथ बहुत दिनोंतक रहा। साथ रहनेपर भी दोनों संत एक-दूसरेके विषयमें कुछ कहने और कुछ सुननेके विरोधी ही रहे हैं। कुछ दिनोंके बाद योगी श्रीहरिहरानन्दजी वाराणसीके अस्सी-संगमपर रहने लगे थे, किंतु उसके पूर्व बहुत दिनोंतक 'काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय' के सामनेवाले गङ्गा-घाटपर भी नौकामें ही रहते रहे। इनकी प्रसिद्धि हरिहर बाबाके नामसे थी।

योगी स्वामी श्रीहरिहरानन्दजीके विषयमें काशीके वयोवृद्ध पण्डितों और संत-महात्माओंसे जो कुछ जानकारी मुझे उपलब्ध हुई, उसके आधारपर उनका जन्म जनपद छपरा, परगना गोवा, गाँव जाफरपुरामें हुआ था। इनके पिता सरयूपारीण ब्राह्मण थे। प्रारम्भमें श्रीहरिहरजीने पटनामें संस्कृतकी पढ़ाई प्रारम्भ की, किंतु वर्तमान शिक्षा-प्रणालीसे उनके मनमें अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न हुआ और वे उसे छोड़कर काशी आ गये। काशी पहुँचते ही उनके मनमें संसारके प्रति वैराग्य उत्पन्न होने लगा और वे काशीसे चलकर अयोध्यामें कुछ दिनों रहे, पुनः वाराणसी वापस आ गये। तबसे वे वाराणसीमें ही स्वामी श्रीवीतरागानन्दजीके पास बनपुरवाके समीप गङ्गाके किनारे रहने लगे।

यहाँ उन्होंने योग-साधनाके आश्रयसे त्याग-वृत्ति ग्रहण की। उनको न तो भोजनकी चिन्ता रहती और न वस्त्रकी ही आकाङ्क्षा। इस प्रकार अनासक्त-भावसे योग-साधनाका अभ्यास चलता रहा। वे दिन-दिनभर समाधिस्थ रहते। उनको समाधिस्थ देखकर कुछ भक्त उनके पासमें फल आदि रख देते थे। समाधि टूटनेपर वे अपनी आवश्यकतानुसार कुछ ग्रहण भी कर लेते थे। कई वर्षोंतक वे इसी प्रकार ध्यान-समाधि लगाते रहे।

कुछ दिनोंके बाद उनकी समाधि गङ्गाजीकी धारामें भी लगने लगी। सावन-भादोंकी गङ्गाकी भयानक बाढ़के समय योगी श्रीहरिहरानन्दजी बनपुरवासे आगे छोटे मीरजापुरके पास गङ्गाके किनारे पहुँच जाते और बीच गङ्गाकी धारामें पहुँचकर पद्मासन लगाकर पीठके बल लेट जाते और श्वास चढ़ाकर गङ्गाकी धारामें अपनेको छोड़ देते। गङ्गामैया उनको अपनी गोदीमें लेकर अपने प्रवाहके आधारपर लगभग चार मीलतक बहाकर काशीके राजघाटकी ओर वरुणा-गङ्गा-सङ्गमतक पहुँचा देतीं। वरुणा-गङ्गा-सङ्गमपर पहुँचकर वे आसनसे पृथक् होकर गङ्गाकी पूर्वी धारा या किनारेका सहारा लेकर पैदल चल पड़ते और चलते-चलते जहाँ कहीं रात हो जाती वहीं विश्राम कर लेते। कुछ देरतक विश्राम कर लेनेके बाद पुनः वहीं मीरजापुरके पास गङ्गाके पूर्वी किनारेपर पहुँच जाते।

गङ्गामें समाधि लगानेका यह क्रम उनका बहुत दिनोंतक चलता रहा। उनकी साधनाके उस कार्यक्रममें विचित्र बात यह होती थी कि उनके कई भक्त इनके भोजनकी चिन्ता करके उनके लिये फल-दूध लेकर गङ्गाके किनारे उनकी खोज भी करते रहते थे। उनके विश्राम-स्थलकी खोज करके उन्हें फल-दूध देनेका प्रयास भी करते थे। इतना ही नहीं, संत श्रीहरिहरानन्दजीके कुछ ऐसे भक्त भी थे जो उनके लिये कम्बल, वस्त्र भी ले जाते थे और रात्रिमें उनको ओढ़ा देते थे। त्यागी संत श्रीहरिहरानन्दजी उन कीमती कम्बलों और वस्त्रोंको वहीं-का-वहीं छोड़कर चल देते थे और जिस-किसीकी दृष्टि उनपर पड़ती, उसे उठा ले जाता या सुरक्षित कर देता था। किंतु योगी श्रीहरिहरानन्दजीको उनकी कोई चिन्ता न रहती थी।

योगी श्रीहरिहरानन्दजीका यह नियम बन गया था कि वह काशीपुरीकी सीमाके भीतर मल-मूत्रका त्याग नहीं करते थे। अतः उनको गङ्गाके पूर्वी किनारेका सहारा लेना ही पड़ता था। जब उनका शरीर कुछ शिथिल होने लगा तो भक्तोंने उनके लिये नौकाका प्रबन्ध कर दिया। स्वामी श्रीहरिहरानन्दजीके शिष्य नौकापर उनको गङ्गाके पूर्वी किनारेपर ले जाते, तब वे मल-मूत्रका त्याग करते थे।

बरसातकी भयानक बाढ़ या माघकी भयानक शीत या जेष्ठ मासकी चिलचिलाती धूपमें भी उनका नियम टूटने नहीं पाता। गङ्गाजीमें तथा ग्रीष्ममें गङ्गाकी तपती बालूमें समाधि लगानेके अतिरिक्त योगी श्रीहरिहरानन्दजी वर्षोंतक घंटों गङ्गामें (छातीभर पानीमें) खड़े रहकर जप भी करते रहे।

धीरे-धीरे उनकी योग-साधनाके अलौकिक प्रभावोंका वाराणसी तथा आस-पासमें अत्यन्त प्रचार-प्रसार हो गया; काशीमें पहुँचनेवाले तीर्थयात्री, पर्यटकगण और अनेक श्रद्धालु भक्त उनके दर्शनोंसे विचित्र शान्तिका अनुभव करते। महामना मालवीयजी तो उनके परम भक्त बन गये।

अपने जीवनकी अन्तिम साधनाओंमें प्रायः वे मौन ही रहते, बहुत कम बोलते थे। बहुत बुलानेपर 'राम राम' या 'शिव शिव' कह देते। उनसे एक भक्तने बहुत आग्रह करके पूछा—'स्वामीजी ! आपको सिद्धि कैसे मिली ? स्वामीजीका उत्तर था—'चाहना' चमरिया होऽव ओकरे चक्करमेंऽन पड़े तोऽसिद्ध अपने आप मिलि जात होऽ।' इसका तात्पर्य यह है कि भगवदासक्तिके अतिरिक्त अन्य कोई भी आसक्ति अत्यन्त दुःखदायी और बन्धनका मूलहेतु है। यदि उसका सर्वथा परित्याग कर दिया जाय तो शीघ्र ही परमसिद्धि या भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

जीवनभर अनवरत योग-साधना करते हुए तथा भक्तोंको सदुपदेश देते हुए संवत् २००६ आषाढ़ शुक्ला पञ्चमीको योगी श्रीहरिहरानन्दने अपने पाञ्चभौतिक शरीरको छोड़कर योगिगम्य परम शिवधामको प्राप्त किया।

(आचार्य श्रीबलरामजी शास्त्री, एम्० ए०)

योगिराज श्रीदेवराहाबाबाजी

वर्तमान शताब्दीके सिद्ध एवं प्रकट योगियोंकी श्रेणीमें ब्रह्मर्षि श्रीदेवराहाबाबाजी महाराजका स्थान अग्रणी है। वे योग-विज्ञान और उसकी कलाके गुह्य रहस्य और प्राविधिके विशेष सिद्धयोगी रूपमें विश्रुत थे। बाबाजी अपनी सहज समाधिमें त्रिकालदर्शी ईश्वरलीन महात्मा थे।

आजसे कई वर्ष पूर्व विशाल जटाजूटसे सुशोभित एक निर्वसन तपस्वी कर-कमलोंमें तुंबा लिये मइलग्राममें सरयू नदीके तटपर पधारे। वे किसीको निकट नहीं आने देते थे। वृक्षके तले या मैदानमें रहते, सरयू-जलका सेवन करते और विशेष आग्रहपर किन्हीं-किन्हीं श्रद्धालु भक्तोंसे प्राप्त गौका दूध सेवन कर लेते। रात्रिमें वहाँ उनके पास कोई नहीं जाता—ऐसा उनका नियम था। स्त्रियाँ दूरसे ही दर्शनकर वापस लौट जातीं। उन दिनों वे महात्मा विशेषतः मौन धारणकर तपस्यारत ही रहते थे, केवल कुछ इने-गिने भक्तोंको ही सत्संगका लाभ मिलता था।

क्षेत्रीय ग्रामीणोंने प्रार्थना की कि 'महाराज ! हमलोग अपनी गौओंके साथ कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हैं, क्योंकि नदीके कटावसे जमीन धारामें चली गयी है। ऐसी कृपा करें जिससे सरयू मैया हमलोगोंकी जमीन वापस कर दें और दियरा पड़ जाय।' महात्माजीने उत्तर दिया—'बच्चा ! सरयू मैया तुमलोगोंपर अवश्य कृपा करेंगी, दियरा पड़ेगा, किंतु गो-चारणके लिये गोचर-भूमि छोड़नी पड़ेगी और मेरा मञ्च कटिपर्यन्त नदीकी धारामें रहेगा। स्थानीय भक्तोंने उस आदेशको मान लिया और वहीं मइलग्रामके दक्षिणी-पश्चिमी तटपर दियारेमें एक भव्य मञ्च बना, जहाँ महात्माजी विराजने लगे। तभीसे उनका नाम देवराहाबाबा या दियरहवा बाबा पड़ा।

सिरपर बड़ी-बड़ी जटाएँ, चेहरेपर घनी दाढ़ी-मूछें, उन्नत ललाट, चमकती आँखें, श्यामल वर्ण, मुखमण्डलपर परम शान्ति और सात्त्विकता, दुबली-पतली काया—यह थी बाबाकी बाह्य आकृति।

श्रीबाबाजीका दरबार सबके लिये सदैव खुला रहता था। धनी-निर्धन, बड़े-छोटेका भेद नहीं था। वे मुक्त-हृदयसे

सबको आशीर्वाद देते थे। हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, विद्वान्, अज्ञ तथा विशिष्ट पदाधिकारीसे लेकर सामान्य मजदूरतक दर्शनमें उपस्थित होते थे, किंतु सबके लिये एक ही प्रेमपूर्ण आशीर्वचन था 'दया'। आशीर्वादके साथ-साथ बाबा सबको प्रसाद दिलवाते थे। प्रसादमें प्रायः बताशे, सेव और मखाने हुआ करते थे।

बाबाको अनासक्त-भावसे मचानपर बैठे देखकर किसीको भी लग सकता था कि उन्हें दुनियासे कोई सरोकार नहीं। पर ऐसा नहीं था, वे अपने कल्याणमय आशीर्वाद तथा स्पन्दनोंसे मानवकी सुप्त चेतनाको जाग्रत् करनेका निरन्तर प्रयास किया करते थे। श्रीबाबाके शिष्योंकी संख्या सारे विश्वमें फैली हुई है, जिसमें सभी श्रेणीके धर्म-प्रेमी सम्मिलित हैं। गो तथा संतसेवी कई आश्रम भी पूज्य श्रीबाबाजीके सहयोगसे देशके भिन्न-भिन्न भागोंमें सुस्थापित हुए हैं। ब्रह्मलीन श्रीदेवराहाबाबाजी महाराजके जन्मकालसे लेकर सरयूतट-आश्रमपर विराजनेतकको अवधिमें घटित पूर्वचरित अज्ञात है। प्रमाणानुसार जन्मसिद्ध संत भी इस धरापर लोगोंके कल्याणार्थ आते हैं। पूज्य श्रीबाबाजीसे उनकी अवस्थाके बारेमें बहुतसे श्रद्धालु भक्तोंने जिज्ञासा की थी। महाराजका समाधान था—'बच्चा! अनादिकालसे जीव-ब्रह्मका सम्बन्ध है—***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'***तब इसकी अवस्था क्या? अवस्था तो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण-शरीरकी होती है। योगियोंकी एक भिन्न अवस्था है, जिसे तुरीय कहते हैं। किंतु मेरी तो ब्रह्मलीन अवस्था है।'

बाबाके साथ चमत्कारोंकी अनेक गाथाएँ जुड़ी हैं। अपने इर्द-गिर्द उन्होंने किसी प्रकारका आडम्बर इकट्ठा नहीं किया, घास-फूसके निर्जन स्थानमें गङ्गा-यमुना और सरयूके किनारे काष्ठमञ्चपर वह इतने आनन्दसे रहे, जितने आनन्दसे कोई सम्राट् भी अपने महलमें नहीं रह पायेगा। जिन्हें एक बार भी योगसिद्ध पूज्य श्रीबाबाजीका दर्शन-लाभ हो जाता, उन्हें कुछ भी पाना शेष नहीं रहता।

गत १९ जून १९९०को योगिनी एकादशीके दिन महाराजश्रीका महाप्रयाण हो गया। श्रीमहाराजजीके आदेशानुसार उन्हें जलसमाधि दी गयी।

[प्रेषक—श्रीमदनजी शर्मा 'शास्त्री']

महात्मा ईसा

ईसामसीह ईसाई धर्मके आदि संस्थापक थे। इन्हें ईसाई लोग जगत्का त्राणकर्ता तथा ईश्वरका पुत्र मानते हैं। इनका जन्म-वृत्तान्त अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। इनकी माता मेरी कुमारी ही थी, जिसके गर्भसे इस पवित्रात्माने अवतार लिया।

बचपनसे ही ईसा बड़े प्रतिभासम्पन्न थे। धर्म-ग्रन्थोंके अध्ययन तथा ईश्वरप्राप्तिके साधनमें ही इनका सारा समय व्यतीत होता था। माता-पिताके प्रति इनकी अगाध भक्ति थी। इनके सत्तर शिष्य हुए, जिन्होंने इनके मतका प्रचार किया। दीक्षाके अनन्तर ईसा भगवत्प्राप्तिके हेतु जंगलमें जाकर एकान्तमें ध्यानमग्न रहने लगे। इस अवधिमें योगाभ्यास करते हुए इन्हें पापोंसे घोर संग्राम करना पड़ा, जिसमें ये अन्तमें विजयी हुए।

यहूदियोंसे मत-भेद होनेके कारण तथा उनके आक्रमणसे ऊबकर ये जेरुजेलम भाग गये, जहाँ गुप्तरूपसे इनपर वार किये गये। इन्होंने अन्धेको दृष्टि दी तथा वेश्याओं और पतितोंका उद्धार किया। एक दिन ईसाने यहूदियोंको स्पष्टरूपमें दम्भी कहा, जिसके परिणामस्वरूप वे लोग इन्हें मार डालनेकी मन्त्रणा करने लगे। उन लोगोंने इन्हें पकड़कर बंदी कर लिया। अन्तमें ईसाको काँटोंका मुकुट पहनाकर इन लोगोंने सूलीपर लटका दिया। ईसाके हाथ और पैरमें जब निर्दयता-पूर्वक कीलें ठोंकी जा रही थीं, उस समय भी ये हत्याकारियोंकी मुक्तिके लिये प्रार्थना कर रहे थे—'हे पिता! इन्हें क्षमा कर दो, क्योंकि ये अबोध हैं।' मरते समय भी महात्मा ईसाके चेहरेपर प्रसन्नता खेलती रही और वे अखण्ड श्रद्धा और प्रेमके साथ परमात्माकी प्रार्थना कर रहे थे। महात्मा ईसाने अपने उपदेशोंमें सेवा, प्रेम, दया, सहानुभूति और सरलतापर बहुत अधिक जोर दिया है।

ब्रह्मलीन श्रद्धेय महर्षि मेँहीं परमहंसजी महाराज

(श्रीघनश्यामलालदासजी)

बिहार राज्यके पूर्णियाँ जनपदके भक्तयोगी महर्षि मेँहीं परमहंसजी महाराज श्रीरामानुग्रहलालदासजी जन्मजात योगी माने जाते हैं। जन्मसे ही आपमें योगीके चिह्न विद्यमान थे। शैशवावस्थासे ही आपके सिरमें सात जटाएँ थीं। वे प्रतिदिन कंघीसे सुलझा दिये जानेपर भी पुनः प्रातःकाल अनायास जटाएँ ही बन जाती थीं।

चार वर्षकी अवस्थामें ही जब आपकी माताजी जनकवती देवीका देहान्त हो गया, तब आपकी मातामही (नानी) ने ननिहालमें तीन वर्षोंतक आपका पालन-पोषण किया। प्राथमिक शिक्षा ग्राममें ही कैथी लिपिसे प्रारम्भ हुई, फिर भी अपनी दिव्य प्रतिभाके कारण अल्पकालमें ही नागरी लिपि (हिन्दी) भी सीख ली। फिर ग्यारह वर्षकी अवस्थामें पूर्णियाँके जिला-स्कूलमें प्रवेश कराया गया।

विद्याध्ययनकालमें आपकी अभिरुचि आध्यात्मिक ग्रन्थोंके अध्ययन और पूजा-ध्यानकी ओर अधिकाधिक बढ़ती गयी। तुलसीकृत रामायणको ये बड़े ही प्रेमभावसे पढ़ा करते थे।

४ जुलाई १९०४ ई० को आप प्रवेशिका-परीक्षा दे रहे थे। उस दिन अंग्रेजीकी परीक्षा थी । प्रश्नपत्रका प्रथम प्रश्न 'निर्माणकर्ता' शीर्षक पद्यसे लिखकर व्याख्या करना था।

उत्तरका थोड़ा अंश यों था— हम लोगोंका जीवन-मन्दिर अपने प्रतिदिनके सुकर्म वा कुकर्मरूपी ईंटोंसे बनता वा बिगड़ता है। जो जैसा कर्म करता है, उसका वैसा ही जीवन बनता है। इसलिये हम लोगोंको भगवद्भजनरूपी सर्वश्रेष्ठ ईंटोंसे अपने जीवन-मन्दिरकी दीवालका निर्माण करते जाना चाहिये····। समयकी सदुपयोगिता सत्कर्ममें है और ईश्वरभक्ति वा भजनसे श्रेष्ठतर और कोई भी सत्कर्म नहीं है।

इसी प्रकार अध्यात्मपूर्ण हृदयोद्गारोंको अभिव्यक्त करते हुए व्याख्याके अन्तमें आपने लिखा—

देह धरे कर यह फलु भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई॥

यह उत्तर लिखते-लिखते आप भाव-विह्वल हो अपने संवेगका संवरण न कर सके। जैसे नदीका बाँध टूटनेपर जलधारा अबाधगतिसे अग्रसर होती है, वैसे ही आप तीव्र और उत्कट आध्यात्मिक अन्तःप्रेरणासे प्रेरित हो विद्यालय (पूर्णियाँ) का परित्याग कर साधु-संतोंकी खोजमें निकल पड़े।

सत्रह वर्षकी अवस्थामें आप दरियापंथ साधुबाबा रामानन्द स्वामीसे दीक्षित होकर मानस-जप और मानस-ध्यान आदिका अभ्यास करने लगे। बादमें भागलपुरमें आपको परम संत बाबा देवी साहबजीका दिव्य दर्शन हुआ। उनके दर्शन और उपदेशोंसे आपको शान्ति और तृप्तिका बोध हुआ। आपकी सेवा-भक्तिसे प्रसन्न होकर सन् १९१४ ई० में बाबा देवी साहबने आपको नादानुसंधान-सुरत-शब्दयोगकी साधना बतलायी।

वे इन साधनाओंका नित्य नियमित अभ्यास बड़ी निष्ठासे वर्षों एकान्तमें करते रहे। सन् १९३३-३४में अठारह महीनेतक भागलपुरके कुप्पाघाटकी गङ्गा-पुलिनस्थ शान्त सुपावन गुहामें बैठकर आपने दृढ़ ध्यानाभ्यास किया और योगसिद्धि प्राप्त की। इसी पुण्य-स्थलने आज महर्षि मेँहीं आश्रम, कुप्पाघाटके नामसे तीर्थत्व प्राप्त कर लिया है। जहाँ अनेकों नर-नारी एकत्र होकर योग, ज्ञान और भक्तिकी मन्दाकिनीमें अवगाहन कर कल्याणपथके पथिक बन अपना मानव-जीवन कृतार्थ करते हैं। परमहंस मेँहीं महाराजका समय सं० १९४२ से सं० २०४३ तकका माना गया है।

आपने लोगोंके कल्याणके लिये अपनी योगमय साधनाओंके अनुभूत विषयोंको अनेक ग्रन्थोंके रूपमें भी उपनिबद्ध किया है। इनमें 'सत्सङ्ग-योग' मुख्य है। आपके उपदेशोंका सार यह है कि 'जितने तनधारी मनुष्य हैं, सभी प्रभु-भक्ति कर सकते हैं। माया-बद्ध जीव आवागमनके चक्रमें पड़ा रहता है। जीवके सब दुःखका कारण मायामें लिप्त रहना है। इससे छुटकारा पानेके लिये सर्वेश्वरकी भक्ति ही एकमात्र उपाय है।'

मानस-जप, मानस-ध्यान, दृष्टि-साधन और सुरत-शब्दयोगद्वारा सर्वेश्वरकी भक्ति करके अन्धकार, प्रकाश और शब्दके प्राकृतिक तीनों परदोंसे पार जाने और सर्वेश्वरसे एकताका ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पा लेनेका मनुष्यमात्र अधिकारी है। मानवका यह कर्तव्य है कि वह झूठ, चोरी, नशा, हिंसा तथा व्यभिचारसे सर्वथा दूर रहे, सदाचारकी

भित्तिपर ही साधना-भवनका निर्माण किया जा सकता है।

भिन्न-भिन्न काल तथा देशोंमें संतोंके प्रकट होनेके कारण तथा इनके भिन्न-भिन्न नामोंपर इनके अनुयायियोंद्वारा संतमतके भिन्न-भिन्न नामकरण होनेसे संतोंके मतमें पृथकत्व ज्ञात होता है। परंतु यदि मोटी और बाहरी बातोंको तथा पंथाई-भावोंको हटाकर विचार किया जाय और संतोंके मूल एवं सार विचारोंको ग्रहण किया जाय, तो यही सिद्ध होगा कि सब संतोंका एक ही मत है और वह यही है कि परम प्रभु सर्वेश्वरके निज स्वरूपकी प्राप्तिके बिना परम कल्याण नहीं हो सकता।

इस प्रकार जैसे दूधमें घृत और माताके उपदेशमें संतानका हित भरा रहता है, वैसे ही परमहंसजी महाराजके ज्ञानोपदेशमें मानवका सर्वविध कल्याणकी भावना निहित है। आपके विचार, प्रचार और सिद्धान्तसे किसी भी धर्म, मजहब और सम्प्रदायके सार-सिद्धान्तका खण्डन नहीं होता, वरं आपका दृढ़ सिद्धान्त है कि सभी संत अपने उपदेशोंमें एक स्वरसे ध्यानाभ्यासद्वारा एकमात्र प्रभुकी प्राप्तिका मार्ग प्रशस्त करते हैं।

(शान्ति-संदेश)

बाबा किनाराम अघोरी

काशीसे कुछ दूर बाणगङ्गाके दक्षिण तटपर रामगढ़ नामका एक गाँव है। वहीं विक्रम-संवत् १६८४ के चैत्रमें रघुवंशी क्षत्रिय अकबरके घरमें बाबा किनारामका जन्म हुआ। ये जन्मसे ही बड़े विरक्त, भगवद्भक्त एवं एकान्तप्रिय थे। पाँच वर्षकी अवस्थामें ही ये कंकड़-पत्थर इकट्ठे कर लेते और जल, पुष्प आदि चढ़ाकर उनकी पूजा करते और उनके पास घंटों अकेले बैठे 'हरे राम, सीताराम,राम राम' आदि मन्त्रोंका कीर्तन करते रहते।

नौ वर्षकी अवस्थामें ही इनका विवाह कर दिया गया। इस बन्धनसे इन्हें बड़ी चिन्ता हुई, परंतु धैर्य और उत्साहपूर्वक ये अपने साधनको क्रमशः बढ़ाते रहे। अब ये बहुत कम बोलते और प्रायः एकान्तमें ही रहते।

तेरह वर्षकी अवस्थामें इनके गौनेका दिन नियत हुआ। प्रातःकाल ही प्रस्थानका मुहूर्त था। रात्रिको ये सहसा कह उठे कि वह माई तो पिताके पास पहुँच चुकी। सम्बन्धियों तथा माता-पिताको यह बात बहुत बुरी लगी। उन्होंने इन्हें डाँट-डपट बतलायी, ये चुप हो रहे। सुबह लोग ज्यों ही सज-धजकर चलनेकी तैयारीमें ही थे कि इनकी ससुरालका नाई खबर लेकर आया कि 'कन्याका देहान्त हो गया। अरथी सैदपुर घाटपर लायी गयी है। मृतकके संस्कारके लिये आप लोग तुरंत चलिये।' ***तेरे मन कछु और है, कर्ताके कछु और।'*** सबके चेहरोंपर उदासी छा गयी, परंतु किनाराम अपनेको संसारके बन्धनसे मुक्त समझकर आनन्दसे मुस्कुरा उठे। अबतक जो लोग इन्हें पागल समझते थे,अब वचनसिद्ध संत समझने लगे। कुछ समय बाद इन्होंने वैराग्यके आवेशमें घरसे निकलकर बलियाके कारों नामक गाँवमें बाबा शिवारामजी वैष्णवकी सेवामें जाकर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया और फिर गुरुकी आज्ञासे घर लौट आये और अपना सारा समय ईश्वर-भजनमें बिताने लगे। इनकी यह हालत देखकर इनके माता-पिताने इनका दूसरा विवाह करनेका विचार किया। जब इन्हें इस बातका पता चला तो ये फिर चुपकेसे घरसे निकल पड़े और चारों धामों तथा अयोध्या, मथुरा आदि अनेक तीर्थोंका भ्रमण करके बहुत वर्षों बाद अपने गाँव लौटे। यहाँ आकर वे गाँवके दक्षिण, बाणगङ्गाके निकट जंगलमें एक वटवृक्षके नीचे अपना डेरा डालकर ईश्वर-भजन करने लगे।

भजनकी वृद्धिके साथ ही इनका तेज भी बढ़ता गया। साथ ही इनमें एक अजीब आकर्षण था, हजारों यात्री दूर-दूरसे इनके दर्शनार्थ आने लगे। यात्रियोंके लिये जलका कष्ट देखकर इन्होंने एक कुआँ बनवा दिया और उसके चारों ओर एक पक्का बरामदा बनवाया। बरामदेकी छतमें न मिहराब रखी और न कड़ियाँ ही चढ़ायीं, सिर्फ उपलोंसे उसे पटवा दिया। और कहा 'बाबा! तू पक्का हो जा।' इनके कहनेमात्रकी देर थी कि सारी छत पक्की हो गयी। कहा जाता है कि कुएँपर मङ्गलवारको धरना देकर स्नान करने, निर्जल रहने और हवन करनेसे अनेकों तरहके ज्वर छूट जाते हैं। इस कुएँका नाम रामसागर है और इसके पास ही किनेश्वर महादेवका एक मन्दिर है।

अब तीसरी बार ये तीर्थयात्राको निकले। घूमते-घामते ये जूनागढ़ पहुँचे। वहाँके बादशाहने अपने राज्यके समस्त साधुओंसे कोई चमत्कार दिखानेको कहा—अन्यथा ठगनेके अपराधमें कैद करनेकी धमकी दी। जब कोई भी साधु किसी तरहकी अपनी अलौकिक शक्ति न दिखा सका तो सभीको कैदखानेमें डाल दिया गया। सिपाही किनारामजीको भी पकड़कर ले गये। वहाँ साधुओंको चक्की पीसते देखकर इन्होंने कहा कि 'तुम चक्की क्यों चलाते हो, छोड़ दो। यह माई अपने-आप ही चलेगी।' साधु छोड़कर अलग हो गये और चक्कियाँ पूर्ववत् चलती रहीं। यह खबर पाकर बादशाह किनारामजीके चरणोंपर गिर पड़ा और उनसे क्षमाकी प्रार्थना करने लगा। किनारामजीकी आज्ञासे सब साधु छोड़ दिये गये। बादशाहके बहुत आग्रह करनेपर इन्होंने एक पात्र देकर कहा कि जितने साधु यहाँ आवें, उन सबको यह पात्र भरकर खिचड़ी दी जाय। इसके बाद किनारामजी फिर अपनी यांत्रापर निकल पड़े।

घूमते-घूमते ये गिरनार पहुँचे, वहाँ एक अघोरी सिद्ध महात्माके उपदेश सुनकर बड़े प्रभावित हुए और इन्होंने उनसे अघोरपन्थकी दीक्षा ले ली।

एक सौ अट्ठाईस वर्षकी अवस्थामें संवत् १८१२ में जब ये अपने गाँवको लौटे तो इन्हें अघोरी देखकर पहले तो गाँवके लोगोंने इनसे बड़ी घृणा की, परंतु इनकी बढ़ी हुई शक्तियोंको देखकर वे इनका पहलेसे भी अधिक सम्मान करने लगे। अघोरपन्थ स्वीकार करनेपर भी ये निरन्तर भगवन्नामोंका कीर्तन करते रहते थे।

अघोर-मतकी रामशाला काशी प्रान्तके रामगढ़ और टाँडामें है। जौनपुर जिलेमें भी कई जगह रामशालाएँ हैं, परंतु सबसे प्रधान रामगढ़वाली ही मानी जाती है। इस सम्प्रदायमें अबतक विजाराम, विश्रामराम आदि अनेकों सिद्ध हो चुके हैं।

बाबा किनारामके कई पद्यात्मक ग्रन्थ मिलते हैं। रामरसाल, रामगीता, रामचपेटा, राममङ्गल आदि ग्रन्थ वैष्णवमतके हैं। अघोरमतके ग्रन्थोंमें केवल 'विवेकसार' नामक ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध है।

इनके जीवनमें बहुतसे अलौकिक चमत्कारोंकी बातें मिलती हैं, जो अनहोनी बात नहीं है। कहते हैं, सं० १८२६ में एक सौ बयालीस वर्षकी अवस्थामें आपने जीवित समाधि ले ली।

योगी चमत्कारिक शक्ति रखते हैं

(डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

उत्तरप्रदेशके गाजीपुर जिलेमें मुरकुडा नामके गाँवमें शौच-संतोष और तपकी मूर्ति एक संत योगी भीखा साहब रहते थे। उनका मकान टूटा-फूटा था। दीवारेंतक पूरी नहीं बनी थीं। विवशता और निर्धनताकी मूर्ति भीखा साहब एक दिन प्रातःकाल घरके पास एक टूटी दीवारपर बैठकर दातून कर रहे थे। इतनेमें एक ग्रामीण व्यक्ति भागा-भागा उनके पास आया और बोला—'भीखा साहब ! गजब हो गया। ऐसा आश्चर्य हो गया कि जो न मैंने सुना और न देखा ही। शेरपर सवार····।' इतना कहते-कहते व्यक्तिकी बोलती बंद हो गयी, वह बुरी तरह भयभीत हो गया था।

भीखा साहबने पूछा—कौन शेरपर सवार था ? क्या दुर्गाकी तस्वीर तुमने देखी है या रातका कोई सपना ? वह व्यक्ति इतना डरा हुआ था कि कुछ भी उच्चारण नहीं कर पा रहा था। योगी भीखा फिर पूछने लगे—'अरे भाई ! विस्मयकी कौन-सी बात है ? बोलो ! क्यों घबड़ा रहे हो ? क्या बात है ?'

आपसे मिलने एक महात्मा शेरपर चढ़कर आ रहे हैं ?

'ओफ ! वह अवश्य कोई योगी महात्मा हैं। पहुँचे हुए सच्चे योगी ही इस प्रकारके दिव्य शक्तिसे सम्पन्न होते हैं। वे जो भी सवारी चाहें, अपने योगबलसे प्राप्त कर सकते हैं।' उन्हें अवश्य 'प्राप्ति' नामकी सिद्धि प्राप्त है।

आगन्तुकने विस्मयभरे स्वरमें प्रश्न किया, भीखा साहब ! यह प्राप्ति क्या है ?

योगी भीखा बोले— 'प्राप्ति' एक सिद्धिका नाम है, इसे प्राप्त कर लेनेपर योगी गुप्त-से-गुप्त वस्तुओंको प्राप्त कर लेते हैं। फिर विचार करने लगे—अवश्य ही उन्हें

'यथाकामावसायित्व' नामक सिद्धि भी प्राप्त हो गयी है, जिसके बलसे वे समूचे विश्वमें चाहे जहाँ पहुँच सकते हैं। वे मेरे यहाँ मुझसे मिलने आ रहे हैं तो मुझे उनका स्वागत करना चाहिये। लेकिन मेरे पास तो कोई सवारी ही नहीं है। क्या करूँ? किस वाहनसे उनसे मिलने जाऊँ?

वे सोचते रहे! विचारोंकी उथल-पुथल मनमें समुद्रके तूफानकी तरह उठ रही थी। आखिरमें आगन्तुकसे बोले—योगीजीके स्वागतके लिये मुझे भी तुरंत चलना चाहिये, मेरे पास कोई सवारी नहीं है, जिसपर चढ़कर जाऊँ। अच्छा, चल दीवार! तू ही चल। यह टूटी दीवार ही मेरी सवारी बने।'

सचमुच आश्चर्य ही हुआ। दीवार भीखा साहबको लेकर आगे बढ़ चली। अब एक ओर शेरपर चढ़े योगी आ रहे थे, तो दूसरी ओर भक्त भीखाजीकी दीवार चली आ रही थी। समीप आनेपर भीखाजी दीवारसे उतरे और दूसरे योगीको शेरसे उतारा। दोनों बड़े प्रेमसे मिले।

यह था दो पहुँचे हुए सच्चे योगियोंका चमत्कारी मिलन।

× × ×

काशीमें थियोसोफिकल सोसायटीका वार्षिक कन्वेंशन हो रहा था। उसमें प्रवचन करनेके लिये बड़े-बड़े विद्वान् और विचारक आये थे। बस, प्रतिभाओंका जमघट ही समझिये। विवेकवान् श्रोताओंका समुद्र ही उमड़ पड़ा था।

उसका एक कारण था कि प्रवक्ताके रूपमें प्रसिद्ध योगी श्रीकृष्णमूर्ति भी आनेवाले थे। उनको सोसायटीमें अवतारी पुरुष और युग-महात्मा भी माना जाता था।

दुर्भाग्य देखिये, कभी-कभी अच्छे कामोंमें विघ्न-बाधाएँ आकर खड़ी हो जाती हैं। समझमें नहीं आता कि ऐसी कठिनाइयाँ कब क्यों कहाँसे यकायक आकर खड़ी हो जाती हैं। उसी समय बारिश होने लगी। पहले लोगोंने समझा कि मामूली बूँदाबाँदी है, थोड़ी देरमें रुक जायगी। पर उस दिन तो गजब हो गया। बारिश थी कि रुकनेका नाम ही नहीं ले रही थी। शामियाने आदि सभी भीग गये। हवा जोरोंसे चली। मण्डप भी गिरने लगा। सब डावाँडोल हो गया।

इतनेमें एक अजीब घटना घटी। श्रीकृष्णमूर्ति आ गये। उनके आते ही सबने आश्चर्यसे देखा कि वातावरण फिर शान्त-सा हो गया। बारिश कम हो गयी। हवाएँ मौन और शामियाना कमर कसकर खड़ा हो गया। श्रोता फिर यथास्थान बैठ गये। श्रीकृष्णमूर्तिका उपदेश पूर्ण हुआ।

योगियोंके मुखसे परमात्मा ही बोलते हैं। उन्होंने यह चमत्कार किया था! वास्तवमें सच्चे योगीमें अद्भुत दिव्य चमत्कारिक शक्तियाँ निवास करती हैं।

एक जिज्ञासुने प्रश्न किया—भगवन्! योगकी सिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है?

कृपामूर्ति श्रीकृष्णमूर्ति बोले—इस सम्बन्धमें मुझे पतञ्जलिके ये शब्द याद दिलाने हैं—'**स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।**' (१।१४) अर्थात् यह जो योगका अभ्यास है, वह एक दिनमें सिद्ध करनेकी वस्तु नहीं है। जब उसे दीर्घकालतक निरन्तर श्रद्धा और पूरी निष्ठाके साथ किया जाय, तब इसमें दृढ़ स्थिति प्राप्त होती है। साथ ही इस बातका ध्यान रखना पड़ता है कि साधकका साहस एवं धैर्य टूट न जाय।

सचमुच सच्चे योगी, तपस्वी चमत्कारिक कार्योंको करनेकी शक्ति रखते हैं। महर्षि व्यास, योगी वसिष्ठ और तपस्वी विश्वामित्र आदि सब योगियोंके सम्बन्धमें ऐसी चमत्कारी बातें कही जाती हैं। योगी दुर्वासामें तो इतनी शक्ति थी कि उनसे बड़े-बड़े राजा काँपते थे। च्यवन ऋषिने अपने योगबलसे सभी देवोंके आसन हिला दिये थे। नारदजी योगबलसे एक स्थानसे दूसरे स्थानको प्रायः आकाशमार्गसे ही जाया करते हैं। योगसे जीवात्मा परमात्मासे मिलता है। योगीका आत्मा इतना उन्नत हो जाता है कि वह परमात्माके तादात्म्यको प्राप्त कर लेता है। सर्वशक्तिमान्से मिलन हो जानेपर इन चमत्कारिक सिद्धियोंका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। परम तत्त्वतक पहुँचनेके लिये सिद्धियों और चमत्कारोंमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये।

सूर्यकी किरणें सब जगह समान पड़नेपर भी जैसे जल और दर्पणमें प्रकाश अधिक दिखायी देता है, वैसे ही भगवान्का विकास सबके हृदयोंमें समानरूपसे होनेपर भी साधुके हृदयमें उसका विशेष प्रकाश होता है।

—रामकृष्ण परमहंस

भगवत्प्राप्तिमें ध्यानयोगकी महिमा

'भगवत्प्राप्तिके साधन' और 'भगवत्प्राप्ति' दोनोंका ही नाम योग है। पहलेमें प्रभुसे मिलनेके उपाय होते हैं और दूसरेमें प्राप्ति—मिलन हो जाता है। उपाय वे ही लोग करते हैं जो भगवान्‌को मानते हैं और जीव-जीवनकी चरम-सिद्धिके लिये उनको प्राप्त करना परम आवश्यक समझते हैं। भगवान्‌को न माननेवाले लोग तो ऐसे योगको अनावश्यक और माननेवालोंको मूर्ख ही बतलाते हैं। अतएव भगवत्प्राप्तिके जितने साधन हैं वे सब भगवान्‌के माननेवालोंके लिये ही हैं। परंतु माननेवालोंमें भी लाभ वे ही उठा सकते हैं जो श्रद्धालु, सतत प्रयत्नशील और संयतेन्द्रिय होते हैं—जो सच्ची लगनसे बिना उकताये सदा सावधान और आलस्य-रहित रहकर नियमपूर्वक साधन करते हैं। आज किसीकी बात सुनकर उत्साह हुआ, कुछ करने लगे, दो-चार दिनके बाद जी ऊब गया, नियमोंको ढीला कर दिया और कुछ दिनों बाद साधन छोड़ बैठे, ऐसे लोगोंको लाभ नहीं होता और इस प्रकार बिना कुछ किये ही सब कुछ चाहनेवाले ऐसे लोग ही निष्फल होकर विद्रोही भी बन जाते हैं। अतएव साधकोंको चाहिये कि वे जिस ध्येयको प्राप्त करना चाहते हैं, उसीमें सच्ची लगनसे लग जायँ। दूसरी ओर ताकने-झाँकनेकी आवश्यकता ही न समझें। तभी उनको पद-पदपर सफलता होगी और ज्यों-ज्यों सफलता होगी, त्यों-ही-त्यों उनका उत्साह भी अधिक-से-अधिक बढ़ता जायगा। शीघ्रता करनी चाहिये, क्योंकि जीवन बहुत ही थोड़ा है।

सबसे पहली बात है मन लगानेकी। जो जिस वस्तुको परम आवश्यक मानकर उसे प्राप्त करना चाहता है, उसके चित्तसे उस वस्तुका चिन्तन स्वाभाविक ही बार-बार होता है। उसके चित्तमें अपने ध्येय पदार्थकी धारणा दृढ़ होती जाती है और आगे चलकर वही धारणा चित्तवृत्तियोंके सर्वथा ध्येयाकार बन जानेपर 'ध्यान'के रूपमें परिणत हो जाती है। जितने कालतक वृत्तियाँ ध्येयाकार रहती हैं, उतने कालकी स्थितिको ध्यान कहा जाता है। ध्यानकी बड़ी महिमा है, भगवान्‌ने श्रीमद्भागवतमें कहा है कि जो पुरुष विषयोंका निरन्तर ध्यान करता है उसका चित्त विषयोंमें फँस जाता है और जो मेरा ध्यान करता है वह मुझमें लीन हो जाता है। भक्तियोग, ज्ञानयोग, राजयोग, लययोग, मन्त्रयोग, हठयोग और निष्काम कर्मयोग किसी-न-किसी रूपमें सभी योगोंमें ध्यानकी आवश्यकता और उपयोगिता है। इस ध्यानसे ही भगवान्‌के स्वरूपमें समाधि और ध्यानसे ही भगवान्‌की प्राप्ति होती है।

योगदर्शनमें ध्यान अष्टाङ्गयोगोंमें सातवाँ है। पहले छहों साधन ध्यानमें सहायक हैं, बल्कि उनके करते-करते ही ध्यानकी योग्यता साधकको प्राप्त होती है, ऐसा भी कहा जा सकता है। अतएव सहायक साधनोंका अवश्य ही सम्पादन करना चाहिये। यहाँ संक्षेपमें ध्यानके सहायक कुछ भावों और कार्योंको लिखा जाता है।

गुरु और शास्त्रवचनोंमें प्रत्यक्षवत् विश्वास, साधनमें तत्परता, इन्द्रियों तथा मनको उनके इच्छित सांसारिक विषयोंसे हटाना, तन-मनसे अहिंसा, सत्य, चोरीका अभाव, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, भगवत्स्तुति-प्रार्थना, एकान्तवास, विषयोंसे विरक्ति, अनावश्यक वस्तुओंका सर्वथा त्याग, अन्न-वस्त्र, स्थान आदि आवश्यक वस्तुओंका भी यथासाध्य कम-से-कम संग्रह, अपने ध्येय-सम्बन्धी ग्रन्थोंके सिवा अन्य ग्रन्थोंका न सुनना, न पढ़ना; ध्येयके गुण, प्रभाव और रहस्यकी बातें सुनना, ध्येयके विरुद्ध कुछ भी न सुनना, न देखना और न करना, घर-परिवारमें ममताका त्याग करना, दुराग्रह न करना, अखबार न पढ़ना, दूरदर्शन तथा चल-चित्र आदि न देखना, सभा-समितियोंसे अलग रहना, प्रसिद्धिसे बचनेकी प्राणपणसे निर्दोष चेष्टा करना, परचर्चा न करना, परदोष न देखना, न चिन्तन करना, न कहना, मधुर-प्रिय बोलना, अनावश्यक न बोलना, यथासाध्य मौन रहना,

चित्तको विषाद, अहंकार, ईर्षा, द्वेष, आसक्ति, वैर, अभिमान, व्यर्थ चिन्तन आदि दुष्ट भावोंसे बचाना, मान-सम्मान तथा बड़ाई न चाहना, धन और स्त्रीके संगसे और इनके संगियोंसे भी यथासाध्य अलग रहना (इसी प्रकार स्त्री साधकोंको पुरुष-संसर्गसे अलग रहना चाहिये), ध्येयमें प्रीति उत्पन्न करनेवाले सद्‍ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना, अपने इष्टके नाम और मन्त्रका निरन्तर विधिपूर्वक सप्रेम जप करना, बार-बार इष्टके गुण, प्रभाव और रहस्यका चिन्तन करना, उनकी दयालुतापर विश्वास रखना, ध्येयकी प्राप्तिमें दृढ़ निश्चय रखना, साधनके स्थान, वस्त्र, आसन, माला, मूर्ति आदि सामग्रियोंको बिना नहाये न स्वयं स्पर्श करना और न दूसरेको—अपने घरके लोगों-तकको भी किसी भी हालतमें—नहानेपर भी स्पर्श न करने देना, परंतु अपनेको किसीसे ऊँचा न समझना, अभिमान या क्रोधका कभी अङ्कुर भी न आने देना, किसीके स्पर्शसे वे सामग्रियाँ अपवित्र होंगी ऐसा न मानकर साधनके वातावरणमें विकृति होगी ऐसा मानना और दूसरोंको नम्रता, प्रेम, आदर और विनयके साथ अपनी कमजोरी तथा साधनके नियम समझाकर साधनसम्बन्धी स्थान और सामग्री आदिसे उनको पृथक् रखना, न अधिक जागना, न ज्यादा सोना, न अधिक खाना, न निराहार रहना, नशीली चीजें बिलकुल न खाना, मांस-मद्यका सर्वथा त्याग करना, तंबाकू-गाँजा आदि न पीना, उत्तेजक तथा गरम चीजें न खाना, खट्टी चीजें और अधिक मीठा न खाना, उड़द, लाल मिर्च, सरसों, राई, लहसुन, प्याज, गरम मसाले और कटहल, गाजर आदि न खाना, बेल, संतरा, हर्रें आदिका नियमित सेवन करना, हर किसीके हाथका और हर किसीका अन्न भी न खाना चाहिये। उपर्युक्त बातोंके सिवा नियत स्थानपर, नियत समय, नियत कालतक, नियत आसनपर, नियत आसनसे बैठकर, नियत संख्यामें, नियत इष्ट मन्त्रका जप करते हुए, नियत इष्टस्वरूपके ध्यानका प्रयत्न करना साधकके लिये परम आवश्यक है।

अवस्थाविशेषमें इन सब बातोंमें कुछ परिवर्तन या न्यूनाधिक करनेमें भी आपत्ति नहीं है। परंतु इनकी ओर ध्यान अवश्य रहे। ऐसा करनेसे ध्यान सुगमतासे और शीघ्र फलप्रद होता है।

ध्यानके अनेक प्रकार हैं, साधकको अपने-अपने अधिकार, रुचि और अभ्यासकी सुगमता देखकर किसी भी एक प्रकारसे अभ्यास करना चाहिये। परंतु मनमें इतना निश्चय रखना चाहिये कि सत्य तत्त्व परमात्मा एक ही है। वह एक ही अनेक रूपोंसे अपनेको धृत करवाते हैं। भक्त जिस रूपमें उन्हें पकड़ना चाहे, वे उसी रूपमें पकड़में आ जाते हैं। निर्गुण, निराकार, सगुण, साकार सभी उन्हींके रूप हैं। श्रीविष्णु, शिव, ब्रह्मा, सूर्य, गणेश, शक्ति, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि सभी वे एक ही हैं। मार्गके अनुभव भिन्न-भिन्न होते हुए भी सबके अन्तमें प्राप्त होनेवाला सत्य एक ही है। इसी सत्यके कोटिशः विविध प्रकाश हैं, हम किसी भी प्रकाशका अवलम्बन करके उस मूल प्रकाशको पा सकते हैं, क्योंकि ये सभी प्रकाश न्यूनाधिक शक्तिवाले दीखनेपर भी वस्तुतः उस मूलसत्यसे सर्वथा अभिन्न और सर्वथा पूर्ण ही हैं। वह स्वयं ही विभिन्न प्रकाशोंमें अवतीर्ण होकर अपनेको अपने ही सामने प्रकाशित कर रहे हैं। अतएव विभिन्न साधक उन एक अचिन्त्यशक्ति, अनन्तमहिम, अनन्तकल्याणगुणगण-समन्वित, सच्चिदानन्दघन, सर्वव्यापी, सर्वरूप, स्वप्रकाश, सर्वात्मा, सर्वद्रष्टा, अज, अविनाशी, सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, देशकालातीत, गुणातीत, सर्वसत्-लक्षणसम्पन्न, सदसत्सर्वगुणसम्पन्न, सर्वातीत, सर्वलोकमय और सर्वलोकमहेश्वर भगवान्‌के इस समग्र रूपको या परमभावको समझकर किसी भी भावसे उनका ध्यान करें, अन्तमें सबको वह एक ही नारायण प्राप्त होंगे, जिनकी प्राप्तिका और स्वरूपका वर्णन बुद्धि और मन-वाणीसे सर्वथा अगम्य है।

अतएव साधकोंको न तो अपना इष्टरूप छोड़ना चाहिये और न दूसरेके इष्टको नीचा या अल्प मानना चाहिये। इस प्रकारकी एकत्वबुद्धिसे ध्यानका अभ्यास करनेपर बहुत-से विघ्न सहज ही टल जाते हैं और शीघ्र ही परम सफलता प्राप्त हो सकती है।

ध्यान अभेद या भेद अथवा अद्वैत या द्वैत—इन दोनों भावोंसे किया जाता है। अभेदमें भगवान्‌के ध्यानके निर्गुण निराकार, सगुण निराकार, निर्गुण साकार और सगुण साकार ये चार भेद हैं। इसी प्रकार भेदमें भी भगवान्‌के ध्यानके निर्गुण निराकार, सगुण निराकार, निर्गुण साकार और सगुण साकार ये चार भेद हैं।

अद्वैत या अभेद

निर्गुण निराकार—अनिर्वचनीय अचिन्त्य अवाङ्-मनसगोचर निष्क्रिय शुद्ध ब्रह्म या शुद्ध आत्मा।

सगुण निराकार—अज अविनाशी सर्वलोकमहेश्वर मायापति सृष्टिकर्ता।

निर्गुण साकार—अज अविनाशी गुणातीत मायातीत दिव्य विग्रह भगवान्।

सगुण साकार—अज अविनाशी लीलाविहारी अपनी दिव्य प्रकृतिके साथ खेल करते हुए दिव्य विग्रह भगवान् या विराट् विश्वरूप परमात्मा।

द्वैत या भेद

निर्गुण निराकार—जीवोंपर दया करनेवाले सर्वशक्तिमान् न्यायकारी निर्गुण परमात्मा।

सगुण निराकार—जीव-जगत्‌का संचालन करनेवाले सर्वलोकमहेश्वर, विश्वरूप, विश्वकर्ता, विश्वभर्ता और विश्वसंचालक प्रभु।

निर्गुण साकार—भक्तोंकी सुधि लेनेके लिये माया-मनुष्यरूपधारी वस्तुतः स्वस्वरूपसे सर्वदा निर्गुण ईश्वर।

सगुण साकार—भक्तोंके साथ लीला करनेवाले समस्त गुणनिधि लीलामय भगवान्।

इनके फिर एक-एकके अनेक रूप हैं। इन सब रूपोंमें एक ही सत्य तत्त्व अनुस्यूत है और वह सबमें सब जगह सब ओरसे सब ही भाँति परिपूर्ण है। बुद्धिमान् भगवत्कृपापात्र साधक अपने-अपने भावोंके अनुसार सब रूपोंको किसी एक रूपमें पर्यवसित कर उसका ध्यान करता है। कोई-कोई अल्पमेधस् साधक अपने इष्टको भिन्न मानकर भी ध्यान करते हैं, परंतु उनका वह ध्येयतत्त्व अल्प और सीमित होनेके कारण उन्हें तात्कालिक फल भी अल्प और सीमित ही मिलता है। जो अल्प और सीमित है वही नाशवान् है, अतएव ऐसे साधक अविनाशी नित्यतत्त्वकी प्राप्तिसे दीर्घकालतक प्रायः वञ्चित ही रह जाते हैं। अवश्य ही यदि उनका इष्ट सात्त्विक हुआ तो उसकी कृपासे कालान्तरमें पुनः साधनमें प्रवृत्त होकर वे चरमतत्त्वकी प्राप्तिके अधिकारी हो जाते हैं, अतएव न करनेवालोंसे तो वे अल्पकी उपासना करनेवाले भी अच्छे ही हैं।

वास्तवमें भगवान्‌के स्वरूपके सम्बन्धमें कुछ भी लिखना अपनी अल्पज्ञताका परिचय देना मात्र ही है। भगवान्‌के तत्त्वको स्वयं भगवान् ही जानते हैं। यह कोई भी नहीं कह सकता कि भगवान् ऐसे ही हैं। बहुत दूरकी बात कहनेवाले महान् दार्शनिक भी बहुत इधरकी ही कहते हैं। अतएव किसीकी भी निन्दा न कर भगवान्‌के शास्त्रवर्णित और संतजनसेवित सभी स्वरूपोंको सम्मानकी दृष्टिसे देखना चाहिये। साधकका भाव ऊँचा होगा तो सर्वान्तर्यामी सर्वद्रष्टा सर्वेश्वर परिपूर्णतम भगवान् उसे अपना ही ध्यान समझेंगे और उसके फलस्वरूप अपने स्वरूपकी प्राप्ति भी उसे करा देंगे।

ध्यानके कुछ प्रकार या विधियाँ जाननेके पहले यह जान लेना आवश्यक है कि ध्यानयोगी साधकके लिये उपयुक्त स्थान, काल और आसन कौन-सा उत्तम है एवं उसे किस आसनसे बैठकर कितने समयतक ध्यानका अभ्यास करना चाहिये।

स्थान—एकान्त हो, पवित्र हो (जहाँ हिंसा, चोरी, मैथुन, छल आदि न होते हों) और जहाँ यज्ञ, तप, पूजन, भजन, स्वाध्याय, भगवच्चर्चा आदि होते हों, परंतु ध्यानके समय जहाँ कोई न हो, एकान्त नदीतट, देवमन्दिर हो, जहाँ शब्दादि न होते हों या उत्तम और सूक्ष्म शब्द होते हों, जो मनोरम और सुन्दर वायुसे सेवित हो, गीला या गरम न हो, जहाँ कंकड़ और गरम बालू न हो, सुपुष्प और धूपादिसे सुगन्धित हो, जहाँ भगवान्‌के सुन्दर चित्र लगे हों। ऐसा निर्जन स्थान न मिले तो अपने घरमें ही अलग स्वच्छ एकान्त-सा स्थान चुन लेना चाहिये।

काल—ध्यानके लिये सर्वोत्तम समय उषाकाल अथवा रात्रिका अन्तिम प्रहर है, उस समय स्वाभाविक ही बुद्धि सात्त्विक और संस्कारशून्य-सी रहती है। परंतु अन्य समय भी ध्यान किया जा सकता है। हाँ, भोजनके बाद तुरंत ही ध्यान करनेसे प्रायः ध्यान नहीं होता। भूखे पेट ध्यान अच्छा होता है।

आसन—आसन न अधिक ऊँचा हो, न अधिक नीचा हो, पहले कुशासन, उसपर मृगाजिन और उसपर शुद्ध वस्त्र बिछाना चाहिये। ऊनका या केवल नरम कुशोंका आसन भी बिछाया जा सकता है। ऐसे आसनपर पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके बैठना चाहिये।

स्वस्तिक और पद्मासन सबसे उत्तम आसन हैं। इन आसनोंमें कष्ट भी नहीं है और चित्त भी जल्दी समाहित होता है। बार-बार आसन बदलना ठीक नहीं, एक ही आसनसे निश्चल होकर बैठना चाहिये।

समय—प्रतिदिन तीन घंटे ध्यान किया जा सके तो बहुत उत्तम है, नहीं तो कम-से-कम एक घंटे तो ध्यानका अभ्यास अवश्य करना चाहिये। हो सके तो तीन बारमें तीन घंटे कर ले—प्रातःकाल, संध्यासमय और रातको।

ध्यानके समय शरीर, मस्तक और गलेको सीधा रखना चाहिये। रीढ़की हड्डी सीधी रहे। कुबड़ाकर न बैठे। जबतक वृत्ति सर्वथा ध्येयके आकारकी न बने, शरीरका बोध बना रहे और सांसारिक स्फुरणाएँ मनमें उठती रहें, तबतक इष्टमन्त्रका जप करता रहे और बारंबार चित्तको ध्येयमें लगानेकी चेष्टा करता रहे। लय (नींद), विक्षेप, कषाय, रसास्वाद, आलस्य, प्रमाद, दम्भ आदि दोषोंसे बचे रहनेके लिये भी प्रयत्नशील रहे। यह विधि नियमित ध्यानके लिये है। यों साधकको तो सभी समय, सभी क्रियाओंमें चित्तको संसारकी व्यर्थ स्फुरणाओंसे रहित करके अपने इष्टका चिन्तन और ध्यान करना चाहिये। ध्यानके समय आँखें मूँद लेनी चाहिये अथवा नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर रखनी चाहिये।

यहाँ अद्वैत-द्वैत दोनों प्रकारके ध्यानोंके कुछ प्रकारोंका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया जाता है।

अद्वैत (अभेद) ध्यान

१-आँखें मूँदकर या नासिकाके अग्रभागपर दृष्टिको स्थिररूपसे जमाकर साधक चित्तकी ओर देखे और उसमें जो कुछ भी वस्तु प्रतीत हो, उसीको कल्पनामात्र जानकर उसका त्याग कर दे। इस प्रकार चित्तमें स्फुरित प्रत्येक वस्तुका त्याग करते-करते शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी भी सत्ता न रहने दे। सबका अभाव करते-करते कुछ कालमें जब सारे दृश्य-पदार्थ चित्तवृत्तिसे निकल जाते हैं, तब सबके अभावका निश्चय करनेवाली वह एकमात्र वृत्ति रह जाती है, यही शुभ और शुद्ध वृत्ति है और सब दृश्यप्रपञ्चका अभाव करनेके बाद यह स्वयं भी शान्त हो जाती है। फिर त्याग, त्यागी या त्याज्य वस्तु कुछ भी नहीं रह जाता। इसके बाद जो कुछ बच रहता है वही चेतनघन परमात्मा है। वह असीम है, अनन्त है और उसीने सब द्रष्टा और भोक्ता वृत्तियोंको ग्रस लिया है। और अब वह उपाधिहीन अकेला ही सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है। यह 'सर्वत्र'-भाव भी उसीमें कल्पित है। वह तो वही है, उसका न कोई वर्णन कर सकता है और न चिन्तन! इस प्रकार विचारपूर्वक दृश्यप्रपञ्चका अभाव करके, अभाव करनेवाली वृत्तिका भी परमात्मामें लय कर देना चाहिये।

२-आँखें मूँदकर दसों इन्द्रियोंके कार्योंको रोककर साधक मनके द्वारा पुनः-पुनः परमात्माके स्वरूपका मनन करे। जो कुछ भी स्फुरणा मनमें आवे, उसीमें परमात्माका भाव करे, यों करते-करते स्फुरणाएँ बंद हो जायँगी। परंतु सावधान, एक भी स्फुरणा परमात्माके भावसे अछूती न रह जाय और केवल परमात्मा ही बच रहेंगे, उन परमात्माके साथ अपनी एकता कर दे। अर्थात् यदि चित्तमें यह वृत्ति जाग्रत् रहे कि मैं परमात्माका ध्यान कर रहा हूँ तो इस वृत्तिको भी छोड़ दे। यह वृत्ति जब एक परमात्माकी सर्वव्यापक सत्तामें मिल जायगी, तब केवल एक परमात्माका ही बोध रह जायगा।

३-आँखें मूँदकर या नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर ऐसा विचार करे कि जैसे कमरेमें रखे हुए घड़ेका आकाश कमरेसे भिन्न नहीं है और कमरेका आकाश जिस खुले आकाशमें मकान बना है, उससे अलग नहीं है; उस खुले आकाशमें ही सब कमरे बने हैं, उन्हींमेंके एक कमरेमें घड़ा है। अतएव सब जगह केवल वही एक आकाश है, कमरे और घड़ेकी उपाधिसे छोटे-बड़े अनेक आकाश दिखायी देते हैं। घड़ेका आकाश अपनी अल्प सीमाको त्यागकर महान् आकाशमें स्थित होकर, जो उसका वास्तविक नित्य स्वरूप है, यदि उस महान्की दृष्टिसे देखे तो उसको पता लगेगा कि सब कुछ उसीमें ही कल्पित और सब कुछमें सत्यरूपसे वही स्थित है। साथ ही कमरे या घड़ेका निर्माण जिस उपादान और निमित्त कारणसे हुआ है, उस उपादान और निमित्त कारणका भी कारण वही आकाश है। क्योंकि पञ्चभूतोंमें सबसे पहला आकाश ही है। इसी प्रकार व्यष्टि शरीरमेंसे अपने मैंपनको निकालकर विश्वरूप भगवान्की समष्टिमें स्थिर करे और समष्टिके नेत्रोंसे समस्त विश्वको अपने शरीरसहित उसीमें कल्पित देखे। जैसे यशोदाजीने भगवान्के मुखके अंदर विश्व और उस विश्वमें व्रजके एक ग्राममें नन्दजीका घर और उसमें

श्रीबालकृष्णको और हाथमें लकुटिया लिये अपनेको देखा था। इस प्रकार व्यष्टि अहंकारको समष्टिमें लय करके फिर उस समष्टिको भी अचिन्त्य परमात्मामें लय कर दे।

वस्तुतः जड, अनित्य, परिणामी, शून्य, विकारी और सीमित आकाशके साथ चेतन, नित्य, सदा एकरस सच्चिदानन्दघन निर्विकार और असीम पूर्ण परमात्माकी तुलना नहीं हो सकती। यह दृष्टान्त तो केवल समझनेके लिये ही है।

४-आँखें मूँदकर इस प्रकार विचार करे कि इस पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गादि समस्त भुवनोंमें जो कुछ देखने-सुनने या जाननेमें आता है, वह सब एकमात्र परमात्मा ही है। वे ही विश्वरूपमें प्रकाशित हो रहे हैं। यह समस्त जगत् उन्हींसे निकला है, उन्हींमें स्थित है और उन्हींमें लय हो जायगा। यह सृष्टि, स्थिति और संहारकी लीला उनके अपने ही अंदर उन्हींके द्वारा हो रही है। मैं भी उसी लीलाका एक खिलौना मात्र हूँ और जैसे सारी लीला वही हैं, वैसे ही यह खिलौना भी उनसे भिन्न नहीं है। इस प्रकार विचार करते-करते अपनेसहित संसार और संसारके पदार्थोंको एकमात्र परमात्माके स्वरूपमें लीन करके फिर ऐसा निश्चय करनेवाली बुद्धिको भी परमात्मामें विलीन कर दे।

५-आँखें मूँदकर या नासिकाग्रपर स्थिर-दृष्टि रखकर ऐसा निश्चय करे कि—सत्, चित् और आनन्दसे परिपूर्ण एक महान् समुद्र लहराता हुआ चला आ रहा है और मैं बैठा देख रहा हूँ। इतनेमें ही उसने आकर मुझको अपने अंदर ले लिया और मैं उसकी गहराईमें डूब गया तथा डूबते ही गलकर उसमें घुल-मिल गया। अब मेरा अलग अस्तित्व ही नहीं रहा। बस, अब केवल वह चेतन आनन्दका अथाह समुद्र ही रह गया। इस प्रकार अपनेको परमात्मामें विलीन करे।

६-आँखें मूँदकर या नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर ऐसा निश्चय करे कि मैं जो कुछ भी देख-सुन और जान रहा था, यह सब स्वप्न है। यह चन्द्र, सूर्य, दिशा, काल, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, दिन-रात, देश-वेश सब कुछ स्वप्नमें मेरे ही अंदर मेरे ही संकल्पके आधारपर स्थित थे। सब केवल मेरी ही कल्पना थी। अब मैं जग गया हूँ, तब ये सब कुछ नहीं रहे, मैं ही मैं बच रहा हूँ, वह मैं परमात्मासे भिन्न नहीं हूँ, परमात्मा ही अपने संकल्पसे यह 'मैं' बन रहे हैं। उनके सिवा मैं और मेरा स्वप्न यह कुछ भी नहीं है। इस प्रकार विचारद्वारा परमात्मामें चित्तको विलीन कर दे।

७-एकमात्र विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा ब्रह्म ही है। उनके सिवा न कोई वस्तु है और न कोई स्थान ही है, जिसमें कोई वस्तु रह सके। केवल एक वही परिपूर्ण है। उनका यह ज्ञान भी उन्हींको है। क्योंकि वे ज्ञानस्वरूप ही हैं। वे सनातन, निर्विकार, असीम, अपार, अनन्त, अकल और अनवद्य हैं। सब कुछ उन्हींमें कल्पित है या वही सब कुछ हैं। वे ही सत् हैं, वे ही असत् हैं; वे सत् भी नहीं हैं, असत् भी नहीं हैं। वे आनन्दमय हैं, अवर्णनीय हैं, अचिन्त्य हैं, उनका यह अवर्णनीय आनन्दमय स्वरूप भी आनन्दमय है। यह आनन्दस्वरूप पूर्ण है, नित्य है, सनातन है, अज है, अविनाशी है, परम है, चरम है, सत् है, चेतन है, ज्ञानमय है, कूटस्थ है, अचल है, अमल है, अकल है, अनामय है, अनन्त है, शान्त है और आनन्दमय है। बस, वह आनन्द ही आनन्द है। आनन्दके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, जो है सो आनन्द ही है। इस प्रकार ब्रह्मके आनन्दमयत्वकी मूर्ति चित्तमें प्रकट करके अपनेको उसमें विलीन कर दे।

८-शरीरके सभी मर्मस्थानोंकी भिन्न-भिन्न नाडियोंके पृथक्-पृथक् स्थान और कौन-सा वायु कहाँ रहता है तथा क्या करता है, इस शरीरविज्ञानको क्रियारूपमें भलीभाँति जानकर तब आँखें मूँदकर ध्यानके लिये बैठे और ज्योतिर्मय, निर्मल, आकाशवत् सर्वव्यापी, दृढ़, अत्यन्त, अचल, नित्य, आदि-मध्य और अन्तरहित, स्थूल होते हुए भी सूक्ष्म, अवकाशरहित, स्पर्शरहित, चक्षुसे अगोचर, रस और गन्धहीन, अप्रमेय, अनुपम, आनन्दरूप, अजर, सत्य, सदसद्रूप, सर्वकारण, सर्वाधार, विश्वमूर्ति, अमूर्त, अज, अविनाशी, अप्रत्यक्ष और नित्य प्रत्यक्ष, अन्तरस्थ और बहिरस्थ, सब ओर मुख, सब ओर आँखें, सब ओर पैर, सब ओर सिर, सब ओर स्पर्शवाले सर्वव्यापी ब्रह्मका ध्यान करे और वह ब्रह्म मुझसे अभिन्न है, ऐसा अनुभव करे।

९-आँखें मूँदकर अपने अंदर इस प्रकार देखे कि कन्दसे निकले हुए बारह अंगुल नलीवाले चार अंगुल चौड़े, ऊर्ध्वमुख, केशरयुक्त, कर्णिकासमन्वित, प्राणायामद्वारा विकसित आठ दलवाले हृदयकमलपर सब प्राणियोंके हृदयमें

रहनेवाले, पुरुषोत्तम, देवपति, अच्युत, अजन्मा, अविनाशी, सृष्टिकर्ता, विभु, लक्ष्मीपति भगवान् विराजमान हैं। उनकी चारों भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म हैं, भगवान्‌के अङ्ग केयूर और कुण्डल तथा अन्य आभूषणोंसे सुशोभित हैं, उनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है। पद्मोदर-सदृश ओष्ठ हैं। प्रसन्नवदन हैं, मन्द-मन्द निर्मल हँसी हँस रहे हैं, विशुद्ध स्फटिकके समान वर्ण है, पीताम्बर धारण किये हुए हैं और अपने दिव्य प्रकाशसे प्रकाशित हो रहे हैं। इस प्रकार ध्यान करके यह देखे कि मैं उन्हींमें विलीन हो गया। वह परमात्मा मुझसे भिन्न नहीं रहे।

१०-आँखें मूँदकर भीतर इस प्रकार देखे कि प्रकृतिरूपी कर्णिकासे युक्त, अष्ट ऐश्वर्यरूपी दलोंसे शोभित, विद्यारूपी केशर और ज्ञानरूपी नलिकासे समन्वित, बृहत् कन्दसे संलग्न और प्राणायामद्वारा खिला हुआ हृदयमें एक कमल है। उस कमलमें सर्वत्र तेजोमय सर्वतोमुखी शिखाओंसे सुशोभित, जगत्‌के कारण ईश्वररूपी हव्यवाहन वैश्वानर महा अग्नि देहको चरणोंसे लेकर मस्तकतक तप्त करते हुए निर्वात दीपकी तरह निश्चल ज्योति-रूपसे विराजित हैं, उनकी उन ज्योतिर्मय लपटोंमें नीलपद्मके अंदर विद्युत्‌की लताकी भाँति दीप्तिमान पीतवर्ण, विश्वचराचरके कारणरूप वैश्वानररूपी अक्षर देवता परमात्मा स्थित हैं। वह परमात्मा ही मैं हूँ। इस प्रकार निश्चय करे और अपनेको उनमें विलीन कर दे।

११-आँखें मूँदकर अथवा अभ्यास हो जानेपर प्रत्यक्ष सूर्य-मण्डलमें देखे कि दिव्य रथके अंदर पद्मासनपर विश्वात्मा चतुर्मुख परम सुन्दर प्रफुल्ल कमलसदृश मुख-मण्डलवाले हिरण्यवर्ण पुरुष विराजित हैं, उनके केश, मूँछें और नख भी हिरण्यमय हैं। उनका दर्शन पापोंको नष्ट करनेवाला है, वे सब लोगोंको अभय देनेवाले हैं। उनके ललाटकी आभा पद्मके गर्भपत्रके समान लाल है। वे समस्त जगत्‌के प्रकाशक और सब लोगोंके अद्वितीय साक्षी हैं। मुनिजन उनका दर्शन और स्तवन कर रहे हैं। ऐसे भगवान् आदित्यका दर्शन करके यह निश्चय करे कि वह आदित्य मुझसे अभिन्न है। और इस निश्चयके साथ ही अपनेको उनमें चित्तवृत्तिके द्वारा विलीन कर दे।

१२-कर्णिका और केशरसे युक्त अष्टदल हृदय-कमलमें चन्द्रमण्डलके मध्य विराजित गर्भाकार भोक्तारूप अक्षर आत्माको देखे और ऐसा निश्चय करे कि उस आत्मामें मैं ही हूँ और वह आत्मारूप मैं अमृतवर्षा करनेवाली चन्द्रकिरणोंसे घिरा हुआ हूँ, सिरमें स्थित अधोमुखी षोडशदल कमलसे गल-गलकर अमृतकी धाराएँ हजारों प्रकारसे मेरे चारों ओर बह रही हैं। वह अव्यय परमात्मा परब्रह्म मैं ही हूँ।

द्वैत (भेद) ध्यान

योगीश्वर शिवका ध्यान

हिमालयके गौरीशंकर शिखरपर एकान्तमें भगवान् शिव ध्यानस्थ पद्मासनसे विराजित हैं, उनके शरीरके ऊपरका भाग निश्चल सीधा और समुन्नत है। दोनों कंधे बराबर हैं। वे दोनों हाथ अपनी गोदमें रखे हुए हैं, जान पड़ता है मानो कमल खिल गया है। जटाजूट जूड़ाके समान ऊँचा करके सर्पके द्वारा बाँधा हुआ है, दोनों कानोंमें रुद्राक्षमाला है, ओढ़ी हुई काली मृगछालाकी श्यामता नीलकण्ठकी प्रभासे और भी घनीभूत हो रही है। उनके तीनों नेत्र नासिकाके अग्रभागपर स्थिर हैं। नासिकाग्रपर स्थित नीचेकी ओर झुके हुए स्थिर और निःस्पन्द उनके नेत्रोंसे उज्ज्वल ज्योति निकलकर इधर-उधर छिटक रही है। उन्होंने समाधि-अवस्थामें देहके अंदर रहनेवाले वायु-समूहको निरुद्ध कर रखा है, जिसे देखकर जान पड़ता है मानो वे जलपूर्ण और आडम्बररहित बरसनेवाले बादल हैं अथवा तरङ्गहीन प्रशान्त महासागर हैं या निर्वात देशमें स्थित निष्कल ज्योतिर्मय दीपक हैं। ऐसे समाधिस्थित योगीश्वर भगवान् शङ्करका ध्यान करे।

पञ्चमुख महेश्वरका ध्यान

आँखें मूँदकर देखे कि सामने एक सुन्दर कमल है, उस कमलपर भगवान् महेश्वर विराजमान हैं। उनके शरीरकी कान्ति चाँदीके पहाड़के समान श्वेत और सुन्दर है, मस्तकपर चन्द्रमा विराजमान है, रत्नोंके समान उज्ज्वल सब अङ्ग हैं, एक हाथमें कुठार है और शेष तीन हाथोंमें क्रमशः मृगमुद्रा, वरमुद्रा और अभयमुद्रा धारण किये हैं। प्रसन्न पाँच मुख हैं और तीन नेत्र हैं। व्याघ्रका चर्म पहने हुए हैं, चारों ओर देवता स्तुति कर रहे हैं। यही भगवान् महेश जगत्‌के आदि बीजस्वरूप और सब भयोंका नाश करनेवाले हैं।

श्रीभुवनेश्वरी देवीका ध्यान

जिनकी प्रातःकालीन सूर्यकिरणके सदृश देहकान्ति है, जिनके ललाटपर अर्धचन्द्रमुकुट सुशोभित है, जिनका विशाल वक्षःस्थल है, जिनके तीन नेत्र हैं और जो मन्द-मन्द मुस्करा रही हैं, जिनके चारों हाथ, वरमुद्रा, अंकुश, पाश और अभयमुद्रासे शोभित हो रहे हैं, उन श्रीभुवनेश्वरी देवीका ध्यान करना चाहिये।

श्रीजगज्जननी उमाका ध्यान

जिनकी देहकान्ति स्वर्णके समान सुन्दर है, जिनके बायें हाथमें नीलपद्म है और दाहिने हाथमें अत्यन्त श्वेतवर्ण चामर है, उन उमा देवीका ध्यान करना चाहिये।

श्रीविष्णुभगवान्‌का ध्यान

आँखें मूँदकर देखे कि हृदयकमलपर या अपने सामने जमीनसे कुछ ऊँचेपर स्थित एक सहस्रदल-कमलपर भगवान् श्रीविष्णु सुशोभित हैं। आप सब अनुरूप अङ्गोंसे समन्वित हैं, अति शान्त, सुन्दर मुखारविन्द है, आपके विशाल और मनोहर चार लंबी भुजाएँ हैं, ग्रीवा अत्यन्त रमणीय और सुन्दर है, परम सुन्दर कपोल हैं, मुखमण्डल मनोहर मन्द मुसकानसे सुशोभित है। लाल-लाल होंठ और मनोहर नुकीली नासिका है। दोनों कानोंमें मकराकृति कुण्डल चमक रहे हैं। मनोहर सुन्दर चिबुक है। नेत्र कमलके समान विशाल और प्रफुल्लित हैं। मेघश्याम-शरीरपर सुवर्णवर्ण पीताम्बर शोभायमान है। लक्ष्मीजीके निवासस्थान वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है। हाथोंमें क्रमशः शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, हृदयमें सुन्दर तुलसीयुक्त वनमाला, रत्नहार, वैजयन्तीमाला और कौस्तुभमणि विभूषित हैं। चरणोंमें रत्नजड़ित बजनेवाले नूपुर हैं और मस्तकपर किरीटमुकुट देदीप्यमान है। ललाटपर मनोहर तिलक है, हाथोंमें रत्नोंके कड़े, कमरमें रत्नजटित करधनी, भुजाओंमें बाजूबंद और हाथकी अंगुलियोंमें रत्नकी अँगूठियाँ सुशोभित हैं। आपके घुँघराले केश बड़े ही मनोहर हैं। चारों ओर प्रकाश छा रहा है और उसमेंसे आनन्दका अपार सागर उमड़ रहा है।

शेषशायी विष्णुभगवान्‌का ध्यान

आँखें मूँदकर देखे कि हृदयदेशमें मानो क्षीर-समुद्र है और उसमें भगवान् अनन्त शेषजीकी कोमल शय्यापर शान्तस्वरूप भगवान् श्रीविष्णु लेटे हुए हैं। अत्यन्त सौम्य और प्रसन्न मुखमण्डल है। नील मेघके समान मनोहर नील वर्ण है। सभी अङ्ग परम सुन्दर हैं और विविध आभूषणोंसे विभूषित हैं। श्रीअङ्गसे दिव्य गन्ध निकल रही है, नाभिमेंसे कमल निकला है, उस कमलपर चतुर्मुख ब्रह्माजी विराजमान हैं। जगज्जननी लक्ष्मीजी बैठी हुई भगवान्‌की चरणसेवा कर रही हैं। ऐसे सम्पूर्ण लोकोंके स्वामीके चरणोंमें मैं प्रणाम करता हूँ और भगवान् प्रसन्न होकर मेरे मस्तकपर अपना वरद हस्त रखते हैं। असंख्य सूर्योंसे बढ़कर आपका प्रकाश, असंख्य चन्द्रमाओंसे बढ़कर शीतलता, असंख्य कामदेवोंको मोहित करनेवाला आपका सौन्दर्य, असंख्य अग्नियोंसे बढ़कर आपका तेज, असंख्य इन्द्र और कुबेरोंसे बढ़कर आपका ऐश्वर्य, असंख्य समुद्रोंसे बढ़कर आपका गाम्भीर्य, असंख्य हरिश्चन्द्र और कर्णसे बढ़कर आपका औदार्य, असंख्य पृथ्वी-मण्डलोंसे बढ़कर आपकी क्षमाशीलता, असंख्य जननियोंसे बढ़कर आपका वात्सल्य और असंख्य प्रियतमोंसे बढ़कर आपका माधुर्य है। (क्रमशः)

मनपर विश्वास न करो !

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

नित्यं ददाति कामस्यच्छिद्रं तमनु येऽरयः। योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली।

(श्रीमद्भा० ५। ६। ४)

जैसे व्यभिचारिणी स्त्री अपनेपर विश्वास रखनेवाले पतिको धोखा देती है, वैसे ही मन भी अपनेपर विश्वास रखनेवाले योगीको—अपने अंदर काम और उसके पीछे रहनेवाले क्रोध आदिको अवकाश देकर धोखा देता है।

योगसे भगवत्साक्षात्कार

(पं॰ श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

सभी शास्त्रोंके अनुसार योगकी एक विशिष्ट सार्वभौम सत्ता है। वह या तो साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही है या उसके समकक्ष है। 'पातञ्जल योगदर्शन' के अनुसार चित्तकी सारी वृत्तियोंको निरुद्ध कर यहाँतक कि ऋतम्भरा प्रज्ञाको भी निरुद्ध करनेपर (योगकी अन्तिम भूमिका) जो निर्विकल्प-समाधि होती है, उसीका नाम योग है। इसीका दूसरा नाम 'निर्बीज-समाधि' भी है, यही चितिशक्ति भी है।

'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।'

(पातञ्जलयोग, कै॰ पा॰ ३४)

अर्थात् 'पुरुषार्थसे शून्य हुए गुणोंका अपने कारणमें लीन हो जाना कैवल्य है अथवा चितिशक्तिका अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाना ही कैवल्य है।'

श्री दुर्गासप्तशतीमें भी 'पराशक्ति' का नाम चितिशक्ति ही कहा गया है—

चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत्।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

यह भगवती चितिशक्ति नित्य ही सर्वत्र संसारमें व्याप्त है। यही संसारको उत्पन्न, पालित, संचालित एवं संहत करती रहती है। सभी प्रकारसे इसीको प्रसन्न कर साधक अभीष्ट सिद्धियोंको प्राप्त कर लेता है, चाहे वह कर्मयोगके द्वारा प्राप्त करे अथवा ज्ञानयोगसे—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

इसीलिये भगवद्गीतामें 'योग क्या है?' इसके ज्ञानके विषयमें केवल तीव्र उत्कण्ठामात्र होनेपर भी साधकके लिये शब्द-ब्रह्मसे ऊपर उठ जानेकी बात कही गयी है—

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥

(गीता ६। ४४)

यहाँ शब्दब्रह्मका तात्पर्य समस्त वेदराशि और वाचिक शब्दोंके द्वारा प्रतिपाद्य लौकिक साहित्य भी है। योग शब्द वैसे **'युज समाधौ'**, **'युज संयमने'** तथा **'युजिर् योगे'**—इन तीन धातुओंसे बनता है तथापि इसके सार्वभौम होनेसे इसमें आत्मा-परमात्माका योग, सम्पूर्ण विश्वके प्राणि-पदार्थोंका एकत्र संयोग, पूर्ण ब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति एवं विज्ञानघन ज्योतिःस्वरूप विशुद्ध आत्माके पूर्ण साक्षात्कार आदि अर्थ-संदर्भोंमें यह विशेषरूपसे प्रयुक्त होता है।

भारतमें योग-साहित्यपर अपार सामग्री है। योग-चूडामणि, कुलकुण्डलिनी, योगशिखोपनिषद्, अथर्वशीर्षोपनिषद् आदिमें एक क्षणके लिये भी योगमें चित्त लगानेको अर्थात् समाधि-अवस्थामें प्रविष्ट होनेकी स्थितिको सैकड़ों यज्ञोंके अनुष्ठान करनेके तुल्य फलवाला बतलाया गया है—

'क्षणमेकं क्रतुशतस्यापि।'

स्वयं योगदर्शनकारने इस समाधिको धर्मामृतधाराको प्रवाहित करनेवाले 'धर्ममहामेघ' की संज्ञा दी है—

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः। (योगदर्शन ४। २९)

इसी स्थितिको पैंगलोपनिषद् और पञ्चदशीमें भी स्पष्टतया इसी रूपमें संकेतित किया गया है—

ततोऽभ्यासपाटवात् सहस्रशः सदामृतधारा वर्षति ततो योगवित्तमाः समाधिं धर्ममेघं प्राहुः। (पैङ्गलोपनिषद् अ॰ ३)

भाव यह कि योगाभ्यासकी प्राप्तिके द्वारा यह समाधि हजारों धर्मरूपी धाराएँ प्रवाहित करती है। इसीलिये योगाचार्योंने इस समाधिको 'धर्ममेघ' कहा है। आचार्य विद्यारण्यकी पञ्चदशीमें भी यही बात कही गयी है—

अनादाविह संसारे सञ्चिताः कर्मकोटयः।
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते॥
धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः*।

* इसी प्रकार सांख्यकारिका (२) के 'ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः' की चन्द्रिका, तत्त्वकौमुदी, माठरभाष्य, सारबोधिनी, तत्त्वविभाकर आदि व्याख्याओंमें तथा योगदर्शन (४। ७) के 'कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' के व्यासभाष्य-शांकरविवरण, वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु, भोजादि विवृति-वार्तिकोंमें धर्मके चार प्रकार बतलाये गये हैं। (१) कृष्णधर्म, (२) शुक्लकृष्णधर्म, (३) शुक्लधर्म, (४) अशुक्लाकृष्णधर्म। इनमें

वर्षत्येष यतो धर्मामृतधारा सहस्रशः ॥

(पञ्चदशी १।५९-६०)

योग-साधना सभी प्रकारके साधकके लिये कल्याणका साधन है। इसलिये मनीषियोंने विचारकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोटियोंकी परम्पराको पार करते हुए आत्मदर्शन अर्थात् भगवद्दर्शनकी ही सर्वविध श्रेष्ठता प्रतिपादित की है—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।

(याज्ञवल्क्यस्मृति १।७ तथा बृ० योगियाज्ञ० ११।३४)

यहाँ विद्वान् टीकाकारोंने 'आत्मदर्शन' का अर्थ स्पष्ट रूपसे परमात्मदर्शन ही किया है—

आराध्यते स्ववर्णोक्तधर्मानुष्ठानकारिणा।
तस्मात् तत्प्राप्तये यत्नः कर्तव्यः पण्डितैर्नरैः ॥
तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानं च कर्म चोक्तं महामुने।
अत्रात्मशब्देन परमात्मैव परिलक्षितः ॥

(अपरादित्यकृत अपरार्क-व्याख्या)

अर्थात् ऐसे सभी स्थलोंपर 'आत्मा' शब्दसे 'परमात्मा' ही परिलक्षित—परिगृहीत होता है। जीवात्मा यहाँ कदापि अभीष्ट नहीं है, क्योंकि वह तो बिना योग-समाधिके ही सबको सदा-सर्वत्र प्राप्त है। अतः—

'आत्मा वारे द्रष्टव्यः।' (बृहदारण्यको०) तथा **'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'** आदि अधिकारों—प्रकरणोंको देखनेसे परमात्मदर्शनकी ही विधि बतलायी—अनुष्ठित की जाती है।

'तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति' से भी परमात्मा ही अभिप्रेत है। इसी भावकी पुष्टि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी करते हैं—

तब मैं हृदयँ बिचारा जोग जग्य ब्रत दान।
जा कहुँ करिअ सो पैहउँ धर्म न एहि सम आन ॥
जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥

× × ×

सब साधन कर फल यह सुंदर ॥

—इस आत्मदर्शन-रूप परमात्मदर्शन या साक्षात्कार-प्राप्त विद्वान्‌को कई वेदज्ञ विद्वानोंके तुल्य बतलाया गया है। इसीलिये परमात्मप्रापक योगकी विशेषता स्थान-स्थानपर अत्यधिक रूपमें दृष्टिगत होती है। धर्मका सार योग है और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, तप आदि यम-नियम, प्राणायामादि योगका भी सार-सर्वस्व गाढ़ सुस्थिर ध्यान किंवा समाधिद्वारा नित्य सर्वत्र भगवद्दर्शन या परमात्म-साक्षात्कार है, जिसे वेदान्तसार भी कहा जाता है। ऐसी स्थितिमें योगीका स्वतन्त्र मन जहाँ-जहाँ भी जाता है, वहाँ-वहाँ भगवान् ही दीखते हैं, संसार पुनः उसे नहीं दीखता। भक्त योगी प्रह्लादको ऐसा ही होता था।

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।

(कुलार्णवतन्त्र)

अनेक जन्मोंकी साधनाके बाद सिद्ध गुरुकी कृपासे शास्त्रोंका तात्पर्य समझकर साधक प्रयत्नसे समस्त इन्द्रियोंको मनके साथ-साथ सर्वथा वशकर ऐसी समाधि या नित्य परमात्मदर्शनका प्रयत्न करता है। 'धर्ममेघसमाधि' से उसके प्राक्तन समस्त दुष्कृत-समूह नष्ट हो जाते हैं और दिव्य ज्ञान-ज्योति नित्य प्रज्वलित होने लगती है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।

(४।३६-३७)

योगीके पुण्य और पाप दोनों एक साथ ही समाप्त हो जाते हैं। अतः निरन्तर भगवद्दर्शनमें कोई बाधा नहीं होती, मात्र भगवान् ही उसके सामने शेष रह जाते हैं। इसीलिये भयंकर कर्मबन्धनसे मुक्ति एवं संसार-सागरसे संतरणका योग ही एकमात्र उपाय है—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥

(गीता २।५०)

दुरात्माओंके तामसी श्रद्धासे सम्पादित धर्म तो कृष्ण हैं, राजसी अश्वमेधादि याज्ञिक हिंसामयी क्रियाएँ शुक्ल-कृष्ण हैं। जप, स्वाध्यायादि धर्म शुक्ल हैं और ध्यान-समाधिजनित शुद्धतम धर्म अशुक्लाकृष्ण — दिव्य धर्म है—

गुणाहेतुका निजानन्दफलिका सम्प्रज्ञातसमाध्यादिरूपाक्रिया अशुक्लाकृष्णो धर्मः। (सारबोधिनी)

इस प्रकार यहाँ भी ध्यान-समाधिद्वारा किये जानेवाले परमात्मदर्शनको सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

तीव्र योगसाधनामें केवल भगवान् ही दृष्टिगत होते हैं। यह संसार बिलकुल तिरोहित हो जाता है—

एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥

अयोगियोंके एवं कुयोगियोंके लिये परमात्मा रात्रिके समान अन्धकारमय अज्ञातस्थितिमें रहता है, जबकि योगीके लिये संसार ही अज्ञात एवं शून्यवत् रहता है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

(गीता २।६९)

जब नित्य-निरन्तर युगोंतक ऐसी समाधि या ऐसी यौगिक दृष्टि बनती है तो जीवन्मुक्त योगी सीधे भगवान्में प्रविष्ट कर जाता है—

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८।५५)

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११।५४)

इसीको अनेक जन्मोंके द्वारा सिद्धिप्राप्त जीवन्मुक्त योगीके लिये परमोच्च पद-प्राप्तिकी बात कही गयी है—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

(गीता ६।४५)

यह योगका वास्तविक चमत्कार है। जो इस बातको जान लेता है, वह संसारका सर्वाधिक बुद्धिमान् एवं कृतकृत्य व्यक्ति माना गया है—

एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥

(गीता १५।२०)

मानव-जीवनका सर्वोत्तम लक्ष्य पूर्णयोगकी प्राप्ति है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

(२।५३)

अर्थात् समस्त शास्त्रोंके ज्ञानसे तथा शुद्ध बुद्धिद्वारा चिन्तनपूर्वक विप्रतिपन्न बुद्धि जब समाधि-अवस्थामें व्यवसायात्मिका रूपमें एक परमात्मामें अवस्थित हो जायगी तब पूर्णयोगकी प्राप्ति हो जायगी। श्रीभगवान्के इस कथनसे यह सुस्पष्ट है कि योगकी प्राप्तिमें समग्ररूपेण परमात्माकी प्राप्ति परिलक्षित है। किंतु यह योग असावधान, चञ्चलचित्त, प्रमाद, अहंकार आदि दोषोंसे ग्रस्त भोगलिप्सु व्यक्तियोंके लिये सर्वथा दुष्प्राप्य है—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।

(६।३६)

अतः प्रयत्नशील योगाभ्यासी व्यक्तिको समस्त शास्त्रोंके ज्ञानद्वारा **'शास्त्रयोनित्वात्'**—इस ब्रह्मसूत्रमें निर्दिष्ट लक्षणोंसे युक्त होकर परमात्म-प्राप्तिके लिये पूर्ण प्रयत्नशील होना चाहिये।

यद्यपि मनुष्य चराचरके सभी प्राणियोंमें सर्वाधिक बुद्धिमान् है, वह परिश्रमपूर्वक अपने पूर्वजों, योगसिद्ध ऋषि-महर्षियोंद्वारा निर्दिष्ट तथा योग-साधनाओंसे प्राप्त भगवत्तत्त्व और ज्ञान-तत्त्वको अच्छी तरह जानकर उनकी साधना-विधि आदिको हृदयङ्गम कर लेता है, तथापि वह वासना, तृष्णा आदिपर पूर्ण विजय नहीं प्राप्त कर पाता। काम, क्रोध, लोभ, मोहासक्ति, अभिमान, दम्भ, छल, असत्य, ईर्ष्या, उद्वेग, हर्ष-विषाद एवं रसलोलुपताकी दृष्टि आदि हजारों दोषोंको जीतनेमें समर्थ नहीं हो पाता। वह भजन, कीर्तन आदिकी महत्ताको जानकर भी उसमें नहीं लग पाता। इस प्रकार अच्छी वस्तुओंको जानकर भी उनका आचरण करने एवं बुरी वस्तुओंके परित्यागमें वह योगाभ्यासके बिना असमर्थ रहता है। इसे अयोगित्व या कुयोगित्व कहा जाता है। अयोगी या कुयोगी पुरुषको भगवान्का दर्शन नहीं हो पाता—

अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्॥

(श्रीमद्भा० १।६।२२)

इसीलिये योगसाधक शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदिसे सर्वथा दूर रहता है। उसकी इन्द्रियाँ संयत हो जाती हैं। इससे वह दीर्घकालतक योगसाधन एवं भगवद्भजन-रत रह सकता है। काम, क्रोध, लोभ एवं मोह आदि उसके पास भी नहीं फटकते। शील, विनय, करुणा, समता-मुदिता, सद्बुद्धि, शान्ति तथा सम्यक् ज्ञान उसके बाहर-भीतर सदैव व्याप्त रहते हैं। इस प्रकार वह योगसाधक प्रायः सभी दोषोंपर विजय प्राप्त करता हुआ सारे श्रेष्ठ सद्गुणोंका आकर बन जाता है।

इस प्रकारके योग-साधककी दृष्टिमें सूक्ष्मता आ जाती है। जिससे उसे भूत-भविष्यका ज्ञान होने लगता है। ऐसी स्थितिमें सिद्ध, संत, देवता, मुनि आदि भी उसकी सहायता

करने लग जाते हैं। उसे परमात्मतत्त्वका सम्यक् ज्ञान हो जाता है और तत्पश्चात् सम्पूर्ण विश्वमें सम्यक् ब्रह्मदृष्टि हो जानेपर जीवन्मुक्तिकी अवस्थाको प्राप्त कर वह सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है।

योगदर्शन एवं अन्य योगशास्त्रोंमें योगके दो मुख्य भेद बताये गये हैं। जो पूर्वजन्मसे अभ्यस्त होकर योगसाधनामें प्रवृत्त होते हैं, उनके लिये केवल चित्तमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं और संकल्प, विकल्प, पूर्वापरकी स्मृतियों, एवं विपर्यय-ज्ञान आदिको निरुद्ध कर समाधिमें स्थित होनेका विधान निर्दिष्ट है। दूसरे सामान्य साधकोंके लिये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, आसनसिद्धि, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान आदिके दीर्घ अभ्यासद्वारा समाधि-प्राप्ति एवं भगवत्साक्षात्कार करनेका विधान है। 'योगवासिष्ठ' ग्रन्थमें प्रायः ३२ हजार श्लोकोंमें केवल ज्ञानके सूक्ष्म विवेचन एवं आत्मानुसंधानद्वारा परमात्म-साक्षात्कारका विधान निरूपित हुआ है। पूर्णयोगकी प्राप्ति और पूर्ण शान्ति, समता, अनुद्वेग तथा नित्य भगवद्भजन एवं साधनामें दृढ़ होनेकी लगन—इन सबमें एक-समान स्थिति होने एवं तदनुरूप आचरण करनेसे योगी कृतार्थ हो जाता है। इस प्रकार सभी शास्त्रोंमें चित्तवृत्तियोंके निरोध और सम्यक्-ब्रह्मदृष्टिपूर्वक पूर्ण शान्तिकी स्थितिके प्राप्त होनेको ही योग कहा गया है। इसीमें सर्वाधिक ज्ञान, दिव्य आनन्द एवं लोकोत्तर सुखोंकी स्थिति निर्दिष्ट है। इन्द्रियोंसे प्राप्त शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस आदि सुख अल्प अवधिमें ही दुःखके रूपमें परिणत हो जाते हैं, किंतु योगका सुख निरतिशय, सर्वाधिक दिव्य, अतीन्द्रिय एवं सर्वक्लेशापहारी होता है। इसे एक बार प्राप्त कर लेनेपर साधक फिर इससे कभी अलग नहीं होना चाहता। इसमें साधकको परमात्माका दिव्य संयोग प्राप्त होता है और वह उसे ही संसारका सबसे बड़ा लाभ मानकर उससे लेशमात्र भी विचलित नहीं होना चाहता। संसारके महान्-से-महान् क्लेश भी उसे उस श्रेष्ठ ध्यानयोगसे विचलित नहीं कर पाते। कहा भी गया है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २२)

इस प्रकार संसारके सारे क्लेशोंसे वियुक्त और भगवद्भावनासे संयुक्त होना ही योग है। इसे अवश्य जानना चाहिये और पूर्ण मनोयोगपूर्वक इस योगसाधनाका सम्यक् अभ्यास करना चाहिये। इसीसे भगवत्प्राप्ति एवं सर्वोपरि सुखोपलब्धि हो सकती है। मानव-जीवनकी सर्वोपरि सफलता भी इसीमें है। जगत्स्रष्टा ब्रह्मा वृक्ष, जलचर, सरीसृप, पशु-पक्षी आदिकी सृष्टि कर असंतुष्ट ही रहे, क्योंकि वे योगद्वारा परमात्म-साक्षात्कारमें सक्षम नहीं थे। अन्तमें उन्होंने मनुष्यकी रचनाकर जब यह देखा कि यह शास्त्रज्ञान एवं योगद्वारा भगवत्प्राप्ति करनेमें सक्षम है तो वे पूर्ण संतुष्ट हो गये—

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥

(श्रीमद्भा० ११। ९। २८)

अतः प्रत्येक मनुष्यको योगद्वारा भगवान्‌को प्राप्त कर अपनी मानवताको सार्थक बनाना चाहिये।

योगिराजके प्रति

योगिराज! तेरे दर्शनको, भक्त मानते हैं शुभ-स्वर्ग।
उसे परम पुरुषार्थ जान तव परम धाम चाहें बुधवर्ग॥
तेरे पदकी सेवा हे हर! मेरे पद-सेवक-संसर्ग।
हो 'द्विजेन्द्र' पर कृपा-दृष्टि वह, जिससे पावें हम अपवर्ग॥

—श्रीसरयूप्रसादजी शास्त्री 'द्विजेन्द्र'

योगसे भगवत्प्राप्ति

(पं० श्रीमाधव बालशास्त्री दातार)

श्रीकृष्णचन्द्रमें चित्त लगाना ही मुख्य योग है और 'योग' पदका यही मुख्य अर्थ है। पातञ्जलयोगसूत्रमें '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**' अर्थात् चित्तवृत्तियोंके निरोधको 'योग' कहा गया है। श्रीमद्भागवतमें स्वयं श्रीकृष्णने भी अपने प्रिय शिष्य उद्धवको योगका यही अर्थ समझाया है। 'योग' शब्दके जो अन्य अनेक अर्थ हैं, जैसे सन्नहन, उपाय, ध्यान, सङ्गति, युक्ति आदि वे सब भी चित्तवृत्तिके निरोधके बिना होनेवाले नहीं। इसलिये चित्तवृत्तिनिरोध 'योग' शब्दके सभी अर्थोंमें, मणिमाला या पुष्पमालामें सूत्रके समान अनुस्यूत है।

अब प्रश्न यह है कि यह चित्तवृत्तिनिरोध कैसे हो? अनन्त जन्मोंसे विषयासक्त बना हुआ यह चित्त कहाँ और कैसे निरुद्ध हो सकता है? प्रत्येक मनुष्य इस बातको जानता है कि विषयमात्र आपत्तियोंका घर है, फिर भी मनुष्य पशुवत् विषयोंके पीछे दिन-रात दौड़ा ही करता है, इसका कारण क्या है?

उत्तर यह है कि मनुष्य जबतक देहपर आत्माध्यास करता रहेगा, तबतक उसका मन सत्त्वप्रधान होनेपर भी उस मनमें सकल दुःखोंका कारण जो रजोगुण है, बढ़ता ही रहेगा, यह नियम है। वही रजोगुण-प्रधान मन 'यही मेरा भोग्य है' ऐसा संकल्प करता है। उससे '**अहो रूपम्, अहो माधुर्यम्**' इत्याकार-गुणचिन्तन होता है। फलस्वरूप ऐसा भोगाभिनिवेश होता है कि उसका वेग सहा नहीं जाता, अति दुस्सह होता है। यह अवस्था अवश्य ही अविद्यामोहित विवेकहीन मनुष्योंकी ही होती है। रजोगुणके वेगसे मोहित अतएव अजितेन्द्रिय मनुष्य कामके वश हो जाता है। अतः कर्ममात्रको दुःखफलक जाननेपर भी विषय-भोगोंके उपायरूप कर्म ही किया करता है।

इसपर यह प्रश्न होता है कि अविद्यामोहसे बचनेका क्या उपाय है? इसका उत्तर यह है कि आत्मा देहादिकोंसे भिन्न है, इसका शास्त्रीय ज्ञानपूर्वक विज्ञान होना चाहिये। यहाँ यह स्मरण रहे कि देहादिकोंसे आत्मा भिन्न है, यह ज्ञान होनेपर भी, पूर्वसंस्कारानुसार रजोगुण और उसके साथी तमोगुणसे चित्तको पुनः विक्षेप हुआ करता है। ऐसी अवस्थामें अनलस और सावधान होकर यह विचारे कि 'ये शब्द-स्पर्शादि विषय ही आजतक मुझे फँसाये हुए हैं और इन्होंने ही मुझे अनन्त योनियोंमें बड़ी निर्दयतासे घुमाया है, अब भी यदि मैं सावधान न हुआ तो आत्मसुखसे हाथ धोना पड़ेगा।'—विषयोंपर इस प्रकार दोषदृष्टि रखनेवाला साधक विषयोंमें आसक्त नहीं होता। विषयके चिन्तनसे होनेवाला विषयविषयक काम विषयनिष्ठ दोषदर्शनसे निवृत्त हो जाता है।

पर मन बड़ा चञ्चल है, उसका निग्रह वायुके निग्रहके समान अत्यन्त दुष्कर है, जैसा कि श्रीअर्जुनने गीतामें कहा है। इसपर प्रभुचरणोंका यही उत्तर है कि—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

अर्थात् मन अभ्यास और वैराग्यसे वशमें हो जाता है।

पर आलम्बरहित मन कैसे स्थिर होगा? कोई-न-कोई आलम्बन तो अवश्य चाहिये। आलम्बन है सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र भगवान् श्रीकृष्णका चरणारविन्द—

संचिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम्।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्॥

(श्रीमद्भा० ३।२८।२१)

'उत्तम प्रकारसे भगवान्के उस चरणकमलका ध्यान करे जो चरणकमल वज्र, अङ्कुश, ध्वजा और कमलके चिह्नोंसे युक्त है तथा जिसने अपने ऊँचे उठे हुए लाल-लाल नखोंकी ज्योत्स्नासे सत्पुरुषोंके हृदयके अन्धकारको दूर कर दिया है।'

यही आलम्बन है। इससे बढ़कर कोई आलम्बन नहीं। इसमें मनोनिरोध करना मनकी परमगति है।

पर मन यों ही किसीके वशमें नहीं होता, यह बहुत ही प्रबल है। श्रीमद्भागवतमें मनके बलकी यह प्रशंसा है कि—

मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा
मनश्च नान्यस्य वशं समेति।
भीष्मो हि देवः सहसस्सहीयान्
युञ्ज्याद्वशे तं स हि देवदेवः॥

अर्थात् और सब देवता मनके वशमें हो गये, पर मन किसीके वशमें नहीं हुआ। यह ऐसा भीष्मदेव है, बलवानोंसे

भी बलवान् है, ऐसे मनको जो वशमें करता है, वह देवोंका देव है। यही बात भगवती श्रुतिने भी ठीक ऐसे ही कही है—

मनसो वशे सर्वमिदं बभूव
नान्यस्य मनो वशमन्वियाय।
भीष्मो ही देवः सहसस्सहीयान्।

तथापि शनैः-शनैः दीर्घकालतक निरन्तर सत्कारपूर्वक अभ्यास करनेसे तथा जितासन और जितश्वास होकर श्रीकृष्णचरणोंमें चित्त लगानेके अध्यवसायसे मन श्रीकृष्णचरणोंमें स्थिर हो सकता है।

तात्पर्य, शब्द-स्पर्शादि विषयोंका चिन्तन छोड़कर मनको श्रीकृष्णचिन्तनमें अभ्याससे स्थिर करना ही योग है। सनकादिकोंने इसी योगको कहा है, जैसा कि श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धावेश्यते यथा॥

'मेरे शिष्य सनकादिकोंने इसी योगको कहा है कि जिसमें मन सब तरफसे खींचकर मुझमें लगाया जाता है।' भगवत्प्राप्तिका यही योग है।

योग और भगवान्

यद्यपि मुण्डक, माण्डूक्य, योगशिख, योगकुण्डलिनी और योगतत्त्व आदि उपनिषदों, शिव, लिङ्ग, मार्कण्डेय, विष्णु, भागवत आदि सभी पुराणों, मनु, याज्ञवल्क्य आदि सभी स्मृतियों और भगवद्गीता, गणेशगीता, उत्तरगीता, अनुगीता, ईश्वरगीता, शिवगीता, सूर्यगीता , अष्टावक्रगीता, अवधूतगीता तथा महाभारतके अन्तर्गत वर्णित अनेक गीताओंमें प्रायः योगका ही वर्णन है तथापि सभी योगोंका एकमात्र लक्ष्य नारायणस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति ही है। वे ही परम शिव, सूर्य, शक्ति, गणेश आदि विविध देवताओं एवं योगियोंके नाम-रूपोंमें अभिव्यक्त हैं। इतना ही नहीं, अपितु विशुद्ध योग, अद्वैततत्त्वरूप निर्मल ज्ञान-विज्ञान, परमतत्त्व, निर्गुण-निराकार ब्रह्म, परमात्मा तथा विष्णु आदि नामोंसे वे ही अभिव्यक्त होते हैं।

वे ईश्वर सभी प्राणियोंके द्वारा एकमात्र प्राप्त हैं। श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि तत्त्ववेत्तालोग जिसे विशुद्ध परमतत्त्व, ज्ञानीलोग जिसे विशुद्ध अद्वैत-ज्ञान और वेदान्तीलोग ब्रह्म, योगीलोग परमात्मा और भक्तलोग भगवान् कहते हैं, वही सर्वोपरि तत्त्व है और वह एक ही है।

रुचिभेदके वैचित्र्यसे संसारके प्राणी उन्हें शिव, शक्ति, विष्णु, गणेश आदि रूपोंमें मानकर उनकी उपासना करते हैं। श्रीमद्भागवत (१।२।११)के अनुसार भी एक ही परमतत्त्व नानारूपोंमें भासित है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

भक्तोंने उन सर्वेश्वरको अनेक दिव्य अद्भुत अलौकिक चमत्कारोंका महासमुद्र बतलाया है—

दिव्याद्भुतचमत्कारलीलाकल्लोलवारिधिः।

वे अकारण-करुण एवं करुणाके अनन्त अगाध समुद्र हैं। उनकी ओर लेशमात्र भी प्रवृत्ति होनेपर और उनके गुणोंके प्रति आकर्षण होनेपर प्राणीका परम कल्याण होना आरम्भ हो जाता है। उनसे स्वल्प आत्मीयता हो जानेसे ही उनके सम्मुख शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध तथा मृदु, लवण, मधुर, अम्ल आदि सुखप्रद षट्रस एवं शृंगार, हास्य, वीर, करुण आदि नौ रस सर्वथा फीके लगने लगते हैं। विनयपत्रिका (१६९)में गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने लिखा है—

जो मोहि राम लागते मीठे।
तौ नवरस-षटरस-रस अनरस है जाते सब सीठे॥

फिर ऐसे ही अनायास उपासककी प्रवृत्ति योगोन्मुख हो जाती है। वह अन्य वस्तुओंको देखना, उनकी चर्चा करना सर्वथा निरर्थक एवं निस्सार मानने लगता है। उसे केवल भगवच्चर्चा ही रुचिकर लगती है। उसे कहीं अन्य प्रसंगमें रस नहीं मिलता तथा भगवान्के ध्यान, चर्चा, गुणगान आदिसे उसकी तृप्ति भी नहीं होती—

राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥

इस प्रकार धीरे-धीरे उपासकमें सभी शास्त्रोक्त सद्गुण आने लगते हैं। उसकी शुद्ध आराधना एवं निष्कामभक्तिके फलस्वरूप उसे देवता, ऋषि-मुनियों आदिका सहयोग भी प्राप्त हो जाता है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।

शनैः-शनैः उस साधकका सर्वथा कल्याण हो जाता है। वैसे संसारके सभी आस्तिक-नास्तिक मनुष्य, पशु-पक्षी आदि प्राणि-वर्ग भी जाने-अनजानेमें अपनी आत्माके रूपमें उनकी ही उपासना करते हैं। परंतु यह वैध योग नहीं है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

(गीता ९ । २३)

क्योंकि जैन, बौद्ध, ईसाई, हिन्दू, मुसलमान जिस किसी भी नाम-रूपमें सर्वोपरि तत्त्वका स्मरण करते हैं, उसका वास्तविक स्वरूप जानना परमावश्यक है। उसका ठीक-ठीक साक्षात्कार सर्वोच्च योगके द्वारा ही सम्भव है। यही योगका लक्ष्य या परिणाम भी है। वही योग सच्चा योग है जो तीव्र संवेगसे अनुष्ठित होनेपर परमात्माकी प्राप्ति करा दे। जिस योग या ज्ञान आदि साधनसे परमात्मप्राप्ति न होकर सांसारिक लाभ प्राप्त हो, वह योग नहीं कुयोग है, ज्ञान नहीं अपितु अज्ञान है—

जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम पेम परधानू ॥

इसी प्रकारकी बात श्रीमद्भागवतमें भी सुस्पष्ट है—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥

वह निर्मल ज्ञान भी, जो मोक्षकी प्राप्तिका साक्षात् साधन है, यदि भगवान्‌की भक्तिसे रहित हो तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती। फिर जो साधन और सिद्धि दोनों ही दशाओंमें सदा ही अमङ्गलरूप है, वह काम्य कर्म और जो भगवान्‌को अर्पण नहीं किया है ऐसा अहैतुक (निष्काम) कर्म भी कैसे सुशोभित हो सकता है।

सभी युगोंमें—सभी धर्मोंमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये लोकोपकारदृष्ट्या अनेकों ग्रन्थ लिखे गये हैं। योग-साधनाके क्रममें समाधितक प्रायः सभीकी साधना समान है। परंतु निरीश्वरवादी दार्शनिक उसका अन्त शून्यमें मानते हैं, जो सर्वथा गलत है। वे शून्यको ही परमतत्त्व मानते हैं। जब कि स्फोटवाद और व्याकरण आदि सभी शास्त्रोंके अनुसार 'तत्त्व' शब्द परमात्माका ही वाचक है और वह परमात्मा निश्चय ही शुद्ध योगियोंपर अनुग्रह करता है। अतः योगसे भगवान्‌की प्राप्ति सर्वथा सुनिश्चित है। विश्वके सभी योग-शास्त्रोंमें सनातन वैदिक धर्मके योगशास्त्र एवं उसमें भी श्रीभगवान्‌के श्रीमुखसे उच्चरित 'गीता' सर्वाधिक उपयोगी एवं योग-साधकोंके लिये कल्पतरु है। योगदर्शन तथा भागवत आदिमें भी निर्विकल्प समाधिके अनन्तर पूर्णरूपसे भगवत्प्राप्तिकी बात निर्दिष्ट हुई है। जैसे ही योगके द्वारा साधकका मन रज-तमसे शून्य होकर विशुद्ध सत्त्व एवं योगयुक्त होता है, उसी समय समस्त कल्याणोंके आकर, निखिल सद्गुणोंके निधान भगवान् उसके बाहर-भीतर प्रत्यक्ष हो जाते हैं, इसे ही कुन्तीने बड़े मधुर शब्दोंमें कहा था—

अथवा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ॥

अर्थात् जो समाधि-प्राप्त परमहंस निर्मल योगी-मुनियोंको भक्ति-सुख देनेके लिये उनके समक्ष अवतरित होता है, उसके स्वरूपको भला हम मूढ़ स्त्रियाँ कैसे समझें ? किंतु भगवान् तो शबरीके ऐसे ***'अधम ते अधम अधम अति नारी । तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी ॥'*** आदि कहनेपर तत्काल कहते हैं—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता ॥

× × ×

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई ॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें ॥
जोगि बृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई ॥
मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा ॥

अर्थात् कुन्ती और शबरी आदिको भी योग-ध्यानसे ही भगवान्‌के सम्यक् दर्शन प्राप्त हुए, उन्होंने उनका प्रत्यक्ष दर्शन किया और सर्वथा कृतकृत्य हो गयीं।

इस प्रकार योगविद्या अत्यन्त सहज है और सभी उसके अधिकारी हैं और गीता-रामायणरूपी कल्पवृक्ष एवं भारतीय सत्साहित्यके आश्रयसे एक ही जन्ममें और कम समयमें पूर्ण भगवत्साक्षात्कारका आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। साधकके एक कदम चलनेपर भगवान् तीव्रतम गतिसे उसकी ओर चलकर उसका परम कल्याण कर देते हैं और निर्गुण-सगुण सभी रूपोंमें उसके सम्मुख अपना प्रभाव दिखलाकर उसे परमानन्दरससे परिप्लुत कर देते हैं, यही योगविद्याका चमत्कार है।

गो-सेवासे तत्क्षण योगसिद्धि

प्राचीन भारतीय इतिहास इस बातका साक्षी है कि अल्पकालिक गो-सेवासे ही भगवान् श्रीकृष्णको भगवत्ता, महर्षि गौतम, कपिल, च्यवन, सौभरि तथा महर्षि आपस्तम्ब आदिको परम सिद्धिकी प्राप्ति एवं महाराज दिलीपको रघु-जैसे चक्रवर्ती पुत्रकी और मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामको परब्रह्मत्वकी प्राप्ति हुई थी। इसीके आधारपर सम्पूर्ण विश्वमें गोत्रोंका प्रचलन भी हुआ। महर्षि च्यवन एवं आपस्तम्बने अपना मूल्य लगानेके समय स्वयंको सम्पूर्ण पृथ्वी तथा स्वर्गलोकके सम्पूर्ण साम्राज्यसे भी अधिक मूल्यवान् माना, किंतु जब तत्कालीन नरेशोंद्वारा उनके मूल्यके रूपमें एक गायको उपस्थित किया गया तो वे तत्काल प्रसन्न हो गये। अतः गो-सेवाका महत्त्व अत्यधिक है।

भगवान् महावीर एवं गौतम बुद्धने भी गो-सेवासे ही अहिंसा-धर्मको सिद्ध कर अपने महान् धर्मोंको सम्पूर्ण विश्वमें फैलाया था। योगसाधनके यम-नियमोंमें अहिंसा प्रथम है। उसकी सिद्धिके लिये दूसरे सभी सत्य, अस्तेय आदि साधन हैं। इस अहिंसाका सीधा सम्बन्ध गो-सेवासे ही है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने भी योगके सारभूत सर्वोत्तम लक्ष्य 'ज्ञानदीपक' की प्राप्तिके लिये सर्वप्रथम गायको ही सर्वोच्च साधन निरूपित किया है—

सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई॥
जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥
तेइ तृन हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई॥

—इसीका घृत योगज्ञान-दीपकका आधार बनता है। समस्त देवताओंको तृप्त करनेवाला मन्त्रपूत हविष्य गो-दुग्धसे ही तैयार होता है। वस्तुतः गाय तीनों लोकोंको पवित्र करती है। उसके शरीरमें तीनों लोकों, देवताओं और ऋषि-मुनियों-सहित सम्पूर्ण तीर्थोंकी भी स्थिति है। अतः उसकी सेवासे भला ऐसी कौन-सी सिद्धि है, जिसकी प्राप्ति न हो?

बड़े खेदकी बात है कि समस्त धर्मों, पुण्यों, सुख-सम्पत्तिके भण्डार एवं योगके सर्वाधिक सरलतम सुखद साधनस्वरूप इस गो-माताका वर्तमानमें घोर तिरस्कार हो रहा है। इसके परिणाम-स्वरूप देशमें ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्वमें रक्तपात, हिंसा और उपद्रवादिकी भयावह स्थिति उत्पन्न हो गयी है।

वेदोंसे लेकर सभी पुराणों तथा अन्यान्य धर्मशास्त्रोंमें 'धर्म' को 'वृष'का ही रूप माना गया है। परंतु इसका वर्तमान राजनीतिमें कोई स्थान नहीं है। जबकि प्राचीन परम्पराके अनुसार धर्मके बिना राजनीति विधवा मानी गयी है। आज विश्वके समस्त राजनीतिज्ञ धर्मके वास्तविक स्वरूपको न समझकर दिशाविहीन, किंकर्तव्यविमूढ़, हतप्रभ एवं ज्ञान-बुद्धिसे शून्य होकर देश-प्रदेशकी जनभावनाओंके साथ जनताका और अपना भी अहित ही कर रहे हैं। निःसंदेह इसमें विश्वरूप-धर्म और विश्वधारिणी गोमाताकी उपेक्षाके साथ-साथ अनीश्वरवादिता एवं देवता आदिके प्रति अश्रद्धाका भाव ही प्रधान कारण है।

समस्त योगसाधनका फल षड्वर्ग-संयम, मन, बुद्धि एवं आत्माकी परिशुद्धि तथा नित्य पराशान्तिकी प्राप्ति ही कही गयी है और वह गोसेवासे शीघ्र एवं अनायास प्राप्त हो जाती है। शास्त्रोंका यह उद्घोष है कि गाय विशुद्ध एवं अक्षय लक्ष्मीको देनेवाली है। उससे विश्व कल्याण-मङ्गलोंसे सुरभित होता है। गौएँ वेद एवं शुद्ध ज्ञान-विज्ञानकी जननी हैं और पवित्रताओंकी मूलस्रोत और सीमा हैं—

नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च।
नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः॥

भारतके ऋषि-मुनि सदासे सभी शास्त्रोंमें गो-सेवा तथा वृषभस्वरूप भगवान् धर्मका संरक्षण ही सार्वभौम सुख-शान्तिका सर्वाधिक सुगम एवं कल्याणकारी उपाय बतलाते रहे हैं। पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे इस बातको जीवनमें उतारकर गोमती-विद्या, गो-सावित्री-स्तोत्र तथा मानसके ज्ञान-दीपक आदि प्रसंगोंका ध्यानसे पठन-मनन कर स्वल्प गो-सेवाद्वारा भी इसका तत्क्षण अनुभव करते हुए अपनेको कृतार्थ करें।

योग-साधनाका मुख्य लक्ष्य—धर्म- संस्थापन एवं विश्वकल्याण

आज विश्व विनाशके कगारपर खड़ा है, भयंकर विश्वयुद्धकी विभीषिकाएँ मुँह बाये खड़ी हैं। अनेक अणु, हाइड्रोजन आदि महाविनाशक बम बनकर प्रहारके लिये तैयार हैं। इसका मूल कारण है विश्वके धारण एवं पालन करनेवाले धर्मका तिरस्कार और परम्परागत भारतीय संस्कृति एवं सदाचारकी परम्पराका उल्लङ्घन। पर यदि देखा जाय तो—**'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।' 'धर्मो धारयते प्रजाः।' 'धर्मो धारयते लोकान्।' 'धारणाद् धर्ममित्याहुः।' 'धर्मो रक्षति रक्षितः।'**—आदि वचनोंके आधारपर विशुद्ध धर्म ही विश्वका धारक है। संसार धर्मपर ही टिका है। किंतु आजका विश्व धर्म तथा ईश्वरका नाम लेना भी मूर्खताकी बात मानता है। ईश्वरको न मानना ही बुद्धिमान् होनेकी कसौटी एवं विद्वत्ताका सर्वोच्च प्रमाणपत्र माना जाता है। फलतः सर्वत्र अशान्ति एवं विद्वेषकी ज्वाला धधक रही है। रुपये, रूबल, येन, डालर आदिके नग्न ताण्डव-नृत्य और उनका अबाध आकर्षण तथा राजनीतिज्ञोंकी पाश्चात्त्य अनुकृतियोंकी विमर्शशून्य परम्परासे आज धर्म, अध्यात्म, योगसाधना एवं सद्विचारोंका महत्त्व नगण्य-सा रह गया है। यह स्थिति वस्तुतः चिन्तनीय है।

भारतके सभी शास्त्र डिण्डिमघोष करते हुए कहते हैं कि 'प्राणीका कल्याण परमात्माकी प्राप्तिसे होता है, धन एवं कामोपभोग-प्राप्तिसे कदापि नहीं।' अतः प्राचीन कालके राजा-महाराजा, राज-पाट एवं भोग-विलास आदिको छोड़कर पैसेको तुच्छ एवं हेय समझकर, वनोंमें आश्रम बनाकर साधु-संतों, ऋषि-मुनियोंके समाश्रयणसे भगवत्प्राप्तिके लिये योग-साधनामें रत होते थे। सार्वभौम शान्ति, दिव्य ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्ति, उज्ज्वल आत्माके प्रकाश, अचल समाधि तथा निर्मल एवं धवल बुद्धि कामिनी-काञ्चनादिका सर्वथा दूरसे परित्याग कर विशुद्ध योग-साधनाके द्वारा ही प्राप्त होती है—

'समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।'

आज प्रायः सभी विद्या-संस्थान सदाचार या धर्मज्ञानके प्रति उदासीनसे दीखते हैं। जबकि व्यापक आकाश, वायुमण्डल, धूप और चाँदनी आदिके प्रदाताकी तरह विशुद्ध विद्याके अधिष्ठाता भगवान्का द्वार उनके लिये रात-दिन खुला हुआ है—पर उधर झाँकनेका किसीका मन नहीं होता। वास्तवमें धन और कामोपभोग योग, धर्म-सदाचार किमधिकम् समस्त विद्या-बुद्धिका वैसे ही सर्वथा विरोधी तत्त्व है, जैसे आतप हिमका, प्रकाश अन्धकारका, ज्ञान अज्ञानका और पुण्य पापका है। योग और भोग सर्वथा विजातीय हैं, पर आज केवल अर्थकरी विद्या पढ़ायी जाती है। महर्घताकी कोई सीमा नहीं है। इधर लोभ भी सुरसाकी तरह मुँह बाये खड़ा है। न्यायालयमें भी उत्कोच आदि अनैतिक व्यवहारोंका साम्राज्य छा गया है। राजनीतिपर असामाजिक तत्त्वोंका वर्चस्व बढ़ता जा रहा है। प्रायः विविध देशोंके अनेक राष्ट्राध्यक्ष कुछ ही वर्षों बाद मौतके घाट उतार दिये जाते हैं। यह सब योग, धर्म, ईश्वर एवं मानवीय जीवनके मूल्योंकी उपेक्षाका जीता-जागता दुष्परिणाम है।

जगत्के गुरुपदपर स्थित भारतने सृष्टिके प्रारम्भसे ही विश्वको त्याग एवं शान्तिका मार्ग दिखलाया था। ऋषियोंने अकिंचन बनकर कामिनी-काञ्चनका दूरसे परित्यागकर शुद्ध योग-साधना और धर्मके पालन तथा ईश्वर-दर्शनके द्वारा श्रद्धा-भक्तिके सहारे विश्वका परम कल्याण किया और उसे सुख-शान्तिका स्थान बनाया था। शास्त्र कहते हैं कि ज्ञान और परमात्मा श्रद्धा, योग, वैराग्यकी साधनाद्वारा ही प्राप्य हैं, धनद्वारा कदापि नहीं—

श्रद्धया धार्यते धर्मो नार्थस्य बहुराशिभिः।
निष्किञ्चना हि ऋषयो श्रद्धावन्तो दिवंगताः॥

तथा—

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है। अत्यल्प श्रद्धा शुद्ध रुचिपूर्वक योग-साधनासे भी वह तत्क्षण प्राप्य है। पर आज तो धन और लौकिक सुखकी ही आवश्यकता है, फिर उपरिनिर्दिष्ट दो विरोधी वस्तुएँ एक ही साथ कैसे प्राप्त हो सकती हैं?

'योग' क्या है? इसे जाननेकी तीव्र उत्कण्ठा होनेमात्रसे

समस्त विद्याओंसहित भगवान् प्राप्त हो जाते हैं तथा इसीसे पूर्णसुख एवं शान्तिकी भी प्राप्ति हो जाती है।

'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।'

बालक ध्रुव सर्वथा अबोध शिशु था। देवर्षि नारदद्वारा उपदिष्ट योग-साधनासे केवल एक सप्ताहमें ही उसे देवता, सिद्ध, मुनि, विद्याधर, यक्ष, किन्नर आदि अन्तरिक्षचारी दिव्य प्राणी, जो सर्वसामान्यको प्रायः नहीं दिखायी देते, स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लग गये थे। पुनः कुछ ही दिनोंमें साक्षात् भगवान् भी प्रकट हो गये। उसने किसी विद्यालयमें प्रवेश भी नहीं किया था। भगवान्‌को देखकर उसके हृदयमें उनकी स्तुति करनेकी उत्कण्ठा हुई। सर्वान्तर्यामी भगवान्‌ने यह जानकर अपने शङ्खके अग्रभागसे उसके कपोलका स्पर्श किया— **'पस्पर्श बालं कृपया कपोले'**। बस क्या था? क्षणभरमें बिजली-सी कौंधी और समस्त वेद-शास्त्र उसे सुस्पष्ट प्रतिभात होने लगे। उसने भगवान्‌की दिव्य स्तुति करते हुए कहा— 'अरे यह क्या हो गया? यह मेरे अन्तर्हृदयकी सोयी हुई सारी विद्याएँ कैसे जाग पड़ीं? निश्चय ही निखिल शक्तियोंके एकमात्र केन्द्र जगदीश्वर प्रभु ही मेरे हृदयमें शङ्खके स्पर्शके द्वारा प्रविष्ट होकर यह चमत्कार प्रकट कर रहे हैं। मेरे हृदयमें अपूर्व प्रकाश हो रहा है। समस्त इन्द्रियाँ दिव्य शक्तिसे ओत-प्रोत हो गयीं एवं प्राण भी चमत्कृत हो उठे हैं। यह तो प्रभुका ही चमत्कार है।' वे अत्यन्त भक्ति-भावसे श्रीहरिकी स्तुति करने लगे—

योऽन्तःप्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥

(श्रीमद्भा० ४। ९। ६)

'प्रभो! आप सर्वशक्तिसम्पन्न हैं, आप ही मेरे अन्तःकरणमें प्रवेशकर अपने तेजसे मेरी इस सोयी हुई वाणीको सजीव करते हैं तथा हाथ, पैर, कान और त्वचा आदि अन्यान्य इन्द्रियों एवं प्राणोंको भी चेतनता देते हैं। मैं आप अन्तर्यामी भगवान्‌को प्रणाम करता हूँ।'

ध्रुवकी यह कथा सभी इतिहास-पुराणों, काव्य-साहित्य और प्रायः सूर, तुलसी आदिके साहित्यमें भी वर्णित है।

ध्रुवँ अबिचल कबहूँ न टरे।

ध्रुवँ सगलानि जपेउ हरिनाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ॥

अर्थात् ध्रुव भगवत्कृपासे यावज्जीवन सार्वभौम सम्राट् रहे और अन्तमें सर्वोच्च ध्रुवलोकको प्राप्त हुए। वहाँ वे स्थिर हैं। समस्त सप्तर्षिमण्डल उन्हींकी परिक्रमा करता है। पाँच वर्षकी आयुमें ही उन्हें सम्पूर्ण भूमण्डलका साम्राज्य, समस्त योगसिद्धियाँ एवं विद्याएँ भी प्राप्त हो गयीं। इसी प्रकारकी घटनाएँ प्रह्लाद, चन्द्रहास आदि बालकोंके साथ हुई हैं। योग एवं योगिलभ्य भगवान् सबके लिये एक समान हैं।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

भगवान् अपनी ओर एक पग भी चलनेपर समस्त चमत्कृत-सिद्धियों एवं देवता, सिद्ध, मुनियोंके साथ अपनी पूर्ण तीव्र गतिसे उसकी ओर चल देते हैं। गजेन्द्रने ग्राहग्रस्त होकर ज्यों ही उनकी प्रार्थना की, त्यों ही सर्वदेवमय भगवान् देवता, सिद्ध, मुनियोंके साथ वहाँ पहुँच गये—

एवं गजेन्द्रमुपवर्णितनिर्विशेषं
ब्रह्मादयो विविधलिङ्गभिदाभिमानाः।
नैते यदोपससृपुर्निखिलात्मकत्वात्
तत्राखिलामरमयो हरिराविरासीत्॥

(श्रीमद्भा० ८। ३। ३०)

(श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्!) 'गजेन्द्रने बिना किसी भेदभावके निर्विशेष रूपसे भगवान्‌की स्तुति की थी, इसलिये भिन्न-भिन्न नाम और रूपको अपना स्वरूप माननेवाले ब्रह्मा आदि देवता उसकी रक्षा करनेके लिये नहीं आये। उस समय सर्वात्मा होनेके कारण सर्वदेवस्वरूप स्वयं भगवान् श्रीहरि प्रकट हो गये।'

सर्वलोकाधिपति सर्वेश्वरेश्वर भगवान् श्रीहरिके प्रसन्न होनेपर भला संसारकी कौन-सी वस्तु अप्राप्य रह जायगी?

'तस्मिन् तुष्टे किमप्राप्यं जगतामीश्वरेश्वरे।'

भगवान् भक्तियोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि किसी भी योगसे अति शीघ्र प्राप्त होते हैं। वे परमानन्द-सुधासिन्धु हैं। उनकी ओर तनिक भी अग्रसर होनेपर भक्तको उनके दिव्यातिदिव्य चमत्कार एवं आनन्दका भान होने लगता है।

फिर वह राज्य, धन एवं सांसारिक आनन्दोंको तनिक भी नहीं देख सकता। क्योंकि ये लौकिक, मायिक, क्षणिक, सुखप्रद एवं क्षणान्तरमें घोर नरकादिप्रद दुःखदायी पदार्थ सर्वथा निस्सार हैं। जैसे अमृत-सरोवरको प्राप्तकर कोई भी बुद्धिमान् गंदे गड्ढेके जलको नहीं पी सकता, वैसे ही भगवद्रसरसिक तुच्छ कामिनी-काञ्चनके मायाजालमें लेशमात्र भी आबद्ध नहीं हो सकता। यहाँतक कि जैसे सभी ओरसे जलसे परिपूर्ण सरोवरको प्राप्तकर छोटे-छोटे ताल-तलैयोंकी अपेक्षा व्यक्ति नहीं करता, उसी प्रकार भगवदानन्द-सुधासिन्धुमें निमग्न प्राणीको सांसारिक भोगोंकी कोई भी अपेक्षा नहीं रह जाती।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

(गीता २। ४६)

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

धर्म भगवान्का हृदय एवं सर्वाधिक मुख्य अङ्ग है। जो उसकी रक्षाके लिये तनिक भी प्रयत्न करता है, उसे सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जो विश्वहितकी चिन्ता करता है, उसका जीवन योगमय एवं सार्थक हो जाता है। भगवान् इसीके लिये अवतार लेते हैं। वे कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ७-८)

यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः।
तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः॥

(श्रीमद्भा० ९। २४। ५६)

योगेश्वर श्रीभगवान् साक्षात् योग-विग्रह—'**योगो योगविदां नेता**' हैं। उनके प्रत्येक अङ्ग ही धर्ममय हैं। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, विश्वप्रेम, बाह्याभ्यन्तर-शुचि, दान, स्वाध्याय, संतोष, ईश्वरप्रणिधान, ध्यान, धारणा, समाधि—ये सब योगके भी अङ्ग हैं और धर्मके भी अङ्ग कहे गये हैं। इनकी साधना ही अपने-आपमें धर्मकी संस्थापना है। इसे सारे देवता, ऋषि-मुनि, स्थावर-जङ्गमात्मक प्राणी भी स्वीकार करते हैं और संसारके सभी धर्म और मजहब भी इसी एक धर्ममें ही आबद्ध हैं। इस प्रकार जितेन्द्रियता तथा अहिंसा-प्रेमके द्वारा प्राणियोंमें परस्पर सद्भावना हो जायगी। पूर्ण अहिंसासे सम्पूर्ण विश्वके समस्त प्राणियोंकी रक्षा होगी और सबपर ईश्वर-भावना हो जायगी, क्योंकि योगी सबकी शुभ कामना ही करता है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। २९-३०)

भाव यह है कि जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत संकल्पके आधारपर देखता है, वैसे ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत स्वप्नके आधारपर देखता है। जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही (व्यापक) देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है, क्योंकि वह मुझमें एकीभावसे स्थित है।

इस तरह यदि अधिकांश लोग कामनाओं और स्वार्थका परित्यागकर योगी बन जायँ या थोड़े लोग भी शुद्ध योग-साधना करने लग जायँ और योगकी पूर्ण जिज्ञासा हो जाय तो सभी अपने-आप अपने सामनेके विश्वको परमात्मा, संत, सहृदय और पूर्ण सुख, शान्ति, समृद्धिसे बना हुआ देखेंगे। इस प्रकार समग्र विश्वमें सर्वत्र शुद्ध धर्म, परस्पर प्रेम, सर्वत्र कल्याण-भावना, विश्व-बन्धुत्व और दिव्य आनन्दकी स्थापना हो जायगी। आशा है, पाठक इस विश्व-कल्याणरूपी यज्ञके सम्पादन और विशुद्ध योगकी साधनामें तथा स्वयं आत्मकल्याणमें विशेषरूपसे ध्यान देकर प्रयत्न करनेका कष्ट करेंगे।

मैं न राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग चाहता हूँ और न मोक्ष चाहता हूँ। मैं तो केवल दुःखमें पड़े हुए प्राणियोंके दुःखका नाश चाहता हूँ।—महाराज श्रीशिवि

नम्र निवेदन और क्षमा-प्रार्थना

भगवत्कृपासे इस वर्ष 'कल्याण'का विशेषाङ्क 'योगतत्त्वाङ्क' पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत है। पिछले कई वर्षोंसे प्रेमी पाठकोंका यह आग्रह था कि योग-सम्बन्धी सामग्रियाँ 'कल्याण'के विशेषाङ्क-रूपमें उपलब्ध करायी जायँ।

वास्तवमें 'योग' एक व्यापक शब्द है जिसका प्रयोग जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें होता है। व्यावहारिक बोलचालकी भाषामें 'प्रयोग, संयोग, वियोग, नियोग, अधियोग, अतियोग, सुयोग, उद्योग, अभियोग, प्रतियोग, उपयोग' आदि अनेक शब्द योगसे संश्लिष्ट हैं। इसी प्रकार विभिन्न शास्त्रोंमें—जैसे आयुर्वेदमें औषध-योजनाको योग तथा ज्योतिष शास्त्रमें ग्रहोंके योगको भी योग कहा जाता है, इसी प्रकार गणितशास्त्र आदिमें भी योग शब्दका प्रयोग होता आया है। इस तरह देखा जाय तो योगके बिना कोई शास्त्र नहीं है। योगकी व्यापकता यहाँतक है कि वियोग और संयोग—इन दोनोंमें इसकी आवश्यकता है। इस प्रकार भारतीय मनीषियोंने यह अनुभव किया कि योग मानव-जीवनका एक अविच्छिन्न अङ्ग है। योगकी व्यापकता देखते हुए विभिन्न विद्वानोंने योगके विभिन्न अर्थ किये हैं, पर यहाँ हमें योगका जो यथार्थ अर्थ समझना है वह है—'परमात्माके साथ युक्त हो जाना', 'भगवान्‌को यथार्थमें पा लेना', 'भगवत्प्रेम-रूप अथवा भगवद्रूप हो जाना'। यही जीवका परम ध्येय है। जीव जबतक इस स्थितिमें नहीं पहुँच जाता, तबतक न उसकी तृप्ति होती है और न उसे शान्ति मिलती है और उसका भटकना भी बंद नहीं होता। साथ ही पूर्ण और अखण्ड आनन्दरूप तत्त्वके संयोगकी प्राप्ति भी नहीं हो पाती। इस पूर्णके संयोगका नाम ही योग है। अथवा इसको पानेके लिये जीवका जो सावधान प्रयत्न है, उसका नाम भी योग है। इस प्रकार भगवत्प्राप्तिके साधन और भगवत्प्राप्ति—ये दोनों ही योग हैं। इस पूर्णकी प्राप्तिका प्रयत्न जिस क्रियाके साथ जुड़ता है वही योग बन जाता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, सांख्ययोग, राजयोग, मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग आदि इसीके नाम हैं। पर ये क्रियाएँ तभी योग बनती हैं जब भगवन्मुखी होती हैं। कर्म, ज्ञान, भक्ति, ध्यान, सांख्य, मन्त्र, लय या हठ आदिकी क्रिया यदि भगवदुन्मुखी नहीं है तो वह योग नहीं, कुयोग है, उससे प्रायः पतन ही होता है।

साधन-रूपमें योग, समाधि और एकाग्रता—ये तीनों शब्द प्रायः एक ही अर्थके प्रतिपादक हैं, परंतु समाधिकी सिद्धिके लिये यम-नियमोंके पालनकी विशेष आवश्यकता है। इसके बिना ध्यान और समाधिका सिद्ध होना अत्यन्त कठिन है। झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचारकी वृत्तियोंके नष्ट हुए बिना चित्तका एकाग्र होना कठिन है और चित्त एकाग्र हुए बिना ध्यान और समाधि नहीं हो सकते। वैसे तो संसारका कोई भी व्यावहारिक या पारमार्थिक कार्य चित्तकी एकाग्रताके बिना निष्पन्न नहीं हो सकता। यों तो समाधिकी इच्छावाले पुरुषोंको योगके आठों अङ्गोंका साधन करना चाहिये। किंतु यम और नियमोंका पालन तो अवश्यमेव करना चाहिये। जैसे नींवके बिना मकान नहीं ठहर सकता, वैसे ही यम-नियमोंके पालन किये बिना समाधि या ध्यानका सिद्ध होना असम्भव-सा है। महर्षि पतञ्जलिके अनुसार चित्तवृत्तिका निरोध करके स्वरूपमें प्रतिष्ठित होना योग है। **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।'**

सांख्य-मतानुसार पुरुष-प्रकृतिका पृथक्त्व स्थापित कर दोनोंका वियोग करके पुरुषका स्वरूपमें अवस्थित होना योग है—**'पुंप्रकृत्योर्वियोगेऽपि योग इत्यभिधीयते।'**

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार सुख-दुःख, पाप-पुण्य, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे अतीत होकर समत्व प्राप्त करना योग है—**'समत्वं योग उच्यते।'** इसके साथ ही कर्मकी कुशलताको योग कहा गया है। जिस उपायसे कर्म सहज, सुन्दर, स्वाभाविक रूपमें सिद्ध हो सके, अर्थात् बन्धनका कारण न हो उसीका नाम योग है—**'योगः कर्मसु कौशलम्'**।

योगवासिष्ठमें योग शब्दका अर्थ है 'संसार-सागरसे पार होनेकी युक्ति'। योगद्वारा मनुष्य अपने असली स्वरूप सच्चिदानन्दका अनुभव कर लेता है। परम आत्मामें स्थिति होनेपर उसे परम आनन्दका अनुभव निरन्तर होता रहता है।

विभिन्न साधकोंकी रुचि एवं स्वभावके अनुसार अपने शास्त्रोंमें योगकी साधनप्रक्रियाको विभिन्न स्वरूपोंमें प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन ग्रन्थोंमें हठयोग, लययोग और राजयोग आदि योगके अनेक भेद मिलते हैं। इनमें हठयोगी नेति, धौति, वस्ति, कपालभाति, आसन, मुद्रा, त्राटक, प्राणायाम आदि शारीरिक क्रियाओंकी ओर विशेष दृष्टि रखकर देहको स्वस्थ, बलिष्ठ और कार्यशील बनानेकी विशेष चेष्टा करते हैं। लययोगी समस्त कामना, वासना, आसक्ति तथा संकल्प-विकल्पके जालसे मुक्त होकर चित्तकी वृत्ति शून्य बनाकर शान्त-अवस्था प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं। उनका विश्वास है कि नित्य-सिद्ध, स्वयंप्रकाश आत्मतत्त्व शुद्ध और शान्त चित्तमें

स्वयं स्फुरित होता है। राजयोगी देहतत्त्व और मनस्तत्त्व तथा आत्मतत्त्वको सम्यक्‌रूपसे जानकर स्वरूपमें प्रतिष्ठित **'स्वे महिम्न्यवस्थितिः'** होकर इस देहराज्यके, जगद्ब्रह्माण्डके स्वामी बनकर भगवदिच्छामें अपनी इच्छाओंको मिलाते हुए मुक्त राजाके समान विराजित होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें योगको मुख्यतः तीन भागोंमें विभक्त किया गया है—कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग। कर्मयोगसे मलका नाश होता है, चित्तकी शुद्धि होती है और हाथोंमें कुशलता आती है। भक्तियोगसे विक्षेप दूर होता है और हृदयका विकास होता है। ज्ञानयोगसे अज्ञानका आवरण हटकर मनकी स्थिरता एवं एकाग्रता निष्पन्न होती है और आत्मज्ञानकी उपलब्धि होती है। ये तीनों ही भगवत्प्राप्तिके पूर्ण साधन हैं।

योगके इन विभिन्न स्वरूपोंमें किसी प्रकारका मतभेद एवं विरोध नहीं रहता, अपितु सामञ्जस्यकी स्थिति रहती है। ये सभी लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये एक दूसरेके सहायक होते हैं।

यौगिक क्रियाओंके अन्तर्गत समाधिकालमें कई प्रकारके विघ्न भी बलपूर्वक आने लगते हैं, जिनकी चर्चा महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें की है। व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व—ये नौ चित्तके विक्षेप हैं। यही अन्तराय (विघ्न) कहलाते हैं। ये अन्तराय क्या हैं और इनसे किस प्रकार छुटकारा मिलता है, इस बातको योगमार्गमें प्रवेश करनेसे पहले जानना आवश्यक है।

यौगिक क्रियाओंके निष्पन्न होनेपर तथा इन्द्रिय, अहंकार, मन आदिपर संयम करनेपर अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ और अनुभव प्राप्त होते हैं। अपने यहाँ अष्ट-महासिद्धियोंका विवरण मिलता है, जैसे—(१) अणिमा (अपनेको अणुके सदृश सूक्ष्म बना लेना), (२) महिमा (अपनेको पर्वतके समान विशालकाय बना लेना), (३) लघिमा (अपने शरीरको रूईके समान हलका बना लेना), (४) गरिमा (अपने शरीरको लोहेके पर्वत-जैसा भारी बना लेना), (५) प्राप्ति (चन्द्रमाको अँगुलीके अग्रभागसे छू लेना), (६) प्राकाम्य (सब प्रकारकी इच्छाओंका पूर्ण हो जाना), (७) ईशित्व (सृष्टि उत्पन्न करनेकी शक्ति), (८) वशित्व (सबपर शासन करने तथा पञ्चमहाभूतोंपर विजय प्राप्त कर लेनेकी शक्ति)।

परंतु ये सिद्धियाँ लक्ष्यपर पहुँचनेवाले योगीके लिये विघ्नरूप ही हैं। अतः परम उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये इन सिद्धियोंसे भी सावधान ही रहना चाहिये। अर्थात् इनमें फँसना नहीं चाहिये। पर वास्तवमें शास्त्रोक्त ये अष्ट महासिद्धियाँ तो आजकल प्राप्त होनी ही दूभर हो गयी हैं। इसके बदले कुछ स्वार्थी लोग 'योग' शब्दका दुरुपयोग करने लगे हैं। ऐन्द्रजालिक-कौशल (Magic) आदिको योगका अङ्ग माना जाने लगा। मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि क्रियाओंको योगके अन्तर्गत समझा जाने लगा है। जो लोग ताबीज, कवच आदिके द्वारा प्रारब्ध-फलके विपरीत वन्ध्याको पुत्र-प्राप्तिके लिये दवा देते हैं, रोगियोंका रोग दूर करनेकी बात करते हैं तथा योगीकी पोशाक—गेरुआ वस्त्र, विभूति आदि धारणकर अपना प्रभाव जमाकर छल-बल और कौशलसे दूसरोंको ठगते हैं, ऐसे लोग भी आजकल योगी कहे जाते हैं और समाजमें पूजित होते हैं, अतः ऐसे लोगोंसे अत्यन्त सावधान रहनेकी आवश्यकता है।

सच्चे और वास्तविक योगी देह, मन, प्राणको शुद्ध और शान्त करके मूलाधारसे कुण्डलिनीको जाग्रत् कर अपनी अन्तःशक्तिको प्रबुद्ध करते हुए सहस्रारमें स्थित सदाशिव परमात्मासे युक्त हो ज्योतिर्मय देहसे भगवान्‌के साथ आनन्दसमाधिमें विभोर रहते हैं। भगवान्‌की इच्छामें अपनी इच्छाओंको मिलाते हुए जगत्‌का कल्याण करना ही उनका मुख्य उद्देश्य होता है। योग-साधनाका सारतत्त्व यही है कि हमारे अंदर भगवान्‌की अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त प्रेम और शाश्वत आनन्दकी नित्य अनुभूति बनी रहे। हमारी कामना, वासना, आसक्ति, अज्ञानता, हमारे कुसंस्कार, स्वार्थ, आत्मसुखकी स्पृहा, अहंकार और प्रतिष्ठाका मोह उस भगवत्प्राप्तिकी साधनामें बाधा पहुँचाते हैं।

अतः हम जितना ही इन बाधाओंसे मुक्त होंगे, उतना ही हमारे भीतर भगवद्भाव प्रकाशित होगा और हम अपनी साधनामें सफल हो सकेंगे। इन्हीं सब दृष्टियोंसे सर्वसाधारण जनमानसको योगके सारभूत तत्त्वोंसे अवगत करानेके लिये इस वर्ष 'योगतत्त्वाङ्क' आपकी सेवामें प्रस्तुत किया जा रहा है। जिसमें मुख्यरूपसे योगका तात्त्विक विवेचन—योग क्या है? वह कितने रूपोंमें विभक्त है? उसकी साधन-प्रणाली क्या है? किस प्रकार चित्तको शुद्ध एवं शान्त करके समाधि-योगके द्वारा परमात्म-साक्षात्कार किया जा सकता है?—इन सबका विश्लेषण किया गया है; साथ ही इसमें विविध प्रकारके योगों, योगशास्त्रों तथा भारतीय वाङ्मयमें योगकी परम्पराके अनुसार योगसाधनाके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंपर पूर्ण प्रकाश डालनेका प्रयास किया गया है। प्राचीन कालसे अर्वाचीन समयतकके प्रायः प्रमुख योगसिद्ध महात्माओं एवं सत्पुरुषोंकी योगमय

जीवनचर्याओं और साधन-पद्धतियों एवं उपासना-प्रक्रियाओंको भी सचित्र एवं रोचक भाषा-शैलीमें प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया गया है।

इस वर्ष विशेषाङ्कके लिये लेख तो बहुत आये, परंतु 'योगतत्त्वाङ्क' की विषय-सूचीके अनुसार सीमित विषयोंपर ही अधिकतम लेख प्राप्त होते रहे, जिस कारण विषयकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण लेखोंका ही उपयोग अङ्कमें किया जा सका है। आजसे लगभग ५५ वर्ष पूर्व सन् १९३५ में 'कल्याण'के विशेषाङ्कके रूपमें 'योगाङ्क'का प्रकाशन हुआ था, उन दिनों 'कल्याण' की ग्राहक-संख्या सीमित होनेके कारण थोड़े लोग ही उससे लाभान्वित हो सके थे। योग-उपासनाके परम साधक, योगाचार्य, संत, महात्मा और गम्भीर विद्वान् जो उन दिनों उपलब्ध थे, वे आज नहीं रहे और जो आज उपलब्ध हैं, कदाचित् आगेके दिनोंमें उनका भी अभाव हो जाय, अतः विषयकी सर्वाङ्गीणतापर ध्यान रखते हुए जो महत्त्वपूर्ण लेख सम्प्रति प्राप्त हुए, उनसे अतिरिक्त विषयोंपर कतिपय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेख पूर्व-प्रकाशित योगाङ्कसे संगृहीत कर लिये गये हैं, जिससे हमारे पाठकोंको उन विशिष्ट विद्वानों, योगाचार्यों और संत-महात्माओंके विचारों और अनुभवोंका भी लाभ प्राप्त हो सके।

'योगतत्त्वाङ्क'की अधिकतम सामग्रीको विशेषाङ्कमें समाहित करनेकी दृष्टिसे हम यह चाहते थे कि इस वर्ष विशेषाङ्ककी पृष्ठ-संख्या तथा चित्रोंकी संख्या बढ़ायी जाय, परंतु महँगाईकी अनवरत अप्रत्याशित वृद्धिके कारण यह सम्भव नहीं हो सका, बल्कि घाटेकी राशिको कम करनेकी दृष्टिसे न्यासमण्डलको 'कल्याण'के वार्षिक शुल्कमें वृद्धि भी करनी पड़ी है। इन सभी परिस्थितियोंके होते हुए भी भगवान् योगेश्वरकी कृपासे विशेषाङ्कमें यथासाध्य योगसे सम्बन्धित सम्पूर्ण सभी विषयोंके समायोजन करनेका प्रयास किया गया है। साथ ही विषय और सामग्रीकी अधिकताको ध्यानमें रखते हुए दूसरे और तीसरे मासका अङ्क भी परिशिष्टाङ्क-रूपमें विशेषाङ्कके साथ दिया जा रहा है।

अब हम सर्वप्रथम 'कल्याण'को अपनी गौरवमयी परम्परामें विकसित तथा प्रतिष्ठापित करनेवाले 'कल्याण'के आदिसम्पादक नित्यलीलालीन परमपूज्य भाईजी श्रीहनुमान-प्रसादजी पोद्दार तथा उनके समकालीन विद्वान् लेखकों (जो आज हमारे बीच नहीं हैं) के पादपद्मोंपर अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हैं, जिनकी शक्तिसे समन्वित होकर ही आज हम 'योगतत्त्वाङ्क'-जैसे साधनोपयोगी महत्त्वपूर्ण विशेषाङ्कको आप सब महानुभावोंके समक्ष प्रस्तुत करनेमें समर्थ हो सके हैं।

हम अपने उन सभी पूज्य आचार्यों, परम सम्मान्य पा[illegible] हृदय संत-महात्माओं, आदरणीय विद्वान् लेखक महानुभावोंके श्रीचरणोंमें श्रद्धा-भक्तिसहित प्रणाम करते हैं, जिन्होंने विशेषाङ्ककी पूर्णतामें किंचित् भी योगदान किया है। सद्विचारोंके प्रचार-प्रसारमें वे ही मुख्य निमित्त भी हैं, क्योंकि उन्हींके सद्भावपूर्ण उच्च विचारयुक्त लेखोंसे 'कल्याण' को सदा शक्तिस्रोत प्राप्त होता रहता है।

हम अप[illegible]भागके तथा प्रेसके अपने उन सभी सम्मान्य साथी और सह[illegible] करते हैं, जिनके स्नेहभरे सहयोगसे यह पवित्र कार्य अबतक स[illegible] हो सका है। हम अपनी त्रुटियों और व्यवहार-दोषके लिये इन स[illegible]माप्रार्थी हैं।

'योगतत्त्वाङ्क'के सम्पादनमें जिन योगाचार्यों, [illegible] संतों और विद्वान् लेखकोंसे हमें सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ है, [illegible] हम अपने मानस-पटलसे विस्मृत नहीं कर सकते। [illegible] अङ्कके सम्पादनमें अपने सम्पादकीय विभागके वयोवृद्ध विद्वान् पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा तथा कुछ अन्य सहयोगियोंके अथक परिश्रमसे ही गम्भीर शास्त्रीय विषयोंका विवेचन करनेवाला यह 'विशेषाङ्क' इस रूपमें प्रस्तुत हो सका है। इसके सम्पादन, प्रूफ-संशोधन, चित्रनिर्माण आदि कार्योंमें जिन-जिन लोगोंसे हमें सहायता मिली है, वे सभी हमारे अपने हैं, उन्हें धन्यवाद देकर हम उनके महत्त्वको घटाना नहीं चाहते।

वास्तवमें 'कल्याण'का कार्य भगवान्‌का कार्य है। अपना कार्य भगवान् स्वयं करते हैं। हम तो केवल निमित्त मात्र हैं। इस बार 'योगतत्त्वाङ्क'के सम्पादनकार्यके अन्तर्गत योगेश्वर परमात्मप्रभुके चिन्तन, मनन एवं स्मरणका सौभाग्य निरन्तर प्राप्त होता रहा, यह हमारे लिये विशेष महत्त्वकी बात थी। हमें आशा है, इस विशेषाङ्कके पठन-पाठनसे हमारे सहृदय पाठकोंको भी इस पवित्र संयोगका लाभ अवश्य प्राप्त होगा।

अन्तमें हम अपनी त्रुटियोंके लिये आप सबसे क्षमा-प्रार्थना करते हुए दीनवत्सल अकारणकरुणावरुणालय योगेश्वर भगवान् आशुतोषके श्रीचरणोंमें नमन करते हुए यह प्रार्थना करते हैं—

कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारम्।
सदा वसन्तं हृदयारविन्दे भवं भवानीसहितं नमामि ॥

—राधेश्याम खेमका
सम्पादक